आलोचना
इतिहास तथा सिद्धान्त

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली बम्बई नई दिल्ली

अपने बड़े भाई
स्वर्गीय श्री डी० पी० खत्री
की
स्मृति को

प्राक्कथन

आधुनिक काल मे आलोचना तथा आलोचको की ओर देश के पाठको और साहित्यिको का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट हुआ है। ऐसे समय जब देश का नव-निर्माण हो रहा हो और साहित्य और कला के क्षेत्र मे नवीन स्फूर्ति आ रही हो आलोचना की ओर ध्यान आकृष्ट होना भी चाहिए, क्योंकि साहित्य और कला राष्ट्र की आत्मा के नव-निर्माण मे वैसा ही उत्तरदायित्व अपने ऊपर रखते है जैसा पुत्र अपने पिता पर अथवा धर्म अपने धर्माध्यक्षो पर। साहित्य और कला तथा राष्ट्र और उसके पुनरुत्थान मे अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। यूरोपीय तथा एशियाई सभ्यता तथा संस्कृति ने अपने जन्म, प्रगति, उत्थान तथा अवसान काल मे अपने-अपने साहित्यकारो और कला-विशारदो का सहारा और दायित्व सदैव ध्यान मे रखा। राजनीतिक उथल-पुथल, सामाजिक क्रान्ति, धार्मिक आन्दोलन, सभी ने किसी-न-किसी समय साहित्य का सहारा अवश्यमेव लिया और उसी की सहायता से अपनी रूप-रेखा बनाई। यह ऐतिहासिक सत्य है कि यदि अंग्रेजी साहित्य मे सिमरी जाति के राष्ट्रीय गीत न होते, जर्मनी और फ्रॉस मे लूथर और कैलविन की वाक्धारा न होती, नीत्शे, रूसो और वाल्टेयर की रचनाओ की आत्म-वेधी पुकार न होती। और भारत मे भक्ति-काल के कवियो मे देव-वाणी न फूट पडती तो कदाचित् समय इतने शीघ्र पलटा न खाता। साहित्य और कला ने मानव पर ही विजय नही पाई वरन् प्रकृति को भी अपनी आज्ञा मानने पर बाध्य किया। मेघ-मल्हार ने अनन्त आकाश पर बिखरी हुई मेघ-राशि को पुंजीभूत कर वर्षा की झडी लगा दी। दीपक-राग ने स्नेहहीन दीपको को ही प्रज्वलित नही किया वरन् अनेक स्थान पर दावाग्नि भी भडकाई। रागिनियो ने बसन्त को नियमित समय के पूर्व भी 'बनन मे, बागन मे, बगरो' का आदेश दिया। पंच-तत्त्वो से सृजित प्रकृति साहित्य और कला की शक्ति के सम्मुख नत-मस्तक हुई है। वास्तव मे साहित्य और कला मे दैवी शक्ति है।

जब साहित्य और कला मे इतनी दैवी शक्ति प्रमाणित है तो उसकी आत्मा, उसकी रूप-रेखा तथा उसके अनन्त प्रभाव को हृदयंगम करने के लिए हमे दत्तचित्त होना ही चाहिए और इसी मे हमारा कल्याण है और इसी मे कला और साहित्य का भविष्य भी निहित है। साहित्य और कला की परख का दायित्व भी दिन-प्रति-

दिन विशिष्ट होता जा रहा है, क्योकि देश की बहुमुखी प्रगति हो रही है और ऐसे समय इस दायित्व को न समझना अथवा उसको स्थगित कर देना एक प्रकार का विश्वासघात ही होगा। देश अपनी प्रगति के लिए पग-पग पर साहित्य और कला का सहारा ढूँढेगा और यह सहारा निर्जीव अथवा अस्थिर रूप मे दिया गया तो पथभ्रष्ट होना स्वाभाविक ही नही अनिवार्य भी होगा। देश-रूपी अन्धे को साहित्य और कला लकुटि-समान है और इसी एकमात्र लकुटि के सहारे वह अपनी जीवन-यात्रा सफल तथा सुरक्षित रूप मे कर सकेगा। इसके साथ-साथ मनुष्य के पार्थिव अस्तित्व के लिए ही नही वरन् उसकी आध्यात्मिक प्रगति के लिए भी साहित्य और कला की सहायता वाञ्छनीय होगी। जीवन के सत्यो को शाश्वत साहित्य और कला ने साकार किया है और इसी साकार रूप को देखकर मानव ने अपने चिन्तन द्वारा उसे अपने जीवन मे सन्निहित कर पृथ्वी पर ही स्वर्ग के अवतरण की व्यवस्था समय-समय पर बनाई है। वेदो के मन्त्रो एवं ऋचाओ के उच्चारण, वीरगाथा-काल का वीर-पूजन, भक्ति-काल की ज्ञानाश्रित तथा प्रेमाश्रित भक्ति-भावना, रीति-काल की रीति-नीति, सबने मिलकर मानव-जीवन को समय-समय पर वीरता, धैर्य, सन्तोष, त्याग, प्रेम, क्षमा, दया का अविरल पाठ पढ़ाकर एक दूर देश का संकेत दिया है। मानव अब तक अनेक रुकावटो और अडचनो के होते हुए भी चलता आया है और भविष्य मे भी चलता रहेगा। साहित्य और कला की इस शाश्वत शक्ति द्वारा जब मानव का पार्थिव और आध्यात्मिक विकास होता आया है तो उसकी आलोचना की महत्ता और भी स्पष्ट है।

आधुनिक काल मे जैसे-जैसे हमारा साहित्यिक इतिहास लिखा जा रहा है वैसे-ही-वैसे आलोचना की आवश्यकता औ' उसकी क्षमता बढ़ती जा रही है। साहित्यिक प्रयोग और अनुशीलन आलोचना-क्षेत्र को और भी विस्तृत करते जा रहे है; साहित्य तथा कला-क्षेत्र मे अनेक वादो का प्रचार होता चला आ रहा है। साहित्य को सुसज्जित तथा पूर्ण, आकर्षक तथा भव्य बनाने की इच्छा से प्रेरित हो अनेक साहित्यकारो ने बडे श्रमपूर्वक नवीन साहित्यिक मार्ग ढूँढ़ निकाले है तथा अन्य नवीनतम प्रयोगो को प्रचलित करने मे वे संलग्न है। कविता, नाटक, उपन्यास तथा कहानी सभी क्षेत्रो मे साहित्यकार अपनी नवीन प्रतिभा द्वारा साहित्य-सृजन मे संलग्न है। काव्य के अन्तर्गत प्रयोगो—रहस्यवाद, छायावाद, संकेतवाद, रसवाद—से हम सब परिचित है; नाटक-क्षेत्र के दुःखान्तकी, सुखान्तकी, मिश्रिताकी, एकाकी तथा एकाकी के अन्तर्गत दृश्यात्मक, भावात्मक, कल्पनात्मक प्रचारात्मक तथा हास्यात्मक[1] वर्ग की रचनाओं से भी हमारा परिचय बढ़ता जा रहा है। पात्र-प्रधान, वस्तु-प्रधान, वाता-

१. देखिए—'नाटक की परख'

वरण-प्रधान, भाव-प्रधान, व्यवस्था-प्रधान उपन्यासो तथा कथा-साहित्य से भी हम अनभिज्ञ नही। रूढ़िवादी, प्रगतिवादी, मध्यस्थवादी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ भी आज-कल आपस मे होड लगाती जा रही हैं। चित्रकला तथा मूर्तकला के क्षेत्र मे भी अनेक वादो का प्रचार हो रहा है और कलाकार अपने विभिन्न रंगो तथा अपनी तूलिका और छेनी द्वारा अनेकानेक रूप मे अपनी कला का प्रदर्शन कर रहे है। प्राचीन काल, मध्य-काल, दोनो का समन्वय करने मे कलाकार व्यस्त है और मध्य-काल की शैलियो को नवीन रूप देने और नवीन ढाँचे मे ढालने के लिए कला-विशारद अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा रहे हैं।

इन देशीय—साहित्यिक और कलात्मक—प्रवृत्तियो के साथ विदेशी प्रभाव भी यदा-कदा नही वरन् अनवरत रूप से अपना स्थान बनाता चला आ रहा है। कला और साहित्य के किस अंग पर विदेशी प्रभाव नही दृष्टिगोचर होता ? आधुनिक काल का समस्त हिन्दी साहित्य किसी-न-किसी रूप मे इनसे अवश्य प्रभावित हुआ है। विशेषतः हमारा कला-क्षेत्र विदेश द्वारा अनेक रूप मे प्रभावित है और इसका कारण क्या है, सहज ही बतलाया जा सकता है। सभ्यता अपनी अटूट शृंखलाओ की मर्यादा बनाये रखने मे प्रयत्नशील रहती है और मानव—चाहे वह अपने गर्व, पृथकत्व और भ्रमपूर्ण शिक्षा द्वारा उसमे कितनी ही बाधाएँ क्यो न डाले—अन्त मे सफल नही हो पाता। मानवता की नीव प्रायः समस्त संसार मे एक ही प्रकार की होती है। वातावरण और वायुमण्डल मे विभिन्नता तो स्वाभाविक है परन्तु सूर्योदय और सूर्यास्त, मध्याह्न और गोधूलि, वर्षा, वसन्त, शिशिर, ग्रीष्म और हेमन्त, सभी देशो मे थोड़े-बहुत समय-परिवर्तन पश्चात् होते अवश्य हैं; समुद्र, नदियाँ और नद, पशु, पक्षी, जीव, जन्तु जब सभी देशो मे होते है तो फिर उनका प्रभाव भी व्यापक क्यो न हो। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो देश-विदेश की साहित्यिक धाराओ मे, उपमाओ और उपमेयो मे एक विचित्र साम्य दिखलाई देगा। अंग्रेजी, फ्रांसीसी, तथा भारतीय हिन्दी साहित्य मे वीरगाथा-काल समान रूप से आया है; केवल काल का भेद हो सकता है। सत्रहवी शती पूर्वार्द्ध इंगलिस्तान मे प्रोटेस्टेण्ट धर्म के उत्थान का समय कहा जा सकता है और उसकी तुलना भारत के हिन्दी-साहित्य के भक्ति-काल से हो सकती है। मिल्टन और बनियन-समान कवि और गद्य-लेखक धर्म और आत्मचिन्तन मे तल्लीन हो महाकाव्य लिखने तथा मानव के महाप्रयाण के मार्ग को प्रशस्त करने-मे संलग्न थे। उसी समय तुलसी भी अपने महाकाव्य की रचना द्वारा मानव-कल्याण का चिन्तन कर रहे थे। सूर तथा अन्य प्रेमाश्रयी शाखा के कवियो के गीतो मे कहीं-कहीं उन्ही साहित्यिक धाराओ का दिग्दर्शन होता है जो सत्रहवी शती के अन्त के पश्चिम के कवियो की काव्य-

लहरी मे प्रवाहित था। जहाँ प्रकृति के परिवर्तन और प्रत्यावर्तन के फलस्वरूप अंग्रेजी के कवियो ने वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा और शिशिर-सम्बन्धी अपनी कविता मुखरित की वहाँ हिन्दी के रीति काल के अनेक कवियो ने उन्ही विषयो को अपने काव्य मे भी प्रतिध्वनित किया। जहाँ अंग्रेजी के कवियो ने अबावील, कोयल, थ्रश, नाइटिंगेल, वाटरफाउल समान पक्षीवृन्द की प्रशंसा काव्य मे की वहाँ हिन्दी के कवियो ने भी शुक, पिक, मराल इत्यादि भारतीय पक्षियो की प्रशंसा मे सुन्दर गीत गाए। लिली, वनफशा, डैफोडिल, पैन्जी तथा रात की रानी को अंग्रेजी के कवियो ने साहित्याश्रय दिया; कमल, गुलाब, कदम्ब-पुष्प हिन्दी के कवियो ने अपनाए। समुद्र का आलोडन, नदियो का अविरल प्रवाह, प्राकृतिक निर्झरो का अनवरत नाद, सिह का गर्जन, भौरो का गुंजन, पक्षियो का कलरव, आकाश का दैवी विस्तार, सूर्योदय की आभा, चन्द्रिका की छटा, स्वर्गगा की स्वच्छता विश्व-साहित्य मे समान रूप से वन्दनीय रहे। इस अनेक-रूपी विश्व-साहित्य की परम्पराओ और नवीन प्रयोगो को हृदयंगम करने के लिए भी हमे प्रयत्नशील रहना है और आलोचनाध्ययन द्वारा ही इस ध्येय की पूर्ति हो सकेगी।

देश के साहित्यिक दायित्व के साथ-साथ आलोचना का भी दायित्व बढ़ता जा रहा है। अंग्रेजी साहित्य मे तो आलोचना और आलोचको की महत्ता अन्य देशो से कही अधिक महत्त्वपूर्ण दिखाई दे रही है और प्रायोगिक तथा ऐतिहासिक आलोचना का विस्तार अत्यधिक बढ़ गया है और आलोचना-संसार मे एक नवीन जीवन का स्फुरण हो रहा है। आलोचना-संसार अपने स्वत्व और अपनी मर्यादा को ठीक-ठीक समझने का प्रयत्न कर रहा है और साथ-ही-साथ अपने ऐतिहासिक तथा प्रायोगिक रूपो का भी अनुसन्धान कर रहा है। आलोचना-संसार को यह गर्व है कि उसकी प्रगति और उन्नति मे ही काव्य और कला की उन्नति है और उसकी अवनति के ही साथ साहित्य की भी अवनति होगी। आलोचना के इतिहास मे ही साहित्य और कला का इतिहास निहित है, परन्तु इस प्रकार का महत्त्वपूर्ण अधिकार आलोचना को अभी हाल ही मे प्राप्त हुआ है। इसके यह तात्पर्य नही कि आधुनिक काल के तीस-चालीस वर्ष पूर्व आलोचना थी ही नहीं। आलोचना थी और पर्याप्त रूप मे थी, परन्तु न तो उसका विस्तार निश्चित था और न उसकी नवीन परिभाषाएँ ही बन पाई थीं। न तो उसे अपने विशिष्ट स्वत्वो का ज्ञान था और न अपने दायित्व और महत्त्व का पूर्ण ज्ञान। कदाचित् पिछले बीस-तीस वर्षों के अन्तर्गत आलोचना-संसार मे क्रान्ति आ गई। इसके पहले पाठको और अन्वेषको को आलोचना के तत्त्वो और महत्त्व को पहचानने तथा परखने की सुविधाएँ नहीं के बराबर थीं परन्तु अब आलोचना का पूर्ण इतिहास ही नहीं प्राप्त

है वरन् उसके सभी प्रायोगिक अंगो पर भी विशद प्रकाश डाला गया है।

इन सुविधाओ का सहारा प्राप्त करने के पश्चात् यह स्वाभाविक ही है कि पाठक-वर्ग आलोचना के साधारण तत्त्वो और उसके प्रयोगो को हृदयंगम करने की उत्सुकता दिखलाए और साहित्यकारो और कलाकारो की विभिन्न शैलियो तथा भाव-प्रदर्शन की प्रणालियो को सहज रूप मे समझने का प्रयत्न करे। साहित्यकारो की विभिन्न शैलियो के समान ही आलोचको की शैलियो मे भी विभिन्नता प्रतीत होती है; विशेषतः श्रेष्ठ आलोचको की आलोचना-शैली मे तो यह विभिन्नता और भी स्पष्ट है। यद्यपि अनेक आलोचको ने आलोचना के साधारण तत्त्वो को पूर्णतया अपना तो लिया परन्तु उन्होने अपने अधिकारो को विभिन्न रूप मे प्रयुक्त किया। कुछ आलोचको की भाव-प्रदर्शन-प्रणाली तो इतनी नवीन तथा आकर्षक है कि हम कभी भी यह जानने को उत्सुक नही होते कि उनकी आलोचना किस वर्ग की है और वे किस वाद के प्रचारक है—रूढ़िवादी है अथवा प्रगतिवादी। दूसरे प्रकार के आलोचक अपने सिद्धान्त-प्रदर्शन मे ही व्यस्त रहते हैं और अपनी निर्मित परिभाषाओ का प्रयोगात्मक रूप देखने मे ही आलोचना की महत्ता समझते है। इस वर्ग के आलोचको को यह विश्वास-सा हो गया है कि आलोचना की परिभाषा तथा उसकी सम्पूर्ण नियमावली को ध्यान मे रखने के पश्चात् ही श्रेष्ठ कला की पहचान हो सकती है। स्वर्ण-रूपी कला को परखने के लिए आलोचना एक कसौटी समान है जो आलोचक सदैव अपने पास रखता है और उसके प्रयोग द्वारा अपना श्रेष्ठ मत प्रदर्शित कर सकता है, और बिना इस नियमावली के कला का मूल्याकन विशिष्ट रूप मे नही हो सकता। इसमे सन्देह नही कि उपरोक्त वर्ग के आलोचको की प्रणाली यदि सहज और सरल रूप मे प्रयुक्त हो सकती और उसके अनुसार ही कोई आलोचना-व्यवस्था बन सकती तो बहुत कुछ अंश मे हम कलाकारो की विभिन्न कृतियो को समझ लेते और उनका मूल्य भी स्थिर कर लेते। परन्तु इस प्रकार की कृत्रिम और बाह्य नियमावली की व्यवस्था कठिन ही रही है और जब-जब उसका प्रयोग कुछ दिनो हो चुका ठीक उसके पश्चात् ही उसके विरुद्ध साहित्यिक प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई।

आधुनिक साहित्यिक प्रवृत्तियो मे सबसे प्रमुख तथा महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है प्राचीन आलोचको तथा उनकी कृतियो का अध्ययन; और धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति प्रगति भी करती जा रही है। इसका मुख्य कारण यह है कि सभी साहित्यकारो तथा साहित्य मे रुचि रखने वालो के लिए प्राचीन आलोचको की कृतियाँ उपयोगी तथा आकर्षक सिद्ध हुई है; और उनका ऐतिहासिक महत्त्व भी कुछ कम नही। यही नही कि देश-काल के हिसाब से वे सबसे पहले प्रतिष्ठापित हुई, वरन् वे

पहले-पहल साहित्य मे प्रयुक्त भी हुई और आलोचना-साहित्य का जन्म-काल भी उन्ही से माना गया है। आधुनिक काल का समस्त आलोचना-साहित्य किसी-न-किसी रूप मे उनसे प्रभावित हुआ है और यूनानी तथा रोमीय पारस्परिक सम्बन्धो द्वारा जिस साहित्य का जन्म हुआ उसमे कला के सम्बन्ध मे कुछ ऐसे लक्षणो का निर्माण हुआ जिससे आधुनिक कला भी अत्यन्त गहरे रूप मे प्रभावित हुई और इन्ही दोनो साहित्यो मे कुछ ऐसे सिद्धान्तो और कलात्मक नियमो का विकास भी हुआ जिसके सहारे हमारे आधुनिक साहित्य की रूप-रेखा बनी। यूनानी सिद्धान्तो मे कुछ और भी गुण है। ये है उनके अन्तर्गत अनेक नियमो का प्रतिपादन, जिन्हे हम ज्यो-का-त्यो आज तक मानते आए है। उन्होने ही पहले-पहल प्रकृति, कला, काव्य तथा गद्य की परिभाषा बनाई; उन्होने ही साहित्य के मूल्य को समझने का पहले-पहल प्रयास किया जिसके फलस्वरूप अनेक सौन्दर्यानुभूति के सिद्धान्त निर्मित हुए और साहित्यिक मूल्याकन परम्परा का आरम्भ हुआ। प्राचीन साहित्यिक तथ्यो के आधार और उन्ही के निर्देशन पर समस्त आधुनिक साहित्य-क्षेत्र विकसित तथा पल्लवित और पुष्पित हुआ। यूरोप मे जब नव-जागरण का युग मध्यकाल के बाद आया उसके प्रायः दो सौ वर्ष बाद तक यूरोपीय साहित्यिक दृष्टिकोण इन्ही प्राचीन सिद्धान्तो द्वारा सीमित और मर्यादित रहा। पश्चिमी यूरोप मे, जो साहित्य का केन्द्र रहा, अनेक साहित्य-सिद्धान्त साहित्यकारो द्वारा बनाये गए और स्कैलिजर जैसे विद्वानो द्वारा जो साहित्यिक निर्देशन मिला वह प्रायः उन्नीसवी शती तक प्रचलित रहा। उस समय का जो-कुछ भी आलोचनात्मक साहित्य है वह केवल अरस्तू, हॉरेस, अफलातूं, सिसेरो, लोजाइनस तथा क्विटिलियन द्वारा प्रस्तावित सिद्धान्तो का एकत्रीकरण मात्र है। इसी आलोचना-साहित्य को आधार-रूप मानकर अंग्रेजी साहित्यकारो ने अपने साहित्य को सँवारा है। अंग्रेजी आलोचको की तालिका मे, सर फिलिप सिडनी के काल से लेकर बीसवी शती तक के आलोचको ने, किसी-न-किसी रूप मे, प्राचीन आलोचना-तत्त्वो का सहारा ढूँढा और कुछ आलोचको ने तो उन्ही सिद्धान्तो को दूसरे शब्दो मे केवल दुहरा दिया। अतएव आधुनिक आलोचना-सिद्धान्तो के विवेचन मे प्राचीन आलोचना-सिद्धान्तो और आलोचको का वर्णन तथा विवेचन अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होगा। परन्तु इस सम्बन्ध मे एक महत्त्वपूर्ण बात जो ध्यान मे रखने योग्य है वह यह है कि अनेक आधुनिक आलोचको ने प्राचीन आलोचना-सिद्धान्तो को अपनाते हुए इसका लेशमात्र भी ध्यान नही रखा कि जो कुछ वह उस क्षेत्र से ले रहे है, वास्तव मे उसका रूप ठीक है अथवा विकृत। बिना समझे-बूझे अथवा अस्पष्ट-रूप से गृहीत अथवा भ्रामक रीति से समझे हुए जिन

सिद्धान्तो का प्रयोग साहित्यकारो ने किया है, उसका संशोधन भी आवश्यक है। कुछ बाद के आलोचको ने तो प्राचीन साहित्यकारो के अनेक आलोचना-सिद्धान्तो को इतने अशुद्ध रूप मे अपनाया कि उनके कारण काफी भ्रम फैल गया। इसलिए यह भी नितान्त आवश्यक है कि पाठको के सम्मुख एक ऐसा सुसंगठित विवरण रखा जाय जिसमे अशुद्धि की गुंजाइश न रह जाय और फलादेश ठीक-ठीक समझ मे आ जाय।

कुछ आलोचको ने तो कभी-कभी प्राचीन सिद्धान्तो का प्रयोग करने का आदेश आधुनिक कलाकारो को आँख बन्द करके दे दिया और उन्होने न तो देश-काल का कोई ध्यान रखा और न जीवन की विभिन्नता को ही विधिवत समझा। उन्होने न तो उनकी ऐतिहासिक सीमाओ का ध्यान रखा और न उन साहित्यिक सन्दर्भों का जिनके सम्बन्ध मे वे सिद्धान्त पहले-पहल निर्मित किये गए थे। प्राचीन वातावरण और देशकाल की साहित्यिक सीमाओ से घिरे हुए सिद्धान्तो को अक्षरशः आधुनिक साहित्य मे प्रयुक्त कर देना वांछनीय नही और न उन सिद्धान्तो के अनुसार साहित्य-निर्माण ही महत्त्वपूर्ण अथवा व्यापक होगा। कुछ साहित्यिको ने तो प्राचीन सिद्धान्तो को सूत्र रूप मे प्रयुक्त न कर उन्हे वेदवाक्य समझा और उन्ही की सहायता से ये साहित्य का मूल्याकन करने लगे। इन सब आलोचनात्मक कार्यों का फल यह हुआ कि अनेक भ्रामक सिद्धान्तो का निर्माण हो गया जिनका प्रभाव आधुनिक साहित्य पर विषम रूप मे पड़ा। अंग्रेजी साहित्य के सत्रहवी और अठारहवीं शती मे आलोचना की रूपरेखा इसी कारण विकृत रही। लेखक मनमाने रूप मे प्राचीन मनीषियो की कृतियो का अनुवाद करते रहे; और उन्ही के सिद्धान्तो को साहित्य मे प्रयुक्त करते चले, परन्तु भाग्यवश कुछ ऐसे आलोचको का भी जन्म हुआ जो आलोचना-सिद्धान्तो को समयानुकूल परिवर्तित और परिवर्धित करते रहे जिसके कारण विशेष हानि नही होने पाई। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि आधुनिक आलोचना-सिद्धान्तो को ठीक-ठीक समझने के लिए प्राचीन आलोचना-परम्परा और प्राचीन आलोचको तथा उनके साहित्य-सिद्धान्तो का परिचय प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। आधुनिक तथा मध्यकालीन आलोचना-प्रणाली का आधार प्राचीन यूनानी तथा रोमीय सिद्धान्तो मे सूत्र रूप मे मिलेगा।

इसके पहले कि इस ऐतिहासिक विवेचन का प्रयत्न किया जाय यह आवश्यक है कि साहित्यिक आलोचना का अर्थ ठीक-ठीक समझ लिया जाय। साहित्यिक आलोचना का यह तात्पर्य बिलकुल नही कि उसको पढ़ने से पाठको मे निर्णयात्मक शक्ति आ जाय अथवा किसी भी साहित्य के अंग के मूल्याकन का सिद्धान्त निश्चित किया जाय। आलोचना केवल साहित्य और कला के मूल्याकन

की कसौटी प्रस्तुत नही करती। हॉ, यह हो सकता है कि आलोचना शब्द का अर्थ अनेक साहित्यकारो ने इसी रूप मे लगाया और इसी अर्थ के फलस्वरूप उसकी अकृत्रिम सीमाएँ निर्धारित हो गई। फिर प्राचीनकाल से अब तक आलोचना शब्द के अर्थ मे परिवर्तन भी होता आया है और कभी-कभी तो अनेक लेखको ने इसे विभिन्न अर्थों मे प्रयुक्त किया है। साहित्य के किसी भी अंग की जब तक पूर्णावस्था न पहुँच जाय उसकी परिभाषा सिद्धान्त-रूप मे नही बन सकती और इसीलिए जब आलोचना अपनी पूर्णावस्था को आज तक नही पहुँची तो उसकी सम्यक् परिभाषा भी सम्भव नही। यह तो सैद्धान्तिक नियम की बात रही। परन्तु इतना अवश्य संकेत दिया जा सकता है कि वह कौन-कौनसे नवीन रूप ग्रहण करती आई है और समय-समय पर उसका क्या-क्या लक्ष्य रहा है। आलोचना शब्द का निर्माण साहित्यकारो ने केवल उसके सहज और सरल रूप के कारण किया परन्तु उसकी सीमाएँ निर्धारित नही की जिसके फलस्वरूप, देशकाल के अनुसार, साहित्यिक आलोचना अपनी रूप-रेखा बदलती चली आई और भविष्य मे जैसे-जैसे समाज, सभ्यता तथा संस्कृति मे विभिन्नता आती जायगी आलोचना का रूप-रग भी परिवर्तित होता रहेगा। जब-जब समाज पर विशेष दायित्व आएगा साहित्य उसकी पूर्ति करेगा और आलोचना उसी पूर्ति का संरक्षण करेगी। काल-वैभिन्य, रुचि-परिवर्तन तथा भौगोलिक प्रतिक्रियाओ और अन्तर्क्रियाओ द्वारा भी आलोचना की रूप-रेखा बदलती चलेगी। वास्तव मे जब साहित्यिक सौन्दर्यानुभूति मे हमारी मानसिक शक्तियॉ प्रयुक्त होने लगती है तभी आलोचना का जन्म होता है। पारिभाषिक रूप मे हम कह सकते है कि साहित्यिक सौन्दर्य-क्षेत्र मे हमारी मानसिक अन्तर्क्रियाओ का नाम आलोचना है और उसका साधारण कार्य साहित्य के मर्म का विवेचन मात्र है। इस परिभाषा के अनुसार अनेक प्रकार से आलोचना का नवीन वर्गीकरण हो सकता है। एक प्रकार की आलोचना वह है जो व्यापक रूप मे साहित्य को परखती है, साहित्य की सहज प्रकृति, उसके गुण और कार्य तथा लक्ष्य का दिग्दर्शन कराती हुई साहित्य-निर्माण की गोपनीय गुत्थियो को सुलझाती है और आधार-भूत सिद्धान्तो की ओर संकेत करती है। दूसरी श्रेणी की आलोचना ऐसी होगी जो साहित्य के अमूर्त सिद्धान्तो का लेखा नही रखेगी; वह केवल किसी एक पुस्तक अथवा कलात्मक रचना का अथवा किसी एक वर्ग के साहित्य की विशेषताओं का विश्लेषण करेगी और मूल्याकन की विधि बतलाएगी। तीसरे वर्ग की आलोचना ऐसी हो सकती है जो इन दोनो उपरोक्त कार्यो को न कर साहित्य के व्यापक मर्म को समझती हुई, उसके प्रति हमारी कल्पनात्मक अनुभूति को जाग्रत करे जिसके द्वारा हम कलाकार के हृदय को छूकर उसका स्पन्दन सुन सके। इससे

यह तो स्पष्ट ही है कि आलोचना अनेकरूपेण है—कभी यह सिद्धान्त निर्मित करती है, कभी नियमानुसार मूल्याकन करती है और कभी कल्पनात्मक अनुभूति तीव्र करती है। और यह सत्य है कि इस अनेकरूपी आलोचना के सभी प्रयोगो के दर्शन प्राचीन यूनानी तथा रोमीय पुस्तको मे नही मिलेंगे; कदाचित् सौन्दर्यानुभव को तीव्र करने की क्रिया का तो कही भी दर्शन न होगा। यह तो आधुनिक काल मे ही सम्भव हुआ। परन्तु फिर भी हम वहाँ कुछ विषयो पर कलापूर्ण विचार और अनेक विषयो पर सैद्धान्तिक तथा व्यवस्थापूर्ण विवेचन के दर्शन कर सकेंगे। इस दृष्टि से भी आलोचना के यूनानी तथा रोमीय रूपो का ऐतिहासिक विवरण वाछनीय होगा। इस ऐतिहासिक विवरण के पश्चात् हम नियमो तथा सिद्धान्तो को पूर्णतः समझ सकेंगे। इसी कारण प्रस्तुत पुस्तक दो खण्डो मे लिखी गई। यदि इसके अध्ययन के फलस्वरूप हिन्दी के विद्यार्थियो, साहित्यकारो तथा हिन्दी-प्रेमियो की आलोचनात्मक शक्ति परिपक्व हुई तो लेखक अपने प्रयत्न को सफल समझेगा।

पुस्तक लिखते समय अनेक मौलिक सुझावो के लिए अंग्रेजी साहित्य के गम्भीर विद्वान् गुरुवर श्री एस० सी० देब तथा अपने स्नेही मित्र डाक्टर उदयनारायण तिवारी का मै विशेष आभारी हूँ।

—एस० पी० खत्री

विषय-सूची

प्रथम खण्ड : इतिहास

प्रथम प्रकरण

द्वितीय प्रकरण

तृतीय प्रकरण

: १ : अफलातूं

: २ : अरस्तू

चतुर्थ प्रकरण

: १ :

: २ :

पंचम प्रकरण

: १ :

सप्तम प्रकरण

अष्टम प्रकरण

: १ :

: २ :

: ३ :

नवम प्रकरण

: १ :

द्वितीय खण्ड : सिद्धान्त

प्रथम प्रकरण

सिद्धान्त-निर्माण के आधार

द्वितीय प्रकरण

आलोचना के वर्गीकरण की समस्या

तृतीय प्रकरण

आलोचना का वर्गीकरण

चतुर्थ प्रकरण

प्रगतिवादी आलोचना

पंचम प्रकरण

: १ :

उपसंहार तथा परिभाषाएँ

: २ :

: ३ :

प्रथम खण्ड

•

इतिहास

१

विषय-प्रवेश

प्राचीन आलोचना-काल का विभाजन

प्राचीन आलोचना-काल को हम तीन भागों मे विभाजित कर सकते हैं। पहला काल चौथी और पाँचवीं शती पूर्व ईसा कहा जा सकता है जब यूनान की राजधानी एथेन्स समस्त विद्या और कला का केन्द्र था; दूसरा काल दूसरी तथा तीसरी शती पूर्व ईसा-काल है जब अलैक्जेण्ड्रिया तथा यूनानी सभ्यता तथा विद्या से प्रभावित अन्य देश प्रगति कर रहे थे और तीसरा काल वह है जब रोम और यूनान का पारस्परिक संबंध बढा और दो सौ वर्षों तक दोनों के सम्पर्क द्वारा सभ्यता और संस्कृति की प्रगति और उसका प्रसार होता गया। ऐतिहासिक दृष्टि से इन तीनों कालों का महत्त्व एक-सा ही है और सभी का व्यापक ज्ञान वाञ्छनीय है: परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि सबसे प्रसिद्ध प्रथम काल है, जब यूनानी सभ्यता अपनी पराकाष्ठा पर थी और यूनानी ज्ञान-भण्डार की धाक समस्त संसार पर जमी हुई थी। इसी काल के साहित्यकारो, दर्शनवेत्ताओ तथा कलाकारों ने उन महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का निर्माण किया जिनका प्रभाव आधुनिक काल तक बराबर बना रहा और जिसके आधार पर अनेक आधुनिक आलोचक अपने आलोचना-सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते रहे। दूसरे काल की अपेक्षा तीसरा काल ही प्रसिद्ध रहा, क्योंकि यूनानी तथा रोमीय कलाकारो की क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा भी एक नवीन और महत्त्वपूर्ण साहित्य का निर्माण हुआ जिसकी ऐतिहासिकता तथा व्यापक महत्त्व का ज्ञान भी हमारे लिए आवश्यक है। द्वितीय काल की महत्ता केवल इसीलिए है कि इस काल ने, दोनो अन्य कालों को समझने-समझाने में हाथ बटाया और दोनों का अपूर्व समन्वय उपस्थित करके साहित्य की व्यापकता का प्रमाण प्रस्तुत किया।

इन तीनों कालो में निर्मित साहित्य का पूरा लेखा नहीं मिलता। प्रायः

पुस्तकें भी अप्राप्य हैं। प्राचीन यूनान के सफल राजनीतिज्ञ तथा वाक्-विशारद पेरिक्लीज के समय से बाद तक निस्सन्देह अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गए; साहित्यिक मनीषियो ने अपने विचारों को लिपिबद्ध किया और बहुत से साहित्यिक विषयों पर सैद्धान्तिक पुस्तको की रचना भी की; परन्तु ये समस्त पुस्तके प्राप्त नहीं। प्राचीन संस्कृत-साहित्यकारो के समान कुछ लेखकों के तो केवल नाम ही मिलते है और उनकी कृतियाँ लुप्त हो गई है। और यह केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है कि उन लेखकों ने किन-किन विषयो पर ग्रन्थ लिखे होगे। अनेक साहित्यकारों की कृतियाँ हमे बिखरे रूप में मिलती हैं जिन्हें हम फुटकल रचनाओ के अन्तर्गत ही रख सकेंगे। कुछ ग्रन्थ भाषण-शास्त्र, दुःखान्तकी, सुखान्तकी, लेख, व्यंग्य-काव्य, कविता तथा गद्य विषयक है। सुकरात के संवाद रूप मे भी कुछ ग्रन्थ प्राप्त हैं। अतएव यह कहना असंगत न होगा कि प्राचीन काल में यूनानियो ने आलोचना को साहित्य के अन्य अंगों से पृथक् नहीं किया था और वे उसकी स्वतन्त्र महत्ता मानते भी नहीं थे। उन्होने आलोचना को दर्शन, भाषण-शास्त्र तथा व्याकरण के अन्तर्गत ही माना था। वास्तव में दर्शन और भाषण-शास्त्र के अध्ययन के फलस्वरूप जिन-जिन प्रश्नो का विकास हुआ उसी का नाम उन्होने आलोचना रख दिया और उसका महत्त्व गौण ही रखा। यूनान एक आदर्श प्रजातन्त्र राष्ट था और उस राष्ट्र को प्रबल बनाने तथा गौरवान्वित करने में देश का प्रत्येक प्राणी लगा हुआ था। देश तथा समाज को श्रेष्ठ स्तर पर रखने में सभी दत्तचित्त थे, इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि वे राष्ट्र के सभी महत्त्वपूर्ण अंगों—राजनीति, अर्थशास्त्र, साहित्य इत्यादि—पर अपना संरक्षण रखते। समाज तथा राष्ट्र के लिए क्या लाभप्रद है? उसके लिए क्या उपयोगी है? उसके लिए क्या श्रेयस्कर है? इन सब प्रश्नो पर वे बहुत ध्यानपूर्वक विचार करते थे। इन विचारो के फलस्वरूप यह स्पष्ट है कि प्रजातन्त्र-राष्ट्र के लिए भाषण-शास्त्र को अत्यधिक महत्ता मिलती, क्योंकि इसका प्रयोग सदस्यो के चुनाव, सामाजिक प्रश्नो के हल तथा अन्य राज्य-नियमों के निर्माण में आवश्यकीय था। जिस व्यक्ति की वाक्-धारा तीव्र, पुष्ट तथा आकर्षक और भव्य होती उसी की जीत होती और उसी के मत का प्रतिपादन होता। इसीलिए उस काल मे भाषण-शास्त्र की महत्ता सर्वश्रेष्ठ रही। इसके साथ-ही-साथ दर्शन की सर्वप्रियता तो पहले ही से थी। दर्शन के सिद्धान्तो का अनुसन्धान और उनके राजनीतिक प्रयोग भी लेखकों को अत्यन्त रुचिकर रहे, जिसके फलस्वरूप दर्शन-शास्त्र पर भी अनेक ग्रंथ लिखे गए। इन दो महत्त्वपूर्ण विषयों—दर्शन तथा

भाषण-शास्त्र—पर ग्रंथ लिखते समय अधिकतर कुछ साहित्यिक प्रश्नों का जन्म हुआ और लेखकों ने टिप्पणी रूप में अथवा परिशिष्ट में अपने विचार प्रकट किये। प्राचीन साहित्यिक आलोचना का रूप भाषण-शास्त्र के नियमों में ही निहित रहा और उसका स्पष्ट विवेचन बहुत काल तक नहीं हुआ। और यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि उस काल में दर्शन और भाषण-शास्त्र की महत्ता अन्य किसी विषय को मिली भी न थी। जो भी आलोचनात्मक ग्रंथ लिखे गए उनमे प्रधानत्व भाषण-शास्त्र तथा दर्शन को ही मिला। परन्तु अनुसन्धान से यह पता चलता है कि अनेक ऐसी पुस्तकें, जो काव्य तथा कला-विषयक थीं, अवश्य रही होंगी और अपनी प्राचीनता के ही कारण लुप्तप्राय हो गईं। भाषण-शास्त्र का प्रभाव बाद के लिखे हुए साहित्य पर स्पष्ट होता जाता है; यहाँ तक कि कवि-धर्म और काव्य-निर्माण पर अपने विचार प्रकट करने वाले सभी लेखक प्रायः उसी का सहारा लेते हैं। कवि और काव्य-विषयक अध्ययनों मे लेखकों ने उन्हीं शब्दों और सिद्धान्तों का प्रयोग किया है जो भाषण-शास्त्र में पहले प्रयुक्त हो चुके थे।

यूनानियों की आलोचनात्मक प्रतिभा

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्टतया प्रमाणित है कि प्राचीन काल में आलोचना का कोई स्वतन्त्र रूप नहीं था और वह केवल गौण रूप में ही भाषण-शास्त्र-विषयक ग्रन्थों मे प्रस्तुत है। वस्तुतः जिन-जिन लेखकों ने भाषण-शास्त्र पर ग्रन्थ लिखे उन्होंने अनजाने ही आलोचनात्मक सिद्धान्त प्रस्तुत कर दिए। जैसा कि संकेत दिया जा चुका है, यूनानी-प्रजातन्त्र-राष्ट्र की सफलता के लिए जो उपक्रम किये जाते थे उनमें नैसर्गिक रूप में आलोचना-सिद्धान्तों का जन्म होता जाता था। राजनीतिक तथा सामाजिक प्रश्नों का हल ढूँढ़ने में लेखक-वर्ग, कवि काव्य तथा आलोचना पर कुछ-न-कुछ संकेत-रूप मे कह जाते थे। परन्तु इतना होते हुए भी यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि प्राचीन यूनानी जाति में आलोचनात्मक प्रतिभा नैसर्गिक रूप में प्रस्तुत थी और यद्यपि इस प्रतिभा को सैद्धान्तिक रूप लेने में बहुत समय लगा, परन्तु उसकी मानसिक उपस्थिति विवादग्रस्त नहीं। यूनानियों में ज्ञान की अपार भूख थी और इसी भूख को मिटाने के लिए उन्होंने जमीन-आसमान को एक करके ही चैन लिया। उनके लिए ज्ञान की उपयोगिता इसी में थी कि वह ज्ञान है और उसी को प्राप्त करने मे वे दत्तचित्त रहे। उन्होंने प्रकृति की जटिल पहेलियों को, नक्षत्रों के आकर्षण को, मानव के हृदय और मस्तिष्क को समझने और सुलझाने में अपनी सम्पूर्ण

शक्ति लगा दी। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि वे साहित्य, कवि और कला का भी अनुसन्धान करते और उनको पूर्णतया समझने का भी प्रयत्न करते।

इस प्रकार के अनुसन्धान के लिए उनमें अद्भुत क्षमता भी थी। उनमें दार्शनिकता, तर्क, विचारशीलता नैसर्गिक रूप में थी। दर्शन ने उन्हें अन्यान्य आध्यात्मिक मार्ग दिखलाए, तर्क ने उन मार्गों का विश्लेषण किया और उनकी विचार-शक्ति ने उनको ग्राह्य बनाया। कलात्मक ज्ञान भी उनका कुछ कम न था और कलाप्रियता उनमें कूट-कूटकर भरी हुई थी। और इसी ज्ञान और कला ने उनको अन्य जातियों के सम्मुख आदर्श रूप में रखा। इसका प्रमाण हमें उनके साहित्य-चिन्तन, साहित्यिक सिद्धान्तो तथा उनकी उत्कृष्ट रचनाओं और कला-सम्बन्धी विचारों में मिलता है जिनका अधिकांश आज तक लोकप्रिय है और जिनकी महत्ता आज तक कम नहीं हुई। इसमें सन्देह नहीं कि उनका क्षेत्र संकुचित था, उनका देश-काल-ज्ञान परिमित था और उनके ज्ञान की सीमाएँ भी विस्तृत न थीं। वे साहित्य की व्यापकता, उसकी अनेकरूपता तथा विशालता से परिचित न हो सके थे और दूसरे देशो के साहित्य का उन्हे यथेष्ट ज्ञान न था। इसी कारण साहित्य के उन अनेक रूपो से भी वे परिचित न थे जो अन्य देशो मे लोकप्रिय थे। इस विशाल संसार और प्रकृति के अनेक गुण उनके अनुभव से परे भी रहे। साथ-ही-साथ यूनानियों ने कुछ साहित्यिक सिद्धान्तों को उपेक्षा की दृष्टि से भी देखा जिसके कारण उनका दृष्टिकोण व्यापक न होकर संकुचित तथा विकृत हो गया। कुछ साहित्यिक सिद्धान्तो के प्रति उनका पक्षपात भी अधिक था जिसके फलस्वरूप उनके अनेक आलोचनात्मक मापो मे व्यतिक्रम आ गया और उन पर पूर्णतया विश्वास नहीं किया जा सकता।

यूनानी साहित्यिक आदर्श

सभी प्राचीन राष्ट्रो का यह सर्वमान्य साहित्यिक सिद्धान्त रहा है कि कलाकार को साहित्य द्वारा शिक्षा प्रदान करना चाहिए। यही सर्वसम्मत सिद्धान्त यूनानियों का भी रहा। इसका सबसे स्पष्ट कारण यह था कि यूनानी साहित्य देश के धर्म से अभिन्न रूप से सम्बन्धित था और पग-पग पर साहित्यकार धर्म की प्रतिष्ठापना और धर्म की महत्ता बनाए रखने के लिए ही साहित्य का निर्माण करते थे। इसका फल यह हुआ कि उनके नैतिक तथा सौन्दर्यानुभूति के सिद्धान्तो मे कोई भी विभिन्नता न रही, दोनों ही एक थे और दोनो की सीमाएँ भी एक ही थीं। उनके लिए कला

राष्ट्रीय धर्म की चेरी थी और उसका कोई स्वतन्त्र स्थान न था। जो-जो राष्ट्रीय उत्सव होते और जिन-जिन उत्सवों में धर्म-प्रसार तथा राष्ट्र के परिष्कार का प्रयत्न रहता उन सब का साहित्य को सहयोग प्राप्त रहता। इस सम्बन्ध में यह भी न भूलना चाहिए कि यूनानियों का जीवन धार्मिक होने के साथ-साथ राजनीतिक भी था; अथवा यों कहिए कि उनका राष्ट्रीय जीवन सदैव राजनीतिक तथा धार्मिक प्रश्नो को सुलझाने मे प्रयत्नशील रहा और कलात्मक सिद्धान्तों के लिए यूनानी समाज के सर्वतोमुखी जीवन को व्यक्त करना कलाकारों के लिए अनिवार्य सा हो गया। यूनानी आत्मा सदैव नैतिक परिष्कार का आदर्श सम्मुख रखती और उसी पथ पर कलाकारो को चलने के लिए बाध्य करती। जो-जो कलाकार इस नैतिक परिष्कार में सहयोग न देते अथवा राजनीतिक विच्छृङ्खलता लाने का प्रयास करते या तो वे निर्वासित होते अथवा प्राणदण्ड पाते।

यूनानी आदर्शों का ह्रास

समय के परिवर्तन और प्राचीन यूनानी कलाकारों की सुरक्षा-हेतु इधर-उधर घूमने-फिरने के कारण समस्त यूनानी जीवन में उच्छृङ्खलता आने लगी। यूनान की राजधानी एथेन्स साहित्य और कला का एक-मात्र केन्द्र न रह पाया। अलैक्जेण्ड्रिया, परगैमम, रोड्स तथा अन्यान्य नगरों मे यूनानी साहित्यकार बस गए और वहीं सुरक्षित रहकर वे अपनी साहित्य-साधना करने लगे। नये नगरों तथा नये वातावरण में आते ही उनका मानसिक विस्तार बढ़ने लगा और उनके दृष्टिकोण में भी शनैः-शनैः परिवर्तन होने लगा। इस परिवर्तन और विकेन्द्रीकरण के फलस्वरूप समस्त यूनानी जीवन में नीरसता आने लगी और उनका राष्ट्रीय तथा सामाजिक जीवन हीन होने लगा। एथेन्स-जैसे अपूर्व कला-केन्द्र में, जहाँ अत्यन्त श्रेष्ठ साहित्य की रचना हुई थी, अब हर ओर अवनति के ही चिह्न दिखाई देने लगे। मानसिक तथा आत्मिक दुर्बलता भी सभी क्षेत्रों में बढने लगी और अध्यात्म-चिन्तन की ओर से कलाकारों को अरुचि होने लगी। दर्शन-शास्त्र का स्थान तर्क ने ले लिया और इसके फलस्वरूप कला हीन होने लगी। दर्शन और कला में आध्यात्मिक सम्बन्ध है; तर्क और कला में आन्तरिक विरोध। इतना होते हुए भी प्राचीन यूनानी कला की महत्ता बनी हुई थी, परन्तु नवीन कलात्मक अनुभवों की वृद्धि हो रही थी जो आगे चलकर अत्यन्त श्रेष्ठ कला के आधार बने। भाषण-शास्त्र के कुछ नवीन सिद्धान्त भी बनने लगे थे, परन्तु वास्तव में यूनान का हृदय केवल राष्ट्र की प्राचीन मर्यादा, प्राचीन कला तथा प्राचीन

साहित्य को ही सुरक्षित करना चाहता था। इसके लिए अनेक साहित्यकार कटि-बद्ध हुए और उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों की टीका तथा भाष्य और उनका सम्पादन तथा संकलन करना आरम्भ कर दिया। वास्तव में यह युग वैयाकरणों तथा वाक्-विद्या-विशारदों के साहित्याध्ययन तथा साहित्यिक विवाद का युग था। साहित्यकार अपने राष्ट्र की प्राचीन साहित्यिक निधि को सुरक्षित रखने मे संलग्न रहे। इसके दो सौ वर्ष पश्चात् आलोचना-क्षेत्र मे फिर परिवर्तन हुआ।

रोमीय साहित्य-सृजन की प्रेरणा

इस नवीन युग में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य रोमीय साहित्य-सृजन था। यूनान पर रोम ने युद्ध मे विजय प्राप्त की थी; परन्तु जहाँ रोमीय शासन यूनानी धरती पर प्रसारित हुआ, रोम के मानसिक क्षेत्र पर यूनानी शासन फैलने लगा और कुछ ही समय बाद विजयी रोम यूनानी साहित्यकारों द्वारा विजित होने लगा। इस काल का मुख्य साहित्यिक कार्य था यूनानी साहित्य को रोमीय ढाँचों में ढालना अथवा उनका रोमीयकरण। रोम का साहित्य यूनानी साहित्य और कला के सम्मुख बर्बर ही कहा जायगा। इसका कारण यह था कि रोमीय केवल एक ही क्षेत्र मे अपनी दक्षता प्रदर्शित कर रहे थे, और वह था युद्ध-क्षेत्र। भारतीय राजपूतों के समान ही उनकी वीरता, धीरता, गर्व, अभिमान और राज्य-शासन की तूती बोली और अपनी युद्ध-कला द्वारा ही उन्होंने एक विशाल साम्राज्य की नींव डाली। समस्त रोमीय जीवन साम्राज्य-रक्षा मे व्यस्त रहता और उन्हें ललित-कलाओं को अपनाने के लिए न तो अवकाश था और न उसके प्रति कोई आकर्षण। स्वभावतः भी रोमीय अध्यात्म तथा दर्शन से विमुख थे और उनमे न तो कल्पना थी और न उनका कोई विशेष साहित्यिक अध्ययन ही था। वे तो इस धरती के जीव थे और इस धरती के परे उन्हे कुछ भी सूझ न पड़ता था। जीविकोपार्जन, समाज-नियन्त्रण इन्हीं में वे संलग्न रहते और उनके सम्मुख अध्यात्म तथा कल्पना-जगत से सम्बन्धित कोई भी प्रश्न नहीं उठते। उनका संसार केवल ऐहिक तथा दैहिक प्रश्नों तक ही सीमित था। पार्थिव जीवन के प्रश्नों को सुलझाने तथा जीवन के प्रायोगिक तत्त्वो में उलझे रहने के कारण उन्होंने किसी दूसरी ओर कोई प्रगति न की और इसका प्रमाण है उस समय का रोमीय साहित्य, जिसकी प्रमुख धाराएँ हैं सामाजिक नियन्त्रण तथा न्याय-शास्त्र का विवेचन।

कलात्मक ज्ञान तथा कलापूर्ण साहित्य-रचना में रोमीय यूनानियों से कहीं पीछे थे, परन्तु फिर भी उनमें उद्योग और परिश्रम की कमी न थी।

रोमीय जाति में उत्साह था और जीवन को सफल बनाने की अनवरत चेष्टा। यद्यपि वे नवीन रूप से न तो कार्य आरम्भ कर सकते थे और न उनमे इसकी क्षमता ही थी, परन्तु फिर भी वे प्राचीन यूनानी कलाकारों का अनुकरण करके साहित्य-रचना करते रहे। इस कला मे उनकी तत्परता सराहनीय है। श्रेष्ठ साहित्य-रचना के लिए कुछ विशेष आधारों की आवश्यकता पड़ती है; और रोमीय यह भली-भांति जानते थे कि उनका साहित्य तभी पनप सकता है जब वे यूनानी साहित्य का सहारा लें और उसी को आधारभूत मानकर अपना साहित्य निर्मित करें। इसी तथ्य को भली-भाँति हृदयंगम करके उन्होंने यूनानी साहित्य का अध्ययन आरम्भ किया और उसको रोमीय समाज तथा रोमीय साम्राज्य के अनुकूल बनाने मे अपनी सारी शक्ति लगा दी। इसी कारण समस्त रोमीय साहित्य पर यूनानी साहित्य की छाप है। रोमीय लेखकों ने काव्य तथा गद्य-रचना के लिए नियम बनाने शुरू किये और आलोचना साधारणतया उनके लिए उन नियमों का संकलन तथा विवेचना हो गई जो लेखकों को साहित्य-सृजन मे सहायता देती। कुछ हद तक भाषण-शास्त्र के अध्ययन और विवेचन का भी बोल-बाला रहा। रोमीय तथा यूनानी लेखकों के मिलने जुलने तथा भाव-विनिमय द्वारा साहित्यिक दृष्टिकोणों का परिमार्जन होता रहा। कुछ रोमीय लेखक ऐसे भी थे जो यूनानी साहित्य से भलीभांति परिचित थे और उनको तुलनात्मक आलोचना सिद्धान्तों को प्रयुक्त करने में सफलता मिली। इसी समय इतिहास की नई परिभाषा भी बनी और जीवन और साहित्य मे आत्मिक तथा आध्यात्मिक सम्बन्ध भी स्थापित हुआ। इसी समय पत्र-लेखन-कला तथा व्यंग्य-काव्य-रचना की प्रगति हुई जिनके द्वारा आलोचना-साहित्य को यथेष्ठ तथा व्यापक आधार मिलते गए।

प्राचीन युग का महत्त्व

प्राचीन आलोचना-साहित्य एक और दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वह है उसकी प्राचीनता; क्योंकि प्राचीन की नींव पर ही नवीन की कल्पना होती है। और इसी के सहारे और इसी की सहायता से मध्यकाल तथा आधुनिक काल का आलोचना साहित्य निर्मित भी हुआ। यह सही है कि प्राचीन काल का आलोचना साहित्य न तो परम्परागत है और न पूर्ण रूप से पुस्तकों में स्फुट नियम ही बिखरे हुए मिलते हैं, परन्तु यह सब होते हुए भी इस काल के आलोचना-साहित्य मे वे प्रश्न पहले-पहल पूछे गए जो आगे चलकर सिद्धान्त-निर्माण में सहायक हुए। उसी काल में साहित्य तथा आलोचना के कुछ मूल तत्त्वों का अनुसन्धान हुआ और उन्हीं

के आधार पर भविष्य की आलोचना की रूपरेखा बनी। इसी काल में ऐति-हासिक दृष्टिकोण द्वारा साहित्य का अध्ययन हुआ और आलोचनात्मक नियमों का सम्यक् निर्माण हुआ। प्राचीन काल के कलाकारों ने ही काव्य की व्याख्या की, उसके तत्त्व बतलाए और उसकी आन्तरिक अनुभूति का विवेचन किया। आलोचना-साहित्य का इस काल में ही श्रीगणेश हुआ। परन्तु यह ध्यान में रखना उचित है कि इस काल के कलाकारों को देश, काल तथा साहित्यिक न्यूनता की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और उनके अनेक साहित्यिक अन्वेषण भ्रान्तिमूलक रहे। जो कुछ भी साहित्य उस समय प्रस्तुत था उसी के आधार पर नियमों का निर्माण हुआ। साहित्यिक निरीक्षण की शक्ति केवल एक-दो ही आलोचकों में रही; उनके शब्द-कोष सीमित रहे और उनकी पारिभाषिक शब्दावली अनिश्चित तथा सन्दिग्ध रही। सिद्धान्तों के निर्माण में भी अनेक आलोचकों में समानता रही और प्रायः सभी ने एक-दूसरे के वक्तव्यों तथा आलोचना-सिद्धान्तों को अपने-अपने शब्दों में दुहराया। शाब्दिक अनिश्चय के कारण परिभाषाएँ न बन सकीं और साहित्य के अनेक महत्त्वपूर्ण अंगों पर प्रकाश नहीं पहुँच पाया। निर्णयात्मक शक्ति की भी कमी कहीं-कहीं दिखलाई देती है और निर्णय के आधार भी बहुत सीमित तथा संकुचित रहे, क्योंकि साधारणतया आलोचकवर्ग साहित्य को उसकी उपयोगिता, यथार्थता तथा नैतिकता की कसौटी पर ही परखते रहे। शुद्ध आलोचना की सर्वथा कमी रही और न तो सौन्दर्यानुभूति के सिद्धान्तों पर ही जोर डाला गया और न काव्य की अन्तरात्मा को परखने का ही प्रयास किया गया। परन्तु इतना सब होते हुए भी प्राचीन युग महत्त्वपूर्ण है और उसकी समुचित विवेचना होनी चाहिए, क्योंकि इसी युग में उन साहित्यिक तथा दार्शनिक मनुष्यों का जन्म हुआ जिन्होंने पहले-पहल साहित्य तथा साहित्य-रचना पर अपने मौलिक विचार प्रकट किये। अफलातून समान दार्शनिक, अरस्तू-समान अन्वेषक, सिसेरो-समान वागीश, हॉरेस-समान कलाकार इसी काल में हुए। इनके सिद्धान्तों तथा उनके दार्शनिक चिन्तन द्वारा आलोचना-साहित्य को जो प्रकाश मिला है उसकी ज्योति आधुनिक काल में भी धूमिल नहीं हुई है।

२

आलोचना का आदि काल

आलोचना-कला के आदिकाल के विषय में निश्चय-पूर्वक कुछ कहा नहीं जा सकता, परन्तु इतना अवश्य है कि हमें उस काल के चिन्तन, अध्ययन तथा साहित्यिक अनुशीलन में कही-कही आलोचनात्मक संकेतो की पहली झलक मिल जायगी और इसी आदिकाल के अन्तरतम मे बीजरूप में छिपी हुई साहित्यिक प्रेरणाओ में, आलोचनात्मक दृष्टिकोण का कही-कहीं स्पष्ट रूप से दर्शन हो जायगा। कहा जाता है कि प्राचीन युग के आलोचनात्मक सिद्धान्तों का प्रथम दर्शन हमे अफ़लातून की कृतियो मे मिलता है, परन्तु यह भी असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि अफ़लातून ने अपनी कृतियो मे उन्हीं आलोचनात्मक सिद्धान्तो का निरूपण किया जो प्राचीन काल से ही यूनानी चिन्तन धाराओ में इधर-उधर प्रवाहित थे। प्राचीन युग के चिन्तनशील व्यक्तियो ने समाज तथा राजनीति की रूपरेखा के निर्माण के सम्बन्ध मे अनेक विचार प्रस्तुत किये थे और उन्हीं विचार-धाराओं में हमे कही-कही आलोचनात्मक तरंगो का भी आभास मिल जाता है। अतः यदि हमे आलोचना के आदिरूप की समीक्षा करनी है तो उसका क्षेत्र यूनान का प्राचीन साहित्य ही होगा। इसी प्राचीन साहित्य, साहित्यिक प्रेरणाओं तथा अनुभवी व्यक्तियों के सामाजिक तथा राजनीतिक चिन्तन मे हमें आलोचना का प्रथम संकेत मिलेगा जिसके नियम समय पाकर स्पष्ट होते गए और जो आगे चलकर सिद्धान्त-रूप में प्रकाशित हुए।

यूनान के आदिकवि होमर तथा साहित्यकार हिसियॉड की रचनाओ में हमें पहले-पहल आलोचना का आदिसंकेत अस्पष्ट रूप मे मिलता है और पूर्व-ईसा छठो शती के दर्शनवेत्ताओं की रचनाओ और उनके वक्तव्यों द्वारा उनकी पुष्टि होती है तथा अनेक आदिसंकेत स्पष्ट होने लगते है। इस शती के लेखको में ज़ेनोफ़नीस तथा हेराक्लिटस महत्त्वपूर्ण हैं और उनकी स्फुट रचनाओं में आलोचनात्मक दृष्टिकोण का स्पष्ट आभास मिलता है। पूर्व ईसा पाँचवीं

शती में भी पिण्डर-समान श्रेष्ठ नाटककारों की रचनाओं द्वारा यह आभास और भी स्पष्ट होने लगता है और आगे चलकर जब हम यूनानी तार्किकों तथा दर्शन-शास्त्रियों की कृतियों का अध्ययन करते हैं तो हमें यह ज्ञात होने लगता है कि अवश्य ही इन महान् आत्माओं का चिन्तन और अध्ययन-क्षेत्र आलोचना का आदि रूप समझने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस शती के दो लेखक उल्लेखनीय हैं—गोर्त्रियास तथा डिमाक्रिटस। इनके साथ-ही-साथ इतिहास-कार प्लूटार्क तथा तत्त्ववेत्ता डायोजेनीस लायर्टीज के वक्तव्यों ने आलोचना के आदिरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है, परन्तु इतना सब होते हुए भी हम निश्चयात्मक रूप से यह नहीं कह सकते कि इस युग में आलोचना का कोई सम्यक् अध्ययन अथवा उसका सैद्धान्तिक निरूपण हुआ। स्फुट कृतियों के स्फुट वक्तव्यों तथा उनमें संकेत-रूप में प्रस्तुत आलोचनात्मक दृष्टिकोणों के बल पर हम उस युग को महत्त्वपूर्ण मानते तो अवश्य हैं, परन्तु केवल ऐति-हासिक दृष्टि से, अन्यथा नहीं। जब तक हम यूनानी नाटककार एरिस्टाफ़ेनीज के युग में नहीं पहुँच जाते आलोचनात्मक विचार स्फुट रूप में ही मिलेंगे; उनका सैद्धान्तिक अनुसन्धान एरिस्टाफ़ेनीज़ द्वारा ही हुआ। एरिस्टाफेनीज़-रचित सुखान्तकीयों में हमें अनेक स्थानों पर आलोचना की प्राचीन रूपरेखा दिखाई दे जाती है। अपने सुखान्तकीयों में उन्होंने साहित्यिक चर्चा की, तत्कालीन साहित्य का अनुशीलन किया और अपने समकालीन साहित्यकारों के महत्त्व का माप लगाया।

काव्य में प्रेरणा का महत्त्व

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, साहित्य-सिद्धान्त-चर्चा, यूनानी साहित्यकार होमर तथा हिसियॉड के समय से ही प्रारम्भ हुई और इसका सबल प्रमाण यह है कि जब हमें महाकाव्य के रूप में इस समय की अनेक रचनाएँ प्राप्त हैं तब कोई-न-कोई काव्य-सिद्धान्त उस काल में अवश्य ही मान्य रहे होंगे। प्राचीन युग के इस साहित्य में हमें अनेक स्थानों पर काव्य की उपयोगिता तथा काव्य-धर्म और काव्य के स्वरूप पर कुछ सिद्धान्त संकेत-रूप में मिलते हैं। उदाहरण के लिए काव्य-निर्माण में आत्मिक तथा हृदयगत प्रेरणा की आवश्यकता का आभास होमर-रचित महा-काव्यों के आदि में सदैव मिलता है। होमर के दोनों महाकाव्यों—इलियड तथा ओडॅसे के आदि में लोक-गाथाओं में प्रतिष्ठित काव्य-देवी की वन्दना रहती है जिसमें कवि काव्य-प्रेरणा-दान के लिए लालायित रहता है, क्योंकि उसका यह विश्वास है कि काव्य देवी की कृपा द्वारा ही उसका काव्य सफल

होगा तथा उसकी प्रतिष्ठा बढेगी। हिसियॉड-रचित पुस्तक 'थियोजोनी' की प्रस्तावना में भी इसी परम्परा का उल्लेख मिलता है। वहाँ भी लेखक अपने पाठकों से अपनी काव्य-रचना का रहस्य बतलाता है और कहता है कि काव्य देवी की प्रेरणा द्वारा ही वह अपने महान् साहित्यिक कार्य में सफल हुआ, क्योंकि वह न तो लेखक था और न कवि। यही परम्परा हमे पूर्व के कवियों में भी ठीक इसी रूप मे मिलती है। प्रायः सभी प्राचीन महाकाव्यो, काव्यों तथा अन्य रचनाओ में शिव, गणपति तथा सरस्वती-वन्दना को प्रधानत्व दिया गया है और लेखक का विश्वास-सा रहता है कि दैवी कृपा-दृष्टि से ही उसकी रचना सम्पूर्ण होगी। संस्कृत-साहित्य के कवियों में यह परम्परा निश्चित रूप मे कहाँ से आई, यह कहना कठिन है, परन्तु पूर्व और पश्चिम की साहित्यिक परम्पराओ की समानता के पीछे हमे मानव-जाति की सांस्कृतिक एकता का परिचय अवश्य मिलता है। हिन्दी के अनेक प्राचीन कवियो मे यह परम्परा संस्कृत के कवियो द्वारा ही आई होगी, क्योंकि प्रायः सभी हिन्दी के प्राचीन कवि संस्कृत के विद्वान् थे, और संस्कृत-साहित्य की परम्पराओ का अनुकरण स्वाभाविक ही था। सरस्वती-वन्दना में निहित काव्य-प्रेरणा के अर्चन की आकांक्षा सभी कवियो में रही है और इसी वन्दना में हमें उस प्राचीनतम काव्य-सिद्धान्त का आभास मिलता है जो काव्य को दैवी प्रेरणा द्वारा ही आविर्भूत समझता है। इसी दैवी प्रेरणा को प्रधानता देकर कवि और काव्य की परिभाषा निर्मित की गई, जो धीरे-धीरे भविष्य में सैद्धान्तिक रूप मे मान्य हुई।

कवि-धर्म तथा काव्यादर्श

इस परम्परा के साथ-साथ हमें इस काल में काव्य-सम्बन्धी कुछ अन्य आलोचनात्मक संकेत भी मिलते हैं। प्राचीन कवियों ने काव्य रचना करते समय इस बात का अवश्य निश्चय करना चाहा कि आखिर कवि-धर्म है क्या और काव्य का उद्देश्य क्या होना चाहिए। ये दोनों प्रश्न स्वाभाविक हैं और इनके मूल आधार का अनुसंधान निरर्थक-सा होगा। जब कवि काव्य-रचना करने बैठा होगा तो स्वभावतः उसने अपने धर्म तथा काव्य के ध्येय पर अवश्य मनन किया होगा। 'क्यो' और 'कैसे' ये दोनो प्रश्न अनादि काल से उठते आए हैं और प्राचीन कवियो के लिए इस प्रश्न का उत्तर ढूँढना स्वाभाविक ही था। यही दोनों प्रश्न यूनान के दोनों प्रसिद्ध आदिसाहित्यकारों ने भी उठाए। होमर का विचार था कि काव्य का ध्येय आनन्द-प्रदान होना चाहिए और यह आनन्द एक प्रकार के ऐन्द्रजालिक प्रयोग द्वारा ही प्रसारित होगा। इसी

विचार को होमर ने कई[1] स्थानों पर दुहराया है, जिससे स्पष्ट है कि इस प्रश्न को वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझते होंगे। इसके विपरीत हिसियॉड का मत था कि काव्य का ध्येय शिक्षा-दान होना चाहिए अथवा किसी मार्मिक सन्देश द्वारा जन-कल्याण। परन्तु यह मत बहुत बाद का है। इस विवाद का हल, जैसा कि आलोचना-साहित्य का इतिहास बतलाता है, बहुत काल तक नहीं मिल पाया और कलाकार अपने मनोनुकूल अपना ध्येय निश्चित करके काव्य-रचना करते रहे। इस सिद्धान्त के साथ एक और साहित्यिक सिद्धान्त का भी बीजारोपण इसी काल मे हुआ। यह था काव्य का सभ्यतामूलक उपयोग। सहज रूप मे भयानक पशुओं की पशुता को काव्य द्वारा वश में करने की किम्वदन्तियाँ लोक-गाथाओं मे भरी पडी हैं; यहाँ तक कि पाषाणों पर भी काव्य के प्रभाव की अनेक कथाएँ लोक गाथा रूप मे प्रस्तुत हैं। कहा जाता है कि एम्फियन नामक कवि ने पत्थरों को अपनी काव्य-माधुरी से मोहित करके थीब्स नगर की चहार-दीवारी बना दी और पत्थर एक-दूसरे पर अपने-आप सजते चले गए। यह विश्वास बहुत काल तक मान्य रहा और अनेक लोगो ने भाषण-शास्त्र तथा दर्शन में भी इसी शक्ति के प्रतिपादन का प्रयास किया। इसी समय काव्य-सम्बन्धी एक अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व का संकेत भी मिलता है जो आगे चलकर सिद्धान्त रूप मे परिणत हुआ; वह है काव्य की आश्चर्यित करने की शक्ति, जो काव्य की ऐन्द्रजालिक कला का प्रथम और स्पष्ट संकेत है। होमर-रचित महा-काव्य 'इलिअड' मे यूनानी योद्धा ऐकिलीज़ की स्वर्ण ढाल की प्रशंसा करते हुए कवि कहता है कि ढाल पर नये-नये जोते हुए खेत का चित्र है और यद्यपि सम्पूर्ण ढाल स्वर्ण की है और उसकी पृष्ठभूमि पीली है फिर भी नीचे से निकली हुई मिट्टी का रंग काला दिखाई पड़ता है। यह है कलाकार की कला, जो रंगों का इन्द्रजाल प्रस्तुत कर देती है! इस संक्षिप्त कलापूर्ण वक्तव्य में आगामी काव्य-सिद्धान्त का बीजारोपण हुआ जिससे काव्य की ऐन्द्रजालिक कला को विशिष्ट स्थान मिला। पूर्व में भी काव्य की आध्यात्मिक प्रतिष्ठा किसी भी अंश मे कम नहीं थी। पूर्व की लोक-गाथाओं मे राग-रागिनियों, वेद मन्त्र इत्यादि द्वारा जीवित और जड़ प्रकृति दोनों पर कलाकारों, संगीतज्ञों

---

१. ऑडेस—खण्ड आठ ४३-४५ : "दैवी प्रेरणायुक्त कवि को अभिवादन दो। इसमे गायन की दैवी शक्ति है जो मानव को मनोनुकूल प्रफुल्लित तथा आनन्दित करती है।"

६२-६४—"वह देवियों का कृपा-पात्र है; वह उनके प्रेम से विवश है; उस-की पार्थिव दृष्टि छिन गई है, परन्तु उसे गीत का वरदान प्राप्त है।"

और वागीशों के विजय की चर्चा मिलती है। कुछ कवियों तथा गायकों ने मेघहीन आकाश से जल-वर्षा कराई है और दीपक-राग द्वारा बुझे दीप प्रज्वलित किये हैं; कुछ ने तो मृतकों में भी प्राणों का संचार किया है।

यूनानी समाज में नाट्यप्रियता भी बहुत प्राचीन काल से प्रस्तुत रही है और उनके नाटकों का एक महत्त्वपूर्ण अंग, 'सहगायकों'[1] का वर्ग, उसी समय से महत्त्वपूर्ण रहा है। सहगायकों के वक्तव्यों तथा महाकाव्य को सस्वर गाने वाले कलाकारों की कला में भी कुछ प्राचीन आलोचनात्मक तत्त्वों की प्रथम झलक दिखाई देगी। यह कहना तो भ्रममूलक होगा कि इन स्फुट विवरणों में आलोचनात्मक तत्त्व प्रधान हैं और वे सैद्धान्तिक रूप मे प्रस्तुत हैं, परन्तु इन स्फुट विवरणों की ऐतिहासिकता पर सन्देह नहीं किया जा सकता।

प्रतीकवादी आलोचना-शैली का जन्म

उपर्युक्त कथनों से प्रमाणित है कि कला तथा काव्य के अनेक क्षेत्रों में, हमें बीज-रूप में, अनेक आलोचना-तत्त्वों की प्रस्तावना मिलती है और छठी शती पूर्व ईसा में यह प्रस्तावना और भी स्पष्ट हो जाती है। इस काल मे साहित्यकारों तथा दर्शन-शास्त्रियों का पुराना द्वन्द्व और भी जोर पकड़ लेता है। काव्य तथा दर्शन के लक्ष्य, तत्त्वों, उद्देश्यों तथा उपयोगिता पर विवाद बड़ा पुराना है और उसके सम्बन्ध में जो-जो वक्तव्य उस काल में प्रकाशित हुए वे भी कम रोचक नहीं। यूनान के आयोनिया प्रदेश के दर्शन-वेत्ताओं ने प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करने के लिए कुछ ऐसे सिद्धान्त निर्मित किये जिनसे साहित्य-संसार मे बड़ी खलबली मच गई। इन दर्शन-शास्त्रियों ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया कि संसार कुछ विशिष्ट नियमों पर स्थिर है और वे नियम अटल हैं। भू-तत्त्व-विशारदों ने भी इन्हीं नियमों का स्वतः प्रतिपादन किया और भौतिक शास्त्र के ज्ञाताओं ने भी प्रमाणों द्वारा यह साबित कर दिया कि संसार देवताओं के गर्व, प्रेम, अभिमान, ईर्ष्या के हाथ की कठपुतली नहीं; उसके निर्माण और साहाय्य मे अनेक भूतात्त्विक सिद्धान्त उपयुक्त होते हैं। इधर साहित्यकार होमर ने अपनी रचनाओं में संसार को देवी-देवताओं के हाथ की कठपुतली बना रखा था। भारतीय लोक-गाथाओं के समान यूनानी लोक-गाथाएँ भी अनेक देवी-देवताओं के कार्यों से सम्बन्धित थीं और साहित्य-क्षेत्र में अनेक देव-परम्पराएँ चली आती थीं जिन पर यूनानी जनता का अटूट विश्वास था। होमर ने अपने महाकाव्यों को लोकप्रिय बनाने तथा यूनानी जीवन का दिग्दर्शन कराने के लिए इस

---

१. कोरस। देखिए 'काव्य की परख' तथा 'नाटक की परख'।

हो जाय। यदि होमर इन आध्यात्मिक प्रतीकों को वास्तविक रूप में रखते तो साधारण पाठकवर्ग उनकी महत्ता को हृदयंगम न कर पाता। इसी प्रकार देवी-देवताओ के पारस्परिक युद्ध का विवेचन भी उन्होने किया और यह बतलाया कि युद्ध देवतावर्ग में न होकर प्रकृति की भली तथा बुरी शक्तियों में सांकेतिक रूप में था। इसी प्रकार उन्होंने होमर के महाकाव्य के सभी खण्डो का दार्शनिक विश्लेषण किया। इस प्रतीकवादी अथवा ऐलिगारिकल शैली ने कविता की आलोचना को बहुत क्षति पहुँचाई और कविता को केवल कुछ आध्यात्मिक सत्यों का विवेचन मात्र ही सिद्ध किया। यह थी छठी शती तक की आलोचना-परम्परा।[1]

कला-तत्त्वों का अनुसंधान

पूर्व ईसा पाँचवीं शती में आलोचना के नियमों की रूप-रेखा कुछ-कुछ अधिक स्पष्ट होने लगी और इस काल में यद्यपि मूल ग्रन्थो का अभाव रहा, फिर भी साहित्य-चर्चा के अन्तर्गत कुछ आलोचनात्मक नियम निर्मित हुए। इस शती में यूनान की राजधानी एथेन्स की महत्ता भी बढने लगी और सभी क्षेत्रों में प्रगति के लक्षण दिखाई देने लगे। मानसिक क्षेत्र में एक प्रकार की क्रान्ति आ गई; कला-क्षेत्र मे नवीन प्रयोग होने लगे और राज-नीति के क्षेत्र में तो बहुत महत्त्वपूर्ण परिवर्तन की सम्भावना दिखाई देने लगी। समस्त यूनानी जीवन एक नवीन तर्कवाद की लहर से आन्दोलित हो उठा। यों तो पहले ही आयोनिया प्रदेश के कुछ दर्शनवेत्ताओं ने समाज-निर्माण के सम्बन्ध में अपनी राय प्रकट की थी और नवीन सुझाव रखे थे, परन्तु इस काल में सभी दर्शनज्ञों और कलाकारों का ध्यान सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन की ओर आकृष्ट हुआ और संसार-निर्माण सम्बन्धी सभी पुराने प्रश्न भुला दिये गए। जीवन को तर्क पर आधारित करने के लिए अनेक प्रयत्न होने लगे और तर्क की कसौटी पर जीवन के सभी पहलुओं की परख होने लगी। धर्म, राजनीति, नीति समाज—सभी तर्क द्वारा परीक्षित होने लगे। इस तार्किक आन्दोलन के फलस्वरूप प्रत्येक दिशा में परिवर्तन दिखाई देने लगा। इसके साथ-ही-साथ यूनानी समाज मानसिक स्वतन्त्रता का भी कायल था और जीवन के सभी प्रश्नों पर वहाँ स्वतन्त्र रूप से विचार हुआ करता था। इस काल मे कला की भी प्रगति हो रही थी और श्रेष्ठ कलाकार

१. राम तथा कृष्ण के जीवन से संबंधित अनेक घटनाओ तथा सन्तो की बानी मे प्रयुक्त अनेक उपमाओ और प्रतीको को हम इसी आधार पर तर्क रूप मे समझ सकेंगे।

अपनी सारी मानसिक शक्ति लगाकर देश का सांस्कृतिक कोष भरा-पूरा कर रहे थे। साहित्य भी इस जागरण-काल में अछूता न रहा। यूनानी लेखकों ने श्रेष्ठातिश्रेष्ठ दुःखान्तकीयों तथा सुखान्तकीयों की रचना की। गीतकाव्य तथा महाकाव्य तो पहले से ही प्रस्तुत थे और अब गद्य तथा भाषण-शास्त्र का भी सम्यक् रूप से अध्ययन होने लगा। आलोचनात्मक नियमों के बनाने के लिए अब साहित्य भी यथेष्ट मात्रा में निर्मित हो चुका था। यूनान के सुखान्तकी-लेखकों ने ही इसका श्रीगणेश किया।

कला तथा प्रेरणा का महत्त्व

इस शती में आलोचनात्मक विचारों का स्पष्टीकरण ही नहीं वरन् उनका प्रचार भी अधिक हुआ और कला के महत्त्वपूर्ण तत्त्वों पर कलाकारों तथा कवियों ने अपने-अपने विचार प्रकट किये। इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन लेखकों के वक्तव्यों में ये विचार सूत्र-रूप मे प्रस्तुत थे और इनका स्पष्टीकरण कालान्तर में होता गया। लातीनी कवि पिण्डर तथा वागीश गोर्जियास के वक्तव्यों में हमें आलोचना के कुछ स्फुट नियमों का परिचय प्राप्त होता है, जो आगे चलकर सिद्धान्त रूप में मान्य हुए। पिण्डर ने 'कला के नियमों' तथा 'स्तुति-गीतों के नियमों'[1] की चर्चा की। उन्होंने काव्य के ऐन्द्र-जालिक प्रभाव तथा उनके द्वारा सौन्दर्यानुभव का गुणानुवाद किया। काव्य-रचना में कला तथा आन्तरिक प्रेरणा के महत्त्व पर भी उन्होने अपने विचार प्रकट किये और प्रेरणा द्वारा निर्मित काव्य को ही श्रेष्ठ स्थान दिया। यद्यपि स्वयं उनकी विरचित रचनाओं मे कला का प्रयोग अधिक है और प्रेरणा का कम, फिर भी अपने विचारों में उन्होंने जिस कलात्मकता का परिचय दिया वह कम सराहनीय नहीं। उन्होंने अनेक स्थलों पर स्पष्ट रूप से बतलाया है कि काव्य के निर्माण में यदि प्रेरणा न हुई तो काव्य निर्जीव होगा। जो कलाकार अपने ज्ञान और कला के बल पर ही काव्य का निर्माण करेगा उसका प्रभाव अस्थायी रहेगा और उसका काव्य निम्न कोटि का होगा। केवल कला के सहारे ही काव्य-निर्माण व्यर्थ है, आन्तरिक प्रेरणा ही काव्य को जीवन-दान देकर उसे अमर बनायगी। कलाकार में यदि नैसर्गिक प्रेरणा है तो वह उस कलाकार से कहीं ऊँचा है जिसे केवल कला के नियमों का ज्ञान है। आगामी काल में पिण्डर के इन्हीं विचारों द्वारा एक विवादग्रस्त प्रश्न उठ खड़ा हुआ। यह विवाद था—प्रकृति और कला का द्वन्द्व। अनेक शतियों तक यह विवाद चलता रहा और कुछ आलोचक कला को श्रेष्ठ समझते रहे और कुछ केवल

१. देखिए—'काव्य की परख'

प्रकृति-अनुसरण को महत्त्व देते रहे।

व्यंजना का महत्त्व

इन विचारों के साथ-साथ पिण्डर ने काव्य-निर्माण के अन्य पहलुओ पर भी ध्यान दिया। काव्य में सांकेतिक अथवा संक्षिप्त व्यंजना को ही उन्होंने सराहनीय माना। थोड़े शब्दो में भाव-प्रकाश अथवा गागर में सागर भरने का उन्होने स्पष्ट आदेश दिया। जिस प्रकार मधुमक्खी अनेक पुष्पों से पराग इकट्ठा करके मधुर मधु का निर्माण करती है वही ध्येय कलाकार का भी होना चाहिए।

काव्य की अन्तरात्मा का अनुसंधान

पिण्डर के अनेक समकालीन कलाकारो ने भी काव्य-सम्बन्धी वक्तव्य प्रकाशित किये। 'काव्य मुखरित चित्र है और चित्र मूक काव्य है'-जैसी सांकेतिक परिभाषाएँ इसी समय निर्मित हुईं। शब्दो के रूप और प्रयोग, छन्द-प्रयोग, भाव-समन्वय, लय तथा सामञ्जस्य—काव्य के सभी बाह्य गुणो और लक्षणो पर अनेक दर्शनज्ञों तथा तार्किकों ने अपने-अपने विचार प्रदर्शित किये। इनमें गोर्जियास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उन्होंने अपने दो महत्त्वपूर्ण भाषणो मे काव्य की अन्तरात्मा तथा काव्य के प्रभाव पर विशेष ध्यान दिया। उन्होंने काव्य में शाब्दिक प्रभाव पर बहुत जोर दिया और यह बतलाया कि 'कथित शब्द में महान् शक्ति है; इसके द्वारा भय तथा दुःख का का शमन होता है और आनन्द तथा आत्मविश्वास का प्रकाश। काव्य तथा गद्य दोनों में ही ये गुण निहित हैं।' कहीं-कहीं काव्य की परिभाषा में उन्होंने केवल छन्दों को ही महत्त्वपूर्ण माना परन्तु मनुष्य के मानसिक जीवन पर काव्य का जो प्रभाव पड़ता है उसकी गंभीर विवेचना की। 'श्रोताओं को काव्य विचित्र रूप से प्रभावित करता है; उसके द्वारा गांभीर्य, नैतिक भय तथा करुणा का सम्यक् संचार होता है।' आगामी काल में, अरस्तू के काव्य-सिद्धान्तों को इस वक्तव्य ने पूर्णतया प्रभावित किया। उनके दूसरे वक्तव्य, 'प्रेरणात्मक काव्य आनन्द का प्रसार तथा पीडा का निवारण करके मानव-आत्मा को आश्चर्यजनक रूप से प्रभावित करता है और विश्वास की मर्यादा प्रसारित करता है,' ने भी भविष्य में अनेक आलोचनात्मक विवादो की नींव डाली; और काव्य के उद्देश्य के विषय में बहुत काल तक मतभेद रहा और अब भी है। दुःखान्तकी[१] की भी उन्होने परिभाषा निर्मित की—'दुःखान्तकी पद्य-बद्ध रचना है जो दर्शकों को मनोनुकूल वशीभूत करके उनमें नैतिक भय तथा करुणा का प्रसार, दूसरों के भाग्य-परिवर्तन के दृश्य दिखलाकर किया करती है।'

---

१. देखिए—'नाटक की परख'

भाषण-शास्त्र का अध्ययन तथा गद्य की रूपरेखा

उपरोक्त आलोचनात्मक कथनों और साहित्यिक चर्चा से यह तो स्पष्ट ही है कि सुदूर भूतकाल में आलोचना बीज रूप में रही है। जिन-जिन स्फुट वक्तव्यों के हमे दर्शन होते हैं उन सभी मे आगामी काल के सिद्धान्तों की छाया मिलेगी। इसी काल में हमें, काव्य के अतिरिक्त गद्य तथा गद्य रचना-सिद्धान्तों का भी बीजारोपण दृष्टिगोचर होता है। इस नवीन साहित्यिक अनुसन्धान का कारण विशेषतः राजनीतिक रहा। ५१० पूर्व ईसा, यूनान की राजधानी एथेन्स मे, प्रजातन्त्र राज्य की सफल स्थापना के फलस्वरूप अनेक परिवर्तन हुए। प्रजातन्त्र-शासन-प्रणाली ने जनता और समाज पर नवीन दायित्व रखे और यह सब लोगों ने भली-भाँति जान लिया कि समाज में आगे बढने और अपनी सत्ता जमाने का केवल एक साधन है और वह साधन है भाषण-कला-पटुता। भाषण-शास्त्र का ज्ञाता जनता को अपने वश में करके अनेक अनुयायी बना सकता था और इसी कारण इस कला का महत्त्व बढने लगा और अनेक तार्किकों तथा वागीशों ने जनता को इस कला में दक्ष बनाने का आयोजन किया। उन्होंने भाषण-शास्त्र के नियम बनाए, पुस्तकें लिखी और यह सिद्ध कर दिया कि परिश्रम तथा प्रयोग द्वारा इस कला का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इटली के सिसली प्रान्त में इस शिक्षा का आयोजन पहले-पहल हुआ और दो विद्वानों—कोरैक्स तथा टिसिएस ने भाषण-शास्त्र पर पहली पुस्तक लिखी। इन लेखको ने पहले-पहल भाषण-शास्त्र के विषयों और प्रयोजन को ही स्पष्ट किया, परन्तु आगे चलकर गोर्जियास नामक विद्वान् ने इस शास्त्र का साहित्यिक और विश्लेषणयुक्त अध्ययन प्रस्तुत किया, जिसका एथेन्स नगर में बहुत सम्मान हुआ। कुछ तत्कालीन तार्किकों ने भी इस विषय पर पुस्तकें लिखी। परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण दो ही लेखक उपरोक्त गोर्जियास तथा थ्रैसीमेकस हुए जिन्होने इस कला का वैज्ञानिक रूप-विवेचन किया। गोर्जियास ने गद्य-रचना में अलंकारों के प्रयोग पर बहुत जोर दिया, सन्तुलित वाक्यांशो द्वारा वाक्य निर्मित करने की शैली बनाई और अनुप्रास, व्यन्जन-ध्वनि तथा गति और लय के प्रयोग को स्पष्ट किया। अलंकार-प्रयोग मे तो गोर्जियास स्वयं बहुत पटु थे और उन्होंने ही पहले-पहल गद्य को इससे आभूषित किया और गद्य को काव्य के रंग मे रँगने का आदेश दिया। थ्रैसीमेकस ने केवल भाषा पर ही अधिक जोर दिया और भाषा की शुद्धता को ही महत्त्वपूर्ण माना। कदाचित् थ्रैसीमेकस ने ही पहले-पहल सिद्धान्त रूप में गद्य को लय-

पूर्ण बनाने का निर्देश दिया था। उन्होंने ही लम्बे और सामंजस्यपूर्ण वाक्यों की शैली प्रचलित की। इन लेखकों के सहयोग द्वारा ही भाषण-शास्त्र के वैज्ञानिक अध्ययन की नींव पड़ी और गद्य-रचना-शैली की पहली रूपरेखा बनी। परन्तु इन लेखकों का गद्य साहित्य का गद्य न था; वह सभाओं के मंच के उपयुक्त और मौखिक प्रयोग का गद्य था। इतना होते हुए भी यह सिद्ध है कि सुदूर भूतकाल में गद्य-रचना पर भी आलोचनात्मक प्रकाश पड़ रहा था। आगामी काल के सिद्धान्तों का बीजारोपण भी हो रहा था और एक ऐसे साहित्यकार की आवश्यकता भर थी जो इन साहित्य-सिद्धान्तों के स्फुट तारों को एकत्र करके उनकी सुसज्जित रूपरेखा प्रस्तुत करता। ऐतिहासिक रूप में एरिस्टाफेनीज़ ने इस ओर प्रथम प्रयास किया।

निर्णयात्मक आलोचना प्रणाली का जन्म और विकास

एरिस्टाफ़ेनीज़ (४५०-३८० पूर्व ईसा) के समय में ही, पाँचवी शती की निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली की परकाष्ठा पहुँची। एरिस्टाफ़ेनीज़ प्राचीन काल के सर्वश्रेष्ठ आलोचक थे। उन्होंने कुछ तत्कालीन नाटकों को उपहासित करके उनका हास्यपूर्ण संस्करण निकाला जो निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली का आदि रूप है। इस काल के सभी सुखान्तकीयों तथा दुःखान्तकीयो का उन्होंने गहरा अध्ययन किया था और अपनी लिखी हुई चार सुखान्तकीयों में उन्होंने तत्कालीन समाज के आचार-विचार, रूढि तथा परम्परा, राजनीतिक जीवन, सभी का समावेश किया था। इसी अध्ययन में हमें उनके आलोचनात्मक सिद्धान्तो के दर्शन होते हैं। वस्तुतः उनके आलोचना-सिद्धान्त सौन्दर्यानुभूति के सिद्धान्तों पर आधारित नहीं, परन्तु सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन की महत्ता तथा उसकी श्रेष्ठता बनाए रखने का वे प्रयास अवश्य करते हैं। एरिस्टाफेनीज़ अपने समय के यूनानी जीवन से खिन्न हो उठे थे और अपनी रचनाओं से उन्होंने उन्हीं व्यक्तियों और रूढ़ियो की आलोचना की जो यूनानी जीवन में विषमता फैलाए हुए थे। उनका जन्म काल यूनानी इतिहास का स्वर्ण-युग था और उनके युवा होते-होते उस जीवन का ह्रास भी आरम्भ हो गया था। राजनीतिक जीवन तो अत्यन्त कलुषित था ही; कला भी हीन हो रही थी। राष्ट्रीय जीवन की हीन दशा से वे व्यस्त हो उठे थे। इधर शिक्षा-प्रणाली में नवीन प्रयोग होने के कारण धार्मिक जीवन में विषमता गहरी होती जा रही थी और विश्वास और श्रद्धा का ह्रास हो रहा था। तर्क-शास्त्र के उत्थान और तार्किकों की तर्क-शैली ने धार्मिक श्रद्धा की नींव तक हिला दी थी। भाषण-शास्त्र के प्रयोग से जनता में भीषण अविश्वास

फैल रहा था और यह स्पष्ट था कि समस्त यूनानी राष्ट्रीय जीवन कुछ ही दिनों में मृतप्राय हो जायगा।

इस बदलते हुए आदर्श का समीचीन दिग्दर्शन हमें उस समय के एक महान् नाटककार यूरीपाइडीज़ की रचनाओं में मिलता है। पाँचवीं शती के उत्तरार्ध में यूरीपाइडीज़ के नाटकों का बोलबाला रहा और वह ही उस युग के प्रतीक समझे जाने लगे थे। उन्होंने ही उस युग की नाट्य-परम्परा को सँवारा और नाट्य-रचना के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त बनाए। यह स्वाभाविक ही था कि एरिस्टाफ़ेनीज़-जैसे आलोचक की आँख यूरीपाइडीज़ की रचनाओं की ओर उठती और वास्तव में यह हुआ भी। एरिस्टाफ़ेनीज़ ने यूरीपाइडीज़ की कला, उनके उद्देश्य तथा उनकी शैली की कड़ी आलोचना की और उन्हीं की रचनाओं के विवेचन पर उन्होंने अधिक ध्यान दिया।

एरिस्टाफ़ेनीज-रचित चार[1] सुखान्तकीयों में हमें रह-रहकर यूरीपाइडीज़ की कला का आकर्षक विवेचन मिलता है और इसी विवेचन के अन्तर्गत साहित्य-रचना, भाषण शास्त्र, काव्य, तत्कालीन शिक्षण-पद्धति की रूपरेखा भी दिखाई देती है। परन्तु आलोचना के इतिहास की दृष्टि से 'फ्रॉग्स' सुखान्तकी ही अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई है, क्योंकि इसी नाटक में एरिस्टाफ़ेनीज़ की सुखान्तक कला तथा उनकी आलोचनाप्रियता का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। लेखक ने इस नाटक में ईस्किलस तथा यूरीपाइडीज़ नामक दो नाटककारों की दुःखान्तक कला का विश्लेषण किया और अपनी हास्यपूर्ण शैली का विशेष परिचय दिया। उन्होंने साहित्य के विभिन्न अंगों—महाकाव्य, गीति-काव्य, सुखान्तकी, दुःखान्तकी—तथा अन्यान्य साहित्य-सम्बन्धी प्रश्नों पर अपने आलोचनात्मक विचार प्रकट किये। कवियों की कल्पनाहीनता, उनकी विचार-संकीर्णता, रूढ़िप्रियता, नीरसता तथा उच्छृङ्खलता, आडम्बर तथा पाखण्ड, पुरुषत्वहीनता तथा अहंकार, सभी को उन्होंने हास्यास्पद बनाया। उन्होंने भाषण-शास्त्रियों की अनैतिकता तथा तर्क-सिद्धान्तों की त्रुटियों की खिल्ली उड़ाई। जब तक वह साहित्य-रचना करते रहे तर्क-शास्त्रियों के विरुद्ध उनकी आवाज़ ऊँची होती गई। साहित्य-निर्माण में जो-जो व्यक्ति नियम, व्याकरण तथा छन्द-शास्त्र की दुहाई देते रहे उनकी भी एरिस्टाफ़ेनीज़ ने खूब खबर ली। लेखकों के शब्दाडम्बर के वह घोर विरोधी थे और अकारण नवीनता के भी पोषक न थे। ऐसी नवीनता को, जो केवल दर्शक को चक्कर में

---

१. 'एकार्नियन्स', 'क्लाउड्स', 'थेस्मोफ़ोरियाज़ुसी' तथा 'फ्रॉग्स'

डाल दे वह साहित्य-क्षेत्र से निकाल फेंकना चाहते थे। यद्यपि यूरीपाइडीज़ की शैली को भी उन्होंने हास्यास्पद बनाया, उनकी दृष्टि में यूरीपाइडीज़ ही श्रेष्ठ कलाकार थे और भविष्य में साहित्य की मर्यादा उन्हीं के साहित्यादर्शों द्वारा स्थापित हो सकती थी। यह है एरिस्टाफ़ेनीज़ का नाटकीय दृष्टिकोण। नाटक-रचना के सिद्धान्तों पर भी एरिस्टाफ़ेनीज़ ने काफी प्रकाश डाला था। भावुकता के वह विरोधी थे और भावुकतापूर्ण यथार्थवाद से तो उन्हें बहुत चिढ थी और तार्किकों के तो विरोधी वह पहले से ही थे। परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण बात जो हमे उनके अध्ययन में मिलती है वह है उनकी निर्णयात्मक शक्ति। उन्होने दोनों कलाकारों की कला को तोलने के विचार से कुछ सिद्धान्त बनाए। किसकी कला श्रेष्ठ है ? कौन कलाकार महत्त्वपूर्ण है ?' इस तथ्य का अनुसन्धान उन्होने विधिवत् किया और अन्त में यह निष्कर्ष निकाला कि केवल दो तत्त्वों पर ही कलाकार की श्रेष्ठता का निर्णय हो सकता है। पहला तत्त्व है—कला-प्रदर्शन में निपुणता और दूसरा है बौद्धिक ज्ञान-प्रसार की क्षमता।

कला-प्रदर्शन में निपुणता का सिद्धान्त मानते हुए उन्होने अपने सम-कालीन नाटककारों की साधारण त्रुटियों का प्रतिकार किया। नाटको के आरम्भ करने में, लेखक वर्ग अस्वाभाविक रूप में संशय का प्रयोग करके दर्शकों का ध्यान आकर्षित करने की चेष्टा किया करते थे। शब्दाडम्बर द्वारा भाव-प्रसार तथा अप्रयुक्त शब्दों की भरमार द्वारा दर्शको को उलझन में डालना ही उनकी कला थी और इन्हीं दोनों के द्वारा अनेक लेखक अपने को सफल नाटककार समझने लगे थे। एरिस्टाफ़ेनीज़ ने अनाकर्षक कथा-वस्तु तथा बनावटी संवाद और तार्किक पहेलियो का बहुत विरोध किया। पात्र-चयन में भी उन्होंने अंधे, लूले-लँगड़े तथा चरित्रहीन स्त्रियों को दूर रखने का निर्देश दिया और देवी-देवताओं के अनुकूल ही वातावरण प्रस्तुत करने का आदर्श रखा। उन्होने दुःखान्तकी की प्रस्तावना में उसके ध्येय को बतलाने की परम्परा को सराहा और उस पर काफी जोर दिया। सरल संवाद तथा सरल शब्दों के प्रयोग को ही उन्होंने आदर्श-रूप माना और सभी पात्रों को संवाद में भाग लेने की पद्धति चलाई। इनके साथ-ही-साथ उन्होने दुःखान्तकी को यथार्थ मानवी-जीवन के बहुत पास ला दिया और साहित्य-क्षेत्र में साधारण मनुष्य का महत्त्व बढ़ाया, जिसका फल यह हुआ कि नाट्य-कला साधारण मनुष्यो के हित के लिए प्रयुक्त होने लगी।

नाटक द्वारा ज्ञान-प्रसार के नियम को भी उन्होने श्रेष्ठ प्रमाणित किया और सामाजिक संगठन के लिए यह बतलाया कि जिस प्रकार बालकों

को शिक्षक द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है उसी प्रकार वयस्कों और प्रौढ व्यक्तियों को कवियो द्वारा सुबुद्धि प्राप्त होगी। कवि, मानव-जीवन-क्षेत्र में सभ्यता और संस्कृति के बीज बोता है और मानव-जीवन को उन्नत बनाता है। यूनान की राजधानी एथेन्स केवल इसीलिए सभ्यता के उच्च शिखर पर पहुँची कि वहाँ के समाज में ऐसे व्यक्तियों की प्रशंसा होती थी जो धीर, वीर, गम्भीर होते और जो निःस्वार्थ सेवा और देश-भक्ति को ही जीवन-ध्येय बनाते। नाटककार जितनी मात्रा में चरित्र-गठन, समाज-संगठन तथा समाजोत्थान में सहयोग देगा उतना ही वह श्रेष्ठ होगा और पाठकवर्ग को जो कलाकार जितनी ही सुबुद्धि देगा उतना ही वह प्रशंसनीय होगा।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि एरिस्टाफ़ेनीज़ में आलोचना-शक्ति प्रशंसनीय मात्रा में थी। उन्होंने नाटककार के कुछ श्रेष्ठ आदर्शों, नाट्य-कला के कुछ विशिष्ट तत्त्वो तथा साहित्य सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर अपने विचार स्पष्ट रूप मे व्यक्त किये। यद्यपि उनकी आलोचना साधारण नियमों के प्रतिपादन तक ही सीमित है और वह अनेक साहित्यिक गुत्थियो को नही सुलझाती फिर भी यह प्रमाणित है कि उनकी साहित्यिक विचार-धारा में अनेक महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक तत्त्व मिलते हैं जो भविष्य में अपनाये गए। यह समझना भ्रममूलक होगा कि एरिस्टाफ़ेनीज़ ने आलोचना के नियमो को ही महत्त्वपूर्ण मानकर और उन्हें ही सम्मुख रखकर अपनी रचनाएँ की। उन्होने केवल अपनी रचनाओं के बीच बीच में साहित्यादर्शों पर प्रकाश डाला और नियमो अथवा सिद्धान्तों की कोई तालिका संकलित नही की। उनके चारो सुखान्तकीयों में बिखरे हुए विचारों मे ही हमे उपर्युक्त आलोचना की प्रथम रूपरेखा दिखाई देती है। यद्यपि उन्होने हास्य का विशेष प्रयोग किया और इसी शैली में लेखकों का मज़ाक भी उड़ाया परन्तु उनका लक्ष्य स्पष्ट है : वह लक्ष्य है साहित्य-रचना के उन नियमों का अनुसन्धान, जिनमें उपयोगिता और कला हो। न तो वह दर्शनज्ञ ही थे और न कोरे विदूषक; परन्तु आलोचना के इतिहास में वह निर्णयात्मक शैली के प्रथम महत्त्वपूर्ण सूत्रधार हैं।

३

: १ :

अफलातूँ

चौथी शती के आरम्भ से ही आलोचना-सिद्धान्तो के निर्माण मे नवीन उत्साह प्रकट हुआ और कुछ ऐसे व्यक्तियो द्वारा आलोचना लिखी गई जिनका साहित्यिक स्थान बहुत ऊँचा था। उनके द्वारा ऐसे मौलिक और महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन तथा स्पष्टीकरण हुआ जिनका ऐतिहासिक महत्त्व भी बहुत है। कदाचित्, आलोचना-क्षेत्र में, इस शती से ही विशुद्ध आलोचना सिद्धान्तों का जन्म मानना चाहिए, क्योंकि इसके पहले हमें कोई क्रम-बद्ध आलोचना-प्रणाली नहीं मिलती; और यदि मिलती भी है तो केवल स्फुट रूप में अथवा सांकेतिक अथवा बीज-रूप मे। इस दृष्टि से यह शती अधिक महत्त्वपूर्ण है।

इस युग मे चार[1] महान् दर्शनज्ञो तथा साहित्यिक मनीषियों का जन्म हुआ। अपनी रचनाओ मे उन्होंने कुछ ऐसे आलोचना-सिद्धान्तों का समावेश किया, कुछ ऐसे साहित्यिक विचारो की परम्परा चलाई जिनके बल पर भविष्य का आलोचना साहित्य विकसित हुआ और जिनका प्रभाव आज तक विदित है। इस काल में यद्यपि यूनान के राजनीतिक जीवन का स्तर निम्न कोटि का था और कला और क्रियात्मक साहित्य के विकास का भी अन्त हो चला था फिर भी यूनान की राजधानी एथेन्स की महत्ता घटी न थी। वास्तव मे और नगरों में भी राजनीतिक तथा साहित्यिक जीवन का ह्रास हो चुका था अतएव कोई और ऐसा प्रसिद्ध नगर न था जो एथेन्स का स्थान ले सकता। इस कारण एथेन्स का महत्त्व बना रहा और उसकी मर्यादा साहित्य-संसार में अमर हुई। साधारणतया ऐसा देखा गया है कि जब किसी युग अथवा देश के विकास-काल का अन्त होता है तो जनता और साहित्यिकों दोनो की चिंतनशीलता बढ़ने लगती है। लोग सोचने लगते हैं कि 'हम कौन थे, क्या हो गए हैं और अभी क्या होंगे'; और सब मिलकर तत्कालीन समस्याओं पर चिन्तन करने लगते हैं। ऐसा ही समय एथेन्स मे भी आ गया था दर्शन-

---

१. अफलातूँ, आइसॉक्रेटीज, अरस्तू तथा थियोफ्रैस्टस

वेत्ताओं तथा वागीशों ने साहित्यिक चिन्तन की बागडोर अपने हाथों ले ली और उन्होंने ही उस समय देश का नेतृत्व ग्रहण किया। दर्शन-क्षेत्र में नवीन तर्क का उदय हो चुका था और पुरानी दार्शनिक धारा महत्त्वहीन हो चली थी। गद्य-शैली का विकास अपनी पूर्णता पर था, फलतः इन सब साधनों के कारण सम्पूर्ण ज्ञान के क्षेत्र को समझने और परखने का प्रयास होने लगा था। इसी प्रयास में कुछ महत्त्वपूर्ण साहित्यिक प्रश्नों पर भी विचार हुआ। यों तो जीवन के सभी पहलुओं पर सुकरात ने अपनी तीव्र तर्कपूर्ण दृष्टि डाली थी, परन्तु विशेषतः साहित्य-क्षेत्र ही उनका अनुराग-पात्र रहा, और उन्हीं की चलाई हुई तर्क-शैली को अपनाकर साहित्यकारों ने साहित्य-सम्बन्धी प्रश्नों का हल ढूँढना शुरू किया। उस समय जीवन के सभी क्षेत्रों में अराजकता फैली हुई थी। राजनीति, शिक्षा तथा आचार-विचार सभी में कुछ-न-कुछ उच्छृङ्खलता आ गई थी। समस्त राष्ट्रीय जीवन कलुषित था और जनता को सही रास्ता जानने का कोई भी साधन प्राप्त न था। यूनानी जीवन में बड़ी विषमता फैल गई थी और इस बात की आवश्यकता थी कि राष्ट्रीय जीवन में जागरण लाने के लिए कोई सुलझा हुआ दर्शनज्ञ देश का नेतृत्व ग्रहण करे। देश की ऐसी विषमावस्था में अफलातूँ ने साहित्य का नेतृत्व ग्रहण किया। अफलातूँ में इस कार्य को करने की पूर्ण क्षमता थी। वह प्रगाढ़ विद्वान् थे और दर्शन में उनकी अद्भुत गति थी, तर्क-बल भी उनमें कम न था और उन्होंने अपने गुरु सुकरात से सामाजिक रीति-नीति का महत्त्व तथा उसकी उन्नति के साधन सीख रखे थे। अफलातूँ में साहित्यकार का हृदय था और इस काल की दार्शनिक विचार-धारा तथा आलोचना-प्रणाली उन्हीं के द्वारा विकास पाती रही।

अफलातूँ द्वारा निर्मित आलोचना-सिद्धान्तों की खोज हमें उनके लिखे हुए संवादों में करनी पड़ेगी। ये संवाद, उन्होंने ज्यों-ज्यों अवकाश पाया, लिखा। इन संवादों की क्रमागत ऐतिहासिकता का लेखा प्रस्तुत करना तो कठिन है परन्तु ये संवाद हैं उन्हीं के लिखे हुए, इसमें संदेह नहीं। इन सब संवादों में हमें अन्यान्य विषयों पर लेख मिलेंगे। राजनीति, आचरण, शिक्षा, दर्शन इत्यादि ही उनके प्रिय विषय हैं, परन्तु इन्हीं के संसर्ग में हमें यदा-कदा आलोचनात्मक सिद्धान्तों का भी लेखा मिलता है। केवल आलोचना पर तो कोई लेख नहीं मगर जहाँ-जहाँ इसकी चर्चा आवश्यक हो गई वहाँ-वहाँ उन्होंने अपने विचार स्पष्ट रूप में रखे हैं। अनेक संवादों[1] के अन्तर्गत भाषण-

१. गोर्जियास एण्ड फ़ीड्रस; क्रैटिलस; प्रोटागोरैस; आयॉन; रिपब्लिक तथा लॉज

कला, भाषा, तर्क-शास्त्र तथा काव्य और कविता की विवेचना की गई है। अफ़लातूँ आदर्शवादी थे और उसी दृष्टि से उन्होंने संसार और उसकी समस्याओं को देखा।

काव्य और कवि का मूल्यांकन

जैसा हम पहले निर्देश कर चुके हैं इस काल में यूनानी जीवन का ह्रास सभी नगरों में काफी हद तक हो चुका था; केवल एथेन्स में ही पूर्व काल की झलक मिलती थी और यूनानी उठते-बैठते अपने देश के उत्थान का साधन सोचा करते थे। यूनान को श्रेष्ठ और आदर्श देश बनाने की इच्छा उनमें प्रबल होती जा रही थी। इस साधारण विचारधारा ने अफ़लातूँ के हृदय में अपना घर बना लिया और और वह भी यूनान के उत्थान के साधन ढूँढने लगे। देश के उत्थान का प्रश्न तो विशेषतः राजनीतिक था परन्तु जिन-जिन साधनों से उसमें सहायता मिल सकती थी उनमें काव्य और साहित्य भी था। देश के पुनरुत्थान में काव्य कितनी सहायता दे सकेगा, यह उनके लिए विचारणीय था। इसी उद्देश्य को सम्मुख रखकर अफ़लातूँ ने काव्य और कवि का मूल्यांकन किया।

अफ़लातूँ द्वारा काव्य और कवि के मूल्यांकन मे जो-जो धारणाएँ बनाई गईं उनकी ठीक-ठीक रूपरेखा समझने के लिए उस काल के साहित्यिक वातावरण का लेखा विचारणीय है, क्योंकि जिन-जिन विषयो और नियमों के विरुद्ध अफ़लातूँ ने अपनी आवाज़ उठाई और क्रान्तिकारी वक्तव्य प्रकाशित किये उनका कार्य और कारण-सम्बन्ध जानना अपेक्षित होगा, क्योंकि जैसा हम आगे देखेंगे, अफलातूँ ने काव्य और कवियो का घोर विरोध किया और उन्हें निन्दनीय प्रमाणित करके अपने निर्मित आदर्श राजनीतिक विधान से निकाल फेंका। इस विरोधी धारणा के निर्माण में तत्कालीन लेखकों तथा नाटककारों की रचनाओं—दुःखान्तकीयों तथा सुखान्तकीयों—का हाथ विशेष रूप से है। एथेन्स में राजनीतिक ह्रास के साथ साथ साहित्यिक ह्रास भी काफी हद तक हो चुका था। महाकाव्य, गीत-काव्य तथा दुःखान्तकी सभी हीन दशा में थे। सुखान्तकी मे ही थोड़ी-बहुत जान बाकी थी और उसका सम्पर्क यथार्थ जीवन से पूरी तरह टूटने न पाया था। परन्तु इस समय एक भी ऐसा लेखक न था जिसमें प्रतिभा और मौलिकता होती, सत्साहित्य के प्रति उत्साह होता, और उच्च कोटि की साहित्यिक क्षमता होती। सभी लेखक किसी-न किसी रूप में केवल अनुकर्ता रह गए थे और वह भी निम्न कोटि के। इन अनुकर्ताओं द्वारा निर्मित साहित्य से राजनीतिक, सामाजिक तथा नैतिक क्षेत्रों में उच्छृ-

ङ्खलता फैलने की बहुत सम्भावना थी और व्यक्तिगत जीवन भी कलुषित हो सकता था। अफ़लातूँ को स्वभावतः ऐसे साहित्य से बहुत घृणा थी जो न तो व्यक्तिगत चरित्र को उन्नत करे और न सामाजिक जीवन को श्रेष्ठ बनाए। यद्यपि उनका ध्येय साहित्य-सिद्धान्तों का निर्माण न था परन्तु उन्हें विवश होकर साहित्य की आलोचना इसलिए करनी पड़ी कि उनके आदर्श राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन पर उसकी कलुषित छाया पड़ती जा रही थी। अफ़लातूँ का ध्येय श्रेष्ठ समाज, श्रेष्ठ राजनीतिक सिद्धान्त तथा श्रेष्ठ नैतिक नियमों की स्थापना था। और जब-जब उन्होंने देखा कि साहित्य उनके लक्ष्य की पूर्ति नहीं कर रहा है तब-तब वह क्षुभित हुए और क्रोधवश तत्कालीन साहित्यकारों को खूब खरी-खोटी सुनाई और इसके साथ-ही-साथ कुछ साहित्यिक नियमों का भी प्रतिपादन करते गए। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि अफलातूँ का विरोध तत्कालीन साहित्य की उच्छ्रृंखलताओं से ही प्रेरित हुआ और यह समझना भ्रामक है कि वह श्रेष्ठ काव्य और श्रेष्ठ कलाकारों के विरोधी हैं। एथेन्स के तत्कालीन साहित्य से ही उनका विरोध है, श्रेष्ठ सामाजिक साहित्य से नहीं। वास्तव में तत्कालीन साहित्य था भी इसी योग्य।

साहित्य और समाज

नाटक-क्षेत्र के यूनानी लेखक ऐसे विचारों का प्रसार कर रहे थे जिनके द्वारा दर्शकों में ऐन्द्रिक उत्तेजना फैलती जा रही थी और मानसिक क्षेत्र में निरुत्साहिता तथा रुग्णता बढ़ रही थी। दुःखान्तकी के स्त्री-पात्र लड़ाई-दंगा करते, गालियाँ बकते, लालसा के आवेश में नैतिकता भुलाकर परदेशी प्रीतम के पीछे चीत्कार करते फिरते। सुखान्तकों में शोर-गुल, ठट्ठा और बर्बर विचार ही रहते। दर्शक-वर्ग चूँकि इसी प्रकार के प्रदर्शन से प्रसन्न होता था इसलिए लेखक-वर्ग भी उन्हें इन्हीं साधनों से प्रसन्न करने की चेष्टा किया करता था। इस साहित्यिक आदान-प्रदान द्वारा लेखक ही नहीं गिरते जा रहे थे वरन् देश के जीवन में उच्छृङ्खलता, कुरुचि, अशिष्टता, दुराचार तथा लम्पटता का भी प्रसार हो चला था। अफ़लातूँ के अनुसार इस विषमता का भी एक दूसरा कारण था। वह यह कि प्राचीन यूनानी समाज ने दर्शक-वर्ग पर ही नाटकों की श्रेष्ठता अथवा अश्रेष्ठता की परख का भार छोड़ दिया था। जहाँ बहुमत द्वारा ही साहित्य की श्रेष्ठता का माप लगाया जाय वहाँ साहित्य हीन न हो तो आश्चर्य क्या ? बहुमत की रुचि ही समस्त साहित्यिक विषमता का कारण बनी। ऐसे साहित्य से भला किसी देश की अधोगति न होगी ? कौन सा व्यक्ति अथवा कौनसा समाज ऐसे अनैतिक वातावरण में उन्नति कर पायगा ?

उपरोक्त कारणों से ही अफ़लातूँ का विरोध संगत जान पड़ता है।

अफ़लातूँ के पहले के साहित्यकारों का मत था कि कवियों द्वारा ही श्रेष्ठ ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है, ज्ञान का प्रसार होता है और जनता सुशिक्षित होती है और काव्य की ही सहायता से सभ्यता और संस्कृति फूलती-फलती है, देश में नैतिकता का प्रसार होता है और मानव श्रेष्ठ पद पर आसीन होता है।

इस रूढ़िवादी धारणा के अफ़लातूँ घोर विरोधी हुए। उन्होंने स्थान-स्थान पर इस विचार का खण्डन किया और कवियों पर व्यंग-बाण बरसाए। इस प्रकार के विचार-विशेष की हम मीमांसा कर चुके हैं। वास्तव मे अफ़लातूँ काव्य के विरोधी नहीं, वह विरोधी है हीन कोटि के काव्य के और उच्छृङ्खल कवियों के, जिनसे असन्तुष्ट होकर उन्होंने काव्य के विरुद्ध विचार प्रदर्शित किये। सच तो यह है कि जो दुःखान्तकी अथवा सुखान्तकी अथवा महाकाव्य वीरता, धैर्य, संयम, पवित्रता आदि गुणो का आवाहन करें अफ़लातूँ के विचार से ग्राह्य हैं। फिर अफ़लातूँ दर्शनज्ञ पहले थे और साहित्यिक बाद मे; और जो अड़चनें उनके दार्शनिक सिद्धान्त में बाधक होतीं उन्हें वे तर्क-रूप मे काटकर उनकी अनुपयोगिता और अनैतिकता प्रमाणित करने मे ज़रा भी न हिचकते।

निकृष्ट कलाकारों का बहिष्कार

अफ़लातूँ के विचारो की क्रमागत सूची तो नहीं मिलती परन्तु उनके स्फुट वक्तव्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि, काव्य तथा उसके प्रभाव के विषय में उनकी धारणा क्या थी?

(क) कवियों द्वारा ज्ञान का न तो आविर्भाव होता है न विकास; और काव्य नैतिक आचार-विचार और आचरण का समुचित संरक्षण नहीं कर सकता।

(ख) कवि केवल सुरादेव[1] की पूजा-अर्चना में नृत्य करती हुई नर्तकियों के समान हैं। कविता करते समय वे उन्माद में रहते है और जानते ही नही कि वे कह क्या रहे हैं। इसी कारण उनके कथनो पर न तो विश्वास किया जा सकता है और न वे अनुभवगम्य होते हैं।

(ग) कवियो का भावुक आवेश और उनकी निरंकुश अनैतिकता कभी भी जनता को सन्मार्ग पर नही ला सकती।

---

१. देखिए—'काव्य की परख'; 'नाटक की परख'

(घ) यद्यपि कवियों में दैवी प्रेरणा होती है जिसके वशीभूत वे काव्य-रचना करने लगते हैं परन्तु यह प्रेरणा उनमें वाह्य रूप से आती है और उनका व्यक्तित्व कुण्ठित हो जाता है जिसके फलस्वरूप उनमें तर्क और ज्ञान की जरा भी अनुभूति नहीं होती।

(ङ) प्रायः बहुत से काव्यों को रूपक मानकर उनका अर्थ स्पष्ट किया जाता है, परन्तु यह नितान्त अविश्वसनीय सिद्धान्त है कि रूपक श्रेष्ठ काव्य है। भ्रम-वश कुछ आलोचक अनेक प्रकार के विकृत, जटिल और दुरूह काव्यों को रूपक मानकर अर्थ का अनर्थ कर बैठते हैं जिससे न तो मानव का नैतिक लाभ होता है और न काव्य की श्रेष्ठता ही प्रमाणित होती है।

(च) कभी-कभी क्या बल्कि अक्सर कवि ऐसी कथा-वस्तु चुनकर काव्य-रचना करते हैं जिनमे देवी-देवताओं के जीवन के प्रति अश्रद्धा होती है। वे उन्हें उद्दण्ड, कलहपूर्ण, असंगत तथा क्रूर रूप में प्रदर्शित करते हैं। देश के महान् योद्धाओं को भी, जो देवी-देवताओं के समान ही होते हैं, रोते-कलपते, धैर्यहीन, दयाहीन तथा ईर्ष्यालु रूप में वे प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार के महाकाव्यों द्वारा पाठकों के हृदय में अश्रद्धा फैलती है जिसके कारण समाज की बहुत हानि होती है। देवी-देवताओं के प्रति अश्रद्धा का प्रसार करके काव्य श्रेष्ठ नहीं हो सकता। सुसंगठित समाज के लिए दैवी-देवताओं की श्रेष्ठता का ही प्रदर्शन वांछनीय है। इसके साथ-साथ यह भी ध्यान रहे कि नरक की भयानक बीभत्सता का प्रदर्शन हमारे हृदय में स्वर्ग के प्रति श्रद्धा तथा आकर्षण नहीं पैदा कर सकता। इस प्रकार के बीभत्स प्रदर्शन द्वारा अवांछित भय उत्पन्न होगा और मानवता कुण्ठित हो जायगी।

(छ) सबसे महत्त्वपूर्ण बात जो ध्यान देने योग्य है वह है कवि-धर्म, जो खोखले नींव पर आधारित है। कवि वाह्य प्रकृति तथा संसार का अनुकर्त्ता है, परन्तु संसार तथा वाह्य प्रकृति तो हमसे परे अक्षय देवलोक के प्रतिबिम्ब मात्र हैं, उनमें वास्तविकता नहीं। परन्तु कवि तो वाह्य प्रकृति का ही अनु-कर्त्ता है और इस कारण वह वास्तविक और यथार्थ दैव-लोक से कहीं दूर जा पड़ता है। कवि का अनुकरण, छायारूपी संसार का अनुकरण है और छाया के अनुकरण में तो वास्तविकता कोसों दूर रहेगी। इस तर्क से यह पूर्ण रूप से प्रमाणित है कि कवि-धर्म केवल मरीचिका समान है। उसमें न तो शक्ति है और न उपयोगिता। इसलिए किसी भी कवि अथवा नाटककार को किसी भी आदर्श राष्ट्र में स्थान नहीं मिलना चाहिए और उन्हें किसी दूसरी जगह हटा देना चाहिए।

(ज) उपरोक्त सात नियमों से यह प्रमाणित है कि काव्य द्वारा सत्य का निरूपण नहीं हो सकता और श्रव्य-काव्य तथा महाकाव्य दोनों ही मानवी प्रवृत्तियों को विकृत बनाते हैं। हाँ, केवल दो ही प्रकार का काव्य ग्राह्य होगा—एक तो वह जो देवताओं की स्तुति करे और दूसरा जो महापुरुषों के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करे।

अफलातूँ द्वारा प्रतिपादित काव्य-सिद्धान्तों के सहारे हम नाटक तथा काव्य के आलोचना की थोड़ी-बहुत कल्पित रूप-रेखा बना सकते हैं। काव्य तथा कवियों के विरोध के पीछे हमें अफलातूँ के श्रेष्ठ नियमों की छाया दिखाई दे जाती है। काव्य तथा कवि के राष्ट्रीय, सामाजिक, राजनीतिक तथा नैतिक दायित्व के वह पूर्ण प्रशंसक प्रतीत होते हैं। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि अफलातूँ के स्फुट संवादों की सहायता से ही हम उनके काव्य-सिद्धान्तों की रूपरेखा बना सकेंगे क्योंकि हमे उनकी कोई क्रमागत विचारधारा नहीं मिलती। उनके दिये हुए संकेतो पर ही चलकर आगे के आलोचकों ने कुछ स्पष्ट नियम बनाये और उनके उदाहरण ढूँढ निकाले।

कला का वर्गीकरण तथा मूल तत्त्व

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अफलातूँ ने कला और काव्य के विषय में कुछ विशेष परिभाषाएँ बनाईं और कुछ तत्त्वो को स्पष्ट किया। उन्होंने ही पहले-पहल सिद्धान्त-रूप में यह बतलाया कि कला का प्रधान तत्त्व है अनुकरण-शक्ति। इसके साथ-ही-साथ उन्होंने कला और बाह्य प्रकृति के सम्बन्ध का भी विवेचन किया और उनकी आन्तरिक समष्टि की मीमांसा करते हुए कला को दो भागो में विभाजित किया—ललित-कला तथा उपयोगी कला। जब उन्होने कला को अनुकरणात्मक घोषित किया तो उनके मन में कुछ दार्शनिक सिद्धान्त थे जिनके बल पर वह यह समझते थे कि इस पार्थिव और मूर्त-संसार के परे एक और दैवी और अमूर्त संसार है। इसी अमूर्त और दैवी संसार मे सत्य, पवित्रता, न्याय, सौन्दर्य इत्यादि का आदि-रूप है जिसका अनुकरण इस पार्थिव संसार के लोग काव्याध्ययन द्वारा करते हैं, क्योंकि श्रेष्ठ और ग्रहणीय काव्य वही है जो मानव-चरित्र में उस आदि-दैवी-संसार की विभूति को प्रस्तावित करे। काव्य को अनुकरणात्मक प्रमाणित कर उन्होंने उसके निर्माण में ईश्वरीय अथवा हृदयगत प्रेरणा की आवश्यकता बतलाई। इस तत्त्व पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं जिसको उन्होंने क्रोधवश अग्राह्य प्रमाणित किया था। कलाकार के हृदय में यह प्रेरणा दो प्रकार से प्रवेश पाती है—एक तो उसकी कमज़ोरियों के फलस्वरूप और

दूसरी उसकी आत्मिक शक्ति के फलस्वरूप। आत्मिक प्रेरणा द्वारा आध्यात्मिक उन्मुक्तता प्राप्त होती है और ऐसा आभास मिलता है कि आत्मा पार्थिव बन्धन तोड़-फोड़कर किसी परी देश में जा पहुँची है और वहाँ सत्य, शिव, सुन्दरम् का अनुभव कर रही है। भविष्यवक्ता, प्रेमी अथवा कवि ही इस अवस्था में पहुँच पाते हैं, और इस दृष्टि से तीनों में काफी आत्मिक समानता है। यह है अफलातूँ के अनुसार काव्य के आत्मा की परख। अब यह देखना शेष है कि काव्य के बाह्य रूप के विषय में उन्होंने क्या-क्या संकेत दिये।

काव्य का वर्गीकरण तथा अन्य तत्त्व

अफलातूँ ने ही पहले-पहल काव्य का वर्गीकरण गीत, नाटक तथा महाकाव्य के रूप में किया। उनके विचारों के अनुसार वर्णनात्मक[1] कविता के ये ही तीन प्रमुख भाग हैं। गीत में कलाकार विशुद्ध स्वयंवादी अथवा व्यक्तिवादी[2] वर्णन करता है, नाटक में पात्रों द्वारा वर्णन में सफल होता है और अपने व्यक्तित्व को छिपाता है और महाकाव्य में वह दोनों शैलियों का सम्मिश्रण करता है। काव्य-रचना का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग जिस पर उन्होंने बार-बार जोर दिया वह है सामंजस्य। सामंजस्यहीन कविता निम्न कोटि की ही होगी और उसका प्रभाव भी स्थायी न रहेगा। कोई भी श्रेष्ठ कलाकार अपने कथावस्तु का चयन अस्त-व्यस्त रूप में नहीं करता; भावों का विचारपूर्ण समन्वय तथा कथा-वस्तु का सामंजस्य वह सतत ध्यान में रखेगा। जिस प्रकार से सफल जीवन व्यतीत करने के लिए जीवन-यापन के नियमों की जानकारी और उनका अभ्यास आवश्यक है उसी प्रकार सफल कलाकार के लिए काव्य-रचना के नियमों की जानकारी और उनका उचित प्रयोग भी आवश्यक होगा। सामंजस्य के अन्तर्गत क्रम, नियन्त्रण तथा समन्वय के नियमों की सुरक्षा काव्य-रचना में होनी चाहिए।

संगीत कला पर विचार करते हुए उन्होंने काव्य-रचना के कुछ अन्य तत्त्वों की ओर भी संकेत दिया। संगीत आरोह तथा अवरोह के विपरीत स्वरों का सहज समन्वय प्रस्तुत करता है और लय तथा गति के सहारे श्रेष्ठ संगीत का निर्माण होता है; उसी प्रकार काव्य में विपरीत भावों का भी सहज समन्वय अपेक्षित है। कहना न होगा कि अफलातूँ के काव्य-विषयक सभी आलोचनात्मक विचारों का आधार उनका दर्शन-ज्ञान है।

---

१. देखिए—'काव्य की परख'

२. देखिए—'काव्य की-परख'

नाटक के तत्त्व

नाटक की चर्चा करते हुए उन्होंने आदर्श दुःखान्तकी में श्रेष्ठ और शालीन जीवन को अनुकरणीय माना और जो-जो नाटककार श्रेष्ठ दुःखान्तकी की सफल रचना कर सके उन्हे सर्वश्रेष्ठ समाज-सेवी तथा नैयायिक का पद दिया, क्योंकि अफलातूँ के विचारो के अनुसार दोनो के कार्यों में बहुत अधिक साम्य है। दुःखान्तकी के प्रभाव पर उन्होने अपने आलोचनात्मक विचार प्रकट करते हुए यह स्पष्ट किया कि भय तथा करुणा के भावो के उभार द्वारा ही श्रेष्ठ दुःखान्तकी अपने ध्येय की पूर्ति करेगी। दुःखान्तकी के विरेचक-सिद्धान्त[1] की ओर अफलातूँ ने कोई भी संकेत नही किया और यह सिद्धान्त केवल अरस्तू द्वारा ही प्रस्तावित तथा प्रमाणित हुआ। भय और करुणा द्वारा जो आनन्द दर्शको को प्राप्त होता है उसका विश्लेषण करते हुए उन्होंने दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक रूप से यह सिद्धान्त निकाला कि मानव-चरित्र मे अनेक मिश्रित भावो का आवागमन रहा करता है। क्रोध, भय, ईर्ष्या, दया, लालसा सभी बारी-बारी से मानव-चरित्र को व्यग्र करते हैं; और इनका व्यापक प्रदर्शन हममे एक प्रकार के आनन्द का आविर्भाव करेगा। किसी भी मानवी भाव के व्यापक तथा गहरे प्रदर्शन मे हमे स्वाभाविक आनन्द भी तो मिलता है।

सुखान्तकी के मूल तत्त्व

सुखान्तकी रचना के सम्बन्ध में अफलातूँ के विचार महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होने ही पहले-पहल हास्यास्पद तथा बेढंगे कार्यों को सुखान्तकी का मूलाधार माना। इसी आधार पर ही भविष्य के आलोचको ने अपने-अपने विचार प्रस्तावित किये। अफलातूँ का सहज विचार था कि जब समाज अथवा किसी भी मानवी क्षेत्र में हमारे पड़ोसी और दूसरे व्यक्तियों के अहंकार की विफलता अथवा उनकी हेठी प्रमाणित हो जाती है तो हमें बरबस हँसी आने लगती है। इस हँसी का मूल आधार हमारा व्यक्तिगत गर्व, ज्ञान अथवा किसी भी प्रकार की श्रेष्ठता की भावना रहेगा। परन्तु इस स्थान पर यह अवश्य विचारणीय है कि जिस मनुष्य की हेठी हो उसमें दूसरों को क्षति पहुँचाने की शक्ति कदापि न हो। यदि उसके द्वारा क्षति पहुँची तो सुखान्तकी की मर्यादा गिर जायगी। अहंकार और पाखण्ड का भण्डाफोड़ ही सुखान्तकी का सहज तत्त्व है। इसी विचार को अठारहवीं शती के प्रसिद्ध दर्शनज्ञ हाब्स[1] ने अक्षरशः अपनाया।

---

१. देखिए—'नाटक की परख'

सभ्य समाज में सुखान्तकी की उपयोगिता भी कम नहीं। इसके द्वारा मानव-चरित्र की परख भलीभांति होती है और हमें ऐसे बेढंगे कार्यों का समुचित ज्ञान हो जाता है जो समाज में हास्यास्पद हैं। हास्य द्वारा हम मनुष्य की गम्भीरता तथा उच्छृंखलता का माप भी सरलता से लगा सकते हैं। परन्तु हास्य संयत और सभ्य होना चाहिए; असंयत हास्य अथवा कोरी ठट्ठेबाजी द्वारा न तो मानव-चरित्र का विश्लेषण सम्भव है और न सामाजिक औचित्य का प्रचार। सुकरात का कथन था कि हास्य का प्रयोग दाल में नमक के समान ही होना चाहिए।

भाषण-शास्त्र तथा गद्य-शैली का विश्लेषण

काव्य तथा नाटक के विश्लेषण के साथ-साथ अफलातूं ने भाषण-कला के विषय में भी कुछ मौलिक सिद्धान्त बनाए। यूनान के दो लेखकों—गोर्जियास तथा थ्रैसीमेकस ने वाक्-शैली में तड़क-भड़क तथा अलंकारों की आवश्यकता बताई थी और उनका उद्देश्य वाक्-शैली को साधारण बोल-चाल की भाषा के साधारण स्तर से ऊपर उठाना था। अफलातूं ने पहले तो इन लेखकों के सिद्धान्तों का खण्डन किया और अपनी ओर से भी गद्य-शैली पर विचार किया।

अफलातूं स्वभावतः भाषण-शास्त्र के भी विरोधी हुए, क्योंकि उनके विचारों के अनुसार इसका ध्येय सत्य और यथार्थ की अवहेलना-मात्र था। वागीश, शब्दों के घुमाव-फिराव तथा वाक्यों के तोड़-मरोड़ द्वारा श्रोताओं को अपने मत के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रयत्न में यदि सत्य और यथार्थ की हत्या भी हो जाय तो आश्चर्य क्या? झूठे तर्क और तर्कहीन आवेश द्वारा जनता को छलने का कार्य ही भाषण-कला का प्रमुख उद्देश्य है। वक्ता केवल शब्दाडम्बर और फड़कते हुए वाक्यांशों की चूरन चटनी का स्वाद श्रोताओं को दे-देकर उनकी मति फेरते हैं और यह कार्य स्तुत्य नहीं। उन्होंने वागीशों की शैली के विभिन्न अंगों की—जिनमें आवेदन, विवरण, प्रमाण, सम्भाविकता, स्वीकृति मुख्य थे—कड़ी आलोचना की और उन्हें निरर्थक प्रमाणित किया। इस प्रकार का वर्गीकरण उनके लिए भाषण-कला की आत्मा की हत्या थी।

इसके विपरीत अफलातूं ने भाषण-शास्त्र की परिभाषा बनाते हुए कहा कि भाषण-कला आत्मिक इन्द्रजाल अथवा आत्मिक आनन्द प्रस्तुत करती है जो शब्दों के इन्द्रजाल द्वारा सम्भव होगा। इसके प्रयोग में श्रेष्ठ

---

१. देखिए—'हास्य की रूपरेखा'

कला-ज्ञान अपेक्षित है। परन्तु यह कला है क्या? यह कला है विषय अथवा वस्तु का सम्यक् ज्ञान तथा सुस्थिर विचार-प्रयोग। यों भी तो सौष्ठवपूर्ण रचना के लिए सुस्थिर और सुलझे हुए विचार आवश्यक हैं; परन्तु भाषण-शास्त्र में इस तथ्य की महत्ता बहुत अधिक है। वागीशों में इस कला के प्रति स्वाभाविक अथवा नैसर्गिक रुचि होनी चाहिए; इसके साथ-साथ कला-ज्ञान ही नहीं, वरन् उस कला का सतत अभ्यास भी आवश्यक होगा; प्रवृत्ति, ज्ञान, अभ्यास तीनो के ही आधार पर वागीशो की सफलता निर्भर रहेगी।

वाक्-कला मे जो बात सबसे पहले ध्यान देने योग्य है वह है विचारों और भावों का तारतम्य। इस तारतम्य द्वारा सम्पूर्णता आती है और लेख के विभिन्न स्थलो में सामंजस्य प्रस्तुत होता है। गद्य-लेखन मे इस नियम का सम्यक् प्रकाश मिलेगा। जिस प्रकार से सफल वक्तृता के लिए विषय की स्पष्ट रूप-रेखा मस्तिष्क में पहले से खिंची होनी चाहिए उसी प्रकार गद्य-लेखन में भी विषय की स्पष्टता, उसके अनेक स्थलों तथा विभिन्न विचारों में सामञ्जस्य आवश्यक होगा। विषय-प्रकाश मे स्पष्टता, क्रम, तारतम्य, तथा सामञ्जस्य के नियमो की स्थापना अफलातूँ की मौलिकता का प्रमाण है।

अफलातूँ ने भाव-प्रकाश के सिद्धान्तो को मनोविज्ञान तथा चिकित्सा-शास्त्र के सिद्धान्तों पर भी आधारित किया, जिसके अनुसार वागीशों को श्रोताओं की सामयिक रुचि, परिवर्तनशील भावनाओं, स्वभाव, चित्त-वृत्ति का ध्यान रखकर अपनी कला का प्रयोग करना चाहिए। बिना इस वैज्ञानिक ज्ञान के न तो कोई सफल वक्ता हो सकेगा और न सफल लेखक।

यों तो अफलातूँ ने सभी विषयों पर अपने विचार प्रकट किये, परन्तु काव्य, काव्य के उद्देश्य, दुःखान्तकी, सुखान्तकी, गद्य-शैली, तथा आलोचना पर अनेक महत्त्वपूर्ण वक्तव्य प्रकाशित करके उन्होने आगे के आलोचकों का मार्ग प्रशस्त किया। उनके विचार मे काव्य की आत्मा एकरूप है, चाहे वह नाटक हो अथवा कविता, और काव्य द्वारा केवल आनन्द का प्रसार उनके लिए हेय है। उन्होंने लेखकों को दो वर्गों मे विभाजित किया—छन्दबद्ध कविता लिखने वाले तथा छन्दहीन गद्य लिखने वाले। इस वर्गीकरण द्वारा उन्होंने अरस्तू की परिभाषा को सम्भव बनाया।

आलोचना-सिद्धान्त समीक्षा

आलोचना-सिद्धान्तो की समीक्षा करते हु उन्होने श्रेष्ठ आलोचक उसी को माना है जो सुबुद्धि और साहस से दूसरों का पथ-प्रदर्शन करे। केवल शब्दों के जमघटे से प्रभावित होना आलोचक के लिए श्रेयस्कर

नहीं; उसे तो सम्पूर्ण कविता की रूप-रेखा, उसकी आनन्ददायिनी शक्ति का विस्तृत विवेचन और उसका यथार्थ सन्देश ध्यान में रखकर ही अपनी सम्मति देनी चाहिए।

आलोचना क्षेत्र मे अफलातूँ की प्रतिभा के हम उदाहरण देख चुके। काव्य-रचना के दोषों तथा श्रेष्ठता-विषयक विचारों का भी हम विवेचन कर चुके। वास्तव मे अफलातूँ ही पहले आलोचक हैं जिन्होने सिद्धान्त-निर्माण करने का प्रयास किया और साहित्य और दर्शन में सम्बन्ध प्रस्तुत करके साहित्य-सम्बन्धी कुछ नवीन सिद्धान्त बनाए। उन्होंने ही पहले-पहल मनोविज्ञान का भी सहारा साहित्य के वास्तविक तत्वों के मूल्यांकन में लिया और मानव-चरित्र के सम्पूर्ण ज्ञान को कलाकारों के लिए अपेक्षित प्रमाणित किया। उनके सिद्धान्तों में तर्क और कल्पना, संयम और आवेश, ज्ञान और विज्ञान का समुचित सामञ्जस्य है। आलोचना के इतिहास मे अफलातूँ का स्थान इसलिए और भी श्रेष्ठ तथा आगामी युगों के लिए पथ-प्रदर्शक है कि उन्हीं के सिद्धान्तो ने मनुष्य की आँखें आत्मा और वास्तविकता की ओर फेरी और तत्कालीन साहित्यकारों के नियमों का खोखलापन प्रमाणित किया। उन्हीं के द्वारा पहले-पहल काव्य में आध्यात्मिक तत्वों का समावेश हुआ जिनका प्रभाव आज तक विदित है। अफलातूँ के ही आलोचना-सिद्धान्तों के आधार पर अरस्तू ने अनेक नवीन साहित्य सिद्धान्तों का निर्माण किया।

अरस्तू की आलोचना-शैली

जिस युग मे अफलातूँ-जैसे महान् तत्ववेत्ता और दर्शनज्ञ का जन्म हुआ उसी युग मे अरस्तू-जैसे तर्कवेत्ता और आलोचना भी जन्मे। दोनो की आलोचना-शैली और दृष्टिकोण मे उनकी प्रतिभा के अनुसार ही विभिन्नता मिलती है। अफलातूँ ने साहित्य द्वारा एक महान् मानव-विधान की आध्यात्मिक रूप-रेखा बनाने का आयोजन किया और सामाजिक आदर्शों को ही प्रधानता दी, परन्तु अरस्तू का दृष्टिकोण वैज्ञानिक था और विवेचन और विश्लेषण के आधार पर ही वह ज्ञान का प्रसार चाहते थे। यह विभिन्नता अरस्तू के लेखो में और भी स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि जो-जो सिद्धान्त वह प्रस्तुत करते हैं उसमे अफलातूँ के दृष्टिकोण की आलोचना स्पष्ट रूप से झलकती है। वास्तव में जो कुछ भी अरस्तू ने लिखा उसका उद्देश्य भी अफलातूँ के तर्क और सिद्धान्त का ही विश्लेषण करना था और इसी विश्लेषण के अन्तर्गत अरस्तू के नये सिद्धान्त भी निर्मित होते गए।

अरस्तू ने भी अफलातूँ के समान ही काव्य और भाषण-शास्त्र[1] पर अपने विचार प्रकट किये। इन विचारों मे कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का जन्म हुआ जिनकी महत्ता आलोचना के प्रयोग तथा इतिहास मे प्रमाणित है। यों तो अरस्तू का उद्देश्य समस्त ज्ञान का वर्गीकरण तथा कुछ प्रयोगात्मक सिद्धान्तों का निर्माण था परन्तु लेखक के इस उद्देश्य को आगामी युगों के आलोचक भूल गए और उन्होंने अरस्तू की आलोचना विषम रूप से करनी आरम्भ की।

गीत-काव्य का विश्लेषण

वस्तुतः अरस्तू ने दुःखान्तकी का विवेचन ही विस्तार-पूर्वक किया और गीत काव्य, सुखान्तकी तथा महा-काव्य पर यों ही कुछ चलते हुए वक्तव्य दे डाले। उनके विचारों के अनुसार गीत-काव्य केवल दुःखान्तकी के आदि रूप में ही प्रयुक्त हुआ और उसका स्थान काव्य के अन्तर्गत न होकर संगीत के अन्तर्गत है, और उसकी महत्ता भी गौण है। गीत-काव्य वास्तव मे दुःखान्तकी का बाह्य आभूषण-स्वरूप ही है और उसकी अलग कोई भी महत्ता नहीं। इस विचार-विशेष का कारण स्पष्ट है। युग की आवश्यकताओं ने अरस्तू की विचार-धारा को सीमित किया और प्रचलित दुःखान्तकी के अनेक अंगों के विश्लेषण पर ही उन्हें बाध्य किया। जो कुछ भी यूनानी काव्य उस समय तक लिखा जा चुका था और जो भी जन-रुचि उस समय प्रचलित थी उसी के ही आधार पर अरस्तू ने अपना साहित्यिक विवेचन प्रस्तुत किया।

काव्य का मूल स्रोत

काव्य पर अपना विचार प्रकट करते हुए अरस्तू ने उसके आदि स्रोत का अनुसंधान किया। काव्य मानव-प्रकृति का सहज व्यापार है और यह मनुष्य की अनुकरणात्मक प्रवृत्ति, उसके लय और स्वर-समन्वय की ओर सहज रुचि द्वारा ही सफल हुआ। जिस प्रकार औत्सुक्य और आश्चर्य ने दर्शन का निर्माण किया उसी प्रकार मानव की अनुकरणात्मक तथा संगीतप्रियता की प्रवृत्ति ने काव्य को जन्म दिया। गीत-काव्य तथा सहगायन द्वारा नाटक का जन्म हुआ और यूनान के महाकवि होमर-लिखित महाकाव्यों द्वारा दुःखान्तकी तथा सुखान्तको का आविर्भाव हुआ।

---

१. 'पोयेटिक्स' तथा 'रेट्रिक'

क्रियात्मक आलोचना-शैली का जन्म

काव्य की अनुकरणात्मक गति को यों तो यूनान के अनेक दर्शनज्ञों ने प्रकाशित किया था और अफलातूँ ने भी काव्य को अनुकरणात्मक ही माना था, परन्तु अरस्तू ने अनुकरणात्मकता का विश्लेषण करते हुए उसमें कुछ नवीन तत्त्व भी गिनाए। अरस्तू का विचार है कि अनुकरण से तात्पर्य 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' नहीं वरन् कलाकार द्वारा, क्रियात्मक रूप से, एक ऐसे नवीन तथा ज्योतिर्मय स्वप्न का निर्माण करना है जो केवल बीज-रूप में ही संसार में प्रस्तुत था। कवि, वास्तविक जगत् से, अपनी काव्य-सामग्री चुनते हुए साधारण वस्तु से अनेक नवीन भावों की सृष्टि कर लेगा; वह उनके यथार्थ रूप में उनके भावी रूप का संकेत देगा अथवा उस पर अपनी भावनाओं का प्रकाश फेंककर उनमें नई जान डाल देगा; उनमें वह अधूरे आदर्शों की झाँकी दिखलाकर उनकी पूर्णता की ओर संकेत करेगा।

अनुकरण-सिद्धान्त का विवेचन

अनुकरण-सिद्धान्त का विवेचन करते हुए, इन उपरोक्त तत्त्वों का विकास अरस्तू का महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक कार्य था और इसी सिद्धान्त के प्रतिपादन के फलस्वरूप उनकी प्रतिष्ठा बनी हुई है। इस नवीन सिद्धान्त ने, अनुकरण शब्द को नवीन और महत्त्वपूर्ण अर्थ प्रदान किये। काव्य अब मानव-जीवन और मानव-विचार के सार्वत्रिक और स्थायी-भावों का स्पष्टीकरण हो गया। काव्य न तो केवल यथार्थ का अनुकरण है और न भावों का इन्द्रजाल; वह है प्रतिदिन के जीवन से उठता हुआ सार्वत्रिक सत्य और मानव-जीवन को प्रकाशमान करता हुआ नव आदर्श। इसी दृष्टिकोण से काव्य की परिभाषा बनाते हुए उन्होंने लिखा कि 'इतिहास की अपेक्षा काव्य में कहीं अधिक दार्शनिकता निहित है।' इतिहासकार तो केवल यथार्थ में सीमित होकर कार्यों का उल्लेख किया-करेगा परन्तु कवि अपनी विस्तृत कल्पना द्वारा एक में अनेक और अनेक में एक तथा साधारण-से-असाधारण भावों का सृजन करता हुआ दर्शनज्ञों के तात्त्विक अनुसन्धान की समता करने लगेगा। श्रेष्ठ काव्य में कुछ सार्वभूत तत्त्वों का अनुसन्धान अरस्तू का प्रमुख ध्येय था और उन्होने काव्य और दर्शन में साम्य बैठाते हुए यह प्रमाणित किया कि श्रेष्ठ काव्य में कुछ तत्त्व ऐसे भी हैं जो विशेष रूप से प्रस्तुत रहते हैं और जिनके कारण काव्य सफल होता है। यद्यपि अफलातूँ ने ही, साधारण रूप में, दर्शनवेत्ता और कवि दोनों में समान प्रेरणा देखी थी परन्तु इस तथ्य को सिद्धान्त का रूप अरस्तू ने ही दिया। उनके विचारों के अनुसार

काव्य और दर्शन दोनों ही सत्य का निरूपण समान रूप में करते हैं।

काव्यादर्श का विवेचन

काव्य के उद्देश्य के विषय में भी अरस्तू ने महत्त्वपूर्ण बात कही। कवि को केवल नैतिक आदेश ही नहीं देने चाहिएँ और न उसे खुल्लमखुल्ला शिक्षक का ही कार्य करना अपेक्षित होगा, उसे तो इस सावधानी से दोनों उद्देश्यों की पूर्ति करनी चाहिए जिसके द्वारा दोनों का समाधान यथेष्ट तथा समुचित रूप में होता चले। उनका विचार था कि सौन्दर्यात्मक भावो की सृष्टि और उनका प्रसार तभी हो सकेगा जब कविवर्ग नैतिकता की डोर पकडे चले क्योंकि श्रेष्ठ कवि के लक्ष्य-निर्माण मे दोनो का विचार अपेक्षित होगा। वास्तव में, कदाचित्, अरस्तू अपनी बात स्पष्टतः न कह सके। उनका कहना शायद यह था कि काव्य के सृजन और उसके प्रभाव दोनो पर ही कलाकार की सम्यक् दृष्टि रहनी चाहिए। काव्य-सृजन मे उसे सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करनी चाहिए और इसी के फलस्वरूप सहज रूप मे नैतिकता को भी प्रकाशित करना चाहिए। पहला कार्य ही नितान्त आवश्यक है और दूसरा उपयोगी परन्तु गौण। काव्य के सृजन और लक्ष्य-विषयक इस विवेचन का, ऐतिहासिक रूप में, आलोचना-सिद्धान्तों पर गहरा प्रभाव पड़ा।

अफलातूँ ने काव्य के प्रभाव का विवेचन देते हुए कहा था कि महाकाव्य तथा दृश्य-काव्य द्वारा मनुष्य के भावना-संसार पर बुरा प्रभाव पडता है और चरित्र दूषित होता है। इस विचार के प्रतिवाद में अरस्तू ने यह प्रमाणित किया कि काव्य द्वारा उत्पन्न विकारों का फल अत्यधिक स्वास्थ्यप्रद और उपयोगी होगा, क्योंकि काव्य-प्रसूत विकारो से जब भाव-संसार में खलबली मचेगी तो धीरे-धीरे पुराने शारीरिक तथा मानसिक विकारों पर भी असर पडेगा; और विरेचन-सिद्धान्त[1] के आधार पर वे पुराने विकार अपनी तीव्रता और तीक्ष्णता को खो देंगे और शनैः-शनैः समस्त भाव-संसार मे एक नवीन सामञ्जस्य उपस्थित हो जायगा।

काव्य तथा छन्द

जिस काल में अरस्तू अपने विचार प्रकाशित कर रहे थे उस समय साहित्यकार काव्य का वर्गीकरण छन्द के आधार पर किया करते थे। अरस्तू को यह वर्गीकरण रुचिकर न था और उन्होंने आवेश में आकर छन्द के विषय मे कुछ ऐसे विचार प्रकट किये जिनका साम्य इनके अन्य विचारों के साथ नहीं

१. देखिए—'नाटक की परख'

बैठता। उन्होंने काव्य-रचना में छन्द की महत्ता बिलकुल ही घटा दी और उसे काव्य-रचना के लिए अपेक्षित नहीं समझा। यद्यपि उन्होंने दुःखान्तकी का विवेचन करते हुए राग, लय और संगीत को कम प्रधानता नहीं दी परन्तु अपने समय की साहित्यिक रुचि को परिष्कृत करने के लिए प्रचलित सिद्धान्तों का प्रतिवाद करना ही उन्हें रुचिकर हुआ। यही कारण है कि वे छन्द के इतने विरोधी हुए।

संक्षेप में काव्य के विषय में अरस्तू ने उसकी आत्मा का विश्लेषण दिया, उसके उद्गम की ओर संकेत किया, उसके तत्त्वों और उसके प्रभाव का विवेचन प्रस्तुत किया। अफलातूं के विचारों का प्रतिकार करते हुए उन्होंने काव्य को सामाजिक रूप में उपयोगी प्रमाणित करके सौन्दर्यानुभूति तथा नैतिकता के प्रसार में उसके महत्त्व को प्रकट किया। अन्य यूनानी विचारकों के अनुसार ही उन्होंने कलाकार को दैवी प्रेरणा से प्रेरित समझते हुए भी उन्हें अनुभव प्राप्त करने तथा अभ्यास करने का स्पष्ट आदेश दिया। बिना सतत अभ्यास और कला-सम्बन्धी अनेक विशिष्ट नियमों के ज्ञान तथा प्रयोग के श्रेष्ठ काव्य की रचना असम्भव ही होगी। काव्य का वर्गीकरण भी उन्होंने वैज्ञानिक रीति से किया और उसके चार वर्ग महाकाव्य, दुःखान्तकी, सुखान्तकी तथा गीत-काव्य बनाए। उन्होंने ऐतिहासिक काव्य तथा प्रबोधक काव्य वर्गों[1] की ओर न तो संकेत किया और न उन्हें महत्त्वपूर्ण ही समझा।

दुःखान्तकी का वैज्ञानिक विवेचन 'भय' तथा 'करुणा' का संचार

काव्य की अपेक्षा कदाचित् दुःखान्तकी-रचना पर अरस्तू द्वारा निर्मित सिद्धान्त बहुत अधिक मान्य हुए। उन्होंने दुःखान्तकी का विवेचन अत्यन्त विस्तारपूर्वक किया और उनके इस वैज्ञानिक विश्लेषण की महत्ता अब तक अधिकांश रूप में बनी हुई है। दुःखान्तकी की परिभाषा बनाते हुए उन्होंने कहा कि समुचित सीमा के अन्दर वह किसी गम्भीर, महत्त्वपूर्ण, सम्पूर्ण तथा विशाल कार्य का रंगमंच पर ऐसा अनुकरण है जो भाषा के माध्यम से सुन्दर तथा आनन्ददायी बनकर भय और करुणा के संचार से हमारे मानवी भावों के अति का परिमार्जन करके उनमें सामञ्जस्य प्रस्तुत करता है। अरस्तू ने अपनी इस परिभाषा में दुःखान्तकी तथा सुखान्तकी का भेद भी बतलाया। 'गम्भीर' कार्य सुखान्तकी में नहीं प्रयुक्त होते; महाकाव्य के समान इसका पाठ नहीं होता वरन् रंगमंच पर इसका अनुकरण होता है और गीतों का

१. देखिए—'काव्य की परख'

प्रयोग केवल सहगायक[1] करते हैं; और इसके संवाद में छन्दयुक्त कविता प्रयुक्त होती है। पुराने लेखकों द्वारा लिखी गई सुखान्तकी की त्रुटियों को ध्यान में रखते हुए उन्होंने इसके कार्य-तत्त्व को समुचित आकार देने का निर्देश दिया जो कलात्मक रीति से प्रगति करता चले और आपद्काल[2] की सीमा तक सहज रूप में पहुँचे और जिसके अनेक खण्डों के ऊपर कलाकार का मानसिक नियन्त्रण भलीभाँति हो सके। इसीलिए प्रत्येक कार्य मे तीन स्पष्ट किन्तु समन्वित अंग होने चाहिएँ। ये तीन अंग हैं—आदि, मध्य और अन्त। आदि भाग स्पष्टता से कार्य का निरूपण करे; मध्य भाग सहज रूप से उस निरूपण में रोचकता लाए और अन्त उद्देश्य की समुचित पूर्ति करे। मानव के भय और करुणा के विषम भावो के परिमार्जन से ही उद्देश्य की पूर्ति होगी और यह पूर्ति चिकित्सा-शास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार इन्हीं दोनों भावों के प्रसार द्वारा ही सम्भव होगी। 'विषस्य विषमौषधम्' का सिद्धान्त भी यही है। यह विचार उस युग के अनुकूल ही था और इसमें तथ्य भी कम नहीं। क्योंकि भय और करुणा दोनों ही भावनाएँ ऐसी हैं जो हमें जीवन में अधिक सताती हैं : भय के संचार से मनुष्य मनुष्य नहीं रहता और करुणा भी उसे निस्तेज और विह्वल बनाकर पुरुषार्थहीन कर देती है। जब इन दोनों भावों का संचार तीव्र गति से हमारे हृदय में होने लगता है तो हमारे भाव-संसार में खलबली मच जाती है और धीरे-धीरे उनको अति का परिमार्जन होकर एक सन्तुलन पैदा होता है और हमें लौकिक नैतिकता का प्रकाश दिखाई देने लगता है। तूफान के बाद हमे एक विचित्र शान्ति का अनुभव होने लगता है जैसे कोई व्यक्ति डूबते-डूबते बचकर किनारे पर आ लगे।

अरस्तू के इस सिद्धान्त का विरोध आधुनिक काल में विशेष रूप से हुआ। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि आधुनिक आलोचक भय और करुणा का ही संचार उचित नहीं समझते। दुःखान्तकी को हमारी सभी दबी-दबाई और कुचली हुई भावनाओं का शमन करना चाहिए; उनसे छुटकारा दिलाना चाहिए; और हमें मानवी अनुभवों की अनुभूति देकर मानव-हृदय के उन छिपे हुए गह्वरों का परिचय देना चाहिए जिसके आधार पर हम मानव को, उसके हृदय को, उसके हृदय की गति को पहचान सकें। सम्पूर्ण मानव-समाज और उसके भाग्य का दिग्दर्शन कराना ही श्रेष्ठ दुःखान्तकी का उद्देश्य होना चाहिए।

१. देखिए—'नाटक की परख'
२. देखिए—'नाटक की परख'

दुःखान्तकी के अन्य तत्त्व : 'वस्तु' और 'कार्य'

दुःखान्तकी का विश्लेषण करते हुए अरस्तू ने कुछ और तत्त्व भी गिनाए। वस्तु, पात्र, विचार, भाषा-प्रवाह तथा संगीत, तथा दृश्य सम्बन्धी व्यवधान भी आवश्यक तत्त्व हैं, परन्तु सबमें प्रमुख तत्त्व है वस्तु। पात्र तथा विचार की अपेक्षा वस्तु कहीं अधिक महत्त्व-पूर्ण है। इसका कारण स्पष्ट है। जब यह मान लिया गया कि दुःखान्तकी किसी कार्य-मात्र का अनुकरण है तो कार्य का सम्बन्ध पात्र से कम और वस्तु से ही अधिक होगा। पात्र द्वारा निर्मित कार्य, वस्तु का आकार है, उसका प्राण है। उसी के लिए पात्र कार्यशील है और इसीलिए उसका स्थान सर्वोच्च है। चरित्र चित्रण का भी महत्त्व इस दृष्टि से गौण ही होगा, क्योंकि चित्रण ज्यों-ज्यों होता चलेगा त्यों-त्यों कार्य की भी सिद्धि होती चलेगी। संवाद-तत्त्व भी गौण होगा, क्योंकि संवाद भी तो कार्य की ही पूर्ति के लिए होगा। इन्हीं विचारों के आधार पर अरस्तू ने वस्तु को दुःखान्तकी रचना में श्रेष्ठ महत्त्व दिया और उसे प्राण-स्वरूप प्रमाणित किया। बहुत से आधुनिक पाठकों को भी यह विश्लेषण रुचिकर लगेगा, क्योंकि चटपटी और रुचिकर वस्तु यदि नाटक में न हुई, और केवल चरित्र-चित्रण की गहराइयों में लेखक उतरता गया तो दर्शक-वर्ग ऊँघने लगेगा। वास्तव में दुःखान्तकी के अनेक तत्त्वों में क्रमशः महत्त्व का आँकना सरल नहीं और उसका प्रश्न भी नहीं उठना चाहिए।

'वस्तु'-क्रम, तर्क, स्पष्टता तथा सामंजस्य

वस्तु का विवेचन देते हुए अरस्तू ने कुछ अन्य नियम भी बनाए जो वस्तु के आकार और उसकी प्रगति पर प्रकाश डालते हैं। वस्तु का सबसे आवश्यक गुण है उसका सर्वाङ्गीण सामंजस्य। उसके आदि और अन्त में सम्पूर्ण समन्वय होना चाहिए और कार्य के अन्तर्गत जो-कुछ भी किया जाय उससे उद्देश्य की पूर्ति करनी चाहिए, क्योंकि सौन्दर्य का प्रधान उपादान है आकार और सहज क्रमपूर्ण सामं-जस्य। लेखक को अपने दुःखान्तकियों में रंगमंच के हिसाब से वस्तु को छोटा-बड़ा करने का सहज अधिकार नहीं; यदि अधिकार है भी तो केवल नाटक की उद्देश्य-सिद्धि की दृष्टि से। हाँ, लेखक वस्तु को लम्बा-चौड़ा कर भी सकता है, मगर इसी शर्त पर कि न तो उसके विभिन्न भागों में विषमता आए और न दुरूहता बढ़े। वस्तु की सबसे बड़ी आवश्यकताएँ हैं क्रमानुसार कार्य का सम्पादन अर्थात् 'क्रम', संवाद तथा कार्य में सहज सम्बन्ध अथवा

'तर्क' और भावों के प्रकाश में 'स्पष्टता'। इन नियमों के बनाने में अरस्तू कदाचित् अफलातूँ का सहारा लेते रहे, क्योंकि अफलातूँ ने भी नाटककार को सर्वांगीण सामंजस्य प्रस्तुत करने का आदेश दिया था। इसका परखना भी सरल है। नाटक का जो भी अंश अपनी उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति से पूरे कार्य अथवा वस्तु को प्रभावित नहीं करता, बेकार है, और वह सामंजस्य की अवहेलना करता है। प्रत्येक कार्य जब भावी कार्य की अस्पष्ट सूचना देगा और दूसरा, तीसरा, चौथा कार्य का अंश भावी उद्देश्य की ओर संकेत करता चलेगा तभी सामंजस्य के नियम की पूर्ति होगी। सामंजस्य तथा सम्भाव्यता इन दो नियमों के प्रतिपादन मे अरस्तू ने श्रेष्ठ आलोचक के हृदय का परिचय दिया। तत्कालीन यूनानी नाटकों के अध्ययन के फलस्वरूप अरस्तू ने सामंजस्य के विषय में दो-एक और भी नियम ढूँढ़ निकाले और कुछ बाद के आलोचकों ने उन्हें सिद्धान्त का रूप दे दिया। उदाहरणार्थ दुःखान्तकी चौबीस घण्टे में समाप्त हो जानी चाहिए। इसी के आधार पर कुछ आलोचकों ने यह भी नियम बना लिया कि जिस स्थान पर दुःखान्तकी का कार्य आरम्भ हो उसी स्थान पर उसे समाप्त भी होना पड़ेगा। इन दोनो नियमो का उल्लंघन हम अनेक दुःखान्तकीयों मे देखते हैं, परन्तु साधारणतया इनका प्रयोग भी अनेक नाटककार करते रहे हैं।

अन्य उपक्रम—विस्मय, एकांगी-दोष

वस्तु, कार्य तथा उद्देश्य का अनुसन्धान करते हुए, अरस्तू ने दुःखान्तकी-रचना के लिए कुछ और भी महत्त्वपूर्ण नियम बनाए। 'भय' और 'करुणा' दोनों के प्रसार द्वारा हमारे चरित्र के संशोधन की चर्चा तो वह पहले ही कर चुके थे, मगर उन्होने इनके उपक्रम की ओर भी संकेत किया। दुःखान्तकी वास्तव में दुःखान्त कथा तो है ही मगर साथ-ही-साथ उस दुःख में विस्मय भी यथेष्ट होना चाहिए और जो कुछ भी दुःख पात्र-वर्ग सहे उसे उस दुःख का आभास और अनुभव ऐसी दिशा से आना चाहिए जिसका उसे स्वप्न में भी ध्यान न हो; परन्तु वह आये स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक रूप में। आपत्काल में आपत्ति और विपत्ति उन्हीं लोगो के द्वारा आनी चाहिए जो नायक के निकट सम्बन्धी अथवा मित्रवर्ग के हो। यो तो विपत्ति साधारणतः शत्रु द्वारा, अपरिचितों द्वारा अथवा मित्रवर्ग द्वारा आ सकती है, परन्तु जो विपत्ति मित्रवर्ग द्वारा आयगी उसके विस्मय की भावना का प्रकाश सहज होगा और भय तथा करुणा के प्रसार में भी सरलता होगी। मित्रवर्गों द्वारा विपत्ति आने की भावना से बढ़कर और कौनसी भावना भय और करुणा की

अनुभूति गहरी कर सकती है; जहाँ से लाभ और आशीर्वाद की आशा थी वहीं से वज्र फटे ! इसके द्वारा दुःखान्तकी गहरा प्रभाव डालेगी। संक्षेप में, दुःखान्तकी किसी श्रेष्ठ व्यक्ति द्वारा ऐसे कार्य का अनपेक्षित सम्पादन है जो उसे विस्मय के चक्कर में डालती हुई मौत के मुँह में ले जाती है और अन्तिम श्वास लेते-लेते वह व्यक्ति अपनी अनैतिक भूल स्वीकार करता है। इस विपत्ति का बीज नायक के एकांगी दृष्टिकोण अथवा लौकिक दृष्टि से उसके चरित्र के केवल एक दोष में निहित रहता है। उसी को न समझकर नायक कार्य करता चलता है और विपत्ति को आवाहन देता हुआ अन्तिम श्वास तोड़ देता है।[1] भाग्य भी उस पर हँसता, और कभी-कभी नायक भी अनजाने अपने मुँह से ऐसे शब्द निकाल देता है जिनका वास्तविक अर्थ वह स्वयं समझ नहीं पाता और जो दर्शकों को उसके अन्तकाल का संकेत दे जाते हैं।

दैवी पात्र

यूनानी नाटकों में देवी-देवता भी पात्र-रूप में प्रयुक्त होते थे। अनुभवहीन नाटककार अपने नाटकों में वस्तु का निर्वाह न कर सकने पर देवताओं की शरण चले जाते और असम्भाविक तथा अस्वाभाविक रूप से उनके द्वारा कार्य की सिद्धि करा देते। अरस्तू इस कमी को भली भाँति समझ गए और उन्होंने कार्य की पूर्ति में दैवी पात्रों तथा दैवी कार्यों को अलग रखने का आदेश दिया। हाँ, देव-वर्ग केवल पिछले कार्यों की मीमांसा करने अथवा कोई ऐसी भविष्यवाणी करने, जिसका कार्य से कोई आन्तरिक सम्बन्ध न होता, आ सकते थे।

चरित्र-चित्रण

पात्रों के निर्माण के विषय में भी अरस्तू के सिद्धान्त विचारणीय हैं। दुःखान्तकी के पात्र सुखान्तकी के विपरीत स्वभावतः भले, सुशील तथा सच्चरित्र होने चाहिएँ और उनका आदर्शपूर्ण जीवन नाटक में प्रस्तुत होना चाहिए। उनका यथार्थ जीवन आदर्श स्तर छू ले, यही ध्येय नाटककार को सम्मुख रखना पड़ेगा और उन्हें रूढ़ि के अनुसार ही नाटक में स्थान देना चाहिए। उदाहरणार्थ राम को उद्धत, लक्ष्मण को कायर, अर्जुन को स्नेहहीन और युधिष्ठिर को सत्यहीन कहना इतिहास के सत्य विवेचन पर कुठाराघात ही होगा। जो भी पात्र नाटककार चुने, उन्हें इतिहास और समाज का ध्यान रखते हुए प्रदर्शित करना चाहिए। पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी बहुत सावधानी की आवश्यकता पड़ेगी। बहुधा नाटककार पात्रों के चरित्र में बिना किसी मनोवैज्ञानिक कारण का आभास दिये यकायक परिवर्तन प्रस्तुत कर देते हैं—वीर कायर बन जाते हैं,

१. देखिए—'नाटक की परख'

कायर वीर; कर्कषा सुशीला बन बैठती है और सुशीला कर्कषा हो जाती है। इसी प्रकार पात्रों में अस्वाभाविक परिवर्तन प्रस्तुत हो जाता है जिसके फलस्वरूप नाटक निम्न कोटि का और नाटककार अनुभवहीन प्रमाणित होता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर आगामी काल के आलोचकों ने जीवन ही नहीं वरन् देश, काल, रूढ़ि तथा वयस, प्रतिष्ठा और सैक्स को विचाराधीन रखकर ही नाटक के उपयुक्त पात्रों के चरित्र-विकास का आदेश दिया। इस नियम का विरोध भी आगामी काल में बहुत जोरों से किया गया और व्यर्थ का विवाद भी उठ खड़ा हुआ।

नायक

दुःखान्तकी के नायकों के चरित्र का विश्लेषण करते हुए अरस्तू ने बतलाया कि साधारणतः वह तीन प्रकार की परिस्थितियों में पड़कर ही दुःखान्तकी के हमारे भाव प्रदर्शित करने की चेष्टा करेगा तथा करुणा और भय के प्रसार द्वारा चरित्र का संशोधन कर सकेगा। पहली परिस्थिति ऐसी हो सकती है कि कोई श्रेष्ठ और सच्चरित्र व्यक्ति अपने सुख के संसार से हटाकर दुःख के खड्ड में डाल दिया जाय, परन्तु इस कार्य से न तो भय उपजेगा और न करुणा। इससे तो हमारे हृदय में ईश्वरीय शक्ति के प्रति विद्रोह और घृणा का ही आविर्भाव होगा और ऐसी कथा हमें क्षुभित तथा स्तब्ध कर देगी। दूसरे, ऐसा हो सकता है कि कोई दुश्चरित्र व्यक्ति सुख के संसार मे प्रतिष्ठित कर दिया जाय; परन्तु इससे भी करुणा और भय का संचार न हो सकेगा। तीसरी परिस्थिति भी ऐसी हो सकती है जिसमें कोई अधम और नीच व्यक्ति अपने दुष्कर्मों का फल भोगते हुए प्राण तज दे, परन्तु इस परिस्थिति के द्वारा भी भय और करुणा का प्रसार न होकर केवल सन्तोष की भावना का ही संचार होगा। यह स्पष्ट है कि उपरोक्त तीनों परिस्थितियों के अक्षरशः प्रयोग द्वारा नाटककार के ध्येय की पूर्ति न हो पायगी। वास्तव में करुणा-संचार तभी होगा जब कोई श्रेष्ठ और सच्चरित्र नायक अपनी किसी नैसर्गिक कमजोरी के कारण दुःख सहन करे और आपत्ति का शिकार बन जाय; और भय भी केवल उसी समय उपजेगा जब आपत्तिग्रस्त नायक तथा हममें किसी प्रकार का मानवी और सहज सम्बन्ध हो। जब तक इस मानवी सम्बन्ध का संकेत न मिलेगा भय हमसे कहीं दूर होगा। परन्तु नायक की नैसर्गिक कमज़ोरी को ध्यान में रखते हुए नाटककार को सतर्क रहना चाहिए कि नायक की यह कम-जोरी किसी दुष्ट भावना अथवा पाप का स्वरूप न ग्रहण करे, वरन् वह एक ऐसी त्रुटि रहे जो श्रेष्ठ व्यक्तियों के चरित्र में सहज रूप में खप जाय और

उसका मूल स्रोत नायक की बुद्धि अथवा उसके मानसिक निश्चय में प्रस्तुत रहे ।

नायक का सामाजिक स्तर

नायक का सामाजिक स्तर भी उच्च वर्ग का होना चाहिए, क्योंकि अरस्तू के विचारों के अनुसार श्रेष्ठ वर्ग के व्यक्तियों का दुर्भाग्य अथवा उन पर पड़ती हुई विपत्ति को देखकर दर्शक का हृदय करुणा से पसीज जायगा और भय का प्रसार भी गहरे रूप में होगा। इसके द्वारा आपत्काल की तीव्रता भी कहीं अधिक बढ़ जायगी। आगामी काल में अरस्तू के इस सिद्धान्त की बहुत बड़ी आलोचना हुई जिसमे अरस्तू का उत्तरदायित्व तो कम आलोचकों के अज्ञान का ही उत्तरदायित्व अधिक था। आगामी काल के आलोचको ने अरस्तू के सिद्धान्त को बहुत विस्तारपूर्वक व्यवहृत करके यह दिखलाना चाहा कि केवल श्रेष्ठ वर्ग के नायकों द्वारा ही दुःखान्तकी की सृष्टि हो सकेगी अन्यथा नहीं। अरस्तू का तात्पर्य यह न था। उन्होंने नायकों को श्रेष्ठ वर्ग से चुनने का आदेश तो दिया था मगर यह कहीं नहीं कहा कि साधारण वर्ग के नायकों से दुःखान्तकी रचना हो ही नहीं सकती। उनके सिद्धान्त का मुख्य अंग है नायक का मानसिक अथवा बौद्धिक दोष, जो दुःखान्तकी की भावना का मूलाधार है। हाँ, इतना अवश्य है कि अरस्तू का साहित्य तथा ज्ञान-संसार उतना विस्तृत न था जितना आगामी काल के आलोचकों का था, और उनके सिद्धान्तों की सबसे बड़ी कमी यह थी कि उसके सिद्धान्तों को मानते हुए दुष्ट और सन्त नायक रूप में प्रयुक्त नही हो सकते थे; परन्तु अनेक आधुनिक नाटककारो ने दोनो के आधार पर श्रेष्ठ दुःखान्तकियों की रचना की है।

'दृश्य-प्रदर्शन' 'वेश-भूषा'

अपनी आलोचनात्मक पुस्तक मे अरस्तू ने विशेषतः नायक, वस्तु और चरित्र-चित्रण पर अधिक जोर दिया और शेष अंगो पर चलते-फिरते नियम बना दिए। दृश्य-प्रदर्शन, वेश-भूषा इत्यादि उन्हे गौण ही दिखाई दिए और यद्यपि उन्होंने यह माना भी कि उनके द्वारा दुःखान्तकी की भावना तीव्र की जा सकती है परन्तु नाटककार की कला से इनका कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं। उनका कहना तो यहाँ तक है कि श्रेष्ठ नाटक को रंग-मंच पर बिना देखे हुए, उसे पढकर ही, उसका रस लिया जा सकता है। इस विचार ने भी आगामी काल के लेखकों को अनेक रूप में प्रभावित किया है।

संगीत

संगीत के विषय में भी (यद्यपि संगीत यूनानी दुःखान्तक-शैली का प्रमुख अंग था) उन्होंने कोई अधिक विचारणीय बात नहीं कही। उन्होने केवल यही कहा कि संगीत दुःखान्तकी मे रुचिकर है और उसके द्वारा आनन्द-प्रदान में सहायता मिलती है । परन्तु उनका आदेश था कि संगीत केवल स्फुट रूप में नाटक में व्यवहृत न किया जाय परन्तु उसमें तथा नाटक के भाव-संसार में सामञ्जस्य रहना चाहिए ।

शैली

शब्द तथा वाक्य-विन्यास के विषय में अरस्तू ने कुछ महत्वपूर्ण नियम बनाए। कविता तथा गद्य का भेद वह पहले भी स्पष्ट कर चुके थे और अब उन्होंने शब्दों के चुनाव और उनके वाक्यो मे व्यवहृत होने के नियम भी बनाए। शब्दों के चुनाव चार क्षेत्रो से हो सकेंगे—प्रचलित शब्द, विदेशी शब्द, अपभ्रंश (बोलचाल के शब्द) तथा नये निर्मित शब्द। इनमें कुछ तो प्राचीन शब्दों तथा आलंकारिक शब्द-क्षेत्र से अथवा श्रेष्ठ कवियो द्वारा व्यवहृत शब्द-समूह से लिये जा सकते हैं। परन्तु यह ध्यान अवश्य रखा जाय कि जो भी शब्द चुने जायँ उनका व्यवहार स्पष्ट हो, काव्यात्मक हो और हृदय को छूने वाला हो। इसका तात्पर्य यह हुआ कि शब्दों के सस्ते और चालू प्रयोग के वह समर्थक न थे। वस्तुतः उनका विचार था कि चारों क्षेत्रो से शब्द चुने जायँ और उनमे ऐसे सहायक शब्दों की अधिकता हो जो रचना में काव्य की प्राण-प्रतिष्ठा कर सकें। श्रेष्ठ शैली वही होगी जो उपरोक्त सभी क्षेत्रों से शब्द चुन-चुनकर सबमे सामञ्जस्य बैठाते हुए काव्यात्मक भावों को प्रकाशित करेगी। सुबुद्धि तथा सावधानी, दोनों इस चुनाव में सहायक होनी चाहिएँ। शैली का श्रेष्ठ गुण सौष्ठव है। साधारणतः आलंकारिक तथा स्तुति-गीतों[1] के लिए समासयुक्त शब्द, महाकाव्य के लिए अपरिचित शब्द, तथा नाटकों के लिए उपमा और रूपक अथवा अलंकारों से युक्त भाषा अधिक उपयोगी सिद्ध होगी। आलंकारिक भाषा तथा रूपक-ज्ञान सरल नहीं और न यह सिखाया ही जा सकता है। इसके प्रयोग मे ऐसी तीव्र बुद्धि तथा पहुँच की आवश्यकता पड़ेगी जो सहज ही साधारणतः विभिन्न वस्तुओं मे किसी समता-विशेष की ओर यकायक ध्यान आकर्षित कर दे। यह सभी प्रतिभावान कवियों का सहज गुण रहा है।

१. देखिए—'काव्य की परख'

महाकाव्य-रचना

महाकाव्य-रचना के विवेचन में अरस्तू ने कोई विस्तृत नियम नहीं बनाया और संक्षेप में केवल यह बतलाया कि महाकाव्य, किसी गम्भीर कार्य का, वर्णनात्मक शैली तथा एक ही छन्द-विशेष में, अनुकरण-मात्र है, जिसका आधार मूलतः नाटकीय होगा। यद्यपि उन्होंने दुःखान्तकी तथा महाकाव्य के सहज सम्बन्ध को सदैव ध्यान में रखा परन्तु उनकी रचना-शैली की विभिन्नताओं को नहीं भुलाया; एक की शैली नाटकीय प्रदर्शन की शैली है और दूसरे की वर्णनात्मक। दुःखान्तकी रचना के नियमों के ज्ञाता सरलता से महाकाव्य-रचना के नियम को हृदयंगम कर सकते हैं। वस्तु, पात्र, विचार, वाक्य-विन्यास तथा संगीत का स्थान दोनों में समान रूप से है परन्तु नाटक में प्रदर्शन-तत्त्व का ध्यान अधिक रहेगा। महाकाव्य की वस्तु भी दुःखान्तकी के समान ही सरल अथवा जटिल हो सकती है और नायक को ऐसी विपत्ति के चक्कर में डालकर, जिसका स्रोत उसके मित्रवर्ग अथवा निकट सम्बन्धियों में हो, वह अपने उद्देश्य की पूर्ति करेगी। परन्तु जिस तत्त्व को सदैव ध्यान में रखना चाहिए वह है वस्तु के समस्त अंगों का पूर्ण सामंजस्य। एक नायक के जीवन से अनेक उपवस्तुओं अथवा सहायक वस्तुओं को जबरदस्ती सम्बन्धित कर महाकाव्य तैयार कर देना अनुचित है। यूनान के महाकवि होमर की श्रेष्ठता इसी में है कि उनके महाकाव्य 'इलियड' तथा 'आडेसे' के नायक से सभी उपवस्तुओं का आन्तरिक तथा घनिष्ठ सम्बन्ध है।

महाकाव्य तथा दुःखान्तकी

महाकाव्य तथा दुःखान्तकी की विभिन्नताओं की ओर संकेत करते हुए उन्होंने यह स्पष्ट किया कि महाकाव्य के आकार का बड़ा हो जाना सम्भव है, क्योंकि कवि अन्य पात्रों से सम्बन्धित अनेक घटनाओं का वर्णन एक ही साथ कर सकता है; साधारण तथा दैवी घटनाओं का वर्णन और विकास भी विस्तृत और विशाल रूप में हो सकता है जिसमें विस्मय यथेष्ट रूप में प्रस्तुत रहना चाहिए और अनेक उपवस्तुओं की सहायता से रोचकता के लिए उसका आकार बढ़ भी सकता है, परन्तु दुःखान्तकी में इस प्रकार का विस्तार सम्भव नहीं। इस दृष्टि से कवि, नाटककार की अपेक्षा, सरलता से अपनी उद्देश्य-पूर्ति कर सकता है, क्योंकि वस्तु के सीमित आकार के कारण नाटककार की कला को कुण्ठित होने का भय रहेगा और लेखक को अनेक कठिनाइयों का सामना भी करना पड़ेगा।

छन्द

छन्द के विषय में अरस्तू की धारणा यह थी कि केवल ६ पदांशों के छन्द अथवा हेक्सामीटर[1] ही उपयोगी होंगे, क्योंकि इस छन्द की सहायता से महाकाव्य की विशालता तथा उसके भावों की भव्यता को विशेष सहारा मिलेगा। अपरिचित शब्दावली तथा उपमा और रूपक दोनों का प्रयोग इस छन्द में सरलतापूर्वक होगा। परन्तु दुःखान्तकी के लिए दो पंक्तियों का दोहा-स्वरूप छन्द ही उपयुक्त है।

महाकाव्य और दुःखान्तकी, दोनों के महत्त्व के विषय में उनके सिद्धान्त विचारणीय हैं, क्योकि यहाँ उन्होने अपने समय के विचारको का विरोध किया। तत्कालीन साहित्यकारों का मत था कि महाकाव्य दुःखान्तकी की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है और सभ्यता के प्रतीक हैं तथा सभ्य दर्शकों को प्रिय हैं, क्योकि रंगमंच पर प्रदर्शन के कारण दुःखान्तकी का सांस्कृतिक स्तर गिर जाता है। अरस्तू ने इन सिद्धान्तो का विरोध किया और कला तथा प्रभाव की दृष्टि से दुःखान्तकी को श्रेष्ठ प्रमाणित किया। उनका कथन है कि दुःखान्तकी रंगमंच पर करुणा तथा भय के कलापूर्ण प्रदर्शन द्वारा अधिक प्रभावयुक्त, संगीत तथा प्रदर्शनात्मक अंगो के कारण अधिक रुचिकर और आकर्षक, तथा अपने सीमित आकार में सामंजस्य के कारण अधिक कलापूर्ण होगी। हाँ, दोनों का लक्ष्य तो एक ही है मगर साधन भिन्न हैं। दुःखान्तकी अपने लक्ष्य की पूर्ति गहरे, स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूप में करती है और इसीलिए वह महाकाव्य की अपेक्षा अधिक कलात्मक तथा महत्त्वपूर्ण है।

सुखान्तकी रचना

सुखान्तकी के विषय में भी अरस्तू ने कुछ विशिष्ट नियम ढूँढ निकाले। सुखान्तकी समाज के निम्न-वर्ग के पात्रों के बुरे, घृणित अथवा उपहासपूर्ण कार्यों का अनुकरण है, परन्तु ये कार्य केवल किसी भूल अथवा शारीरिक कुरूपता से ही सम्बन्धित होंगे और उनके द्वारा किसी को भी दुःख अथवा पीडा का अनुभव न होगा। पात्रो की शारीरिक कुरूपता अथवा हास्यास्पद कार्य द्वारा पीड़ाहीन अथवा दुःखरहित हास्यपूर्ण प्रसार ही अरस्तू के सिद्धान्तो की विशेषता है। अफलातूँ ने भी सुखान्तकी के लिए हास्यास्पद कार्यों की पीड़ाहीनता-विषयक नियम बनाया था, परन्तु उनकी धारणा यह थी कि जिस व्यक्ति को हास्यास्पद प्रदर्शित किया जाय उसमें इतनी शारीरिक शक्ति न होनी चाहिए जिससे वह प्रतिशोध लेने के लिए उत्साहित हो जाय। परन्तु इस सम्बन्ध में

१. देखिए—'काव्य की परख'

अरस्तू की आलोचनात्मक दृष्टि अधिक पैनी थी। उनका विचार था कि कुछ व्यक्तियों की शारीरिक कुरूपताएँ ऐसी भी हो सकती हैं जिन पर हँसना असम्भव हो सकता है, और वे उस व्यक्ति के लिए भी अत्यन्त पीड़ाकारक और दुःखपूर्ण हो सकती है, और श्रेष्ठ सुखान्तकी को इतना सहारा न लेकर केवल उन मानवी कमजोरियों अथवा मूर्खतापूर्ण कार्यों का प्रदर्शन करना चाहिए जिनकी निरर्थकता, असंगति तथा अनौचित्य प्रमाणित हो जाय और दर्शकों को बिना पीड़ा का अनुभव हुए उस उपहासास्पद कार्य को देखकर बरबस हँसी आ जाय।

इस विवेचन से यह प्रमाणित है कि अरस्तू ने सुखान्तकी की परिभाषा बनाते समय वैज्ञानिक कमजोरी अथवा मूर्खताओं का ध्यान न रखकर मनुष्य की स्थायी और नैसर्गिक कमज़ोरियों और बुराइयों को ध्यान में रखा। प्राचीन तथा तत्कालीन व्यंग्य-काव्य[1] की उन्होंने भर्त्सना की, क्योंकि इसके द्वारा द्वेष का प्रसार होता और व्यक्तिगत मनमुटाव बढ़ता; और इस प्रकार का ध्येय किसी भी श्रेष्ठ साहित्यकार का न होगा और न होना चाहिए, क्योंकि श्रेष्ठ कला केवल सार्वत्रिक सत्य का ही निरूपण करती है। अरस्तू ने सुखान्तकी की वस्तु में सम्भाविकता तथा सामंजस्य के गुण और चरित्र-चित्रण एवं प्रभाव के सम्बन्ध में दुःखान्तकी के ही नियम लागू किये। जिस प्रकार दुःखान्तकी भय और करुणा के प्रसार से अनेक मानवी भावों का परिमार्जन करती है उसी प्रकार श्रेष्ठ सुखान्तकी भी क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष समान भावों को परिमार्जित करके उनकी उतनी ही मात्रा चरित्र में बनाये रखेगी जो संसारी जीवन को सफल बनाने में सहायक होगी। इन नियमों का विस्तृत विवेचन हमें अरस्तू की पुस्तक में नहीं मिलता। कदाचित् जिस पुस्तक में उन्होंने इस विषय का प्रतिपादन किया वह अप्राप्य है और हमें उनकी प्राप्त पुस्तकों[2] के स्फुट वक्तव्यों के सहारे ही कुछ नियमों की सम्भावित रूपरेखा बनानी पड़ी है।

आलोचना-प्रणाली का वर्गीकरण

अरस्तू की आलोचना-प्रणाली तथा उसके तत्त्वों का अनुसन्धान भी यहाँ अपेक्षित होगा। अपनी पुस्तक के अन्तिम भाग में तत्कालीन तथा प्राचीन साहित्यकारों और आलोचकों के सिद्धान्तों की समीक्षा देते हुए उन्होंने प्रचलित सिद्धान्तों का वैज्ञानिक विश्लेषण दिया और उनकी

१. देखिए—'काव्य की परख'
२. 'पोयेटिक्स'

त्रुटियों और न्यूनताओं को प्रकाशित किया। यह कार्य अफलातूँ ने भी किया था और उन्होंने ऐसे अनेक आलोचकों की, जो बिना समझे-बूझे आलोचना लिखने लगे थे, बहुत निन्दा की और उनके निर्णय को असाहित्यिक, निकृष्ट और निरर्थक प्रमाणित किया। अब अरस्तू की बारी आई। उन्होंने जिन-जिन आधारों पर आलोचक आलोचना करते थे उनको वर्गों में बाँटा और तदुपरान्त सब वर्गों की आलोचना का समुचित उत्तर भी दिया और उनकी न्यूनता स्पष्ट की।

शाब्दिक आलोचना-प्रणाली का प्रतिकार तथा वैज्ञानिक आलोचना-प्रणाली का जन्म

उस समय की सबसे अधिक प्रचलित और लोकप्रिय आलोचना-प्रणाली को हम शाब्दिक आलोचना-प्रणाली कह सकते हैं। इसी के आधार पर पहले के यूनानी आलोचक दुःखान्तक नाटककारों की कृतियों मे प्रयुक्त अपरिचित शब्दों की हँसी उड़ाया करते थे और उन्हें शिष्ट-सम्मत न होने के कारण निरर्थक प्रमाणित करते थे। कुछ दूसरे आलोचक इधर-उधर के छन्द-दोष और यति-भंग के उदाहरणों के बल पर अपनी आलोचना लिखा करते थे। अरस्तू ने इन दोनों प्रकार के आलोचकों का विरोध किया और अपने पक्ष के समर्थन में यह कहा कि श्रेष्ठ कलाकारों को इस प्रकार के नवीन प्रयोगों तथा नियम-भंग करने का सहज अधिकार प्राप्त है। इसके द्वारा वे काव्य अथवा छन्द को किसी-न-किसी रूप में आकर्षक बनाने का प्रयत्न करते हैं और छोटे-मोटे आलोचक इस प्रकार की त्रुटियों को दिखलाकर अपना अज्ञान ही प्रदर्शित करते हैं।

इसके साथ-साथ कुछ ऐसे आलोचक भी थे जो छछूँदर के समान साहित्य-क्षेत्र में विचरते थे और उनका उद्देश्य, इधर-उधर की चरित्र-चित्रण-सम्बन्धी असंगति, संवाद का अनौचित्य तथा विरोधाभासयुक्त शब्दों अथवा वाक्यांशों को इकट्ठा करके उनकी असाहित्यिकता का प्रकाश करना था। परन्तु वास्तविक बात यह थी कि ये आलोचक यूनानी भाषा के पण्डित न होने के कारण उसका ठीक अर्थ न लगा पाते थे और अर्थ का अनर्थ कर बैठते थे; वे रूपक को साधारण पद समझ लेते, मुहावरों को कहावतें समझते और कहावतों को मुहावरे। उनकी अधिकांश आलोचना इसी तरह की होती थी। संक्षेप में लेखक की भाषा तथा उसके प्रयोग में दोष न रहकर आलोचक के मस्तिष्क में ही दोष स्थित रहता था।

वस्तुतः ऐसा होता था कि इस वर्ग के आलोचक कुछ ऐसे निरर्थक

और तत्त्वहीन निष्कर्ष निकालकर उस पर आक्षेप करने लगते थे कि जिनका मूलतः काव्य से कोई सम्बन्ध ही न होता था। और जब उनके साहित्यिक निष्कर्ष और कलाकार की कल्पना में सामञ्जस्य न दिखाई देता तो ये आलोचक बौखला उठते। इस वर्ग के आलोचकों को सत्साहित्य का मार्ग निर्देशित करते हुए अरस्तू ने बतलाया कि शब्दों के प्रयोग का औचित्य अथवा अनौचित्य, कवियों द्वारा स्थापित शब्द-प्रयोग-परम्परा; शब्द की व्यक्तिगत रूढ़ि, आलंकारिक प्रयोग तथा विराम चिह्न से सम्बन्धित प्रयोग—सभी पर ध्यान देकर निश्चित करना चाहिए। इसी प्रकार की आलोचना-शैली से अरस्तू ने आलोचकों की आँखें खोल दीं और एक नवीन आलोचनात्मक कला से साहित्य के हृदय में प्रवेश पाने का प्रयास पहले-पहल किया।

उपरोक्त शाब्दिक आलोचना-प्रणाली के साथ-साथ उस समय के आलोचक काव्य अथवा नाटक की कथा-वस्तु के ऊपर ही अपनी समस्त आलोचन-कला प्रयुक्त करते थे और उसी के छिद्रान्वेषण में लगे रहते थे: मानो कथा-वस्तु छोड़कर और कोई अंग महत्त्वपूर्ण ही न हो। कभी तो वे कथा-वस्तु को तर्क की कसौटी पर कसकर उसे असंगत प्रमाणित करते; कभी उसको अनैतिक अथवा असत्य बतलाते; और कभी सर्व-सम्मत नियमों के प्रतिकूल ठहराते। इस प्रकार की आलोचना अधिकतर वे ही व्यक्ति लिखते थे जिनमें न तो काव्य को परखने की शक्ति होती और न काव्यात्मक सत्यों की पहचान; और उनके सभी साहित्यिक निर्णय या तो असाहित्यिक होते या तथ्यहीन। ये आलोचक विशेषतः यह कहा करते कि अमुक घटना अथवा अमुक पात्र यथार्थ रूप में प्रस्तुत नहीं; न तो समाज में ऐसी घटना ही घटती है और न ऐसे व्यक्ति ही दिखलाई देते हैं। अरस्तू ने इस प्रकार की आलोचना की हीनता प्रदर्शित करते हुए यथार्थ और कल्पनात्मक घटनाओं तथा पात्रों को वर्गों में बाँटा। पहला वर्ग तो ऐसी घटनाओं और ऐसे पात्रों का था जो असम्भाविक अथवा आदर्श रूप थे और उनकी गणना साधारण तथा अनुभवात्मक सत्यों के बाहर ही हो सकती थी। यथार्थ को पीछे छोड़ता हुआ पात्र अथवा दैवी घटना जब कल्पनात्मक स्तर छूने लगती है तो उसमें काव्य की आत्मा का विकास होने लगता है। काव्य अनुकरणात्मक अवश्य है, परन्तु अनुकरण केवल अनुभवगम्य अथवा प्रयोग-सिद्ध वस्तुओं, विचारों तथा घटनाओं का ही नहीं होता। अनुकरण, अनुभव के परे, कल्पनातीत तथा ऐसे महान् सत्यों का भी हो सकता है जो हम दिन-प्रतिदिन न तो देखते हैं और न अनुभव करते हैं। ये घटनाएँ अथवा विचार अथवा पात्र मानव

के उन आदर्शों के प्रतीक-मात्र हैं जो उसे ललचाते रहते हैं और जिनको देखने अथवा समझने की उसमें अतृप्त ललक रहा करती है। काव्य इनको पास लाने का प्रयत्न करता है। काव्य द्वारा हमे उनकी कम-से-कम छाया तो दिखाई दे जाती है। यद्यपि ये घटनाएँ, पात्र तथा विचार यथार्थ से दूर हैं फिर भी ये हमारे कल्पना-जगत् की महान् निधियाँ हैं और काव्य की प्राण-स्वरूप हैं। दूसरे वर्ग की घटनाओं में उन वृत्तान्तो अथवा वर्णनों के कुछ स्फुट अंगों की गणना थी जो साधारणतः न तो तर्क की दृष्टि से ठीक होते और न यथार्थ की ही परिधि में आते। अरस्तू ने इतिहास का सहारा लेते हुए इस प्रकार के प्रयोगों को क्षम्य प्रमाणित किया। उन्होने सिद्धान्त-रूप में यह बतलाया कि जब पिछले काल में कोई ऐसी घटना घट चुकी है अथवा किसी वस्तु-विशेष का प्रयोग हो चुका है तो उसके काव्यात्मक प्रयोग मे कोई हानि नहीं। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन मे उन्होंने आगामी काल की ऐतिहासिक आलोचना-प्रणाली का भी संकेत दिया। तीसरे वर्ग मे उन लोक-गाथाओ तथा देवी-देवता-विषयक पौराणिक कथाओ की गणना थी जिन्हे तत्कालीन आलोचक साहित्य के उपयुक्त नहीं समझते थे, क्योंकि उनमे असंभाविकता की मात्रा बहुत बढी-चढी रहती थी। अरस्तू ने इस प्रकार की कथाओं का भी समर्थन अपने अनुकरणात्मक सिद्धान्त के आधार पर किया। उनका विचार था कि ये पौराणिक कथाएँ न तो यथार्थ रूप मे हैं और न किसी महान् सत्य का ही प्रतिपादन करती हैं, परन्तु फिर भी ये देश के रूढिगत विश्वासों के अन्तर्गत ही पोषित होती हैं और ये उन भावनाओ और विश्वासों का प्रतिरूप हैं जो मनुष्य अपने कल्पना-संसार में सतत बसाए रखता है। असंगत घटनाओं तथा उनके द्वारा असम्भाविक कार्यों की पूर्ति की कटु आलोचना का प्रत्युत्तर देते हुए अरस्तू ने उनका समर्थन इसलिए किया कि काव्य में चमत्कार उन्हीं के कारण सम्भव था। असम्भाविक कार्यों की पूर्ति से काव्य में वह चमत्कार आ जाता है जो हमको गहरे रूप में प्रभावित करता है। उसके द्वारा सौन्दर्यानुभूति बढ जाती है और महाकाव्य में तो यह अत्यन्त वाञ्छनीय है। संक्षेप में, अरस्तू ने आलोचकों का विरोध अपने विशिष्ट अनुकरणात्मक सिद्धान्त के आधार पर ही किया और उनकी साहित्यिक तथा आलोचनात्मक न्यूनताओ को स्पष्ट किया।

काव्य तथा नैतिकता

आलोचकों द्वारा, काव्य के अनैतिक अंशों के विरोध में दिये गए वक्तव्यों की मीमांसा भी अरस्तू ने बहुत स्पष्ट रूप में की। अपने सिद्धान्तों के समर्थन

मे आलोचकों ने काव्य में छिपे-छिपाए बहुत से ऐसे अंशो को प्रकाशित किया जो नैतिक दृष्टि से गिरे हुए थे और जिनके द्वारा समाज में अनैतिकता फैल सकती थी। साधारणतः अरस्तू यह मानते थे कि काव्य द्वारा नैतिकता और शिक्षा का प्रसार होना तो चाहिए परन्तु अव्यक्त रूप मे; और इस सिद्धान्त की विवेचना हम पहले कर चुके हैं। उन्होंने ऐसे आलोचकों का विरोध किया जो महाकाव्य मे इधर-उधर उल्लिखित और अत्यन्त गौण रूप में प्रस्तुत अनैतिक स्थलो को प्रकाशित करके बिना उनका मनोवैज्ञानिक महत्त्व समझे-बूझे उन पर टीका-टिप्पणी शुरू कर देते थे। ये अनैतिक स्थल यदि अपने सम्पूर्ण सन्दर्भ में प्रस्तुत होते तो उनकी उपयोगिता समझ मे आ जाती; परन्तु अपने सन्दर्भ से हटकर वे निरर्थक ही प्रतीत होते। अरस्तू के विचार में साहित्य के किसी भी अंश को सन्दर्भ से अलग करके नही परखना चाहिए। इसमे दोष है। जब तक सम्पूर्ण कथा-वस्तु पर व्यापक दृष्टि न डाली जायगी तब तक सब अंशो की उपयोगिता और अनुपयोगिता का निर्णय नही हो सकेगा। हो सकता है कि सन्दर्भ यह प्रमाणित करे कि किसी अनैतिक अंश का प्रयोग विरोधाभास द्वारा नैतिकता के प्रसार के लिए हुआ हो, अथवा किसी दुष्ट पात्र का कार्य किसी सुपात्र की साधुता को गहरे रूप मे व्यक्त करने के लिए किया गया हो। कोई छोटा-मोटा बुरा कार्य इसलिए भी कराया जा सकता है कि उसके करने के बाद किसी दूसरे घोर पाप-कृत्य से पात्र बच जाय; मनुष्य की हत्या की अपेक्षा पक्षी की हत्या तो कम ही बुरा कार्य होगा। फिर बिना किसी दुष्ट पात्र अथवा दूषित कार्य के दुःखान्तकी मे आपत्काल[1] का उत्थान असम्भव ही होगा; न तो अच्छे को अच्छाई स्पष्ट हो पायगी और न नैतिकता का प्रसार ही ग्राह्य-रूप में हो सकेगा। नैतिकता के प्रसार के लिए अनैतिक स्थल आवश्यक है और आलोचक की व्यापक दृष्टि इस तथ्य को सहज ही हृदयंगम कर लेगी।

काव्य तथा अनियमित प्रयोग

काव्य में नियम के प्रतिकूल प्रयोगो की समीक्षा करते हुए अरस्तू ने बतलाया कि वे प्रयोग यदि कहीं हुए भी है तो क्षम्य हैं—अधिकांश रूप में तो ऐसे प्रयोग हुए ही नही और अगर कहीं एक-दो प्रयोग हो भी गए तो कला की दृष्टि से वे अनुचित होते हुए भी इसलिए क्षम्य हैं कि कलाकार यदि कही किसी उपमा अथवा अन्यान्य क्षेत्रों (जैसे चिकित्सा-शास्त्र अथवा विज्ञान) से लिये हुए वर्णनो मे गलती कर बैठे

१. देखिए—'नाटक की परख'

तो इस त्रुटि का प्रभाव सम्पूर्ण काव्य पर नहीं पड़ता। कलाकार का यह अधिकार भी है। और फिर प्रत्येक क्षेत्र के नियम अलग-अलग होते हैं और वे एक-दूसरे पर लागू नहीं हो सकते। काव्य यदि किसी क्षेत्र से कोई उपमा लेगा तो उसे अपना आवरण पहनायगा, उसमें काट-छाँट करेगा और कभी-कभी तो बिलकुल नया रूप देकर ही उसे अपना सकेगा। इस तथ्य को समझ-कर ही अन्य क्षेत्रों से आई हुई उपमाओं को समझना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि—

'भुवन चारि दस भूधर भारी—सुकृत-मेघ बरसहिं सुखबारी।'

अथवा

'मुदित मातु सब सखी-सहेली—फलित-विलोकि मनोरथ बेली।'

को पढ़कर यदि कोई भूगोल-विद्या-विशारद तथा वनस्पति-शास्त्र-विशारद क्रमशः यह कह बैठे कि भूधर तो ऊँचाई का संकेत देते हैं और भुवन विस्तार का और मेघों से पहाड़ों पर तो ओले ही गिरते है 'सुख-बारी' नहीं तथा मेघ काले होते हैं और उनसे गर्जन सुन पड़ता है इसलिए भय की व्युत्पत्ति अधिक होनी चाहिए सन्तोष की कम; और बेल जब फूलती है तो उसकी टहनियाँ और भी ऐंठती हुई बढ़ती जाती हैं इसलिए आँखों पर उनके फूलने का प्रभाव कम और उनकी ऐंठन का प्रभाव अधिक होना चाहिए, अरस्तू की दृष्टि में केवल वितण्डावाद ही होता। काव्य अन्य क्षेत्रों के स्वर अपने निजी स्वरों के माध्यम से ही व्यक्त करेगा।

निर्णयात्मक आलोचना-शैली की प्रगति

अरस्तू ने निर्णयात्मक आलोचना-शैली का आकार भी स्थिर किया और तत्कालीन आलोचकों के सिद्धान्तों की मीमांसा करते हुए अनेक श्रेष्ठ नियम भी ढूँढ निकाले। शाब्दिक आलोचना-प्रणाली तथा नैतिक तथा यथार्थ नियमों को व्यवहृत करने वाली आलोचना-प्रणाली की न्यूनता उन्होंने सिद्ध की और यह अकाट्य रूप में प्रमाणित किया कि कला शब्द, नियम, यथार्थ सबके ऊपर निर्भर न रहकर कुछ दूसरे सौन्दर्यात्मक तथा कलात्मक गुणों पर आधारित रहती है और इन्हीं गुणों के आधार पर कला की आलोचना भी होनी चाहिए। कला का संसार पार्थिव और यथार्थ के नियमों द्वारा परिचालित नहीं, वह परिचालित है कुछ अन्य अनुभवात्मक तथा दैवी अथवा अमूर्त सिद्धान्तों से जिनके उद्गम-स्थान हैं मानव का हृदय और शाश्वत सत्य। इन्हीं कलात्मक तत्त्वों के स्पष्टीकरण में अरस्तू की मौलिकता है और शाब्दिक, नैतिक, यथार्थवादी तथा नियम-

४

: १ :

भाषण-शास्त्र तथा गद्य-शैली का विकास

चौथी शती के दो महान् आलोचकों तथा उनके द्वारा प्रस्तावित काव्य, नाटक और आलोचना-सिद्धान्तों की समीक्षा हमने पिछले प्रकरण में की और उसके महत्त्व पर प्रकाश डाला। परन्तु इस शती का महत्त्व कुछ और कारणों से भी है, जिनमें प्रमुख है भाषण-शास्त्र का विकास, जो आगामी काल में गद्य-शैली को बनाने और सँवारने में उपयोगी सिद्ध हुआ। काव्य के साथ-ही-साथ भाषण-कला पर भी कुछ-एक आलोचक अपने विचार प्रकट करते गए, परन्तु उनकी कोई शृङ्खलाबद्ध प्रणाली नहीं मिलती, क्योंकि उनकी अनेक पुस्तकें अप्राप्य हैं और हमें स्फुट वक्तव्यों के आधार पर ही भाषण-शास्त्र की रूपरेखा बनानी पड़ेगी।

यूनानी साहित्य में भी चौथी शती का अन्त होते-होते कुछ नवीन प्रवृत्तियाँ दिखलाई पड़ने लगीं। इस काल में यूनान की राजनीतिक अवस्था में भी परिवर्तन हो रहा था, क्योंकि देश में कुछ तो लड़ाइयों के कारण और कुछ आन्तरिक अशान्ति के फलस्वरूप कल्पनात्मक साहित्य—काव्य तथा नाटक—का स्रोत सूखने-सा लगा। जनता की भी सुरुचि इस ओर न रही; कल्पना-जगत् की रंगरलियाँ तो उसी समय रुचिकर होतीं जब देश में सब प्रकार से शान्ति होती और साहित्यकारों, राजनीतिज्ञों तथा साहित्य में रुचि रखने वालों के सम्मुख नई-नई समस्याएँ ला रखीं। इनमें सबसे प्रमुख समस्या थी, राजनीति-क्षेत्र में जनता को वश में रखना। यूनानी नेता अपनी वाणी के बल पर ही जनता को वश में रखकर उनसे मनोनुकूल कार्य करा सकते थे, युद्ध में सहयोग पा सकते थे और देश की उन्नति करा सकते थे। जहाँ जनतन्त्र हो वहाँ पर तो वाक्-शक्ति ही व्यक्ति-विशेष को नेता के पद पर आसीन कर सकती थी। कला, कला-निकेतन, रंगमंच तथा नाट्य-प्रदर्शन की ओर से जनता का मन फिरकर भाषण-शास्त्र के अध्ययन की ओर लगा,

नेता-वर्ग भाषण के तत्त्वों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगा और धीरे-धीरे भाषण-कला तथा शास्त्र का विकास हो चला।

यद्यपि अफलातूँ ने इस विषय पर भी अपने विचार प्रकट किये थे और तत्कालीन वागीशो की दूषित शैली की कड़ी आलोचना की थी परन्तु उसके विचारो के आधार पर नवीन नियम न बन पाये और जो कुछ भी अनुसन्धान सम्भव हुआ अफलातूँ के विवेचन के बाद आगे न बढ पाया। अफलातूँ की दृष्टि में भाषण-कला का कोई महत्त्व न था; वह एक प्रकार की शाब्दिक विडम्बना ही थी जो जनता को भ्रम में डाल सकती थी और चाटुकारिता को प्रोत्साहन देती थी। परन्तु अन्य विचारकों की दृष्टि मे भाषण-शास्त्र महत्त्वपूर्ण विषय था और उसका अध्ययन और अभ्यास सभी यूनानी नागरिको के लिए वाञ्छनीय ही नहीं अत्यन्त उपयोगी भी था। जहाँ अफलातूँ ने इस विषय का अध्ययन अपने आदर्श शासन-विधान और आदर्श जनतन्त्र में वर्जित कर दिया था वहाँ यूनान के दो प्रसिद्ध विचारको—आइसाक्रेटीज तथा अरस्तू ने बालकों के शिक्षा-विधान में इसे अनिवार्य स्थान दिया और शिक्षको के लिए भी इसका अध्ययन और अभ्यास आवश्यक समझा। दोनो विचारको ने इस शास्त्र को प्रायोगिक रूप देने के लिए अनेक नियम बनाए और आधुनिक गद्य-शैली की नींव डाली।

भाषण-कला-शिक्षा

आइसाक्रेटीज अफलातूँ तथा अरस्तू के समकालीन थे और उन्होंने ३९२ पूर्व ईसा भाषण शास्त्र की शिक्षा के लिए एक विद्यालय खोला और चालीस वर्ष तक उनकी शिक्षण-कला और उनके विद्यालय की समस्त यूनान में प्रसिद्धि रही। वह स्वयं भी बहुत प्रभावशाली व्यक्ति थे, परन्तु अरस्तू उनकी शिक्षण-प्रणाली से सहमत न हुए और उन्होंने कुछ ही दिनों बाद अपनी नवीन पद्धति के शिक्षण के लिए दूसरा विद्यालय खोला। अरस्तू के विरोध का कारण यह था कि अपनी शिक्षण-प्रणाली में आइसाक्रेटीज केवल शब्द तथा वाक्य-विन्यास और उनके क्रमागत विकास पर ही जोर डालते थे और अरस्तू यह चाहते थे कि भाषण-शास्त्र की शिक्षा वैज्ञानिक रूप में तथा व्यापक ढंग से हो।

भाषण-कला की विवेचना

आइसाक्रेटीज की प्रायः सभी पुस्तकें अप्राप्य हैं और उनके स्फुट वक्तव्यों के आधार पर ही उनके सिद्धान्तों की रूपरेखा बनाई जा सकती है। आलोचना पर भी उनकी कोई पुस्तक-विशेष नहीं, परन्तु उन्होंने साम-

यिक प्रश्नों का उत्तर देते हुए कुछ पत्रों का संकलन प्रकाशित किया और उन्हीं पत्रों में लिखने-पढ़ने तथा भाषण-कला-विषयक आदेश थे जो लेखक के मित्रवर्ग अथवा मित्रों की सन्तानों को शिक्षित बनाने के उद्देश्य से लिखे गए थे। ये पत्र इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं कि रोमीय आलोचकों ने भी इस प्रणाली को अपनाया और अनेक अंग्रेजी लेखकों ने भी इसका अनुकरण आगामी काल में किया। अपनी शिक्षण-प्रणाली तथा भाषण-कला के मूल तत्त्वों का संकेत उन्होंने अपने ऊपर आक्षेपों के उत्तर में दिया। भाषण-शास्त्र पर, यों तो यूनानी तर्क-वेत्ताओं ने ही पहले-पहल ध्यान दिया था और वे जनता को तर्क-रूप मे समझा-बुझाकर उन पर मताधिकार-प्राप्ति इस शास्त्र का लक्ष्य समझते थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे कुछ बने-बनाए शब्दों का प्रयोग करते, शब्दो का चक्र-व्यूह बनाते और कुछ ऐसी नियमित भाषा का प्रयोग करते कि श्रोतावर्ग असली तथ्य को न समझकर उनके पक्ष मे हो जाता। ये प्रयोग मुख्यतः विवाद तथा पौराणिक कथा-क्षेत्र मे होते और दोनो पक्षों के, वादी-प्रतिवादी, न्यायालय में खड़े हुए मालूम होते। आइसाक्रेटीज ने इस प्रणाली को ठीक न समझा और उन्होंने भाषण-शास्त्र को दर्शन के स्तर पर लाने का प्रयास किया। उनका विचार था कि केवल सफल भाषण तैयार करके वाद-विवाद मे प्रतिद्वन्द्वी को पछाड़ देना भाषण-कला का श्रेष्ठ प्रयोग नही। इसका सफल और श्रेष्ठ प्रयोग सभ्य नागरिक बनाने तथा सांस्कृतिक विषयों पर भाषण देने और लेख लिखने की क्षमता प्रदान करने मे ही होना चाहिए था।

इन्हीं विचारों के आधार पर उन्होने अपनी प्रणाली-विशेष बनाई और सफल नागरिक-शिक्षण में भाषण-क्षमता, लेख लिखने की क्षमता, संवाद-क्षमता तथा सौष्ठवपूर्ण शैली मे भावो तथा विचारों के आदान-प्रदान की क्षमता, सबका समुचित ध्यान रखा।

उस काल में प्रचलित भाषण-शास्त्र के नियमो में शाब्दिक विरोधाभास, महत्त्वहीन विषय, श्रेष्ठ सांस्कृतिक विषयो की अवहेलना इत्यादि की आलोचना करते हुए उन्होंने बतलाया कि दो-चार नियमो को कण्ठाग्र कर लेने से ही कोई श्रेष्ठ वागीश नही बन सकता। वक्तृत्व एक व्यापक कला है; और उस कला मे अनेक अव्यक्त तत्त्व हैं जिनको बिना पूर्णरूप से समझे हुए और बिना अभ्यास के कोई सफल तथा श्रेष्ठ वक्ता नही बन सकता। हाँ, कुछ नियमों का सहारा अवश्य लिया जा सकता है, जैसे उच्चारण तथा अक्षर-विन्यास के नियम आवश्यक होगे।

भाषण-शास्त्र का महत्त्व

अब हमें आइसाक्रेटीज द्वारा निर्मित वाग्शास्त्र के तत्त्वों और उनके प्रयोगों का विवरण देना शेष है। पहले-पहल तो उन्होंने भाषण-शास्त्र के मानवी, राष्ट्रीय, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक महत्त्व को स्पष्ट रूप में व्यक्त किया, तत्पश्चात् शिक्षण-विषयक नियम बनाए और अन्त में कलापूर्ण गद्य-शैली के तत्त्व गिनाए। ईश्वरीय वरदानों में वाणी अथवा वाक्-शक्ति का वरदान सबसे श्रेष्ठ है जिसके आधार पर सभ्यता और संस्कृति फूली-फली, और मानव मानव के नाम से विभूषित हुआ। इसकी ही कृपा से नगर बने, समाज सुसंगठित हुआ, कला का विकास हुआ और नीति तथा न्याय की नींव पड़ी। इसी के द्वारा मनुष्य कार्यरत हुआ, विचारशील बना और ज्ञान-विज्ञान का पारखी हुआ। इसी के कारण दोष और पाप का निवारण हुआ और गुण और पुण्य की महत्ता घोषित हुई, विवादग्रस्त विषय सुलझे और विद्या तथा विद्वानो को प्रभुत्व मिला। कार्य-क्षेत्र मे इसने ही, अपनी अद्वितीय कला से, भूली-भुलाई चीजों को महत्त्वपूर्ण बनाया और अन्य साधारण विषयो को श्रेष्ठता प्रदान की तथा अनेक गर्वोक्तियों की हीनता प्रकट की। सामाजिक क्षेत्र में ही नहीं वरन् वैयक्तिक क्षेत्र में भी इसकी महत्ता प्रमाणित है; यह आत्मिक श्रेष्ठता पाने और मानसिक शक्ति तथा चारित्रिक विकास का सहज साधन है। संक्षेप मे भाषण कला की सर्वव्यापी महत्ता प्रमाणित है। यद्यपि अत्यन्त प्राचीन काल मे उपरोक्त धारणाएँ प्रचलित थीं और काव्य, वक्तृत्व तथा दर्शन के क्षेत्र मे प्रगति के आधार पर ही समाज और सभ्यता की श्रेष्ठता मानी जाती थी, परन्तु इन विचारो का व्यापक और गहरा प्रभाव तथा प्रसार आइसाक्रेटीज के शिक्षण द्वारा ही विशेष रूप से सम्भव हुआ।

भाषण-कला के तत्त्व—अनुकरण

शिक्षण-विषयक नियमों की समीक्षा प्रस्तुत करते हुए उन्होंने यह स्पष्टतः कहा कि भाषण-कला किसी नियम-विशेष अथवा युक्ति पर निर्भर नहीं; यह भी एक कला-विशेष है जिसमे अभ्यस्त होने के लिए नैसर्गिक सुबुद्धि तथा कला-ज्ञान और सतत अभ्यास की आवश्यकता पड़ेगी। इसका सबसे सरल साधन है अनुकरण। विद्यार्थी को श्रेष्ठ वागीशों के भाषण तथा रचनाओं का समुचित अध्ययन करके उनका अनुकरण करना चाहिए। धीरे-धीरे अभ्यास द्वारा वक्तृता के सभी गुण, प्रायोगिक रूप में, उन्हे समझ मे आ जायँगे।

गद्य-शैली का विवेचन

कदाचित् कलापूर्ण गद्य-शैली का विश्लेषण आइसाक्रेटीज ने अत्यन्त वैज्ञानिक रूप में किया। भाषण और लेख लिखने की कला को वह काव्य-कला के समकक्ष ही रखते हैं, क्योंकि उनके विचार से तीनों के उद्देश्य में भी ऐक्य है। तीनों का एक ही लक्ष्य है—आनन्द का प्रसार। श्रेष्ठ गद्य-शैली कल्पनापूर्ण, विभिन्नतापूर्ण तथा श्रेष्ठता लिये हुए मौलिक और गौरवपूर्ण होनी चाहिए, परन्तु यह तभी सम्भव है जब लेखकवर्ग अभ्यास और परिश्रम करने से न हटे। उन्होंने काव्य के वर्गीकरण को ध्यान मे रखकर गद्य को भी ऐसे तीन वर्गों मे बाँटा जो काव्यालोचन, इतिहास तथा सम्वाद में प्रयुक्त हो सके।

गद्य-शैली के अन्य तत्त्व—'विषय', 'औचित्य'

श्रेष्ठ गद्य-रचना का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है विषय। लेखक अथवा वक्ता को गौरवित विषय ही चुनने चाहिएँ और छोटे-मोटे विषयों को इधर-उधर सजाने-सँवारने मे समय नहीं गँवाना चाहिए। यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि विषय मौलिक हों, विचार उन्नत हों और यदि विषय पुराना भी हो तो दृष्टिकोण अवश्य नवीन हो। इसके साथ-साथ औचित्य का ध्यान भी आवश्यक है; अवसर तथा विषय के अनुकूल ही उचित भाषण अथवा लेख होना चाहिए, अनर्गल भाषण तथा विषयान्तरित लेख निरर्थक ही होंगे। औचित्य का ध्यान अनेक युक्तियों के प्रयोग मे भी वाञ्छनीय है और अपने भाषण अथवा लेख को प्रभावपूर्ण बनाने के उद्देश्य में किसी प्रकार का भी सीमोल्लंघन, जैसा साधारणतः हो जाता है, नहीं होना चाहिए।

शब्द-प्रयोग

शब्द-चयन तथा वाक्य-विन्यास में भी लेखक तथा वक्ता को सतर्क रहना चाहिए। अपरिचित और नये शब्दों का प्रयोग किसी भी रूप में उचित नहीं; आलंकारिक, सुन्दर, परिचित तथा अकृत्रिम, सहज और सरल शब्दावली का प्रयोग वाञ्छनीय है। गद्य तथा लेख में लय तथा गति का ध्यान भी बहुत आवश्यक है और इस नियम के अन्तर्गत स्वर तथा व्यंजन पर दृष्टि लगी रहनी चाहिए, क्योंकि स्वरों में जहाँ विरोध हुआ कर्कशता आ जायगी और गति-भंग भी होगा जिसके कारण सामंजस्य भी बिगड़ जायगा। साधारणतः यह देखा जाता है कि जिस पदांश से पंक्ति शुरू होती है उसी पर अन्त भी

हो जाती है। और कुछ अव्यय भी साथ-साथ दुहराये जाते हैं जिनके कारण भी पंक्ति से कर्कष ध्वनि निकलने लगती है। इस सम्बन्ध मे भी सावधान रहना चाहिए। यदि लेखक केवल नियमों का ध्यान रखकर गद्य लिखने की चेष्टा करेगा तो लेख नीरस होगा; यदि उसमें मात्रिक छन्दों का आभास मिलने लगेगा तो कृत्रिमता आ जायगी। श्रेष्ठ गद्य में अनेक विभिन्न लयों का सौष्ठवपूर्ण सामंजस्य होना चाहिए; आदि से अन्त तक उतार-चढाव, अथवा आरोह-अवरोह की भावना प्रदर्शित होती रहनी चाहिए।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आइसाक्रेटीज गद्य-शैली के श्रेष्ठ ज्ञाता थे और उनकी शिक्षण-पद्धति भी वैज्ञानिक थी। उन्होंने ही पहले-पहल भाषण के चार अंगो—प्राक्कथन, वर्णन, प्रमाण तथा उपसहार—का सिद्धान्त स्थिर किया और आगामी काल के लेखको तथा अरस्तू ने भी इन्हीं को आधारस्वरूप मानकर दार्शनिक रूप मे गद्य-शैली का विवेचन किया। उन्होने भाषण करने की कला को सुचारु तथा वैज्ञानिक रूप दिया; प्रचलित दोषों का संशोधन किया और शिक्षण-प्रणाली को सुधारा ही नहीं वरन् नवीन रूप भी दिया। उन्हीं के सिद्धान्तों और आदेशों को मानकर आगामी काल की गद्य-शैली विकसित हुई। आइसाक्रेटीज ही आधुनिक गद्य-शैली के प्रथम निर्माता हैं।

भाषण-कला का नव-विकास

भाषण-शास्त्र तथा गद्य-शैली के विषय में अरस्तू के सिद्धान्त भी अध्ययन योग्य हैं। अरस्तू द्वारा विषय-निरूपण आइसाक्रेटीज की अपेक्षा कहीं अधिक तर्कयुक्त, गठा हुआ, व्यापक तथा रोचक है। जैसा कि हम पहले संकेत कर चुके हैं अरस्तू ने अपने नियम आइसाक्रेटीज की शिक्षण-प्रणाली के विरोध में बनाए और भाषण-शास्त्र की शिक्षा देने के लिए अपना अलग विद्यालय खोला। कदाचित् अरस्तू को अफलातूँ के विरोध का भी ध्यान रहा होगा, क्योंकि अफलातूँ ने भाषण शास्त्र को निन्दनीय कहकर उसकी भर्त्सना की थी और उनके विचारानुसार भाषण-कला जनता को भुलावे में डालने का शाब्दिक षड्यन्त्र-मात्र थी। इन्हीं कारणों से प्रेरित होकर अरस्तू ने भाषण-कला का वैज्ञानिक अध्ययन करके कुछ नवीन नियम बनाए और इस शास्त्र-विशेष की उपयोगिता प्रमाणित की।

पहले-पहल अरस्तू ने भाषण-शास्त्र की परिभाषा बनाई और वर्गीकरण-के पश्चात् उसका लक्ष्य निर्धारित किया। भाषण करना भी एक कला है जिसकी गणना तर्क-शास्त्र के अन्तर्गत होनी चाहिए। इसका लक्ष्य जनता का मत-

परिवर्तन और उन पर मताधिकार पाना नहीं बल्कि उन साधनों और युक्तियों का अनुसन्धान है जो मताधिकार पाने में प्रयुक्त होंगे। जिन विभिन्न प्रकार के सामाजिक वर्गों का मताधिकार पाने का प्रयत्न किया जायगा उसी के आधार पर भाषण-शास्त्र का वर्गीकरण होगा। मताधिकार देने वाली जनता अथवा मनुष्य-समाज तीन प्रकार का होगा—पहला न्यायाधीशों और न्यायालयों से सम्बन्धित वर्ग, दूसरा सभासद् वर्ग तथा तीसरा अन्यान्य वर्ग, जो प्रशंसा के इच्छुक होकर अथवा जन-साधारण के प्रतिदिन के कार्यों को छोड़कर किसी अवसर-विशेष पर एकत्र हों। इन्हीं तीन वर्गों के आधार पर भाषण-शास्त्र अपनी रूप-रेखा बदलता रहेगा।

न्यायालय तथा नीति-सम्बन्धी भाषण-शैली सबसे सरल, स्पष्ट, शुद्ध तथा सौष्ठवपूर्ण होनी चाहिए। चूँकि इसका प्रयोग कुछ थोड़े से ही व्यक्तियों अथवा केवल एक ही व्यक्ति के सम्मुख होता है इसलिए भाषण को प्रभावपूर्ण बनाने की अनेक युक्तियाँ तथा भावोत्तेजन के अनेक कौशल इस क्षेत्र मे प्रदर्शित नही होते। बहुत बड़ी संख्या के श्रोतावर्ग अथवा सभासदों के सम्मुख दिये जाने वाले विचारपूर्ण भाषण में ऐसी युक्तियों का प्रयोग होता है जो व्यापक रूप से उन्हे प्रभावित करें। जिस प्रकार चित्रकार कूँची के लम्बे-चौड़े प्रयोग से परदे पर चित्र बना देता है उसी प्रकार इस वर्ग का वक्ता भी अपने उद्देश्य की पूर्ति करेगा। जिस शैली में वक्ता प्रशंसा-प्राप्ति की व्यवस्था बनाए और अवसर-विशेष पर भाषण करे तो उसमें विस्तार आवश्यक होगा और भावों को तीव्र बनाने के भी अवसर मिलेंगे। इसी शैली में राजनीति, इतिहास, दर्शन इत्यादि विषयो का प्रतिपादन आकर्षक रूप में होगा।

भाषण-कला के महत्त्वपूर्ण तत्त्व

भाषण-शास्त्र का प्रधान अंग है विषय। यदि विषय ठोस न होकर ओछा और महत्त्वहीन है और वागीश केवल भावुक रूप से हमारे गर्व, हमारे द्वेष, हमारी ईर्ष्या को उकसाता रहेगा तो उसका आदर्श निकृष्ट होगा और उसकी कला का कोई मूल्य नही होगा। केवल विशुद्ध तर्क से मताधिकार पाने में यह कला प्रयुक्त होनी चाहिए; यथार्थ ही इस कला की आत्मा है; यथार्थ ही इसका अभेद्य कवच है। ठोस विषय के साथ-साथ वक्ता को मनोविज्ञान का भी यथेष्ट ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि बिना मनोविज्ञान को समुचित रूप से समझे न तो तर्क ही आकर्षक रूप में प्रयुक्त हो सकेंगे और न वाञ्छित भावनाओं का प्रसार ही हो सकेगा। परन्तु यह ध्यान रहे कि विषय के ही औचित्य पर सब-कुछ निर्भर नहीं। विषय को पूर्ण रूप से व्यवस्थित

करना भी अत्यन्त आवश्यक होगा और जितने ही आकर्षक और श्रेष्ठ रूप में विषय सुव्यवस्थित रहेगा उतना ही वह प्रभावपूर्ण होगा। अरस्तू के विचारों के अनुसार विषय के केवल दो ही अंग होंगे—पहला होगा वक्तव्य भाग और दूसरा प्रमाण। जिन जिन लोगो ने विषय के अनेक वर्ग बना डाले उन्होंने अनुभव से काम नहीं लिया। हद्-से-हद् जैसा आइसाक्रेटीज ने किया था भाषण के केवल चार भाग—प्राक्कथन, वर्णन, प्रमाण तथा उपसंहार—हो सकते हैं; इससे अधिक नहीं। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि अफलातूँ ने भाषण-कला ही नहीं वरन् समस्त कलाओं के समुचित प्रयोग के लिए मनोविज्ञान का अध्ययन हितकर ही नहीं वरन् अनिवार्य कहा था।

भाषण-शैली का अनुसन्धान

भाषण की शैली पर अरस्तू के नियम विचारणीय हैं। केवल भाषण करना ही कोई बड़ी बात नही और विषय का व्यापक ज्ञान भी अनिवार्य नहीं; जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात है वह है समुचित शैली। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो कवियो ने ही पहले-पहल शैली की ओर ध्यान दिया और उसमें मनोनुकूल सुधार सुझाए। कवियों की महत्ता भी उनकी शैली-विशेष के ही कारण बढी और यह स्वाभाविक ही था कि गद्य-लेखक भी कवियों की शैली से आकर्षित होते और अपनी रचनाओं में भी वही आकर्षण लाने का प्रयत्न करते। परन्तु यह प्रयत्न गद्य-लेखकों के लिए श्रेयस्कर नहीं हो सकता था, क्योंकि कविता तथा गद्य की शैली स्वभावतः भिन्न है और जो गद्य-लेखक कवियों की शैली का अनुकरण करके गद्य-काव्य लिखने का प्रयत्न करते वे केवल अनपढ और अज्ञानियो के ही श्रद्धा के पात्र होते। काव्य-शैली में गद्य-शैली का निर्देश ढूँढना मूर्खता ही होगी।

अच्छा तो श्रेष्ठ शैली के गुण हैं क्या? संक्षेप में केवल दो विशेष गुणों की ओर संकेत किया जा सकता है। ये गुण हैं स्पष्टता तथा औचित्य। सिद्धान्त रूप में, वाणी का प्रधान कार्य, वक्ता के आशय को ठीक-ठीक व्यक्त करना है और यह तभी हो सकता है जब दिया गया वक्तव्य स्पष्ट और उचित हो। और किसी भी युक्ति से इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती। जब यह सिद्धान्त निश्चित-सा है तो हमे उन गुणों को ढूँढना चाहिए जिनके द्वारा इस लक्ष्य की सिद्धि होगी। इस दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण गुण होंगे वाक्य तथा शब्द-विन्यास और शब्द-चयन, क्योंकि वस्तुतः इन दोनों से ही स्पष्टता सम्बन्धित है। अतः वक्ता को ऐसे शब्दो का ही प्रयोग करना चाहिए जो सर्व-साधारण जन नित्य-प्रति प्रयोग में लाते हैं अथवा जो प्रचलित हैं और सबकी

समझ में भी सरलता से आ जाते हैं। बोलचाल के शब्द वक्तृता के प्राण-स्वरूप होंगे। यह तो रही सिद्धान्त की बात; परन्तु यह भी सम्भव है कि वक्ता अपनी वक्तृता को सुन्दर, आकर्षक तथा गौरवित बनाने के लिए अप्रचलित शब्दों का प्रयोग करे; और इनके द्वारा नवीनता और चमत्कार दोनों का विकास भी होगा। परन्तु इस वर्ग के शब्दों का प्रयोग सावधानी से तथा यदा-कदा होना चाहिए। काव्य में तो इनका प्रयोग आवश्यक-सा है—अपरिचित शब्द, समास, अपभ्रंश, विकृत रूप के शब्द तो उसके प्रायः आभूषण-समान रहते हैं परन्तु गद्य का स्तर नीचा होने के कारण इस प्रकार के प्रयोग फलप्रद नहीं हो पाते। हाँ, गद्य-लेखक आलंकारिक शब्दों का मनोनुकूल प्रयोग कर सकते हैं परन्तु इस प्रयोग में प्रतिभावान लेखक ही सफल रहेंगे, क्योंकि उन्हीं के द्वारा इन प्रयोगों में सौन्दर्य, चमत्कार तथा आकर्षण पैदा होगा। केवल वे ही, एक ही आलंकारिक प्रयोग में, अनेक गुण ला सकेंगे; स्पष्टता, सौष्ठव, चमत्कार तो चुटकी बजाते ही दिखाई देने लगेंगे। यह सर्व-सिद्ध है कि अपरिचित शब्द तथा प्रचलित अलंकार अथवा परिचित शब्द और अप्रचलित अलंकार के सम्मिश्रण से वाक्य में नवजीवन आ जाता है।

अलंकार-प्रयोग

यों तो, साधारणतः सभी लोग बोलचाल में अलंकारों का प्रयोग कर जाते हैं, परन्तु उस चमत्कार के कारण मूल स्रोत को नहीं समझ पाते। अलंकार द्वारा हमें मानसिक आनन्द मिलता है, क्योंकि जब दो विपरीत वस्तुओं की समानता अलंकार द्वारा हमारे सम्मुख प्रस्तुत की जाती है तो हमें एक विचित्र प्रकार का अकथनीय मानसिक सन्तोष प्राप्त होता है। हम सोचने लगते हैं कि हमारी सूझ भी कैसी अच्छी और मार्के की है कि बात सुनते ही उसका चमत्कार हम पर स्पष्ट हो गया।[1] फिर सभी मनुष्य शीघ्र-से-शीघ्र बात समझ लेना चाहते हैं और इस कार्य में अलंकारों द्वारा बहुत सुविधा होती है। परन्तु अलंकार-प्रयोग में सतर्कता आवश्यक है और लक्ष्य पर समुचित रूप से विचार करने के बाद ही अलंकार-प्रयोग होना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि सौन्दर्य की अनुभूति देना उद्देश्य है तो अलंकारों का चुनाव जीवन के गौरवित स्तरों तथा सौन्दर्य-प्रसारक स्थलों से होना चाहिए। यदि लेखक अथवा वक्ता हास्य अथवा परिहास में सफलता पाना चाहे तो निम्न कोटि के जीवन तथा कुरूप स्थलों से ही उनका चुनाव होगा। इस चुनाव में सबसे महत्त्वपूर्ण

---

१. देखिए—'हास्य की रूपरेखा'

बात यह है कि अलंकार परिचित हों और विषय से उनका सहज सम्बन्ध हो। यदि अलंकार कहीं दूर देश से लाये गए और उनका सम्बन्ध विषय से बहुत दूर का है तो वे रुचिकर न होंगे। मगर सबसे अच्छी बात तो यह होती कि लेखक और वक्ता ऐसे शब्द ही चुनते जो ध्वनि अथवा अर्थ अथवा संकेत में स्वतः सुन्दर होते और अलंकार की आवश्यकता ही न पड़ती। जो शब्द स्वयं ही सुन्दर हैं वे भाषा की अपूर्व निधि हैं।

श्रेष्ठ गद्य-शैली का अनुसन्धान—शुद्धता, स्पष्टता तथा औचित्य

श्रेष्ठ गद्य-शैली के निर्माण में कुछ और नियमों का भी पालन होना चाहिए। जब शब्दों का शुद्ध-रूप, मुहावरा, वाक्यांश तथा पदांश का सौष्ठवपूर्ण विन्यास, सरलता (कठिन तथा भाववाचक और अमूर्त शब्दावली का बहिष्कार), स्पष्टता (सन्दिग्ध तथा अनिश्चित शब्दावली का बहिष्कार), प्रवाह तथा विराम-चिह्नों का शुद्ध प्रयोग, सबका व्यापक ज्ञान लेखक को होगा तभी शैली श्रेष्ठ हो सकेगी। शुद्धता तथा स्पष्टता के अतिरिक्त शैली में एक प्रकार का गुरुत्व तथा उच्च स्तर होना चाहिए। इसके लिए आलंकारिक पदों तथा वर्णनात्मक विशेषणों का प्रयोग हितकर तो होगा, परन्तु लेखक को इस ओर सदा सतर्क रहना चाहिए कि उनके बाहुल्य से रंग कहीं गहरा तो नहीं हो रहा है और अतिशयोक्ति तो नहीं आ रही है। शैली को उच्च स्तर पर रखने के लिए कुछ सरल उपाय भी हैं; इनमे सबसे फलप्रद है एक वचन के स्थान पर बहु वचन तथा अव्ययों का प्रयोग। कभी कभी वर्णन को उन्नत तथा उच्च-स्तर पर रखने के लिए नकारात्मक शब्दों अथवा पदांशो की शृङ्खला सजा दी जाती है जिसकी कोई सीमा नही; परन्तु इसमें भी सतर्कता इसलिए आवश्यक है कि यदि इनमें भी बहुलता हुई तो पाठक वर्ग ऊब जायगा और उसका ध्यान बटने लगेगा।

शब्दों के चुनाव मे औचित्य का निर्देश तो हमें पहले मिल चुका है, परन्तु अरस्तू ने सम्पूर्ण लेख और वाक्यों के विषय में भी औचित्य के पालन पर बहुत जोर दिया। विषय, उद्देश्य तथा लेखक अथवा वक्ता के चरित्र और वयस् के अनुसार ही शब्दों और वाक्यों तथा सम्पूर्ण प्रकरण का चुनाव होना चाहिए। गौरवित विषय-प्रतिपादन में उच्छृङ्खलता आई और चलते-फिरते साधारण विषय-प्रतिपादन में गौरवपूर्ण शैली प्रयुक्त हुई तो फल हास्यास्पद ही होगा। समासयुक्त शब्दावली, अपरिचित तथा असाधारण शब्द और विशेषण, गौरवपूर्ण विचारों के प्रदर्शन में ही प्रयुक्त होने चाहिएँ, क्योंकि

गौरवपूर्ण विषय-निरूपण में लेखक अथवा वक्ता में एक प्रकार का उत्साह अथवा उत्तेजना प्रकट होने लगती है और यह उचित ही है कि उस उत्साह और उत्तेजना को सहारा देने के लिए उच्च स्तर के शब्दों का प्रयोग हो। वक्ता तथा लेखक को वयस्, चरित्र, प्रतिष्ठा और मनोभावों के अनुकूल ही शब्दों का भी प्रयोग होना चाहिए, क्योंकि वृद्ध यदि बालकों की बोली बोले, बालक युवाओं-सा भाषण करे, युवा स्त्रियों-समान सम्वाद करे, सेवक राजाओं की शब्दावली प्रयुक्त करे, दुष्ट गीता-पाठ करे और सन्त दुष्टों के भाव अपनाये तो अनर्थ ही होगा। शब्दों के माध्यम से सौन्दर्यानुभूति भी होनी चाहिए और साथ-साथ उनके द्वारा सत्य का प्रामाणिक निरूपण भी होना चाहिए।

लय तथा गति

गद्य के अन्य अनेक तत्त्वों में अरस्तू ने लय और गति को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घोषित किया और इस तत्त्व पर आगामी काल के आलोचकों ने विस्तारपूर्वक टीका-टिप्पणी की। गद्य में लय आवश्यक है, छन्द आवश्यक नहीं। सम्पूर्ण प्रकृति में भी एक प्रकार का आन्तरिक लय निहित है; उसके सभी अंग लयानुगत हैं।[1] लयहीन गद्य अव्यवस्थित होगा; उसमें व्यवस्था लाने के लिए लय आवश्यक होगा और तभी वह आकर्षक भी बनेगा। छन्दपूर्ण गद्य न तो स्वाभाविक होगा और न आनन्ददायक और उसकी कृत्रिमता हमें सदा खटका करेगी। इसके साथ-साथ हमारा ध्यान भी बँटा करेगा; कभी वह विषय की ओर जायगा कभी छन्द की ओर और हम छन्द की टेक पर आस लगाए रहेंगे।

शैली का वर्गीकरण

गद्य में प्रयुक्त वाक्य दो प्रकार के हो सकते हैं जिनके आधार पर शैली का नामकरण होगा। अस्थिर शैली में वाक्य अव्ययों द्वारा जुड़े रहते हैं; सुस्थिर शैली में प्रत्येक वाक्य अपने में ही सम्पूर्ण रहता है यद्यपि समस्त प्रकरण का वह महत्त्वपूर्ण भाग होता है। प्राचीन काल में अस्थिर शैली प्रयुक्त हुई, परन्तु उसके प्रशंसक कम होते गए और धीरे-धीरे सुस्थिर शैली ही सर्व-प्रिय होती चली गई। सुस्थिर शैली के वाक्यों का सामंजस्य, उनकी क्रमागत व्यवस्था तथा सम्पूर्णता ने ही अस्थिर शैली की अपेक्षा उसे सर्वप्रिय बनाया।

---

१. इस सिद्धान्त का प्रतिपादन पहले-पहल पाइथेगोरस ने किया और बाद मे अफलातूँ ने। पाइथेगोरस का कहना था कि विश्वाधार अंक है और इसी के द्वारा प्रत्येक वस्तु मे स्थिरता और स्थायित्व आता है। इसी सिद्धान्त को अफलातूँ ने संगीत, काव्य तथा गद्य के लय-रूप मे प्रयुक्त किया।

शैली को आकर्षक बनाने के लिए अरस्तू ने दो-एक साधारण नियम भी स्फुट रूप में गिनाये। अलंकार-उपमा और रूपक, विरोधालंकार, श्लेष, अतिशयोक्ति इत्यादि भी शैली को श्रेष्ठ तथा आकर्षक बनाते हैं। प्राणहीन वस्तुओं को जीवनमय प्रदर्शित करना भी शैली का सहज आभूषण है। परन्तु लेखक अथवा वक्ता को अपनी कला स्पष्ट रूप में नहीं बल्कि गुप्त रूप में प्रयुक्त करनी चाहिए और इसी में कला की श्रेष्ठता है। व्यक्त कला की अपेक्षा अव्यक्त कला कहीं अधिक प्रभावपूर्ण होगी। शैली में अतिशयोक्ति भी अधिकतर नहीं आनी चाहिए और लेखक को सदा मध्यमार्ग ग्रहण करना चाहिए।

सुखान्तकी तथा हास्य के विषय पर भी अरस्तू के स्फुट वक्तव्य विचारणीय हैं। हास्य का आधार दुःखदायी उपकरण नहीं होना चाहिए। जो हास्य श्लेष द्वारा प्रस्तुत होता है उसका आधार है हमारी मानसिक योग्यता, जो विरोधी वस्तुओं में समानता का संकेत दे देती है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रुचि और प्रतिभा के अनुसार ही हास्य प्रस्तुत करना चाहिए : व्यंग्य का प्रयोग अपने को मानसिक सन्तोष देने के लिए और भाँडपन दूसरों को प्रसन्न करने के लिए होता है। गम्भीरता की काट है परिहास और परिहास की गम्भीरता।

अरस्तू के भाषण-कला तथा अन्य साहित्यिक सिद्धान्तों को व्यापक रूप से समझने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि उनका विवेचन वैज्ञानिक, तर्कपूर्ण तथा सैद्धान्तिक है जो आगामी काल के लेखकों के लिए अत्यन्त फलप्रद प्रमाणित हुआ। विषय तथा उसके निरूपण के सम्बन्ध में उन्होंने जो सिद्धान्त बनाये उनकी महत्ता आज तक बनी हुई है। स्पष्टता, औचित्य सौष्ठवपूर्ण वाक्य-विन्यास, लयपूर्ण वाक्य-गति, समुचित अलंकार-प्रयोग तथा कला का अव्यक्त प्रयोग सभी का महत्त्व आज तक प्रमाणित है। अरस्तू, गद्य-शैली के श्रेष्ठ नियमों के श्रेष्ठ निर्माता हैं। यद्यपि आइसाक्रेटीज ने ही गद्य-शैली की नींव डाली थी परन्तु अरस्तू के वैज्ञानिक विवेचन बिना उनकी मौलिकता स्पष्ट न हो पाती। दोनों श्रेष्ठ आलोचकों द्वारा निर्मित भाषण-शास्त्र के नियमों तथा गद्य-शैली को आकर्षक बनाने के उपकरणों का विचार आगामी युग के साहित्यकारों के लिए अपेक्षित ही नहीं अत्यावश्यक भी हुआ।

अरस्तू के एक प्रिय शिष्य[1] ने आलोचना-क्षेत्र में बहुत ख्याति

---

१. थियोफ्रैस्टस

लेख-शैली का अनुसन्धान

पाई और उन्होंने अपने गुरु के बाद भाषण-शास्त्रीय-साहित्य-रचना का नेतृत्व ग्रहण किया। यद्यपि उनकी रचनाएँ खो गईं और उनका लेखा नहीं मिलता परन्तु तत्कालीन लेखकों की कृतियों में उनके वक्तव्यों और उनके नियमों की स्पष्ट चर्चा सतत होती रही, जिसके आधार पर हम उनके आलोचना-सिद्धान्तों का विवेचन कर सकेंगे। उनकी एक पुस्तक ने, जो उनकी लिखी हुई प्रमाणित है, आगामी काल के अंग्रेजी लेखकों को पूर्ण रूप से प्रभावित किया और उसमें प्रतिपादित नियमों का अनुसरण करके सत्रहवीं शती के अनेक गद्य-लेखकों ने महत्त्वपूर्ण लेख-शैली का निर्माण किया। लेखक ने वागीशों की सुविधा के लिए मानव-समाज के कुछ महत्त्वपूर्ण व्यक्ति-विशेष—जैसे दर्शनज्ञों, पाखण्डी पंडितों इत्यादि—के रोचक, व्यंग्यपूर्ण और मनोवैज्ञानिक शब्द-चित्र खींचे थे, जिनका भाषणों में प्रयोग किया जा सकता था और जिनसे जनता सरलतापूर्वक प्रभावित हो सकती थी।

यद्यपि थियोफ्रैस्टस की महत्ता विशेषतः अपने गुरु के सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण तथा उनके कुछ निजी नियमों के निरूपण ही में है परन्तु उनकी महत्ता बहुत दिनों बनी रही और आगामी काल के लेखकों को उन्होंने गहरे रूप में प्रभावित भी किया। सबसे पहले तो उन्होंने भाषण-कला तथा गद्य-शैली के लिए शब्द-चयन, उचित प्रयोग, तथा अलंकार-प्रयोग को आवश्यक बतलाया परन्तु उन्होंने जो सबसे मार्के का सिद्धान्त बनाया वह विषय-निरूपण से सम्बन्धित था। उनका निश्चित सिद्धान्त-सा था कि श्रेष्ठ लेखक वही बन सकेगा जो सयंमित रूप से विषय-निरूपण करेगा। यदि लेखक अत्यन्त विस्तारपूर्वक विषय के सभी अंग स्पष्ट कर देता है और पाठक की कल्पना के लिए कुछ भी नहीं छोड़ता तो उसकी रचना श्रेष्ठ न होगी। कला अपना अपूर्व आकर्षण तभी दिखलायगी जब लेखक बात कहते-कहते अपनी लेखनी रोक लेगा और संकेत-मात्र देकर दूसरी बात कह चलेगा। विवेचन अथवा वर्णन में जितना ही संयत रहकर लेखक संकेत-मात्र देगा उसकी कला उतनी ही उन्नत रहेगी। इसका कारण यह है कि पाठक अथवा श्रोतावर्ग यह जानकर प्रसन्न हो जाता है कि लेखक ने उसको बुद्धिमान जानकर उसकी कल्पना के लिए भी कुछ चीजें छोड़ दीं। ऐसा विस्तृत वर्णन, जो संकेतहीन होगा, पाठकों को आनन्दित नहीं कर सकेगा; विस्तृत अथवा असंयत वर्णन-शैली पाठकवर्ग को बुद्धिहीन ही समझकर अपना विस्तार करेगी। संयत शैली वर्णन की प्राण-स्वरूपा है। इस सिद्धान्त के निरूपण से आलोचक का मनोवैज्ञानिक

ज्ञान, सुबुद्धि तथा कला के श्रेष्ठ स्तरों की पहचान विदित होती है।

उपरोक्त तीन आलोचकों की व्यापक समीक्षा के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि चौथी शती की आलोचना केवल स्फुट वक्तव्यों पर ही आधारित है; लक्ष्य भी विभिन्न रहे और शैलियाँ भी पृथक् रहीं। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि भविष्य का साहित्य इन्हीं के सहारे प्रगतिशील हुआ। इस काल से ही साहित्य और आलोचना, दोनों क्षेत्र निर्जीव से होने लगे; काव्य की महत्ता घट गई और साहित्यकार हीन समझे जाने लगे। यूनानी जीवन अब पहले-जैसा न रह गया। नागरिक जीवन निष्प्राण होने लगा और इधर देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता पर विदेशियों ने कुठाराघात किया; भाषण-कला अपना महत्त्व खो बैठी और दर्शनज्ञ भी देश की हीन अवस्था में निश्चेष्ट हो बैठ रहे; राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक अथवा नैतिक जीवन के किसी भी क्षेत्र में उत्साह नहीं रहा; देश, नव-जीवन की आशा में ही अपने दुःख के दिन काटने लगा।

: २ :

राजनीतिक तथा साहित्यिक वातावरण

चौथी शती के उपरान्त तीसरी और दूसरी शतियों में आलोचना-क्षेत्र में कुछ भी प्रगति न हुई। अफलातूँ, अरस्तू तथा आइसाक्रेटीज की टक्कर का कोई भी आलोचक नहीं जन्मा। और जन्मता भी कैसे—जैसा हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं राजनीतिक दासता ने काव्य तथा भाषण-कला और उससे सम्बन्धित आलोचना, सभी का स्रोत सुखा-सा दिया। एक बात यह भी है कि इस शती की कोई भी पुस्तक प्राप्य नहीं, इसलिए इस शती का साहित्यिक कार्य भी हम नहीं जान पाते। परन्तु इतना होते हुए भी तत्कालीन लेखकों की कृतियों में जो-कुछ भी प्राप्त है उससे पता चलता है कि थोड़ी-बहुत साहित्यिक कथा-वार्ता इस समय भी चलती रही, जिसका प्रभाव स्वदेश पर तो कम विदेश पर अधिक पड़ा। जिस ऐतिहासिक घटना ने यूनानी जीवन को अस्त-व्यस्त करके, यूनान की राजधानी एथेन्स की महत्ता घटाई वह थी विश्व-विजयी महान् एलेक्ज़ेण्डर को युद्ध में विजय। इस महान् विजेता के अनेक देशों पर अधिकार के फलस्वरुप नये-नये साहित्यिक केन्द्र बन गए। उपनिवेशों का भी श्रीगणेश हुआ और वहाँ से भी यूनानी साहित्य का प्रचार होने लगा। अनेक नये-नये स्थानों पर पुस्तकालय खुल गए जहाँ विशेषतः साहित्यकार अपना समय व्यतीत करने लगे और उनके अध्ययन के फलस्वरूप ज्ञान और विज्ञान का प्रचार और भी बढ़ा। इन लेखकों, साहित्य-मर्मज्ञों तथा कलाकारों

का एक ही मुख्य ध्येय था—यूनानी साहित्य और संस्कृति की सुरक्षा। इसी कार्य में सब साहित्यकार लगे रहते और मौलिकता अथवा नवीनता की ओर कम ध्यान देते। परन्तु विज्ञान की अच्छी प्रगति हुई और इसी शती में श्रेष्ठ विज्ञानज्ञों ने भी जन्म लिया। इतिहास के लिखने में नये दृष्टिकोण प्रयुक्त होने लगे और दर्शन तथा राजनीति के प्रति कुछ विरक्ति-सी हो गई। विद्वानों के समाज का एक वर्ग-विशेष अब कुछ नये तर्क की खोज में रहने लगा। राजनीतिक दासता ने भाषण शास्त्र की महत्ता तो यों भी घटा दी थी और अब तो वह केवल शिक्षा के पाठ्यक्रम का एक महत्त्वहीन अंग होकर रह गया था। ऐतिहासिक घटनाओं, राष्ट्रीय उथल-पुथल तथा यूनानी जीवन के विकेन्द्रीकरण के फलस्वरूप साहित्य-संसार भी विशेष रूप में अपनी रूप-रेखा तथा अपनी प्राचीन विशेषताएँ बदलने लगा।

जनता की इस परिवर्तित रुचि और उसकी नवीन माँग को पूरा करने के लिए अब साहित्यकारों को कुछ विशेष साहित्य-मार्गों का अनुसरण करना पड़ा। नाटक की लोकप्रियता जितनी हम पहली शती में देख चुके इस शती में नहीं दृष्टिगोचर होती। सुखान्तकी लिखी तो गई मगर वह भी सर्वप्रिय न हो सकी। गीत-काव्य तथा महाकाव्य यद्यपि दोनों ही लिखे गए परन्तु वे भी लोकप्रिय न हो पाए। साहित्य के वंश-वृक्ष[1] के फलों में जो सबसे अधिक रुचिकर रहे, वे थे शोक-गीत तथा ग्राम्य-गीत, प्रबोधक-काव्य तथा रोमांचक महाकाव्य और गौरव-गीत। इन शतियो के नवीन राजनीतिक एवं सामाजिक वातावरण में रोमांचक महाकाव्य तथा गौरव-गीत और शोक-गीत, ग्राम्य-गीत तथा प्रबोधक काव्य की लोकप्रियता स्वाभाविक ही थी।

साहित्य के बाह्य रूप में ही नहीं वरन् उसकी आत्मा में भी विशाल परिवर्तन होने लगा। तानाशाही के फलस्वरूप साहित्यकारों की दृष्टि राष्ट्रीय और राजनीतिक क्षेत्रों से हट गई और साहित्य में राष्ट्रीय आत्मा की पुकार कुण्ठित हो गई। अब तक तो राष्ट्रीय भावनाओं का स्पष्टीकरण ही साहित्यकारों का लक्ष्य था; अब उनका ध्येय हो गया स्वान्तः सुखाय साहित्य-निर्माण। पहले तो राष्ट्र को सुसंगठित करने और राष्ट्रीय आदर्शों की स्थापना में साहित्य दत्तचित्त रहता था; अब उसका उद्देश्य बन गया अपने निजी घर का नव-निर्माण। उसका क्षेत्र छोटा हो गया; उसकी दृष्टि संकुचित हो गई और कला-संसार में ही साहित्यकार अपनी रंगरलियाँ प्रदर्शित करने लगा। समाज और उसके उत्थान की ओर से वह विमुख हो गया; दर्शन-शास्त्र की

---

१. देखिए—'काव्य की परख'

लोकप्रियता कम होने के फलस्वरूप मानव भी हड्डी और मांस का पिंड-मात्र रह गया और उसकी महत्ता भी कम हो चली। कला और मानव का प्राचीन सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। प्राचीन युग की वही चीजें लोकप्रिय हो सकीं जो शुष्क और नीरस ज्ञान का प्रसार करती, क्योंकि विद्वान् मानव के अन्तर्जगत् से विमुख हो ऐसी ही चीजों की खोज में रहने लगे। हाँ, केवल छोटी-मोटी पौराणिक कथाएँ अपनी निजी रोचकता के बल पर लोकप्रिय बनी रहीं।

यथार्थवाद का प्रसार

यदि व्यापक दृष्टि से इस युग की समीक्षा की जाय तो कुछ विशेष तत्त्व ऐसे मिलेंगे जिनकी प्रगति आगामी काल में हुई और यह समीक्षा यहाँ पर आवश्यक भी होगी। ये विशेष तत्त्व क्यों और किस प्रकार महत्त्वपूर्ण हुए इनके कारणों की ओर हम पहले संकेत कर चुके हैं। जैसा हम पहले कह चुके हैं मानव से कला का सम्बन्ध-विच्छेद हो ही चुका था और नवीन साहित्य-मार्ग रुचिकर हो चले थे और इसी के फलस्वरूप ये नवीन तत्त्व भी दिखाई देने लगे। इस काल के साहित्य का प्रमुख तत्त्व है यथार्थवाद। यथार्थवाद यों तो जीवन के सभी क्षेत्रों में सजीव था परन्तु साहित्य-क्षेत्र में उसकी लोकप्रियता अधिक बढ चली। और बढती भी क्यों न? विजित राष्ट्र, दर्शन-ज्ञानहीन मानव, यदि यथार्थवादी न हो जाय तो आश्चर्य ही होगा। यूनानी भी मानव ही थे और परिवर्तित समय ने उनमें भी परिवर्तन ला दिया और उन्हें नये दृष्टिकोण अपनाने पर बाध्य किया। धार्मिक और राष्ट्रीय भावनाओं की विदाई होते ही यथार्थवाद दूनी गति से चल पडा। देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना में लिप्त यूनानी इस काल में उनसे नाता तोड़कर अपनी ओर देखने लगा, अपने वातावरण को समझने लगा, राष्ट्र के क्षेत्र से निकलकर प्रकृति के सौन्दर्य-क्षेत्र में जा पहुँचा जहाँ उसने पक्षियो का कलरव सुना, इन्द्र-धनुष का सतरंगा प्रकाश देखा, उषा और सन्ध्या की आकर्षक लालिमा को अपनी आँखों में बसाया और रात्रि में स्वर्ग गंगा की दूध-सी श्वेतता में स्नान किया। उनके चरित्र में प्रकृति-प्रेम पूर्ण रूप से प्रकाश पाने लगा। प्रकृति के काल्पनिक तथा यथार्थ चित्रण में देश के कवि और चित्रकार संलग्न हो गए।

परन्तु प्रकृति अपने सौन्दर्य को कवि के हृदय में ज्यों-ज्यों प्रकाशित करती त्यो-त्यों वह एकाकीपन का गहरा अनुभव करने लगता। सौन्दर्य की अनुभूति कोई ऐसा साथी चाहती है जिस पर वह अनुभूति निछावर की जाय,

चाहे वह रहस्यवाद का ईश्वर हो अथवा उर्दू-काव्य का बुत अथवा रीतिकाल की नायिका। सौन्दर्यानुभूति अकेले कवि को घुला-घुलाकर मार ही डालती है; उसकी जीवन-रक्षा के लिए नारी की आवश्यकता नैसर्गिक रूप में पड़ती है। प्रकृति द्वारा सौन्दर्यानुभव ने प्रेम की रागिनियाँ बड़े तीव्र रूप में गानी आरम्भ कीं। और इस समय का यूनानी साहित्य प्रेम और प्रकृति की पूजा में दत्तचित्त हुआ। प्रकृति-चित्रण के लिए साहित्यकार नवीन और मौलिक मार्ग ढूँढ़ने में लग गए; उसके परिवर्तनशील स्वभाव को समझने के लिए नवीन कला प्रयुक्त होने लगी। आकर्षक दृश्य, नदी-नद, पर्वत तथा आकाश सभी शब्दों में खिंच आए। कवि अपने व्यक्तित्व के माध्यम से प्रकृति-सुन्दरी का निरीक्षण करने लगा और स्वयंवादी अथवा व्यक्तिवादी साहित्य की परम्परा चल पड़ी। कवियों का स्वयंवाद[1] पल्लवित-पुष्पित होने लगा जिसके कारण आकांक्षा, संयोग-वियोग, लालसा तथा आकुल अन्तरों का स्वर ऊँचा होने लगा। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप कला के पुराने आदर्शों में परिवर्तन अनिवार्य हो गया। प्राचीन काल में कला का सर्वश्रेष्ठ तथा मान्य गुण था भाव-सामंजस्य, परन्तु तीसरी और दूसरी शती के प्रेम-हिंडोले में आशा-निराशा तथा संयोग-वियोग के गीत गाते हुए कवियों को यह गुण भूलना पड़ा, क्योंकि इस गुण के साथ उनके गीतों का स्वर धीमा पड़ जाता था। भावना-संसार जब त्रस्त हुआ तभी गीत स्वरित हुए और फिर त्रास में सामंजस्य कहाँ; सामंजस्य तो शान्ति और सन्तोष द्वारा ही प्राप्त होगा। सामंजस्य से नाता तोड़ते ही काव्य में विभिन्नता तथा रुचि-वैचित्र्य आने लगा और कला की पुरानी परिभाषा कुछ दिनों के लिए भुला-सी दी गई। ये नवीन तत्त्व जब तक अनुभव द्वारा स्थायित्व तथा विकास पा न जाते तब तक मान्य परिभाषा बन भी न सकती थी। प्राचीन काल के अनेक साहित्यिक गुण-सौष्ठव, औचित्य, सुरुचि, भाव-सन्तुलन, विचार सामंजस्य इत्यादि धीरे-धीरे अपनी महत्ता खोने लगे और नवीन मार्गों के अनुसरण के फल-स्वरूप साहित्य मे अतिशयोक्ति तथा विचार-विभिन्नता आने लगी। कला अपने नये रूप की खोज मे थी, इसलिए यह अवगुण क्षम्य समझे गए। भाषण-कला ने भी नवीन मार्गों का अनुसरण किया। अरस्तू तथा आइसा-क्रेटीज के बनाए नियम मान्य न हुए। भाषण की एक कृत्रिम शैली प्रचलित हो गई; कृत्रिम शब्दालंकार, तथा अनुचित और असंगत शब्द-प्रयोग चल पड़ा, विरोधाभास-युक्त वाक्यों की भरमार होने लगी और लय तथा गति

१. देखिए—'काव्य की परख'

इतनी अलंकृत हो गई कि प्रभावहीन जान पड़ने लगी। इसी के फलस्वरूप पहली शती से भाषण-शास्त्र में और भी अधिक दोष आ गए और कृत्रिमता का बोलबाला हो गया।

आलोचना-शैली में परिवर्तन

राष्ट्रीय, सामाजिक तथा साहित्यिक परिवर्तन के साथ-साथ आलोचना-शैली में भी परिवर्तन स्वाभाविक ही था। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह थी कि इस काल में अरस्तू की लिखी हुई पुस्तकें खो गईं। कहा जाता है कि एक व्यक्ति ने उन्हें इस कारण छिपाकर रख दिया था कि यूनान पर विजय पाने वालों की दृष्टि से वे बची रहें। परन्तु उस व्यक्ति से भी वे पुस्तकें खो गईं। १०० पूर्व ईसा में ही उनका पता चल सका और वे ८६ पूर्व ईसा में रोम के पुस्तकालय में सुरक्षित की गईं। उथल-पुथल में उनकी काफी दुर्दशा हो गई थी और विद्वानों ने उन्हें संक्षिप्त रूप देकर ही उनका प्रचार किया। बहुत काल तक मूल रचना से जन-साधारण और विद्वानों की भेंट तक न हुई। परन्तु इस काल के आलोचना-क्षेत्र में कुछ-न-कुछ कार्य होता गया, परन्तु उसका अधिकांश प्राचीन पद्धतियों की छाया-मात्र था।

पुराने यूनानी आलोचकों ने काव्य के महत्त्वपूर्ण आदर्शों को हृदयंगम करके उसे दर्शन-शास्त्र के स्तर पर ला रखा था। काव्य का ऐसा विवेचन दर्शनज्ञों द्वारा ही सम्भव था और उनके निर्देशित तत्त्वों पर ही लेखकों को ध्यान देना अपेक्षित जान पड़ा। प्राचीन आलोचकों ने काव्य को व्यापक रूप में देखा और उसका मूल्यांकन भी व्यापक रूप में किया। उनके विचारों के अनुसार काव्य, मानव के स्वतन्त्र अनुभवों की प्रतिक्रिया-मात्र था जो अनेक रूपों में साहित्य में प्रस्फुटित हुआ करता था। मानव, मानव की सभ्यता और संस्कृति तथा उसके अनेक मानवी गुणों के परिष्कार में ही काव्य संलग्न रहता था और उसकी महत्ता भी इन्हीं गुणों के कारण बनी रही। परन्तु इसके विपरीत इस काल में काव्य केवल कुछ वैयाकरणों के हाथ की कठपुतली हो गया। इन लेखकों ने काव्य के मानवी और आध्यात्मिक मूलाधार को भुलाकर उसके वर्गीकरण, नामकरण तथा उसके प्रायोगिक रूप पर अपना विवेचन देना आरम्भ किया। नियमों की सूची तैयार होती गई और काव्य प्रेरणागत न होकर नियमानुगत हो गया; उसकी आध्यात्मिकता खो गई; उसका स्तर नीचा हो गया। यद्यपि अरस्तू के विश्लेषण में भी नियमों को सम्यक् स्थान मिला था पर नियम गौण थे, अब नियम प्रमुख रूप में प्रयुक्त होने लगे। वर्गीकरण

में ही काव्य की महत्ता थी। आगामी काल में इस परिवर्तित आलोचना-शैली का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा।

काव्यानुसन्धान

यों तो साधारणतः इस युग में इतिहास, व्याकरण, भाषण-शास्त्र, आलोचना तथा महाकाव्य-सम्बन्धी विवेचन प्रस्तुत किये गए परन्तु काव्य तथा आलोचना के सम्बन्ध में जो विवेचन दिये गए वे ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि इन विवेचनों में कोई विशेष नवीनता न थी और न कोई मौलिकता ही थी परन्तु फिर भी जिन-जिन साहित्यिक तथा आलोचनात्मक प्रश्नों पर विचार हुआ वे आगामी काल में अधिकांश रूप में अपनाये गए। इस दृष्टि से इनकी महत्ता विशेष है। एक महत्त्वपूर्ण आलोचक ने काव्य का विश्लेषण करते हुए इसे तीन वर्गों में बाँटा—कथावस्तु, रूप अथवा आकार, तथा कवि-हृदय का विकास। चौथी शती के आलोचकों ने भी इस ओर ध्यान दिया था और कथावस्तु की मीमांसा करते हुए शिक्षा और आनन्द दोनो तत्त्वो में साम्य प्रस्तुत करने की चेष्टा की थी; काव्य के रूप और उसकी कथावस्तु में भी सामंजस्य प्रस्तुत करने का आदेश दिया था और कवि-हृदय के विवेचन में प्रेरणा और अभ्यास दोनों को अपेक्षणीय सिद्ध किया था। यह पुराना प्रश्न फिर से आलोचना-क्षेत्र में दुहराया गया और उसके नवीन उत्तर ढूँढ़ने की चेष्टा की गई।

अभ्यास तथा प्रेरणा का महत्त्व

पहला प्रश्न जो दुहराया गया, वह है काव्य-निर्माण में अभ्यास आवश्यक है अथवा प्रेरणा। यह असंदिग्ध है कि इस प्रश्न का उत्तर पुराने आलोचकों ने यद्यपि दिया तो अवश्य था परन्तु निश्चित रूप में नहीं। कौन अंग प्रमुख है कौन गौण, इसका प्रमाण शायद नहीं मिल सकता था। वास्तव में उत्तर सन्दिग्ध ही था और यही कारण है कि इस युग के आलोचकों ने इसकी फिर छानबीन शुरू की। आलोचकों ने अब यह निश्चित किया कि नियम तथा अभ्यास ही प्रमुख हैं और प्रेरणा गौण; कला-ज्ञान तथा व्याकरण-ज्ञान द्वारा ही काव्य प्रसूत है। परन्तु जन-साधारण और कुछ विद्वानों का विश्वास-सा था कि पौराणिक कथाओं मे प्रशंसित हेलिकान-पर्वत-स्थित झरनों का जो पानी पी लेता है उससे काव्य-धारा फूट निकलती है। इस रूढि का प्रचार साहित्य-क्षेत्र में बहुत काल तक होता रहा। कुछ-एक आलोचक ऐसे भी थे जिन्होंने अरस्तू के पुराने आदर्श को निबाहना चाहा, परन्तु नियमों के नक्कारखाने में कौन किसकी सुनता! यद्यपि ऐसे विवेचन के फलस्वरूप तत्कालीन आलोचक कोई श्रेष्ठ और असंदिग्ध नियम न बना सके

परन्तु नियमानुगत काव्य की सहायता होती गई। इसी असंदिग्धता के कारण आगामी काल के आलोचकों को इस प्रश्न ने फिर उत्साहित किया और इस पर पुनः विचार आरम्भ हुआ।

विषय तथा रूप का महत्त्व

दूसरा प्रश्न था विषय और कथावस्तु महत्त्वपूर्ण है अथवा उसका रूप। इस प्रश्न पर भी प्राचीन आलोचकों ने अपनी सम्मति दी थी और अरस्तू ने विषय और रूप दोनों को बराबर महत्त्व दिया था। यद्यपि यह सही है कि अरस्तू की परिभाषा में विषय के ऊपर ही अधिक जोर था परन्तु विषय के अन्तर्गत जो महत्त्व उन्होंने विचार, और विचार-प्रदर्शन को दिया उससे रूप की महत्ता भी प्रमाणित थी। कुछ व्यक्ति ऐसे भी थे जो प्राचीन आलोचकों के विचारों से सहमत थे। वे काव्य को दर्शन के अन्तर्गत मानते थे तथा रूपक को ही श्रेष्ठ काव्य समझकर उसमें छिपे हुए विचारों का अनुसन्धान करते थे। वे छन्द और लयपूर्ण गीतों को अत्यन्त श्रद्धापूर्ण दृष्टि से देखते थे, क्योंकि उनका विचार था कि उन्हीं के द्वारा आत्मा और परमात्मा की अनुभूति तथा देव-लोक के सामीप्य का अनुभव संभव था। कुछ आलोचकों ने केवल ऐसे विषयों को काव्य के लिए अपेक्षित समझा जो पूर्ण रूप से ऐतिहासिक हों और जिनकी यथार्थता पर सन्देह न हो। काव्य के लिए नवीनता तथा मौलिकता आवश्यक नहीं बल्कि सत्य और यथार्थ अपेक्षित है; और यह नियम अरस्तू के विचारों के प्रतिकूल था।

सामंजस्य-गुण का महत्त्व

काव्य-निर्माण के नियमों के अन्तर्गत सामंजस्य का महत्त्व तो हम अरस्तू की विचार-धारा मे देख ही चुके हैं परन्तु इस प्रश्न पर पुनः विचार करते हुए आलोचकों ने सामंजस्य शब्द के अर्थ को सीमित-सा कर दिया। उन्होंने केवल शब्द, वाक्य तथा वाक्यांश में ही सामंजस्य अपेक्षणीय समझा; विषय, विचार, रूप, तीनों में सामंजस्य उनके लिए आवश्यक न जान पड़ा। परन्तु जिस अंग पर सबसे अधिक जोर दिया गया वह था लय। लय की महत्ता इन आलोचकों ने पूर्णरूपेण मानी और उदाहरण के लिए बालक को लोरी द्वारा सुलाने के प्रयत्न में इसी लय का चमत्कार स्पष्ट किया। उनके व्यापक विचारों के अनुसार लय तो जीवन का मूलाधार है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि शब्द-चातुर्य तथा शब्द-सामंजस्य, लय-सौन्दर्य और पद-सौष्ठव ही काव्य के प्राण-स्वरूप हैं।

काव्यादर्श

काव्य के उद्देश्य के विषय में भी वही पुराना झगड़ा पुनः खड़ा किया गया। इसमें दो वर्ग पहले भी थे और अब भी वही रहे। अरस्तू ने अपनी आध्यात्मिक दार्शनिकता से इस झगडे का अन्त बड़ी चातुरी से कर दिया था, परन्तु आलोचक उनके विचारों से सहमत न हुए। जो वर्ग विषय को महत्त्वपूर्ण समझता था उसका विचार था कि काव्य का प्रमुख ध्येय है शिक्षा-प्रदान करना, और जो वर्ग रूप को महत्त्व देता था उसे आनन्द-प्रसार का आदर्श ही अधिक श्रेष्ठ जान पड़ा। दोनों ही वर्ग अपनी-अपनी ओटते गए और किसी ने भी सन्तुलित रीति से इस प्रश्न पर विचार नहीं किया। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ-एक ऐसे आलोचक भी थे जो दोनों की महत्ता सम रूप से मानते थे, परन्तु उनकी संख्या बहुत कम थी और उनका प्रभाव भी कुछ अधिक न था।

अन्य साहित्यिक क्षेत्रों का अनुसन्धान

इस काल में साहित्य के अन्य क्षेत्रों—इतिहास, भाषण-कला, भाषा तथा निर्णयात्मक आलोचना शैली—पर भी यदा-कदा विचार-प्रदर्शन होता रहा। इतिहास के क्षेत्र में अनुसन्धान के फलस्वरूप विशाल पुस्तकालय खुले, ऐतिहासिक घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन होने लगा, जीवनी लिखी जाने लगी और साहित्यिकता का गुण लिये हुए इतिहास लिखने का प्रयत्न किया गया। इसके साथ-ही-साथ इतिहास का वैज्ञानिक विवेचन भी आरम्भ हुआ, जिसके फलस्वरूप इतिहासकारों ने कार्य-कारण-सम्बन्ध स्पष्ट करना शुरू किया। इतिहासकार, राजाओं और सेनानायकों के कार्यों को प्रेरित करने वाले विचारों, वातावरण इत्यादि का विस्तृत वर्णन देने लगे। तात्कालीन समाज, राष्ट्रीय भावनाओं, आर्थिक दशा, रूढि और परम्परा इत्यादि का विशद अनुसन्धान करने के पश्चात् ही इतिहासकार घटनाओं का विवेचन देते थे। इतिहास लिखने की इस नवीन शैली ने युगान्तर प्रस्तुत कर दिया और आगामी काल के लेखकों को बना-बनाया मार्ग मिल गया। इस शैली की मर्यादा अब भी स्थापित है। इस नवीन ऐतिहासिक शैली ने साहित्य-क्षेत्र में व्याकरण के अध्ययन को बहुत प्रोत्साहन दिया। व्याकरण तथा भाषा और भाषण-कला-सम्बन्धी अनुसन्धान पुनः शुरू हो गए जिसके हेतु अनेक पुस्तकालय खुले। व्याकरण-अध्ययन के अन्तर्गत व्याख्यान, अलंकार-भेद, शब्दों का उद्गम तथा शब्द-प्रयोग, धातु-रूप, तथा आलोचना इत्यादि गिने जाते थे। इस प्रवृत्ति ने विश्लेषणात्मक आलोचना-प्रणाली का प्रचार किया और काव्य और कला का मूल्यांकन उपरोक्त तत्त्वों के

आधार पर होने भी लगा।

निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली का प्रचार

परन्तु इस काल में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रगति निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली के क्षेत्र में हुई। जैसा कि हम पहले संकेत दे चुके हैं प्राचीन साहित्यकारों और लेखकों की कृतियों की ओर इस युग के पाठकों का ध्यान आकर्षित हो चुका था और फल यह हुआ कि प्राचीन पाण्डुलिपियों तथा पुस्तकों की खोज में बहुत उत्साह दिखाई देने लगा। इस कार्य में अनेक प्रतिष्ठित विद्वान् भी संलग्न हुए। ज्यों ही किसी प्राचीन लेखक की पुस्तक अथवा उसकी पाण्डुलिपि मिल जाती त्यों ही इस बात का अनुसन्धान शुरू हो जाता कि वह पुस्तक वास्तव में उसी लेखक की है अथवा नहीं। इस अनुसंधान में अनेक रूप से—शब्द, प्रयोग, शैली इत्यादि के आधार पर—छानबीन होती और जब तक सम्पूर्ण पाठ शुद्ध रूप में न मिल जाता अनुसंधान जारी रहता। सम्पादकवर्ग बड़ी सतर्कता से मूल-पाठ पर टीका-टिप्पणी करते और उसे शुद्ध रूप देने का प्रयत्न करते। इस प्रवृत्ति ने आलोचना-क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण शैली को जन्म दिया। यह शैली थी मूल-पाठ-निर्धारक आलोचना। विद्वानों तथा अन्वेषकों द्वारा मूल पाठ स्वीकृत होते ही आगामी काल के लेखक रचनाओं के आन्तरिक तथा बाह्य-सौन्दर्य का भी अन्वेषण करने लगे और इस आलोचना-शैली ने लेखकों और आलोचकों का मार्ग प्रशस्त भी किया। यद्यपि इस काल में आलोचक होमर-लिखित महाकाव्यों की आलोचना पौराणिक कथाओं की असंगति, अनैतिक विचारों का प्रसार, अधार्मिक स्थलों का व्यवहार इत्यादि के आधार पर किया करते थे और सौन्दर्य की अनुभूति के आधार पर आलोचना न तो हुई थी और न हो रही थी परन्तु फिर भी इस काल के महान् साहित्यिक अनुसंधान के फलस्वरूप आगामी युग के लेखकों और आलोचकों का कार्य सरल होता गया। कुछ-एक आलोचक इस काल में ऐसे भी हुए जिन्होंने अपनी आलोचना लिखने में सुरुचि और सुबुद्धि दोनों का विशेष परिचय दिया। इस वर्ग के आलोचकों ने कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण नियम बनाए जो प्राचीन काल के साहित्यिक नियमों के आधार पर होते हुए भी अधिकांश रूप में मौलिक थे। इन्होंने कवि द्वारा प्रयुक्त भाषा तथा अलंकारों का सम्यक ज्ञान, तत्कालीन प्रयोगों का समुचित ज्ञान, तथा कवि द्वारा दिये गए संकेतों के आधार पर ही उनकी आलोचना लिखने की व्यवस्था बनाई। कवि द्वारा ही उसके हृदय का परिचय संभव है, यही उनकी शैली का मूल-मन्त्र था और

उनका विश्वास था कि उस काल के ऐतिहासिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक वातावरण के सम्यक् ज्ञान के बिना कवि की कृति का ठीक-ठीक मूल्यांकन नहीं हो सकता। आलोचक को उस युग के आदर्शों, उसकी परम्परा और रूढि, सभ्यता तथा संस्कृति पर पूरा-पूरा ध्यान देना होगा; बिना इस व्यापक ज्ञान के उसकी आलोचना निम्न कोटि की होगी। इस आलोचना-शैली को ऐतिहासिक आलोचना-शैली नाम[1] मिला। इस शैली की महत्ता इस काल तक बनी हुई है। यद्यपि अरस्तू ने इस शैली का संकेत पहले-पहल दिया था परन्तु इसे क्रियात्मक तथा प्रायोगिक रूप देने का श्रेय एरिस्टार्कस को ही है।

तुलनात्मक आलोचना-शैली का जन्म

पाठ-निर्धारक तथा ऐतिहासिक आलोचना-शैली के साथ-साथ इस युग में एक नवीन प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है। यह प्रवृत्ति है श्रेष्ठ लेखकों की सूची बनाना। आलोचकवर्ग कुछ विशेष तत्त्वों के आधार पर यह निश्चित करने लगे कि कौन-कौन लेखक कितने श्रेष्ठ हैं और उसी के अनुसार उन्हें महत्त्व भी दिया जाने लगा। श्रेष्ठता का निर्धारण सरल तो न था, परन्तु यह प्रवृत्ति चल ही पड़ी। आलोचकवर्ग एक लेखक की तुलना दूसरे से करके उसका साहित्यिक स्थान निर्धारित करने लगे और इस प्रवृत्ति ने एक अन्य महत्त्वपूर्ण आलोचना-शैली को जन्म दिया जो तुलनात्मक आलोचना-शैली के नाम से प्रख्यात हुई। इसी तुलनात्मक आलोचना के प्रयोग में आलोचकवर्ग कवियों अथवा कलाकारों को एक विशेष प्रकार की काव्यपूर्ण शब्दावली से संबोधित करने लगा और ऐसे-ऐसे विशेषणों का प्रयोग होने लगा जो अत्यन्त आकर्षक होते और मन में बैठ जाते। इस समय का तुलनात्मक आलोचनात्मक साहित्य इसी प्रकार के विशेषणों से भरा हुआ है। जिस प्रकार हिन्दी-प्रेमी सूर, तुलसी तथा अन्य कवियों की तुलनात्मक समीक्षा में कह चलते हैं :

> 'सूर सूर, तुलसी शशी, उडुगण केशवदास।
> अब के कवि खद्योत सम, जहँ-तहँ करत प्रकास॥'

उसी प्रकार यूनान के प्राचीन कवियों को भी नवीन विशेषणों द्वारा संबोधित किया जाने लगा। यह परम्परा तीसरी शती से चली और अब तक अनवरत रूप में चली आ रही है।

तीसरी तथा दूसरी शती की उपरोक्त समीक्षा से स्पष्ट है कि यद्यपि

---

१. इस शैली के प्रवर्त्तक एरिस्टार्कस थे।

इस युग के आलोचना-क्षेत्र में कोई मौलिक नियम नहीं बने और पुराने साहित्यिक विचारों पर ही चिन्तन होता रहा परन्तु कुछ क्षेत्रों में किसी हद तक मौलिकता का प्रसार रहा। प्राचीन विचारों के सम्बन्ध में चिन्तन होते रहने से उनके सहज विकास में बाधा न पहुँची और आलोचना की साहित्यिक धारा अविरल गति से बहती रही। इतिहास, भाषा, भाषण-शास्त्र तथा आलोचना, कोई भी क्षेत्र अछूता न रहा और उनके विवेचन के फलस्वरूप कुछ नवीन दृष्टिकोण बने, कुछ नये क्षेत्र खुले और साहित्य अपना आकर्षण बढाता रहा। पहली शती के आरम्भ से ही यूनान पर विपत्ति आई और कुछ समय के लिए समस्त साहित्यिक कार्य स्थगित रहे। रोम द्वारा यूनान पर आक्रमण के रूप में यह नई विपत्ति आई थी। यूनानी राष्ट्र विजित हुआ और विजयी रोमन सम्राट् यूनान की सड़कों पर अपना ध्वज-वन्दन कराने लगे; परन्तु वह समय शीघ्र ही आया जब रोमीय यूनानी साहित्य के सम्मुख नतमस्तक हुए। विजित यूनान अपने साहित्य द्वारा रोम की आत्मा पर विजयी हुआ। इस साहित्यिक विजय का विवेचन हम आगे करेंगे।

५

: १ :

राजनीतिक तथा साहित्यिक वातावरण

साधारण रूप में तो तीसरी शती के आरम्भ से ही रोम के निवासियों पर यूनानी सभ्यता तथा संस्कृति का प्रभाव पड रहा था, क्योंकि इटली में स्थापित यूनानी उपनिवेशों से यूनानी संस्कृति का प्रसार हो चला था। परन्तु पहली और दूसरी शतियो में रोम यूनानी रंग में पूरी तरह रँग गया। यूनानी जीवन के आदर्शों, उनकी मानसिक अनुभूतियो तथा उनके साहित्यादर्शों का प्रभाव भी धीरे-धीरे समस्त रोमीय संसार पर पड़ने लगा। एलेक्जाण्डर की विजय के पश्चात् एथेन्स यूनानी संस्कृति का केन्द्र न रह सका। उसका स्थान एलेक्जाण्ड्रिया ने ले लिया और रोमीय विजय ने रोम को ही वह महत्ता प्रदान की। जो-कुछ भी साहित्य-रचना पहले-पहल रोम में शुरू हुई वह केवल यूनानी पुस्तकों का अनुकरण-मात्र थी। पुस्तकालय पहले से ही खुल चुके थे और यूनानी ग्रन्थो का अनुवाद भी शुरू हो गया था; और इस प्रयास में लैटिन भाषा की बहुत वृद्धि हुई। रोमीय जनता को यूनानी अनुभवो का रसास्वादन कराने में लैटिन भाषा को दत्तचित्त होना पड़ा। रोमीय जीवन के सभी स्थल यूनानी प्रभाव ग्रहण करने लगे और रोमीय विद्यार्थी उसी उत्साह से यूनान जाकर अध्ययन इत्यादि करने लगे जैसे आधुनिक काल में भारतीय विद्यार्थी इंगलिस्तान तथा अमरीका जाकर करते हैं। यूनानी विचारों का आकर्षण भी इतना अधिक था कि रोम ने उसे जी खोलकर अपनाया। यूनानी साहित्य, कला, दर्शन, राजनीति, ज्ञान-विज्ञान तथा जीवनादर्श को रोम ने सहर्ष अपना बनाया और रोम ही के द्वारा उन आदर्शों का प्रसार आधुनिक जगत् में हुआ। संक्षेप में रोम यूनानी सभ्यता और संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग हो गया और समस्त यूनानी प्रभाव ग्रहण करके रोम ने आधुनिक जगत् में उन्हे प्रवाहित करना आरम्भ किया। आधुनिक साहित्य तथा आलोचना के क्षेत्र में यूनानी प्रभाव बहुत ही स्पष्ट रूप में

विदित है।

इसमें सन्देह नहीं कि लैटिन अथवा रोमीय साहित्य की अपनी निजी परम्परा भी थी और उसी के सहारे उनका साहित्य फूल-फल रहा था, परन्तु यूनानियों से सम्पर्क बढते ही साहित्य और आलोचना के क्षेत्र में एक प्रकार की बाढ-सी आ गई। यह सभी देशों के साहित्य-क्षेत्र में होता आया है और इसमें कोई आश्चर्य नहीं। यूरोपीय तथा एशियाई सभी भाषाओं के साहित्य में यह बाढ देखने में आयगी। अंग्रेजी और जर्मन भाषाएँ लैटिन भाषा की कृपा से ही फूली-फली। हिन्दी ने संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेजी भाषा का पूरा पूरा सहारा लिया। परन्तु लैटिन भाषा के साहित्य ने जब-जब यूनानी प्रभाव अपनाए तब-तब अपनी परम्परा का भी ध्यान रखा और उन प्रभावो को सहज रूप में ही अपनाया।

नाटक-रचना सिद्धान्तों का अनुसंधान

आलोचना-क्षेत्र में पहले-पहल हमें नाटक-रचना पर ही कुछ स्फुट वक्तव्य मिलते हैं जिन पर यूनानी साहित्यकारों तथा दर्शनज्ञों ने मौलिक रूप में विचार किया था। लैटिन भाषा के नाटककारों ने भी दुःखान्तकी तथा सुखान्तकी दोनों पर अपने विचार प्रकट किये। श्रेष्ठ वागीश सिसेरो ने सुखान्तकी की परिभाषा बनाते हुए कहा कि साहित्य अनेक वर्गों मे स्पष्टतः विभाजित है और किसी एक वर्ग का गुण दूसरे में अवगुण-स्वरूप ही होगा, उनमें मिश्रण नही हो सकता। इसीलिए जो भी गुण सुखान्तकी मे वाञ्छनीय हैं सुखान्तकी मे वे ही गुण, दोष कहलायँगे। सुखान्तकी की आत्मा का आविर्भाव किसी भी प्रकार की कुरूपता अथवा असंगति द्वारा हो जायगा, परन्तु ध्यान यह रखना चाहिए कि उसका स्पष्टीकरण सहज रूप मे हो और उसमे किसी प्रकार की अहितकारी अथवा क्रूर भावना न आने पाए। कुरूपता की ओर संकेत तो अवश्य हो परन्तु उस संकेत मे मानवी भाव आवश्यक हैं। पापपूर्ण और क्रूर कार्यों अथवा पीड़ा-युक्त स्थलों से न तो हास्य ही प्रादुर्भूत होगा और न सुखान्तकी ही लिखी जा सकेगी। रूढिवादी, निराशावादी, सन्देही, मूर्ख तथा घमण्डी व्यक्तियों को पात्र-रूप रखकर सुखान्तकी की रचना सहज होगी। भाषा तथा विचार, दोनो से ही सुखान्तकी अपने ध्येय की पूर्ति कर सकती है। उपमा, श्लेष तथा व्यंग्य इस दृष्टि से बहुत उपयोगी सिद्ध होंगे और प्रायः ऐसे स्थल भी फलप्रद होंगे जो हमारी आशा निराधार बना दें और जब हम अपने गर्व की सफलता के स्वप्न देखें उसी समय हमारी विफलता की सूचना हमे मिले।

परन्तु इन सब उपक्रमों का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण होगा औचित्य। बिना इस गुण के सुखान्तकी केवल भाँडो का स्वाँग हो जायगा और श्रेष्ठ सुखान्तकी का निर्माण न हो सकेगा। लेखक की इस व्याख्या में अरस्तू के सिद्धान्तों की छाया अत्यन्त स्पष्ट है। सुखान्तकी में प्रयुक्त विषय के सम्बन्ध में साधारणतः आलोचकों का विचार था कि साधारण नागरिक अथवा ग्राम्य-जीवन के व्यक्तियों को ही पात्र-रूप रखना चाहिए, क्योंकि शौर्यपूर्ण तथा श्रेष्ठ व्यक्ति तो दुःखान्तकी के लिए ही उपयुक्त होंगे और उनके द्वारा सुखान्तकी अपने ध्येय की पूर्ति नहीं कर सकेगी। सुखान्तकी नाटककार को, वर्ग-विशेष के पात्रों के आधार पर ही बार-बार नाटक नही लिखना चाहिए, क्योंकि इससे नाटक आकर्षणहीन हो जाता है और दर्शक एक ही प्रकार का पात्र-वर्ग देखते-देखते ऊब उठेंगे। इसके साथ-साथ नाटककारो को दृश्य-परिवर्तन का भी विशेष ध्यान रखना चाहिए; एक ही स्थान-विशेष पर नाटक के पात्रों से सभी कार्य कराना भी हितकर नहीं। इस अन्तिम नियम का प्रयोग इसलिए आवश्यक हुआ कि रोमीय नाटककार प्रत्येक नाटक की पृष्ठभूमि यूनान अथवा वहाँ की राजधानी एथेन्स को रखने लगे थे। कुछ लेखकोंने इस बात की भी चेतावनी दी कि यूनानी नाटकों को लैटिन भाषा में भद्दे रूप में अनूदित करने के फलस्वरूप साहित्य की वृद्धि नहीं हो सकती। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं रोमीय साहित्यकारों ने यूनानी पुस्तकों का अनुवाद आरम्भ कर दिया था और यह स्वाभाविक भी था; परन्तु ये अनुवाद ज्यादातर भद्दे ही होते थे, क्योंकि भाषा के प्रयोग में बड़ी गड़बड़ी मचती थी और सारा आशय विकृत हो जाता था। यूनानी विषयों को अपनाने के सम्बन्ध मे भी रोमीय लेखको ने बड़े मार्के की बात कही—संसार में सभी वस्तुएँ पुरानी हैं, नई कोई भी नही; और कोई ऐसी बात भी नहीं जो पुरानी न हो, इसलिए नाटककार सभी पुराने विचार तथा पुराने कथानक लेकर साहित्य-रचना कर सकता है; केवल उसके प्रयोग मे कला होनी चाहिए।

उपरोक्त तथ्य को सम्मुख रखकर साहित्यकारों ने सुखान्तकी-रचना से ऐसे शब्दों के निषेध का आदेश दिया जो दुरूह होते और जिनका प्रयोग लैटिन भाषा में उपयुक्त न होता। भद्दे अथवा कुरुचिपूर्ण स्थलों को भी उन्होंने अग्राह्य प्रमाणित किया और औचित्य पर बहुत जोर दिया। कुछ नाटकों में दास स्वामी से वादविवाद मे उलझ जाते, न्यायालय के दृश्यो मे प्रतिवादी द्वारा अभियोग की भूमिका शुरू कर दी जाती और कहीं रोमांचक तथा करुण दृश्यो, हलचल तथा सनसनीपूर्ण स्थलों और लड़ाई-दंगे और कुश्ती इत्यादि

का प्रदर्शन होने लगता जिससे सुखान्तकी की भावना कुण्ठित हो जाती थी। ऐसे प्रयोगों का विरोध किया गया। रोम के श्रेष्ठ नाटककारों की यह धारणा थी कि सुखान्तकी को अपने ध्येय की पूर्ति, सनसनीपूर्ण दृश्यों की अपेक्षा शान्त तथा सुरुचिपूर्ण भावना के प्रसार द्वारा ही करनी चाहिए और उसकी शैली में सरलता तथा स्थिरता अत्यावश्यक है। पुराने नाटककार, परम्परागत पात्रों —जैसे धृष्ट सेवक, क्रोधी वृद्ध, पेटू विदूषक, ढोंगी धूर्त तथा लालची कुट्टनियों—का ही प्रयोग करते थे और उन्हीं के सहारे सनसनीपूर्ण और कोलाहल के दृश्यों का निर्माण करते थे। ऐसे कुत्सित पात्र और ऐसे अनुचित दृश्य सुखान्तकी के लिए नितान्त अनुपयुक्त प्रमाणित किये गए।

पुराने नाटककारों ने एक और परम्परा बना रखी थी। वह थी प्राक्कथन द्वारा कथावस्तु अथवा विषय का परिचय। इस युक्ति से नाटककार दर्शकों की उत्सुकता बढ़ाने का प्रयत्न करते थे और इस परिचय द्वारा नाटक के फलादेश की ओर भी संकेत करते थे; कभी-कभी नाटक की उपयोगिता तथा उस अवसर-विशेष के महत्त्व पर भी वे भाषण करना आरम्भ कर देते थे। यह परम्परा ठीक इसी रूप में पूर्व में भी दिखलाई देती है। संस्कृत तथा हिन्दी के पुराने नाटककार नाटक के प्रथम अंक के पहले सूत्रधार तथा नर्तकी द्वारा मंगलाचरण गाकर, विषय तथा उस अवसर विशेष के सम्बन्ध में संवाद कराके दर्शकों को नाटक का परिचय देने का प्रयास करते थे। मंगलाचरण में देववर्ग तथा सरस्वती अथवा शिव की ही वन्दना-विशेष होती थी, जिसके द्वारा नाटककार उनकी अनुकम्पा और दया का प्रार्थी होता था जिससे उसको अपने कार्य में सफलता मिले। पश्चिम में, यद्यपि नाट्य-कला का उद्गम[1] धर्म-सम्बन्धी समारोहों के अन्तर्गत ही रहा परन्तु मंगलाचरण की परम्परा न चल पाई। कदाचित् पूर्व की धार्मिक आत्मा ही इसकी उत्तरदायिनी है। श्रेष्ठ रोमीय नाटककारों ने प्राक्कथन की परम्परा को यद्यपि बदला तो नहीं परन्तु उसके प्रयोग में परिवर्तन किया। वे प्राक्कथन द्वारा विषय का परिचय न देकर दर्शकों को शान्तिपूर्वक प्रदर्शन को देखने और समझने का आग्रह करते और अपने प्रतिद्वन्द्वी कलाकारों के आक्षेपों का उत्तर देते, कभी-कभी कला के विषय में भी वे अपने विचार प्रस्तुत करते। इसके साथ-साथ उनका यह विश्वास-सा था कि प्राक्कथन द्वारा विषय-परिचय न तो आकर्षक होगा, और न कलापूर्ण। विषय का परिचय प्रथम दृश्य के प्रथम अंक द्वारा ही कलापूर्ण तथा संकेतात्मक रूप में मिलना चाहिए। इसी युक्ति को अँग्रेजी के

१. देखिए—'नाटक की परख'

सर्वश्रेष्ठ नाटककार शेक्सपियर ने भी अपनाया।

भाषण-शास्त्र का अनुसन्धान

नाटक के अतिरिक्त इस काल में भाषण-शास्त्र के अध्ययन पर विशेष ध्यान दिया गया। भाषण शास्त्र की विवेचनात्मक परम्परा यो तो अरस्तू के समय से ही चली आती है परन्तु रोमीय वागीशों ने अपने अनुभव और अध्ययन के फलस्वरूप जो सिद्धान्त बनाये वे विचारणीय हैं। रोमीय लेखकों ने भाषण-शास्त्र पर चिन्तन करते हुए स्पष्ट विचार तथा स्पष्ट शैली की महत्ता घोषित की और नियमो की अपेक्षा सहज प्रतिभा पर ही अधिक जोर दिया। कुछ श्रेष्ठ वागीशों ने यूनानी भाषण-शास्त्र की पुस्तकों के आधार पर रोमीय जीवन के उपयुक्त निजी शैली बना ली थी। भाषण-शास्त्र को उन्होंने भी तीन वर्गों मे बाँटा। न्यायालय-सम्बन्धी, सभा-सम्बन्धी तथा जन-साधारण-सम्बन्धी ये तीन वर्ग मान्य ठहराये गए, और उत्तम, मध्यम तथा सरल, तीन शैलियो की व्यवस्था की गई। भाषण को प्रभावपूर्ण बनाने तथा उसमें सौष्ठव लाने के लिए उन्होंने अनेक आदेश दिये। वक्ता अथवा लेखक के लिए शुद्ध भाषा का ज्ञान उन्होने आवश्यक बतलाया और लम्बे वाक्यों, द्विरुक्तियों, (शाब्दिक अथवा समासयुक्त), तुकबन्दी के पदों के प्रयोग में सतर्क रहने का अनुरोध किया। वक्तृता में शालीनता तथा प्रभावोत्पादकता अलंकारों के विचारपूर्ण प्रयोग द्वारा सरलता से आ सकती है और जो अलंकार तथा अन्य प्रयोग उपयोगी सिद्ध हुए उनमे प्रमुख विरोधाभास, विचारपूर्ण द्विरुक्तियाँ, विभिन्न शब्दो में विचार-प्रदर्शन, नूतन शब्दावली का प्रयोग तथा उपमा इत्यादि हैं।

यदि ऐतिहासिक रूप में देखा जाय तो रोमीय समाज के लिए काव्य की अपेक्षा भाषण-शास्त्राध्ययन ही अधिक उपयोगी था, क्योंकि नवीन साम्राज्य की रक्षा के लिए ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता थी जो जनतन्त्र की प्रतिष्ठा बढा सकते और भाषणों द्वारा उसके आदर्शों का प्रसार कर सकते। पाठशालाओं और विद्यालयों में भाषण-कला की महत्ता बढती गई और यह स्वाभाविक ही था कि देश के श्रेष्ठ विद्वान् इस कला पर विशेष ध्यान देते। इस काल मे, यद्यपि अरस्तू और आइसाक्रेटीज के भाषण-शास्त्र-सिद्धान्त पूर्ण रूप से आधार-स्वरूप तो रहे परन्तु रोमीय विद्वानों ने कुछ सिद्धान्तों और नियमों के उलट-फेर से उसे रोमीय समाज के उपयुक्त बनाने का महत् प्रयास किया। इस प्रयास में सिसेरो का नाम उल्लेखनीय है।

भाषण-कला की उपयोगिता तथा प्रमुख तत्त्व

सिसेरो के विचारो के अनुसार भाषण-शास्त्र साहित्यिक जीवन-क्षेत्र में अत्यन्त उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है। इसके द्वारा मानव अपनी मानवता घोषित करता है, अपनी श्रेष्ठता स्थापित करता है और सभ्यता का प्रसार करता है। इसके द्वारा ही सभ्यता की प्रगति सम्भव होगी अन्यथा नहीं। जिन-जिन तत्त्वों के आधार पर भाषण-शास्त्र श्रेष्ठ हो सकता है उनमे विषय का स्थान प्रमुख है। इसलिए वक्ता में विषय का यथेष्ट ज्ञान अत्यावश्यक होगा, क्योंकि बिना इसके, केवल शब्द-जाल द्वारा, उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती। विषय-ज्ञान के साथ-साथ यदि वक्ता में अन्य विषयो, विशेषतः दर्शन, के प्रति रुचि हो तो सोने में सुहागा आ जाय। दर्शन-ज्ञान से वक्तृता की शैली में एक विचित्र गुण आ जायगा और विषय का प्रतिपादन भी श्रेष्ठता-पूर्वक होगा। अधिकतर देखने में यह आता है कि वक्तावर्ग केवल शब्द-चातुर्य दिखलाकर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं परन्तु इस प्रकार की वक्तृता का प्रभाव क्षणिक होता है; इसलिए यह आवश्यक है कि वक्ता, विषय-ज्ञान तथा दर्शन-ज्ञान के समुचित अध्ययन के उपरान्त ही अपनी वक्तृता देने का प्रयास करे। विषय-ज्ञान के अन्तर्गत विचारो के क्रम की भी गणना है। यदि विचारों का क्रम ठीक नहीं और उसमें अस्तव्यस्तता है तो वक्तृता प्रभावपूर्ण न हो सकेगी। विचारों को तो सदैव क्रम से प्रकट करना चाहिए और इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि श्रोताओ पर कैसा प्रभाव पड़ रहा है। परन्तु इसके लिए मनोविज्ञानी होना अनिवार्य है और जब तक वक्ता के विचार श्रोताओं के मनस्तल को नहीं छूते वक्तृता विफल ही रहेगी। वक्ता का सर्व-श्रेष्ठ लक्ष्य है प्रभावपूर्ण विषय-विवेचन; इसके आधार हैं क्रमपूर्ण विचार और दर्शन तथा मनोविज्ञान ज्ञान।

वस्तुतः यह समझा जाता है कि प्रभावोत्पादक रूप मे विषय-निरूपण ही वक्ता का प्रमुख ध्येय है और यह किसी हद तक ठीक भी है। परन्तु ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि वक्ता के सम्मुख अनेक श्रेष्ठ आदर्श रहने चाहिएँ। पहले आदर्श का संकेत हम दे ही चुके हैं और शेष दो हैं—श्रोताओं को कर्तव्य-रत करना और साथ-ही साथ उनके हृदय मे उत्फुल्ल उत्साह का प्रसार करना। इन तीनो आदर्शों की पूर्ति तभी होगी जब वक्ता में नैसर्गिक प्रतिभा हो और उस प्रतिभा का पालन-पोषण वह सतत अध्ययन तथा अभ्यास द्वारा किया करे। अनुकरण द्वारा भी वक्ता अपनी योग्यता बढ़ा सकता है और

इसके लिए श्रेष्ठ वागीशों की वक्तृताओ का ध्यानपूर्वक अध्ययन और अनुकरण अपेक्षणीय होगा। पहले भी अभ्यास, अध्ययन तथा अनुकरण से सभी श्रेष्ठ वक्ता लाभ उठा चुके हैं। इस सम्बन्ध में एक और तत्त्व विचारणीय है, वह है वक्तृता की कला का गुप्त प्रयोग। क्योंकि यदि वक्ता की कला स्पष्ट हो गई तो श्रोतावर्ग समझेगा कि उसे केवल बहलाया गया और वक्तृता पाखण्ड-मात्र थी। बहुत अधिक कला का भी प्रयोग ठीक नही, क्योंकि इससे उसके स्पष्ट हो जाने की पूरी सम्भावना रहेगी, जो श्रोताओ को रुचिकर न होगी।

भाषण-शैली का अनुसन्धान

भाषण की शैली के विषय मे भी कुछ महत्त्वपूर्ण तत्त्व गिनाये गए जो वक्ता के ध्येय और विषय-प्रतिपादन से सम्बन्ध रखते थे। सामान्य नियम तो यह है कि श्रोतावर्ग की रुचि और उनके मानसिक स्तर के अनुसार वक्ता की शैली बदलती रहनी चाहिए, परन्तु अवसर विशेष और लक्ष्य को भी ध्यान मे रखकर वक्तृता की शैली निश्चित करनी चाहिए। यह तो हम देख ही चुके हैं कि वागीशो के प्रमुख ध्येय तीन है—शिक्षण, आनन्द तथा उत्तेजना-प्रदान; और इन्ही के अनुसार शैली भी अपनी रूप-रेखा बदलती रहती है। शिक्षा-प्रदान के लिए सरल, स्पष्ट तथा सीधी-सादी अलंकाररहित शैली, आनन्द देने के हेतु मध्यम वर्ग की अथवा थोडी-बहुत अलंकृत और सौष्ठवपूर्ण शैली तथा उत्तेजना के लिए भव्य और प्रभावपूर्ण शैली की आवश्यकता पडेगी। श्रेष्ठ वागीश वही है जो विषय-ज्ञान तथा उसके अन्तर्गत विचारों के क्रम और सामंजस्य को ध्यान में रखते हुए श्रोता वर्ग तथा अवसर विशेष के उपयुक्त शैली का निर्णय कर लेता है। औचित्य-गुण श्रेष्ठ शैली का प्राणस्वरूप होगा।

शब्द-प्रयोग

इस सम्बन्ध मे शैली के भी कुछ विशेष नियम निश्चित किये गए जिनका प्रमुख तत्त्व था शब्द-चयन। शब्द ही शैली का मूलाधार है। उनका चुनाव हमारे दिन-प्रतिदिन की बोल-चाल की भाषा के क्षेत्र से ही होना चाहिए और प्रयोग में उपयुक्त शब्दो को ही स्थान मिलना चाहिए। प्राचीन प्रयोग अथवा स्थानिक प्रयोग में आने वाले तथा बहुत चलतू शब्द भी अलग ही रखने चाहिएँ और अलंकारपूर्ण शब्द और प्रचलित शब्दो के चमत्कारपूर्ण प्रयोग को ही प्रश्रय देना चाहिए। सबसे अधिक विचारपूर्ण बात यह है कि स्पष्ट, मुहावरेदार और गतिशील भाषा ही शैली की सब-कुछ नहीं। प्रत्येक शब्द तथा प्रत्येक वाक्यांश के हृदय मे कुछ ऐसे आश्चर्यजनक तत्त्व छिपे

रहते हैं कि साधारण रूप से हमें उनका पता नहीं चलता, अतः उनके अनेक प्रयोगों—ध्वनि-सामंजस्य, स्वर और व्यंजन-ध्वनि—का कर्णप्रिय प्रयोग, विरोधालंकार इत्यादि पर पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए। शैली में सौन्दर्य की स्थापना तभी होगी जब शब्दों के चुनाव में उनकी भव्यता तथा उनकी उपयोगिता दोनों का ध्यान रखा जायगा। कुछ लोग यह समझते हैं कि स्पष्ट तथा सीधी-सादी शैली प्रभावहीन होती है; परन्तु रोम के श्रेष्ठ आलोचक का मत है कि यह शैली जितनी सरल दिखाई देती है उतनी है नहीं और इसका प्रभाव अव्यक्त रूप में गहरा और स्थायी होता है। प्रायः सहज शैली ही प्रभावपूर्ण शैली होगी। इस समय के आलोचको, विशेषकर सिसेरो ने, वक्तृताओं में आलंकारिक और प्रभावपूर्ण शब्दों तथा समासों का प्रयोग शुरू किया, जिसको बाद के लेखकों ने भी अपनाया और उसी परम्परा का अनुसरण करके अन्य नवीन वाक्यांश भी बनने लगे। सिसेरो ने दो-एक और महत्त्वपूर्ण नियम वागीशों के सम्मुख रखे जिनके आधार पर वक्तृता की श्रेष्ठता पहचानी जा सकती थी। वक्ता को अधिक-से-अधिक श्रोतावर्ग को प्रभावित करने का प्रयास करना चाहिए और श्रोतावर्ग ही वक्तृता का श्रेष्ठ निर्णायक होगा। सभी कलाओं का आविर्भाव प्रकृति से हुआ है और जो कला नैसर्गिक गुणों के बल पर प्रभावपूर्ण नहीं बन सकती, वह श्रेष्ठ नहीं होगी।

निर्णयात्मक आलोचना-शैली की प्रगति

निर्णयात्मक आलोचना शैली की भी प्रगति इस काल में विशेष रूप से हुई। कुछ रोमीय आलोचकों ने तुलनात्मक आलोचना-शैली अपनाकर यूनानी तथा रोमीय कलाकारों का मूल्यांकन शुरू कर दिया था जिसका प्रभाव हितकर न हुआ। इन आलोचको ने कुछ थोथे नियम बना लिए थे और वे कलाकारों को उसी के हिसाब से श्रेष्ठ और हीन घोषित करते जाते थे। सिसेरो ने इस तुलनात्मक शैली को निर्णयात्मक शैली के अन्तर्गत रखा और लेखक के उद्देश्य तथा उसके युग-विशेष का ध्यान रखकर ही आलोचना लिखने का आदेश दिया। उनका सिद्धान्त था कि इस ऐतिहासिक भूमिका के पूर्ण ज्ञान के बिना किसी भी कलाकार की कला का ठीक-ठीक मूल्यांकन नहीं हो सकेगा। किसी भी कलाकार को उसके युग की परम्परा से हटाकर, दूसरे युग की परम्परा के अनुसार परखना भूल होगी, क्योंकि जिन-जिन परिस्थितियो तथा जिस-जिस वातावरण मे कलाकार रहा है उसकी पूरी छाप उसकी कला पर पड़ी होगी और उन्ही की प्रेरणा उसके काव्य अथवा कला मे मिलेगी। इस ऐतिहासिक भूमिका को भुलाकर

कलाकार को दोषी ठहराना आलोचना का दुरुपयोग ही होगा। इसके साथ-साथ आलोचक को यह भी न भूलना चाहिए कि साहित्य एक विशाल महासागर के समान है जिसमें अनेक नदी-नद मिलते रहते हैं और उसकी वृद्धि करते जाते हैं; और यह समझना कि अमुक नदी यहाँ मिली और उसकी धारा अमुक है अथवा अमुक नद यहाँ से चला और उसकी धारा कोई और है, हमारी आलोचना-शैली को दूषित कर देगा। साहित्य-सागर लगातार विस्तृत होता चला जाता है और उसकी सभी धाराएँ एक-दूसरे से मेल खाती रहती हैं; इसीलिए यह कहना कि काव्य नाटक से भिन्न है, भाषण-कला गद्य से भिन्न है, ठीक न होगा। सभी एक-दूसरे के गुण-दोष की छाया लिये रहते हैं। साहित्याकाश के सभी नक्षत्र एक दूसरे के आकर्षण के फलस्वरूप ही चमकते-दमकते हैं; उनका वर्गीकरण उपयोगी हो सकता है, कलात्मक नहीं। सिसेरो रोमीय आलोचना-प्रणाली के महत्त्वपूर्ण संशोधनकर्ता हैं।

काव्य का नव-निर्माण

यूनानी लेखकों तथा उनकी कला का प्रभाव रोम के साहित्य पर बहुत काल तक पड़ता रहा और यूनानी साहित्य-सिद्धान्तों को ही उलट-फेरकर रोमीय साहित्यकार अपनाते रहे। पहली शती पूर्व ईसा-पूर्वार्द्ध भाषण-शास्त्र की प्रगति हम पिछले प्रकरण में देख ही चुके हैं; अब काव्य-सिद्धान्तों का रोमीय रूप देखना शेष है। रोम इस समय एक विशाल साम्राज्य का केन्द्र बन गया था और रोमीय सम्राट् अगस्टस का एकछत्र राज्य हर ओर स्थापित था। जनतन्त्र की रूपरेखा बिगड़ चुकी थी और साम्राज्य-वाद का हर ओर बोलबाला था। जनतन्त्रीय रोम ने काव्य को अनुपयोगी और हीन समझकर कवियों और कलाकारों को उचित सम्मान प्रदान नहीं किया था और राष्ट्र के विजेता केवल वागीशों को ही सम्मानित करते रहे। इस काल में युद्ध बन्द हो चुके थे, जनता सम्राट् अगस्टस के इशारों पर चल रही थी, राजनीतिक जीवन शान्त हो चला था और अगस्टस नरेश का दरबारी जीवन ही आदर्शवत् समझा जाता था। इस परिवर्तित वातावरण मे न तो भाषण-शास्त्र को आवश्यकता थी और न वागीशो की पूछ; यहाँ तक कि न्यायालयों की भी कार्यवाही एक प्रकार से बन्द हो चली थी, क्योकि सम्राट् ही समस्त रोमीय साम्राज्य के भाग्य-विधाता थे। इन्हीं सब कारणो से लेखकवर्ग काव्य की ओर चल पड़ा। सम्राट् ने भी उचित प्रोत्साहन देना शुरू किया, क्योकि सम्राट् सीजर के सिद्धान्तो के विपरीत उनका विश्वास था कि साहित्यकारो की सहायता से राष्ट्रीय तथा सामाजिक जीवन सुव्यवस्थित और सुसंगठित होगा। यथेष्ट प्रोत्साहन के फलस्वरूप इस समय काव्य का नव-निर्माण शुरू हुआ और

उसके साथ-साथ आलोचना-साहित्य की भी वृद्धि होने लगी।

काव्याधार का अनुसन्धान

काव्य के नव-निर्माण में साहित्यकारों को पहले तो अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और अनेक विवादों में भाग लेना पड़ा। सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि किस आधार पर काव्य-रचना की जाय। क्या प्राचीन यूनानी काव्यों का अनुकरण हितकर होगा? क्या प्राचीन रोमीय साहित्यकारों का अनुकरण वाञ्छित नहीं? यदि नहीं, तो क्यों नहीं? इस काल में जो रोमीय काव्य साधारणतः लिखा जा रहा था उसमें अनेक दुर्गुण आ गए थे। भाव-प्रदर्शन में घोर साहित्यिकता के कारण दुरूहता आ गई थी, वर्णन में नवीनता लाने के प्रयास में लेखक कृत्रिम उपकरणों का प्रयोग करने लग गए थे और काव्य का रूप और आकार बहुत-कुछ अग्राह्य हो चला था। इसके साथ-ही-साथ प्राचीन महाकाव्यों की लोकप्रियता भी कम हो गई थी और लेखकवर्ग खण्ड-काव्य, शोक-गीत,[1] श्लेषपूर्ण गीत, स्वयंवादी शैली में लिखने लग गए थे और समस्त रोमीय काव्य पर कृत्रिमता की छाप लग गई थी। प्राचीन यूनान की आत्मा इस काल के रोमीय साहित्य से बहुत दूर जा पड़ी थी। अब एक ऐसे कलाकार और आलोचक की आवश्यकता आ पड़ी थी जो यूनान की आत्मा को रोमीय काव्य में फिर से प्रतिष्ठापित करता। यह कार्य प्रसिद्ध आलोचक हारेस ने किया।

साहित्यिक प्रगति

हारेस को इस प्रयत्न में बहुत सफलता मिली, क्योंकि ऐसे कार्य के लिए रोमीय वातावरण भी बहुत-कुछ उपयुक्त हो गया था। देश में शान्ति थी, राष्ट्रीय-भावना उच्च स्तर पर थी, और रोमीय साम्राज्य का भविष्य भी अत्यन्त उज्ज्वल दिखाई दे रहा था। इस काल के उपयुक्त काव्य यूनान में पहले लिखा भी जा चुका था और रोमीय साहित्यकारों को बना-बनाया काव्याधार मिल गया। कवियों तथा साहित्यकारों ने रोमन जाति की श्रेष्ठता, उसकी विजय, उसकी भव्यता, उसकी विशाल मानवता तथा उसकी उच्चाकांक्षाओं का गुणानुवाद करना शुरू कर दिया। इस नवीन साहित्य-निर्माण के सिलसिले में काव्य के नियमों इत्यादि पर भी विचार होना स्वाभाविक ही था। फलतः काव्य, नाटक, दुःखान्तकी तथा सुखान्तकी, व्यंग्य-काव्य और निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली सब पर व्यापक रूप से पुनः विचार होना शुरू हो गया।

---

१. देखिए—'काव्य की परख'

काव्य की रूपरेखा

सबसे पहले काव्य के उद्देश्य का निर्णय होने लगा। तत्पश्चात् काव्य के विषय, उसके रूप और आकार पर भी विचार हुआ। कुछ आलोचकों ने प्राचीन यूनानी पद्धति के अनुसार ही काव्य के उद्देश्य पर विचार किया और इस सम्बन्ध में काव्य द्वारा शिक्षण और आनन्द-प्रदान के पुराने प्रश्न फिर से दुहराये गए। साधारणतः यही विचार मान्य रहा कि जिस प्रकार चिकित्सक अपनी कडवी औषधि को मधु-मिश्रित करके रोगी को देता है उसी प्रकार कवि भी शिक्षा रूपी कडवी औषधि पर आनन्द रूपी मधु लगाकर समाज को दे। कुछ आलोचकों का मत था कि काव्य द्वारा शिक्षा अस्वाभाविक तथा असंगत है और शिक्षण काव्य का कोई महत्त्वपूर्ण अंग नहीं और यदि कोई कविता अपने काव्यात्मक रूप से आकर्षित नहीं करती तो वह श्रेष्ठ नहीं। काव्य के विषय और रूप पर विचार करते हुए साधारणतः आलोचकों ने क्रमात् यह निश्चय किया कि काव्य के विषय सहज जीवन—ऐतिहासिक अथवा सामाजिक जीवन—से लिये जा सकते हैं और ऐसे काल्पनिक स्थलों को भी स्थान मिलना चाहिए जो कलात्मक ढंग से प्रदर्शित किये जा सकें। रूप और विषय दोनों अन्योन्याश्रित हैं और दोनों ही महत्त्वपूर्ण रहेंगे। उपर्युक्त विचारों पर अरस्तू के विचारों की छाप स्पष्ट है। परन्तु जिस श्रेष्ठ आलोचक ने रोमीय साहित्य में यूनानी साहित्य-सिद्धान्तों को फिर से प्रतिष्ठापित किया उसका नाम था हारेस। उन्होंने काव्य, व्यंग्य-काव्य, नाटक इत्यादि पर अपने आलोचनात्मक विचार प्रकट करके आलोचना-क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

व्यंग्य-काव्य के तत्त्व

उन्होंने पहले-पहल व्यंग्य-काव्य का उद्देश्य स्पष्ट किया। व्यंग्य-काव्य का उद्देश्य सामाजिक अथवा वैयक्तिक दोषों, त्रुटियों तथा असंगति को ठीक करना है। उसमें न तो द्वेष होता है और न ईर्ष्या। जो व्यक्ति समाज में निराले रूप में आकर उच्छृङ्खलता फैलायगा व्यंग्य-काव्य उसी की खबर लेगा। वास्तव में व्यंग्य द्वारा हम सरलता से लोगों के चरित्र-सम्बन्धी दोष दूर कर सकते हैं। जब तर्क और वाद विवाद द्वारा हम अपनी कार्य-सिद्धि नहीं कर पाते तब व्यंग्य-काव्य का सहारा लेते हैं और उसका प्रभाव तत्काल दिखाई देता है। परन्तु व्यंग्य में इतनी तीक्ष्णता नहीं होनी चाहिए कि मनुष्य की आत्मा आहत हो जाय और उसमें प्रतिशोध की भावना जाग उठे। उसमें केवल उतनी तीव्रता होनी चाहिए जिसके सहारे चरित्र की बुराई स्पष्ट हो जाय और व्यक्ति उसे तत्काल समझ ले और उससे छुटकारा पा

जाय। सहज परिहास, जो मानव-चरित्र का सरलतापूर्वक संशोधन करे, वांछनीय होगा। व्यंग्य-काव्य की आत्मा प्रहसन की आत्मा से कहीं अधिक भिन्न होती है। प्रहसन का विदूषक हर समय, प्रत्येक व्यक्ति—शत्रु अथवा मित्र, सबके विरुद्ध शब्द-बाण चलाता रहता है। कभी-कभी क्या अक्सर यह प्रयोजन-हीन होता है। परन्तु व्यंग्य-काव्य दोषों को ही परिलक्षित करने में दत्तचित्त रहेगा। व्यंग्य-काव्य की एक विशिष्ट शैली भी है जिसमे प्रचलित शब्दों का ही प्रयोग होता है और वह प्रचलित दोषों के शमन के लिए ही प्रयुक्त होती है। सुखान्तकी के ध्येय के समान ही व्यंग्य-काव्य का भी ध्येय होगा और दोनों साधारण समाज के साधारण अवगुणों तथा दोषों की खोज करेंगे; परन्तु व्यंग्य-काव्य में अत्यन्त संक्षिप्त तथा संकेत रूप में बात कही जायगी, जो सीधे अपने लक्ष्य पर जा पहुँचेगी। उसमें न तो भूमिका की गुन्जाइश रहेगी और न आवश्यक विवेचन की। व्यंग्य-काव्य-लेखक की शैली और उसकी चित्त-वृत्ति समयानुसार बदलती रहनी चाहिए—कभी तीव्र, कभी शान्त, कभी तीक्ष्ण कभी सहज। श्रेष्ठ व्यंग्य-काव्य लेखक वही हो सकेगा जो काव्य, भाषण-शास्त्र तथा व्यंग्य के श्रेष्ठ गुणों को प्रयुक्त करता जायगा। औचित्य-पालन उसका श्रेष्ठ आदर्श होना चाहिए।

काव्य के तत्त्व — काव्य की व्याख्या करते हुए आलोचक सिसेरो ने अनेक नियम गिनाए। उनके विचारों के अनुसार काव्य तभी श्रेष्ठ होगा जब कवि उसकी शुद्धता और उसके परिष्कृत स्वरूप पर सतत ध्यान रखे, क्योंकि बिना इन दोनों विशिष्टताओं के काव्य मे न तो आकर्षण आयगा और न वह बहुत काल तक स्मरणीय ही रहेगा। श्रेष्ठ कवि शब्द-प्रयोग—नवीन तथा प्रचलित प्रयोग—पर पूरा-पूरा ध्यान रखेगा और भाषा को श्रेष्ठ स्तर पर रखे हुए गम्भीर तथा उत्कृष्ट भावनाओं का प्रसार किया करेगा। उसकी कला स्पष्ट रूप में प्रयुक्त न होकर गुप्त रूप में ही प्रयुक्त होगी और पाठकों को आकर्षित करती रहेगी। काव्य, वास्तव मे, मानव की आविष्कार-शक्ति से ही आविर्भूत है और एक दैवी प्रेरणा से, कल्पना और यथार्थ के सम्मेलन द्वारा आकर्षण प्रस्तुत करती रहती है।

काव्यादर्श — काव्य का उद्देश्य क्या होना चाहिए—शिक्षा अथवा आनन्द, इस प्रश्न पर भी व्यापक रूप से विचार किया गया। श्रेष्ठ काव्य के लिए दोनों ही तत्त्व आवश्यक हैं और दोनो ही उसके श्रेष्ठ आभूषण हैं, परन्तु काव्य शिक्षा पर यदि अधिक ध्यान रखेगा तो उसकी श्रेष्ठता कहीं अधिक घट जायगी।

समाज और देश की सेवा में काव्य का विशिष्ट सहयोग रहा है और रहेगा। काव्य ने ही सभ्यता और संस्कृति की प्रगति की, और उसी के द्वारा मानव अपनी वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक, नागरिक, मानवीय तथा आध्यात्मिक उन्नति कर सका है। काव्य, केवल अपने सुन्दर आकार से यह उपर्युक्त कार्य नहीं कर सकेगा : उसमें विचारों तथा भावनाओं को प्रेरणा देने, उन्हें उत्साहित तथा विकसित करने की भी पूर्ण क्षमता होनी चाहिए। इसी आदर्श-पालन के फलस्वरूप कवि और कलाकार को देश अमरता प्रदान करके चिरस्मरणीय बनाता है।

परन्तु कवि तभी अमर हो सकेगा जब वह कुछ विशिष्ट नियमों का पालन करे। कवि का पहला कर्तव्य होना चाहिए काव्य-कला का सम्पूर्ण तथा व्यापक ज्ञान। हाँ, यह भी सही है कि उसमे नैसर्गिक प्रतिभा भी अवश्य होनी चाहिए, क्योंकि बिना दोनो गुणों के श्रेष्ठ काव्य का निर्माण न हो सकेगा। काव्य-कला का व्यापक ज्ञान प्राप्त करने का केवल एक मार्ग है—वह है यूनानी काव्य का समुचित और व्यापक अध्ययन तथा अनुकरण। परन्तु यह अनुकरण सतर्कतापूर्वक होना चाहिए और यूनानी साहित्यकारों की श्रेष्ठ कृतियों को ही आदर्श-रूप मानना चाहिए। यूनानी काव्य के विशद तथा विशाल भाव-संसार, उसकी गम्भीरता तथा उत्कृष्टता का ही पूर्णरूपेण अध्ययन और अनुसरण अपेक्षित है।

काव्य के अन्य तत्त्व

काव्य के साधारण गुणो के अतिरिक्त जो गुण सर्वश्रेष्ठ है वह है कविता में भावों अथवा विचारों का समन्वय और संगठन। कविता के प्रत्येक भाग मे पूर्ण सामंजस्य और प्रत्येक भाव में पारस्परिक सम्बन्ध अपेक्षित है। और यह सामंजस्य वैसे ही सहज रूप मे प्रस्तुत होना चाहिए जैसे प्रकृति में प्रस्तुत रहता है। यदि कविता में यह दुहरा सामंजस्य कवि न प्रस्तुत कर सका तो उसकी रचना निम्न कोटि की होगी और उनका रूप तथा आकार वैसा ही होगा जैसा रोगियों का प्रलाप अथवा उनके अधूरे स्वप्न। अधिकतर ऐसा होता है कि कविता का भाव पूर्ण रूप से प्रदर्शित हो चुकने के बाद कवि कुछ विशेष शब्दों अथवा वाक्यांशो को, जो उसको आकर्षक प्रतीत होते हैं, उसी मे स्थान देना चाहता है और कहीं-न-कहीं उनके लिए स्थान बना भी देता है जो कविता के समन्वित रूप मे विकार पैदा कर देते हैं। इस प्रकार के प्रलोभन से कवि को बचना चाहिए। श्रेष्ठ कलाकार वही है जो अपनी शैली तथा भावों के बहाव मे न बहकर उन पर पूर्ण अधिकार द्वारा उन्हें संयत रखता

है। भावना-निग्रह ही श्रेष्ठ कला है। जो कलाकार इस तथ्य को नहीं समझते वे कला का निर्माण नहीं कर सकते। विषय की सत्यता और यथार्थ, प्रयोग की शुद्धता और परिष्कार, अभिव्यंजना की सुव्यवस्थित तथा संयत शैली श्रेष्ठ कलाकार के सहज गुण होने चाहिएँ। कवि को अपनी कविता के लिए उचित, ठोस तथा विशिष्ट विषय ही चुनने चाहिएँ और यह भी न भूलना चाहिए कि जितनी तारतम्यपूर्ण विचार-शैली होगी वैसी ही सुन्दर अभिव्यंजना भी होगी। यदि विचारो में विषमता तथा तर्कहीनता है और उनमें क्रम नहीं तो कविता मे भी यही अवगुण प्रकट होंगे। शब्दों के चुनाव में भी सतर्क रहने की आवश्यकता है। भड़कीले अथवा आवेशपूर्ण शब्दो को सहज रूप मे, विकृत शब्दों को आकर्षक रूप में तथा बोल-चाल के शब्दो को सजीव रूप में अपनाना चाहिए। हाँ, यदि कवि को अपनी भाषा मे उचित शब्द न मिल सकें तो उसे यह सहज अधिकार है कि अन्य भाषाओ से वह शब्द ले ले और अपनी शैली मे वाञ्छित गुण ले आए। काव्य-कला और चित्र-कला में अद्‌भुत समानता है। कुछ चित्र दूर से तथा जल्दी-जल्दी देखने में आकर्षक लगते हैं परन्तु जब उनका सम्यक् अध्ययन और विवेचन होता है तो वह कला हीन और अनाकर्षक प्रतीत होते हैं। श्रेष्ठ काव्य अथवा चित्र वही होगा जो अपना अनाकर्षण सतत बनाये रखे और सभी व्यक्तियो को सभी काल में सम रूप मे आनन्द प्रदान करता रहे। परन्तु यह ध्यान रहे कि इस विषय में कोई अटल नियम नहीं; आवश्यकता तथा उद्देश्य की दृष्टि से ही शब्दों का प्रयोग होना चाहिए।

शैली तथा छन्द

शैली तथा छन्द के विषय में भी हारेस के कथन सुरुचिपूर्ण हैं। श्रेष्ठ शैली साधारण शब्दों मे नवीनता ला देगी और प्रचलित शब्दों मे विचित्र सजीवता प्रस्तुत कर देगी; परन्तु यह तभी होगा जब कवि के विचारों तथा उनकी अभिव्यंजना में पूर्ण सामंजस्य हो। और इसके लिए जैसा पहले कहा जा चुका है, भावों का तारतम्य तथा उनका पारस्परिक समन्वय अत्यावश्यक है। शिक्षात्मक तथा व्यंग्यात्मक काव्य की शैली में कुछ और भी गुण होने चाहिएँ जिनमें सर्वश्रेष्ठ है स्पष्टता और संक्षिप्त भाषा-प्रयोग। इस शैली में स्पष्टता इसलिए आवश्यक है कि श्रोता को समझने में देर न लगे और संक्षिप्त भाषा-प्रयोग इसलिए कि इसके द्वारा चोट ठीक निशाने पर बैठे। परन्तु लेखक को इस विषय मे अत्यन्त सतर्क रहना चाहिए। संक्षिप्त भाषा मे दुरूहता और भव्य भाषा में अनावश्यक चमत्कार प्रकट होने लगेगा। लेखक मे सहृदयता,

सुरुचि, तथा संयम अत्यन्त आवश्यक है। छन्दों तथा साहित्य-मार्ग का निर्णय लेखक को अपने उद्देश्य को ध्यान में रखकर ही करना चाहिए। वीर-काव्य, शोक-गीत, व्यंग्य-काव्य, स्तुति-गीतो इत्यादि के लिए विभिन्न छन्दों तथा साहित्य-मार्गों का सहारा लेना चाहिए। सब प्रकार के विषयो के लिए एक ही छन्द तथा एक ही साहित्य-मार्ग न तो उपयोगी होगा और न आकर्षक।

नाटक के तत्त्व

नाटक-रचना के तत्त्वो पर भी हारेस ने समुचित प्रकाश डाला; और वस्तु, वस्तु-निरूपण, चरित्र-चित्रण, आपत्काल, औचित्य तथा नाटकीय-शैली पर महत्त्व-पूर्ण विचार प्रकट किये; परन्तु इनके विचारों पर अरस्तू की पूर्णरूपेण छाया है और उनकी रचना पर यूनानी आलोचक के प्रत्येक नियमों की झाँकी स्पष्ट-रूप में मिलेगी। यूनानी महाकाव्य-रचना के तत्त्वों को ही उन्होंने सराहा और विश्व-विख्यात कवि होमर को ही आदर्श कवि माना। वस्तु के आदि, मध्य तथा अन्त में पूर्ण सामंजस्य, निरूपण में स्पष्टता तथा अनावश्यक स्थलो का दुराव, कार्य के अनेक भागो मे तर्क-संगति, कुछ कार्यों का स्पष्ट प्रदर्शन तथा दूसरे कार्यों की सवाद द्वारा केवल सूचना (जैसे मृत्यु, रोग, हत्या के भयावह दृश्य इत्यादि), कार्य-प्रगति तथा उद्देश्य-पूर्ति में देवी-देवताओ का हस्तक्षेप, आपत्काल की सहज उत्पत्ति और नैसर्गिक प्रगति, कथोपकथन के लिए केवल तीन पात्रों की आवश्यकता, नाटक में केवल पाँच अंकों के अन्तर्गत कार्य-सिद्धि, चरित्र-चित्रण में प्रत्येक पौराणिक तथा ऐतिहासिक पात्र का परम्परानुगत प्रदर्शन, अवस्थानुसार संवाद-शैली तथा कार्य, दुःखान्तकी के लिए श्रेष्ठ समुदाय तथा भव्य शैली; सुखान्तकी के लिए साधारण वर्ग तथा हास्य-पूर्ण शैली, विषयानुसार शैली का निर्णय, मिश्रित शैली का दुराव, परिस्थिति तथा वातावरण के अनुकूल शैली, पात्र, अवस्था तथा सामाजिक महत्त्व के अनुकूल प्रभावपूर्ण शैली, तथा यूनानी साहित्य के अन्य साधारण नियमों से वह सहमत थे और उन्हीं नियमों को उन्होने दूसरे और स्पष्ट शब्दों में दुहराया। उनके समस्त साहित्यिक नियमो का मूलाधार है औचित्य और कलापूर्ण सामंजस्य।

निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली का विकास

निर्णयात्मक आलोचना-क्षेत्र में, हारेस के सिद्धान्त कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण न होते हुए भी विचारणीय हैं, क्योकि उनकी रचनाओं मे प्रचलित आलोचना-शैली का पूर्ण परिचय मिलता है। जो-कुछ भी आलोचना

उस समय में हुआ करती थी या हो सकती थी कुछ साहित्यिक गोष्ठियाँ ही उसका स्रोत थीं। ये गोष्ठियाँ समय-समय पर अपने अधिवेशन करतीं और कवियों का कविता-पाठ हुआ करता। और उपस्थित व्यक्ति मनोनुकूल जो-कुछ भी कह चलते वही आलोचना के नाम से सम्बोधित होने लगता। यदि वे किसी कवि के कविता-पाठ पर साधुवाद कह बैठते तो वह कवि अपने को श्रेष्ठ समझने का अधिकार रखने लगता। परन्तु सुनी हुई कविता और स्वयं पढ़ी हुई कविता के प्रभाव में जमीन-आसमान का फर्क हो जाता है और कवि के स्वरों का मिठास, उसके छन्द की मधुरता, उसकी लय तथा उसकी सस्वर दुहराई हुई टेक हमारे कानों द्वारा हमको प्रभावित करने लगती है; परन्तु ज्यों ही हम एकान्त मे उस कविता का स्वतः अध्ययन आरम्भ करते हैं तो वह नितान्त फीकी और निष्प्राण जान पड़ने लगती है। यह विवेचन आजकल के बहुत से कवियो पर लागू हो सकता है; पाठक तो श्रेष्ठ है; कवि श्रेष्ठ नहीं।

उस काल में, काव्य के सम्बन्ध में जो-कुछ आलोचना यदा-कदा लिखी जाती थी वह केवल वैयाकरण ही लिखते और उनके निर्णय में नियमों का ही बोलबाला रहा करता था। वे ही पाठकवर्ग का साहित्यिक पथ-प्रदर्शन किया करते थे और पाठकवर्ग उनका आदेश आँख बन्द करके मानता था। वे ही कवियो की क्रमागत श्रेष्ठता की सूची बनाते और प्रत्येक को एक विशेष प्रकार के विशेषण से सम्बोधित करके उसका साहित्यिक स्थान निश्चित कर देते। ये वैयाकरण न तो यूनानी काव्य को समुचित रूप से हृदयंगम करते और न अपने साहित्य की हीनता को ही समझते। झूठे गर्व के वश वे केवल रोमीय कलाकारों को ही श्रेष्ठ मानते और यूनानी कलाकारों और उनके कला-सिद्धान्तों को हेय समझते। इस विकृत चित्तवृत्ति तथा विषम परिस्थिति को समझकर, हारेस ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर वैयाकरण आलोचकों का विरोध किया और यूनानी कलाकारो की श्रेष्ठता स्थापित करने तथा उन्हें अनुकरणीय प्रमाणित करने का ध्रुव प्रयत्न किया। कवि-गोष्ठियों के बीच धूर्ततापूर्ण प्रशंसा-प्राप्ति को उन्होने निकृष्ट समझकर और वैयाकरणों द्वारा की गई आलोचना को द्वेषपूर्ण, ढोंग, पाखण्ड तथा असाहित्यिक घोषित किया। रोमीय साहित्य की अपरिपक्वावस्था में उन्होंने यूनानी साहित्य का अनुकरण ही श्रेयस्कर समझकर अपने सिद्धान्तों को महत्त्वपूर्ण बनाया। हारेस की रचनाओं द्वारा ही रोमीय आलोचना-क्षेत्र में यूनानी सिद्धान्त प्रतिष्ठापित हुए और इसी कार्य मे उनकी साहित्यिक महत्ता है। हाँ यह भी

कहा जाता है कि हारेस ने अपनी आलोचना लिखने में एक नवीन शैली का प्रयोग किया। उन्होंने छन्दबद्ध पत्रों में अपने विचारों और सिद्धान्तों का निरूपण किया। ये पत्र कुछ व्यक्ति-विशेष के नाम लिखे गए थे जिनको हारेस साहित्यिक शिक्षा देना चाहते थे। इस छन्दबद्ध पत्र-रूप मे आदेशात्मक आलोचना का प्रचलन आगामी काल में बहुत विस्तार से हुआ।

भाषण-कला तथा गद्य का विकास

पिछले पृष्ठों मे हमने रोमीय काव्य, उसके रूप और लक्ष्य का विवेचन दिया है। इस काल में काव्य के साथ-साथ भाषण तथा गद्य के रूप और उसके निर्माण में प्रयुक्त होने वाले नियम भी बनाये गए जिसमें प्रमुख रोमीय साहित्यकारों ने अपना सहयोग प्रदान किया। उन्होंने यूनानी साहित्य के नियमों का पूरा-पूरा सहारा लिया। भाषण-शास्त्र के निर्माणकर्ताओं ने तो पिछली शती में, पहले ही यूनान के वागीशों द्वारा निर्मित सभी नियम अपना लिये थे और थोड़े-बहुत परिवर्तन के बाद अपने देश की सामाजिक परिस्थिति के अनुसार उसकी रूपरेखा भी निश्चित कर ली थी। इस शती मे भी यूनानी वागीशो के नियम बहुत उत्साहपूर्वक प्रसारित हुए और गद्य-शैली के सम्बन्ध में विशिष्ट विचार प्रस्तुत किये गए।

इस काल में साधारणतः भाषण-शास्त्र के प्रयोग और नियम-निर्माण मे बहुत विश्रृङ्खलता फैली हुई थी और कोई भी सर्वमान्य नियम न बन पाए थे। तत्कालीन शिक्षा के पाठ्य-क्रम में भाषण-शास्त्र की महत्ता तो बहुत थी परन्तु वक्तृता की शैली के चुनाव में मतभेद था। पहले तो भाषण-शास्त्र के अध्ययन का प्रमुख ध्येय था अभ्यास-प्राप्ति; अब ध्येय हो गया जनता के सम्मुख उसका प्रयोग और प्रशंसा-प्राप्ति। इसलिए वक्तावर्ग अनेक रूप से अपनी वक्तृता को प्रभावपूर्ण बनाने के हेतु अत्यन्त आलंकारिक शैली का प्रयोग करने लगे थे और अतिशयोक्ति तथा शब्द-चातुर्य द्वारा अपने ध्येय की पूर्ति किया करते थे। उनमे समरूपता थी, शैथिल्य था, कृत्रिमता थी। उसमें न तो उत्साह था न उत्तेजना और कहीं-कहीं असंगति दोष, आलंकारिक दोष तथा वाक्य-विन्यास के अनेक दोष तथा दुरूहता दिखाई देती थी। यह शैली प्राचीन यूनानी शैली के विपरीत थी, इसलिए इस काल के रोमीय साहित्यकार यूनानी शैली को ही सर्वमान्य बनाने के प्रयत्न मे लगे रहे और उन्हें सफलता भी मिली। वास्तव में, साहित्यकारों ने अपने तीन ध्येय निश्चित किये—पहला ध्येय था यूनानी भाषण-शास्त्र को सर्वमान्य बनाना,

दूसरा था यूनानी साहित्यकारों की गद्य-शैली का प्रचार और तीसरा था साहित्य में सुरुचि का प्रसार।

यूनानी गद्य-शैली के प्रचार के लिए श्रेष्ठ आलोचको ने जो व्यवस्था बनाई उनमें प्रमुख थी श्रेष्ठ यूनानी गद्य-लेखकों की कृतियो का अध्ययन और उनका अनुकरण। परन्तु यह अनुकरण केवल शाब्दिक नहीं वरन् उन कृतियों में जो उत्साह और जो उत्तेजना निहित है उनका भी सम्यक् अनुकरण है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जिस सुन्दर वस्तु का अनुकरण आत्मिक प्रेरणा द्वारा होगा वही श्रेष्ठ होगा। प्रायः सभी आलोचकों ने पुरानी पद्धति फिर से दुहराई और प्रमाणित किया कि राजनीतिक वाक्पटुता के लिए सहज प्रतिभा, अध्ययन तथा अभ्यास अत्यावश्यक है। यह समझना कि साहित्य-रचना सरल है भूल होगी और जो लेखक ऐसा समझकर अध्ययन और अभ्यास से जी चुराएँगे केवल अपने आलस्य और मूर्खता का परिचय देंगे।

गद्य-शैली के तत्त्व

गद्य-शैली का विश्लेषण करते हुए आलोचको ने उसकी रूपरेखा, उसके तत्त्व, उसके ध्येय तथा अन्य साधारण और असाधारण गुणों पर प्रकाश डाला। पहले तो यह सिद्धान्त मान लिया गया कि विचार और उनकी अभिव्यञ्जना ही श्रेष्ठ शैली का मूलाधार है और शैली और विचार दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। कुछ अधकचरे आलोचकों ने यह झगड़ा खड़ा कर रखा था कि शैली ही प्रमुख है, विचार गौण। और वे यह मानने को तैयार न थे कि दोनों ही सम रूप से अभीष्ट हैं। साधारणतः यह नियम मान्य हुआ कि विचार आत्मा है,शरीर और आत्मा अथवा विचार के अनुकूल ही शैली की रूपरेखा होनी चाहिए। शैली का वर्गीकरण भी प्राचीन पद्धति के अनुसार ही हुआ और भव्य तथा विस्तृत, सरल तथा सहज और मिश्रित तथा समन्वित, तीन वर्ग मान्य हुए। भाषा की शुद्धता, स्पष्टता तथा संक्षेपकथन, सजीवता, भव्यता, ओज, सरसता, तथा औचित्य श्रेष्ठ शैली के महत्त्वपूर्ण गुण माने गए।

शब्द-चयन तथा शब्द-प्रयोग

श्रेष्ठ शैली में जिस तत्त्व की महत्ता सर्वश्रेष्ठ मानी गई वह था शब्द-चयन और शब्द-प्रयोग। पिछली शती में, साधारणतः सभी वागीशों ने इस तत्त्व पर, अपने-अपने विचार प्रकट किये थे और सबने शब्द-प्रयोग को महत्त्व दिया था। इस युग के आलोचकों ने शैली में सौन्दर्य लाने के लिए नवीनता तथा सुन्दरता, स्वर-सामंजस्य

मृदुलता तथा विचारशीलता, ओज तथा गांभीर्य, अनिवार्य समझा। सभी श्रेष्ठ लेखकों को शब्दों के सौन्दर्य और उनके सहज प्रयोग के विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने का आदेश मिला। शब्दों में अर्थ के अतिरिक्त उनका निजी सौन्दर्य भी निहित रहता है और उसके आधार हैं वर्ण, अक्षर तथा शब्दांश, और वही शैली सुन्दर होगी जिसमें शब्दांशों तथा अक्षरों का सहज सौन्दर्य परिलक्षित होगा। कुछ लोगो का विचार था कि प्रचलित शब्दो से परिपूर्ण शैली निम्न कोटि की होगी, परन्तु यह नियम मान्य न हुआ। कोई भी शब्द, चाहे उसका प्रयोग कितना भी क्यो न हुआ हो, साहित्य-निर्माण के लिए उपयुक्त है। हाँ, उसके अर्थ तथा ध्वनि में कोई ऐसा विकृत संकेत नहीं होना चाहिए जिससे कुरुचि उपजे।

वाक्य-विन्यास

शैली के अन्तर्गत वाक्य-विन्यास भी महत्त्वपूर्ण माना गया। वाक्य-विन्यास में शब्द-क्रम और स्पष्ट तथा तर्कयुक्त अभिव्यंजना का सतत ध्यान रखना चाहिए। लेखकों को यह समझ लेना चाहिए कि व्याकरण तथा तर्क की दृष्टि से शुद्ध भाषा लिख लेना ही पर्याप्त गुण नहीं; यह तो कोई भी कर सकता है, परन्तु श्रेष्ठ लेखक वही होगा जो भव्य तथा ओजपूर्ण भाषा लिख ले। भव्यता तथा ओज लाने के लिए वाक्यों के बीच पदों का भी उचित प्रयोग होना चाहिए और उस प्रयोग मे सामंजस्य, लय तथा सन्तुलन को पूर्ण प्रकाश मिलना चाहिए। साधारणतः कुछ शब्द तो स्वतः सुन्दर होते हैं, परन्तु उनको वाक्य में सुन्दर रूप मे सजाने के उपरान्त उनका आकर्षण दुगुना हो जाता है। बहुत से साधारण तथा प्रचलित शब्द, नवीन प्रसंग मे प्रयुक्त होकर अत्यन्त रोचक और आकर्षक हो जाते हैं और इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि यदि किसी श्रेष्ठ गद्य-लेखक की रचना में वाक्य-विन्यास उलट दिया जाय तथा प्रचलित शब्द उस प्रसंग-विशेष से हटाकर दूसरे प्रसंग में प्रयुक्त किये जायँ तो भाषा निष्प्राण हो जायगी और शब्द श्रीविहीन।

वास्तव में शब्दों तथा वाक्य-विन्यास मे औचित्य, सामंजस्य तथा लय की प्रतिष्ठा स्थापित करने के उपरान्त भी कुछ ऐसे तत्त्व रह जायँगे जिनका विश्लेषण असम्भव है। श्रेष्ठ शैली के टुकड़े-टुकड़े कर देने के पश्चात् भी हम उस चमत्कार का स्रोत नहीं जान पाते। दिखलाई तो वह हर स्थान पर देता है—शब्द में, वाक्य में, लय में—परन्तु जब उसके स्रोत का वैज्ञानिक तथा सूक्ष्म निरीक्षण होने लगता है तो वह लुप्तप्राय हो जाता है। यह चमत्कार आलोचक की समीक्षा के बाहर है। परन्तु इतना होते हुए भी कुछ ऐसे विशेष

तत्त्वों की ओर संकेत किया जा सकता है जो इस चमत्कार के आधार हो सकते हैं। इस सम्पर्क में चार गुणों की ओर संकेत दिया जा सकेगा; पहला है मधुर स्वर-सन्धि, दूसरा है लय, तीसरा विभिन्नता और चौथा है औचित्य; जिसे हर क्षेत्र में प्रधानता मिलनी चाहिए।

स्वर-सन्धि तथा लय मधुर स्वर-सन्धि के आधार स्वयं अक्षर तथा शब्दांश होंगे। स्वर तथा व्यंजन-ध्वनियों का सहयोग भी कम उपयोगी नहीं। लघु स्वरों में माधुर्य की कमी रहती है, दीर्घ स्वरों में उसकी अधिकता; अनुनासिक अक्षर तथा रकार अत्यन्त माधुर्यपूर्ण होते हैं तथा अन्य व्यंजन माधुर्यहीन। श्रेष्ठ गद्य-शैली तभी बन सकेगी जब श्रुति-मधुर शब्दों का विभिन्नतापूर्ण प्रयोग होता रहे और देर तक ऐसे सम स्वरों का प्रयोग न हो जिससे पाठक ऊब जाय। बारी-बारी से लघु स्वर के बाद दीर्घ, मधुर व्यंजन के बाद कर्कष, एक शब्दांशिक शब्द के बाद बारी-बारी से बहुशब्दांशिक प्रयोग होने चाहिएँ। संज्ञाओं तथा क्रियाओं को साथ-साथ नहीं रखना चाहिए। ध्यान रहे कि इन नियमों के प्रयोग में काफी स्वतन्त्रता रहेगी और श्रेष्ठ गद्य-लेखक वाक्यों की छोटाई, बड़ाई, विभिन्न लय तथा अलंकारों द्वारा अपनी शैली को आकर्षित बना सकता है। यह भी स्मरण रहे कि उपरोक्त तत्त्वों का प्रयोग संयत तथा कलापूर्ण रूप में ही होगा और यदि ये प्रयोग बहुल हुए तो शैली की मर्यादा गिर जायगी। इन नियमों को स्मरण रखते हुए, स्वरों तथा व्यंजनों के नवीन तथा समन्वित ध्वनियों को प्रकाशित किया जा सकता है। ये गुण श्रेष्ठ शैली की निधि हैं। इसके साथ-साथ भावों की ऊँचाई तथा गहराई, रूप तथा रंग—सबकी अभिव्यजना श्रुतिमधुर अक्षरों के वैभिन्यपूर्ण तथा सामंजस्ययुक्त प्रयोगों द्वारा हो सकती है।

श्रेष्ठ शैली में लय का महत्त्व भी कुछ कम नहीं। एक से अधिक शब्दांश वाले प्रायः सभी शब्दों में लय निहित रहता है। प्रत्येक लय के कुछ मनोवैज्ञानिक संकेत भी रहते हैं जिनका कलापूर्ण प्रयोग होना चाहिए। स्वरित तथा अस्वरित शब्दांशों के विभिन्न सम्बन्धों द्वारा अनेक प्रकार के छन्द[1] बनाए गए हैं जो विभिन्न भावनाओं को प्रदर्शित करने में उपयुक्त होंगे। उदाहरणार्थ 'स्पाएडी' छन्द में ओजपूर्ण, 'आयम्बिक' मे करुण तथा श्रेष्ठ, 'ट्रोकी' में साधारण तथा हीन, 'ऐनेपेस्ट' मे भव्य तथा विशाल और दयनीय, तथा 'डैकटिल' में प्रभावपूर्ण भावनाओं का सम्यक् प्रकाश होगा। लय ही शैली को अनुरंजित

१. देखिए—'काव्य की परख'

करके उसे श्रेष्ठ तथा भव्य बनाती है और उसके विभिन्न प्रयोगों में कला अत्यावश्यक है। परन्तु इसके साथ-साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि किसी भी क्षेत्र में अनौचित्य न आने पाए। बिना औचित्य के न तो भाषा श्रेष्ठ होगी और न शैली ही प्रभावपूर्ण हो सकेगी।

निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली

निर्णयात्मक आलोचना-क्षेत्र मे कोई विशेष प्रगति नहीं हुई और वही पुराने युग के सिद्धान्त दुहराये गए। हाँ, कुछ-एक श्रेष्ठ आलोचकों[1] ने यूनानी साहित्यिको की समीक्षा, वातावरण का ध्यान रखकर तथा ऐतिहासिक दृष्टिकोण से की और प्रत्येक लेखक का साहित्यिक स्थान निश्चित करने का प्रयास किया। मूलतः इन सबका उद्देश्य यूनानी लेखको को आदर्श रूप तथा अनुकरण-योग्य प्रमाणित करना था। और इस साहित्यिक प्रयास की ओट में अनेक यूनानी साहित्यकारों की विशेषताओ का परिचय मिलता जाता है। भाषण-शास्त्र तथा गद्य-रचना की प्रगति की समीक्षा करते हुए आलोचकों ने ऐतिहासिक दृष्टिकोण का ही सहारा लिया और प्रत्येक युग की विशेषताओं को प्रकाशित किया। सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त जो ढूँढ निकाला गया वह था साहित्यिक धाराओ की दृष्टि से लेखकों का वर्गीकरण। वस्तुतः यह विचार दृढ होता रहा कि प्रत्येक लेखक अपने पहले के लेखको की कुछ-न-कुछ छाया लिये हुए अपना कार्य शुरू करता है और यदि उसमें प्रतिभा न हुई तो उसी धारा के सहारे बहा करता है; और यदि प्रतिभा हुई तो नई धाराएँ ढूँढ लेता है। इस दृष्टि से प्रत्येक लेखक के काल-निर्णय की बहुत आवश्यकता है, क्योंकि इसी निर्णय के उपरान्त हम साहित्यिक धाराओं का रूप और उनकी गति निश्चित कर पायँगे। इस क्षेत्र में जो सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त निर्मित हुआ वह कवि और काव्य के विषय में था। अब तक आलोचकवर्ग ऐतिहासिक तथा निर्णयात्मक और तुलनात्मक शैली अपनाते तो अवश्य थे परन्तु वे काव्य मे निहित सौन्दर्य का परिचय न दे पाते थे। यह तभी संभव था जब श्रेष्ठ कवियों के काव्य का अर्थप्रकाश होता और उनकी व्याख्या होती। यह कार्य इस युग में फिर से आरम्भ हुआ। यूनानियों ने व्याख्या के आधार पर ही, तुलनात्मक समीक्षा द्वारा लेखकों की श्रेष्ठता निश्चित की थी। वही आलोचना-मार्ग रोमीय आलोचको ने भी अपनाया। इसके अनुसार शब्द-शक्ति, वाक्य-शक्ति, भाव-शक्ति, सबका विस्तृत विवेचन होने लगा। यूनानी लेखकों को भाषण-कला तथा श्रेष्ठ गद्य-शैली के सिद्धान्त

---

१. डायोनिसियस

बड़े उत्साह से अपनाये जाने लगे। रोमीय काव्य में अनेक यूनानी सिद्धान्त मान्य हो ही चुके थे; भाषण-शास्त्र तथा गद्य-शैली भी उन्हीं को पूर्णतः अपनाने में दत्तचित्त हो गई।

: २ :

राजनीतिक तथा साहित्यिक वातावरण

सन् ईसवी के आरम्भ होते ही रोमीय साहित्य तथा आलोचना-क्षेत्र में एक प्रकार का स्थायित्व आ गया और प्रगति के मार्ग रुक गए। रोमीय साहित्य पर यूनानी प्रभाव पूर्ण रूप से पड़ चुके थे और उन साहित्यिक प्रभावों को रोमीय वागीशो, कवियो तथा गद्य-लेखको ने सहर्ष अपनाया था और उसके द्वारा समस्त रोमीय जीवन का परिष्कार किया था। युद्ध-क्षेत्र का विजयी रोम, विजित यूनान द्वारा साहित्य और कला-क्षेत्र में पूर्णतया पराजित हो चुका था। जिन रोमीय साहित्यकारों ने यूनानी प्रभाव को हीन प्रमाणित करके उससे विलग रहने का प्रयत्न किया, अन्त में विफल रहे और यूनानी साहित्य की श्रेष्ठता मुक्त कण्ठ से स्वीकार कर ली गई। इतना सब होते हुए भी रोमीय साहित्य का अवसान-काल आ गया था। इसके अनेक कारण थे। प्रायः इस युग का राजनीतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक जीवन ही इसका उत्तरदायी था।

साहित्य-संसार का यह एक नैसर्गिक नियम है कि जब किसी देश में साहित्यिक स्थायित्व आ जाता है और कोई ऐसा साहित्यकार नहीं जन्म लेता जो नवीन पथ-प्रदर्शन करे तो धीरे-धीरे साहित्यिक पतन आरम्भ हो जाता है और यह पतन तब तक होता रहता है जब तक कोई श्रेष्ठ कलाकार साहित्य-क्षेत्र में आकर क्रान्ति नहीं ला देता। यही सिद्धान्त सन् ईसवी के आरम्भ के रोमीय साहित्य पर भी लागू होता है। जूलियस सीजर तथा अगस्टस-जैसे नरेशों के शासन-काल मे यूनानी प्रभावों के सहयोग और प्रोत्साहन द्वारा रोमीय साहित्य श्रेष्ठ स्तर पर पहुँच गया था, भाषण-शास्त्र की रूपरेखा बदल दी गई थी, गद्य-शैली में नवीन स्फूर्ति आ गई थी, काव्य तथा नाटक को परखने के हेतु श्रेष्ठ सिद्धान्तों का निर्माण और उनका सौन्दर्यात्मक विवेचन हो चुका था। परन्तु सन् ईसवी पूर्वार्द्ध मे ही प्रत्येक साहित्यिक क्षेत्र निष्प्राण होने लगा था। राजनीतिक तथा सामाजिक वातावरण ही ऐसा हो चला था कि श्रेष्ठ साहित्य का निर्माण कठिन हो गया था। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता छिन गई थी और नये नरेशों द्वारा शासित रोम में केवल ऐसे व्यक्तियों को सम्मान प्राप्त था जो चाटुकार थे, भोग-विलास-प्रेमी थे, चरित्रहीन थे। रोमीय सम्राट् की आज्ञा

ही कानून थी और राष्ट्रीय भावनाओं तथा नैतिक आदर्शों का कोई मूल्य न रह गया था। समाज में न तो संगठन था न सुव्यवस्था थी और वैयक्तिक तथा पारिवारिक जीवन आदर्शविहीन हो रहा था। न तो लेखकों का मान था और न उनके सम्मुख कोई आदर्श प्रेरणा ही थी। श्रेष्ठ भाषण-कला की कोई आवश्यकता ही नहीं दिखाई देती थी; काव्य लिखने वाले केवल कुछ दरबारी नौसिखिए थे जो केवल अभिजातवर्ग की चाटुकारिता में लगे रहते और निरर्थक अथवा कुरुचिपूर्ण विषयों पर कविता लिखा करते, जिसके लिए उन्हें वाहवाही मिला करती थी। साहित्य की शैली इतनी हीन दशा में थी कि उसके द्वारा श्रेष्ठ विचारों की अभिव्यंजना हो ही नहीं सकती थी। गद्य की दशा भी गिरी हुई थी। जो-कुछ भी साहित्य लिखा जा रहा था उच्छृङ्खल था और अधिकांश पर दरबारी संरक्षण था। दरबारी संरक्षण के फलस्वरूप जो साहित्य-निर्माण हो रहा था उसके असाहित्यिक होने में आश्चर्य ही क्या? काव्य तथा गद्य लिखने का एक ही ध्येय था—श्रोतावर्ग द्वारा प्रशंसा-प्राप्ति और दरबारियों की वाहवाही। लेखकवर्ग भाषा की आत्मा का हनन करके नवीनता की खोज मे लगे रहते थे, वे यही सोचा करते थे कि कौनसी बात किस प्रकार कही जाय कि लोग सुनकर दंग रह जायँ, कौनसा चमत्कार पैदा किया जाय कि आँखों में चकाचौंध आ जाय। विलक्षण शब्द-प्रयोग तथा चमत्कार-प्रदर्शन में ही लोग बावले थे। अलंकारो की भरमार हो रही थी, वितण्डावाद का बोलबाला था, अतिशयोक्ति तथा विरोधाभास, श्लेष तथा असत्याभास के प्रयोग से लेखक तथा वक्तावर्ग वाहवाही लूटने में संलग्न थे। शब्द-प्रयोग में न तो प्रसंग का ध्यान रखा जाता और न औचित्य का; केवल चमत्कार ही अभीष्ट था। इस विशृङ्खलता का फल यह हुआ कि शैली, भाषा, विचार सभी कृत्रिम, कुरुचिपूर्ण तथा हेय होते गए।

भाषण-कला की अवनति

रोम की विशेष शिक्षा-प्रणाली के कारण भाषण-शास्त्र की भी बुरी दशा थी। इस प्रणाली मे भाषण-कला का प्रदर्शन और प्रयोग साधारण जनता अथवा दरबारीवर्ग के सम्मुख हुआ करता था। वे ही इस कला के प्रशंसक तथा निन्दक थे और उन्हीं की प्रशंसा अथवा निन्दा पर वक्ता की साहित्यिक प्रतिष्ठा अथवा हीनता निर्भर थी। ऐसे सामाजिक तथा राजनीतिक वातावरण मे भाषण-कला की अवनति स्वाभाविक थी। रोमीय शिक्षा प्रणाली ने भाषण-शास्त्र को दो वर्गों मे बांटा था—एक था वाद-विवाद, जिसमे वक्ता तर्क का सहारा लेकर अपने प्रतिद्वन्द्वी को नीचा दिखाता था और

दूसरा था किसी भी विषय पर भाषण करना। इस युग के पहले जो विषय, भाषण करने के योग्य समझे जाते वे जीवन तथा समाज से सम्बन्धित रहते थे और वादविवाद के लिए भी जो विषय चुने जाते उनमें उन्हीं प्रश्नो और समस्याओ का हल ढूँढा जाता था जो समाज के सम्मुख प्रस्तुत रहा करते थे। परन्तु अब वादविवाद तथा भाषण के विषय सभी काल्पनिक क्षेत्रों से लिये जाने लगे। जो कोई भी ऐसा विषय होता जिस पर चमत्कारपूर्ण वक्तृता दी जा सकती, चुन लिया जाता—क्रूर नरेशों की अमानुषिकता की कथाएँ, भयावह स्थानों का भ्रमण, भयानक घटनाओं का स्पष्टीकरण इत्यादि विषय ही रुचिकर होते और भाषण-शास्त्र सम्बन्धी समस्त शिक्षा निरर्थक, कुरुचि-पूर्ण तथा हेय होने लगी। इसके साथ-साथ कुछ विदेशी प्रभाव भी देश के जीवन पर अपना रंग गाढा कर रहे थे। इधर देश मे कोई मौलिक साहित्य-कार था ही नहीं। जो लेखक थे भी वे केवल अनुकर्त्ता थे और इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि वे केवल अभिव्यंजना में ही खींचतान दिखलाते और चमत्कार प्रस्तुत करते। कृत्रिमता, स्वार्थ तथा कुरुचि सभी क्षेत्रों मे फैली हुई थी।

अलंकारों का महत्त्व

साहित्य-क्षेत्र मे इतनी विषम परिस्थिति होते हुए भी कुछ ऐसे साहित्यिक वक्तव्य भी प्रकाशित होते गए जिनके संकलन द्वारा साहित्यिक प्रवृत्तियों का आभास मिल सकता है। श्रेष्ठ रोमीय वागीशो ने यह आदेश दिया था कि प्राचीन काल के यूनानी भाषण-शास्त्र का अध्ययन तथा अनुकरण लेखकों के लिए हितकर और फलप्रद होगा। अनुकरणात्मक भाषण अथवा रचनाएँ यद्यपि अनुकरणमात्र रहेगी और वे मौलिक रचना का स्थान न ले पायँगी फिर भी उसके द्वारा श्रेष्ठ साहित्य-मार्ग का निर्देश मिलेगा। अनुकरण करते समय, अलंकार के सम्बन्ध मे इस नियम को न भुलाना चाहिए कि उनका कार्य शैली को केवल सुसज्जित तथा चमत्कारयुक्त बनाना नहीं; वरन् अभिव्यंजना की स्पष्टता तथा उसकी तीव्रता बढाने के लिए ही उनका उपयोग होना चाहिए। जो कुछ भी हम सीधे-सीधे स्पष्ट रूप में न कह पाएँ और जिसमें कुरुचि-प्रदर्शन का भय हो उसे अलंकारों द्वारा सर-लता से तथा तीव्रता से कहा जा सकता है। अलंकार शैली का आभूषण नहीं वह शैली का सहयोगी है और उसका अभीष्ट है भावो को स्पष्ट करना, अनुभूति देना तथा पाठको को गहरे रूप में प्रभावित करना। जो शैली अलं-कारों को केवल सज्जा के लिए प्रयुक्त करती है वह कृत्रिम तथा अस्वाभाविक

हो जायगी और उससे दुरूहता बढेगी।

काव्य की अवनति

काव्य के सम्बन्ध में भी कुछ महत्त्वपूर्ण विचार प्रकाशित हुए, परन्तु सबसे यही विदित हुआ था कि जो साहित्यिक बुराइयाँ चल पडी थीं उन्हीं का निराकरण होना चाहिए। भाषण-कला के समान ही काव्य भी दूषित था और एक ही शैली में महाकाव्य, व्यंग्य-काव्य तथा वीर-काव्य लिखने की प्रथा चल पडी थी। हर ओर कृत्रिमता और कुरुचि का एकछत्र राज्य था और काव्य-क्षेत्र में भी दरबारी संरक्षण द्वारा प्रशंसा-प्राप्ति की चेष्टा की जाती थी और श्रोतावर्ग की वाहवाही लूटने में ही कवि अपना अहोभाग्य समझते थे। कुछ सुलझे हुए आलोचकों ने यूनानी काव्य-रचना के नियमों को दुहराने का प्रयत्न किया और आदेश दिया कि कविता की भाषा में हेय शब्दों का प्रयोग नहीं होना चाहिए और न चमत्कार लाने का ही प्रयत्न करना चाहिए, और यदि चमत्कार आए भी तो ऐसे सामंजस्यपूर्ण ढंग से आए कि वह मूल काव्य-धारा से अलग-विलग न जान पड़े। सामंजस्यपूर्ण सौन्दर्य की स्थापना ही काव्य का श्रेष्ठ गुण है। कुछ ने काव्य को दैवी प्रेरणागत माना और आत्मिक रूप से, तर्क-मार्ग छोड़कर, कल्पना-क्षेत्र में विचरने का आदेश दिया। कुछ विचारकों ने काव्य की अपेक्षा दर्शन को ही समाजोत्थान के लिए हितकर समझा; कुछ ने श्रेष्ठ काव्य-रचना के लिए श्रेष्ठ नैतिक-चरित्र की आवश्यकता बतलाई; कुछ ने काव्य में यथार्थ जीवन के चित्र ही अभीष्ट सिद्ध किये और उसके बाद अन्य चिन्तनशील विषयों का अध्ययन वांछित समझा; कुछ ने शिक्षा को प्रमुख तथा आनन्द को गौण महत्त्व दिया। तात्पर्य यह कि अनेक वक्तव्य प्रकाशित हुए और उनमे कोई भी सामंजस्य न था। और होता भी कैसे? समस्त रोमीय जीवन अस्त-व्यस्त हो चुका था और किसी ऐसे साहित्यकार की आवश्यकता थी जो साहित्य को नवजीवन देता।

नाटक-रचना

यद्यपि भाषण-कला तथा काव्य-क्षेत्र, इस काल में श्रीविहीन रहा, परन्तु नाटक, विशेषतः सुखान्तकी-रचना के नियमो पर कुछ श्रेष्ठ आलोचको ने गम्भीर तथा व्यापक रूप से विचार किया। इन विचारों पर अरस्तू की छाया तो अवश्य प्रस्तुत रही परन्तु अनेक नियमो के निर्माण में मौलिकता प्रदर्शित है। पहले तो वस्तु, पात्र तथा शैली पर विचार हुआ और बाद मे हास्य के अनेक स्रोतो तथा उसके प्रभावो की विवेचना की गई। इन आलोचकों की दृष्टि में कुछ हास्यात्मक स्थलो का एकत्रीकरण ही वस्तु था और पात्रवर्ग मे विदूषक,

धूर्त, पाखण्डी तथा अहंकारी लोगों की गणना हुई। शैली में प्रचलित शब्दों का प्रयोग और जोरदार भाषा द्वारा ऐसे हास्यात्मक संकेत आवश्यक समझे गए, जिनके द्वारा सुरुचिपूर्ण हास्य प्रस्तुत हो और दोषों का स्पष्ट प्रदर्शन हो जाय। हास्य के स्रोत के विषय में कुछ नवीन विचारों की झलक मिलती है। हास्य के प्रमुख स्रोत हैं कथा-वस्तु, शैली अथवा अभिव्यंजना। द्वयर्थक शब्द, समान ध्वनि वाले परन्तु द्वयर्थक शब्द, श्लेष, निरर्थक बकवास (विशेषतः वृद्धों और वृद्धाओं का), शाब्दिक वितण्डावाद, अप्रचलित शब्द-प्रयोग, अपरिचित शब्द-प्रयोग, व्याकरण का उल्लंघन, उपमा तथा उपमेय की असमरूपता, अनावश्यक कार्य, विकृत वर्णन-शैली, उछल-कूद तथा नृत्य, अवाञ्छित कार्य, सभी से सफल हास्य प्रस्तुत किया जा सकता है। कहना नहीं होगा कि उपरोक्त विवेचन मे शायद ही कोई ऐसा स्थल छूट गया हो जिसका प्रयोग किसी-न-किसी रूप में पश्चिमी तथा पूर्वीय नाटककारों ने न किया हो।

अन्य साहित्यिक विचार

इस युग में साहित्य की प्रगति तथा अवनति के कारणों पर भी विचार हुआ जो अनेक दृष्टियों से विचारणीय है। एक वर्ग के आलोचकों का विचार था कि केवल सुव्यवस्थित, पवित्र और नैतिक भावनाओं से प्रेरित युग में ही साहित्य पल्लवित एवं पुष्पित होता है और ज्यों-ज्यों नैतिकता दूर होती जाती है साहित्य श्रीविहीन होता जाता है। दूसरे वर्ग के आलोचकों का विचार था कि जब किसी देश का साहित्य अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है तो उसके उपरान्त अवनति स्वाभाविक है और यह प्रकृति का अटल नियम भी है। उन्नति तथा अवनति का चक्र सम रूप से चला करता है। नैतिकता तथा अनैतिकता, उन्नति और अवनति में एक रहस्यपूर्ण सम्बन्ध है। जब किसी युग का साहित्य श्रेष्ठतर हो जाता है तो लेखकवर्ग अनुकरण आरम्भ करता है। यह अनुकरण मौलिक रचना का छाया मात्र होता है और धीरे-धीरे अनुकर्त्ता हताश होकर प्रयत्न छोड़ देते हैं और धीरे-धीरे साहित्य की अवनति होती जाती है। परिवर्तन प्रकृति-प्रदत्त नियम है; जन्म, प्रगति, उन्नति तथा अवनति का चक्र हमें साहित्य ही नही वरन् समस्त मानवी इतिहास में चलता हुआ दिखाई देगा।

काव्य के विषयाधारों के सम्बन्ध मे भी इस युग के कुछ आलोचकों ने अपने विचार प्रकट किये। उनका विचार था कि केवल पुराने विषयों पर ही काव्य-रचना नहीं होनी चाहिए वरन् नये विषयों को भी उसमें स्थान मिलना चाहिए। इस सिद्धान्त को मानकर कुछ कवियों ने विज्ञान, ज्योतिष

इत्यादि को भी काव्य का समुचित विषय समझकर उन पर कविता करनी शुरू की। इन लेखकों का विश्वास था कि पुराने पौराणिक विषयों—वीरों के जीवन-चरित, वीर कार्य, देवी-देवताओं के चमत्कार इत्यादि—पर पुराने कवियों ने बहुत-कुछ लिखा और वे विषय अब आकर्षणहीन होंगे। लेखकों को चाहिए कि पुराने साहित्य-मार्ग को छोड़कर वे नवीन मार्ग ग्रहण करें। इसी प्रयत्न से साहित्य की वृद्धि होगी, अथवा नहीं। उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सन् ईसवी के पूर्वार्द्ध में साहित्य-सूर्य अस्त-सा रहा। न तो कोई बहुत नवीन तथा मौलिक विचार प्रस्तुत हुए और न नवीन साहित्य-सिद्धान्त ही बने। पुराने यूनानी विचारों का ही यदा-कदा पिष्टपेषण होता रहा। आगामी युग में ही दो-एक नवीन किरणें फूटती दिखाई देंगी।

साहित्यिक वातावरण

सन् ईसवी उत्तरार्द्ध के आलोचना-क्षेत्र में ही पहले-पहल महत्त्वपूर्ण कार्य आरम्भ हुआ। यद्यपि इस कार्य की भूमिका मे वे सभी साहित्यिक प्रश्न प्रस्तुत थे जिन पर स्फुट रूप में सन् ईसवी पूर्वार्द्ध मे विचार हो चुका था, परन्तु ये नवीन विचार आगामी काल में ही महत्त्वपूर्ण प्रमाणित हुए। इन विचारो का तात्कालिक प्रभाव बहुत विशद रूप में तो नहीं पड़ा परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से ये विचारणीय हैं। इस काल में आलोचना-क्षेत्र में नवजीवन कैसे और क्योंकर आया और किन-किन परिस्थितियों द्वारा इस कार्य मे प्रगति हुई इसका लेखा भी प्रस्तुत करना आवश्यक होगा।

सन् ईसवी पूर्वार्द्ध की साहित्यिक हीनता का हम परिचय दे चुके हैं। उस काल में न तो कोई बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त ही बने और न किसी क्षेत्र में कोई मौलिकता ही दिखाई दी। परन्तु इसके विपरीत सन् ईसवी उत्तरार्द्ध में सामाजिक, राजनीतिक तथा शिक्षा क्षेत्र में कुछ ऐसे विशेष परिवर्तन हुए जिनके कारण आलोचकों को काफी प्रोत्साहन मिला और साहित्य-निर्माण-सम्बन्धी सिद्धान्त भी बनने लगे। इस समय रोम में आन्तरिक शान्ति थी। देश पर जो गृह-युद्ध के बादल मँडरा रहे थे तत्कालीन नरेशों की सुबुद्धि से छिन्न-भिन्न हो गए। शान्ति-स्थापना के साथ-साथ देश की सम्पन्नता और समृद्धि तथा उसका गौरव बढने लगा; समाज मे सुव्यवस्था आ चली और शिक्षा-प्रसार द्वारा साहित्य के पठन-पाठन मे सुरुचि बढ़ने लगी। शिक्षा-क्षेत्र में देश के शिक्षकों ने बहुत उत्साह दिखलाया; पुरानी शिक्षा-प्रणाली के दोष दूर किये जाने लगे, नवीन शिक्षा-सिद्धान्त बनने लगे और उन सिद्धान्तों को कार्य-रूप मे परिणत करने के लिए राज्य की ओर से काफी धन भी मिला।

इस नवोत्साह का फल यह हुआ कि जनता की रुचि में बहुत शीघ्र और क्रान्तिकारी परिवर्तन शुरू हो गया और अनेक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक प्रश्नों पर बड़े जोर-शोर से विचार होने लगा। जो-जो प्रश्न सन् ईसवी पूर्वार्द्ध में न तो सुलझ पाए थे, और न उठे थे वे ही उत्तरार्द्ध में फिर विचारार्थ प्रस्तुत किये गए।

भाषण-शास्त्र का परिष्कार

सबसे पहला प्रश्न जो उठा वह भाषण-शास्त्र के सिद्धान्तों तथा उनके प्रयोग से सम्बन्धित था। जैसा कि हम पिछले प्रकरण में देख चुके हैं भाषण-शास्त्र में अनेक दोष आ गए थे और उस कला के प्रयोग में भी बहुत विषमता आ गई थी। वितण्डावाद का ही नाम भाषण-शास्त्र हो गया था और साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में कुरुचि फैली हुई थी। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि भाषण-शास्त्र के नियमो तथा उसके लक्ष्य का परिष्कार होता और उसका अध्ययन वैज्ञानिक विधि से आरम्भ किया जाता। और देश के श्रेष्ठ विचारकों ने यही किया भी। पहले-पहल इस बात का निर्णय होने लगा कि किस प्रकार के देशी तथा विदेशी वातावरण में भाषण-शास्त्र की उन्नति होगी। साधारणतः यह विचार मान्य रहा कि भाषण-कला की उन्नति तभी हो सकेगी जब देश में अशान्ति हो, गृह-युद्ध की आशंका हो, बाह्य आक्रमण का भय हो, समाज अव्यवस्थित हो और जनता बारी-बारी से आशा और निराशा के वशीभूत होती जाय। इस तथ्य का ऐतिहासिक प्रमाण भी है, क्योंकि इतिहास इस बात का साक्षी है कि भाषण-कला वहीं और उसी काल में पल्लवित-पुष्पित हुई जहाँ और जब देश मे अशान्ति और अव्यवस्था फैली। भाषण-कला शान्ति द्वारा प्रसूत न होकर अशान्ति द्वारा ही प्रसूत है और यह भी सत्य है कि जैसे-जैसे देश मे सम्पन्नता तथा समृद्धि बढती जायगी इस कला की अवनति होती जायगी। भाषण-कला की उन्नति एक महायज्ञ है जिसमें अशान्तिरूपी समिधा की आहुति आवश्यक होगी।

इस सम्बन्ध मे दूसरा नियम जो मान्य हुआ वह यह था कि देश तथा काल के अनुसार ही भाषण-शास्त्र का अध्ययन और प्रयोग होना चाहिए। प्रत्येक काल मे समयानुसार जनता की रुचि परिवर्तित होती जाती है, नये-नये प्रश्न सम्मुख आते जाते हैं और इसके साथ-ही-साथ नवीन हल ढूँढने की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। इसलिए यह परमावश्यक है कि भाषण-शास्त्र की रूपरेखा तथा उसका प्रयोग और उसकी उपयोगिता देश-

काल की रुचि के अनुसार परिवर्तित होती जाय। इस विषय में सर्वदेशीय नियम नहीं बनाए जा सकते; प्रत्येक काल को स्वयं अपने उपयुक्त भाषण-शास्त्र की रूपरेखा बनानी पड़ेगी।

ऐतिहासिक आलोचना-प्रणाली की प्रगति

उपरोक्त नियम के प्रसार में हमे ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली की नवीन झलक दिखाई दे जाती है। इससे यह प्रमाणित होता है कि साहित्य तथा समाज और देश-काल मे चोली-दामन का सम्बन्ध है। साहित्य की आत्मा, देश-काल तथा वातावरण से सीमाबद्ध रहती है और उस परिधि में ही अपना विकास करने मे वह प्रयत्नशील भी रहती है। राष्ट्र अथवा देश के जीवन से जो-जो प्रेरणाएँ मिलेंगी, जो-जो अनुभूतियाँ ग्रहण की जायँगी तथा जो-जो आदर्श निर्मित होंगे उन्हीं को साहित्य प्रतिबिम्बित करने का प्रयास करेगा। वातावरण ही साहित्य का मूलाधार रहेगा और उसीके सहारे वह विकसित होता चलेगा। यदि कोई यह प्रयत्न करना चाहे कि यह सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय तो न तो यह सम्भव होगा और न आवश्यक। साहित्य अपने युग का इतिहास बनकर ही जीवित रह पायगा।

शैली का वर्गीकरण

भाषण-शास्त्र तथा ऐतिहासिक आलोचना-प्रणाली के साथ-साथ शैली पर भी सम्यक् विचार हुआ और शैली का वर्गीकरण चार वर्गों मे हुआ। पहली थी भव्य तथा उन्नत शैली, दूसरी थी सुन्दर तथा शिष्ट, तीसरी थी सामान्य और चौथी प्रभावोत्पादक। उपर्युक्त वर्गीकरण के मुख्य आधार थे विषय तथा शब्द-प्रयोग। शैली की समीक्षा, साधारण रूप मे करते हुए आलोचकों ने यह सिद्धान्त स्पष्ट किया कि केवल व्याकरण तथा मुहावरों की दृष्टि से शुद्ध भाषा लिख लेना ही अभीष्ट नहीं, क्योंकि यह तो कोई भी साधारण लेखक कर सकता है; परन्तु श्रेष्ठ लेखक वही होगा जो अपने विषय की अभिव्यंजना भी कलापूर्ण ढंग से करे। शैली, व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब होती है और जो शैली लेखक के व्यक्तित्व को स्पष्ट नहीं करती वह निष्प्राण होगी। लेखकों को यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वाक्यांश तथा वाक्य ही शैली के मूल तत्त्व हैं और उनके समुचित और सामंजस्यपूर्ण प्रयोग पर ही उसकी श्रेष्ठता निर्भर रहेगी। जिस प्रकार कविता में, छन्द के चरण तथा स्वरित और और अस्वरित शब्दों के सामंजस्य से ही श्रेष्ठता आती है उसी प्रकार वाक्यांश तथा वाक्य के सामंजस्य द्वारा श्रेष्ठ गद्य-शैली का निर्माण होगा। वाक्यांशों तथा वाक्यों का विस्तार, विचार-विस्तार पर निर्भर रहेगा; यदि विचार विस्तार-

पूर्ण हैं तो लम्बे वाक्य, यदि नहीं तो छोटे वाक्य ही, हितकर और प्रभावोत्पादक होंगे। छोटे वाक्य प्रायः प्रभावोत्पादकता लाने के लिए और लम्बे वाक्य गौरव की भावना लाने के लिए प्रयुक्त होते हैं। श्रेष्ठ गद्य-लेखकों ने दोनों प्रकार के वाक्यों के समन्वय से ऐसी प्रभावपूर्ण शैली व्यवहृत की थी जिसकी जितनी प्रशंसा की जाय कम होगी।

भव्य अथवा उन्नत शैली मे अप्रचलित तथा विलक्षण शब्द-प्रयोग फलप्रद होंगे और प्रचलित तथा साधारण शब्द-प्रयोग त्याज्य रहेंगे। उन्नत शैली में अलंकारों, समासो, नवीन प्रयोगों तथा कवित्वपूर्ण वाक्यांशों द्वारा ही प्राण-प्रतिष्ठा होगी। इन्ही साधनों से शैली मे गरिमा, गाम्भीर्य तथा गौरव का प्रदर्शन होगा। परन्तु इन साधनो के प्रयोग मे अत्यन्त सतर्क रहना चाहिए, क्योंकि इनकी जहाँ बहुलता हुई वहीं अस्वाभाविकता आ जायगी तथा प्रभाव में कमी पड़ जायगी। इस शैली में विस्तृत वाक्य-प्रयोग ही होना चाहिए,क्योंकि विस्तृत वाक्यों द्वारा, सहज ही, गाम्भीर्य की अभिव्यंजना हो जायगी। वाक्य के आदि और अन्त मे प्रभावोत्पादकता लाने के लिए ऐसे शब्दों का प्रयोग होना चाहिए जिनमे या तो स्वतः गाम्भीर्य हो अथवा उन्हे स्वरित करने पर गाम्भीर्य आ जाय। कभी कभी उन्नत शैली का निर्माण वाक्यांशो के सामंजस्यविहीन होने पर भी हो जाता है; प्रायः व्यंजन-ध्वनियो के लगातार दुहराये जाने पर भी उन्नत शैली प्रकाश पा जाती है।

सुन्दर तथा शिष्ट शैली में सुन्दर शब्द-प्रयोग, लयपूर्ण वाक्यांश-प्रयोग अलंकारो तथा उपमाओ का बहुल प्रयोग लाभप्रद तथा आवश्यक है। शब्दों के सतर्क एवं विलक्षण प्रयोग तथा संक्षिप्त-व्यंजना इनके सहज आभूषण हैं। कहावतों तथा मुहावरो और व्यंग्यार्थो के प्रयोग भी श्रेयस्कर तथा हितकर हो सकते हैं। सामान्य शैली का प्रमुख ध्येय है स्पष्टता तथा सरलता। इस ध्येय की पूर्ति के लिए प्रचलित शब्द ही प्रयुक्त होने चाहिएं और सब विलक्षण प्रयोग, समास, नवीन प्रयोग इत्यादि त्याज्य समझने चाहिएँ। वाक्यांशों तथा वाक्यों का प्रयोग साधारण तथा सहज रूप मे होना चाहिए; अव्ययों का बहुल प्रयोग हितकर होगा; और इन्हीं के द्वारा सरलता तथा स्पष्टता के अभीष्ट की सिद्धि होगी। प्रभावोत्पादक वर्ग की शैली मे प्रायः उन्नत शैली के सभी गुण होने चाहिएँ। व्यंजन स्वरों से पूर्ण शब्द-प्रयोग, विलक्षण समास-प्रयोग, अलंकार, संक्षेप-कथन द्वारा प्रभावोत्पादक शैली का निर्माण होगा। विस्तार-पूर्ण वाक्य अथवा कथन इस शैली के लिए घातक सिद्ध होगा। लम्बे, सन्तुलित तथा विरोधाभासयुक्त वाक्यांश अथवा वाक्य भी हितकर न होंगे

और उनके द्वारा प्रभाव में न्यूनता आयगी।

इस विवेचन से यह भ्रामक निष्कर्ष निकल सकता है कि शैली का उपरोक्त वर्गीकरण तर्कपूर्ण और स्वाभाविक है। परन्तु बात ऐसी नहीं। वास्तव मे शैली का कोई भी वर्गीकरण न तो स्वाभाविक ही होगा और न वैज्ञानिक, क्योंकि प्रयोग में यह सदा देखने मे आता है कि एक ही व्यक्ति तीनों शैलियो का मिले-जुले रूप मे प्रयोग करता है और श्रेष्ठ लेखक भी कहलाता है। तीनों वर्गों की शैलियों की रूपरेखा हम चाहे सैद्धान्तिक रूप मे भले ही पहचान लें परन्तु जहाँ कहीं भी हम उनका प्रायोगिक रूप देखेंगे हमें उपरोक्त वर्गीकरण की प्रतिष्ठा बनाये रखने में असमंजस होगा। यह तथ्य श्रेष्ठ रोमीय आलोचकों ने भलीभाँति समझ लिया था।

शैली के अन्य तत्त्व

शैली के अन्य गुणो की ओर संकेत करते हुए आलोचकों ने शब्दों के नैसर्गिक सौन्दर्य की प्रशंसा की और इस सौन्दर्य का प्रकाश उनके आकार तथा उनकी ध्वनि में परिलक्षित किया। विचारों की शाब्दिक अभिव्यंजना मे उन्होने संक्षेप-कथन की मर्यादा स्थापित की और संयत शैली की प्रशंसा की। वस्तुतः उनका विचार था कि विस्तृत-कथन दोष-पूर्ण होगा, क्योंकि इसे समझने में पाठको अथवा श्रोतावर्ग को अपनी कल्पना की सहायता नहीं लेनी पड़ती और उन्हे यह सन्देह हो सकता है कि लेखक उन्हे मूर्ख समझता है और इसी कारण सब बातें बहुत विस्तारपूर्वक कह रहा है। औचित्य की भी सराहना प्रायः सभी आलोचको ने की और विषय तथा उसकी अभिव्यंजना मे औचित्य को प्रधानता मिली। भावुकता के सम्बन्ध में भी उन्होंने लेखकों को सतर्क किया, क्योंकि इसके द्वारा बहुत से लेखक धोखा खाते हैं और पथभ्रष्ट हो जाते हैं। प्रचलित प्रयोग ही उन्होने लाभ-प्रद माने और निरर्थक रूप में नवीनता लाने के प्रयास को निकृष्ट समझा।

नाटक-रचना

नाटक, विशेषतः सुखान्तकी के सम्बन्ध में उन्होंने केवल कुछ पुराने नियम दुहराये। प्राय: यह विचार मान्य रहा कि सुखान्त तथा दुःखान्त भावना का सम्मिश्रण नहीं होना चाहिए, क्योंकि दोनो एक-दूसरे का प्रतिकार करेंगे। सुखान्तकी मे प्रचलित शब्दो का ही प्रयोग होना चाहिए क्योकि सिवाय अतिशयोक्ति के किसी प्रकार की भी आलंकारिक भाषा अहितकर होगी। व्यंग्यार्थ का प्रयोग ही अधिक श्रेयस्कर है, क्योंकि उसी के द्वारा सुखान्तकी की आत्मा का विकास होता है; विदूषक द्वारा हास्य प्रस्तुत करना प्रहसन के

लिए तो ठीक है परन्तु सुखान्तकी के लिए नहीं।

पत्र-लेखन

इस युग में सबसे महत्त्वपूर्ण तथा मौलिक नियम पत्र-लेखन-कला के विषय मे बने जिससे आलोचकों के मनोवैज्ञानिक ज्ञान का सम्यक् परिचय मिलता है। पत्र सरल तथा सौष्ठवपूर्ण शैली में लिखे जाने चाहिएँ। उसमें संवाद की झलक मिलनी चाहिए; परन्तु इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि यदि इस सम्वादपूर्ण शैली मे वाक्य अत्यन्त छोटे हो जायँगे तो दुरूहता बढ जायगी और पत्र प्रभावहीन हो जायगा। मन की बात सरल तथा संक्षिप्त रूप में कह डालना ही पत्र का ध्येय है—इसलिए विषय के साथ-साथ उसकी व्यंजना भी सरल होनी चाहिए। यों तो सभी प्रकार की रचनाओं मे लेखक अपना आत्म-प्रकाश करता है, परन्तु पत्र उसके आत्म-प्रकाश का सर्वश्रेष्ठ माध्यम है।

दूसरे प्रकरण में इस युग के एक महान रोमीय आलोचक के सिद्धान्तों की समीक्षा होगी जिससे आज का साहित्य भी अनेक अंशों मे प्रभावित है।

: ३ :

आलोचना का नवोत्थान : लोंजाइनस के सिद्धान्त

सन् ईसवी उत्तरार्ध में एक ऐसे आलोचनात्मक ग्रन्थ का पता चला जिससे आलोचना-क्षेत्र में नवजीवन का संचार हुआ और ऐसे मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ जिसका महत्त्व आधुनिक काल तक प्रमाणित है। यद्यपि इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के रचयिता का ठीक-ठीक अनुसन्धान नहीं हो पाया और अनेक साहित्यिक अन्वेषक अब भी इस ओर प्रयत्नशील हैं, फिर भी इस ग्रन्थ के साहित्यिक सिद्धान्तों की सबने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यह ग्रन्थ सम्पूर्ण रूप में तो प्राप्य नहीं परन्तु जो कुछ भी अंश प्राप्त हैं उनमें भाषण-शास्त्र, गद्य, कविता, शैली इत्यादि पर अनेक विचारणीय सिद्धान्त हैं और उन सिद्धान्तों के पोषक प्रमाण भी अकाट्य हैं। ग्रन्थ के प्रथम भाग में तत्कालीन लेखकों के साहित्यिक दोषो का विवेचन है; दूसरे भाग मे श्रेष्ठ शैली के तत्त्वों की व्याख्या है जिनमे प्रमुख हैं विषय की रूपरेखा का अवधारण; भावो की प्रखरता तथा गहराई; उचित अलंकार-प्रयोग; वाक्य-विन्यास का उच्च स्तर तथा शब्द-प्रयोग का औचित्य तथा श्रेष्ठ स्तर। शैली के इन विशिष्ट तत्त्वों के विश्लेषण में हमें प्रायः साहित्य के उन सार्वदेशिक तथा नैसर्गिक नियमों के दर्शन हो जाते हैं जिनकी चर्चा पहले-पहल अफलातूँ तथा अरस्तू की रच-

नाओं में यदा-कदा हो जाती थी। इसी प्रयत्न में आलोचना के कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण नियमो का भी विकास दिखाई देता है जो आज तक मान्य हैं और जिनके आधार पर ही आधुनिक आलोचना अपना नवीन मार्ग ढूँढ रही है।

पिछले प्रकरण में हम सन् ईसवी पूर्वार्द्ध में प्रचलित भाषण-शास्त्र के अध्ययन तथा उसके प्रयोग की विषमता का संकेत दे चुके हैं। तत्कालीन वागीश वितण्डावाद, बड़े-बड़े शब्दो का अनर्थक प्रयोग, विलक्षण अलंकार-प्रयोग, विस्तृत शब्दाडम्बर, गौरवहीन विषय-प्रतिपादन, उद्धत शैली, निष्प्राण वाक्य-विन्यास को ही श्रेष्ठ कला समझकर दरबारी वाहवाही प्राप्त कर रहे थे। कदाचित् इसमें उनका दोष न था, क्योंकि उस साहित्यिक वातावरण मे दूसरी प्रणाली कम सम्भव थी। फिर लेखकवर्ग सतत इस चिन्ता में रहा करता था कि यदि वक्तृता फीकी पड गई तो वे कहीं के न रहेंगे। इसलिए वे नवीनता की खोज में विलक्षण प्रयोगो, अलंकारों तथा शब्दाडम्बर में उलझ जाते थे। साहित्य की अभिव्यंजना में नवीनता की खोज स्वतः तो स्तुत्य है परन्तु उस खोज में अस्वाभाविक तथा विलक्षण प्रयोगो का लोभ संवरण करना चाहिए। इस साहित्यिक तथ्य को प्राचीन यूनानी भाषण-शास्त्रियों तथा कवियो ने भली भाँति समझ लिया था और इसीलिए उनकी शैली अनुकरणीय हुई।

श्रेष्ठ-शैली का अनुसन्धान—प्रतिभा तथा कला

श्रेष्ठ साहित्य-रचना में भव्य-शैली का प्रयोग आवश्यक है और इस शैली का उद्देश्य न तो प्रबोधक है और न शिक्षा-प्रदान; वरन् हममे मानसिक हर्षोन्माद प्रकट करना ही इसका ध्येय है। हमें इस पार्थिव जगत् से उठाकर ऐसे दूर देश ले जाना चाहिए जहाँ हम हर्षोन्मत्त होकर अपने को भूल जायँ—हममे आत्म-विस्मृति आ जाय। लेखक की शैली में यह गुण उसकी प्रतिभा तथा कला के अध्ययन और अनुकरण द्वारा ही आ सकेगा। इसके लिए दोनों ही सम रूप से आवश्यक होगे। कुछ लोगों का विचार है कि सहज प्रतिभा उच्छृङ्खल होती है और मनमाने रूप मे लेखकों को प्रेरित करती है। परन्तु सच तो यह है कि प्रतिभा अपने नियन्त्रण तथा विकास के लिए कुछ नियम गुप्त रूप से मानती चलती है; वे नियम उसी से प्रसूत हैं और उसी में निहित हैं और कला अपने परिश्रम और अध्यवसाय से उसे प्रकाशित करती है, उन्मुक्त करती है। कला के दो प्रमुख कार्य हैं—पहला है उच्छृङ्खलता का निवारण और संयत शैली की रक्षा, दूसरा प्रकृति-प्रदत्त सहज अभिव्यंजना। सौष्ठव-

पूर्ण रचना में संयम तथा उत्तेजना दोनों ही सम रूप में आवश्यक हैं; बिना एक-दूसरे के सहयोग के साहित्यिक रचना में श्रेष्ठता नहीं आ सकती।

उन्नत विचार

विषय की रूपरेखा के अवधारण के सम्बन्ध में यह मत निश्चित हुआ कि जब तक लेखक की आत्मा विशाल नहीं होगी, उसकी शैली निकृष्ट रहेगी क्योंकि यह सत्य है कि साहित्य की श्रेष्ठ और भव्य अभिव्यंजना आत्मिक भव्यता के बिना नहीं हो सकती। उच्च विचारों के लिए तो यों भी भव्य शैली आवश्यक है, क्योंकि वही उसका सहज माध्यम है। आत्मिक विशालता प्राप्त करने के कुछ साधन भी हैं। पहला साधन तो है मन को नैतिक, श्रेष्ठ तथा उच्च आदर्शों पर एकाग्र करना, उनका ध्यान धरना, उन पर मनन करना, और अपनी सम्पूर्ण आत्मा को उसी में प्ररिप्लुत रखना। दूसरा साधन है श्रेष्ठ साहित्यकारों की रचनाओं तथा उनके कथन का पूर्णरूपेण हृदयंगम और उन्हीं की आत्मिक प्रेरणाओं के सागर में अपने को डुबाए रखना, क्योंकि हीन विचारों तथा निकृष्ट साहित्य-ज्ञान से उच्चकोटि का साहित्य नहीं जन्म ले सकता। लेखकों को यह ध्यानपूर्वक समझ लेना चाहिए कि केवल कोरे शाब्दिक अनुकरण से ही अभीष्ट सिद्धि नहीं होगी और न केवल प्राचीन कवियों के साहित्य-सिद्धान्तों को अक्षरशः मानकर ही श्रेष्ठ साहित्य लिखा जा सकेगा। उन्हें उन महान् आत्माओ के आदर्शों को अपनाकर उन पर मनन करना होगा, उन्हीं की प्रेरणाओं को अपनाकर अपने को भी सहज-रूप मे प्रेरित करना होगा—संक्षेप में उन्ही के अनुभवों को आत्मसात् करना होगा। कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी चित्र अथवा मूर्ति को देखकर हममे एक विशेष प्रकार की आत्मिक उत्तेजना आने लगती है—हम एकटक उसे देखते रहते हैं, हम आत्म-विभोर हो उठते हैं, वही मानसिक स्थिति लाने के लिए श्रेष्ठ कलाकारों के चित्रों, श्रेष्ठ साहित्यकारों द्वारा रचित साहित्य की आत्मा पर मनन करना चाहिए। अनुकरण वास्तव में तभी सफल होगा जब मूल ग्रन्थ-लेखक की मौलिक प्रेरणाएँ हमे भी हमारी कल्पना द्वारा उसी रूप में प्रेरित करेंगी।

अलंकार तथा छन्द

जिन-जिन प्रायोगिक साधनो द्वारा भव्य शैली का निर्माण हो सकता है, उनमें प्रमुख हैं—अलंकार, शब्द, वाक्य-विन्यास तथा छन्द। अलंकार शैली के बाह्य आभूषण समझे जाते हैं, परन्तु यह भ्रम है; क्योंकि अलंकार बाह्य आभूषण न होकर शैली के प्राण-स्वरूप होते है, उनका मानव-हृदय से गहरा

सम्बन्ध है और उन्हीं के प्रयोग द्वारा मनुष्य अपनी सहज कलात्मक प्रवृत्ति का परिचय देता रहेगा। शैली की श्रेष्ठता तथा अलंकार-प्रयोग मे अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है और जो लेखक इस तथ्य को समझकर साहित्य-रचना करेगा वह बहुत अंशों में सफल रहेगा। परन्तु सबसे अधिक विचारणीय नियम यह है कि अलंकार अपना पूर्ण प्रभाव और चमत्कार तभी प्रकट कर सकेंगे जब उनका प्रयोग एक ऐसी शैली में होगा जो स्वतः थोड़ी-बहुत उन्नत होगी। यदि शैली स्वतः थोड़ी-बहुत उन्नत न हुई और उसमे अलंकार प्रयुक्त हुआ तो वे बाह्याडम्बर भी समझे जा सकते हैं और उसमे कृत्रिमता का आभास भी मिल सकता है। अनेक पाठको और श्रोताओ के मन में साधारणतः यह सन्देह उठ सकता है कि लेखक अपने कृत्रिम साधनो अथवा प्रयोगों से उनको प्रभावित करना चाहता है अथवा उन्हें बहला रहा है। स्वतः उन्नत शैली में अलंकार-प्रयोग द्वारा इस भावना का सफल निराकरण हो जायगा। जिस प्रकार चन्द्रिका में टिमटिमाते दीप फीके पड़ जाते हैं और अमावस्या में दूनी ज्योति से चमक उठते हैं उसी प्रकार अलंकार की कृत्रिमता का आभास उन्नत शैली मे नही के बराबर मिलेगा और अनुन्नत शैली में प्रकट हो जायगा। अलंकार प्रभावपूर्ण तभी होंगे जब उनका प्रयोग उन्नत शैली में तथा सहज और गुप्त रूप से किया जायगा।

अलंकार-प्रयोग की व्यापक समीक्षा में कुछ ऐसे विशेष अलंकारों की व्याख्या की गई और उनका औचित्य प्रमाणित किया गया जिनके द्वारा उन्नत शैली अपना अभीष्ट सिद्ध करती है। यह अभीष्ट-सिद्धि प्रत्युत्तालंकार तथा आलंकारिक प्रश्नों, नाटकीय प्रश्नो, अव्ययहीन वाक्य-प्रयोग, विपर्यास आमन्त्र तथा वाग्विस्तार द्वारा सहज ही हो जायगी। प्रत्युत्तरालंकार मे उत्तर-प्रत्युत्तर की तीव्रता से भावों मे हलचल तथा व्यग्रता का प्रदर्शन होगा जिससे कथित वाक्यों में प्रभावोत्पादकता आ जायगी, वे चमक उठेंगे, उनमे जीवन की तीव्र गति का आभास मिलेगा। विशद तथा विशुद्ध वर्णन में यह बात न आ पायगी। अव्यय-रहित वाक्यों मे भी भावोद्रेक, उसकी तीव्रता और समयानुसार प्रशमन होता रहेगा। इसके साथ-ही-साथ शब्दावृत्ति द्वारा भी प्रभाव गहरा किया जा सकता है, जो भावो की व्यग्रता का प्रतीक बन जायगा और श्रोताओं को भी गम्भीर रूप में प्रभावित करेगा। इन शब्दालंकारो के प्रभाव को ठीक-ठीक समझने के लिए एक सरल प्रयोग है। पाठक को अव्यय-रहित वाक्यों में अव्यय-पूर्ति करते ही प्रभाव की विभिन्नता का स्पष्ट पता चल जायगा। पूरक अव्यय, भावों की सहज व्यग्रता, उत्कण्ठा तथा व्याकुलता

को दूर करके वाक्य को निष्प्राण कर देंगे।

वाक्य-विन्यास

वाक्य की साधारण बनावट में उलट-फेर अथवा रूपान्तर करने पर भी आलंकारिक चमत्कार आ जाता है; और इस प्रयोग द्वारा भी भावनाओं की गहरी अनुभूति दी जा सकेगी। इसका कारण यह है कि जब मनुष्य विह्वल अथवा उत्तेजित रहता है तो उसके कथित वाक्यों की बनावट बिगड़ी हुई रहती है और वे वाक्य उसकी उत्तेजना की अभिव्यंजना भली भाँति करते हैं— कर्ता, कर्म, संज्ञा, विशेषण इत्यादि सब उसके वाक्य में आते तो हैं मगर अपने साधारण विन्यास में नहीं। कभी वक्ता बोलते-बोलते विषयान्तर कर बैठता है, कभी बोलते-बोलते एकदम से रुक जाता है, कभी भावोद्रेक में शब्द दुहराने लगता है। इन सबका प्रदर्शन विकृत वाक्य-विन्यास द्वारा सरल और स्वाभाविक होगा। किन्तु इस अलंकार का प्रयोग तभी सफल होगा जब वक्ता अपने विचार अधूरे छोड़ दे, दूसरे विचारों की शृङ्खला बाँधे, फिर उसे भी छोड़कर तीसरे विचार की व्यंजना करे और श्रोताओं के मन में इस बात की शङ्का उत्पन्न कर दे कि अब कदाचित् तीनों अधूरे और विभिन्न विचारो की न तो पूर्ति हो सकेगी और न उनमें साम्य उपस्थित हो सकेगा, और जब यह आशंका पूरी-पूरी हो जाय तो उसी समय वक्ता विलक्षण रूप से विचार-पूर्ति करके सब में साम्य प्रदर्शित कर दे।

प्राय: सम्बोधनालंकार, विस्तृत अथवा संक्षिप्त वर्णन, तथा शाब्दिक विन्यास-परिवर्तन द्वारा भी उन्नत शैली की अभीष्ट-सिद्धि होगी। सम्बोधनालंकार का प्रयोग श्रोताओं में गौरव की भावना लाता है और वे उत्साहित होकर उसी प्रवाह में बह चलते है। सम्बोधन की भूमिका में वे उन भावनाओ का मूर्त रूप देखेंगे जो केवल काल्पनिक रूप में वे समझ सकते थे और इसके द्वारा उन पर जो विचित्र प्रभाव पड़ता है उनके समस्त मनस्तल को उच्च स्तर पर रखता है। विस्तृत वर्णन द्वारा सरलता से वाक्य-विन्यास में लय की प्राण-प्रतिष्ठा की जा सकती है और उसके बहुल प्रयोग का प्रभाव वैसा ही होगा जैसा अनेक वाद्यों के सम्मिलित स्वरों अथवा झंकार का होगा। परन्तु इसका प्रयोग अत्यन्त सतर्कतापूर्वक होना चाहिए, क्योंकि इसमे समस्त शैली के निष्प्राण होने की आशंका प्रायः बनी रहेगी। शाब्दिक अथवा वाक्य विन्यास के अन्तर्गत एकवचन के स्थान पर बहुवचन तथा भूत काल के स्थान पर वर्तमान की कल्पना की गणना होगी। दोनों के विशुद्ध प्रयोग से उन्नत शैली अत्यन्त प्रभावपूर्ण हो जायगी। परन्तु अलंकार-प्रयोग मे लेखक वर्ग को बहुत

सावधान रहना चाहिए। उनका प्रयोग केवल मनोवैज्ञानिक रूप में नहीं वरन् वातावरण तथा स्थान-विशेष, देश-काल, व्यक्ति तथा विषय सबका समुचित विचार करने के बाद होना चाहिए। नहीं तो लाभ की जगह हानि की अधिक सम्भावना होगी। औचित्य विचार के बिना किसी भी अलंकार का सफल और स्वाभाविक प्रयोग असम्भव होगा। रूपक तथा अतिशयोक्ति के प्रयोग तथा उनकी संख्या का निश्चय भावों की गहराई तथा उनके विस्तार पर होगा। इस विषय में कोई नियम मान्य नहीं; केवल औचित्य ही श्रेष्ठ है।

भव्य अथवा उन्नत शैली में शब्द-प्रयोग का विचार भी आवश्यक होगा। लेखकवर्ग को प्रचलित तथा विलक्षण शब्दों के उचित प्रयोग का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। कुछ पुराने आलोचकों ने शब्द के रूप, ध्वनि और आकार में निहित सौन्दर्य की ओर संकेत किया था। अब यह निश्चित रूप से कहा जाने लगा कि प्रत्येक शब्द मे एक ऐसा चमत्कार निहित है जो वाक्य मे प्रयुक्त होते ही स्पष्ट होने लगता है। जब-जब और जहाँ-जहाँ शैली में उच्चता अथवा भव्यता, तीव्रता अथवा सौन्दर्य प्रस्तुत होगा, शब्द के चमत्कार का सहयोग बहुत-कुछ वहाँ रहेगा। सुन्दर शब्द निर्जीव विचार को सजीव कर देते हैं; उन्हीं के चमत्कारपूर्ण प्रकाश से विचार दीप्तमान हो उठता है। परन्तु लेखकों को भव्य शब्दो के प्रयोग में बहुत सतर्क रहना पड़ेगा—उनका प्रयोग ओछे प्रसंग में नहीं होना चाहिए। परिचित शब्दों का प्रवाहपूर्ण प्रयोग ही साधरणतः फलप्रद होगा। वाक्य में, शब्दों की सजावट के कारण भी भव्य शैली में सौन्दर्य तथा प्रभाव आता है। शब्दों की सामंजस्यपूर्ण सजावट के फलस्वरूप केवल आनन्द तथा प्रबोधन ही नहीं वरन् भव्यता की भी प्राण-प्रतिष्ठा होती है। यह प्राण-प्रतिष्ठा संक्षेप-कथन द्वारा भी होगी परन्तु इस बात का सतत ध्यान रखना चहिए कि संक्षेप-कथन मे दुरूहता न आने पाए।

भाषण-कला

भाषण-कला तथा शास्त्र की अवनति के कारणों पर विचार करते हुए यह नियम स्थिर किया गया कि प्रजातन्त्र में ही भाषण-कला की उन्नति होगी, क्योंकि उसी प्रकार के शासन-विधान में वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा राजनीतिक और राष्ट्रीय भावनाओं का पालन-पोषण हो सकता है। ऐसे ही शासन-विधान के अन्तर्गत महान् आदर्शों की ओर जनता अग्रसर होगी, उनकी कल्पना जाग्रत होगी, उनमे भविष्य के प्रति आशापूर्ण मंगल-कामनाओं का जन्म होगा, जिसके फलस्वरूप महान् साहित्य का निर्माण होगा। भाषण-शास्त्र तथा काव्य का श्रेष्ठ सृजन होगा; उसमें अमरत्व के गुण रहेंगे। साम्राज्यवादी

शासन द्वारा दासत्व की भावना जाग्रत होगी, समाज के आदर्श दूषित हो जायँगे और जनता निराश तथा हतभाग्य बनी रहेगी और ऐसे वातावरण मे उसकी नैसर्गिक प्रतिभा का विकास भी नहीं हो पायगा। ऐसी परिस्थिति में न तो श्रेष्ठ जीवन-यापन होगा और न श्रेष्ठ साहित्य का निर्माण। यह देखा भी गया है कि लोभ तथा लिप्सा पाखण्ड तथा अनैतिकता का प्रसार करती है और मानव की आत्मा को कुण्ठित कर उसका पतन कराती है।

आलोचक की शिक्षा-दीक्षा

विशुद्ध आलोचना-क्षेत्र में, साहित्य को परखने के लिए भी अनेक श्रेष्ठ और मौलिक नियमों का निर्माण हुआ। आलोचक का कार्य वास्तव में बहुत कठिन है। उसे प्रचुर मात्रा में साहित्यिक अनुभव होना चाहिए; वस्तुतः साहित्यिक अनुभव की पराकाष्ठा ही आलोचना का रूप ग्रहण कर लेती है। आलोचक अपने इसी अनुभव द्वारा श्रेष्ठ साहित्य के गुणों की ओर संकेत कर सकता है। श्रेष्ठ साहित्य का सर्वश्रेष्ठ गुण है उन्नत कल्पना तथा भावों की व्यापकता अथवा गहराई। उसमें आत्मोत्कर्ष देने की शक्ति होती है, आत्मा में गर्व और आनन्द की लहरें प्रवाहित करने की क्षमता होती है; उसमें प्रत्येक शब्द अपने साधारण अर्थ की अपेक्षा कहीं अधिक गहरे अर्थ की अभिव्यञ्जना करते हैं। अब तक प्रबोधक शिक्षा तथा आनन्द अथवा बौद्धिक एवं भावात्मक संकेत देना ही श्रेष्ठ काव्य का गुण माना जाता था, परन्तु इस काल से काव्य की कल्पनात्मक प्रेरणा तथा भव्य भावनाओं के प्रसार की क्षमता उनका मुख्य गुण समझा जाने लगा। उसमें मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रभावित करने की क्षमता की माँग होने लगी। इन मौलिक नियमों के साथ-साथ साहित्य के अमरत्व के विषय मे भी एक श्रेष्ठ नियम बना। श्रेष्ठ साहित्य का प्रमुख गुण है उसका अमरत्व। वह देश-काल की परिधि के बाहर है और उसकी प्रेरणा प्रत्येक काल में एक-समान रहती है। उसमें कथित सत्य कालान्तर में परिवर्तित नहीं होते; उनका महत्त्व समय तथा काल कम नहीं कर पाता; वे युग-युगान्तर में अपनी प्राचीन ज्योति लिये चलते हैं और वह ज्योति कभी भी धूमिल नहीं हो पाती। कला की श्रेष्ठता इसी में है कि वह प्रत्येक युग में, मानव को समरूप से आकर्षित करे। कला की श्रेष्ठता का सर्वश्रेष्ठ निर्णायक है काल। यदि कला प्रत्येक काल में अपनी प्रतिष्ठा बनाए रख सकती है तो वह अमर होगी। आधुनिक काल के आलोचको के इस नियम को स्तुत्य मान कर इसका अक्षरशः प्रयोग किया है। श्रेष्ठ साहित्य वही है जो अनेक बार पढ़े जाने पर

भी फीका नहीं जान पड़ता, जितना ही और जितनी बार भी वह पढ़ा जाता है उसमें नवीन चमत्कार प्रस्तुत होता जाता है। प्रत्येक युग के पाठकों को वह सम-रूप में आनन्दित, आकर्षित तथा प्रेरित करता रहता है। श्रेष्ठ कला तथा मानवी भावो मे एक ऐसा आध्यात्मिक सम्बन्ध रहता है जो युग और काल के क्रूर हाथ तोड़ नहीं पाते—वह डोर अटूट रहती है। उस आध्यात्मिक सम्बन्ध में एक ऐसी ज्योति रहती है जो अपनी आभा युग-युगान्तर में सम रूप से बनाये रखती है। सभ्यता तथा संस्कृति के भेद-भाव भी वह नहीं जानती, उसे जहाँ कही मानव-हृदय मिलता है वह अपना आकर्षक वितान तनने लगती है।

श्रेष्ठ-साहित्य-निर्माण

पहली शती के प्रायः सभी आलोचको की धारणा थी कि श्रेष्ठ साहित्य में शब्द इत्यादि के शुद्ध प्रयोग आवश्यक हैं, परन्तु यह विचार भ्रामक ही नहीं हेय भी है। व्याकरण तथा प्रयोग की शुद्धता से ही श्रेष्ठ साहित्य प्रादुर्भूत नहीं हो सकता, प्रत्युत शुद्धता की परवाह न कर भव्यता का विचार ही वांछनीय होगा। श्रेष्ठ लेखक अपने उच्च विचारो के प्रवाह में बहता हुआ यदि इधर-उधर दो-चार अशुद्धि कर भी जाय तो भी क्षम्य है। परन्तु वह साधारण लेखक, जो साधारण और आवेशहीन रूप से केवल शुद्धता का ध्यान रखते हुए उच्चता की ओर अग्रसर नहीं होता, अक्षम्य है।

उच्चकोटि की कल्पनात्मक साहित्यिक रचना में दोष क्षम्य है,परन्तु साधारण कोटि की रचना में क्षम्य नहीं। प्रायः सभी श्रेष्ठ कल्पनात्मक उड़ानों मे दो-चार दोष रह ही जायँगे और उससे कोई विशेष हानि भी नहीं होगी। श्रेष्ठ साहित्य का ध्येय होना चाहिए भव्यता का प्रसार, और इस ध्येय की पूर्ति मे कोई भी कमी न होनी चाहिए, चाहे शुद्धता मे कमी हो जाय। मानव-हृदय में भव्य तथा विशाल दृश्यों की ओर नैसर्गिक आकर्षण रहता है। आकाश का विस्तार, हिमाच्छादित पर्वत-शिखर, चन्द्रिका का हास, सूर्य का तेज, वर्षा का मेघ-गर्जन, सभी मानव-हृदय को अव्यक्त रूप में प्रभावित करते आए हैं और करते रहेगे। उसी प्रकार साहित्यिक भव्यता की ओर भी मानव सहज ही आकर्षित होता है, उसी भव्यता की अनुभूति मे मनुष्य परमात्मा के सामीप्य का आभास पाता है। कदाचित् इस प्रकार के आलोचनात्मक विचार उस युग के लिए नवीन ही नहीं वरन् आश्चर्यजनक भी हैं।

कल्पना का महत्त्व

कल्पना के तत्त्व और उसके प्रयोग पर विचार करते हुए यह निष्कर्ष निकाला गया कि कल्पना का प्रमुख ध्येय है यथार्थ जीवन के परे ऐसे परी-देश का निर्माण,

जिसमें हमारे जीवन की आशाओं और उच्चाकांक्षाओं, हमारे आदर्शों तथा हमारी कामनाओं की पूर्ति दिखाई दे। हमारे यथार्थ जीवन से उनका वैसा ही सम्बन्ध हो जैसा ध्रुव नक्षत्र तथा सप्त-ऋषियों में है। वहाँ हमें अपने जीवन की अलभ्य वस्तुओं का मूर्त रूप दीख पड़े, उनमे कल्पना-जगत् का यथार्थ हो। जीवन के अनेक स्थलों से कुछ तत्व चुन-चुन कर कवि, अनेकरूपी वस्तु में एकरूपता लाकर ऐसे समन्वित जीवन की विशद् कल्पना कर सकता है जिसे देखकर हमारी आत्मा को आनन्द मिले, हमें दैवी प्रकाश मिले, हमें निस्सार जीवन का सार मिले। क्रियात्मक कल्पना का यही श्रेष्ठ कार्य है। इसका प्राण है भावोद्रेक; इसका आदर्श है यथार्थ से प्रतिबिम्बित एक दूसरे जगत् की कल्पना, जहाँ जीवन का सत्य हमें सहज ही आत्मसात् हो जाए।

तुलनात्मक तथा निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली

कल्पना-क्षेत्र के अतिरिक्त तुलनात्मक आलोचना प्रणाली के सम्बन्ध में भी काफी व्यापक तथा महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये गए। यद्यपि पिछले युगो के यूनानी आलोचको ने इस प्रणाली-विशेष की सराहना की थी और उसके प्रयोग पर जोर दिया था, परन्तु इस युग मे इसके प्रयोग में बहुत उत्साह दिखाई देता है। काव्य की सार्वभौमिकता का निश्चय करने के उपरान्त यह स्वाभाविक ही था कि अनेक देशों और अनेक युगों के साहित्यकारों की तुलनात्मक समीक्षा होती और उनमें काव्य के सार्वदेशीय सिद्धान्तों की खोज होती, और यह हुआ भी। पहले यूनानी तथा रोमीय साहित्यकारो का तुलनात्मक विवेचन शुरू हुआ, तत्पश्चात् साहित्य के श्रेष्ठ तत्त्वो की ओर संकेत किया गया। कलाकारों की प्रमुख तथा गौण विशेषताओं का विस्तृत विवेचन होने लगा और कल्पना, भावोद्रेक इत्यादि की प्रचुरता के आधार पर उनकी श्रेष्ठता पर वक्तव्य प्रकाशित होने लगे। इसके आधार पर निर्णयात्मक आलोचना-क्षेत्र में विशेष प्रगति हुई। नियमों की मर्यादा बिलकुल गिरा दी गई; व्याकरणात्मक शुद्धता इत्यादि की कोई भी परवाह न की गई। केवल ऐसे तत्त्वों पर जोर डाला गया और ऐसे गुणों की सराहना की गई जो श्रेष्ठ साहित्य के प्राण-स्वरूप थे। आलोचक का ध्येय बदल गया, उसे कलाकार के अच्छे-बुरे होने का निर्णय न करके काव्य के विशेष तत्त्वों की ओर ध्यानाकर्षित करने का आदेश मिला। उस पर से निर्णय देने का भार हट गया और उसका महत्त्व इसी में रहा कि वह कलाकार द्वारा रचित-काव्य का अर्थ-प्रकाश करे, पाठकवर्ग को उस अर्थ को हृदयंगम करने में सहायता दे, उसके प्रति उनमें उत्साह की मात्रा बढाए, काव्य के हृदय

का दर्शन कराए तथा बौद्धिक अथवा काल्पनिक अनुभूति तीव्र करे। आधुनिक युग के श्रेष्ठ आलोचकों ने आलोचना के इस उद्देश्य को पूर्णतः सराहा है और इसे सिद्धान्त रूप मे मान लिया है। इस दृष्टि से सन् ईसवी उत्तरार्ध के आलोचक श्रेष्ठ थे और उनकी आलोचना-प्रणाली अत्यन्त मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण थी।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सन् ईसवी उत्तरार्ध में आलोचना-क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई। यद्यपि अनेक प्राचीन यूनानी तथा रोमीय आलोचकों[1] ने बहुत से आलोचनात्मक नियमों का निर्माण कर रखा था और उनके प्रयोगों की विशद व्याख्या भी की गई थी परन्तु इस काल मे निर्मित सिद्धान्तो की मौलिकता तथा उनका महत्त्व प्रमाणित है। भव्य-शैली के तत्त्वो की व्याख्या, अलंकारो के मनोवैज्ञानिक आधार का अनुसंधान, अनुकरण-कला की नवीन परिभाषा, कल्पना तथा भावोद्रेक की महत्ता, तुलनात्मक तथा निर्णयात्मक आलोचना-शैली की समीक्षा, साहित्यिक अमरत्व के गुणों की खोज—सभी, इस युग के महत्त्व के स्पष्ट प्रमाण हैं। इस युग में ऐसे साहित्यिक तत्त्वों का विकास हुआ, जिनकी पूर्ण छाया आज के साहित्य-संसार पर भी विदित है। आधुनिक काल की आत्मा का प्रथम दर्शन प्रायः इसी युग में स्पष्टतः मिलेगा।

भाषण-कला का सुधार

सन् ईसवी उत्तरार्द्ध में काव्य-शैली के अतिरिक्त भाषण-शास्त्र तथा उसके अन्तर्गत अनेक प्रकार की शैलियो पर भी सम्यक् रूप से विचार हुआ। इस ईसवी की अनेक साहित्यिक विशृङ्खलताओ की ओर हम पहले संकेत कर चुके हैं। भाषण-शास्त्र के क्षेत्र मे बहुत अस्तव्यस्तता फैली हुई थी और लेखक तथा वक्तावर्ग मनमाने रूप में भाषण-शास्त्र का प्रयोग करने लग गए थे और जिन-जिन विषयों पर वागीश अपनी कला प्रयुक्त करने लगे थे, वे कृत्रिम ही नहीं अनुपयोगी भी थे। भाषण-शास्त्र-क्षेत्र में शायद ही कोई स्पष्टता पर जोर देता हो। सभी लेखक और वक्ता शब्दाडम्बर, विस्तृत वर्णन, श्लेषात्मक अथवा व्यंग्यात्मक कथन के पीछे पागल थे। साहित्य मे हर ओर कुरुचि फैली हुई थी। पुराने यूनानी तथा रोमीय वागीशों की उन्नत कला भुला दी गई थी—सस्ते अलंकार-प्रयोग द्वारा श्रेष्ठता लाने का प्रयास किया जा रहा था और पाठकवर्ग भुलावे में पड़ा हुआ था। वाक्य-विन्यास में अनर्थक परिवर्तन किये जाते थे और छोटी-छोटी निकृष्ट रचनाओं

१. अफलातूँ, अरस्तू, हारेस, डायोनिसियस, टैसिटस।

से अलंकार ढूँढ निकाले जाते थे जिनका उत्साहपूर्ण प्रयोग हुआ करता था। अतिशयोक्ति, वितण्डावाद, आडम्बर, अनर्गल संवाद तथा निरर्थक शब्दावली के फेर में प्राय: सभी तत्कालीन लेखक पड़े हुए थे। तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली तथा वैयाकरणो द्वारा विरचित नियमावली, कदाचित् इस विषमता के लिए अधिकांश रूप मे उत्तरदायी थी। सामाजिक तथा राजनीतिक वातावरण पर भी उसका उत्तरदायित्व रखा जा सकता है। वैयाकरणो ने बिना भाषण-कला की आत्मा को पहचाने हुए नियम बनाने शुरू कर दिए और इस अनधिकार चेष्टा से बहुत हानि हुई। पाठशालाओं में पढाई जाने वाली पुस्तकें भी कृत्रिम नियमो और कुरुचिपूर्ण साहित्य को प्रोत्साहन दे रही थीं। प्रभावोत्पादकता के लिए ध्रुव प्रयास किया जाता था, और आदि से अन्त तक इसी प्रयास में लेखकवर्ग लगा रहता था। कुछ शिक्षक, भ्रमवश, शिक्षा भी ठीक तरह से नहीं दे रहे थे। उन्होंने अभिव्यंजना को सब नियमों से मुक्त कर दिया और केवल प्रेरणा को महत्त्व दिया जिसका फल यह हुआ कि विलक्षणता तर्क को चुनौती देती रही और श्रोतावर्ग बिना अर्थ समझे और उसकी परवाह किये केवल शाब्दिक तड़क-भड़क के वशीभूत वक्तावर्ग को वाह-वाही देता रहा।

परन्तु इस काल के उत्तरार्द्ध में परिस्थिति कुछ बदल-सी गई, क्योंकि राजनीतिक तथा शिक्षा-क्षेत्र में परिवर्तन हुआ और जनता और पाठकवर्ग कुछ ऐसे साहित्यिक सिद्धान्तो की खोज में रहने लगे जो विश्वस्त होते और जिनसे देश के साहित्य की प्रगति होती। पिछले वर्षों मे अनेक वागीश, भाषण शास्त्र पर अपने विचार प्रकट कर चुके थे परन्तु सबके विचार कहीं-न-कहीं एक दूसरे के विरोधी थे। परन्तु अब देश के परिवर्तित वातावरण में यह आवश्यक हो गया कि कोई श्रेष्ठ आलोचक प्रचलित बुराइयों के निराकरण के हेतु भाषण-शास्त्र पर वैज्ञानिक रूप से विचार करता, श्रेष्ठ नियम बनाता और उन नियमों को उदाहरण द्वारा प्रमाणित करता। यह कार्य सन् ईसवी उत्तरार्द्ध में ही एक श्रेष्ठ आलोचक[1] द्वारा पूर्ण हुआ।

इस साहित्यिक प्रयास के अन्तर्गत भाषण-शास्त्र पर विस्तृत रूप में विचार हुआ, उसका वर्गीकरण हुआ, उसके उद्देश्य तथा प्रकृति का विवेचन किया गया, उसके विषय तथा शैली का विश्लेषण हुआ और श्रेष्ठ वागीशो के गुणों की व्याख्या की गई। भाषण-शास्त्र का मुख्य उद्देश्य मत-परिवर्तन तथा प्रबोधकता था, इसलिए तर्क तथा उसके सम्यक् विकास की भी आवश्यकता आ पड़ी। शब्द ही तर्क में प्रयुक्त होते थे इसलिए शब्द-चयन और

१. क्विन्टिलियन

उनका सामंजस्य भी कम आवश्यक न था। यही नियम प्राचीन वागीशो ने भी मान्य समझे थे, परन्तु उन प्राचीन नियमो को इस काल मे परिष्कृत रूप मिला और नियमो पर तो कम, साहित्य की आत्मा पर विशेष जोर दिया गया। इस सम्बन्ध मे यह कहा गया कि अच्छे लेख तथा अच्छी वक्तृता में कोई विशेष अन्तर नहीं और कला तथा प्रकृति में भी विरोध नही। कला तो केवल प्रकृति को नियमित रूप देने का प्रयास करती है, वह उसी से प्रसूत है और उसी मे उसका जीवन निहित है। कला में कृत्रिमता का कहीं भी लेश नहीं रहता, वह प्रकृति के प्रभाव को केवल गहरा करने मे दत्तचित्त रहती है और प्रकृति भी उसे इसी कारण अपना हार्दिक सहयोग प्रदान करती है। इसलिए भाषण-शास्त्र के पूर्ण विकास के लिए कला का प्रयोग अत्यावश्यक है। बिना कला के उसमें न तो शक्ति आयगी और न जीवन आयगा—कला द्वारा ही उसमें सौष्ठव तथा सौन्दर्य का विकास होगा। कला और प्रकृति के इस सहज सम्बन्ध से यह विचार भी पुष्ट होता है कि वागीश केवल कला के बल पर श्रेष्ठ नहीं हो सकता; उसमें नैसर्गिक प्रतिभा भी आवश्यक है। लिखने तथा बोलने की क्षमता और प्रकृति-प्रदत्त प्रतिभा, कला तथा अभ्यास द्वारा ही श्रेष्ठता प्राप्त करती है। श्रेष्ठ वागीशों के लिए यह भी आवश्यक है कि जो जो भावोद्रेक वे श्रोतावर्ग में चाहते हो, उसे स्वयं अनुभव करें क्योंकि बिना व्यक्तिगत अनुभव के वह भावना दूसरों में प्रसारित नही हो सकती। अलंकार प्रयोग की शक्ति भी आवश्यक है, क्योकि भावनाओं को मूर्तिमान करने में ही भाषण-शास्त्र की सफलता है।

शब्द-प्रयोग विचार

भाषण-शास्त्र का प्रथम महत्त्वपूर्ण आधार है—शब्द। शब्द शैली का आधार-स्वरूप भी है और उसके व्यक्तिगत सौन्दर्य, उचित प्रायोगिक रूप, अलंकार द्वारा सौन्दर्य सृष्टि, सभी पर शैली की श्रेष्ठता निर्भर रहती है। शब्दों का चुनाव प्रचलित शब्दावली से ही होना चाहिए, क्योकि स्पष्टता तथा यथार्थ वर्णन के लिए अप्रचलित शब्दावली फलप्रद न होगी। साधारणतः यह देखा जाता है कि वक्तावर्ग साधारण बोल-चाल के शब्द-प्रयोग मे संकोच करते हैं, और अप्रचलित शब्द-प्रयोग से श्रोताओं को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं और अगर उनकी चले, तो कम-से-कम प्रचलित शब्दों की आधी संख्या को वह देश-निकाला दे दे। यह शब्द-द्वेष ठीक नहीं। वे साधारण शब्द, जो बहुत दिनो से शिक्षित समाज में प्रयुक्त होते आए है, सफलतापूर्वक वागीशों द्वारा प्रयोग में लाए जा सकते हैं। परन्तु इस साधारण नियम से यह भ्रामक

अर्थ न निकालना चाहिए कि सभी साधारण शब्द फलप्रद होंगे। वास्तव में सफल वक्तृता के लिए वे ही शब्द उपयोगी होंगे जो साधारण होते हुए भी कलात्मक रूप मे प्रयुक्त होने की क्षमता रखते हों। उनमें साधारण स्तर से ऊँचे उठने की शक्ति होनी चाहिए। कुछ शब्दो मे तो यह गुण साधारणतः रहता है और वे अनेक प्रकार से फलप्रद-रूप में प्रयुक्त होते हैं—इनमें ऐसे शब्दों की गणना है जो अपने रूप और आकार तथा ध्वनि में कुछ विशेषता रखते हैं, कुछ ऐसे है जो स्वरात्मक ध्वनि में, तथा अन्य ऐसे हैं जो पुराने प्रसंगों मे प्रयुक्त होने के कारण रुचिकर हैं। साधारण शब्द भी समयानुसार शैली को शक्ति-प्रदान कर सकते हैं। लेखकवर्ग नव-निर्मित शब्द तथा विलक्षण अलंकार भी प्रयुक्त कर सकते हैं परन्तु इसमें सतर्कता की आवश्यकता पड़ेगी और उनका बहुल प्रयोग नही होना चाहिए; यही विचार अप्रचलित शब्द-प्रयोग के विषय में भी मान्य है। उनके द्वारा अभि-व्यंजना मे भव्यता आयगी और प्राचीन जगत् का वातावरण भी प्रस्तुत किया जा सकेगा, परन्तु इनका प्रयोग तो और भी सतर्करूप मे करना पडेगा क्योंकि अगर भाषा में ऐसे शब्दों की प्रचुरता हुई तो पाण्डित्य-प्रकाश अधिक होगा, प्रभावोत्पादकता कम रहेगी।

स्पष्टता

शब्दो की सजावट के विषय में स्पष्टता का ध्यान सबसे पहले रखना चाहिए और वाक्य में निरर्थक अंश न आने चाहिएँ। लम्बे, अव्यवस्थित तथा अनेक उपवाक्य पूर्ण वाक्य अक्सर दुरूह हो जाते हैं। वाक्य मे शब्द-प्रयोग ऐसे रूप में होना चाहिए कि जिससे अर्थ तो समझ में आ ही जाय मगर साथ-साथ यह भी हो कि उससे दूसरे अर्थ निकलें ही नहीं और मूल अर्थ का न समझना ही असम्भव हो जाय। अनुचित तथा हेय शब्द, निरर्थक तथा आडम्बरपूर्ण शब्द शैली को दुरूह, अरुचिकर तथा विकृत बना देते हैं, उनका प्रयोग वांछनीय नहीं। इनके प्रयोग द्वारा शैली मे न तो भव्यता आ पाएगी और न ध्यानाकर्षण ही होगा।

क्रम

शब्द-प्रयोग मे क्रम अत्यन्त आवश्यक है और इसी के द्वारा उसमें प्रभावोत्पादकता आयगी। इस सम्बन्ध में कुछ पुराने पण्डितों ने नियम बना रखे हैं जिनके अनुसार क्रिया के पहले संज्ञा, क्रियाविशेषण के पहले क्रिया तथा सर्वनामों के बाद विशेषण का प्रयोग होना चाहिए। परन्तु ये नियम कोरे नियम हैं और इनका अक्षरशः अनुसरण श्रेष्ठ शैली को निष्प्राण कर देगा। जिस

प्रकार से मूर्त्त-कलाकार पत्थरों को तराश कर सुन्दर मूर्ति का निर्माण करता है उसी प्रकार लेखक भी शब्द-समूह से शब्द काट-छाँटकर चुनता है और मनोनुकूल श्रेष्ठ शैली का निर्माण करता है—कुछ को वह अपनाता है, कुछ को दूर रखता है, कुछ को पहले और दूसरों को बाद में प्रयुक्त करता है। इस दृष्टि में कोई अटल नियम नहीं बन सकता। हाँ, इतना अवश्य है कि शब्दों के स्वाभाविक क्रम द्वारा अधिकांश रूप में श्रेष्ठ शैली का निर्माण होता आया है। इस सम्बन्ध में लेखक को शब्दों के ध्वनि-सन्धि का विचार विशेष रूप में रखना चाहिए, बारी-बारी से लघु तथा दीर्घ ध्वनि का समन्वित प्रयोग होना चाहिए और सम-ध्वन्यात्मक शब्द एक ही साथ नहीं प्रयुक्त करने चाहिएँ, क्योंकि इससे पाठक ऊब उठेंगे और अस्वाभाविकता आ जायगी। शब्द-प्रयोग में लय भी कम आवश्यक नहीं। इसके द्वारा वाक्य का आरम्भ आकर्षक होगा और अन्त प्रभावपूर्ण, परन्तु इसके भी बहुल प्रयोग से हानि होगी। हमारे कानों पर ही इनके प्रयोग का निर्णय छोड़ना चाहिए। यदि प्रयोग श्रुतिमधुर हैं और उसमें कृत्रिमता नहीं तो उसका प्रयोग प्रशस्त होगा। कभी-कभी कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग भी आवश्यक हो जायगा जो अनावश्यक होते हुए लय को ठीक गति पर रखें और कुछ ऐसों को हटाना पड़ेगा जो अर्थ के विकास में उपयोगी नही। गद्य मे भी कुशल लेखक, काव्य-समान लय प्रस्तुत कर सकते हैं और उसमें दीर्घ और लघु शब्दांशों के प्रयोग द्वारा आश्चर्यजनक विभिन्नता ला सकते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में, कोई नियम नहीं और यदि कोई है, तो वह है स्वाभाविक प्रयोग का आदर्श। अधिकांश रूप में विषय द्वारा ही शब्दो का चुनाव तथा अभिव्यंजना दोनों का रूप निश्चित हो जायगा। यदि शब्द अपने सहज-रूप में प्रयुक्त होंगे तो उस प्रयोग में किंचित्-मात्र भी कृत्रिमता नहीं आयगी और साथ-ही-साथ अभिव्यंजना मे भी औचित्य की रक्षा होती रहेगी।

अलंकार

श्रेष्ठ शैली के निर्माण मे अन्य तत्त्व भी विचारणीय हैं, जिनमें अलंकार प्रमुख हैं। इनके प्रयोग द्वारा भावोद्रेक मे सहायता मिलती है और भावो की व्यंजना चित्र-रूप में होने लगती है जो अत्यन्त प्रभावपूर्ण तथा आकर्षक प्रतीत होगी। लेखक की कल्पना अपनी तूलिका से यथार्थ के आधार पर आकर्षक भावना-चित्र खींचती रहती है और सुन्दरतम सत्य का आभास मूर्त्त-रूप मे देने की चेष्टा करती है। परन्तु शैली में यह गुण तभी आयगा जब प्रकृति का समुचित निरीक्षण तथा अनुकरण होगा। निरीक्षण और अनुकरण द्वारा उपमा तथा रूपक के चुनने मे सहायता मिलेगी और भावों का आलंका-

रिक चित्रण सहज हो जायगा। इसके फलस्वरूप उपमेयों में दुरूहता के स्थान पर स्पष्टता आयगी, उनके द्वारा नवीनता और विलक्षणता तथा भव्यता का आभास मिलेगा, उनमें निहित भावसन्धि अथवा विरोधाभास पाठकों को आकर्षित करेगा। परन्तु इनका प्रयोग भी अधिक नहीं होना चाहिए, नहीं तो शैली में विषमता आयगी, सामंजस्य दूर हो जायगा और इसके फलस्वरूप प्रभाव में बहुत कमी आ जायगी। वक्ता-वर्ग, अलंकार क्षेत्र से, मनोनुकूल अलंकार चुन सकते हैं और विशेषण, उपवाक्य, सम्बोधन, मूर्त्तालंकार, अतिशयोक्ति इत्यादि के उचित प्रयोग से शैली को प्रभावोत्पादक बना सकते हैं। कुछ लेखक अलंकारों से घृणा करते हैं; यह विचार क्षम्य नहीं। अलंकार, शैली के आभूषण हैं, भाषा को उर्वर बनाते हैं, साधारण भाषा को महत्-से-महत् सत्य की अभिव्यंजना करने की शक्ति प्रदान करते हैं, पाठकों को गहरे रूप में प्रभावित करते हैं और अभिव्यंजना में सौष्ठव और सौन्दर्य की प्राण-प्रतिष्ठा करते है। परन्तु अलंकारों के प्रयोग में सतर्कता, औचित्य, परिस्थिति तथा स्वाभाविकता का ध्यान अत्यावश्यक होगा। श्रेष्ठ शैली तथा अलंकार-प्रयोग के अतिरिक्त जो दूसरा आवश्यक तत्व है, वह है वक्ता का व्यक्तित्व, क्योंकि उसी के चरित्र और सुरुचि के अनुसार शैली बनती अथवा बिगड़ती रहेगी। वृद्ध, संयत शैली में ही स्वभावतः बोलेंगे, युवाओं की शैली में उत्तेजना होगी, दर्शनज्ञ तर्क का अधिक सहारा लेंगे। इस दृष्टि से शैली का पुराना वर्गीकरण—सरल, भव्य तथा प्रभावोत्पादक—श्रेष्ठ है।

अनुकरण

साहित्यकारों ने अनुकरण के सम्बन्ध मे भी काफी व्यापक रूप में विचार किया। अब तक, इस विषय में, सबसे प्रचलित धारणा यह थी कि सफल अनुकरण के लिए प्रतिभा, अभ्यास तथा यथेष्ठ कलाज्ञान आवश्यक है परन्तु इस काल में इस नियम पर टीका-टिप्पणी भी हुई। अनुकरण, वास्तव मे मानव-समाज का सहज-गुण है क्योंकि कलाक्षेत्र मे जो कुछ भी हम आकर्षक अथवा आदर्शरूप में देखते हैं, उसका अनुकरण करने लग जाते हैं। सफल अनुकरण के लिए विशेष मानसिक क्षमता आवश्यक होगी और सुबुद्धि तथा विचारशीलता उसके प्रमुख गुण होंगे। इन्ही दोनो से शैली में सौष्ठव तथा प्रभावोत्पादकता आती है परन्तु लेखकों को श्रेष्ठ साहित्यकारों का ही अनुकरण करना चाहिए और वह भी 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' सिद्धान्त पर नहीं, परन्तु तर्कपूर्ण ढंग से अपने व्यक्तित्व का पूर्ण ध्यान रखकर ही किया हुआ अनुकरण ग्राह्य तथा आकर्षक होगा। अनुकरण तभी श्रेष्ठ होगा जब उसमें विभिन्नता होगी और

नये-नये रूप में शब्द तथा अलंकार द्वारा प्रभाव लाने का प्रयत्न किया जायगा। यों तो यह सभी जानते हैं कि मूल कृति का सम्पूर्ण आकर्षण विरला ही अनुकर्त्ता ला सकेगा, क्योंकि हद से हद अनुरूप छाया समान ही रहेगा, उसमें मूल की आत्मा नहीं आ सकेगी परन्तु फिर भी इसके द्वारा अनुकर्त्ता को अनुभव प्राप्त होगा, उसके भाव-प्रकाश में स्पष्टता आयगी तथा उसकी निजी शैली परिमार्जित होती चली जायगी।

कला

कला तथा कला की प्रगति के सम्बन्ध में यह विचार अभिमत हुआ कि प्रकृति कला का विरोध नहीं करती और समय की गति ही कला की पराकाष्ठा दिखला पायगी। कला-क्षेत्र में कला-प्रगति तो एक नैसर्गिक नियम है और इतिहास इसका साक्षी है, देश, काल तथा वातावरण और रुचि-वैभिन्य ही इस प्रगति भावना के आधारस्वरूप हैं। कला की अभिव्यंजना की कोई सीमा नहीं; उसमें विभिन्नता की मनमानी गुन्जाइश है और इस दृष्टि से उसकी प्रगति भी निरन्तर होती जायगी। हाँ, ध्यान रखने योग्य बात यह है कि कला युग, देश अथवा काल की रुचि तथा भाषा की सहज आत्मा के अनुसार ही अपनी शैली चुने और भाषा की क्षमता का पूर्ण ज्ञान रखे।

हास्य

सुखान्तकी के हास्य के विषय में यद्यपि पुराने नियम ही अधिकतर दुहराए गए परन्तु उनमें जो नवीन दृष्टिकोण प्रयुक्त हुआ, वह विचारणीय है। हास्य, साहित्यिक अभिव्यंजना का रुचिकर तत्त्व है और उसका वैज्ञानिक विवेचन इस लिए कठिन है कि वह किसी अव्यक्त रूप में लोगों को प्रभावित करता है। साधारणतः हास्य, कुरूपता की ओर ही संकेत करता है और शब्दों अथवा असंगत कार्यों द्वारा अपने उद्देश्य की सिद्धि करता है। वस्तुतः इसका प्रकाश सहज प्रतिभा तथा परिस्थिति विशेष द्वारा ही होगा और इसीलिए यद्यपि उसमे कला वाञ्छनीय है, उसके प्रयोग के नियम गिनाए नहीं जा सकते। हास्य में सुरुचि आवश्यक होगी और उसके प्रयोग में समय और परिस्थिति का सदैव ध्यान रखना पड़ेगा। यदि हास्य किसी दुःखित व्यक्ति अथवा अभागे को अपना शिकार बनायगा, तो उसमें सुरुचि न आयगी। सर्वश्रेष्ठ हास्य वही है जो अत्यन्त स्वाभाविक रूप में, दूसरों के कथित शब्दों, वाक्यों अथवा विचारों को ऐसे चमत्कारपूर्ण रूप में दुहराए कि मूल अर्थ से कहीं विभिन्न अर्थ निकले, संक्षेप-कथन ही हास्य की सहज आत्मा है।[1]

१. देखिए—'हास्य की रूपरेखा'

उपसंहार

सन् ईसवी उत्तरार्द्ध में उपरोक्त आलोचनात्मक नियमों का महत्त्व बहुत दिनों तक स्थायी रहा। इस युग में यद्यपि यूनानी आलोचना-प्रणाली ही बहुत अंशों में मान्य रही फिर भी अनेक नवीन दृष्टिकोणों से साहित्य के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डाला गया। यूनानी नियमों की अपेक्षा प्रकृति के नियमों का साहित्यिक आधार ढूँढना हितकर समझा गया। अब तक समस्त रोमीय आलोचना, यूनानी प्रणाली का ही अनुसरण करती आई थी; अब प्रकृति के अनुसरण का आदेश मिला। आलोचना-जगत् मे, इस काल में मनोविज्ञान तथा तर्क का विशेष बोलबाला रहा। साहित्य के सभी अंगों का विवेचन हुआ, सभी शैलियों का विश्लेषण किया गया और आलोचकों ने जो यूनानी परम्परा स्थापित कर दी थी, उसमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन भी हुआ। इस युग का प्रभाव आगामी युग पर विशेष रूप से पड़ा।[1]

अन्य साहित्यिक विचार

पिछले प्रकरण में हमने सन् ईसवी उत्तरार्द्ध के सर्वश्रेष्ठ आलोचकों की आलोचना-प्रणाली का विवरण दिया था। रोमीय आलोचकों ने, जैसा कि हम संकेत दे चुके हैं, बहुत काल तक यूनानी साहित्यादर्शों का ही अनुसरण किया और यूनानी आलोचना-सिद्धान्तो की मर्यादा रोमीय साहित्य मे प्रतिष्ठित रखी। दो-चार नियमों के प्रतिपादन में रोमीय आलोचकों ने मौलिकता भी दिखलाई, परन्तु जो-कुछ भी इस युग में लिखा गया सब पर यूनानी साहित्य की गहरी छाया है। छोटे-मोटे आलोचक भी यदा-कदा नवीन नियमों की खोज मे लगे रहते थे परन्तु वे भी पुराने नियमों को ही नये शब्दों में दुहराकर सन्तुष्ट हो जाते थे। कुछ ने रूढ़िवादी विषय-चयन की भर्त्सना की और महाकाव्य तथा दुःखान्तकी मे नवीन विषयों को फलप्रद घोषित किया; क्योंकि सर्वसाधारण के दुःख-सुख, क्रोध-क्षमा, आग्रह-दुराग्रह इत्यादि द्वारा ही आनन्द प्राप्त होता है; विरोधाभासयुक्त संक्षेप-कथन को शैली का श्रेष्ठ आभूषण कहा गया और उसे अभिव्यंजना मे फलप्रद प्रमाणित किया गया; उत्तेजनाहीन काव्य की अनुपयोगिता तथा निरर्थकता प्रमाणित की गई; श्रेष्ठ शैली में विचार-क्रम, सुबुद्धिपूर्ण अलंकार-प्रयोग, निरर्थक शब्दावली का निराकरण तथा स्पष्ट अभिव्यंजना की आवश्यकता बतलाई गई; शैली में शुद्धता का अत्यधिक ध्यान न रखकर भव्यता लाने और प्रतिभा को स्वतन्त्र

१. इस युग की साहित्यिक आलोचना के कर्णधार थे—टैसिटस, डेमीट्रियस लौंजाइनस तथा क्विन्टिलियन।

रूप से विकसित करने का आदेश दिया गया और कुछ आलोचकों ने भव्य शैली मे अवगुण न होना ही दोष समझा। सबसे श्रेष्ठ नियम प्रकृति के अनुसरण के सम्बन्ध में बना। साहित्यिक नियमों की अपेक्षा प्रकृति के नियम ही अधिक ग्राह्य प्रमाणित किये गए और लेखकों से प्रकृति के सुन्दर स्थलों, शान्त स्थानों तथा आकाश और पर्वत-शिखरों से प्रेरणा लेने का आग्रह किया गया।

काव्य के उद्देश्य के विषय में यह सिद्धान्त कभी-कभी सम्मत रहा कि काव्य द्वारा शिक्षा और नैतिकता दोनों का प्रसार होना चाहिए और दर्शन के सत्यों से ही उसे समुचित रूप मे सम्बन्धित रखना चाहिए, क्योंकि दर्शन ही काव्य का मूल स्रोत है। श्रेष्ठ काव्य के लिए छन्द भी आवश्यक होगा, क्योंकि उसकी श्रेष्ठता यद्यपि विषय की श्रेष्ठता पर ही निर्भर रहती है; फिर भी छन्द-प्रयोग से उसमे अधिक आकर्षण आ जायगा। काव्य का आनन्द, भावोद्रेक, अनुकरण की प्रभावोत्पादकता, शब्द-सामंजस्य तथा अलंकार-प्रयोग में ही निहित रहता है और काव्य का प्रमुख आदर्श मानवी भावों का परिष्कार है। उसके द्वारा सच्चरित्रता, शान्ति, धैर्य, प्रेम तथा अन्यान्य मानवी गुणों का प्रसार होगा और समाज मे नैतिकता की नींव सुदृढ बनेगी और जीवन के दार्शनिक तत्त्वों को समझने मे मनुष्य संलग्न होगा। कलाकारो की कला में सौन्दर्य का विकास तभी होगा जब विचार तथा भाव-सामंजस्य और औचित्य का पूरा-पूरा ध्यान रखा जायगा। यदि कलाकार ने काव्य के दो-एक भी तत्त्व भुला दिए अथवा किसी व्यर्थ के अंश को आश्रय दे दिया तो उसकी कला मे विकार प्रस्तुत हो जायगा। काव्य-कला का मुख्य आधार है—प्रेम, और इसी से समस्त काव्य प्रसूत है।

निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली पर विचार करते हुए कुछ आलोचकों ने हितकर आदेश दिये। साहित्य के मूल्यांकन में आलोचको को सतर्क रहना चाहिए और व्यक्तिगत ईर्ष्या अथवा द्वेष, गर्व तथा वैमनस्य इत्यादि से दूर रहकर ही आलोचना करनी चाहिए। जब आलोचक इन दुर्गुणो को दूर करके आलोचना लिखेगा तो उसका कथन मान्य होगा, अन्यथा नहीं। इसके साथ-साथ आलोचक में सद्भाव भी होना चाहिए, क्योंकि बिना इसके गुण और दोष की परख नहीं हो पायगी। दूषित दृष्टिकोण, व्यक्तिगत कमजोरियों तथा सद्भावना की कमी के कारण आलोचना का अधिकांश अग्राह्य रहेगा और गुण की जगह अवगुण ही अधिक दिखलाई देंगे। सभी श्रेष्ठ लेखकों की रचनाओं में प्रायः गुण और दोष दोनों ही रहते हैं और दोनों को प्रकाशित करना श्रेष्ठ

आलोचक का धर्म होना चाहिए। लेखकों की झूठी प्रशंसा अथवा द्वेषपूर्ण बुराई किसी भी आलोचक को शोभा नहीं देती। गुण तथा अवगुण की तुलना और उनका विश्लेषण आलोचना का मूलाधार है।

इस युग के साहित्य क्षेत्र में लेख-कला की भी नींव पड़ी। आलोचना तथा जीवन-वृत्तान्त लिखने मे ही पहले-पहल लेख-शैली प्रयुक्त हुई और उसके गुणो का पूर्ण विकास आधुनिक काल मे हुआ। लेखो मे संवाद की स्वाभाविकता, विचारों की स्वतन्त्रता, भावों की उन्मुक्तता, विचारात्मक शैली का प्रवाह समुचित रूप मे होना चाहिए। इतिहास-रचना पर भी कुछ महत्त्वपूर्ण विचार प्रकाशित हुए। तत्कालीन इतिहासकारों के दोषो का ध्यान रखकर ही नवीन नियम बनाए गए, जिसके अनुसार इतिहासकारों को अपना विषय पूर्णरूपेण जानना चाहिए था और विचारो की अभिव्यंजना भी समुचित रूप में करनी चाहिए थी। यही नहीं, लेखको मे नैतिक गुणों का होना भी आवश्यक समझा गया, क्योंकि बिना इसके ऐतिहासिक वर्णनो मे कुछ-न-कुछ दोष आ जायँगे। इतिहास-वृत्त सतर्कता से इकट्ठा करना चाहिए और उचित दृष्टिकोण द्वारा समस्त वृत्त को कलात्मक रूप से प्रदर्शित करना ही श्रेयस्कर होगा। इतिहास-कार को पहले तो पाठकों के मन में भविष्य के प्रति उत्सुकता बढानी चाहिए तत्पश्चात् वर्णन ऐसा होना चाहिए जिसमें न तो व्यर्थ का विस्तार हो और न किसी प्रकार का अनौचित्य। इतिहासकार की शैली का प्रमुख ध्येय होना चाहिए—सरलता तथा स्पष्टता। उसे न तो शैली के बाह्याडम्बरों का सहारा लेना चाहिए और न अस्वाभाविक अथवा चमत्कारपूर्ण अलंकारो को ही प्रयुक्त करना चाहिए। हाँ, जहाँ कही भावोद्रेक की आवश्यकता हो वहाँ काव्यात्मक ढंग अपनाया जा सकता है। संक्षेप मे, इतिहासकार में ही नहीं वरन् समस्त साहित्यिक कलाकारों में नैतिकता, निस्वार्थता, सत्य के परख की आकांक्षा तथा निर्णयात्मक क्षमता समुचित रूप में होनी चाहिए।

उपसंहार

पिछले पृष्ठो में हमने यूनानी तथा रोमीय साहित्य-सिद्धान्तो का अनुसंधान किया और प्रचलित आलोचना-प्रणाली का विवरण दिया, जिससे उस साहित्य और आलोचना-प्रणाली की महत्ता प्रमाणित है। साहित्य-क्षेत्र में सबसे पहले अफलातूँ तथा अरस्तू ने साहित्य के मूलाधार का अनुसंधान करके विशिष्ट नियमो का निर्माण किया। तत्पश्चात् ऐसा युग आया जिसमे साहित्यिक दृष्टिकोण विकृत हो गया और प्राचीन युग की भव्यता का अनुभव न हो सका, जिसके फलस्वरूप कोरे नियम बनते गए; जो भव्य साहित्य का न तो निर्माण

कर सके और न स्वतः ही आकर्षक थे। इसके पश्चात् रोमीय साहित्यज्ञों ने तत्कालीन साहित्य के दोषों के निराकरण हेतु काव्य, भाषण-शास्त्र तथा गद्य-शैली का गहरा अध्ययन किया और कई क्षेत्रों में कुछ मौलिक नियम भी बनाए; परन्तु अधिकतर केवल यूनानी आलोचना-प्रणाली की मर्यादा साहित्य में पुनः स्थापित करने में आलोचक प्रयत्नशील रहे। ऐतिहासिक दृष्टि से, अफलातूँ ने अपनी आध्यात्मिक शक्ति तथा अरस्तू ने अपने ठोस साहित्य-ज्ञान तथा मौलिक विचारों द्वारा ही आलोचना की नींव डाली। अफलातूँ और अरस्तू द्वारा उठाये हुए प्रश्न आज तक विचाराधीन हैं; उनके द्वारा प्रतिपादित साहित्य-सिद्धान्त, मनोवैज्ञानिक विवेचन तथा विश्लेषण आज तक साहित्य के पथ को प्रशस्त और निर्दिष्ट कर रहे हैं।

रोमीय साहित्य-संसार इतना अव्यवस्थित रहा कि उसे ऐसे कुछ नियमों और आदर्शों की आवश्यकता पड़ी जिनके द्वारा सुव्यवस्था आती और सुरुचि का प्रसार होता। यूनानी साहित्यादर्श ही इस कमी को पूरा कर सकते थे और रोम के कुछ श्रेष्ठ आलोचकों—सिसेरो, हारेस, डायोनिसियस, लोंजाइनस तथा क्विंटिलियन—ने यूनानी साहित्य के नियमों को रोमीय साहित्य-संसार में प्रसारित करने का स्तुत्य प्रयास किया। रोमीय लेखकों ने यूनानी लेखकों का अनुकरण करना शुरू किया, परन्तु अनेक श्रेष्ठ लेखकों ने अनुकरण में नवीन कला दिखलाई और यूनानी शैली को रोमीय वातावरण के उपयुक्त बनाकर साहित्य-सृजन आरम्भ किया। अनुकरण अक्षरशः न होकर भावपूर्ण होने लगा और उसमें हृदय और अनुभव को काफी स्थान मिला। धीरे-धीरे अनुकरण की नवीन परिभाषा भी बनी, जिसके द्वारा अनुकर्त्ताओं को यह आदेश मिला कि उन्हें अपनी कल्पना द्वारा प्राचीन के आधार पर नवीन का निर्माण करना चाहिए।

यूनानी साहित्य-मार्गों के अनुकरण के फलस्वरूप रोमीय साहित्य के कुछ क्षेत्रों में दोष आने लगा। यह दोष था नियमों का, नियमों के प्रयोग का, और उस प्रयोग की अस्वाभाविकता का। साधारणतः जब किसी श्रेष्ठ साहित्य का अनुकरण लेखकवर्ग कर चलता है तो उसके लिए नियम बनाना अनिवार्य-सा हो जाता है। परन्तु उन नियमों की रक्षा में मूल की आत्मा खो देना भी कोई बुद्धिमानी नहीं। और रोम में हुआ भी ऐसा ही। नियमों की तालिका बनती गई, साहित्य का अनुकरण होता गया और इस प्रयास द्वारा नीरस तथा निष्प्राण साहित्य का सृजन होने लगा। इस वैषम्य के साथ-साथ प्राचीन और अर्वाचीन का द्वन्द्व भी छिड़ गया जिसका प्रभाव आगामी युगों पर बहुत व्यापक रूप में पड़ा। साहित्य-क्षेत्र में दो दल बन गए; एक तो

प्राचीन आदर्शों का पक्षपाती था और दूसरा नवीन का हिमायती। दोनों पक्षों में वाद-विवाद होता गया और यह विवाद आज भी उसी रूप में प्रस्तुत है। परन्तु इतना सब होते हुए भी प्राचीन यूनानी साहित्य की मर्यादा न गिर पाई और उसका आकर्षण बढ़ता ही गया। सन् ईसवी पहली के अन्तर्गत यूनानी साहित्यादर्शों का पुनः बोलबाला हुआ।

यह निर्विवाद है कि प्राचीन यूनानी साहित्यकारों ने जीवन को समुचित रूप से देखकर उसकी अभिव्यंजना साहित्य में की। साहित्य के मूल स्रोत का भी उन्हे यथेष्ट ज्ञान था। उन्होने काव्य की अन्तरात्मा, उसके बाह्य रूप और उसके प्रभावों को सहज रूप में परख लिया था। उन्होंने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा काव्य में प्रस्तुत मनोवैज्ञानिक सत्यो की व्याख्या की, देश-काल के व्यापक प्रभाव को भी साहित्य-सृजन में स्थान दिया और काल को ही साहित्यिक श्रेष्ठता का सफल निर्णायक समझा, क्योंकि वही साहित्य अमर हो सकेगा जो सभी देशों और सभी कालों में पाठको को समान रूप से प्रभावित करता रहे। प्राचीन युग में कविता के गुणो में भाव-सामंजस्य और विचारपूर्णता श्रेष्ठ गुण माने गए और कवि के उद्देश्य के अनुसार ही उसका बाह्य रूप निश्चित हुआ और कथन की मौलिकता तथा नवीनता मे ही कविता का आकर्षण सुलभ किया गया। गद्य-शैली पर भी मौलिक रूप मे विचार हुआ और स्पष्टता तथा प्रभावोत्पादक शब्द-क्रम उसके श्रेष्ठ गुण माने गए; और विचारों के स्तर तथा उद्देश्य के अनुसार ही शैली को परिवर्तित करने का आदेश दिया गया। शब्दों की भी पूर्णरूपेण व्याख्या की गई। उनकी अन्तरात्मा और उनके बाह्य रूप, उनकी ध्वनि तथा उनके उपयोग पर भी समुचित प्रकाश डाला गया, समस्त यूनानी साहित्य काव्य तथा काव्य-शैली, गद्य तथा गद्य-शैली और साहित्यिक कला की अन्तरात्मा तथा उसके बाह्य रूप को हृदयंगम करने में संलग्न रहा और जिसके फलस्वरूप ऐसे सिद्धान्तों का निर्माण हुआ जो आज तक अधिकांश रूप में साहित्य के मूल आधार समझे जा रहे हैं। आधुनिक काल को, यद्यपि प्राचीन साहित्य और साहित्यिक सिद्धान्तो से प्रेरणा मिली परन्तु फिर भी उस काल के सभी नियम ग्राह्य न हो सके। जिस सूक्ष्मतम व्याख्या को यूनानी साहित्यकार आलोचना समझे हुए थे वह आधुनिक युग मे ग्राह्य न हो पाई और जिन काव्य-सिद्धान्तो को यूनानी लेखको ने श्रेष्ठ समझा आधुनिक आलोचना-प्रणाली ने गौण स्थान दिया; परन्तु इतना होते हुए भी यूनानी तथा रोमीय साहित्य-सिद्धान्तो का महत्त्व ऐतिहासिक दृष्टि से प्रमाणित है।

६

: १ :

संस्कृत साहित्य में आलोचना का आदिकाल

संस्कृत-साहित्य मे साहित्य-शास्त्र का प्रयोग कब प्रारम्भ हुआ और उसके मूल प्रवर्त्तक कौन साहित्यकार थे, इसका पता ठीक-ठीक नहीं चल पाता। यद्यपि राजशेखर-रचित 'काव्य-मीमांसा' में रस-शास्त्र के जन्म और विकास का अत्यन्त रोचक आख्यान मिलता है, जहाँ उसकी दैवी वंशावली की प्रशंसा करते हुए कवि ने उसका उद्गम काव्य-पुरुष तथा सरस्वती की प्रेरणा द्वारा निश्चित किया है—जिसका विकास कालान्तर मे उनके सत्रह[१] पुत्रो ने किया और जिसका वर्णन कवि ने स्वतः अठारह अधिकरणो मे समाप्त किया। रस-शास्त्र के उद्गम-सम्बन्धी इस आख्यान में कदाचित् ऐतिहासिकता नहीं, परन्तु इससे यह अवश्य प्रमाणित है कि कभी-न-कभी, वैदिक काल में रस-शास्त्र का प्रयोग, किसी-न-किसी रूप मे अवश्य हुआ होगा, क्योंकि इस दैवी वंशावली के वर्णन में कवि की कल्पना चाहे कितनी भी प्रयुक्त हुई हो परन्तु उनमें कुछ नाम ऐसे हैं जो परिचित-से हैं और जिनके नाम की रचनाएँ किसी सुदूर युग मे रही अवश्य होंगी। ऐतिहासिक रूप से यदि देखा जाय तो वेद, वेदांगों, संहिताओं तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों मे रस-शास्त्र का न तो कोई संकेत ही मिलता है और न उस समय की कोई ऐसी रचना ही प्राप्त है जिसके आधार पर यह सप्रमाण कहा जा सके कि उस

१. स्वयम्भू श्रीकंठ ने यह शास्त्र अपनी इच्छाशक्ति द्वारा जन्मे हुए चौसठ पुत्रो को सिखलाया, जिनमे सर्वश्रेष्ठ 'काव्य-पुरुष' थे। काव्य-पुरुष की माता थी सरस्वती, उन्होने उनका विवाह साहित्य-विद्या से किया। जब प्रजापति को काव्य के प्रसार की आवश्यकता प्रतीत हुई तो उन्होने काव्य-पुरुष को आदेश दिया कि वह इस कार्य को सम्पन्न करे। काव्य-पुरुष ने पहले-पहल अपने सत्रह पुत्रों को इसकी शिक्षा दी।

काल में आलोचना का प्रयोग साहित्य-क्षेत्र में प्रचलित था। यद्यपि वैदिक काल की भाषा में इधर-उधर उपमा, उपमान तथा दृष्टान्त आदि शब्दों का अविरल प्रयोग दृष्टिगत होता है फिर भी इसी आधार पर रस-शास्त्र का व्यापक प्रयोग निर्धारित कर लेना तर्क-संगत नहीं। वैदिक काल की भाषा में अनेक अलंकारों का प्रयोग है अवश्य, परन्तु उन अलंकारों का साहित्यिक विवेचन नहीं, और होता भी कैसे। साहित्यकार पहले जन्मते हैं; वैयाकरण बाद में। उसी प्रकार अलंकारों का प्रयोग तो था, परन्तु अलंकार-शास्त्र का निर्माण कहीं बाद में जाकर सम्भव हुआ।

वैदिक युग : 'रस' का आदि-प्रयोग

ऐतिहासिक दृष्टि से रस शब्द का प्रथम दर्शन वैदिक-काल के ऋग्वेद मे मिलता है, जहाँ इस शब्द का प्रायः शाब्दिक अर्थ ही अपनाया गया। साधारणतया जल, दूध, तरु-लताओं की रगो में निहित तरल वस्तु तथा जिह्वा द्वारा अनुभूत प्राण-वायु इत्यादि के अर्थों में यह शब्द प्रयुक्त हुआ। कहीं-कही इसको आत्म-ज्ञान तथा उस आध्यात्मिक अनुभव के अर्थ में भी प्रयुक्त किया गया, जो साधु-सन्तों तथा तत्व-ज्ञानियों को सहज ही मे प्राप्त था। यह सम्भव है कि आलोचना-शास्त्र के आदि विचारको ने रस शब्द में सौन्दर्यात्मक आनन्द की छाया देख ली हो, परन्तु यह निर्विवाद है कि यह शब्द जिस-जिस प्रसंग मे प्रयुक्त हुआ उसके अन्तर्गत इस अर्थ-विशेष के दर्शन नहीं होते। वैदिक काल में स्पष्टतया न तो रस-शास्त्र का निर्माण हुआ और न उसका स्पष्ट प्रतिपादन; परन्तु इससे यह कदाचित् सिद्ध नहीं होता कि वैदिक युग के कलाकारो में काव्य को परखने की कोई क्षमता न थी और न उन्हे काव्य से प्रेम था, क्योकि वाक्-सम्बन्धी स्तुति-गीतों मे हमे कभी-कभी ऐसे वक्तव्यो के दर्शन होते हैं जिनमें आलोचना-कला की प्रथम परन्तु अस्पष्ट झलक मिल जाती है। वेदों तथा पुराणों में जिस कल्पनामय काव्य का प्रयोग है तथा जिस उदात्त भावना की अभिव्यक्ति है, उससे उनका काव्य-प्रेम प्रमाणित है। एक महत्वपूर्ण श्लोक मे कहा गया है कि जो व्यक्ति पवमान स्तुति-गीतों का पाठ करेगा, सन्तो द्वारा सचित रस का रसास्वादन करेगा, सरस्वती उसकी चेरी होगी और उसे सभी सुख-सौख्य प्राप्त होंगे। कदाचित् इस विचार में काव्य को हृदयगंम करने की लालसा तथा उसकी श्रेष्ठता का निर्णय दोनों की स्पष्ट झलक मिलेगी।

रस-शास्त्र का कुछ-न-कुछ संकेत 'निघंटु' तथा 'निरुक्त' नामक रचनाओं

उपमा का विवेचन में कदाचित् स्पष्ट रूप में मिलेगा जहाँ भाषा-विषयक विचारों में रस-शास्त्र पर विचार घुल-मिल गया है। दोनो पुस्तको के लेखको ने (विशेषतः 'निरुक्त' के) उपमा के अनेक वर्गों की परिभाषा बनाने का प्रयत्न किया और उनकी बारह श्रेणियाँ निश्चित की। उपमा की परिभाषा[1] बनाते हुए यह स्पष्ट किया गया कि दो वस्तुओ की समानता का प्रकाश उपमा द्वारा होगा, परन्तु जिस वस्तु से तुलना की जाय उसमे सर्वमान्य तथा श्रेष्ठ गुण होने चाहिएँ। पाणिनि के समय में उपमा की परिभाषा शुद्ध रूप में देखने को मिलती है और इस अलंकार-विशेष मे प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दो (उपमान, सामान्य, उपमेय, सादृश्य, इत्यादि) के दर्शन भली भाँति पहले-पहल होते हैं। परन्तु यह ध्यान रहे कि ये विचार व्याकरण के अन्तर्गत ही प्रकाश पाते हैं; शुद्ध अलंकार अथवा रस-शास्त्र के अन्तर्गत नहीं। परन्तु यह सही है कि व्याकरण-सम्बन्धी ये अनुसन्धान रस-शास्त्र के निर्माण में बहुत सहायक हुए। रस-शास्त्र के स्पष्ट निर्माण मे अभी काफी देर थी।

रस-शास्त्र का मूल स्रोत

दर्शन-शास्त्रियों ने भी अपने दार्शनिक अनुसन्धानों तथा विचारधाराओ में इस बात का स्पष्ट संकेत दिया है कि वे भी वैयाकरणों के समान शब्द-शक्ति, शब्द-प्रयोग इत्यादि को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण इसलिए समझते हैं कि उसके द्वारा रस-शास्त्र के निर्माण में काफी सहायता मिलती है। उन्होंने भी व्याकरण को रस-शास्त्र का मूल स्रोत माना है और रस-शास्त्र के अनेक लेखको ने भी अपने सिद्धान्तो के निरूपण और विश्लेषण में वैयाकरणो के सिद्धान्तों का भी काफी सहारा लिया है और उन्ही के आधार[2] पर रस-शास्त्र की रूपरेखा पहले-पहल निर्मित करने की चेष्टा की है।

उपरिलिखित विवेचन से यह स्पष्ट है कि वैयाकरणों तथा दर्शन-वेत्ताओ की रचनाओ में रस-शास्त्र का संकेतमात्र मिलता है और उसका विस्तृत तथा शास्त्रीय निरूपण दुर्लभ है। संस्कृत-साहित्य के आदि-ग्रन्थो में, जैसा हम पहले कह चुके है, उनका केवल संकेत मिलता है, जो प्रमाण की

१. गार्ग्य
२. शब्दो की अभिधा तथा लक्षणा गुणो का प्रकाश वैयाकरणो के सिद्धान्त का फल है और आनन्दवर्धन का स्फोट-सिद्धान्त, पाणिनि के पहले के एक वैयाकरण स्फोटायन के सिद्धान्तो पर आधारित था।

परिधि के बाहर ही समझा जायगा। नवीं शती तक रस-शास्त्र अस्पष्ट तथा अव्यक्त रूप में ही प्रस्तुत रहा, तत्पश्चात् उसकी रूपरेखा विकसित होनी आरम्भ हुई।

पूर्व-ईसा आलोचनात्मक संकेत

ऐतिहासिक अनुसन्धानों से पता चलता है कि कदाचित् ईसवी सदी के आरम्भ से ही रस-शास्त्र का सम्यक् विवेचन आरम्भ हुआ होगा। चौथी तथा पाँचवीं शती में जब गुप्त-वंश के राजाओं का राज्य-प्रसार हो रहा था, उसी समय से संस्कृत-साहित्य का अध्ययन भी बढा और पाठकवर्ग ने संस्कृत की काव्य-शैली से प्रभावित होकर उसकी प्रशंसा की, जिसके फलस्वरूप पठन-पाठन का उत्कर्ष हुआ। इसी समय में ही साहित्य-ज्ञान-वर्धन होने के कारण पाठकों का ध्यान साहित्य के अन्यान्य प्रश्नों की ओर आकृष्ट हुआ जिसके फलस्वरूप आठवीं तथा नवीं शती मे इसका अनुसन्धान समुचित रूप मे आरम्भ हुआ। कुछ पाश्चात्य साहित्यिक अन्वेषकों[1] के अनुसार, जिनका अनुसंधान विशेषतः शिलालेखों पर आधारित है, ईसवी सदी की पहली पाँच शतियों में अत्यन्त अलंकृत भाषा तथा काव्य-शैली प्रचलित थी, जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कदाचित् उस काल में अलंकार-शास्त्र अथवा रस-शास्त्र अपने मूल रूप में कुछ-न-कुछ अवश्य ही प्रस्तुत रहा होगा। इस आधार पर यह विचार कदाचित् मान्य होगा कि छठी शती के अन्त होते-होते रस-शास्त्र पर काफी विचार हो गया होगा, क्योंकि जो-जो लेखक आगामी काल में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत करते हैं, एक स्वर से पिछले कुछ लेखकों का नाम लेते हैं जिनके विचारों अथवा रचनाओं का आधार मानकर ही उनकी रचना संभव हुई।

: २ :

रस-शास्त्र का वीजारोपण

वास्तव मे रस-शास्त्र का स्पष्ट निरूपण आदि कवि वाल्मीकि द्वारा ही हुआ, जिन्होंने श्लोक छन्द की परम्परा बनाई। वाल्मीकि समिधा एकत्र करने जंगल में विचर रहे थे, जहाँ उन्होंने एक क्रौंच-दम्पति को प्रेमासक्त देखा। थोडी ही देर में, एक वधिक के वाण से क्रौंच का हृदय विदीर्ण हुआ और वह तड़पता हुआ पृथ्वी पर आ गिरा। उसकी संगिनी भयभीत तथा विकल हो, उसके निकट बैठकर चीत्कार करने लगी और इस दृश्य को देखते ही वाल्मीकि का हृदय द्रवित हो गया, और काव्य-धारा फूट

१. लेसेन, वुह्लर।

निकली।[1] अपने मानसिक विवेचन के उपरान्त उन्होंने काव्य के एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व का दिग्दर्शन कराया—करुणा से द्रवित जो-कुछ भी उच्चरित हुआ, वह काव्य अथवा लयपूर्ण अभिव्यंजना होगी। आदिकवि के इस विवेचन द्वारा रस-शास्त्र का बीजारोपण हुआ, जो आगामी युगों मे पल्लवित-पुष्पित हुआ। कवि ने जो करुण दृश्य देखा उसको उनकी कल्पना ने एक अन्य स्तर पर ला दिया, जो उनकी काव्य-धारा का उद्गम-स्थान तथा कारण-स्वरूप हुआ। और जो-कुछ भी उन्होंने उच्चरित किया, वह उन्हें आनन्ददायी प्रतीत हुआ। वे उस आनन्द में डूबने-तिराने लगे। इस अपूर्व अनुभव के कारण वाल्मीकि को कवि की उपाधि मिली, और अपनी मानसिक विवेचन-क्षमता के फलस्वरूप वे प्रथम आलोचक कहलाए। कवि होने के नाते उनमे भावो, बाह्य दृश्यों तथा घटनाओं को अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा अपूर्व रूप में समझने, तथा प्रदर्शित करने की क्षमता है; आलोचक होने के नाते उनका विश्वास था कि जो भी भावना कल्पनात्मक सहानुभूति द्वारा आविर्भूत होगी, काव्य-रूप ग्रहण कर लेगी। इस दृष्टि से कवि तथा आलोचक दोनो का साहित्यिक उद्देश्य समान होगा, वे दोनों ही भावों के पारखी होंगे। वाल्मीकि के काव्य मे जो-कुछ भी आलोचनात्मक विचार इधर-उधर बिखरे हुए मिलते हैं, उनसे यह निष्कर्ष सम्भवतः निकाला जा सकता है कि उन्हीं के द्वारा पहले-पहल रस-शास्त्र का जन्म हुआ। उनकी सहज कारुण्य अनुभूति तथा स्वाभाविक और अपूर्व अभिव्यंजना में काव्य की आत्मा निहित थी; इसी करुणा की अनुभूति में आगामी युगो के रस-शास्त्र का प्रथम दर्शन मिलता है।

साहित्यिक अनुसन्धान से यह भी पता चलता है कि अलंकार अथवा रस-शास्त्र के पहले नाट्य-शास्त्र का जन्म[2] हुआ होगा। बौद्धकालीन तथा और भी पहले की रचनाओ से पता चलता है कि उस समय किसी-न-किसी रूप में नाटकीय प्रदर्शन की प्रथा अवश्य प्रचलित रही होगी। इसके दो प्रमाण मिलते हैं। पहला है स्वयं पाणिनि की रचनाओं में उसका उल्लेख, और दूसरा है बाद के लेखको का कथन, जिन्होंने रस-शास्त्र पर विवेचन करते हुए यह सिद्धान्त बनाया कि पाठको को नाट्य-शास्त्र के विषय मे जानकारी के लिए पूर्ववर्ती लेखकों की रचनाओं का अध्ययन करना चाहिए। वे केवल रस-शास्त्र का ही

१. कुछ आलोचको का मत है कि बाल-काण्ड के कुछ खण्ड वाल्मीकि द्वारा नही लिखे गए; परन्तु क्रौंच-सम्बन्धी घटना तथा श्लोक छन्द के इतिहास से स्पष्ट है कि वाल्मीकि का उसमे बहुत-कुछ हाथ था।

२. देखिए—'नाटक की परख'।

विवेचन देंगे, नाटक का नहीं। कदाचित्, भरत को छोड़कर अन्य सभी पूर्ववर्ती लेखकों की रचनाएँ अप्राप्य हैं। और अनेक प्रमाणों के बल पर भरत के 'नाट्य-शास्त्र' का रचना-काल छठो शती के पहले ही ठहराना तर्क-संगत होगा।

वास्तव में जो-कुछ भी रस-शास्त्र-सम्बन्धी विचार हमे भरत के पहले मिलते हैं, विचार-मात्र ही दिखाई देते हैं; इन विचारों का न तो संग्रह हुआ और न उनका कोई सुव्यवस्थित रूप ही हमे कहीं मिलता है। परन्तु अन्यान्य उल्लेखों तथा सन्दर्भों के आधार पर यह कहना समीचीन होगा कि रस-शास्त्र का जन्म यद्यपि कुछ पहले अवश्य हुआ होगा, परन्तु उसका सुव्यवस्थित विकास ईसवी सदी की पाँचवी तथा छठी शती मे ही प्रारम्भ हुआ। भरत की रचना में ही हम उसका समुचित रूप देख सकेंगे।

नाट्य-शास्त्र का विवेचन

जैसा कि स्पष्ट है, वाल्मीकि के पश्चात् संस्कृत-साहित्य का आलोचना-क्षेत्र बहुत काल तक सूना रहा और रस-शास्त्र के अन्य नियमो का विवेचन न हो सका। ऐतिहासिक दृष्टि से भरत द्वारा रचित 'नाट्य-शास्त्र' ही पहली पुस्तक है जो सम्यक् रूप मे नाटक के तत्त्वों का विवेचन देती हुई रस के विशिष्ट नियमों पर प्रकाश डालती है। भरत का जन्म-काल क्या था, और नाट्य-शास्त्र की रचना को कौन सी तिथि है, इस पर इतिहासकारों मे बहुत मतभेद है, परन्तु बाह्य तथा अन्यान्य आन्तरिक लक्षणों के प्रमाण के आधार पर उसका रचना-काल दूसरी शती पूर्व ईसा का उत्तरार्द्ध ही सर्व-सम्मत रहा है।

रसानुभूति का विश्लेषण

भरत ने जिस विद्वत्ता तथा प्रज्ञा द्वारा रस-शास्त्र की रचना की, तथा साहित्य द्वारा रसानुभूति की पद्धति चलाई, उसका प्रभाव आज तक विदित है। उन्होंने, विशेषतः नाटक देखने के पश्चात् जो-जो मानवी-अनुभव होते हैं, उन पर विशद प्रकाश डाला और रसानुभूति का विश्लेषण किया। जब दर्शकवर्ग रंगमंच पर किसी श्रेष्ठ नाटक का अभिनय देखते हैं तो उनके भावना-संसार मे एक विचित्र प्रकार के आनन्द का प्रवाह होने लगता है जिसको उन्होने 'विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगात् रस-निष्पत्तिः' सिद्धान्त के अन्तर्गत समझने का प्रयत्न किया। विभाव, अनुभाव तथा व्यभि-चारी भावों के संयोग से ही उन्होंने रस की निष्पत्ति प्रमाणित की, क्योंकि ये ही अनेक रसो के आधार हैं। विभाव रस-विशेष का कारण-स्वरूप है; अनु-भाव, उस रस-विशेष से प्रादुर्भूत भाव-भंगी है, तथा व्यभिचारी भाव वे अस्थायी

तथा चलते-फिरते कारण-मात्र हैं जो प्रधान भाव को शक्ति प्रदान करते हैं और उसकी प्रगति कराते हैं। इन्हीं तीनों के सम्यक् सामंजस्य द्वारा दर्शकों को एक विचित्र प्रकार के आनन्द का अनुभव होता है, जिसे रसानुभूति अथवा आनन्दानुभूति कहा गया है। उदाहरण के लिए वसन्त, वर्षा तथा नव-कलिका इत्यादि शृङ्गार रस के विभाव होंगे; अटपटी बातें तथा सलज्ज भाव-भंगी उसके अनुभाव; तथा संशय, क्रोध, असमंजस, उत्कण्ठा इत्यादि उसके व्यभिचारी भाव होंगे और तीनों के अपूर्व सामंजस्य द्वारा ही रसानुभूति सम्भव होगी। शृङ्गार रस के परिपाक तथा रस-विवेचन-हेतु पुष्प-वाटिका मे राम तथा सीता के प्रथम मिलन के उदाहरण द्वारा यह सिद्धान्त और भी स्पष्ट हो जायगा। वाटिका मे 'वसन्त रितु रही लोभाई', 'लागे विटप मनोहर नाना—बरन-बरन बर बेलि बिताना'; 'नव-पल्लव, फल सुमन' हर ओर विकसित थे, 'चातक, कोकिल, कीर चकोरा' कलरव में निमग्न थे, और सभी ओर 'कूजत विहंग नटत कल मोरा,—समस्त वातावरण विभाव रूप है, जो शृङ्गार रस के परिपाक का कारण है। सीता की सहेली राम-दर्शन के पश्चात् पुलकित होकर सीता को सन्देश देती है कि अवर्णनीय सौन्दर्य के दो किशोर-युवकों को उसने देखा। सीता यह सूचना पाते ही अकुला उठी—'दरस लागि लोचन अकुलाने' और 'उपजी प्रीति पुनीत' और उधर राम को 'कंकन, किंकिनि नूपुर धुनि सुनि' ऐसा ज्ञात हुआ, 'मानहु मदन दुन्दुभी दीन्हीं'; अंग फड़कने लगे और उनका सहज पुनीत मन 'छोभ' से भर गया। ये हुए अनुभाव। तत्पश्चात् 'कहँ गए नृप-किसोर मन चिन्ता' तथा 'जानि कठिन सिव चाप बिसूरति' इत्यादि व्यभिचारी भाव होंगे। नाटककार जब इन तीनों विभावों, अनुभावों तथा व्यभिचारी भावो की सहायता से शृङ्गार-रस के स्थायी भाव को उद्वेलित करता है और दर्शकवर्ग रंगमंच पर इसके सफल प्रदर्शन से अपनी कल्पना-शक्ति जाग्रत करके अपनी संवेदनात्मक शक्ति द्वारा सब-कुछ भुलाकर पात्र अथवा दृश्य से ऐक्य स्थापित कर लेता है, तो उसकी रसानुभूति का आरम्भ होता है, और ज्यों-ज्यों यह अनुभूति बढ़ती जाती है; त्यों-त्यों उसका आनन्द भी द्विगुणित होता जाता है।

रस का वर्गीकरण

इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के पश्चात् आलोचक भरत ने रस को वर्गों में बाँटा और उनके आठ वर्ग निश्चित किये, जो आठ विभिन्न भावों पर निर्भर हैं। शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, वीभत्स तथा अद्भुत—ये आठ ऐसे भाव हैं जिन पर रस-सिद्धान्त का पूरा दायित्व है। उन्होंने तैंतीस व्यभिचारी भाव तथा अन्य आठ सात्विक भाव भी गिनाये, जो अन्यान्य भावो के अन्तर्गत प्रकाश

पाते हैं और साथ-ही-साथ उन्होंने विभावों, अनुभावों तथा व्यभिचारी भावो के उचित प्रयोग और उनके द्वारा रस-विशेष की निष्पत्ति का विवेचन भी किया। रस-विशेष के परिपाक में जिन-जिन अन्य तत्त्वों की आवश्यकता पड़ेगी, उसका विचार उन्होंने अभिनय-कला के विचार के अन्तर्गत किया। अभिनय का वर्गीकरण चार वर्गों में हुआ—आंगिका, वाचिका, आहार्य्य तथा सात्विका, जो क्रमशः शरीर, वचन, सज्जा तथा भावों के वाह्य प्रदर्शन के नाम से संबोधित हुए। भरत ने समस्त कला को अभिनय के ही अन्तर्गत रखा था, और इसी कारण काव्य तथा साहित्यालोचन भी वाचिकाभिनय के अन्तर्गत रखा गया। उन्होंने तत्कालीन काव्य-शैली[1], विभिन्न छन्दो के सौन्दर्य तथा अलंकार के अन्यान्य गुणो का व्यापक विश्लेषण किया। नाटक-रचना-शैली तथा संगीत-प्रयोग पर भी उनके विचार महत्त्वपूर्ण थे।

यद्यपि भरत ने अभिनय-कला का गूढ तथा व्यापक विवेचन किया, फिर

---

१. भरत ने रस-शास्त्र का विवेचन करते हुए चार अलंकार, दस गुण, दस दोष तथा छत्तीस लक्षणो का उल्लेख किया है। सम्भव है यह विवेचन पहले ही हो चुका हो, और भरत ने केवल उसे अपनी रचना मे स्थान-मात्र दे दिया हो और यही आगे के आलोचको का आधार-रूप मान्य हुआ हो। गुणो तथा दोषो के विवेचन में भरत ने अपनी साहित्यिक प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया, जिस क्रम मे उन्होंने गुणो का वर्णन किया उनमे प्रथम है श्लेष, जिसमे शब्दो का चमत्कारपूर्ण प्रयोग होगा; दूसरा गुण है प्रसाद, जो शब्द-प्रयोग और शैली से सम्बन्ध रखता है; समता से तात्पर्य अभिव्यंजना की सरलता तथा फालतू शब्दो को अलग रखना था। समाधि-गुण-अर्थ मे विशिष्टता लाना था और माधुर्य द्वारा उसमे कर्णप्रियता और हृदयग्राहिता लाने का आदेश था। ओजस् गुण-शब्द तथा समासो की शक्ति का प्रतीक था और सौकुमार्य भाषा की सरसता, छन्दो के समुचित चुनाव तथा समान ध्वनि वाले शब्दो तथा अव्ययो से सम्बन्धित था। अर्थव्यक्ति उदार तथा कान्ति गुणो का संकेत, क्रमशः वास्तविकता, उदात्त भाव प्रकाशन तथा सौन्दर्यपूर्ण और ललित अर्थ से सम्बन्धित था। भरत के गिनाए हुए दस दोषो का क्रम निम्नलिखित है—
गूढ़ार्थ—अथवा असंगत रूप मे घुमा-फिराकर बात कहना, अर्थान्तर अथवा प्रयोजनहीन शब्दो का प्रयोग, अर्थ हिंसा अथवा असम्बद्ध अर्थ, भिन्नार्थ अथवा ग्राम्य दोष, एकार्थ अथवा एक ही अर्थ के अनेक शब्द प्रयोग; न्यायाद आपेत अथवा तर्कहीनता; अभिप्लुतार्थ अथवा पंक्तियो मे असामंजस्य; विषम अथवा वृत्ति-दोष; विसन्धि अथवा शब्दो की असंबद्धता।

भी उन्होंने साहित्यिक आलोचना को न तो कला समझा और न उसका कोई अलग अस्तित्व ही माना। इतना होते हुए भी उन्होंने उसके महत्त्व को समझकर उसका विवेचन अभिनय-सिद्धान्त के ही अन्तर्गत किया। परन्तु यह स्पष्ट है कि रस, गुण, अलंकार, वृत्ति इत्यादि के विवेचन में उन्होंने गूढ़ आलोचनात्मक शक्ति का परिचय दिया और उस समय के श्रेष्ठ कलाकारों की शैली का व्याख्यात्मक परिचय उनकी विशेष देन है। रस-शास्त्र के प्रथम विवेचन तथा रसानुभूति-सिद्धान्त के महत्वपूर्ण विश्लेषण के आधार पर ही आगामी काल के आलोचकों ने अपने नवीन सिद्धान्त बनाए। इस दृष्टि से भरत ही संस्कृत-आलोचना-शास्त्र के प्रथम प्रचारक माने गए है।

संस्कृत-नाट्य साहित्य की मौलिकता

कुछ विद्वानों की सम्मति में, संस्कृत में, नाटक-रचना यूनानी प्रभावों को अपनाने के पश्चात् आरम्भ हुई, परन्तु यह धारणा भ्रममूलक प्रमाणित कर दी गई है। यद्यपि यूनानी नाटक-रचना-सिद्धान्तों को समस्त यूरोपीय देशों के लेखकों ने खुले हृदय से अपनाया, और यूनानी नाटक-रचना-सिद्धान्त संस्कृत-नाटकों की रचना-तिथि के कई शती पहले निर्मित हुए, फिर भी इसका कोई प्रमाण नहीं कि संस्कृत नाट्य-साहित्य ने यूनानी पद्धति का अनुसरण किया। यों भी, अरस्तू-रचित 'पोयेटिक्स' तथा भरत-रचित 'नाट्य-शास्त्र' में कोई महत्वपूर्ण सादृश्य नहीं। यद्यपि दोनों ही आलोचकों ने नाटक-रचना में कथावस्तु, कार्य तथा समय के सांमजस्य, पात्रों के वर्गीकरण, तथा नाटक के लक्ष्य को महत्त्वपूर्ण मानकर अपना-अपना विवेचन दिया, फिर भी संस्कृत-नाट्य-शास्त्र पर यूनानी प्रभाव प्रमाणित नहीं हो पाता। इसमें सन्देह नहीं कि भारत का रस-सिद्धान्त नितान्त मौलिक है और उनका विवेचन अत्यन्त व्यापक तथा गवेषणापूर्ण है। अरस्तू के आलोचना-सिद्धान्त का आधार यूनानी चिकित्सा-शास्त्र तथा मनोविज्ञान था, और उसका लक्ष्य था समाज-सुधार तथा उसका परिष्कार; भरत के नाट्य-शास्त्र का ध्येय था आदर्श प्रतिपादन, और उनकी आलोचनात्मक दृष्टि इसी लक्ष्य से सीमित है। यूनान के आदर्श प्रजातन्त्रवादी समाज के लिए यह आवश्यक ही था कि वहां के कलाकार ऐसी साहित्यिक रचनाएँ करते जिनसे समाज के प्रत्येक व्यक्ति का मानसिक परिष्कार होता, और वह यूनानी समाज का श्रेष्ठ अंग बन जाता। चिकित्सा-शास्त्र तथा मनोविज्ञान का सहारा यूनानी आलोचकों ने इसी कारण लिया, और 'भय' तथा 'करुणा' दोनो भावनाओं की अति का शमन तथा परिष्कार उन्हें इसीलिए हितकर प्रतीत हुआ कि दोनों का बाहुल्य समाज-संगठन

में घातक होता; एक कायर तथा दूसरा निश्चेष्ट बनाता। भरत ने रसानुभूति पर जोर डाला जिससे आनन्द की प्राप्ति होती; यूनानी आलोचक ने मनोविज्ञान पर जोर डाला जिससे समाज-सुसंगठित होता : दोनो का उद्देश्य पृथक् था।

: ३ :

अलंकार-परम्परा की स्थापना

संस्कृत साहित्यकारों ने यद्यपि नवीं शती तक आलोचना-शास्त्र की काफी प्रगति की, परन्तु भरत द्वारा प्रतिपादित रस-शास्त्र के नियम उन्हे रुचिकर न रहे। यद्यपि वे रस-शास्त्र के विरोधी न थे फिर भी अपने-अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन में वे इतने व्यस्त रहे कि उन्हे अन्य सिद्धान्त आकर्षित न कर सके। इस काल मे सभी कवि अलंकार तथा गुण की व्याख्या में लगे रहे और शायद ही इस युग का कोई ऐसा कवि हो जिसे अलंकार तथा गुण के आकर्षणों ने वशीभूत न कर लिया हो। इतना होते हुए भी हमें यथा स्थान ऐसे कलाकारों का परिचय मिलता है जिन्होंने इस प्रवृत्ति को रोकना चाहा, और अलंकार-पाश मे जकडे हुए कवियों की भर्त्सना की। श्रेष्ठ कवियों ने रसानुभूति-सिद्धान्त को नहीं भुलाया और यथासम्भव वे इसकी रक्षा करते रहे। इस युग के दो महत्त्वपूर्ण आलोचको की रचनाएँ प्राप्य हैं : ये हैं भामह तथा दण्डी, जिनके जीवन-काल के विषय मे बहुत मतभेद है। कुछ आलोचक दण्डी का जीवन-काल भामह के पहले निश्चित करते हैं और कुछ भामह का जीवन-काल दण्डी के पहले प्रमाणित करते हैं। आधुनिक विचारकों ने यह प्रमाणित किया है कि भामह ही पहले हुए।

भामह ने कदाचित् पूर्व ईसा सातवीं शती के मध्य काल में रचना की, परन्तु उन की रचनाओं[1] से भी यह प्रमाणित नहीं होता कि उन्होंने आलोचना-शास्त्र को साहित्य का महत्त्वपूर्ण वर्ग माना हो। उन्होने पृथक् रूप से उस पर विचार भी नहीं किया। प्रायः ऐसा ज्ञात होता है कि उन्होंने एक नवीन आलोचना-शास्त्र का निर्माण करना चाहा है और भरत के सिद्धान्तों को महत्त्वपूर्ण नही समझा। रस-शास्त्र को उन्होंने अलंकार के ही अन्तर्गत रखा और नैतिक सिद्धान्त प्रचार के हेतु करुण भावो को महत्त्व दिया।

अलंकारो का विवेचन करते हुए उन्होने कुछ पुराने अलंकारों—(अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक तथा उपमा) को मान्य ठहराया, और अपनी ओर से अपने अध्ययन के आधार पर कुछ नवीन अलंकार गिनाए, जिनमें आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति तथा अतिशयोक्ति प्रमुख है।

१. 'काव्यालंकार'

इनमें मौलिकता कहाँ तक है, कहना कठिन है, परन्तु इनकी परिभाषा बनाकर इन्हे सुव्यवस्थित रूप देना कम प्रतिभा का कार्य नहीं था।

काव्य का विश्लेषण

काव्य का विश्लेषण करते हुए आलोचक ने काव्य को शब्द तथा अर्थ द्वारा निर्मित माना। काव्य-शरीर के इन दोनों अवयवो की समीक्षा करते हुए भामह ने दोनो में अलंकार-प्रयोग की आवश्यकता प्रमाणित की। प्रायः पहले के आलोचको ने केवल शब्दालंकारों को ही प्राधान्य दिया था, और व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध तथा श्रेष्ठ अभिव्यक्ति की प्रशंसा की थी। परन्तु भामह ने न तो काव्य की कोई समुचित परिभाषा ही निर्मित की और न किसी सुव्यवस्थित आलोचना-प्रणाली का ही निर्माण किया। हाँ, यह सही है कि आलोचक की प्रतिभा होने के कारण उन्होने काव्य-प्रयोजन तथा काव्य-हेतु अथवा कवि-धर्म पर अपने विचार प्रकट किये। पहले के साहित्याचार्यों ने काव्य-प्रयोजन पर विचार करते हुए यह प्रमाणित किया था कि कीर्ति तथा प्रीति अथवा आनन्द ही इसका फल है। पाठक वर्ग के लिए काव्य सन्तोष तथा शिक्षा का जनक है और इसके द्वारा सांसारिक कलाओं का ज्ञान प्राप्त होता है। इसके द्वारा त्रिवर्ग-लाभ, आनन्द,[1] एवं पुण्य तीनों की प्राप्ति होगी। भामह ने इस त्रिवर्ग में 'मोक्ष' को भी जोड़ा और काव्य के चतुर्वर्ग फल की ओर संकेत किया। कदाचित् यह सभी शास्त्रों का ध्येय माना जा सकता है; और जब काव्य को शास्त्र के स्तर पर ला दिया गया, तो उसके द्वारा उस काल में मोक्ष की प्राप्ति होनी ही चाहिए थी।

कवि की शिक्षा

कवि की शिक्षा-दीक्षा की समस्या पर यों तो बाद में पूर्ण रूप से आलोचकों ने विचार किया ही, परन्तु इस काल में भी हम उस प्रश्न पर समुचित विचार प्रकट

---

१. यहाँ यह कहना असंगत न होगा कि बाद के आलोचको ने विज्ञान तथा अन्यान्य शास्त्रो से, काव्य की विभिन्नता का वर्णन करते हुए उसे कान्ता-सम्मिता अर्थात् किसी प्रेयसी की शिक्षा-समान माना, क्योकि उसके द्वारा शिक्षण मे शुष्कता न होकर कलापूर्ण आनन्द की भी प्राप्ति होगी। काव्य के चतुर्वर्गीय गुणो की परम्परा भी बराबर चली जाती है और प्रायः सभी आलोचक, (विशेषतः जगन्नाथ) काव्य के अलौकिक आनन्द की प्रशंसा करते हैं। सौन्दर्यपूर्ण वस्तुओ की अभिव्यक्ति, जो काव्य द्वारा बार-बार होती रहती है, इस आनन्द की जननी है।

करने का प्रयत्न यदा-कदा देखते हैं। प्रायः आलोचकों[1] ने कवि के विशेष गुणों में प्रतिभा तथा अध्ययन और अनुभव को अत्यन्त आवश्यकीय ठहराया। प्रतिभा कवि में नैसर्गिक अथवा सहज रूप में प्रस्तुत होनी चाहिए, क्योंकि बिना इसके कवि, कवि न कहला सकेगा। प्रतिभा[2] मे ही काव्य का बीज निहित रहता है और जब प्रतिभा ही नहीं तो बीज भी नहीं, और जब बीज ही नहीं तो फल कैसा ? परन्तु इतना होते हुए भी यह मान्य रहा कि अभ्यास की महत्ता भी कुछ कम नही। और श्रेष्ठ कवि बनने के लिए यह आवश्यक समझा गया कि वह अनेक शास्त्रों तथा विज्ञान का ज्ञान प्राप्त करे। व्याकरण, छन्द-शास्त्र, कहानियाँ, इतिहास, सांसारिक अथवा लोक-व्यवहार-ज्ञान, तर्क-शास्त्र, राजनीति, सौन्दर्य-शास्त्र, नीति, ललित-कला-ज्ञान सभी का वह आगार होना चाहिए। इसमे अलंकार-प्रयोग की क्षमता, श्लेष का अपूर्व ज्ञान, अनुप्रास की छटा दिखाने की शक्ति, छन्द-प्रयोग की क्षमता तथा शब्दों के अन्यान्य प्रयोगों में पटु होना चाहिए।

पाठकवर्ग की शिक्षा

इसके साथ-साथ पाठकवर्ग के गुणों की विवेचना में बतलाया गया कि उनमें भी अनेक गुण आवश्यक होंगे। काव्य का पारायण करने वाले रसिक अथवा सहृदय को ज्ञानी, सुबुद्धिपूर्ण तथा काव्य-शास्त्र के नियमों से परिचित होना चाहिए और उसमे सौन्दर्यानुभूति की शक्ति भी पर्याप्त मात्रा में होनी चाहिए।

शिक्षा तथा प्रतिभा

साधारणतः कवियों का प्रयत्न यही रहा करता था कि उनकी काव्य-रचना में किसी नियम का उल्लङ्घन न होने पाय और उनकी सतत यह इच्छा रहती थी कि उनकी रचनाएँ पाठकवर्ग द्वारा सराही भी जायँ। ऐसी परिस्थिति में यह अनिवार्य हो गया कि कवि अपनी सहज प्रतिभा की भी रक्षा करता और साथ-ही-साथ किसी नियम का भी उल्लङ्घन न होने देता; फलतः काव्य-रचना का समस्त वातावरण अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण रहने लगा और जैसा कि प्राचीन भारत

१. भामह, दण्डी।

२. अभिनव गुप्त ने इस गुण को 'प्रज्ञा' नाम दिया है और प्रज्ञा से उसका तात्पर्य है—अपूर्व वस्तु-निर्माण-क्षमता। भरत ने इसी गुण को 'अन्तर्गत-भाव' नाम दिया था। प्रायः सभी लेखकों ने काव्यानन्द के नामकरण का प्रयास किया। किसी ने इसे लोकोत्तर आनन्ददायी कहा; किसी ने वैचित्र्य, चारुत्व, सौन्दर्य, हृदयत्व तथा रमणीयता आदि शब्दों द्वारा उसका प्रकाश किया।

में प्रायः हुआ करता था, काव्य-शास्त्र की गणना अन्यान्य वैज्ञानिक शास्त्रों की श्रेणी में होने लगी। साधारणतः नियमों का जहाँ पालन होता, काव्य कुण्ठित हो जाता, और केवल अलंकारो की शुष्क भरमार दिखाई देती और जहाँ विशेषतः प्रतिभा प्रयुक्त होती, किसी-न-किसी नियम का उल्लङ्घन हो ही जाता।

साहित्य का वर्गीकरण

जैसा कि हम पहले संकेत दे चुके हैं, इस युग में काव्य के अनेक गुण गिनाये गए जिनमें अलंकारों के प्रयोग को आवश्यक माना गया। काव्य का वर्गीकरण भी हुआ, और बाह्यरूप के आधार पर छन्दबद्ध कविता तथा गद्य दो वर्ग मान्य हुए। भाषा के आधार पर तीन वर्ग निर्मित हुए—संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश। परन्तु वस्तु के आधार पर चार वर्ग मान्य हुए—जिनका सम्बन्ध देवलोक, मनुष्य, कला और विज्ञान से रह सकता था। रूढ़ि के अनुसार साहित्य का वर्गीकरण महाकाव्य, नाटक, आख्यायिका, कथा तथा अनिबद्ध काव्य अथवा गाथा या श्लोक के रूप में किया गया।

प्रायः सभी संस्कृत साहित्यकार साहित्य के वर्गों पर विचार करते हुए काव्य को पद्य के विपरीत समझते हैं न कि गद्य को। तुलना भी केवल पद्य और काव्य की होती थी, गद्य और काव्य की नहीं, क्योंकि दोनों में समान तत्त्वों के प्रस्तुत रहने की सदैव सम्भावना होगी। इस तथ्य को प्राचीन यूरोपीय आलोचकों ने बहुत बाद में समझा और बहुत काल तक वे गद्य और काव्य की तुलनात्मक विवेचना में उलझे रहे।

गुण-परम्परा की स्थापना

दण्डी का रचनाकाल सातवीं शती उत्तरार्द्ध ही अभिमत है और उन्होंने गुण को ही काव्य का मूलाधार माना, और सुन्दर शब्दावली-प्रयोग तथा चमत्कार को काव्य-रचना के लिए आवश्यक समझा। श्रेष्ठ काव्य-शैली के लिए उन्होंने दस गुणों को महत्त्वपूर्ण प्रमाणित किया और भामह द्वारा प्रतिपादित अलंकार-सम्बन्धी सिद्धान्तो को महत्त्वहीन घोषित किया। प्रायः दण्डी की गुण-सम्बन्धी व्याख्या अत्यन्त व्यापक है—क्योंकि उन्होने केवल माधुर्य को ही नहीं सराहा, वरन् उदात्त भावना, सहज-कथन तथा भाषा की शुद्धता तथा उसके सौन्दर्य को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। दण्डी की रचना मे यह आभास मिलता है कि साधारणतया उन्होंने रस-सम्बन्धी सिद्धान्तो का अनुसरण भामह के ही समान किया, और उसका अध्ययन भी उन्होंने अलंकार-शास्त्र के अन्तर्गत ही रखा। सभी रसों का अध्ययन उन्होंने प्रेयस, रसवाद तथा ऊर्ज्जस्विन अलंकारों के अन्तर्गत किया।

उन्होंने भरत-द्वारा प्रतिपादित आठ रसों की गम्भीर तथा विस्तृत व्याख्या की, और सबके उदाहरण दिये। वस्तुतः माधुर्य गुण को ही उन्होंने काव्य की आत्मा माना और रसों के प्रकाश में ही काव्य की भाषा की सफलता देखी। ऐसा ज्ञात होता है कि दण्डी रस-परम्परा के इतने विरोधी न थे जितने भामह, और इसीलिए उन्होंने यथास्थान[1] रस के महत्त्व को स्वीकार भी किया है।

रीति-परम्परा की स्थापना

आठवीं शती के अन्तिम चरण में, दो समकालीन लेखकों, वामन तथा उद्भट् ने साथ-साथ साहित्य-रचना-शैली पर अपने विचार प्रकट किये। वामन[2] ने, 'साहित्यालोचन' में, रीति परम्परा का समर्थन किया। उनके सिद्धान्तों के अनुसार सौन्दर्य की अभिव्यक्ति ही श्रेष्ठ कलाकार का लक्ष्य होना चाहिए क्योंकि सौन्दर्य-प्रदर्शन अत्यन्त मनमोहक होता है। काव्य में गुण तथा अलंकार द्वारा ही सौन्दर्य प्रकाश पायगा और जहाँ सौन्दर्य नहीं, वहाँ गुण तथा अलंकार के भी दर्शन नहीं होंगे : फलतः उन्होंने यह सिद्धान्त निश्चित किया कि रीति ही काव्य का प्राण-स्वरूप है। काव्य की व्याख्या करते हुए उन्होंने यह मत स्थिर किया कि गुणों से सुसज्जित अभिव्यंजना ही रीति कहलायगी और उसके उदाहरण वैदर्भी, गौडीय तथा पांचाली शैली में प्रस्तुत हैं और वैदर्भी की शैली ही सर्वश्रेष्ठ होगी। वास्तव में वामन ने, भामह तथा दण्डी के विचारों का ही अनुसरण किया। दण्डी ने भी वैदर्भी शैली को सर्वश्रेष्ठ माना था और भामह ने काव्य-रचना में गुणों की उपादेयता प्रमाणित की थी। दण्डी ही ने पांचाली शैली की रूप-रेखा स्थिर की थी और उन्होंने गौड़ीय तथा वैदर्भी के श्रेष्ठ अंशों को लेकर उसका निर्माण किया था। रस के सम्बन्ध में भी वामन के वे ही विचार थे जो दण्डी के थे, क्योंकि दोनों ने ही रस को अधिक महत्त्व नहीं दिया। भामह का अनुसरण करते हुए दण्डी ने रस का अध्ययन अलंकार के ही अन्तर्गत किया था, परन्तु वामन ने उसे गुण का प्रधान लक्षण माना। उनके विचारों के अनुसार रस की सहायता से ही शैली में कान्ति प्रदर्शित होती है, और नाटक रसप्रदर्शन का सर्वश्रेष्ठ माध्यम है। उद्भट् ने भामह तथा दण्डी दोनों के सिद्धान्तों को अपनाया तो अवश्य, परन्तु उन्होंने तीनों अलंकारों की परिभाषा परिवर्तित की और 'समाहित' नामक एक नवीन रस की

१. काव्यादर्श।
२. 'काव्यालंकारसूत्र' तथा 'वृत्ति'।

सृष्टि की। उन्होंने भरत द्वारा प्रतिपादित आठ रसों को अपनाया और अत्यन्त मौलिक रूप में एक नवें रस का पता चलाया। यह था शान्त-रस। इस नवीन रस का परिपाक उन्होंने कार्य द्वारा सम्भव समझा। यद्यपि उद्भट् ने भी भामह के ही सिद्धान्त अधिकांश रूप में अपनाए, फिर भी उनकी मौलिकता प्रमाणित है। 'समाहित' तथा 'शान्त' दोनो ही रस उन्हीं की देन हैं।

सम्भव है कि रीति-परम्परा काफी पुरानी हो, क्योंकि जिन आलोचकों[1] ने इस परम्परा को सराहा और रस-अलंकार तथा ध्वनि, सबकी तुलना में इसे श्रेष्ठ समझा, उन्होने कहीं-कहीं यह उल्लेख किया है कि यह परम्परा उनकी चलाई हुई नहीं वरन् यह प्राचीन काल से अनेक लेखको द्वारा समादृत हुई थी।

काव्य के मूल तत्व

वामन ने ही कदाचित् पहले-पहल काव्य के मूल तत्व को पहचानने मे अपनी समस्त आलोचनात्मक शक्ति लगा दी, और तर्क-सहित अपने सिद्धान्तों का समर्थन किया। उनके विचारों के अनुसार रीति ही काव्य की आत्मा है और शब्द तथा अर्थ केवल उसके शरीर मात्र हैं। रीति से आलोचक का तात्पर्य विशिष्ट-पद-रचना[2] से है और शब्द-व्यवस्था द्वारा ही उसका जन्म होगा। शब्द-व्यवस्था में यह वैशिष्ट्य विभिन्न गुणो के विभिन्न प्रयोगों पर निर्भर रहेगा। इस नियम के अनुसार वैदर्भी में दस गुण पूर्णतया विद्यमान हैं; गौड़ीय में ओजस् तथा कान्ति गुण का आधिक्य है, और पांचाली मे माधुर्य तथा सौकुमार्य की प्रधानता है। आलोचक ने यह आदेश दिया कि यदि लेखक, श्रेष्ठ कलाकार बनना चाहता है तो उसे वैदर्भी-शैली का अनुकरण करना चाहिए। यह कहना भूल है, कि पहले वह गौड़ीय का अनुकरण करे और बाद में पांचाली को अपनाये। क्योंकि यदि लेखक किसी हीन शैली को पहले अपना लेगा तो उसके दोषों से वह, बहुत काल तक, मुक्त नहीं हो सकेगा।

आलोचनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो वैदर्भी शैली, जो वैदर्भ देश के लेखको ने प्रयुक्त की, लेखको के लिए खतरे से खाली नहीं। वैदर्भी, जिसमें सभी श्रेष्ठ गुण सन्निहित माने गए, उदात्त अथवा भव्य-भावनाओं के प्रयोग को हितकर समझती है; परन्तु उनके प्रयोग में वितण्डावाद अथवा शब्दाडम्बर आ जाने की बहुत सम्भावना रहेगी। इसी प्रकार पांचाली तथा गौड़ीय

१. दण्डी।
२. "श्रेष्ठ शब्दो के श्रेष्ठ क्रम में ही काव्य की आत्मा निहित है", कोलरिज।

में माधुर्य तथा सौकुमार्य के अति प्रयोग से उछृङ्खलता तथा थोथापन आ जायगा[1]।

यहां यह कहना भी उचित होगा कि रीति तथा शैली अथवा स्टाइल शब्द में बहुत कुछ भेद है। शैली में लेखक के व्यक्तित्व की झलक कुछ-न-कुछ आ ही जायगी, परन्तु रीति केवल बाह्य अभिव्यक्ति पर आधारित रहेगी। जब भावों की सफल अभिव्यक्ति होगी, तभी रीति के दर्शन होंगे।

यद्यपि रीति-परम्परा को वामन ने शक्ति प्रदान की, और अनेक तर्कों द्वारा रीति को ही काव्य की आत्मा घोषित किया, किसी हद तक तो उन्होंने अलंकार सिद्धान्त को हीन प्रमाणित किया। आगे चलकर उनके सिद्धान्तों की मान्यता घटती गई। यद्यपि आगामी युग के आलोचकों ने रीति की महत्ता कुछ अंशो में अपनाई तो अवश्य, परन्तु जितना जोर उन्होंने अन्य नियमों पर दिया, उसके सामने रीति की महत्ता बहुत कुछ घट गई। ध्वनिकारों ने ही पहले-पहल रीति का घोर विरोध किया।

नवीन रसों का निर्माण

उद्‌भट तथा वामन के बाद हमें नवीं शती के निकट मध्य काल में दो आलोचकों का पता चलता है। ये हैं रुद्रट तथा रुद्रभट्ट। कुछ विद्वानों का कथन है कि दोनों एक ही व्यक्ति हैं, क्योंकि दोनों व्यक्तियो की रचनाओं[2] में बहुत अधिक समानता है, परन्तु इस समानता के होते हुए भी दोनो के दृष्टिकोण में इतना अधिक अन्तर है कि दोनों दो विभिन्न व्यक्ति मान लिए गए हैं। रुद्रट ने नौ रसों के अतिरिक्त प्रेयाण नामक दसवें रस का निर्माण किया; वृत्तियो को पाँच वर्गों मे बाँटा तथा अलंकार, गुण और रीति तीनो परम्पराओं के वैषम्य को दूर करने का प्रयत्न किया। उन्होंने रस-शास्त्र पर विस्तृत रूप में विचार किया; परन्तु उसका अध्ययन अलंकार-शास्त्र के अन्तर्गत (जैसा भामह तथा दण्डी ने किया था) न करके पृथक् रूप मे किया। विभिन्न रसों के परिपाक में उन्होंने रीति का समुचित प्रयोग आव-

१. उपर्युक्त विश्लेषण द्वारा एक अन्य महत्वपूर्ण सत्य दृष्टिगोचर होता है। यह सत्य आलोचना शास्त्र के निर्माण तथा उसके इतिहास की ओर संकेत करता है। वास्तव मे भाषा तथा भाषा-प्रयोग पहले आरम्भ हुआ और आलोचना ने बाद मे जन्म लिया। जब लेखकों ने किसी भाषा के विशिष्ट प्रयोग मे कोई सफलता दिखलाई, तो आलोचकों ने उसका विश्लेषण आरम्भ किया और अनेक नियम बनाए जो उस शैली-विशेष पर लागू हो सकते थे।

२. 'काव्यालंकार', 'शृङ्गारतिलक'।

श्यक समझा। रुद्रभट्ट ने भरत के आठ रसो को मानकर, उद्भट द्वारा प्रतिपादित नवें शान्त रस में अपनी ओर से दसवाँ रस और जोड़ा। उन्होंने शृङ्गार-रस की विस्तृत व्याख्या की और काव्य रचना में रसके महत्त्व को पुनः दुहराया। उनकी धारणा थी कि रसहीन काव्य चन्द्रिकाहीन रात्रि समान होगा जिससे आनन्द कही दूर होगा।

इसी समय एक ऐसी पुस्तक का निर्माण हुआ जिसमे साहित्य-रचना-सम्बन्धी अन्यान्य विषयों पर विचार प्रदर्शित है, परन्तु उसके लेखक का पता नहीं चलता। यह पुस्तक 'अग्निपुराण' है और लेखक ने साहित्य के पुराने विचारकों—भरत, भामह तथा दण्डी इत्यादि—के सिद्धान्तो को दुहराया है। लेखक ने किसी मौलिक साहित्य-शास्त्र का निर्माण नहीं किया; उन्होंने केवल अलंकार, रीति तथा रस और गुण के महत्त्व को समझकर उन्हें साहित्य-रचना-हेतु आवश्यक प्रमाणित किया है।

करुण-रस की महत्ता

इस युग में कुछ ऐसे कवियों ने रचना की जिनमें आलोचनात्मक प्रतिभा भी थी, और जिन्होने मनोनुकूल काव्य के आदर्श प्रस्तुत किए। इस प्रयत्न में रस-शास्त्र पर महत्त्वपूर्ण विचार प्रकाशित हुए, अभिनय के महत्त्व को प्रमाणित किया गया; रस-परिपाक मे उसका स्थान निश्चित हुआ तथा कुछ रस विशेष पर अधिक जोर दिया गया। साधारणतया यह सिद्धान्त मान्य रहा कि अभिनय[1] द्वारा ही रस का सफल परिपाक सम्भव है और काव्य में रस-प्रयोग अत्यावश्यक है, क्योकि उसी के द्वारा काव्य, काव्य कहलाने का अधिकारी होता है। प्रायः सभी श्रेष्ठ कवियों[2] ने करुण को प्रथम स्थान दिया। भवभूति ने तो यहाँ तक कह डाला कि करुण ही अन्य रसों की जननी है। जिस प्रकार भंवर तथा प्रपात का रूप ग्रहण करने पर भी जल, वास्तव में जल ही रहता है, उसी प्रकार शृङ्गार, वीर इत्यादि का रूप ग्रहण करने पर भी रस वस्तुतः करुण ही रहता है। और कुछ ने शृङ्गार के परिपाक मे वीर ही नहीं, वरन् बीभत्स का प्रयोग भी उपयोगी सिद्ध किया[3]। प्रायः यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया कि शृङ्गार के परिपाक में अन्य विरोधी रसों—भयानक, करुण, अद्भुत, रौद्र तथा हर्ष इत्यादि का प्रयोग फलप्रद होगा। साहित्यकार को चाहिए कि अपने नाटको मे या तो किसी रस विशेष के परि-

१. प्रवरसेन—'सेतुबन्ध'।
२. कालिदास तथा भवभूति।
३. भवभूति—'मालती माधव'।

पाक पर ध्यान दे, या जब वह अनेक रसों के एक साथ परिपाक की चेष्टा करे, तो उसे ऐसे पात्र तथा ऐसी घटनाएँ चुननी चाहिएँ जो उन रसों के प्रकाश में सहायक हों।[1] नाटककार पर, कार्य-प्रदर्शन द्वारा, आनन्द-प्रसार का उत्तर-दायित्व रखा गया[2] और वाल्मीकि द्वारा निर्मित काव्य की परिभाषा—भावोत्कर्ष की लयपूर्ण अभिव्यंजना—विशेष रूप में मान्य[3] रही। परन्तु साहित्य अथवा कला-निर्माण में जिस महत्त्वपूर्ण तत्त्व पर जोर दिया गया, वह था—संयत-शैली। संयत-शैली, कला को उच्च-से-उच्च स्तर पर ले जा सकती है और असंयत भाव तथा असंयत शैली उसके लिए घातक होंगे[4]।

आलोचना का महत्त्व

प्रायः इस युग के सभी श्रेष्ठ कलाकारों[5] ने रस-परम्परा का अनुसरण किया; काव्य तथा नाटक की श्रेष्ठता का निर्णय करना चाहा; कवि तथा आलोचक के लक्ष्य की व्याख्या की, और महाकाव्य-रचना पर महत्त्वपूर्ण विचार प्रदर्शित किये। कुछ ने काव्य में गूढार्थ, भावों की नवीनता, जीवन की सौष्ठवपूर्ण अभिव्यंजना तथा अनवरुद्ध शैली को आवश्यक बतलाया और कवि में प्रतिभा का होना अनिवार्य समझा। रसों के समुचित परिपाक को साधारणतया सभी ने सराहा, और बिना सहज क्रियात्मक-प्रतिभा के काव्य-निर्माण का प्रयास निरर्थक माना। आलोचकों की साहित्य-सेवा तथा उनकी उपादेयता पर विचार करते हुए यह मत स्थिर किया गया कि आलोचक के बिना कलाकार की कला का सही मूल्य नहीं निश्चित किया जा सकेगा। आलोचकों के द्वारा ही हमारी काव्यानुभूति तीव्र होगी, और कलाकार स्वतः अपनी रचना की श्रेष्ठता का निर्णय नहीं कर सकेंगे। इसके साथ-साथ बुरे आलोचकों की भर्त्सना भी की गई और उन्हे यह आदेश दिया गया कि वे गर्व तथा उच्च पद के शिकार न हों। कवि को यह सान्त्वना दी गई कि कटु आलोचना उनकी मर्यादा नहीं गिरा सकती; और बुरे आलोचक श्रेष्ठ कवियों की कटु आलोचना लिखकर केवल यही प्रमाणित करते हैं कि वे स्वतः नीच तथा घृणित हैं।

नाटककारों को रस-परिपाक करने के अतिरिक्त वृत्ति, गुण, सन्धि का

---

१. भवभूति।

२. कालिदास 'रघुवंश'।

३. कालिदास 'रघुवंश'।

४. कालिदास 'शकुन्तला'।

५. भारवि, बाण, श्रीहर्ष, माघ, सुबन्धु, रत्नाकर।

महाकाव्य-रचना

उचित विचार रखने और श्रेष्ठ पात्रों को ही नाटकों में स्थान देने का आदेश दिया गया। महाकाव्य-रचना में विषय-विस्तार के साथ-साथ अनेक खण्डों का होना आवश्यक ही नहीं, वरन् अनिवार्य समझा गया, और इसके द्वारा अन्यान्य रसों का परिपाक सरलतापूर्वक सम्भव सिद्ध किया गया[1]। यद्यपि इस काल में अनेक[2] साहित्यकार तथा कवि साहित्य-रचना करते रहे, परन्तु उनकी रचनाओं में किसी विशेष काव्य-परम्परा अथवा आलोचना-शैली का प्रमाण नहीं मिलता। उन्होंने केवल अपने पहले के कवियों की परम्परा अपनाई और साहित्यिक आलोचना को कोई नवीन मार्ग नहीं दिखलाया।

: ४ :

ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना

उपर्युक्त कलाकारों तथा आलोचकों के रचनाकाल के उपरान्त भारतीय आलोचना-शास्त्र के स्वर्ण-युग का जन्म होता है। पिछले युग में अलंकार, गुण, रीति, वृत्ति इत्यादि पर विशद विवेचन दिया गया और यथासम्भव रस-परिपाटी की परम्परा जीवित रखी गई; परन्तु इस नवीन युग में एक ऐसे मौलिक सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ जिसका प्रभाव संस्कृत साहित्यकारों पर बहुत गहरे रूप मे पड़ा। काव्य की आत्मा की खोज करते हुए विचारकों ने यह सिद्ध किया कि ध्वनि पर ही काव्य का समस्त आनन्द निर्भर है। इस सिद्धान्त की खोज के साथ-साथ रस-सम्बन्धी सिद्धान्त भी पूर्णरूप से मान्य हुए। परन्तु ध्वनि-सिद्धान्त के दो-चार ऐसे विरोधी भी हुए जो अलंकार-सिद्धान्त को ही सर्वश्रेष्ठ समझते थे, किन्तु धीरे-धीरे इसी काल मे अनेक साहित्यिक आलोचकों की सूझ तथा परिश्रम के फलस्वरूप कुछ ऐसे सर्वमान्य सिद्धान्तों का निर्णय हुआ, जिनकी महत्ता अब तक कम नहीं हुई।

इस काल के आलोचकों में आनन्दवर्धन[3] का स्थान सर्वश्रेष्ठ है, जिन्होंने रस-परिपाटी को मानते हुए ध्वनि-सिद्धान्त पर विशेष ज़ोर डाला और उस पर मौलिक रूप से विचार किया[4]। साधारणतः काव्यपूर्ण वाक्यों मे जब शब्दों का कोई विलक्षण प्रयोग होता है तो उसके प्रायः दोहरे अर्थ होते हैं : पहला तो साधारण अर्थ जो अक्सर सन्दर्भ में ठीक-ठीक अर्थ नहीं देता, और दूसरा

१. रत्नाकर रचित 'हरविजय'।
२. वाक्पतिराज, भट्टनारायण, विशाखदत्त।
३. ८५५-८३।
४. 'ध्वन्यालोक'।

कल्पनात्मक अर्थ, जो सन्दर्भ के अनेक अंशों पर निर्भर रहता है। इसी कल्पना-पूर्ण अर्थ द्वारा हमें काव्यानन्द प्राप्त होता है। इस सिद्धान्त का बीज वस्तुतः व्याकरणों के स्फोट सिद्धान्त में निहित था। किसी शब्द के उच्चारण के ही फलस्वरूप उस शब्द के अर्थ का हम हृदयंगम कर लेते है, उसका सम्पूर्ण चित्र हमारे सम्मुख आ जाता है। उच्चारण के वैकृत-ध्वनि अथवा अन्तिम अंश, पहले के उच्चरित अंशों अथवा प्राकृतध्वनि को ध्यान में रखकर हम अर्थ को पूर्णतया समझ लेते हैं। स्फोट वास्तव में एक ऐसा अविभाज्य तत्त्व है जिसकी तुलना मानवी आत्मा से ही हो सकती है, और उसी पर काव्य का समस्त आकर्षण निर्भर है। उसी को ध्वनि नाम से आभूषित किया गया है। ध्वनि के ही आधार पर अनेक मनोवैज्ञानिको ने रसानुभूति के सिद्धान्त को पुष्ट किया, और व्यंजनावृत्ति का विवेचन दिया। व्यंजकत्व द्वारा जो व्यंग्यार्थ संकेत-रूप में रहता है, उसी के द्वारा काव्य का आनन्द मिलता रहता है। व्यंजक-शब्द तथा व्यंजकार्थ, दोनों ही ध्वनि का कार्य-सम्पादन करते हैं और स्फोट सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करते हैं। ध्वनि-सिद्धान्त के अन्तर्गत ही शब्दों की अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना-शक्ति का विश्लेषण किया गया।

श्रेष्ठ शैली के गुण

काव्य तथा नाटक-रचना-शैली पर विचार करते हुए आलोचक ने संगठन गुण पर विशेष जोर दिया। संगठन, शैली का श्रेष्ठ गुण है और इसके आधार पर शैली के तीन रूप हो सकते हैं। पहला वह रूप होगा जिसमे समासो की संख्या न्यून होगी; दूसरे में मध्यम समास होंगे; और तीसरे में दीर्घ समासो का प्राचुर्य होगा। कवि इनमें से किसी भी शैली को मनोनुकूल अपना सकता है और चुने हुए विषय और निश्चित ध्येय के अनुसार किसी भी शैली को प्रयुक्त कर सकता है। साधारणतया नाटक-रचना मे जहाँ श्रेष्ठ-वर्ग के पात्रो का जीवन वस्तुरूप मे चुना जाय और कल्पना-तत्त्व की प्रचुरता हो, वहाँ प्रथम वर्ग की शैली ही प्रयुक्त होनी चाहिए जिसमे समास न हो। करुण-रस के परिपाक मे भी इसी समास-हीन शैली का प्रयोग होना चाहिए क्योंकि इसी के द्वारा प्रसाद गुण रचनाओं में आयगा। रौद्र-रस के परिपाक मे अन्य दोनों शैलियाँ प्रयुक्त हो सकती हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ध्वनि तथा रस-सिद्धान्तों मे कोई वैषम्य नहीं, और ध्वनि-सिद्धान्त अपने व्यापक रूप के कारण रस-सिद्धान्त को भी अपने मे निहित रखता है। संस्कृत साहित्य में रस तथा ध्वनि सिद्धान्तों की मान्यता आज तक बनी हुई है और सिद्धान्त निरूपण का सम्पूर्ण श्रेय

आनन्दवर्धन को है।

ध्वनि-सिद्धान्त का मूल-स्रोत

काव्य-निर्माण मे ध्वनि की महत्ता पहले-पहल किस आलोचक ने स्थापित की और यह किस काल में सम्भव हुआ, कहना कठिन होगा। कदाचित् किसी 'ध्वनिकार' ने ही इस सिद्धान्त का निर्माण किया होगा और कुछ लेखकों ने उसका नाम—सहृदय भी प्रमाणित करने की चेष्टा असफलरूप में की है। परन्तु इस कथन में सन्देह नहीं कि ध्वनि सिद्धान्त भी, किसी-न-किसी रूप में, आदि-काल में अवश्य प्रस्तुत रहा होगा, क्योंकि जिस श्रेष्ठ आलोचक ने इसका प्रकाश तर्करूप में आरम्भ किया, उसने भी यह माना है कि यह सिद्धान्त रूढिगत है, क्योंकि कुछ पुराने वैयाकरणो तथा दर्शनवेत्ताओं के कथनों में इसकी छाया मिलती है और कदाचित् स्फोट सिद्धान्त में ही इसका मूल ढूँढना फलप्रद होगा।

ध्वनि-सिद्धान्त का विवेचन

ध्वनि-सिद्धान्त के प्रचारकों का विश्वास था कि किसी कविता के शब्दों अथवा वाक्यांशो में विशेषतः दो अर्थ निहित रहते हैं: पहला अर्थ तो वह है जो शब्दों अथवा वाक्यांशों के बाह्य-रूप द्वारा प्रकाशित होता है और दूसरा वह जो अपनी व्यंजना द्वारा अस्पष्ट रूप मे प्रकाशित रहेगा।[1]

शब्द-शक्ति का विश्लेषण

व्यंजना का यह अर्थ कदापि नहीं कि उसके द्वारा नवीनता अथवा किसी अपूर्व अर्थ का प्रतिपादन हो; उसका तात्पर्य यही है कि उसके द्वारा वह अर्थ जो छिपा हुआ है, व्यक्त हो जाय। किसी भी शब्द के मुख्य अर्थ का नाम अभिधा पड़ा; इसके द्वारा बिना किसी अन्य मानसिक शक्ति का सहारा लिए शब्द, अपने रूढिगत अर्थ को व्यक्त कर देगा। प्रत्येक शब्द का कोई-न कोई रूढिगत संकेत होता भी है जिसका बोध हमें या तो ईश्वरेच्छा द्वारा अथवा अपनी निजी प्रेरक-शक्ति द्वारा सम्भव होता है। शब्द की दूसरी शक्ति का नाम है लक्षणा। इसके द्वारा शब्द पर किसी दूसरे अर्थ का आरोप किया जाता है जो रूढ़ि अथवा किसी प्रयोजन-विशेष द्वारा व्यक्त हो जाता है। वास्तव में यह शक्ति अर्थ से सम्बन्धित रहती है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि शब्द के दो अर्थ सम्भव हैं—एक है वाच्यार्थ और

१. मम्मट के कथनानुसार ध्वनि स्फोट के सभी महत्त्वपूर्ण अंगो को प्रकाश में लाती है और उसी के द्वारा शब्दों का समस्त अर्थ विकास पाता है।

दूसरा लक्ष्यार्थ : लक्ष्यार्थ साधारणतः रूपक का रूप ले लेता है; और श्रेष्ठ काव्य के लिए यह आवश्यक है कि उसमें लक्ष्यार्थ प्रस्तुत हो, और व्यंजना-वृत्ति द्वारा उसका पूर्ण अनुभव हो जाय। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, व्यंजना ही काव्य की आत्मा है। इसी व्यंजना-शक्ति के आधार पर काव्य के तीन वर्ग बनाए गए। प्रथम अथवा श्रेष्ठ-श्रेणी के काव्य में लक्ष्यार्थ की प्रधानता रहेगी; दूसरी श्रेणी में लक्ष्यार्थगौण रूप में प्रस्तुत रहेगा और तीसरी श्रेणी के काव्य में उसका लोप हो जायगा।

ध्वनि-सिद्धान्त की महत्ता

ध्वनि-सिद्धान्त के प्रचारकों की महत्ता तथा श्रेष्ठता इसी में है कि उन्होंने श्रेष्ठ काव्य की आत्मा को पहचानने का महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किया, और पाठक वर्ग के हाथों ऐसी विश्वस्त कसौटी प्रदान की, जिसकी सहायता से वे श्रेष्ठ तथा निकृष्ट काव्य की परख सहज ही कर सकते थे। परन्तु उन्होंने यह भी संकेत दिया कि पाठक वर्ग को सहृदय होना आवश्यक है; बिना सहृदय हुए, न तो उनमें सुरुचि आयगी और न वे साहित्य की आत्मा का दर्शन करने की क्षमता ही प्राप्त कर सकेंगे।

संस्कृत साहित्य-शास्त्र में ध्वनि सिद्धान्त को इतना अधिक महत्त्व मिला है जो कदाचित् ही किसी अन्य सिद्धान्त को मिला हो : यह समस्त साहित्य-शास्त्र का मूलाधार मान्य हुआ है। परवर्त्ती लेखकों ने इसके विरोध में अपनी आवाज उठाने का प्रयत्न किया, परन्तु सभी विफल रहे। उन्होंने इस सिद्धान्त के मूल तत्वों पर ही टीका-टिप्पणी कर सन्तोष पाया।

रसानुभूति का विवेचन

ध्वनि तथा रस-सिद्धान्त की मान्यता यद्यपि आनन्द-वर्धन ने पूर्णरूप से स्थापित कर दी थी, फिर भी प्राचीन परिपाटी के कुछ आलोचकों[1] ने इसका विरोध किया, परन्तु इस युग के अन्य श्रेष्ठ[2] आलोचकों ने इसका समर्थन पूर्णरूप से किया। इस सिद्धान्त के पोषक अभिनव-गुप्त ने रस-सिद्धान्त का विशद विवेचन दिया और अत्यन्त व्यापक तथा गम्भीर रूप में इसका विश्लेषण किया। साधारणतया जब हम रसानुभूति की बातें करते हैं, तो हम निश्चित रूप से यह नहीं कह पाते कि जो-कुछ भी हम अनुभव कर रहे हैं उसका मूल स्रोत क्या है ? इसके तीन मूल स्रोत हो सकते हैं : लेखक, पात्र-वर्ग तथा दर्शक। और तीनों पर ही हमें सम्यक् ध्यान रखना

१. प्रतिहारेन्दुराज, भट्टनायक, धनिक, धनंजय।
२. अभिनवगुप्त ९९०—१०१५ ईस्वी।

पड़ेगा। इसके साथ-साथ यह प्रश्न भी स्वाभाविक है कि वास्तव में वे विभिन्न भाव कौनसे हैं जिन पर साहित्यिक रसानुभूति निर्भर है ? दुःखान्तकी की समस्या का क्या हल है ? करुण-रस द्वारा हमें आनन्द क्यों प्राप्त होता है ? इन प्रश्नों का उत्तर भरत ने अपने 'नाट्य-शास्त्र' में संकेत रूप में प्रस्तुत किया था और बाद के लेखकों[1] ने उस संकेत को स्पष्ट करते हुए अनेक समस्याओं का हल ढूँढ निकाला। अभिनव गुप्त ने मानवी आत्मा की अमरता तथा उसकी व्यापकता के आधार पर इन साहित्यिक प्रश्नों का हल ढूँढा था। प्रत्येक मनुष्य में कुछ जन्मजात मनोभाव अथवा विकार रहते हैं और साहित्यिक भाषा में उन्हें स्थायीभाव के नाम से सम्बोधित किया जाता है। जब कलाविद् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव का प्रकाश अपनी कला द्वारा करता है तो हमारे जन्मजात मनोभाव जाग्रत हो उठते हैं, और धीरे-धीरे जोर पकड़ते हुए अपने उत्कर्ष पर पहुँच जाते हैं : उसी क्षण हमें अलौकिक आनन्द की अनुभूति होने लगती है।

वक्रोक्ति सिद्धान्त की स्थापना

अभिनव के समकालीन एक आलोचक[2] ने अभिनव-द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का खण्डन करने का प्रयत्न किया और उसके स्थान पर वक्रोक्ति तथा अनुमान-सिद्धान्त प्रतिष्ठापित किया। इनके विचारानुसार वक्रोक्ति (जिसकी श्रेष्ठता इसी में है कि साधारण रूप मे बात न कही जाकर विलक्षण रूप में कही जाय) काव्य का मूल गुण है। और ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार, काव्य का सहज सौन्दर्य व्यंजना पर निर्भर नहीं, वास्तव में यह काव्यानुभूति पर निर्भर है। साहित्य अथवा काव्य की आत्मा, ध्वनि तथा विचारों की पारस्परिक स्पर्द्धा में निहित है।[3] और काव्यानुभूति केवल ऐसे ही व्यक्ति कर सकेंगे जो उसके वास्तविक तत्वो से परिचित होंगे। शब्दों की व्यंजना-शक्ति काव्य का शरीर है, तथा वक्रोक्ति उसका सहज आभूषण है। यद्यपि इन आलोचको ने ध्वनि-सिद्धान्त के महत्त्व को भलीभांति पहचान लिया था और उसके द्वारा आनन्दानुभूति को हृदयंगम भी किया था, परन्तु वे पूर्णतया इस सिद्धान्त पर सहमत न हुए। बाद के कुछ आलोचको[4] ने अलंकार, गुण, रीति, रस, सभी को काव्य के लिए महत्त्वपूर्ण समझा, और

१. भट्ट लोलाट्ट, संकुक, भट्टनायक।
२ कुन्तक।
३. 'परस्पर स्पर्धित्व लक्षणं साहित्यम्'।
४. राजा भोज।

कुछ[1] ने केवल औचित्य को ही काव्य का मूल-तत्त्व माना। औचित्य से उनका अर्थ वास्तव में सामंजस्य से था। काव्य के लिए यह आवश्यक समझा गया कि उसके प्रत्येक भाग में समन्वय तथा सामंजस्य हो। औचित्य की आवश्यकता पहले के अन्य आलोचकों ने भी प्रमाणित की थी और उसके बिना रसानुभूति को असम्भव समझा था। इन आलोचकों ने इस औचित्य-सिद्धान्त को केवल अलंकार तथा गुण पर ही नहीं, वरन् शब्द, वाक्यांश, वाक्य तथा क्रिया इत्यादि पर भी लागू किया। कुछ ने तो औचित्य सिद्धान्त को इतना महत्त्वपूर्ण समझा कि उसके अन्तर्गत उन्होंने सभी सिद्धान्तों का समीकरण किया। आलोचकों ने काव्य-रचना के लिए अभ्यास की भी आवश्यकता प्रमाणित की।

आलोचना-सिद्धान्तों की समीक्षा तथा समष्टि

ग्यारहवीं शती के अन्तिम चरण में, आलोचकों ने केवल पुराने सिद्धान्तों को दुहराया और उन्हें एकत्र कर उनपर टीका-टिप्पणी करने का प्रयास-मात्र किया। कुछ[2] ने सम्पूर्ण सिद्धान्तों की तालिका बनाकर, उनके वर्गीकरण के पश्चात् सबकी मर्यादा निश्चित की। रस तथा ध्वनि, अलंकार तथा गुण तथा अनुमान-सम्बन्धी सिद्धान्तों पर अत्यन्त विश्लेषणपूर्ण विचार प्रस्तुत हुए, परन्तु मौलिकता कदाचित कम ही रही। इस शती के अन्त से ही साहित्यिक-आलोचना का भी अन्त समझना चाहिए, क्योंकि बाद में जितनी भी आलोचनात्मक पुस्तकें लिखी गईं, सभी इस युग के लेखकों की कृतियों के आधार पर ही लिखी गईं।

अद्भुत-रस का महत्त्व

संस्कृत-साहित्य का आलोचना-क्षेत्र प्रायः तीन शतियों तक अनुर्वर रहा। चौदहवीं शती के पूर्वार्द्ध में दो-एक ऐसे लेखकों का जन्म हुआ जिन्होंने अपनी प्रतिभा तथा विवेचना-शक्ति द्वारा, सभी प्राचीन सिद्धान्तों के वर्गीकरण के पश्चात् उन पर टिप्पणी की और नई आलोचनात्मक पुस्तकें लिखीं, जिनमें रसानुभूति पर नवीन दृष्टिकोण से विचार करने का प्रयत्न किया। रसों में अद्भुत को विशेष महत्त्व दिया गया।[3] विस्मय की भावना ही अद्भुत-रस का प्राण है : और यही रस अन्य रसों का आधार-स्वरूप है।

---

१. क्षेमेन्द्र।

२. मम्मट—'काव्य प्रकाश'।

३. विश्वनाथ—'साहित्यदर्पण'।

जिस प्रकार योगी ध्यानावस्थित हो, सतगुण के कारण एक विचित्र प्रकार का स्वर्गिक आनन्द प्राप्त करता है और उसे अनन्त की अनुभूति मिलने लगती है, उसी प्रकार काव्य भी जब हमें चमत्कृत कर देता है तो हमारा मानसिक विस्तार होने लगता है और रस का जन्म होता है। भवभूति ने भी करुण-रस को ही प्राधान्य देकर, उसे अन्य समस्त रसों का मूल आधार प्रमाणित किया था।

काव्य की नवीन परिभाषा

चौदहवीं शती के बाद हमे सत्रहवीं शती के मध्य-चरण में ही श्रेष्ठ आलोचना-सिद्धान्तों के दर्शन होते हैं[1]। इन सिद्धान्तों के प्रतिपादन मे अत्यन्त तर्कपूर्ण तथा सशक्त भाषा का प्रयोग हुआ, और अनेक पुराने आलोचना-सिद्धान्तों की समीक्षा मौलिक उदाहरणों द्वारा प्रस्तुत की गई। काव्य की परिभाषा में नवीन तत्त्व ढूँढने के प्रयत्न में 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ। काव्य, वास्तव में, तभी सफल होगा जब वह सुसंस्कृत व्यक्तियों के लिए शब्द-प्रयोग द्वारा रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करे तथा उसका अनुभव कराए। इस परिभाषा की व्यापकता इस-लिए अधिक हुई कि इसमे काव्य के भावात्मक, कल्पनात्मक तथा बौद्धिक तत्त्वो की भी रक्षा हुई थी। इसके विपरीत, पुरानी परिभाषाओं मे केवल भावा-त्मक तत्त्वों को ही प्रधानता दी गई थी और उनके अनुसार संसार के अनेक श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ कवियो की रचनाएँ काव्य के अन्तर्गत नहीं आ सकती थीं; वर्णनात्मक कविता तो काव्य-क्षेत्र से निकाल फेंकी गई होती। इसी त्रुटि को ध्यान मे रखते हुए तथा काव्य की परिभाषा को अधिक व्यापक बनाने के प्रयत्न में उसका प्रधान गुण—रमणीय अर्थ-प्रतिपादन—ही माना गया। इस सिद्धान्त यह कमी दिखाई दे सकती है कि इसके अनुसार समस्त साहित्य व्यक्तिवादी अथवा स्वयंवादी हो जायगा, परन्तु कुछ विचारको के अनुसार इस कठिन प्रश्न का यह उत्तर भी होगा कि ज्ञानार्जन तो व्यक्तिवादी होगा ही; उससे छुट-कारा नहीं।

काव्य का वर्गीकरण

कुछ पुराने आलोचको ने काव्य को अर्थ के आधार पर तीन वर्गों मे बाँटा था : उत्तम, मध्यम तथा अधम। उत्तम काव्य की संकेतात्मक शक्ति अथवा लक्ष्यार्थ उत्कृष्ट होगा; जिस काव्य में शैली को महत्त्व मिलेगा और लक्ष्यार्थ गौण होगा वह मध्यम-वर्ग का काव्य कहलायगा और

१. पंडितराज जगन्नाथ—'रस गंगाधर'।

अधम में कोई भी संकेतार्थ नहीं रहेगा। इस वर्गीकरण में कुछ आलोचकों ने उलट-फेर किया और उत्तमोत्तम, तथा उत्तम दो प्रधान-वर्ग बनाए। परन्तु उत्तम वर्ग के दो उपवर्ग भी निश्चित किये गए। जिस काव्य मे अर्थालंकार को प्रधानता मिले, उसे मध्यम-काव्य कहा गया और जहाँ शब्दालंकार को ही महत्त्व दिया गया, उसे अधम-काव्य समझा गया।

: ९ :

उपसंहार

संस्कृत साहित्य के उपर्युक्त विवेचन तथा विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि साहित्य-शास्त्र के आदि काल से लेकर ध्वनि-सिद्धान्त के पोषकों के युग तक अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया और अनेक श्रेष्ठ आलोचकों द्वारा साहित्य-शास्त्र पर विचार हुआ, जिसका उत्कर्ष ध्वनि-सिद्धान्त-वादियों की रचनाओं में पूर्णतः प्रस्तुत है। सुदूर भूतकाल से लेकर, जिसका कोई ऐतिहासिक लेखा नहीं मिलता, अभिनव गुप्त के जीवन-काल अथवा तीन शतियों तक जिन-जिन आलोचना-पद्धतियों का सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विश्लेषण हुआ, कदाचित् उसकी तुलना अन्य किसी देश के साहित्य-शास्त्र के इतिहास से नहीं हो सकती। आलोचकों ने जिस प्रतिभा का परिचय सिद्धान्तों के प्रतिपादन और विशेषतः उनके उदाहरण ढूँढ़ने मे दिया, उसकी भी तुलना किसी अन्य देश के आलोचकों से कठिन है। कहीं-कहीं तो उन्होंने इतनी मौलिक सूझ से काम लिया है कि उन्हें उस क्षेत्र में अग्रगण्य मानना होगा।

संस्कृत साहित्य के आलोचना-शास्त्र का इतिहास प्रायः तीन शतियों से कुछ अधिक के साहित्यकारों का इतिहास है जिसके उपरान्त आलोचना-शास्त्र की रूप-रेखा स्थिर हो गई, सिद्धान्तों का निर्माण पूर्ण रूपेण हो गया और तर्क तथा उदाहरण सहित उनकी मान्यता स्थापित कर दी गई। पिछले विवेचन में हमें चार-वर्ग के आलोचकों के दर्शन होते हैं जिन्होंने अपने मनोनुकूल साहित्य-सिद्धान्त निर्मित किए और उनके प्रचार में प्रयत्नशील हुए। पहला वर्ग उन आलोचकों का है जिन्होंने रस-सिद्धान्त का निर्माण किया, उसकी परिभाषा बनाई, उसके उदाहरण प्रस्तुत किए और बहुत समय तक उसकी प्रतिष्ठा रखी। दूसरा वर्ग था अलंकार-शास्त्रियों का जिन्होंने अलंकार-सिद्धान्त की महत्ता घोषित की, और अनेक उद्धरणों द्वारा यह प्रमाणित करने की चेष्टा की कि अलंकार द्वारा ही काव्य में शक्ति की प्रतिष्ठापना होगी। तीसरे वर्ग के आलोचकों ने रीति-सिद्धान्त को महत्त्वपूर्ण समझा और उसे सूत्र रूप में रखकर उस पर टीका टिप्पणी आरम्भ की, तथा यह प्रमाणित

किया कि अनेक गुणों के आधार पर ही साहित्य की श्रेष्ठता अथवा हीनता का निर्णय हो सकता है। इस सिद्धान्त के पोषको ने अभिव्यंजना के अनेक साहित्यिक मार्गों की छान-बीन की, और काव्याभिव्यक्ति में जो-जो गुण फल-प्रद होंगे, उन्हे सिद्धान्त रूप में गिनाया। चौथा वर्ग था ध्वनि-सिद्धान्त के निर्माताओं का जिन्होंने अपनी श्रेष्ठ विवेचन शक्ति द्वारा शब्दो की अभिधा तथा लक्षणा एवं व्यंजना शक्ति में ही काव्य की आत्मा के दर्शन किये। इन चार वर्गों के आलोचकों के सिद्धान्तो का यदि स्पष्ट विवेचन किया जाय, तो यह पता चलता है कि रस-सिद्धान्त—जिसका निर्माण नाटको के प्रभाव के आधार पर किया गया—व्यक्तिगत भावो तथा विभावों का सहारा लेते हैं; अलंकार-सिद्धान्त काव्य के केवल बाह्याभरण पर जोर देते हैं; रीति-सिद्धान्त, शैली अथवा श्रेष्ठ अभिव्यक्ति के लिए जिन-जिन गुणों की आवश्यकता पड़ेगी, उनका लेखा रखते हैं और ध्वनि-सिद्धान्त-वादी काव्य में प्रयुक्त शब्दों की व्यंजना शक्ति पर ही काव्यानन्द का समस्त आभार रखते हैं। प्रायः ऐसा भी देखा जाता है कि प्रत्येक उपर्युक्त वर्ग के आलोचक एक-दूसरे के सिद्धान्तों को किसी-न-किसी अंश मे अपनाते अवश्य हैं, परन्तु उस पर छाप अपनी ही रखते हैं। यद्यपि कोई भी वर्ग अपने प्रतिद्वन्द्वी वर्ग के सिद्धान्तों को पूर्णतया नहीं अपनाता, फिर भी उस पर समुचित टीका-टिप्पणी करने मे कभी पीछे नहीं रहता है।

सिद्धान्तों की समष्टि

पिछली तीन शतियो के आलोचना-सिद्धान्तों को, जो इधर-उधर बिखरे पड़े थे और जिन पर विभिन्न रुचि के विभिन्न विचारक अपनी-अपनी सूझ-बूझ के सहारे सिद्धान्त-निर्माण में प्रयत्नशील थे, सुव्यवस्थित रूप देने की आवश्यकता थी। जो-जो विचारधाराएँ प्रवाहित हो चली थीं, उनका संगम कही दृष्टिगत न होता था, और समय एक ऐसे श्रेष्ठ विचारक की प्रतीक्षा कर रहा था जो इन विभिन्न सिद्धान्तो की समष्टि प्रस्तुतकर, साहित्य-शास्त्र का पूर्ण रूप प्रस्तुत करता। समय की प्रतीक्षा अन्त में पूरी हुई, और एक ऐसे आलोचक का जन्म हुआ जिन्होंने अपनी अपूर्व प्रतिभा द्वारा प्रचीन पद्धतियों की विवेचना के उपरान्त श्रेष्ठ साहित्य-शास्त्र की रचना की, जिसकी महत्ता आज तक कम नहीं हुई है। यह आलोचक थे आनन्दवर्धन।

आनन्दवर्धन का 'ध्वन्यालोक' प्रायः सभी प्राचीन साहित्य-मार्गों की समष्टि प्रस्तुत करता है और श्रेष्ठ आलोचक की प्रतिभा का प्रमाण-स्वरूप है। परन्तु इस रचना के पश्चात् न तो किसी मौलिक साहित्यकार के दर्शन

होते हैं और न कोई मौलिक सिद्धान्त ही निर्मित होता है। साहित्यकार जन्मते तो हैं, परन्तु उनमें मौलिकता नहीं रहती। फलतः इस काल में हमे केवल टीकाकारो तथा टिप्पणी लेखको की भरमार दिखाई देती है। यही नहीं, टीकाओं की टीका[1] भी लिखी जाती थी और एक-एक टीका पर अनेक टिप्पणी-लेखक अपनी विद्वत्ता खर्च किया करते थे। स्पष्टतया प्रायः सबका प्रयत्न यही ज्ञात होता है कि कोई पाठ्य-पुस्तक लिख दी जाती[2]। जो आलोचक मूल धाराओं पर विचार करने मे असमर्थ रहते, साहित्य का कोई-न-कोई अंग उठा लेते और उसपर विचार करना आरम्भ करते। प्रायः शृङ्गार-रस अनेक आलोचको को प्रिय रहा, और उस पर काफी टीका-टिप्पणी की गई। परन्तु लेखको में मौलिकता न होने पर भी उनका मुख्य गुण स्तुत्य है। यह है उनकी विश्लेषण-क्षमता। लेखकों[3] ने वर्गीकरण, उप-वर्गीकरण इत्यादि में अपनी विद्वत्ता अवश्य दिखलाई।

१. विश्वनाथ, गोविन्द, जगन्नाथ, रुय्यक।

२. मम्मट ने सफलतापूर्वक 'काव्य-प्रकाश' मे प्रायः सभी आलोचनात्मक तत्त्वो की समष्टि प्रस्तुत की, और काश्मीर के आलोचको की महत्ता पूर्णरूप से स्थापित की। उन्होने जो काव्य की परिभाषा प्रस्तुत की, उससे यह प्रमाणित है : "सर्वगुणसम्पन्न एवं दोषरहित अभिव्यक्ति, जो अलकारो का सहारा मनोनुकूल ले सकती है, काव्य के नाम से आभूषित होगी।"

३. पंडितराज जगन्नाथ का 'रस-गगाधर' साहित्य-शास्त्र पर लिखी गई महत्त्वपूर्ण रचना है। यद्यपि इसमे कोई विशेष मौलिकता नही, परन्तु जिन प्राचीन साहित्य-निर्माण विषयक प्रश्नो पर विचार हो चुका था उस पर उन्होने अत्यन्त विद्वतापूर्वक पुनः विचारकर इस पुस्तक की रचना की। वास्तव मे यह रचना अपने सम्पूर्ण रूप मे प्राप्त नही। वे सभी प्राचीन पद्धतियो से परिचित है और उन्हे नवीन विचारधाराओ से समन्वित करने का प्रयत्न करते हैं; इस दृष्टि से भी यह रचना महत्त्वपूर्ण कही जायगी। श्रेष्ठ परिभाषा के निर्माण मे भी लेखक की प्रतिभा प्रमाणित होती है। 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः' के रूप मे जो काव्य की परिभाषा निर्मित की गई, वह आज तक मान्य है। इस परिभाषा तथा उस पर टिप्पणी के अनुसार काव्य मे किसी ऐसे भाव का प्रकाश होना चाहिए जो आनन्ददायी हो। रमणीयता अथवा आनन्द-प्रदान की शक्ति ही काव्य का विशेष गुण मान्य हुआ, परन्तु इसका अनुभव वे ही व्यक्ति कर सकेंगे जिनकी शिक्षा-दीक्षा सुरुचि प्राप्त करने के लिए हुई हो, और जिन्होंने सुन्दरतम वस्तुओ के निरीक्षण द्वारा अपनी रुचि को परिमार्जित

ऐतिहासिक वर्गीकरण

संस्कृत-साहित्य में, यदि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो, जो भी रस-शास्त्र सम्बन्धी रचनाएँ प्राप्त हैं वे पिछले हजार वर्षों के अन्तर्गत ही लिखी गई होंगी। रस-शास्त्र सम्बन्धी पूर्ववर्ती लेखकों के संकेतों तथा भरत की रचना को यदि छोड़ दिया जाय, तो भी हज़ार वर्ष की ही सीमा निर्धारित करनी पड़ेगी, अर्थात् ८०० ईसवी से लेकर १८०० ईसवी तक सभी श्रेष्ठ लेखकों ने अपनी रचनाएँ समाप्त कर दी थीं। यद्यपि भरत तथा भामह के जन्म-स्थान तथा उनकी शिक्षा-दीक्षा का समुचित तथा यथेष्ट ब्यौरा नहीं मिलता, परन्तु उनके बाद के प्रायः साहित्य के सभी आचार्यों की रचनाओं का उल्लेख तथा उनका विश्लेषण स्पष्ट रूप में मिलता है। वामन, उद्भट, रुद्रट, आनन्द-वर्द्धन, भट्ट नायक, अभिनव गुप्त, क्षेमेन्द्र तथा मम्मट और रुय्यक इत्यादि की जन्म-भूमि काश्मीर थी। केवल दण्डी ही ऐसे थे जिनका जन्म-स्थान दक्षिण के प्रदेशों में ही ठहराया गया है। यद्यपि दक्षिण के प्रदेशों मे बाद में अनेक लेखकों ने अपनी रचनाओं द्वारा रस-शास्त्र की वृद्धि की, फिर भी काश्मीर के लेखकों की तुलना में वे अधिक श्रेष्ठ नहीं प्रतीत होंगे।

इस हजार वर्ष के साहित्य में यदि देखा जाय तो कुछ आलोचनात्मक प्रवृत्तियां स्पष्ट रूप में दिखलाई देंगी, और इन प्रवृत्तियों के आधारभूत लेखक आनन्दवर्धन माने गए हैं। आनन्दवर्धन की रचनाओ में उनके पूर्ववर्ती तथा उनके बाद के लेखकों का संगम-सा प्रतीत होगा। परन्तु मम्मट-रचित 'रस-शास्त्र' साहित्य-क्षेत्र में इन प्रवृत्तियो की पराकाष्ठा प्रस्तुत करता है। आनन्द-वर्धन का ध्येय काव्य में ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना करना था और वे चाहते थे कि जितनी भी आलोचनात्मक उक्तियां तथा रस-शास्त्र सम्बन्धी विचार भामह, वामन इत्यादि की रचनाओं में इधर-उधर बिखरे पड़े हैं उनको समन्वित कर दिया जाय। इस कार्य को यद्यपि आनन्दवर्धन ने ही आरम्भ किया, परन्तु मम्मट ही उन्हें सप्रमाण पुस्तक रूप में रख पाया।

कर लिया हो।

ध्वनि-सिद्धान्त को भी अपनाते हुए पंडितराज ने काव्य के चार वर्ग निश्चित किये। ये वर्ग है—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम, तथा अधम। प्रायः उन गुणों के आधार पर ध्वनि-सिद्धान्तवादियो द्वारा काव्य का वर्गीकरण हुआ था, उन्ही पर यह चार वर्ग भी निर्धारित किये गए। तत्पश्चात् ध्वनि का वर्गीकरण असंख्य तत्वों के आधार पर रखा गया जिनमे प्रमुख वर्ग अभिधामूल, तथा लक्षणामूल केवल दो माने गए।

भामह की रचना 'काव्यालंकार' यद्यपि रस-शास्त्र सम्बन्धी सबसे पहली कृति समझी जाती है, परन्तु उसके अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि उनके पहले भी किसी न-किसी प्रकार का शास्त्र किसी-न-किसी रूप में अवश्य प्रयुक्त रहा होगा। इस काल की रचनाओं में प्रायः भरत की रचना के अतिरिक्त सभी अप्राप्य हैं। इस काल में काव्य के लेखकों ने चार अलंकारों की परिभाषा निर्मित करने का प्रयत्न किया, दस गुणों का उल्लेख किया तथा दस दोषों की ओर भी संकेत दिया; और अन्त में भट्टी की रचनाओं में अड़तीस अलंकारों की समष्टि प्रस्तुत हुई। इस काल की रचनाओं मे केवल भरत की रचना ही साधारण रूचि के विरुद्ध प्रतीत होती है, क्योंकि उन्होंने नाटक के तत्त्वो का विवेचन ही प्रमुख ध्येय रखा और केवल गौण रूप मे रस पर अपने विचार प्रकट किये।

भरत के बाद ही रस-शास्त्र-रचना की ओर अनेक साहित्यकार अग्रसर हुए जिनमें भामह ने इसकी परम्परा चलाई और आनन्दवर्धन तथा मम्मट ने उसको उत्कर्ष पर पहुँचाया। अब तक रस शास्त्रकी छोटी-मोटी रूपरेखा तैयार हो गई थी। एक ओर उद्भट तथा रुद्रट समान लेखकों ने काव्य के बाह्यालंकारों के प्रयोग तथा उनके सिद्धान्तो पर विचार किया और इस शास्त्र के नामकरण में सहायता दी, दूसरी ओर दण्डी तथा वामन सरीखे आचार्यों ने काव्य-रूप तथा रीति पर विचार करते हुए काव्य के बाह्य गुणों को निर्दिष्ट किया। उन्होंने दस गुण गिनाए जो अब तक किसी-न-किसी रूप मे मान्य हैं। उन्होंने इन गुणो की ओर संकेत नहीं किया, वरन् उनको काव्य में प्रयुक्त करने का श्रेष्ठ साधन भी बतलाया और उस मार्ग मे जो-जो कठिनाई अनुभव होगी उसका भी वर्णन किया। उन्होने इस विवेचनात्मक अध्ययन का नाम 'अलंकार-शास्त्र' रखा, जिस पर आगामी काल के लेखकों ने टीका-टिप्पणी आरम्भ की।

इन पूर्ववर्ती लेखकों के पश्चात् ऐसे लेखकों का युग आया जिन्होंने काव्य के सौन्दर्यात्मक तत्त्वो पर विचार आरम्भ किया और रस-परिपाक के सिद्धान्तों के साथ-साथ भावो तथा उनके महत्त्व को भी स्पष्ट किया; परन्तु यह सम्पूर्ण अध्ययन और विश्लेषण विशेषतः नाटक-रचना तथा नाट्य-कला के अन्तर्गत ही रखा गया। आनन्दवर्धन जैसे श्रेष्ठ आलोचक ने ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और रस-शास्त्र को नाट्य-शास्त्र से पृथक् रखकर उस पर स्वतन्त्र रूप से विचार करने की परम्परा चलाई। आनन्दवर्धन ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि नाट्य-शास्त्र चाहे अपने को कितना ही

स्वतन्त्र क्यों न समझे, बिना काव्य के रसानुभूति सिद्धान्तो को अपनाए उसका काम नहीं चल सकेगा। इसलिए यह आवश्यक है कि नाटककार काव्य के रस-परिपाक सिद्धान्त को अपनाएँ, भाव, अनुभाव, विभाव इत्यादि की महत्ता को समझें और रस-परिपाक को ही काव्य की उत्तमता का आधार मानें। इसी काल से, काव्य में रस की महत्ता घोषित हुई और भविष्य के अनेक लेखकों ने ध्वनि-सिद्धान्त का विवेचन करके दोनों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया, जिसके फलस्वरूप अलंकार-शास्त्र की सम्पूर्ण रूप-रेखा निर्धारित हो गई।

परन्तु साहित्य-संसार का यह एक विशिष्ट नियम है कि कोई भी सिद्धान्त सबको समान रूप से सन्तुष्ट नहीं कर पाता; सिद्धान्त चाहे कैसा भी क्यों न हो, उसके विरोधी अवश्य जन्म ले लेते हैं। इसी नियम के अनुसार आनन्दवर्धन के निर्धारित रस तथा ध्वनि-सिद्धान्त के अनेक विरोधियों ने उनके विरोध में टीका-टिप्पणी आरम्भ की। परन्तु यह विरोध बहुत दिनों तक पनप नहीं सका और आनन्दवर्धन के ध्वनि-सम्बन्धी-सिद्धान्त की परिपाटी चल निकली, और जब मम्मट द्वारा उनकी स्पष्ट तथा सुव्यवस्थित समष्टि प्रस्तुत की गई तो उसकी महत्ता और भी बढ गई। बारहवीं शती से लेकर आगे तक उसका प्रचलन रहा और वे सर्वमान्य रहे। जिन लेखकों ने कुछ नवीन सिद्धान्त बनाने की विफल चेष्टा की वे भी आनन्दवर्धन तथा मम्मट के सिद्धान्त से अछूते न रहे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा का अलंकार-शास्त्र, उसकी प्रगति के अनुसार चार कालों में विभाजित हो सकता है। प्रथम काल में उसका बीजारोपण होता है और इतिहास से परे युग में उसकी कुछ अस्पष्ट छाया दिखाई पडती है जो भरत के 'नाट्य-शास्त्र' तथा भामह के कथनों में प्रकाश पाती है। दूसरा काल भामह से लेकर आनन्दवर्धन तक का है जिसमें अलंकार-शास्त्र का यथेष्ट विवेचन होता है, और जहाँ अलंकार-शास्त्र पर अनेक बिखरे विचारों को सुव्यवस्थित रूप दिया जाता है और रस, अलंकार, रीति तथा ध्वनि-सम्बन्धी चार विषयो पर गम्भीर विचार प्रकट किया जाता है। तीसरा काल उन लेखकों का है जो आनन्दवर्धन के बाद साहित्य-क्षेत्र में आते हैं। इनका उत्कर्ष मम्मट की रचनाओं में होता है। इसी तीसरे काल में कुछ विरोधी भी जन्म लेते हैं, परन्तु चौथे काल मे हमें अलंकार-शास्त्र अपने परिपक्व-रूप मे मिलता है। इस युग की मौलिकता, लेखकों की आलोचनात्मक सूक्ष्म तथा उनका साहित्यिक तथा मनोवैज्ञानिक अनु-

सन्धान अत्यन्त उच्चकोटि का है। यह है लेखकों की दृष्टि से काल-विश्लेषण। यदि सिद्धान्तों की दृष्टि से इन चार कालों का विभाजन किया जाय तो पहले काल में रस-सिद्धान्त, दूसरे मे अलंकार-सिद्धान्त, तीसरे में रीति तथा चौथे काल में ध्वनि-सिद्धान्तों का निर्माण हुआ। परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना कि प्रत्येक काल एक-दूसरे से नितान्त विभिन्न तथा एक-दूसरे के प्रभावों से मुक्त रहा भ्रामक होगा, क्योंकि प्रत्येक लेखक अपने पूर्ववर्ती लेखकों का प्रभाव ग्रहण करता है और प्रत्येक मे एक-दूसरे का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगत है।

काव्य-साधना

यद्यपि कवि-शिक्षा सम्बन्धी सिद्धान्त साहित्य-शास्त्र के अन्तर्गत नही आते, परन्तु इन सिद्धान्तो के प्रतिपादन मे जो उत्साह दिखलाया गया तथा उनके द्वारा काव्य-सिद्धान्तों पर जो प्रकाश पड़ा, उसने इसका महत्त्व विशेष रूप में बढा दिया है। इन रचनाओ का उद्देश्य विशेषतः कवि को काव्य-कला मे दीक्षित करना था। इनको पढने के उपरान्त जो व्यक्ति कवि बनना चाहता यह निश्चित कर सकता था कि किन-किन नियमो को अपनाने और कैसे अभ्यास के फलस्वरूप उसे काव्य-फल की प्राप्ति हो सकती है। इन रचनाओं में प्रायः अभ्यास करने के लिए अन्यान्य निमयों की सूची रहा करती थी।

काव्य की सफल रचना मे सबसे प्रमुख गुण जो कवि को अपनाना चाहिए वह है औचित्य।[1] बिना औचित्य गुण के न तो रस का आविर्भाव हो सकेगा और न काव्य का निर्माण; इसलिए कवि के लिए यह अत्यावश्यक है कि वह विषय, वक्ता तथा अभिव्यक्ति, तीनों मे अनौचित्य न आने दे। बिना इस नियम के समुचित पालन के सफल रसानुभूति नहीं हो सकेगी। औचित्य की महत्ता प्रतिपादित करने के लिए यहाँ तक कहा गया कि औचित्य ही में रस का मूल निहित है; वह 'रस जीवितभूत' है; उसी पर चमत्कार अथवा सौन्दर्यात्मक आनन्द निर्भर है; अलंकारो में भी प्राण-प्रतिष्ठा इसी गुण के द्वारा होगी, क्योंकि यही काव्य की आत्मा-स्वरूप है।

वास्तव में औचित्य का अर्थ यह है कि पारस्परिक सम्बन्ध मे उचित का भाव है अथवा नहीं; दोनो एक-दूसरे के उपयुक्त हैं अथवा नहीं। औचित्य गुण की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति किसी भी कविता मे अनेक रूप में

१. क्षेमेन्द्र—'औचित्य-विचार', 'कवि कण्ठाभरण'। आलोचक ने जिन-जिन उदाहरणों द्वारा अपने सिद्धान्त की पुष्टि की, उससे स्पष्ट है कि उनमे आलोचक की आत्मा तथा सुरुचि पूर्णरूपेण प्रस्तुत है। यह गुण संस्कृत के अन्य लेखको मे कदाचित् देखने को नहीं मिलता।

देखी जा सकती है; पद, वाक्य, सम्पूर्ण प्रबन्ध, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, उपसर्ग, देश-काल इत्यादि में हम उसकी सफलता अथवा विफलता सरलता से देख लेंगे। कदाचित् इस सिद्धान्त में कोई विशेष मौलिकता नहीं, और दूसरे शब्दो में जिन गुणो का विकास 'सहृदय' अथवा 'सहृदयत्व' में देखा गया उन्हीं के आधार पर औचित्य विचार भी संभव हुआ। यहाँ पर यह भी पुनः स्पष्टतः कह देना उचित है कि ये विचार आलोचना-शास्त्र के अन्तर्गत नही प्रतिपादित हुए; इनकी विचारधारा अलग थी और इनका सम्बन्ध आलोचना-शास्त्र से न होकर मुख्यतः सुरुचि से ही था।

काव्य की आत्मा का विश्लेषण करते हुए आलोचकों ने यह भी सिद्धान्त हितकर माना कि कवि की काव्य-साधना तभी पूरी होगी, जब उसे दैवी प्रेरणा मिले; बिना इस 'दिव्य-प्रयत्न' के उसे सफलता नहीं मिलेगी। इसके साथ-साथ यह भी नियम मान्य हुआ कि बिना अभ्यास के भी काव्य-रचना सम्भव नहीं होगी। बिना इस 'पौरुष' के कवि सदैव विफल रहेगा। कवि को दैवी-प्रेरणा विनय तथा आवाह्न द्वारा प्राप्त होगी और अभ्यास के लिए उसे निरन्तर प्रयत्नशील रहना पड़ेगा। इस वर्ग के आलोचको ने काव्य के साधकों की भी तीन श्रेणियाँ निर्मित कीं—पहले अल्प-प्रयत्न-साध्य, जिनको थोड़े ही प्रयत्न की आवश्यकता पड़ेगी, दूसरे कृच्छ्र-साध्य, जिन्हें अत्यधिक प्रयत्न करना पड़ेगा और तीसरे असाध्य, जिन्हे निरन्तर प्रयत्नशील रहने पर भी सफलता नहीं मिलेगी। कवियों की काव्य-साधना के आधार पर भी उनका वर्गीकरण हुआ। पहली श्रेणी के कवि 'छायोपजीवी' कहलाए, जो श्रेष्ठ कवि के भाव की केवल छाया ग्रहण करते हैं; दूसरे 'पदक तथा पद-उपजीवी' थे जो शब्द तथा पंक्ति अपना लेते थे; तीसरी श्रेणी के 'अभ्यासी' समस्त कविता ले लेते थे और चौथे 'भुवनोपजीव्या' कहलाए, जो समस्त संसार को काव्य-निर्माण में सहायक मानते थे।

कवियो को काव्य-निर्माण में सफल होने के लिए यह आवश्यक ठहराया गया कि उनमें अपूर्व विद्वत्ता भी हो; और उनमें अन्यान्य साहित्यों तथा अनेक प्रकार के ज्ञान-विज्ञान का ज्ञान अपेक्षित होगा।

संस्कृत-साहित्य के एक हजार वर्ष के अन्तर्गत निर्मित साहित्य-सिद्धान्तो तथा आलोचनात्मक अनुसन्धानो की तुलनात्मक समीक्षा यदि अँग्रेजी साहित्य-सिद्धान्तों तथा आलोचनात्मक विचारो से की जाय तो बहुत-कुछ अंशों में दोनों साहित्यों के अनुसन्धान में अपूर्व साम्य दिखलाई देगा। जिन-जिन प्रश्नों के हल ढूँढ़ने में संस्कृत साहित्यकार संलग्न हुए, प्रायः वैसे ही

अनेक प्रश्न अँग्रेज़ी साहित्यकारों ने भी उठाए और उनका हल ढूँढने का प्रयत्न किया। इस अनुसन्धान में जिस विवेचनात्मक शक्ति का परिचय संस्कृत साहित्यकारों ने दिया उतनी ही विश्लेषणात्मक शक्ति तथा साहित्यिक सूझ का प्रयोग अँग्रेज़ी साहित्यकारों ने भी किया। हाँ, अन्तर केवल इतना है कि जहाँ अँग्रेजी साहित्य का आलोचनात्मक अनुसन्धान बीसवीं शती तक अविरल गति से होता आया, संस्कृत का आलोचनात्मक प्रवाह प्रायः एक हजार वर्ष के अन्तर्गत ही समाप्त हुआ और तत्पश्चात् उसका स्रोत सूखता चला गया। ग्यारहवीं शती के आरम्भ होते-होते प्रायः सभी आलोचनात्मक अनुसन्धान मौलिकता तथा महत्त्व की दृष्टि से समाप्त हो चुके थे; या तो पुराने आलोचना-सिद्धान्तो का संग्रह हो रहा था, अथवा उन्हीं पर टीका-टिप्पणी हो रही थी। इसमें सन्देह नहीं कि इन संग्रहकर्ताओं का साहित्यिक कार्य अत्यन्त आवश्यक तथा फलप्रद रहा, परन्तु उनमें मौलिकता ढूँढना व्यर्थ ही होगा। मम्मट तथा विश्वनाथ की रचनाएँ इसका प्रमाण प्रस्तुत करेंगी। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, चौदहवीं शती के पूर्वार्द्ध तथा सत्रहवीं शती के मध्य चरण मे ही दो-एक श्रेष्ठ आलोचना-सिद्धान्तो का निर्माण हुआ; कुछ एक नवीन रसों का अनु-सन्धान हुआ; कुछ नवीन तथा व्यापक परिभाषाएँ निर्मित हुईं और काव्य के वर्गीकरण का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया गया। परन्तु जो-कुछ भी महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान होने थे, प्रायः एक हजार वर्ष के अन्तर्गत हो चुके थे। इस विवेचन के उपरान्त यह कहना अत्युक्ति न होगा कि अँग्रेजी आलोचना अधिक दीर्घ-जीवी रही और आज तक उसका जीवन समाप्त नही हुआ। जैसे-जैसे समय बीतता जा रहा है नवीन विचारो का प्रकाश हो रहा है, साहित्यिक रचनाएँ होती जा रही हैं, नवीन वादों का जन्म हो रहा है और साहित्यकार साहित्य-सम्बन्धी अन्यान्य प्रश्नो के पूछने तथा उनका तर्कपूर्ण हल निकालने मे प्रयत्न-शील हैं।

प्रायः दोनो साहित्यों के आलोचनात्मक विचारो की मूल रूपरेखा निर्धारित करने मे हमें एक-सी कठिनाई अनुभव होगी। जैसा कि हम पहले कह चुके है, यूनानी साहित्य में आलोचना का मूल-रूप या तो अत्यन्त अस्पष्ट है या यूनानी साहित्यकारों तथा दर्शनज्ञो की चिन्तनधाराओं मे ही निहित है जो आगे चलकर साहित्य-सिद्धान्त के रूप में प्रकाशित हुए। पाँचवीं शती तक हमे महाकाव्य-लेखकों, सहगायकों, स्फुट-साहित्य लिखने वालो, इतिहासकारों तथा तत्त्ववेत्ताओं की रचनाओं का अनुशीलन करना पड़ेगा, तत्पश्चात् आलोचना का मूलरूप थोड़ा-बहुत स्पष्ट हो सकेगा। उसी

प्रकार हमें वैदिक काल की अनेक रचनाओं—वेद, वेदांगों, संहिताओं इत्यादि—में यदा-कदा प्रयुक्त अलंकारों तथा रस शब्द के प्रयोग को ढूँढना पड़ेगा तथा निघण्टु तथा निरुक्त जैसी रचनाओं के भाषा-विषयक विचारों में आलोचना का मूलरूप ढूँढना पड़ेगा। भारतीय दर्शनवेत्ताओं के विचार-सागर में यदा-कदा शब्द-प्रयोग तथा शब्द-शक्ति पर जो चिन्तनधाराएँ मिलेंगी उनसे भी हमें अपने तुलनात्मक अनुसंधान में सहायता मिलेगी। ऐतिहासिक दृष्टि से तो कदाचित् यह प्रमाणित ही है कि ईसवी सदी के आरम्भ से ही रस-शास्त्र का सम्यक् विवेचन आरम्भ हुआ होगा। ईसवी सदी की पहली पाँच शतियों में जब नितान्त अलंकृत भाषा लिखने की परिपाटी चल पड़ी थी तो बहुत सम्भव है कि अलंकार-शास्त्र अथवा रस-शास्त्र किसी-न-किसी रूप में अवश्य प्रस्तुत रहा होगा। यूनानी साहित्य में भी पूर्व ईसा पाँचवीं शती के शुरू होते-होते आलोचना के कुछ साधारण नियमों की रूपरेखा कुछ-कुछ बन चली थी। परन्तु एक महत्त्वपूर्ण भेद यह है कि जहाँ वाल्मीकि ने (जो संस्कृत-साहित्य के आदि कवि तथा श्लोक-छन्द के निर्माता माने गए) करुणा द्वारा प्रसूत लय-पूर्ण अभिव्यंजना में ही काव्य की आत्मा प्रदर्शित की और इस परिपाटी का आरम्भ हुआ, वहाँ यूनानी आदि कवि होमर तथा हिसियाड ने कवि धर्म तथा काव्य के उद्देश्य को हृदयंगम करने के प्रयास में एक महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक समस्या पर विचार किया, जिसका ठीक-ठीक हल आज तक नहीं मिल पाया है। जहाँ वाल्मीकि काव्य के मूल स्रोत को पहचानने में संलग्न हुए वहाँ यूनानी महाकाव्यकार आलोचनात्मक विचारों की नींव डालने लगे और काव्य की लक्ष्य-सम्बन्धी समस्याओं पर यथा-शक्ति विचार-प्रदर्शन करने लगे। इन्हीं दोनों कवियों ने काव्य के ध्येय के विषय में चिन्तन करते हुए आनन्द-प्रदान तथा शिक्षा-प्रदान, दो विभिन्न विचारधाराओं को प्रवाहित किया। साहित्य की दृष्टि से यह निश्चित करना कि किस साहित्य के कवि की विचार-धारा अधिक उपयोगी अथवा महत्त्वपूर्ण है कोरा वितण्डावाद ही होगा। हाँ, यह सहज ही कहा जा सकता है कि आदि कवि वाल्मीकि ने काव्य की आत्मा को पहचाना और होमर तथा हिसियाड ने काव्य के ध्येय तथा कवि-धर्म पर महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत करते हुए काव्य की ऐन्द्रजालिक क्रिया पर प्रकाश डाला। जहाँ संस्कृत के कवि ने काव्य की आत्मा में कारुण्य का प्रकाश देखा वहाँ पश्चिमी साहित्यकार ने काव्य के प्रभाव तथा उस प्रभाव के कारण को ही अपने सम्मुख विचारार्थ रखा। वाल्मीकि की मौलिकता इसी में है कि उन्होंने एक करुण दृश्य देखकर मूल रूप से काव्यानुभूति पाई।

उसी अनुभूति के विवेचनस्वरूप उन्होंने काव्य का उत्तरदायित्व करुणा पर रखा और प्रथम आलोचक कहलाए और इसी के फलस्वरूप रस-शास्त्र का बीजारोपण हुआ। यूनानी कवियों ने अपनी मौलिकता अपने निजी अनुभव पर नही, वरन् साहित्याध्ययन तथा साहित्य-चिन्तन के आधार पर प्रमाणित की। काव्य की आश्चर्यित तथा आनन्दित करने की शक्ति का परिचय देने में उनकी मौलिकता विशेष रूप मे दिखाई देगी। दोनों ही कवियों के साहित्यिक चिन्तन आगामी युग के साहित्यकारों के लिए हितकर सिद्ध हुए। एक ओर रस-परिपाटी की नींव पडी और साहित्यकारो ने उसका विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म के साथ आरम्भ किया और दूसरी ओर एक समस्यापूर्ण आलोचनात्मक विचार का प्रतिपादन हुआ। एक की दृष्टि आत्मा को परखने में दत्तचित्त थी दूसरे की सिद्धान्त-निरूपण में; और दोनों के तुलनात्मक मूल्य अथवा महत्त्व का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके साथ-साथ यूनानी विचारक काव्य के सभ्यता-मूलक उपयोग पर भी जोर देते रहे, और काव्य की शक्ति की व्याख्या तथा उसका प्रयोग करते रहे। कदाचित् संस्कृत-साहित्यकारों ने साहित्य की परख इस दृष्टि से नहीं की। इस सम्बन्ध में प्रायः यह भी देखा जा सकता है कि यूनानी दर्शन-शास्त्रियों ने आलोचनात्मक विचारों के प्रसार, उनके वैषम्य के शमन तथा उन्हें स्थायित्व देने में अपना पूरा सहयोग दिया और इसी सहयोग के फलस्वरूप प्रतीकवादी आलोचना शैली का जन्म हुआ और एक महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण से साहित्य का मूल्यांकन आरम्भ हुआ। कला के तर्कपूर्ण नियमों पर, उसके ऐन्द्रजालिक प्रभाव पर, प्रेरणा के मूल्य पर, स्फुट रूप में यूनानी साहित्यकारों के विचार इसी पाँचवीं शती के समाप्त होते-होते स्पष्ट हुए। यही नहीं, इस युग मे सांकेतिक परिभाषाएँ भी बनी; शब्दों के रूप तथा प्रयोग, छन्द, लय तथा सामंजस्य अन्यान्य बाह्य गुणों पर विचार हुआ। कथित शब्द की शक्ति तथा काव्य और गद्य में उसके प्रभाव को व्यक्त किया गया। प्रायः सामाजिक तथा राजनीतिक वातावरण के फलस्वरूप भाषण-कला-सम्बन्धी जो विचार प्रस्तुत हुए, वे भी आगामी युग के विचारकों के लिए फलप्रद हुए। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो यूनानी साहित्यकारों ने काव्य के रूप तथा भाषण-कला-सम्बन्धी जो विचार प्रस्तुत किये, उनके आधार पर हम कह सकते हैं कि उन्होने एक नहीं अनेक साहित्यिक प्रश्नों पर विचार किया और अपनी व्यापक दृष्टि का पूर्ण परिचय दिया, जिसकी सम्पूर्ण छाया पांचवीं शती के महान् कलाकार एरिस्टाफेनीज की रचनाओं में मिलेगी।

संस्कृत तथा यूनानी साहित्य के लेखकों की रचनाओं के अध्ययन में

एक विचित्र साम्य का दर्शन होता है। भरत के पहले के जो भी साहित्यिक विचार मिलते हैं, केवल विचार हैं; उनका क्रमबद्ध विवरण नहीं। और भरत ही ऐसे लेखक हुए जिन्होने रस का क्रमबद्ध लेखा दिया, और उन स्फुट विचारो को सुव्यवस्थित रूप मिला। उसी प्रकार ऐरिस्टाफेनीज के नाटकों मे ही हमें पहले-पहल सुव्यवस्थित रूप में आलोचनात्मक विचारों की तालिका मिलती है। उन्होने अत्यन्त पैने तथा व्यापक दृष्टिकोण का परिचय दिया और साहित्य के अन्यान्य अंगों—महाकाव्य, गीतकाव्य, सुखान्तकी तथा दुःखान्तकी—और भाषण शास्त्र पर अनेक तर्कपूर्ण सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया। दुःखान्तकी तथा भाषण-शास्त्र-सम्बन्धी जो विचार और सिद्धान्त प्रस्तुत हुए वे संस्कृत साहित्य में अनेक कारणवश प्रस्तुत न हो सके। हास्य-प्रसार-सम्बन्धी विचार भी यूनानी साहित्य की अपनी देन हैं; और ऐरिस्टाफेनीज की रचनाओं में निर्णयात्मक आलोचना-शैली का जो महत्त्वपूर्ण प्रयोग हुआ, उसकी तुलना अन्य साहित्यों से नहीं हो सकेगी। इस विवेचन से यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि जहाँ संस्कृत-लेखकों की साहित्यिक सूक्ष्म एकांगी परन्तु अत्यन्त तीक्ष्ण तथा साहित्य की आत्मा को परखने वाली थी, वहाँ यूनानी साहित्यकारों के विचार अधिक व्यापक थे, और उनका ध्येय काव्य के बाह्याकार को हृदयंगम करने मे संलग्न था।

संस्कृत-साहित्य के हजार वर्षों की साहित्य साधना में जिन प्रश्नों पर विचार हुआ, उनमें प्रायः वे ही प्रश्न मिलेंगे जिन पर पश्चिमी साहित्यकारो ने भी विचार किया। काव्य-प्रयोजन तथा कवि धर्म, कवि की शिक्षा-दीक्षा तथा दैवी-प्रेरणा का महत्त्व, काव्य का वर्गीकरण, भाषा का वर्गीकरण, वस्तु का वर्गीकरण, साहित्य का वर्गीकरण, औचित्य इत्यादि पर दोनों ही साहित्यों के महारथियों के विचारो में विचित्र साम्य है जो संसार की सांस्कृतिक एकता का महत्त्वपूर्ण प्रमाण है।

७

: १ :

पुनर्जीवन काल की साहित्य-साधना

ऐतिहासिक रूप में, आधुनिक आलोचना-प्रणाली का बीजारोपण चौदहवीं तथा पन्द्रहवीं शती के पुनर्जीवन[1] काल अथवा रेनेसांस-युग में हुआ। उस युग में यूनानी तथा रोमीय साहित्य का अध्ययन, जो कई शतियों तक अनेक राजनीतिक तथा सामाजिक कारणों से स्थगित रहा, पुनः आरम्भ हुआ, और साहित्य-क्षेत्र में नवोत्साह दिखाई देने लगा। साहित्य-विषयक नये-नये प्रश्नों का हल ढूँढा जाने लगा, नई-नई साहित्यिक शैलियों का अनुसन्धान शुरू हुआ और जीवन तथा साहित्य के अटूट सम्बन्ध पर चिन्तन आरम्भ हुआ। उस काल के मानव ने मानो वर्षों की प्रगाढ निद्रा के बाद करवट ली, और जीवन से सम्बन्धित सभी क्षेत्रों में उत्साहपूर्ण अध्ययन और चिन्तन की परम्परा-सी चल पड़ी। राजनीति, समाज-नीति, साहित्य तथा आलोचना, पदार्थवाद तथा अध्यात्म, सभी पर संलग्नतापूर्वक साहित्यकार तथा विचारवेत्ता मनन करने लगे। शिक्षा-क्षेत्र में महान् परिवर्तन की योजनाएँ बनने लगीं। प्राचीन तथा मध्ययुग की विचार-धारा को सतर्क-रूप से लेखक-वर्ग परखने लगा। इस साहित्यिक तथा मानवी पुनर्जीवन काल का मुख्य आधार था यूनानी साहित्य तथा सभ्यता की ओर रुचि।

चौदहवीं शती के आरम्भकाल से ही रोमीय साहित्यिक कृतियों का अनुसन्धान आरम्भ हो गया था और हर ओर उन्हीं की चर्चा हो रही थी। प्रायः सभी रोमीय रचनाओं की पाण्डुलिपियाँ, अनूदित रचनाएँ तथा अन्य साहित्य की पुस्तकों को इकट्ठा करने में साहित्य-सेवी संलग्न हो गए थे। सभी पुस्तकालयों में उनका अध्ययन शुरू हो गया था। यूनानी रचनाओं के प्रति तो अनुराग और भी चढ़ा-बढ़ा था। भिक्षु-गृहों, गिरजों के अध्यक्षों, पुस्तका-

१. देखिए—'अंग्रेजी साहित्य का इतिहास'

लयों तथा अन्यान्य महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के निवास-स्थानों पर यूननी रचनाओं की पाण्डुलिपियाँ मिलने लगीं और पाठक-वर्ग बड़े उत्साह से उन्हें अनूदित करने लगा। अनुवाद की परम्परा इतने जोरों पर चल पड़ी कि शायद ही कोई विशिष्ट ग्रन्थ हो जिसका अनुवाद लेखकों ने न कर डाला हो। सभी बड़े-बड़े नगरों की साहित्यिक गोष्ठियों में यूनानी रचनाओ तथा रोमीय साहित्य पर विचार-विमर्श होने लगा। विद्यालयों के आचार्य, राजनीतिज्ञ, समाज-सेवी तथा सभी क्षेत्रों के प्रतिष्ठित व्यक्ति, यूनानी तथा रोमीय रचनाओं के पठन-पाठन में लग गए और उन पर टीका-टिप्पणी करने लगे। इस अध्ययन द्वारा उनको यह आभास मिलने लगा कि प्राचीन युग के साहित्यिक मनीषियों ने साहित्य और जीवन को बहुत गहरे रूप में समझा था, और उन्होंने ऐसे-ऐसे सत्यो को हृदयंगम कर लिया था जो केवल तपस्या के बल पर ही प्राप्त होते हैं। धर्म के क्षेत्र मे तो इस नव-जागरण काल ने क्रान्ति मचा दी। धार्मिक रूढियाँ हिल उठीं और कुछ ही दिनों बाद छिन्न-भिन्न हो गईं। धर्माध्यक्षो की पोल खुलने लगी, और जनता स्वतः धार्मिक पुस्तकों को पढकर अपना धर्म-मार्ग ढूँढने लगी। अज्ञान का परदा मानो यकायक हट गया और बुद्धि-सूर्य की प्रखर किरणें समस्त जीवन को प्रकाशमान करने लगीं।

यूनानी तथा रोमीय साहित्य के प्रति यूरोपीय पाठक-वर्ग मे जो अनुराग उत्पन्न हुआ और जिसके फलस्वरूप जीवन के सभी क्षेत्रो में हलचल मच गई, उसका वर्णन अत्यन्त कठिन है। जिस-जिस प्रकार से इस साहित्यिक अनुसन्धान और अध्ययन द्वारा यूरोपीय जीवन की काया-पलट होने लगी, जिस-जिस प्रकार से जीवन की प्राचीन रूढ़ियाँ छिन्न-भिन्न हुईं, और जिस-जिस प्रकार से नवीन दृष्टिकोण अपनाए जाने लगे उसका इतिहास रोचक ही नहीं, परन्तु हमारे आलोचनात्मक अध्ययन के लिए अत्यन्त उपयोगी भी होगा। यूरोपीय शिक्षित जनता के मन में इन अध्ययनों के प्रति जो श्रद्धा और अनुराग बना रहा, उससे भी समस्त यूरोपीय जीवन में परिवर्तन हुआ। लोगो के मन में प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के प्रति इतनी प्रगाढ़ श्रद्धा उत्पन्न हुई, कि वे उसको पूर्णरूपेण अपनाने को उत्सुक रहने लगे। उसके प्रति उनमें एक प्रकार की पैतृक श्रद्धा का आविर्भाव हुआ और यह श्रद्धा समय पाकर भक्ति के रूप में परिणत हो गई। परन्तु इस भक्ति का एक विषम प्रभाव भी विदित हुआ। जनता की मानसिक सतर्कता जाती रही और सभी प्राचीन कृतियो को वे श्रद्धास्पद समझकर उनका अध्ययन करते रहे। श्रेष्ठ और हीन साहित्य का विचार लोप हो गया, और यह स्वाभाविक भी था। प्राचीन युग की प्राचीनता,

पुनर्जीवन काल की श्रद्धा, तथा प्राचीन युग की कृतियों की रहस्यपूर्णता तथा लेखकों की अपार विद्वत्ता, और उस काल के साहित्य की लोकप्रियता, सभी ने तर्क को विस्मृत कर दिया। उस युग के सम्बन्ध में लोगों की जानकारी भी इतनी कम थी कि अधिक छानबीन हो भी नहीं सकती थी।

मानव-जगत् का महत्त्व

इस पुनर्जीवन काल में यूनानी साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप मनुष्य को सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी समझा जाने लगा। उसके मानसिक तथा नैतिक शक्ति की थाह कठिन जान पड़ने लगी और मानव की बुद्धि के प्रति सहज श्रद्धा उपजी। बुद्धि ही उसका सर्वश्रेष्ठ अंश समझी जाने लगी; उसी के कारण वह अन्य प्राणीमात्र से विभिन्न दिखाई दिया। मानव-चरित्र में ऐसे दैवी गुणों का आभास मिलने लगा जिनके बल पर वह देवताओं के समकक्ष रह सकता था। उसके बौद्धिक गुण, उसकी मानसिक शक्ति तथा उसकी आध्यात्मिक पहुँच को देख-सुनकर लोग चकित तथा विस्मित थे। मानव की शक्ति के चमत्कार के साथ-साथ प्रकृति के चमत्कार के प्रति भी समाज आकृष्ट हुआ। प्रकृति की शक्ति, उसकी सुबुद्धि, उसकी सुव्यवस्था तथा उसके तर्कयुक्त जीवन पर लोगों की श्रद्धा बढने लगी और साहित्य तथा धर्म को समझने के लिए प्रकृति के नैसर्गिक नियमों का यथा-सम्भव प्रयोग होने लगा।

मानव की तर्क-शक्ति के विकास के साथ-साथ शिक्षा, आलोचना तथा साहित्य के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व विकास का युग आया। यूनानी तथा रोमीय-साहित्य का जितना भी अनुसन्धान हो चुका था, उसका क्रियात्मक प्रयोग शिक्षा-क्षेत्र में होने लगा; और बिना इस प्राचीन साहित्य-ज्ञान के युवकों की शिक्षा अपूर्ण समझी जाने लगी। उसी के द्वारा समाज का नैतिक स्तर ऊँचा उठाने का प्रयत्न होने लगा, और इस प्रयत्न में साहित्य के सौन्दर्यात्मक तत्त्व तो गौण हो गए और शिक्षात्मक तत्त्व प्रमुख। शिक्षात्मक तत्त्व की प्रधानता निश्चित करने के पश्चात् आलोचना-क्षेत्र में एक पुरानी परम्परा पुनः प्रकट हुई। लेखकों की कृतियों का मूल पाठ ठीक किया जाने लगा और आलोचक-वर्ग मूल-पाठ के अन्वेषण में लग गया। देश-काल की दृष्टि से, शैली की दृष्टि से तथा व्यक्तित्व की दृष्टि से पाठान्तर शुद्ध किया जाने लगा, और इस ओर विशेष प्रगति हुई। साहित्य के प्रति जनता में प्रगाढ़ श्रद्धा उपजी और साहित्य और जीवन का सम्बन्ध, साहित्य और शिक्षा का सम्बन्ध, शिक्षा और नैतिकता का सम्बन्ध, सभी पर गहरे और व्यापक रूप में विचार होने लगा। इस

पुनर्जीवनकाल ने मनुष्य, साहित्य और जीवन के अटूट सम्बन्ध को पहचाना और तीनो की श्रेष्ठता प्रमाणित तथा घोषित की। इन्हीं विचारों और अनुसन्धानों की पूर्ण छाया, अंग्रेज़ी साहित्यकारो ने ग्रहण की; फलतः जो-जो साहित्य-सिद्धान्त बने, सब पर पुनर्जीवन काल की पूर्ण छाप दिखाई देगी।

भाषण-कला का नव-निर्माण

श्रेष्ठ रोमीय आलोचको ने साहित्य को काव्य, भाषण-शास्त्र, इतिहास तथा दर्शन, चार भागों में विभाजित किया था, जिनमें काव्य और भाषण-शास्त्र ही प्रमुख थे। इसी कारण पहले-पहल भाषण शास्त्र पर विशद रूप मे विचार आरम्भ हुआ। पुनर्जीवनकाल के पहले मध्ययुग मे भाषण-शास्त्र के नियमो मे बहुत विशृङ्खलता आ गई थी। न तो प्राचीन नियम ही स्पष्ट रूप से मान्य थे, और न कोई नवीन नियम ही बन पाए थे। भाषण-शास्त्र, साधारणतः व्याकरण तथा तर्क-शास्त्र के अन्तर्गत ही मान्य था और उसी प्रकार अध्ययन भी होता था। उसका प्रयोगात्मक रूप भुला दिया गया था और कुछ नियमों के निर्वाह को ही वागीश कला समझे बैठे थे। शब्दाडम्बर ही भाषण-शास्त्र का प्रमुख आभूषण-स्वरूप था, और कृत्रिम रूप से प्रभावोत्पादक भाषण करने की परम्परा-सी चल पड़ी थी। उसका मनोवैज्ञानिक आधार तथा सौन्दर्यात्मक अंश भुला दिया गया था। इस अव्यवस्था को सुधारने के लिए प्राचीन भाषण-शास्त्र के नियमों की शरण लेनी पड़ी, और यूनानी तथा रोमीय भाषण-शास्त्र के नियम तथा प्रयोग मान्य समझे जाने लगे।

पहले-पहल भाषण-शास्त्र की महत्ता का वर्णन किया गया, जिसके फलस्वरूप इस कला को श्रेष्ठ पद दिया गया। वाक्‌शक्ति मानव की अमूल्य निधि ठहराई गई और उस शक्ति की प्रशंसा की गई। आलोचकों के विचारानुसार, वाक्‌शक्ति ही मानव तथा अन्य प्राणीमात्र का भेद प्रस्तुत करती है, और इसी के द्वारा मनुष्य ने सभी युगो में अपनी शक्ति तथा अपना प्रभाव फैलाया। भाषण-शास्त्र का स्थान अन्य कलाओं की अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ है और उसके ही द्वारा मानव की बुद्धि का विकास होता आया है और होगा। कुछ लोगों का विचार है कि भाषण-शास्त्र केवल शब्दों का खेल है, और उसका ध्येय केवल सौष्ठवपूर्ण वक्तृता देने की कला सिखलाना है। यह विचार भ्रामक है। वास्तव में भाषण-शास्त्र का मुख्य उद्देश्य है शिक्षा, प्रबोधन तथा उत्तेजना प्रदान करना; और इस उद्देश्य की पूर्ति मे स्वभावतः शब्दों पर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व रहेगा, और उनका अध्ययन वांछनीय

होगा। इसके साथ-साथ वक्ता को अपने व्यक्तित्व, ध्येय तथा श्रोतावर्ग का भी यथेष्ट ध्यान रखना आवश्यक है क्योंकि बिना इसके वक्तृता न तो उपयोगी होगी और न प्रभावपूर्ण। वक्ता को देश-काल का भी समुचित ध्यान रखकर वक्तृता तैयार करनी चाहिए और अपने लक्ष्य को कभी न भूलना चाहिए।

वक्तृता के तत्त्व—विचार तथा शैली

वक्तृता का प्रधान तत्त्व है शैली, परन्तु विचार भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। यदि वक्ता-वर्ग केवल अभिव्यंजना का ध्यान रखेंगे और विचार को गौण स्थान देंगे, तो वक्तृता प्रभावहीन होगी। विचार, शब्दों के माध्यम से ही व्यक्त किए जाते हैं, और हम अपने मस्तिष्क में पहले विचार संकलित करते अथवा सोचते हैं, तत्पश्चात् शब्द और शैली का सहारा लेते हैं। इस दृष्टि से विचार कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं; केवल प्रभावपूर्ण अभिव्यंजना के बनाए कुछ न बनेगा। जो वक्ता यह समझते है कि शैली और अभिव्यंजना ही सब-कुछ है, उन्हे यह विचार करना चाहिए कि उनका प्रयत्न केवल प्राणहीन शरीर का ही निर्माण कर सकेगा। विचार, शैली की आत्मा है—केवल शब्दों की तड़क-भड़क तथा आडम्बर द्वारा श्रेष्ठ शैली का निर्माण नहीं होगा। श्रेष्ठ शैली वक्ता के व्यक्तित्व तथा उसकी विचारशीलता की पूर्ण परिचायक होनी चाहिए।

शब्द-प्रयोग

श्रेष्ठ शैली में शब्द-प्रयोग के औचित्य का ध्यान अत्यावश्यक है। विषय और वक्ता के व्यक्तित्व के अनुकूल तो शैली स्वभावतः होनी ही चाहिए, परन्तु उचित शब्द-प्रयोग बिना दोनों लक्षणों की पूर्ति नही होगी। उचित शब्द ही समुचित रूप में इसमें सहायक होगे। विदेशी शब्द, अप्रचलित शब्द तथा अति प्रचलित शब्द शैली को दूषित करते हैं इसलिए उनके प्रयोग में सर्वदा सतर्क रहना चाहिए। प्रभावपूर्ण वक्तृता के लिए भाषा की शुद्धता, शब्द-क्रम तथा अभिव्यंजना की स्वाभाविकता और स्पष्टता अत्यन्त अपेक्षित है। काव्य के समान ही गद्य में भी लय की व्यवस्था होनी चाहिए, परन्तु गद्य का लय नियमबद्ध नहीं। वक्तावर्ग वक्तृता को अलंकार, विस्तृत विवरण, कहावतों, उपमाओं तथा हितोपदेशिक और पौराणिक कथानकों द्वारा सुसज्जित तथा प्रभावपूर्ण बना सकते हैं; इनके द्वारा वक्तृता का स्तर भी ऊँचा हो जायगा।

स्पष्टता भी श्रेष्ठ शैली का प्रधान गुण है और यह गुण साधारणतः

स्पष्टता तथा संक्षिप्त कथन

लेखक-वर्ग भूल जाते हैं। शब्द-व्यवस्था और अभिव्यंजना की सरलता को भूलकर लेखक-वर्ग अलंकार, उपमा तथा अतिशयोक्ति के चक्कर में पड़कर अपनी वक्तृता प्रभावपूर्ण बनाने का स्वप्न देखते हैं, और उनका स्वप्न स्वप्न ही रह जाता है। परन्तु इसके यह अर्थ नहीं कि अलंकार इत्यादि का प्रयोग श्रेष्ठ शैली में सर्वथा त्याज्य है। ये प्रयोग श्रेष्ठ शैली में मान्य हैं, परन्तु उनका प्रयोग संयत और सतर्क रूप में होना चाहिए। विस्तृत कथन, मिश्रित उपमाएँ तथा निरर्थक शब्दाडम्बर वक्तृता को दुरूह बना देते है; उनका प्रभाव क्षीण हो जाता है। इसलिए वक्ता को संक्षेप कथन तथा उचित अलंकारो का सहारा लेना चाहिए। जो शैली श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ विचार संक्षिप्त-से-संक्षिप्त रूप मे स्पष्टतापूर्वक प्रकट कर सकेगी, वही श्रेष्ठ कही जायगी। विस्तृत कथन द्वारा पाठक-वर्ग ऊब उठता है, परन्तु जब उसकी कल्पना के लिए भी थोड़ा बहुत अंश छोड़ दिया जाता है तो उसमें गर्व की भावना उदित होती है और वह सरलता से आकर्षित हो जाता है। वाक्यो में लम्बे वाक्यांश भी न होने चाहिएँ, क्योंकि इससे वाक्यों में स्थूलता आ जायगी और उनका आकर्षण घट जायगा। वाक्य का प्रत्येक शब्द, प्रत्येक शब्दांश इतना गठा हुआ होना चाहिए कि बिना हानि पहुंचाए उसका कोई भी अंश अलग न किया जा सके। उन्नत शैली का आधार है भव्यता; मध्यम शैली की सरलता तथा स्पष्टता, और साधारण शैली तो निष्प्राण होगी।

प्राचीन साहित्यिक नियमों की मान्यता

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इस युग मे लेखको और आलोचको का प्रमुख ध्येय प्राचीन यूनान तथा रोम की साहित्य-शैली का अनुकरण और उनके नियमों की मान्यता साहित्य मे स्थापित करना था। श्रेष्ठ आलोचकों ने यूनानी तथा रोमीय साहित्य के श्रेष्ठ सिद्धान्तों को मान्य ठहराकर उनका अनुकरण करने का आदेश दिया। परन्तु इस आदेश के साथ-साथ चेतावनी भी दी। वह यह कि केवल उन्हीं सिद्धान्तों का अनुकरण संगत हैं जो सर्वश्रेष्ठ हैं और ऐसे सिद्धान्त जो देश तथा काल की आत्मा के विरुद्ध हैं, उन्हें त्याज्य समझना चाहिए। साहित्यकारो को श्रेष्ठ तथा फलप्रद साहित्य-मार्ग चुनकर ही नवीन साहित्य की रूपरेखा बनानी चाहिए, और इस दृष्टि से यूनानी तथा रोमीय साहित्य का अक्षरशः अनुकरण फलप्रद नहीं होगा; उनका केवल आधार ही हितकर होगा और उसी आधार पर ही साहित्य का नवीन प्रासाद निर्मित हो सकेगा। कुछ लोगों की यह धारणा हो

रही थी कि यूनानी तथा रोमीय साहित्यकार देवतुल्य हैं और उनके साहित्यिक नियम तथा सिद्धान्त देव-सिद्धान्त हैं और उनकी अक्षरशः मान्यता प्रमाणित करना श्रेष्ठ साहित्य-सेवा है। यह धारणा साहित्य-निर्माण के लिए घातक है। इसमें सन्देह नही कि यूनानी श्रेष्ठ साहित्यकार थे, उनमें प्रतिभा थी, उनमें अद्भुत शक्ति थी, परन्तु उनके निर्मित नियम सभी युगों के लिए सम-रूप से हितकर नहीं हो सकते। प्रत्येक युग को अपनी-अपनी आवश्यकता-नुसार साहित्यिक नियमो का निर्माण करना होगा, नवीन साहित्य-मार्ग ढूँढ़ने होंगे तथा नवीन शक्ति का प्रयोग करना होगा। प्रकृति और जीवन अक्षय हैं और उनके अध्ययन द्वारा ही सभी युगों के सभी कलाकार, नवीन प्रेरणा तथा नवीन शक्ति ग्रहण कर सकते हैं।

काव्य का श्रेष्ठ रूप

इस युग के आलोचको ने काव्य तथा काव्य-शैली के विषय में भी अपने विचार विस्तृत रूप में प्रकट किये। पन्द्रहवीं शती के पहले के कवियों ने काव्य को भाषण शास्त्र के अन्तर्गत ही मान्य समझा था और छन्दवद्ध वक्तृता ही उनके लिए श्रेष्ठ काव्य था। शब्द, तर्क, व्याकरण तथा उत्तेजना उसके प्रमुख तत्त्व थे। इस प्रकार के काव्य-सिद्धान्त बहुत दिनो तक प्रचलित रहे, परन्तु पन्द्रहवीं शती में थोड़ा-बहुत परिवर्तन दिखाई दिया। अब काव्य का स्वरूप था रूपक; और वह भी अनेक अलंकारो से सुसज्जित और उसका ध्येय था, नैतिक शिक्षा-प्रदान। नैतिक नियम तथा शिक्षा अपने यथार्थरूप में प्रायः ग्राह्य नहीं होते इसलिए उसे रुचिकर बनाने के लिए काव्य की सज्जा की आवश्यकता पडती है। शिक्षा तो वैसे ही कड़वी प्रतीत होती है और उसे आकर्षक तथा रोचक बनाना प्रत्येक कवि का धर्म है। अनेक श्रेष्ठ कवियों की कविता का रूप रूपक ही रहा है।

कुछ आलोचकों ने काव्य को उत्तेजना-प्रसूत तथा दैवी प्रेरणागत भी समझा। कवि अपनी मानसिक शक्ति, भावो की उत्तेजना तथा भावोद्रेक के कारण साधारण मानवी स्तर से ऊँचा उठ जाता है, और महान् विचारो तथा अनुभवों पर गहरे रूप मे मनन तथा चिन्तन के पश्चात् अपने मानस मे जीवन का एक सामंजस्यपूर्ण विधान स्थिर करके उसे छन्दवद्ध काव्य का रूप दे देता है। काव्य का महत्त्वपूर्ण गुण है संगीत; और संगीत मानव-आत्मा का भी प्रधान गुण है। इस प्रकार काव्य तथा मानव-आत्मा का अत्यन्त सामंजस्य-पूर्ण सम्बन्ध प्रमाणित है। काव्य के कोई भी विषय हो सकते है और इस सम्बन्ध मे कोई नियम लागू नही होते; हाँ, शब्द तथा वाक्य-व्यवस्था उसका

आधार-रूप रहेगा। श्रेष्ठ काव्य मानवी भावनाओं की अभिव्यंजना अत्यन्त गहरे तथा तीव्र रूप में इस प्रकार करता है कि श्रोता अथवा पाठक-वर्ग उस उन्नत भावना से प्रेरणा ग्रहण करके आनन्दित तथा प्रफुल्लित हो जाते हैं। काव्य का जीवन में वही स्थान अथवा महत्त्व है, जो भोजन मे मसालों का; और अवकाश में ही उसका पठन-पाठन तथा उसकी रचना वांछनीय है। कुछ लोगों का विचार था कि काव्य अनैतिकता का प्रसार करता है इसलिए त्याज्य है; इस मत का निराकरण तभी होगा जब प्राचीन ग्रन्थो के अनैतिक स्थल या तो निकाल फेंके जायँ या उन्हे रूपक मानकर उनका अर्थ-प्रकाश किया जाय। इस प्रयत्न द्वारा काव्य पर से लांछन हट जायगा और पाठको का अहित नही होगा। इस प्रकार की विचार-धारा का एक सबसे बड़ा कारण यह था कि अरस्तू की रचनाएँ न तो उस काल में ठीक से समझी गईं और न उनकी सफल व्याख्या ही हो पाई थी।

आलोचना-क्षेत्र का अनुसन्धान

आलोचना-क्षेत्र मे यदाकदा साहित्य-समीक्षा होती रही, परन्तु इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि आलोचक कुछ ऐसे सिद्धान्तों की खोज में थे जिनके आधार पर साहित्य की समालोचना हो सकती और राष्ट्रीयता की प्रगति होती। शिक्षकों की भी यह स्पष्ट धारणा थी कि बिना किसी सिद्धान्त-निर्माण के न तो साहित्य में प्रगति होगी और न शिक्षा का ही विकास होगा। शिक्षा-प्रसार तथा साहित्यिक प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि आलोचक-वर्ग कुछ ऐसे सिद्धान्तो का निर्माण कर ले जो साहित्य-निर्माण में प्रयुक्त हो सकें और जिनके आधार पर पाठक-वर्ग साहित्य की परख कर सकें। आलोचना-शैली में यह नियम मान्य रहा कि श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ लेखक की आलोचना हो सकती है परन्तु उच्छृङ्खल रूप में नहीं। आलोचक को गम्भीर अध्ययन के पश्चात् निष्पक्ष रूप में अपने विचार प्रकट करने चाहिएँ। आलोचना के सिद्धान्त-निर्माण के लिए यूनानी तथा रोमीय साहित्यकारों की रचनाओं का पठन-पाठन लाभप्रद समझा गया, और प्राचीन काल के साहित्यकार स्तुत्य समझे गए। कवि, वागीश, इतिहासज्ञ, दर्शनवेत्ता सभी की रचनाओं का अध्ययन सुचारु रूप से होने लगा, परन्तु इस अध्ययन के फलस्वरूप किसी विशिष्ट आलोचना-प्रणाली का जन्म नहीं हुआ और न व्यापक रूप से आलोचना शब्द का अर्थ ही समझा गया। कौन लेखक अनुकरण योग्य है, कौनसी शैली ग्राह्य है, कौनसे विषय शिक्षाप्रद हैं, इन्हीं का निर्णय आलोचना-क्षेत्र में होता रहा। अधिकांश रूप में केवल रोमीय आलोचकों के वक्तव्य

दुहराये जाते थे। कुछ आलोचकसाहित्य को रूपक रूप में ही श्रेष्ठ समझते थे; और साहित्य का नैतिक तथा शिक्षात्मक प्रयोग ही मान्य ठहराते थे। जो साहित्य न तो नैतिकता का प्रसार करे और न शिक्षा प्रदान करे उसकी मान्यता न थी। साधारण रूप से आलोचक यह अवश्य समझते रहे कि साहित्य की आलोचना केवल नियमों पर निर्भर नहीं। साहित्य-शैली भी नियमों द्वारा निर्मित नहीं हो सकती। किसी साहित्यिक रचना को पूर्णरूपेण समझने के लिए उसके साधारण अर्थ तथा संकेतात्मक अर्थ, दोनों को विशद रूप में समझना आवश्यक होगा। तत्पश्चात् उसके आनन्ददायी आधारों को ढूँढना चाहिए। अमुक रचना क्यों आनन्दप्रद है, अमुक रचना क्यों नहीं है, इन सबका उत्तर ढूंढने पर पता चलेगा कि सबके मूल में कुछ-न-कुछ चमत्कार अथवा कला छिपी है। यह चमत्कार प्रायः भावों के सामंजस्य, अलंकार-प्रयोग, उपमा, कहावत इत्यादि के प्रयोग में दिखाई देगा। जैसे-जैसे आलोचक इन आनन्ददायी तत्त्वों को तथा उसके कारणों को पूर्णतया समझेंगे वैसे-ही-वैसे आलोचना की रूपरेखा बनती जायगी।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि इस युग मे आलोचना का कोई निश्चित रूप न था। साधारणतः प्राचीन यूनानी तथा रोमीय सिद्धान्तों के आधार पर ही यदाकदा नियम बने और उन्हीं पर पिष्ट-पेषण होता गया। साहित्य की आत्मा की भी समुचित पहचान नही हो सकी थी। यूनानी तथा रोमीय रचना की सर्वप्रियता के कारण देशी भाषा को भी महत्त्व न मिल सका। भाषण-शास्त्र तथा काव्य के सम्बन्ध में जो भी कुछ नियम बने वे न तो व्यापक थे न मौलिक। भाषण-शास्त्र विस्तृत कथन की शैली मात्र था और काव्य नैतिक शिक्षा-प्रदान का सरल माध्यम। इतना होते हुए भी आलोचनाप्रियता हर ओर दिखाई देती है और आलोचक-वर्ग कुछ न-कुछ विशिष्ट नियमों तथा सिद्धान्तों की खोज में संलग्न है। प्राचीन साहित्य की मान्यता हर ओर स्थापित है, परन्तु उस मान्यता मे स्वतन्त्र विचार भी अधिक हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न ये रहे कि किस प्रकार प्राचीन साहित्य की केवल प्रेरणा ग्रहण की जाय और उसका अक्षरशः अनुकरण न होने पाए; प्राचीन कला-तत्त्वों को किस प्रकार आधुनिक आवश्यकताओं के अनुकूल परिवर्तित किया जाय; तथा आधुनिक कला किस युग से कितनी और कैसी प्रेरणा ग्रहण करे जो भविष्य में फलप्रद हो और जिसके सहारे श्रेष्ठ साहित्य का निर्माण हो।

: २ :

सोलहवीं शती पूर्वार्द्ध की आलोचना

पिछले पृष्ठों मे हमने पन्द्रहवीं शती की आलोचनात्मक प्रणाली का लेखा दिया। उसी प्रणाली के आधार तथा उसी की प्रेरणा द्वारा सोलहवीं शती पूर्वार्द्ध की आलोचना-प्रणाली फूलनी-फलनी चाहिए थी, परन्तु इस काल में कोई महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त न बन पाए और जैसा हम पहले संकेत दे चुके हैं पुरानो प्रणालियो का ही पिष्टपेषण होता रहा। इस साहित्यिक न्यूनता के अनेक कारण थे। अँग्रेजी समाज तथा राजनीति दोनों ने ही साहित्यिक प्रगति से मुँह मोड़ लिया था। कुछ साहित्यिक गोष्ठियाँ तो ऐसी बन गई थीं जिनका प्रमुख उद्देश्य था यूनानी साहित्य को हीन प्रमाणित करना और उसके अध्ययन पर प्रतिबन्ध लगाना। राजनीतिक तथा धार्मिक द्वेष तथा शत्रुता यहाँ तक बढ़ गई थी कि भिक्षु-गृहो पर जहाँ साहित्य के विद्वान् इकट्ठे होकर विचार-विनिमय किया करते थे, प्रतिबन्ध लगा दिये गए। भिक्षु-गृह बन्द कर दिये गए थे। राजनीतिक तथा धार्मिक गुत्थियों के सुलझाने मे ही शिक्षित वर्ग लगा हुआ था और साहित्य की ओर किसी का ध्यान भी न जाता था। जो-कुछ भी साहित्य लिखा या पढ़ा जा रहा था वह धर्म तथा शिक्षा से ही सम्बन्ध रखता था। धर्म-पुस्तकों के नवीन संस्करण निकालने और विवादास्पद धार्मिक प्रश्नो पर टीका टिप्पणी करने मे ही सभ्य समाज व्यस्त था। यद्यपि छापेखाने का आविष्कार हो चुका था परन्तु जो भी पुस्तकें छपतीं और लोकप्रिय थीं धर्म-विषयक ही थीं; साहित्य की लोकप्रियता बिलकुल घट गई थी।

भाषण-शास्त्र की महत्ता

परन्तु ऐसे विषम धार्मिक तथा राजनीतिक वातावरण के होते हुए भी भाषण-शास्त्र को महत्त्व मिला और पन्द्रहवीं शती के समान ही प्राचीन युग की जीवित प्रेरणा के कारण इसका अध्ययन बढ़ता गया। रोमीय साहित्यकारों तथा आलोचको ने भाषण-शास्त्र को तो पहले से ही बहुत महत्त्व दे रखा था और उनकी दृष्टि में भाषण-शास्त्र केवल साहित्य का आकर्षक अंग नही वरन् राष्ट्र की सुरक्षा और उसकी प्रगति का अमोघ अस्त्र था। वह साहित्यकारो का श्रेष्ठ आभूषण था; काव्य की महत्ता तो केवल गौण थी। उस पर लेखकों, राजनीतिज्ञों तथा सुधारको की विशेष श्रद्धा थी। पन्द्रहवीं शती के साहित्यकारों की दृष्टि में भाषण-शास्त्र तथा काव्य में अन्तर केवल रूप का था और काव्य केवल छन्दबद्ध वक्तृता-मात्र था।

भाषण-शास्त्र का मुख्य आधार था विस्तृत शब्दाडम्बर तथा अनेकानेक अलंकार-प्रयोग। परन्तु धीरे-धीरे यह दृष्टिकोण बदलने लगा और भाषण-शास्त्र का अध्ययन उसी लगन तथा श्रद्धापूर्वक होने लगा जो प्राचीन यूनान तथा रोम में विदित था। भाषण-शास्त्र की लोकप्रियता का पहला प्रमाण यह है कि इस युग में इस विषय पर अनेक पुस्तकें लिखी गईं जो पाठशालाओं तथा विद्यालयों के पाठ्य-क्रम में सम्मिलित थीं। इन पाठ्य-पुस्तकों में भाषण-शास्त्र पर यद्यपि विस्तृत विवेचन तो नहीं था परन्तु फिर भी उसके कुछ विशिष्ट तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया था। लेखकों ने विषय-चयन, विषय का विकास, तर्क, क्रम, शैली तथा अलंकार-प्रयोग पर अपने-अपने विचार प्रकट किए थे, जिससे यह प्रमाणित है कि देश की जनता तथा पाठक-वर्ग में इस विषय के प्रति रुचि बढ़ रही थी। भाषण-शास्त्र की प्रशंसा करते हुए लेखकों ने वे ही पुराने तर्क प्रस्तुत किए जो यूनानी तथा रोमीय आलोचकों ने किए थे और जिनके अनुसार वाक्-शक्ति और उसका प्रयोग मनुष्य की अमूल्य निधि था; और उसी के बल पर मनुष्य मनुष्य कहलाने का अधिकारी था। वही शक्ति मानवता की तथा मानवी आदर्शों की प्रतीक थी; वही शक्ति उसे पशु-जगत् से अलग कर श्रेष्ठ स्तर पर रखे थी।

भाषण-कला के तत्त्व

भाषण-शास्त्र के अध्ययन में विषय की महत्ता सबसे अधिक मानी गई और श्रेष्ठ और ठोस विषय को ही भाषण का आधार समझा गया, क्योंकि बिना ठोस विषय के वक्तृता खोखली होती और उसका प्रभाव अस्थायी रहता। इस तथ्य को यूनानी तथा रोमीय वागीशों ने भली भाँति समझा था। इसके साथ-साथ वागीशों को अनेक विषयों का ज्ञाता भी होना चाहिए। इस व्यापक ज्ञान के द्वारा ही वे अपनी वक्तृता को आकर्षक और प्रभावपूर्ण बना सकेंगे और श्रोतावर्ग पर वाञ्छित प्रभाव डाल सकेंगे। व्यापक ज्ञान के अतिरिक्त शब्दों के श्रेष्ठ चुनाव का पूर्ण ज्ञान आवश्यक होगा। शब्द स्वतः तो सौष्ठवपूर्ण होने ही चाहिएँ, उनका क्रम भी प्रभावपूर्ण तथा आकर्षक होना चाहिए। संक्षेप में, श्रोतावर्ग को पूर्ण रूप से प्रभावित करने के लिए व्यापक ज्ञान, श्रेष्ठ विषय-चयन तथा सौष्ठवपूर्ण शब्द-सामंजस्य आवश्यक होगा।

प्रतिभा तथा कला-ज्ञान

अंग्रेजी साहित्य में प्राचीन भाषण-शास्त्र की मान्यता स्थापित करने में एक प्रसिद्ध आलोचक[1] ने प्रशंसनीय प्रयत्न किया। एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखकर

---

१. विल्सन

उन्होंने तत्कालीन साहित्यिक न्यूनता पर खेद प्रकट किया और भाषण-शास्त्र पर व्यापक रूप में विचार कर प्राचीन सिद्धान्तों को उत्साहपूर्वक अपनाया। सोलहवीं शती उत्तरार्द्ध के अन्तर्गत इंगलिस्तान में जो उत्साह आलोचना-क्षेत्र में प्रगट हुआ उसका श्रेय इसी श्रेष्ठ आलोचक को प्रमुख रूप में प्राप्त है। इसमें सन्देह नहीं कि अधिकांश रूप में पुराने आलोचनात्मक सिद्धान्त ही दुहराये गए, परन्तु जिस उत्साह और नवीन दृष्टिकोण से भाषण-शास्त्र के नियम प्रस्तुत हुए वह प्रशंसनीय है। भाषण-शास्त्र के तत्त्वों की व्याख्या द्वारा प्रमाणित हुआ कि यह शास्त्र नैसर्गिक प्रतिभा तथा कला-ज्ञान दोनों पर निर्भर है। यद्यपि यह सही है कि कुछ लोग स्वभावतः बिना शास्त्र-ज्ञान के श्रेष्ठ तथा प्रभावपूर्ण वक्तृता दे सकते हैं, परन्तु शास्त्र-ज्ञान इसलिए अपेक्षित है कि इसके द्वारा वक्ता की सहज प्रतिभा और भी चमक उठेगी और वक्तृता का प्रभाव और भी स्थायी रहेगा। श्रेष्ठ वागीशों के लिए नैसर्गिक प्रतिभा, अध्यवसाय तथा श्रेष्ठ वाग्मियो की वक्तृता का अनुकरण अपेक्षणीय होगा। इन तीनो गुणो के द्वारा ही वह श्रोतावर्ग को शिक्षा, आनन्द तथा प्रबोध दे सकता है। वक्तृता में स्पष्टता, अनुभवगम्यता तथा आनन्ददायी तत्त्व होने चाहिएँ। देश, काल तथा वातावरण और परिस्थिति का सम्यक् ज्ञान भी अत्यावश्यक होगा, क्योंकि इन्ही के द्वारा सुरुचिपूर्ण तथा समुचित भावोद्रेक सम्भव होगा। देश, काल तथा परिस्थिति के विपरीत वक्तृता नीरस तथा प्रभावहीन होगी। इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट नियम न तो बनाये ही जा सकते हैं और न उनकी कोई आवश्यकता ही है, क्योंकि बिना नियमों का पालन किये हुए श्रेष्ठ वागीश समयानुसार श्रोतावर्ग पर मनोनुकूल प्रभाव डाल सकते हैं। फिर भी कुछ साधारण नियमों की ओर संकेत दिया जा सकता है।

नियमों का निर्माण

पहला नियम विषय के सम्बन्ध में प्रदर्शित हुआ। प्रत्येक वक्ता को विषय तथा उसकी मर्यादा का पूरा ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि जब तक विषय पर स्पष्ट रूप से विचार नहीं होगा और जब तक उचित विषय-चयन नही किया जायगा वक्ता के लक्ष्य की पूर्ति नहीं होगी। प्राचीन परम्परा के अनुसार विषय तीन वर्गों में ही विभाजित होना चाहिए—पहला समारोह मे प्रयुक्त होने वाला, दूसरा सभाओं में, तथा तीसरा न्यायालय के उपयुक्त। इस दृष्टि से अभिव्यंजना की शैली भी बदलती जायगी, क्योंकि विषय और उसकी अभिव्यंजना मे गहरा सम्बन्ध है। विषय तथा अभिव्यंजना के अटूट सम्बन्ध के विषय में अनेक देशों के आलोचक एकमत हैं।

दूसरा नियम विषय-वस्तु के कलापूर्ण प्रयोग के सम्बन्ध में मान्य हुआ। विषय-वस्तु के प्रयोग में वैसी ही कलापूर्ण सुव्यवस्था होनी चाहिए जो प्रकृति में हर ओर प्रदर्शित है। प्रकृति नियम-बद्ध है और वे ही नियम उसके सौन्दर्य और उसकी भव्यता के आधार हैं। उसी प्रकार कला-क्षेत्र में भी नियम मान्य होने चाहिएँ। यदि कला-क्षेत्र में प्रकृति के सुव्यवस्थित नियम समुचित रूप में प्रयुक्त होंगे तो उसमें सौन्दर्य की प्रतिष्ठापना सहज रूप में होगी और यदि उनकी अवहेलना हुई तो कला श्रीविहीन हो जायगी। प्राचीन काल में साधारणतः वक्तृता के अनेक विभाग किये गए हैं—भूमिका, वर्णन, तर्क इत्यादि। परन्तु यह विभाजन अनिवार्य और आवश्यक नहीं; परिस्थिति तथा देश-काल के अनुसार इनमें परिवर्तन हो सकता है। वस्तुतः श्रेष्ठ वक्तृता में भूमिका होनी चाहिए जो विषय के प्रति श्रोतावर्ग की उत्सुकता बढ़ाए और उनका ध्यान एकाग्र करे। उसके बाद विषय-वस्तु का तर्कयुक्त विश्लेषण तथा अन्त में उपसंहार होना चाहिए जो समस्त विषय-वस्तु के अनेक भागों तथा विभागों को समन्वित रूप में प्रस्तुत करता हुआ अभीष्ट सिद्ध करे। वक्ता को अपने तर्कयुक्त प्रमाण क्रमपूर्वक रखने चाहिएँ। सर्वश्रेष्ठ प्रमाण को प्रथम स्थान देना चाहिए, और अन्त में भी कुछ ऐसे प्रभावपूर्ण प्रमाण प्रयुक्त करने चाहिएँ जो श्रोतावर्ग को पूर्ण रूप से प्रभावित करें और उनका हृदय तथा मस्तिष्क दोनों जीत लें। समयानुसार वक्ता विस्तृत वर्णन का सहारा ले सकते हैं और यदाकदा कहावतों इत्यादि के प्रयोग से प्रमाण-पुष्टि करके वक्तृता के वर्णन-खण्ड में विभिन्नता ला सकते हैं और श्रोतावर्ग को हास्य का समय-समय पर रसास्वादन कराते हुए अपने उद्देश्य में सफल हो सकते हैं।

भाषण-कला की सफलता बहुत-कुछ शैली पर भी निर्भर रहेगी। शैली तर्क की श्रेष्ठ सज्जा है। अपने साधारण रूप में तर्क अनाकर्षक तथा उद्धत होता है, परन्तु शैली की सज्जा उसमें आकर्षण तथा भव्यता सहज ही ला देती है। आकर्षक शैली द्वारा ही सत्य का निरूपण ग्राह्य होगा; उसी के द्वारा शिक्षा-दीक्षा प्रभावपूर्ण होगी। शिथिल तथा विकृत शैली न तो ग्राह्य रूप में विषय-विवेचन कर सकेगी और न आकर्षक ही होगी। श्रेष्ठ तथा आकर्षक शैली का मूलाधार है शब्द। शब्दों का चुनाव, उनका उचित प्रयोग तथा उनकी स्पष्ट योजना श्रेष्ठ शैली के प्राण-स्वरूप हैं। यदि वक्ता विषय और परिस्थिति के अनुसार उचित शब्द प्रयोग करें तो शैली में चार चाँद लग जायँ। शब्दों के उचित चुनाव में यह आवश्यक है कि वे प्रचलित शब्दावली से चुने जायँ, उनका अर्थ स्पष्ट हो और वे सभी वर्गों द्वारा सरलता से समझे

जा सकें। अभिव्यंजना की स्पष्टता तथा सरलता श्रेष्ठ शैली के प्रधान गुण हैं। जिस प्रकार यात्री अपनी यात्रा में पत्थरों तथा खन्दकों से अपने को सुरक्षित रखते हुए आगे बढता है उसी प्रकार श्रेष्ठ वागीश अप्रचलित तथा असाधारण शब्द-प्रयोग से दूर रहता है। विदेशी भाषाओं से आये हुए शब्दों पर प्रतिबन्ध तो नहीं परन्तु उनका प्रयोग ऐसे रूप में होना चाहिए जो स्वाभाविक हो और प्रसंग के उपयुक्त हो। विदेशी वाक्य-विन्यास, अवाञ्छित तथा अस्वाभाविक शब्द-प्रयोग से शैली दूषित होगी। जनसाधारण की भाषा तथा उसके स्वाभाविक वाक्य-विन्यास द्वारा ही किसी भी देश की साहित्यिक शैली फल-फूल सकती है। वाक्य-विन्यास में समासों का भी फलप्रद प्रयोग हो सकता है, परन्तु किसी भी वाक्य में यदि अधिक उपवाक्य हुए और वाक्य अपने सहज आकार से दूर होता गया तो गद्य लयहीन हो जायगा, शैली शिथिल पड़ जायगी और उसमे प्रभावोत्पादकता न आ पायगी। श्रेष्ठ गद्य-शैली में वाक्यांशों की गति वैसी ही लयपूर्ण होनी चाहिए जैसी प्राचीन यूनानी तथा रोमीय वागीशो ने अपनी शैली में प्रकट की थी। शब्द तथा समासों के उचित तथा स्पष्ट प्रयोग के अतिरिक्त श्रेष्ठ शैली में सौन्दर्य की प्रतिष्ठा भी आवश्यक है। इस सौन्दर्य का मूल स्रोत होगा अलंकार; परन्तु केवल वे ही अलंकार प्रयुक्त होने चाहिएँ जो प्राचीन काल से सफल रूप में प्रयुक्त होते आए हैं। इन अलंकारों द्वारा शैली में हृदयग्राही आकर्षण आयगा और श्रोतावर्ग मुग्ध रहेगा। अलंकार-प्रयोग का प्रमुख ध्येय प्रायः चमत्कार-प्रदर्शन हुआ करता है और इसलिए उनका प्रयोग सुरुचिपूर्वक तथा संयत रूप में ही होना चाहिए। यद्यपि यह सही है कि उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, पुनरुक्ति इत्यादि प्राचीन काल से शैली में प्रयुक्त हुए हैं, परन्तु इनके प्रयोग में सुरुचि और सौष्ठव बिरले ही वागीश ला सके हैं, इसलिए वक्तावर्ग को बहुत सावधानी से इनको व्यवहार में लाना चाहिए।

अन्य साहित्यिक नियम

आलोचकों[1] ने साहित्य के अन्य क्षेत्रों की भी आलोचनात्मक मीमांसा की और सुखान्तकी, मिश्रितांकी[2], हास्य, चरित्र-चित्रण, काव्य, छन्द, रोमांचक साहित्य इत्यादि पर भी स्फुट रूप में विचार प्रस्तुत किये। सुखान्तकी में जीवन के केवल एकांगी चित्र नहीं होने चाहिएँ और उसमे सुख-दुःख दोनों का सम्यक् सामंजस्य होना चाहिए जो मिश्रितांकी रूप में ही सम्भव

१. विलसन

२. देखिए—'नाटक की परख'

है। हास्य का प्रदर्शन तो कभी-कभी दृष्टि तथा चितवन, मूर्खतापूर्ण संवाद, शारीरिक संकेत इत्यादि से हो जायगा, परन्तु श्रेष्ठ सुखान्तकी छोटी-मोटी शारीरिक अथवा मानसिक कुरूपता के आधार पर ही लिखी जायगी। उसका सफल परिहास दुःख अथवा यातना को हास्यास्पद नहीं प्रमाणित करता, वरन् कुछ साधारण त्रुटियों और दूषणों को ही परिलक्षित करता है। इस परिहास में सुरुचि तथा संयम दोनों आवश्यक होंगे। हास्य तभी प्रकट होगा जब अपेक्षित अथवा मनोनुकूल कार्य के विपरीत कोई अवाञ्छित कार्य हो जाय। संकेतात्मक हास्य ही सर्वश्रेष्ठ होगा[1]। चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध मे जो नियम मान्य हुए वे मौलिक ही नहीं अत्यन्त श्रेष्ठ भी थे। मध्य युग के लेखक चरित्र-चित्रण मे शारीरिक अवयवों वेष-भूषा इत्यादि का क्रमपूर्ण वर्णन तथा नैतिक और सामाजिक गुणों का लेखा ही आवश्यक समझते थे, परन्तु अब चरित्र-चित्रण में यथार्थवाद की चर्चा चली। लेखकों को अब चरित्र के महत्त्व-पूर्ण अंगों को विकसित करने का आदेश मिला। व्यक्ति के सम्पूर्ण चरित्र को ऐसे चुभते हुए शब्दो द्वारा व्यक्त करना चाहिए जिससे उसका समस्त व्यक्तित्व जी उठे। चरित्र-चित्रण की इस शैली का प्रभाव आधुनिक काल तक विदित है। काव्य की महत्ता रूपक रूप में ही मान्य हुई और प्रकृति के समस्त जड तथा जीवित जगत से उपमाओं को ढूँढने का आदेश मिला। काव्य में छन्द महत्त्वहीन समझा गया। अंग्रेजी के इस श्रेष्ठ आलोचक[2] द्वारा प्राचीन नियमो की मान्यता साहित्य में पुनः स्थापित हुई और प्रकृति तथा तर्क के आधार पर शैली की भी महत्त्वपूर्ण व्याख्या हुई।

सोलहवीं शती उत्तरार्द्ध में कुछ एक अन्य श्रेष्ठ आलोचक भी जन्मे, जिन्होंने आलोचना-क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का निर्माण किया। भाषण-शास्त्र पर ही विशेषतः महत्त्वपूर्ण चिन्तन हुआ और उसमें पारंगत होने के लिए नैसर्गिक प्रतिभा, कला-ज्ञान तथा परिश्रम आवश्यक समझा गया। विचार तथा भाषा की स्पष्टता भी आवश्यक ठहराई गई और यह नियम मान्य हुआ कि श्रेष्ठ ज्ञान और श्रेष्ठ अभिव्यंजना अथवा श्रेष्ठ विषय और श्रेष्ठ अभिव्यंजना दोनों का अटूट सम्बन्ध है; वक्ता को समुचित शब्द-प्रयोग तथा सौष्ठवपूर्ण वाक्य-विन्यास पर भी ध्यान देना चाहिए, क्योंकि उचित शब्दा-वली ही श्रेष्ठ वक्तृता का आधार है; वक्ता का ज्ञान तो उच्चकोटि का होना ही चाहिए परन्तु उसकी अभिव्यंजना भी साधारण-से-साधारण मनुष्यों के

१. देखिए—'हास्य की रूपरेखा'

२. विलसन

अनुकूल होनी चाहिए। वागीशों को विषय, अभिव्यंजना, भाषा इत्यादि के सभी क्षेत्रों में औचित्य का सतत ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि औचित्यहीन वक्तृता न तो उपयोगी होगी और न उसका कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव ही विदित होगा।

अनुकरण-सिद्धान्त की व्याख्या

प्राचीन युग में प्रचलित साहित्यिक अनुकरण के सिद्धान्तो की व्याख्या की ओर भी ध्यान दिया गया और यूनानी तथा रोमीय आलोचकों के अनुकरण-सम्बन्धी सिद्धान्तो की मान्यता प्रसारित की गई। प्राचीन आलोचकों ने साहित्य-कला मे प्रतिष्ठा-प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ कलाविदों की रचनाओ का अनुकरण अपेक्षणीय समझा था। समस्त रोमीय आलोचकों[1] ने अनुकरण-सिद्धान्त पर समुचित प्रकाश डाला था। कुछ ने तो अनुकरण-कला की मौलिक परिभाषा बनाई, जिसमें यह सिद्ध किया कि अनुकरण शाब्दिक न होकर सौन्दर्यपूर्ण दृश्यो का आत्मिक निरूपण है, जिसमें कल्पना का विशेष सहयोग रहता है। श्रेष्ठ अनुकरण तो कभी भी शाब्दिक नहीं हो सकता। अनुकर्त्ता को मूल कृति की आत्मा को ग्रहण करके उसका अनुकरण करना चाहिए और यह आत्मा शब्दो अथवा वाक्यों मे न रहकर सम्पूर्ण कृति में प्रस्तुत रहनी चाहिए। अनुकर्त्ता को अपनी सुबुद्धि तथा कल्पना को प्रेरित कर इसकी आत्मा को समझने और उसके पुनर्निर्माण का प्रयास करना होगा। उन्हे यह सतत ध्यान रखना चाहिए कि उनका मुख्य ध्येय अनुकरण-मात्र नहीं, परन्तु इस साधन द्वारा उन्हे अपनी नैसर्गिक प्रतिभा की उन्नति करनी चाहिए और धीरे-धीरे अपनी निजी तथा नवीन शैली निर्मित कर लेनी चाहिए। वास्तव मे अनुकरण केवल अनुकरण-मात्र नही, वह मौलिक रूप मे लेखक की निजी शैली में मूल कृति का पुनर्निर्माण है। और लेखको को केवल श्रेष्ठ कलाकारों की कृतियों का अनुकरण करना चाहिए, क्योंकि उसी के द्वारा उनकी सहज प्रतिभा प्रस्फुटित होगी। यदि देखा जाय तो साहित्य-क्षेत्र में सभी श्रेष्ठ लेखकों ने अपने पूर्व के कवियों तथा साहित्यकारों का अनुकरण किया है और सभी पर कुछ-न-कुछ पूर्ववर्ती साहित्यकारो का प्रभाव विदित होता है।

काव्य का महत्त्व

इस युग में साहित्य का वर्गीकरण भी पुरानी विचार-धारा के अनुसार काव्य, इतिहास, दर्शन तथा भाषण-शास्त्र वर्गों मे हुआ और काव्य के अन्तर्गत सुखा-

---

१. सिसेरो, हारेस, डायोनिसियस, लोंगाइनस, क्विण्टिलियन।

न्तकी, दुःखान्तकी, महाकाव्य तथा गीतकाव्य की गणना हुई। इतना होते हुए भी इस काल में काव्य का महत्त्व न्यून ही रहा। न तो उसके प्रति लोगों की श्रद्धा थी और न आकर्षण। काव्य का महत्त्व इतना हीन था कि कवि और कविता दोनों उपहास की वस्तु समझे जाते थे। जो कोई भी अनर्गल संवाद करता कवि नाम से सम्बोधित होता। काव्य भी एक प्रकार का प्रलाप ही समझा जाता था। जनता के हृदय में काव्य के प्रति उदासीनता-सी थी और यह धारणा प्रकट होती जाती थी कि काव्य के पठन-पाठन से चरित्र भ्रष्ट होता है और गम्भीर तथा चरित्रवान् पुरुषों को इसके अध्ययन से दूर ही रहना चाहिए। काव्य का साधारण रूप रूपक ही समझा जाता था और कभी-कभी विद्वज्जन रूपक के आवरण में शिक्षाप्रद विचारों को मान्य समझते थे, परन्तु साधारणतया काव्य और कवि का कोई मान न था। भाषण-शास्त्र का महत्त्व इतना बढ़ा-चढ़ा था कि काव्य-सुन्दरी अपना मुँह छिपाती रही। धीरे-धीरे आगामी युग में काव्य के प्रति उदासीनता दूर हुई और अनेक प्रतिभाशाली लेखकों ने काव्य के महत्त्व तथा इसकी आत्मा की भूरि-भूरि प्रशंसा कर साहित्य-क्षेत्र में उसे फिर से प्रतिष्ठापित किया। इस युग के लेखकों का विचार था कि संसार मे असत्य, अनैतिकता तथा विद्रूप का मूलाधार काव्य है; उसका न तो कोई सामाजिक उपयोग है न कोई आवश्यकता। इस धारणा का प्रतिकार बहुत काल बाद सफल रूप में हो पाया। काव्य के सत्य स्वरूप को पहचानने वालों ने यह प्रमाणित किया कि काव्य जीवन का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करता है। वह जीवन की विषमता, उसके दुःख और क्लेश, आनन्द और संतोष इत्यादि की झांकी इसलिए प्रस्तुत करता रहता है कि मनुष्य उससे शिक्षा ग्रहण करे, जीवन को सुस्थिर रूप में समझे और अपना जीवन-पथ सुगम बनाता चले। जिस प्रकार समस्त संसार बुरे और भले दोनों से ही बना है और मनुष्य की सुबुद्धि इसी में है कि वह भले को अपनाये और बुरे को दुराये, उसी प्रकार काव्य में भी भले तथा बुरे विचार हो सकते हैं, परन्तु सुबुद्धिपूर्ण व्यक्ति अच्छे काव्य की रचना करके मनुष्य को जीवन-संबल दे सकता है। काव्य में ऐसे-ऐसे गुण हैं जो प्रत्येक मनुष्य के जीवन को सफल, उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण बना सकते हैं। उसमें दैवी शक्ति है और मनुष्य को उस शक्ति द्वारा अपना कल्याण-मार्ग चुनने में भूल नहीं करनी चाहिए।

: २ :

पन्द्रहवीं शती उत्तरार्द्ध तथा सोलहवीं के पूर्वार्द्ध तक अँग्रेजी समाज

साहित्यिक वातावरण

में काव्य के प्रति उदासीनता ही नहीं वरन् द्वेष तथा घृणा का भाव प्रसारित रहा और काव्य की महत्ता न तो समझी गई और न उस ओर कोई महत्त्वपूर्ण प्रयत्न ही हुआ। सोलहवीं शती उत्तरार्द्ध में ही धीरे-धीरे शिक्षित समाज का ध्यान काव्य ने आकर्षित किया और उसी समय से काव्य के महत्त्व को परखने, उसकी आत्मा को समझने तथा उसके रूप और आकार को प्रकाशित करने का प्रयास प्रारम्भ हुआ। यद्यपि भाषण-शास्त्र की महत्ता अब भी कम नहीं हुई थी और उसका आलोचनात्मक अनुसन्धान अविराम गति से चल रहा था फिर भी काव्य के प्रति लोगों की उत्सुकता बढती जाती थी। इस मानसिक तथा साहित्यिक परिवर्तन के दो-एक धार्मिक तथा आध्यात्मिक कारण भी थे। पहला कारण तो यह था कि अँग्रेजी समाज में इस समय प्युरिटन सम्प्रदाय का बोलबाला था[१]। यह सम्प्रदाय प्रत्येक ललित कला का विरोधी था और इसी कारण काव्य-कला के प्रति भी उनका विरोध था और वे समझते थे कि इसके द्वारा असत्य, अनैतिकता तथा अन्यान्य दूषणों का जन्म होता है। परन्तु देश में इस सम्प्रदाय के विरोधी भी थे जो ललित कला के महत्त्व को समझते थे और जैसे-जैसे प्युरिटन सम्प्रदायवादी दल का विरोध बढता गया त्यों-त्यो उनके विरोधी दल का भी काव्य के प्रति उत्साह बढता रहा। इसी बीच में अरस्तू की आलोचनात्मक पुस्तक का भी पठन-पाठन बहुत उत्साहपूर्वक होने लगा जिसके फलस्वरूप शिक्षित वर्ग काव्य के प्रति आकृष्ट हुआ। इसके साथ-साथ समस्त यूरोप में काव्य के प्रति श्रद्धा बढने लगी थी और इटली तथा फ्रांस में काव्य की श्रेष्ठता प्रमाणित हो चुकी थी, जिसका प्रभाव अँग्रेजी साहित्यकारों ने भी ग्रहण किया और वे भी काव्य की मर्यादा की रक्षा में संलग्न हुए। ऐसे परिवर्तित वातावरण मे अनेक लेखकों को काव्य-रचना का अवसर मिला और अन्यान्य प्रकार के शोक-गीत, ग्राम्य-गीत, चतुर्दशी[२] इत्यादि लिखे जाने लगे। कुछ विद्वानों ने काव्य की महत्ता प्रमाणित करने में गद्य का सहारा लिया और काव्य-विरोधियों के सिद्धान्तों का खण्डन तर्कपूर्ण तथा मनोवैज्ञानिक रूप से किया। काव्य-विरोधी दल का विश्वास था कि काव्य समाज के लिए उपयोगी नहीं और उसका पठन-पाठन मनुष्य में अनैतिकता, दुश्चरित्रता तथा कामुकता का प्रसार करता है। महाकाव्यों की पौराणिक कथाएँ, जो देवी-देवताओं के छल-कपट, राग-द्वेष, क्रोध-

१. देखिए—'अँग्रेजी साहित्य का इतिहास'
२. देखिए—'काव्य की परख'

घृणा इत्यादि का वर्णन करती हैं, सामाजिक दृष्टि से अनुपयोगी ही नहीं वरन् चरित्र भ्रष्ट करने वाली हैं। उनके द्वारा असत्य का ही प्रसार होता है। बहुत-कुछ अंशों में तो काव्य केवल कामुकता का प्रसार ही करता है और मनुष्य को पथ-भ्रष्ट करता है। काव्य का आधार न तो तर्क है न सुरुचि; वह पागलों का प्रलाप-मात्र है और सुबुद्धिपूर्ण मनुष्यों को उसे समाज से बहिष्कृत कर देना चाहिए।

काव्य का समर्थन

काव्य के समर्थकों ने उपर्युक्त सभी विचारों का खण्डन किया। काव्य के उद्देश्य की व्याख्या करते हुए यह विचार स्थिर हुआ कि काव्य न तो अनुपयोगी है और न उसका ध्येय कामुकता-प्रसार है। काव्य का प्रमुख ध्येय शिक्षात्मक है और नैतिकता-प्रसार ही उसका मुख्य उद्देश्य है। यह विचार भ्रामक है कि कवि क्रूरता, लालसा तथा हत्याओं का ही वर्णन करते हैं। जहाँ-जहाँ ऐसा काव्यात्मक वर्णन होता है उसका उद्देश्य शिक्षात्मक ही होता है और उसके द्वारा जीवन के श्रेष्ठ आदर्शों की मान्यता स्थापित की जाती है। श्रेष्ठ कवि दीन-दुखियों के प्रति सहानुभूति, क्रूरता और हत्यारों के प्रति विरक्ति तथा क्रोध प्रदर्शित करते हैं तथा अनैतिकता का गहरा विरोध प्रस्तुत करते हैं। वागीश तो अधिकतर यह कार्य भूल जाते हैं और श्रेष्ठ व्यक्तियों की क्रूरताओं तथा उनके चरित्र की विषमताओं पर परदा डाल देते हैं। कवि तथा काव्य की मर्यादा प्राचीन काल से स्थापित है और सभी देशों और सभी युगों में उनकी प्रशंसा की गई है। हो सकता है कि दो-एक कवि अपने श्रेष्ठ आदर्श को भूल जायँ और पथभ्रष्ट हो जायँ मगर दो-एक कवियों के दोषों के कारण सभी कवियों को घृणित ठहराना न्यायसंगत नहीं। काव्य सदा से ही नैतिक तथा श्रेष्ठ जीवन के सत्यों का निरूपण करता आया है। यह कहना कि अफलातूँ ने कवियों का बहिष्कार कर दिया था ठीक नहीं; अफलातूँ ने केवल निकृष्ट कवियों का बहिष्कार श्रेयस्कर बतलाया था, श्रेष्ठ कवियों का नहीं। काव्य वास्तव में अत्यन्त उपयोगी, फलप्रद तथा आनन्ददायक साहित्यिक साधन है जिसकी सहायता से समाज तथा जाति का सांस्कृतिक स्तर ऊँचा रखा जा सकता है। कवि की प्रतिभा, उसकी काव्यात्मक प्रेरणा, उसकी दैवी कल्पना तथा उसकी कला द्वारा सभी देशों तथा सभी राष्ट्रों ने लाभ उठाया है और उसके कार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। दर्शनवेत्ताओं, साधु-सन्तों तथा धर्म-पुस्तकों ने काव्य का सहारा ढूँढ़कर अपना सन्देश दूर देशों तक पहुँचाया। उसकी पवित्रता तथा श्रेष्ठता का सबल प्रमाण यह है कि उसी के द्वारा ईश्वर की पूजा तथा अर्चना

सफल हुई। काव्य ने ही पहले-पहल जीवन के महत् सत्यों का निरूपण किया और दर्शन के तत्त्व सरल रूप में समझाए। भाषण-शास्त्र की अपेक्षा काव्य के संगीत, उसकी ध्वनि तथा उसकी लय ने मानव की आत्मा को अनन्त काल से प्रेरित किया है और अशिक्षित-से-अशिक्षित जन-समुदाय को आकर्षित कर उनका मानसिक तथा सांस्कृतिक परिष्कार किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी काव्य का जन्म भाषण-शास्त्र के पहले हुआ।

कवियों का वर्गीकरण

इस समय कवियों का वर्गीकरण भी हुआ और तीन वर्गों में समस्त कवियों को बाँटा गया—धार्मिक कवि, दार्शनिक कवि तथा सामाजिक कवि। छन्द काव्य का प्रमुख आभूषण ही नहीं वरन् उसका महत्त्वपूर्ण अंग समझा गया। प्रमाणस्वरूप यह बतलाया गया कि छन्द स्वतः दैवी स्रोत से आविर्भूत है; पार्थिव तथा दैवी संसार में एक विचित्र प्रकार का सामंजस्य है जिसके अन्तर्गत छन्द की भी गणना है। सभी देशों के सभी कवियों ने स्तुति-गीतों[1] तथा धर्म-पुस्तकों में जब छन्द का प्रयोग किया तो उसका महत्त्व पूर्णतया प्रमाणित है।

काव्य की आत्मा

काव्य की प्रेरणा के सम्बन्ध में जो महत्त्वपूर्ण चिन्तन हुआ उससे काव्य की महत्ता कहीं अधिक बढ़ी। प्राचीन आलोचकों ने काव्य को दैवी प्रेरणा से आविर्भूत समझा था और कुछ ने तो इसे 'दैवी भावोद्रेक' तक कहा था। कवि में काव्य की प्रेरणा जब जाग्रत होती है तो वह इस पार्थिव लोक का प्राणी नहीं रह जाता; कवि की आत्मा अपना पार्थिव शरीर उस समय तक के लिए छोड़-सी देती है और वह एक दैवी लोक की ओर अग्रसर होती हुई कुछ विशेष सत्यों को परखने में संलग्न हो जाती है और अपना अभीष्ट सिद्ध करती है। यह अभीष्ट शिक्षा-प्रदान है। काव्य की प्रेरणा कवि में एक विचित्र आकांक्षा तथा आतुरता ला देती है और वह उसी के वशीभूत हो काव्य की निर्झरणी प्रवाहित करने लगता है जिसमे स्नान कर श्रोतावर्ग अपना आत्मिक तथा मानसिक परिष्कार करता है। जो कवि बिना इस दैवी प्रेरणा के काव्य लिखते हैं वे हास्यास्पद ही होते हैं और उनकी कविता निम्न कोटि की होती है। काव्य वास्तव मे ईश्वर-प्रदत्त है।

सामाजिक द्वन्द्व

इस युग में जहां कुछ आलोचक काव्य की मर्यादा बढ़ाने में लगे हुए थे वहां दूसरे वर्ग के आलोचक

१. देखिए—'काव्य की परख'

गीत दीन-दुखियो के प्रति सहानुभूति बढाते हैं; व्यंग्य-काव्य सामाजिक विषमताओ को हास्यास्पद बनाते हैं। सुखान्तकी जीवन की त्रुटियों को हास्यपूर्ण ढंग से दूर करने का प्रयत्न करती है। दुःखान्तकी श्रेष्ठ समाज की क्रूरता तथा विषमता का दर्शन कराके जीवन में धर्म और नैतिक विचारो के प्रसार की आवश्यकता प्रस्तुत करती है। छन्द-प्रयोग-विषयक विचार भी प्रस्तुत किये गए। छन्द द्वारा अभिव्यंजना मे एक प्रकार का शाब्दिक सामंजस्य प्रस्तुत होता है जो आनन्ददायी होगा। उसके द्वारा शब्दो का ध्वन्यात्मक तत्त्व स्पष्ट होकर हमारी स्मरण-शक्ति को सहारा देता है। हम सहज ही काव्य को कण्ठाग्र कर लेते हैं।

भ्रामक सिद्धान्तों का निराकरण

काव्य के विरुद्ध जो-जो पुरानी धारणाएँ फैली हुई थीं उनका निराकरण करने के लिए तर्क का सहारा लिया गया और सभी शंकाओं का समाधान प्रस्तुत किया गया। काव्य के विरुद्ध जो सबसे साधारण बात कही जा रही थी वह उसकी अनुपयोगिता के सम्बन्ध में थी, जिसका समाधान काव्य को नैतिक विचारों का मूल स्रोत प्रमाणित करने के फलस्वरूप हुआ। दूसरी धारणा यह थी कि काव्य केवल असत्य का प्रसार करता है और चरित्र भ्रष्ट करता है, जिसका निराकरण इस विचार द्वारा हुआ कि कवि असत्यभाषी नहीं, वह तो केवल जीवन के कल्पनात्मक आदर्शों को प्रतिपादित करता है और भूत तथा वर्तमान से सीमित न होकर जीवन के भावी तथा श्रेयस्कर रूपों की ओर संकेत करता रहता है। यदि महान् आलोचक अफलातूं ने अपने आदर्श लोकतन्त्र राष्ट्र से कवियों को निर्वासित कर दिया था और उन्हे कोई श्रेष्ठ स्थान नहीं दिया था तो इससे यह प्रमाणित नहीं कि सभी कवि निकृष्ट हैं। उन्होने केवल उन्हीं कवियों को हीन समझा था जो वास्तव मे अनुपयोगी रचनाएँ करते थे, जिनमे दैवी प्रेरणा न थी और जो काव्य के आदर्श रूप को न समझकर केवल नाम के लिए कवि बन बैठे थे। ये कवि ऐसे थे जो न तो काव्य के स्वरूप को पहचानते थे और न स्वस्थ रूप से उसका आकार ही निश्चित कर सकते थे। वे केवल अनुकर्त्ता रूप मे ही काव्य लिखते थे, जो निष्प्राण रहा करता था और जिससे काव्य-कला कोसों दूर रहती थी। यदि कुछ कवि अपने आदर्श से गिर जायँ और काव्य का दुरुपयोग करने लगें तो इसमें काव्य का क्या दोष ? उसमे दोष तो है उन कवियो का जो बिना इसका नैतिक उद्देश्य समझे लेखनी उठाते हैं। काव्य वस्तुतः नितान्त उपयोगी, नैतिक तथा आदर्श जीवन का प्रचारक है और यदि उसका समुचित उपयोग हो तो मानव का पतन

कल्याण होगा।

नाटक का विवेचन—दु:खान्तकी

दुःखान्तकी, मिश्रितांकी तथा सुखान्तकी का भी यथेष्ट रूप में विवेचन किया गया। दुःखान्तकी की परिभाषा, उसके उद्देश्य तथा उसके अनेक तत्त्वो पर विचार करते हुए यह बतलाया गया कि दुःखान्तकी का विषय है आततायियो का जीवन और उनकी विफलता तथा मानव-जीवन की क्षणभंगुरता। उसमें भव्य संवाद द्वारा समाज में नैतिक शिक्षा का प्रसार और दर्शक-वर्ग में उत्कृष्ट भावनाओ तथा सहानुभूति का संचार होना चाहिए। दुःखान्तकी मे ऐतिहासिक तत्त्वों की प्रधानता न होकर काव्यात्मक गुणो की प्रधानता होनी चाहिए। नाटककार को अपने विषय-वस्तु तथा कथानक के रूप और घटनाओ के क्रम को मनोनुकूल बदलने का पूर्ण अधिकार है। जिन उपकरणो द्वारा दुःखान्तकी की आत्मा का विकास और नाटकीय तत्त्वों का प्रकाश हो, उन्हें नाटककार सहर्ष अपना सकता है। नाटककार को देश, काल तथा कार्य के समन्वित रूप का सदैव ध्यान रखना चाहिए और उसमें विषमता न आने देनी चाहिए; साथ-ही-साथ दुःखान्तक तथा सुखान्तक स्थलों को मिलाकर मिश्रितांकी की रचना नहीं करनी चाहिए। दुःखान्तकी में सुखान्तकी के कोई भी तत्त्व नही आने चाहिएँ और इस दोष से सभी नाटककारो को बचना चाहिए।

सुखान्तकी

सुखान्तकी-लेखक को भी अपनी रचना का स्तर ऊँचा रखना चाहिए। प्रायः सुखान्तकी-नाटककार प्रहसन को ही सुखान्तकी समझ बैठते हैं और कोरे हास्य का प्रकाश कर अभीष्ट-सिद्धि करते हैं। ऐसा न होना चाहिए। श्रेष्ठ सुखान्तकी एक प्रकार का मानसिक हास्य प्रस्तुत करती है और स्थायी आनन्द देने का प्रयत्न करती है। केवल हास्य का प्रदर्शन तो सरल है परन्तु श्रेयस्कर नहीं; केवल स्थायी आनन्द का ही प्रदर्शन प्रशस्त है। यह सही है कि बिना हास्य के भी आनन्द प्रस्तुत किया जा सकता है, परन्तु श्रेष्ठ नाटककार वही है जो आनन्द तथा हास्य दोनों की समष्टि प्रस्तुत कर दे। सुखान्तकी के विषय तथा पात्रों का निर्माण भी सुरुचिपूर्ण रूप से होना चाहिए। सुखान्तकी के विषय न तो ऐसे होने चाहिएँ जिनके प्रति घृणा उत्पन्न हो और न ऐसे जो ग्लानि और खेद उत्पन्न करें। शारीरिक कुरूपता को, जो दर्शकों के मन मे ग्लानि का संचार करे और बीभत्स हो, कभी भी आश्रय नहीं देना चाहिए। पात्र वे ही हो जिनमें छोटे-मोटे दूषण हों और जिनके द्वारा हानि की सम्भावना

न हो। वाचाल दरबारी, कायर योद्धा, पाखण्डी पण्डित, वितण्डावादी इत्यादि जो हमें जीवन मे साधारणतः सभी स्थानों पर मिल जाते हैं, सभी पात्र रखे जा सकते हैं। उनके चरित्र की त्रुटियों द्वारा हास्य तथा आनन्द दोनो का प्रदर्शन सहज ही हो जायगा।

गीत-काव्य

गीत-काव्य की व्याख्या द्वारा यह प्रमाणित किया गया कि उसमें विशुद्ध तथा वास्तविक भावनाओं का समावेश होना चाहिए; जिस गीत मे यह गुण नहीं वह निम्न कोटि का होगा। कुछ कवि केवल इधर उधर से चुनी हुई शब्दा-वली एकत्र कर गीत लिखना प्रारम्भ कर देते हैं और उसमें न तो नैसर्गिक भाव होते हैं और न काव्य-शक्ति। श्रेष्ठ गीत का रचयिता वही होगा जो अपनी व्यक्तिगत भावनाओं को सीधे अपने हृदय-कोष से निकालकर तीव्र रूप मे प्रदर्शित करे। काव्य की शैली में दुरूह, अप्रचलित तथा आडम्बरपूर्ण शब्दों को प्रश्रय नहीं देना चाहिए और न अतिशयोक्ति तथा अनुप्रास इत्यादि की छटा दिखलाकर ही काव्य रचना चाहिए। जिस काव्य में दुरूह उपमाओं तथा अलंकारों का प्रयोग नहीं होता वही सर्वप्रिय होगा। लोकप्रिय होने के लिए कवि में न तो शब्दाडम्बर आवश्यक है और न अलंकार; केवल सुरुचि-पूर्ण तथा सुबुद्धिपूर्ण भाषा-शैली ही अपेक्षित है। काव्य-निर्माण के नियम भी प्रकृति-प्रदत्त समझने चाहिएँ।

साहित्य के उपर्युक्त विवेचन मे अफलातूँ, अरस्तूँ तथा अन्यान्य रोमीय आलोचकों के विचारों की पूर्ण छाप है, परन्तु यथासम्भव मौलिक रूप में विचार प्रस्तुत किये गए। काव्य के समर्थन में सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक प्रमाणों का सहारा लिया गया; सुखान्तकी मे आनन्द-प्रसार का सिद्धान्त मान्य हुआ और गीत-काव्य मे व्यक्तिगत अनुभवों का तीव्र प्रदर्शन ही प्रशस्त समझा गया। यही इस युग की विशेपता है।

: ४ :

साहित्यिक वातावरण : काव्य-कला-चिन्तन

सोलहवीं शती उत्तरार्द्ध मे काव्य की उपयोगिता, आदर्श रूप तथा उसका सांस्कृतिक उद्देश्य प्रमाणित होने के साथ साथ काव्य-कला तथा काव्य के तत्वों पर भी व्यापक रूप में विचार हुआ। इस काल में राष्ट्रीयता की भावना भी विकसित हुई और इस भावना का संचार होते ही काव्य-कला पर साहित्यिकों की और भी विशेप कृपा हुई। यद्यपि प्राचीन साहि-त्यिक परम्पराएँ अब भी जोरों पर थीं और उनका आकर्षण कम नहीं हुआ था,

फिर भी काव्य के तत्त्वों पर विशिष्ट विचार प्रस्तुत किये गए और नव-सिद्धान्तों की खोज शुरू हुई। काव्य के तत्त्वों के अतिरिक्त काव्य की आत्मा पर विशेष रूप से चिन्तन हुआ और काव्य में दैवी प्रेरणा की महत्ता फिर से प्रमाणित हुई। काव्य केवल परिश्रम तथा अध्यवसाय द्वारा प्रसूत न होकर दैवी अनुकम्पा द्वारा प्रसूत समझा जाने लगा। तर्क के परे एक दिव्य आलोक द्वारा काव्य की आत्मा विकसित होती है, जिसका महत्त्व अक्षय रहता है। जिस प्रकार संगीत की ध्वनि और उसकी लय मानवी आत्मा को पूर्णतया वशीभूत कर लेती है, उसी प्रकार काव्य मानव-आत्मा-स्थित लय से प्रतिध्वनित हो हृदयग्राही हो जाता है। कवि सहज रूप में अनुकर्त्ता भी कहा जा सकता है, क्योंकि वह समस्त विश्व का विशद चित्र अपने काव्य द्वारा प्रस्तुत करता है। यद्यपि दैवी अनुकम्पा में ही काव्य का मूल स्रोत निहित है परन्तु नैसर्गिक गुण, अनुभव तथा जीवन का अनुसन्धान भी उसके लिए कम आवश्यक नहीं।

काव्य का सर्वश्रेष्ठ साधन है कल्पना तथा परिकल्पना[1]। ये दोनों शक्तियाँ कवि में सहज रूप में निहित रहती हैं और ये कवि के विचारों और भावों को चित्र रूप में परिवर्तित किया करती हैं; उन्हीं के द्वारा कवि जीवन तथा संसार से चित्र चुन-चुनकर काव्य-प्रासाद मे सुन्दर रूप में सजाता रहता है। कल्पना-शक्ति उच्छृङ्खल नहीं होती। उसमें क्रम तथा औचित्य रहता है और वह पाठकों की आत्मा को वशीभूत करने के लिए, दूर-दूर से सुन्दर उपमाओ और उपमेयो को काव्य में प्रयुक्त होने के लिए, कवि के सम्मुख लाती रहती है। कवि इसी शक्ति के द्वारा सत्य का विशद चित्र प्रस्तुत करता है और श्रेष्ठातिश्रेष्ठ अनुभवों को सुन्दर-से-सुन्दर रूप मे व्यक्त कर कवि के नाम को सार्थक करता है।

काव्य के महत्त्वपूर्ण तत्त्वो मे विषय को प्रथम स्थान मिला। कुछ कवि केवल नख-शिख-वर्णन करके ही अपने को श्रेष्ठ समझने लगे थे, जिसके विरोध में यह नियम मान्य हुआ कि केवल सुन्दर शब्दावली, प्रभावपूर्ण विशेषणों तथा अनुप्रास की छटा के प्रयोग द्वारा श्रेष्ठ काव्य की व्युत्पत्ति नही हो सकती। मगर जब कवि उचित विषय चुन लेगा तो सुन्दर शब्दावली अपना कोष स्वतः खोल देगी। काव्य के लिए सभी विषय फलप्रद हो सकते हैं, परन्तु वे ही विषय अधिक फलप्रद होंगे जिनमें कल्पना-शक्ति के प्रयोग की अधिक गुन्जायश होगी। काव्य ऐतिहासिक घटनाओं अथवा यथार्थ का मुँह नही देखता। वह कल्पना के सहयोग से स्वच्छन्द रूप मे विषय का चुनाव करता है; साधारणतः काव्य के विषय तीन प्रकार के हो सकते हैं—सत्य,

१. देखिए—'काव्य की परख'

असत्य अथवा मिश्रित। तीनों प्रकार के विषय-प्रयोग सदैव आनन्ददायी रहे हैं। छन्द, शैली तथा शब्द-विषयक व्याख्या में एक कविता में केवल एक छन्द का प्रयोग मान्य हुआ और कविता की पंक्तियों मे तुक बैठाने का आदेश दिया गया, मगर तुक स्वाभाविक होनी चाहिए थी। अप्रचलित शब्दों के प्रति अत्यानुराग शैली का दूषण समझा गया और प्रचलित शब्द-प्रयोगों को ही प्रशस्त माना गया। वस्तुतः काव्य-शैली में शब्दाडम्बर के विरोध में स्पष्टता और प्रचलित प्रयोग तथा समाज में विभिन्न वर्गों के संवाद में औचित्य के नियम विशेष रूप से मान्य हुए। संक्षेप-कथन की महत्ता भी विशेष रूप मे प्रमाणित की गई। इस नियम का प्रभाव आगामी युग के कवियों पर विशेष रूप में पड़ा। कुछ आलोचकों ने कला को प्रकृति का अनुरागी बनाकर यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि कला को व्यापक रूप से प्रकृति का अनुसरण करना चाहिए। इसके साथ-साथ देश-काल के विचार को भी काफी महत्त्व दिया गया, क्योंकि प्रत्येक देश की अलग-अलग विचार-शैली होती है और उनका जीवन विभिन्न रहता है। जो कवि इस तथ्य को ध्यान मे रखकर काव्य-रचना करेगा, सफल रहेगा। सफल कवि न तो अपनी शैली शिथिल होने देगा और न उसकी अभिव्यंजना ही अस्थिर होगी। वह अतिशय अनुप्रास भी नही प्रयोग करता; वह प्राचीन युग के श्रेष्ठ कवियों की शैली से कुछ ऐसे शब्द ले लेता है जिनके द्वारा उसके काव्य में नई जान पड़ जाती है और उसका प्रभाव पाठक-वर्ग पर भव्य रूप मे पड़ता है। प्रचलित शब्दावली के बीच कभी-कभी अप्रचलित शब्द भी प्रयुक्त हो सकते हैं और इस प्रयोग से पाठकों पर रोमांचक प्रभाव पडेगा। वे प्राचीन काल के वातावरण के प्रति उस शब्द-प्रयोग द्वारा आकृष्ट होंगे।

काव्य का लक्ष्य तथा उद्गम

काव्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में प्राचीन नियम फिर दुहराये गए। काव्य का उद्देश्य है शिक्षा तथा आनन्द, परन्तु आनन्द का स्थान प्रमुख है, शिक्षा का गौण। यद्यपि ऐतिहासिक काव्य चरित्र का संशोधन करता है और उत्कृष्ट है परन्तु उसका प्रमुख ध्येय आनन्द-प्रदान तथा सन्तोष-दान है। सुन्दर तथा आनन्ददायी अनुभवों को प्रस्तुत कर कवि अपना आकर्षण सतत बनाए रख सकता है; वह शब्द तथा लय के गुप्त मायाजाल द्वारा पाठकों को चमत्कृत कर उन पर जादू डाले रहता है।

काव्य के उद्गम के विषय में विचार करते हुए आलोचकों ने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि काव्य का उद्गम मानव की सामाजिक तथा भावात्मक आवश्यकताओं मे ही निहित है। मानव-समाज की आदि अवस्था

में श्रद्धा तथा भय[1] के संचार द्वारा स्तुति-गीतों की रचना हुई। प्रकृति की शक्ति और देवी-देवताओं की पूजा तथा अर्चना में ही ये गीत प्रयुक्त हुए। जब समाज सुव्यवस्थित हो चला और कालान्तर मे उसमें अन्य प्रकार की विषमताएँ फैलने लगीं तो उन सामाजिक तथा मानसिक दूषणों को दूर करने के लिए सुखान्तकी, दुःखान्तकी तथा व्यंग्य-काव्य की रचना होने लगी। समाज के श्रेष्ठ व्यक्तियों की प्रशंसा तथा उनको सम्मान प्रदान करने के हेतु वीर-काव्य की सृष्टि हुई और जैसे-जैसे समाज की अवस्था बदलती गई काव्य के रूप मे भी परिवर्तन होने लगा तथा नवीन काव्य-मार्ग भी ढूँढ़ निकाले गए। मनुष्य के हृदय में अन्तर्हित प्रेम ने गीत, गौरव-गीत, चतुर्दशी तथा प्रणय-गीत को जन्म दिया; सामाजिक समारोहों तथा वैवाहिक अवसरों ने 'आशीर्वादक काव्य' को जन्म दिया तथा दुःख, शोक इत्यादि द्वारा शोक-गीत का निर्माण हुआ। शोक-गीत हमारे शोक का मनोवैज्ञानिक रूप में शमन करते हैं। उनके द्वारा शोकग्रस्त अथवा दुःखी व्यक्ति अपनी शोक-भावना गीत-रूप में प्रस्तुत कर अपना दुःख भूल जाता है। दुःख से भरा हुआ हृदय अपना दुःख प्रकट कर शान्ति पा जाता है।

काव्य-कला—कवि तथा छन्द-प्रयोग

कला की परिभाषा तथा उसके मानवी सम्बन्धों का भी विश्लेषण हुआ। कला वास्तव मे तर्क तथा अनुभवप्रदत्त नियमावली है, जिसका विकास प्रकृति-निरीक्षण तथा परम्परा और रूढ़ि द्वारा होता आया है। प्रकृति की सहायता करना उसका उद्देश्य है। वह इस उद्देश्य-पूर्ति में अपना सहयोग देती है और अधिकतर प्रकृति की न्यूनता की पूर्ति करती है तथा उसको मोहक रूप दे अत्यन्त उपादेय बना देती है। कला प्रकृति का अनुसरण करती है, उसको परिवर्तित करती है, उसको सुधारती है, उसे सौन्दर्य-पूर्ण बनाती है, और विलक्षण तथा चमत्कारपूर्ण रूप में उसको अभीष्ट सिद्धि करती है। कला के सहयोग के बिना प्रकृति निष्क्रिय तथा निष्प्राण रहेगी। कला तथा मनुष्य में भी गहरा सम्बन्ध है। मनुष्य के कार्यों में कला अनेक रूप में प्रयुक्त होती है; विशेषतः काव्य-क्षेत्र में तो उसका महत्त्व बहुत ही अधिक है। मनुष्य की कुछ क्रियाएँ—जैसे संगीत तथा नृत्य—तो ऐसी हैं जिनमें कला ही सब-कुछ है। काव्य-शक्ति मनुष्य में नैसर्गिक रूप में रहती है और जब कवि उसी के बल पर काव्य-रचना करेगा तभी उसका काव्य श्रेष्ठ होगा। परन्तु यह भी सही है कि जो कवि कला का सहारा लेंगे अपने काव्य

१. देखिए—'नाटक की परख'

को अधिक आकर्षक बनाएँगे। काव्य का आविर्भाव अत्यन्त जटिल रूप में होता है। कवि पहले विषय चुनता है, उसे सुव्यवस्थित रूप देता है, उसके लिए उपयुक्त छन्द चुनता है और अन्त में अभिव्यंजना, शैली तथा अलंकारों द्वारा आकर्षक रूप मे काव्य प्रस्तुत करने की चेष्टा करता है। यद्यपि कवि अधिकांश रूप में कला का प्रयोग अनुकरण, भावोद्रेक इत्यादि के लिए करता है परन्तु उसकी प्रशंसा तभी होती है जब वह अपनी नैसर्गिक प्रतिभा द्वारा कल्पना का सहारा लिये हुए सहज रूप में काव्य की सृष्टि कर चलता है। जितनी ही उसमें कला होगी उतनी ही उसकी कमजोरी होगी; जितनी ही सहज प्रतिभा होगी उतनी ही उसकी प्रशंसा होगी। कवि को कला-प्रयोग मे कोई बन्धन नही, परन्तु उसे श्रेष्ठता तभी मिलेगी जब वह कला को गुप्त रखेगा, उसे स्पष्ट न होने देगा और औचित्य का सदैव ध्यान रखेगा। सुरुचि, औचित्य तथा गुप्त रूप मे प्रयुक्त कला सभी श्रेष्ठ कवियों के सहज आभूषण रहे हैं। कवि के लिए छन्द का प्रयोग भी प्रशस्त है, क्योंकि ईश्वर ने समस्त विश्व का निर्माण सामंजस्यपूर्ण रूप में किया है। बिना लय के सामंजस्य असम्भव है, इसलिए काव्य के निर्माण मे छन्द तथा लय आवश्यक होंगे। प्राचीन काल से मनुष्य प्रकृतिप्रदत्त प्रतिभा से भाषा का प्रयोग अभिव्यंजना के लिए करता आया है। दर्शनवेत्ताओ तथा महात्माओं ने, वागीशों तथा इतिहासकारों ने गद्य-रूप में भाषा का प्रयोग किया है; परन्तु धर्म-प्रचारको तथा सन्तों ने संगीतपूर्ण तथा छन्दबद्ध भाषा का ही प्रयोग किया, क्योंकि उसके द्वारा श्रोतावर्ग पर गहरा प्रभाव पड़ता है। संगीत तथा लय मे एक दैवी शक्ति है।

अलंकार-प्रयोग

अलंकार-प्रयोग के विषय मे सुरुचि तथा औचित्य की विशेष आवश्यकता प्रमाणित हुई। केवल वे ही अलंकार-प्रयोग अपेक्षणीय हैं जो बुद्धि तथा कान दोनों को प्रिय लगें और आनन्ददायी हों। कुछ अलंकार बुद्धि को ही प्रभावित करते हैं और उनका प्रभाव अर्थ समझने के उपरान्त पड़ता है। ये अर्थालंकार केवल थोड़े ही लोगों को प्रिय होंगे। कुछ अलंकार केवल श्रुतिमधुर होते हैं और सुनते ही उनका पूर्ण प्रभाव पड़ने लगता है, परन्तु कुछ अलंकारों में दोनों गुण समरूप से रहते हैं। श्रेष्ठ प्रयोग तभी सम्भव होगा जब अलंकार का आधार तर्क हो और वह श्रुतिमधुर भी हो। पुराने, अप्रचलित तथा बे-मुहावरेदार शब्दों से शैली दूषित होगी। श्रेष्ठ शैली वही है जो कलाकार के व्यक्तित्व की पूर्ण परिचायक हो। शैली के श्रेष्ठ प्रयोग में भी कुछ नियम मान्य हुए। गम्भीर तथा दार्शनिक विषयों के लिए गम्भीर शब्दावली अपे-

चित होगी, परन्तु उसमें कृत्रिमता न आनी चाहिए। शैली के वर्गीकरण में प्राचीन नियम ही सर्वसम्मत हुए। भव्य अथवा श्रेष्ठ शैली द्वारा राजा-महाराजाओं का जीवन व्यक्त होना चाहिए, मध्यम शैली द्वारा मध्यम-वर्गीय समाज का दिग्दर्शन कराना चाहिए और श्रमजीवी तथा साधारण वर्गों के लिए साधारण शैली का प्रयोग होना चाहिए। इतिहास तथा दुःखान्तकी के लिए भव्य शैली, सुखान्तकी तथा प्रेम-काव्य के लिए मध्यम शैली तथा ग्राम्यगीत इत्यादि के लिए साधारण शैली प्रयुक्त होनी चाहिए।

संक्षेप में, इस काल के अन्तर्गत साहित्य और जीवन का अटूट सम्बन्ध प्रमाणित हुआ और काव्य का उद्गम-स्थान मनुष्य की वैयक्तिक तथा सामाजिक आवश्यकता में प्रकाशित किया गया। कला तथा प्रकृति और कला तथा मनुष्य दोनों के सम्बन्ध में व्यापक रूप से पहले-पहल विचार हुआ और दैवी प्रेरणा के साथ-साथ काव्य के कल्पनात्मक तत्त्व को विशेष महत्त्व मिला। काव्य में छन्द की महत्ता प्रमाणित हुई और कला के गुप्त प्रयोग की मान्यता पुनः स्थापित की गई।

: ५ :

आलोचना-क्षेत्र में नव-स्फूर्ति

सोलहवीं शती उत्तरार्द्ध के अन्तिम चरण में साहित्यिक आलोचना के प्रति अनुराग की नवीन लहर उठी जो आगामी युग में वेगवती हुई। इस युग के पूर्वार्द्ध में भाषण-शास्त्र तथा काव्य पर तो व्यापक विचार हो ही चुका था मगर कुछ राजनीतिक तथा सामाजिक कारणों से आलोचना के प्रति नवोत्साह दिखाई देने लगा। इस समय लन्दन की व्यापारिक महत्ता अत्यधिक बढ़ चली थी और समस्त यूरोपीय व्यापारिक क्षेत्रों से व्यवसायी आ-आकर वहाँ बसने लगे थे, जिसके कारण पाठक-वर्ग की संख्या में तो वृद्धि हुई ही, एक नये पाठक-वर्ग का भी जन्म हुआ। पहले तो केवल विश्वविद्यालयों तथा दरबारी लोगों में ही शिक्षा के प्रति अनुराग था, परन्तु इस नवीन व्यवसायी-वर्ग ने शिक्षाप्रियता और भी बढ़ाई। ऐसे ही समय मे इंगलिस्तानी नौ-सेना ने समस्त जगत् में अपनी धाक बैठा ली थी और यूरोप में सबसे प्रबल स्पेन की नौ-सेना को पराजित कर दिया था। इस विजय द्वारा राष्ट्रीय भावना और भी विकसित हुई और समस्त अंग्रेजी जनता में जीवन के प्रति श्रद्धा तथा उत्साह की बाढ-सी आ गई। गर्व और आशा की भावना इतनी तीव्र हुई कि जनता राजमहिषी को देवी के रूप में देखने लगी और प्रत्येक अंग्रेज के हृदय में उच्चाकांक्षा का जन्म होने लगा। नवीन समुद्री मार्गों

का अनुसन्धान होने लगा, नवीन व्यापारिक क्षेत्र मुट्ठी में आने लगे और राष्ट्रीयता की नींव सुदृढ़ होने लगी। ऐसी परिस्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि जनता की रुचि इतिहास तथा साहित्य की ओर और भी बढ़ती। अब साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में नवजीवन आने लगा। मौलिक साहित्य के साथ-साथ मौलिक आलोचना का भी जन्म होता दिखाई दिया। इस मौलिकता का दर्शन पहले-पहल व्यंग्य काव्य-क्षेत्र में हुआ।

काव्य-सम्बन्धी विचार

मौलिक आलोचना-सिद्धान्तों के निर्माण के पहले कुछ साधारण आलोचकों ने स्फुट रूप में काव्य की भाषा, काव्य के विषय, छन्द, भाषण-शास्त्र तथा साहित्य के मूल्य पर अपने विभिन्न विचार प्रकट किये। साधारण बोलचाल की भाषा की महत्ता फिर से प्रमाणित की जाने लगी और प्राचीन लेखकों की रचनाओं का शाब्दिक अनुवाद हेय समझा गया। भाषण-शास्त्र के समुचित अध्ययन के बिना गद्य-रचना असम्भव समझी गई। संक्षेप-कथन ही श्रेष्ठ शैली का प्रधान तत्त्व माना गया और उसमे भी सतर्कता की आवश्यकता बतलाई गई, क्योंकि संक्षेप-कथन के अतिप्रयोग मे दुरूहता सहज ही आ सकती थी। साधारण मतानुसार, संयत शैली में कलात्मक ढंग से ही विचारों की अभिव्यंजना होनी चाहिए। अभिव्यंजना जितनी ही स्वाभाविक होगी उतनी ही प्रभावपूर्ण भी होगी। अनुभव और अभ्यास इस दृष्टि से अत्यन्त हितकर होंगे। कला यदि अनुभव से समन्वित हो जाय और दोनों का अभ्यास भी यथेष्ट रूप में हो तो शैली मे श्रेष्ठ गुण आ जायँगे। लेखक को विचारो तथा भावों को तर्कपूर्ण रूप से चुनना चाहिए और केवल उन्हीं विचारों को प्रधानता देनी चाहिए जो महत्त्वपूर्ण हों। जो विचार गौण हों उनका स्थान भी गौण होना चाहिए। काव्य क्षेत्र मे बहुधा यह देखा जाता है कि जो कोई भी चाहता है कवि बन बैठता है। उनमें न तो कला होती है और न कला को समझने की शक्ति; वे यह प्राचीन सिद्धान्त जानते ही नहीं कि पारखी मे परख की कला भी होनी चाहिए। काव्य के रूप तथा उद्देश्य की चर्चा करते हुए यह बतलाया गया कि वास्तव मे काव्य का श्रेष्ठ रूप रूपक है। रूपक-रूप मे कवि नैतिक शिक्षा और दर्शन तत्त्वों का प्रसार तथा विश्लेषण क्रमशः देता है। प्राचीन यूनानी दर्शनवेत्ता वास्तव में कवि ही थे और अपनी मधुर वाणी तथा सुन्दर काव्य द्वारा नैतिकता तथा सुबुद्धि का प्रचार किया करते थे। इस दृष्टि से भी काव्य अत्यन्त लाभप्रद रहा है। श्रेष्ठ काव्य मनुष्य का मानसिक विकास कर जीवन को उन्नत बनाता

है और उसी के द्वारा अनेक आध्यात्मिक सत्यों का स्पष्ट विवेचन भी सम्भव हुआ है। काव्य ने ही दर्शन को प्रेरणा दी और देवत्व की ओर संकेत किया। कुछ आलोचकों का यह कहना कि काव्य असत्य का प्रचार करता है निरर्थक है, क्योंकि कवि-वर्ग की महत्ता सभी देशो में तथा सभी युगो में समान रूप से मान्य रही है। कवियो का एक ही उद्देश्य रहा है—सत्य तथा यथार्थ का आनन्ददायी निरूपण। छन्द-विषयक व्याख्या में यह सिद्धान्त निकला कि संसार के सभी श्रेष्ठ कवि काव्य मे छन्द-प्रयोग करते आए हैं और 'छन्द का प्रयोग प्रकृति के नियमों का समर्थन ही है। छन्द से काव्य मे सौन्दर्य की सृष्टि होती है, प्रभावोत्पादकता बढती है, पाठकों की स्मरण-शक्ति को सहायता मिलती है और वह अनेक रूप में आनन्ददायी हो जाता है, क्योंकि मनुष्य के हृदय में नैसर्गिक रूप में लय का प्राधान्य रहता है। उपर्युक्त स्फुट विवेचन से यह स्पष्ट है कि कवि को अभ्यास, ज्ञान तथा कला का सहारा लेना चाहिए, काव्य को छन्दबद्ध होना चाहिए तथा भाषा में प्रचलित शब्दावली की प्रधानता होनी चाहिए। इसके साथ-ही-साथ कवियो को प्रेम तथा लालसा इत्यादि विषयों से दूर रहने की चेतावनी दी गई और प्राचीन देवी-देवताओ के राग-द्वेष की कहानियों को भी काव्य-क्षेत्र से अलग रखने का आदेश दिया गया।

नाटकीय आलोचना

इस युग के अन्तिम चरण में सबसे पहले साधारणतः नाटक के आलोचनात्मक तत्त्वों पर मौलिक रूप में विचार होना चाहिए था, क्योंकि समाज में इस समय नाटकप्रियता बहुत बढ चली थी और अनेक धार्मिक विषयों पर नाटक लिखे और खेले जा रहे थे। लैटिन तथा यूनानी साहित्य से प्रभावित अनेक ऐसे नाटकों की रचना भी हो रही थी जो अँग्रेजी रंगमंच पर अत्यन्त लोकप्रिय प्रमाणित हो रहे थे। इतना होते हुए भी इस युग में हमे नाटक-रचना-सिद्धान्तों पर कोई विशिष्ट पुस्तक नहीं मिलती और न कोई प्रामाणिक शैली ही प्रयुक्त होते दिखाई देती है। केवल स्फुट रूप में ही सिद्धान्तो के यदा-कदा दर्शन हो जाते हैं। इस साहित्यिक न्यूनता के कई कारण हो सकते हैं जिनमे प्रमुख कारण है प्राचीन आलोचनात्मक पुस्तकों की ओर अरुचि तथा प्युरिटन-वर्ग का तीव्र विरोध[1]। यद्यपि राजमहिषी तथा समाज का श्रेष्ठ वर्ग नाटक-प्रेमी था और कुछ श्रेष्ठ व्यक्तियों तथा दरबारियों ने अपनी निजी रंगशालाएँ खोल रखी थीं परन्तु प्युरिटन वर्ग का विरोध जोरो पर था और अनेक

१. देखिए—'अँग्रेजी साहित्य का इतिहास'

पुस्तकें लिख-लिखकर वे लोग नाटककारों, नाट्यकारों तथा इस व्यवसाय से सम्बन्धित सभी व्यक्तियों को अनैतिक तथा शैतान का अनुयायी प्रमाणित कर रहे थे। जो कुछ भी आलोचनात्मक विचार प्राप्त हैं वे पत्रों, भूमिकाओं, प्रस्तावना तथा नाटकों में पात्रों के संवाद रूप में ही मिलते हैं, जिससे यह स्पष्टतया प्रमाणित हो जाता है कि नाटक-रचना-क्षेत्र में बहुत अस्तव्यस्तता फैली हुई थी, प्रयोगात्मक सिद्धान्त बन रहे थे, विरोधी दल तथा समर्थकों मे होड चल रही थी और नाटकप्रियता बढती जाती थी। कुछ आलोचक यूनानी तथा रोमीय नाटककारों के नाटकों का अनुकरण हितकर समझ रहे थे; कुछ मिश्रितांकी[१] की कटु आलोचना कर रहे थे; कुछ उसका समर्थन मनोवैज्ञानिक तथा फलप्रद विभिन्नता के आधार पर कर रहे थे; कुछ व्यक्ति प्राचीन आलोचकों के देश, काल तथा कार्य के नियमों की अवहेलना हितकर समझ रहे थे और कुछ उन्हीं नियमों के समर्थन मे लगे हुए थे। दो एक लेखक दुःखान्तकी तथा सुखान्तकी की परिभाषा बनाने मे प्रयत्नशील हुए और रोमीय नाटककारों की परिभाषा को अपनाया। दुःखान्तकी भव्य शैली मे श्रेष्ठ व्यक्तियों के पतन की दुःखपूर्ण कहानी-मात्र थी और सुखान्तकी साधारण कार्यों का अनुकरण-मात्र। सुखान्तकी में न तो गम्भीर भावनाएँ रहेंगी और न गम्भीर पात्र। हृदयहीन पिता, मूर्ख माता, उच्छृङ्खल युवक, धूर्त सेवक, पाखण्डी, लोलुप वेश्याएँ इत्यादि ही उसमें पात्र-रूप रहेंगे। दुःखान्तकी तथा सुखान्तकी दोनों ही सामाजिक दृष्टि से उपयोगी हैं।

नाटकों के विरोधी दल तथा समर्थकों ने जो-जो विचार अपने पक्ष मे रखे वे भी विचारणीय हैं। विरोधी वर्ग ने नाटक को अनैतिकता-प्रसार का प्रमुख साधन माना, क्योंकि दुःखान्तकी में केवल अमानुषिक हत्याएँ और देवी-देवताओं के द्वेष तथा वैमनस्य की कहानी रहा करती थी और सुखान्तकी में अनैतिक प्रेम अथवा लालसा का उच्छृङ्खल प्रदर्शन-मात्र रहता था और उनका हास्य भी प्रलाप-मात्र था। उनका चरित्र-चित्रण निष्प्राण तथा उनका उद्देश्य निकृष्ट रहा करता था। दोनों की विषय-वस्तु में अस्वाभाविक घटनाएँ तथा तर्कहीन संवाद की प्रचुरता थी। उनका जीवन से कोई भी सम्बन्ध नहीं था और राक्षसों तथा परियों के आधार पर ही विषय-वस्तु निर्मित रहती थी। मिश्रितांकी भी जीवन का विषम चित्र प्रस्तुत करती और दो विरोधी भावों के मिश्रण से दोनों मे प्रभावोत्पादकता न आ पाती थी। परन्तु समर्थकों ने बतलाया कि नाटक प्राचीन काल से ही लिखे और खेले जा रहे हैं, उनका

१. देखिए—'नाटक की परख'

अध्ययन विश्वविद्यालयों के शिक्षाक्रम में अनिवार्य रूप में रहा है, उनके द्वारा जनता में राष्ट्रीयता का प्रचार समीचीन रूप मे होता रहा और उन्हीं की सहायता से सुधारको ने नैतिकता का प्रसार सफल रूप में किया है।

इसमें सन्देह नहीं कि विरोधी दल ने नाटक के विरोध में जो-जो विचार प्रकट किए उनमे थोडी-बहुत सत्यता अवश्य थी। तत्कालीन नाटकों मे अनेक बुराइयाँ थीं : उनका विषय अस्वाभाविक था, उनकी शैली कृत्रिम थी और उनमे भाव-प्रदर्शन भी निम्न कोटि का था। दुःखान्तकी में अनर्थक, बड़े-बडे शब्दों का प्रयोग तथा आडम्बरपूर्ण भाषा मे संवाद-मात्र रहा करता था। घटनाएँ नितान्त अस्वाभाविक और कृत्रिम होती थीं और कोई भी दृश्य न तो तर्क-संगत होता न बुद्धि संगत। जीवन और समाज से उनका कोई विशेष सम्बन्ध न था।

नाटक-रचना-विचार—सुखान्तकी

नाटक-क्षेत्र में इस विषमता का प्रधान कारण यह था कि इस काल के नाटककार केवल अभ्यास कर रहे थे और जनता की रुचि को समझने, उसे व्यक्त करने तथा अपने को लोकप्रिय बनाने के साधनो का अनुसन्धान कर रहे थे। इसीलिए इस काल मे हमें कोई नाटक-रचना की नियमबद्ध प्रणाली नही मिलती और जो कुछ भी आलोचनात्मक विचार हैं वे स्फुट और प्रस्तावना इत्यादि के रूप मे मिलते हैं। कुछ श्रेष्ठ लेखकों ने सुखान्तकी, दुःखान्तकी तथा मिश्रितांकी पर अपने विचार मौलिक रूप मे प्रकट किए और उनके विशेष तत्त्वों की ओर लेखकों का ध्यान आकर्षित किया। सुखान्तकी का उद्देश्य मानसिक आनन्द-प्रदान माना गया और उसके द्वारा केवल मृदु मुस्कान का ही आविर्भाव होना चाहिए था, अट्टहास का नहीं। जो लेखक दुःखान्तकी, सुखान्तकी, ऐतिहासिक नाटक, ग्राम्य-जीवन से सम्बन्धित नाटको की विषय-वस्तु मिश्रित करके नवीन नाटक लिखने का प्रयत्न कर रहे थे उन्हे चेतावनी दी गई और उनके कार्य की भर्त्सना की गई। सुखान्तकी के संवाद में ऐसी आनन्ददायी तथा हास्यपूर्ण भाषा का प्रयोग स्तुत्य माना गया जो विचारशील हास्य प्रस्तुत करे। कोरे प्रहसनात्मक हास्य की निन्दा भी की गई। इस सम्बन्ध में वस्तुतः यह नियम मान्य हुआ कि सुखान्तकी में सभी ऐसे कल्पनात्मक विषयों का सहारा लिया जा सकता है जिनके द्वारा विचारशील हास्य प्रस्तुत हो। दर्शक-वर्ग की रुचि तथा शिक्षा का विशेष ध्यान रखकर नाटक-रचना का आदेश दिया गया, क्योंकि बिना इसका विचार किये हुए नाटककार सफल नाटक-रचना नहीं कर सकेगा। नाटक की सफलता

विशेषतः पढ़ने में ही नहीं प्रमाणित होती, उसकी सफलता तो रंगमंच पर ही प्रमाणित होगी। इसलिए दर्शक-वर्ग ही वास्तव में उसकी सफलता का निर्णायक होगा और यदि उनकी रुचि के विरुद्ध रचना हुई तो वे लोकप्रिय तो किसी भी दृष्टि से नहीं हो सकते। यद्यपि सभी देशों के नाटककार श्रोतावर्ग की रुचि, उनकी अशिक्षा, उनकी हृदयहीनता की आलोचना करते आए हैं, परन्तु उनका ध्यान सभी सफल नाटककारों ने रखा है। कदाचित् इस शती में दर्शक-वर्ग सम्बन्धी उपर्युक्त नियम अंग्रेजी आलोचना-सिद्धान्त में पहले-पहल दृष्टिगोचर होता है।

दुःखान्तकी

दुःखान्तकी में मृत्यु की क्रूरता द्वारा शोक-प्रसार कुछ एक आलोचकों ने ही श्रेष्ठ माना। उसके लिए साधारण विषय-वस्तु उपयोगी नहीं समझी गई। केवल वे ही भव्य विषय, जो हमारी आत्मा को प्रभावित करें और अश्रुधारा अविरल गति से प्रवाहित करा दें, उपयोगी सिद्ध होंगे। श्रेष्ठ नाटककारों को दुःखान्तकी द्वारा जनता को धर्माचरण में अनुरक्त कराना चाहिए और राजा-महाराजाओं को लालसा तथा उच्चाकांक्षाओं को संयत रखने की शिक्षा प्रदान करनी चाहिए। ऐतिहासिक नाटकों द्वारा राष्ट्रीयता के आदर्श प्रसारित करना प्रशस्त हुआ और सभी वर्गों के नाटकों में ऐसे कल्पनात्मक स्थलों को अपनाने का आदेश मिला जो लोकप्रिय और रोमांचक थे। नाटककार को कवि के गुणों से विभूषित किया गया और उसे प्रकृति तथा कल्पना-क्षेत्र से अपनी विषय-वस्तु को संजोने तथा आकर्षक और उपयोगी बनाने की पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी गई। ऐतिहासिक नाटककार को भी यह स्वतन्त्रता भेंट की गई।

नाटक-रचना के नियम—देश-काल-विचार

यद्यपि इसी काल में शेक्सपियर-जैसे महान् नाटककार के नाटकों की रचना हुई और वे शीघ्र ही लोकप्रिय हुए, परन्तु फिर भी नियमबद्ध नाटक-रचना-प्रणाली के दर्शन नहीं होते। शेक्सपियर ने भी अपनी कला पर स्पष्ट रूप से विचार नहीं किया और न प्रयुक्त तत्त्वों को ही स्पष्ट किया[1]। जिन-जिन नाटकीय तत्त्वों का प्रयोग उन्होंने अपने नाटकों में किया उनकी भी कोई अलग सूची नहीं मिलती। केवल नाटकों के पठन-पाठन द्वारा जो तत्त्व आलोचकों को स्पष्ट होते गए उनका लेखा रखा जाने लगा। परन्तु शेक्सपियर ने अपने पात्रों के संवाद में अनेक नाटकीय तत्त्वों की ओर स्पष्ट रूप में संकेत किया है, जिसके द्वारा हम नाटक-

१. देखिए—'नाटक की परख'

कार के सिद्धान्तो की थोड़ी-बहुत स्पष्ट रूपरेखा बना सकते हैं। पहले-पहल जिस सिद्धान्त का प्रमाण मिलता है वह विषय-वस्तु के संकलन के सम्बन्ध में है। विषय वे ही होने चाहिएँ जो मनोवैज्ञानिक रूप से दर्शकों को प्रिय हो। यूनानी तथा रोमीय नाटको से भी जो स्थल चुने जायँ उनमें यथास्थान ऐसा परिवर्तन कर लिया जाय जो देश-काल की रुचि के अनुकूल हो और जो देश के रंगमंच पर लोकप्रिय हो सकें। यह नियम अक्षरशः माना गया और जो भी रोमीय अथवा यूनानी विषय-स्थल चुने गए उनको अंग्रेजी वातावरण मे रखकर उन पर अंग्रेजी समाज का आवरण डाल दिया गया।

भाषा नाटक की भाषा के सम्बन्ध में भी विचारणीय नियम बने। शाब्दिक वितण्डावाद, शब्दाडम्बर, रोमीय भाषा के मुहावरो का अत्यधिक प्रयोग, कृत्रिम तथा अस्वाभाविक शैली, नये तथा अप्रचलित शब्द-प्रयोग, सब पर प्रतिबन्ध लगाया गया। अत्यधिक अलंकृत शैली भी हास्यास्पद मानी गई। नाटक मे विभिन्न विषयों का अनर्थक मिश्रण भी हेय समझा गया। कला तथा प्रकृति का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित प्रमाणित हुआ; वास्तव में कला प्रकृति से ही आविर्भूत मानी गई और कवि को यथार्थ का परिवर्तन कर कल्पनात्मक सत्यों के निरूपण की स्वतन्त्रता दी गई।

विदूषक तथा अन्य पात्र नाटकों में विदूषक के स्थान तथा उसके चरित्र पर व्यापक रूप मे विचार किया गया। तत्कालीन नाटकों के विदूषक बिना औचित्य का ध्यान रखे समय-समय पर पात्रों से उलझ पड़ते थे और हास्य प्रस्तुत करने के लिए इधर उधर का संवाद आरम्भ कर देते थे, जिससे यद्यपि दर्शको का मनोरंजन तो होता था परन्तु नाटक की विचारधारा का तारतम्य टूट जाता था और अभीष्ट सिद्धि मे कठिनाई होने लगती थी। अब यह नियम मान्य हुआ कि विदूषक में सुबुद्धि तथा सुरुचि अत्यन्त आवश्यक है; बिना सुबुद्धि तथा सुरुचि के वह श्रेष्ठ कोटि का हास्य नहीं प्रस्तुत कर सकता। विदूषक को पात्र-विशेष का, जिससे वह संवाद करना चाहता है, चरित्र पहचानना चाहिए; अपनी सुबुद्धि से उसकी चित्तवृत्ति तथा स्वभाव को भी पूर्ण रूप से समझना चाहिए और समय तथा परिस्थिति का समुचित विचार करने के पश्चात् हास्य-पूर्ण संवाद करना चाहिए। अनुचित तथा परिस्थिति के प्रतिकूल हास्य निम्न कोटि का हास्य होगा; उससे केवल कुरुचिपूर्ण तथा बुद्धिहीन व्यक्तियो का ही मनोरंजन हो सकेगा।

पात्रों को रंगस्थल पर स्वाभाविक रूप में अपने भावों तथा विचारों का प्रदर्शन करना श्रेयस्कर होगा। अनर्थक शारीरिक संकेत तथा विचारहीन भाव-भंगी न तो फलप्रद होगी और न उसमें नाटकीय तत्त्व ही होंगे। शब्दाडम्बर-पूर्ण संवाद तथा कृत्रिम भावोद्रेक द्वारा उछल-कूद कभी भी हितकर नहीं होगी। संयत शैली में सयत भाव-प्रदर्शन ही प्रभावपूर्ण होगा। नाटकों में निम्न कोटि के दर्शकों का मनोरंजन होना तो अवश्य चाहिए परन्तु उसमे कुरुचि को मात्रा नहीं होनी चाहिए। मनोरंजन जितना ही स्वाभाविक तथा सुरुचिपूर्ण होगा उतना ही आकर्षक रहेगा। इस सम्बन्ध में दर्शकों पर भी बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। दर्शक-वृन्द को अपना कल्पनात्मक सहयोग नाटक-कार को सहर्ष प्रदान करना चाहिए, क्योंकि बिना इसके दर्शक-वृन्द नाटककार के नाटक का न तो उद्देश्य समझ पायँगे और न उसका अर्थ। इसका कारण यह है कि नाटक जब रंगमंच पर प्रस्तुत होता है तो बहुत सी बातें केवल संकेत रूप मे ही प्रस्तुत की जाती हैं और यदि दर्शक-वृन्द उन संकेतों को अपनी कल्पना द्वारा नहीं समझ लेता तो नाटक का प्रभाव अधूरा ही रह जायगा।

नाटक के लक्ष्य के विषय में यह विचार मान्य हुआ कि उसका ध्येय प्रकृति का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करना है। नाटक देश, काल की आत्मा को पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित कर युग-चित्र प्रस्तुत कर देना है। उसका ध्येय केवल शिक्षा-प्रदान नहीं, उसका प्रमुख ध्येय है जीवन की गहरी छाया प्रस्तुत करना और मानव की महत्ता घोषित करना।

काव्य तथा संगीत

काव्य तथा संगीत के सम्बन्ध में जो विचार प्रस्तुत किये गए वे भी विचारणीय हैं। काव्य कल्पना द्वारा प्रसूत है और दैवी प्रेरणा ही उसका उद्गम-स्थान है। उसके द्वारा सत्य तथा सुन्दरम् की काल्पनिक अनुभूति प्रस्तुत की जा सकती है। संगीत में भी दैवी गुण है; उसके द्वारा मनुष्य अपने चरित्र तथा स्वभाव का परिष्कार कर लेगा और सभ्यता की ओर अग्रसर होगा। मानव की आत्मा में एक दैवी संगीत स्वतः स्वरित होता रहता है और उसका पार्थिव शरीर उस स्वर्गीय संगीत को समझने में बाधक होता है। परन्तु मनुष्य अपनी कल्पना द्वारा विश्व-संगीत की स्वरलहरियों को स्पष्ट रूप से सुन सकता है।

अन्यान्य विचार

शेक्सपियर के समकालीन कवियों तथा नाटककारों ने भी आलोचनात्मक अनुसन्धान किया और काव्य तथा उसके उद्देश्य, सुखान्तकी तथा उसके ध्येय और दुःखान्तकी तथा उसके लक्ष्य की व्याख्या की। काव्य में वास्तव में दैवी

तथा ईश्वरीय क्षमता है; उसका प्रभाव अक्षय है; पृथ्वी पर वह मानव के लिए वरदान-स्वरूप ही है। कवि का प्रधान ध्येय नैतिक शिक्षा प्रदान करना है और श्रेष्ठ काव्य वही है जो जीवन के श्रेष्ठ स्तर की ओर संकेत करे, युवकों को धर्माचरण में लवलीन करे और प्रकृति के रहस्यों को स्पष्ट करे। दैवी तथा मानवी सत्यों का स्पष्टीकरण भी उसका प्रधान लक्षण है।

सुखान्तकी के सम्बन्ध में यह सर्वसम्मत हुआ कि उसे जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करना चाहिए और समाज के साधारण मनुष्यो के चरित्र के दोषो को प्रदर्शित करना चाहिए। सुखान्तकी-नाटककार को यथार्थ जीवन से विमुख नहीं होना चाहिए वरन् उसे समाज, देश तथा काल का सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करना चाहिए। पात्र, कार्य, भाषा, सबमें यथार्थ जीवन का चित्र मिलना चाहिए। जो नाटककार रोमांचक दृश्यो द्वारा प्रभावोत्पादकता लाने का प्रयत्न करते हैं वे नाटक-शैली को दूषित करते हैं। सुखान्तकी का मूलाधार चरित्र-दोष है और ये दोष मनुष्य के सहज स्वभाव तथा अनेक शारीरिक तत्वों द्वारा आविर्भूत होते हैं। मानव-शरीर के प्रधान तत्त्व हैं वात, कफ, रक्त, पित्त; और इन्हीं के आधिक्य द्वारा मनुष्य के चरित्र में दोष आने लगते हैं। जब मनुष्य के शरीर में इन चारो तत्त्वो का समुचित सन्तुलन रहता है तो मनुष्य निर्दोष रहता है, मगर जहाँ कही भी किसी एक तत्त्व का आधिक्य हुआ दोष प्रकट होने लगते हैं। इन्ही दोषों का शमन हास्य द्वारा सुखान्तकी प्रस्तुत करती है, परन्तु यह हास्य वास्तव मे आन्तरिक अथवा मानसिक होता है। दुःखान्तकी मे श्रेष्ठ पात्र-वर्ग, भव्य सवाद-शैली, औचित्यपूर्ण कथोपकथन तथा शिक्षा-प्रदान के नियम मान्य हुए और प्राचीन यूनानी नाटककारो के देश, काल तथा कार्य के समन्वय के नाटकीय नियमो की अवहेलना अंग्रेजी वातावरण में क्षम्य समझी गई।

: ६ :

साहित्यिक नवोत्साह

सत्रहवी शती के प्रथम चरण में आलोचना क्षेत्र मे अनेक सामाजिक तथा राजनीतिक कारणों से नव-स्फूर्ति के दर्शन हुए। समस्त अंग्रेजी समाज मे ज्ञानार्जन की लहर सी फैल रही थी। यद्यपि धर्म तथा राजनीति-विषयक चर्चा ही जोरो पर थी और धर्म-ग्रन्थ-रचयिता ही प्रभावशाली थे, फिर भी साहित्य-क्षेत्र में अनेक लेखक और चिन्तनशील व्यक्तियो को सम्मान मिल रहा था। देश मे अनेक पाठशालाएँ तथा विद्यालय खुल रहे थे, जिनमें व्याकरण इत्यादि की प्रारम्भिक शिक्षा दी जा रही थी और विद्या का प्रसार हो रहा था।

अनेक पुस्तकालय भी खुल रहे थे, जिनमे प्राचीन यूनानी तथा रोमीय ग्रंथ संग्रहीत किये जा रहे थे और अनेक साहित्यिक संस्थाएँ प्राचीन साहित्यिक ग्रंथों के प्रति अनुरक्त हो उनकी लोकप्रियता बढा रही थीं। इंगलिस्तान के नरेश प्रथम जेम्स ने भी इस ओर अपना सहयोग प्रदान किया और लेखकों को प्रोत्साहन मिला। इन्हीं कारणों से देश में विद्या-प्रसार हुआ और साहित्य-क्षेत्र में नवजीवन आया।

काव्य की व्याख्या

काव्य, भाषण-शास्त्र, इतिहास-रचना, अनुवाद-कला तथा निर्णयात्मक आलोचना-शैली पर अनेक लेखको ने अपना-अपना मत प्रकट किया और आलोचना-साहित्य की वृद्धि की। काव्य की व्याख्या करते हुए एक आलोचक ने यह मत स्थिर किया कि काव्य मे दो कलाएँ निहित हैं—विचार-क्रम तथा उनकी अभिव्यक्ति; और दोनों के नियम अलग-अलग हैं। यद्यपि काव्य का प्रमुख सम्बन्ध मनुष्य की कल्पना-शक्ति से है फिर भी तर्क उसका सहयोगी रहेगा। मनुष्य की इन्द्रियाँ अपने अनुभव कल्पना को भेंट किया करती हैं; कल्पना उनका यथार्थ रूप परिवर्तित कर उन्हे नवीन तथा आकर्षक रूप देती है और प्रकृति की वस्तुओं में मनोनुकूल सम्बन्ध अथवा विच्छेद प्रस्तुत कर आनन्ददायी चित्र अथवा विचार प्रस्तुत किया करती है। साधारणतः काव्य का उद्देश्य मानसिक सन्तोष प्रदान करना है। प्रकृति तथा जीवन मे अनेक वस्तुएँ ऐसी हैं जो मनुष्य परिवर्तित तथा आनन्ददायक रूप में देखना चाहता है—वह आदर्श संसार की झलक चाहता है; वह चाहता है अच्छे बुरे का स्पष्ट रूप देखना, श्रेष्ठ तथा वीर काव्यों की सफलता देखना, सत्य की विजय तथा असत्य का पतन देखना; संक्षेप मे वह ऐसे जीवन का चित्र खींचना चाहता है, जो सर्वांगीण हो, आदर्श हो और यथार्थ जीवन की न्यूनताओं को पूर्ण करता रहे। काव्य-कला नैतिकता तथा सदाचार, औदार्य तथा आनन्द की भावनाओ का प्रसार करती है और जीवन का स्तर उच्च बनाने का प्रयत्न करती है। वास्तव में काव्य केवल कल्पना का खेल है। कुछ दूसरे आलोचको ने काव्य का मुख्य आदर्श ईश्वर का गुणानुवाद और उसका मूल स्रोत ईश्वरीय प्रेरणा माना। काव्य को ज्ञान का अक्षय भण्डार प्रमाणित किया गया और उसके द्वारा जीवन के महत् सत्यों का निरूपण श्रेष्ठ कार्य समझा गया। काव्य रूपक रूप मे श्रेष्ठ तथा अनिर्वचनीय ज्ञानानन्द प्रस्तुत करता है। उसके द्वारा गुप्त रूप मे धार्मिक तथा राजनीतिक शिक्षा भी दी जा सकती है। अन्य आलोचकों ने कवि को दैवी प्रेम से वशीभूत माना। पार्थिव जीवन का सहारा लिये हुए आदर्श तथा दैवी

जीवन की ओर संकेत करना कवि का प्रमुख धर्म होगा। पार्थिव सौन्दर्य में दैवी सौन्दर्य के संकेत स्वभावतः छिपे रहते हैं और काव्य उनके स्पष्टीकरण द्वारा हमें उनके समीप ले आता है। परन्तु कवि के लिए यह तभी सम्भव होगा जब वह पार्थिव जगत् से अपना मुँह मोड़ ले और इस विरक्तावस्था मे दैवी जीवन को परखने में दत्तचित्त हो। इस काव्य-सिद्धान्त का प्रभाव इस युग के अनेक कवियों पर गहरे रूप मे पड़ा और अनेक कवियों ने बादलों की स्वर्णिम आभा में, पर्वतीय कन्दराओं तथा विशाल निर्झरों में अनन्त की छाया देखी और स्वरचित काव्य में प्रकृति में निहित ईश्वरीय तत्त्वों की झाँकी दिखाई। काव्य तथा संगीत का सम्बन्ध भी मान्य हुआ और संगीत काव्य का महत्त्व-पूर्ण तत्त्व समझा गया। उसकी महत्ता दर्शन से भी अधिक समझी गई, क्योंकि उसके द्वारा भावों की अभिव्यक्ति सरस तथा प्रभावपूर्ण रूप मे हो सकती थी। काव्य में तुक की भी आवश्यकता प्रमाणित हुई, क्योंकि सभी श्रेष्ठ कवियों ने तुकपूर्ण काव्य की रचना की थी। श्रेष्ठ काव्य के लिए श्रेष्ठ कल्पनापूर्ण विषय, स्वाभाविक शैली, विलक्षण परन्तु संयत अलंकार-प्रयोग, प्रचलित शब्दावली से सम्बन्धित पुराने नियम पुनः दुहराये गए।

काव्य का वर्गीकरण

काव्य का वर्गीकरण भी तर्कसंगत रूप में हुआ। महाकाव्य अथवा वर्णनात्मक काव्य में वीर-गाथा तथा प्रेम-सम्बन्धी विषयों की प्रधानता मानी गई, नाट-कीय अथवा दृश्य-काव्य में प्राचीन वीर-कार्यों की गणना हुई तथा रूपक में सांकेतिक रूप में आदर्श-सिद्धान्त-निरूपण मान्य हुआ। व्यंग्य-काव्य तथा शोक-गीत इत्यादि का वर्गीकरण नहीं हुआ, क्योंकि ये मनुष्य के आन्तरिक जीवन से सम्बन्धित थे और उनकी गणना दर्शन अथवा भाषण-शास्त्र के अन्तर्गत होनी चाहिए थी। वस्तुतः महाकाव्य को ही महत्त्व प्रदान किया गया, क्योंकि उसके द्वारा मानव की श्रेष्ठता प्रसारित होती है और नैतिकता, औदार्य तथा आनन्द का आविर्भाव होता है। परन्तु रूपक का महत्त्व भी कम नहीं, क्योंकि उसके द्वारा तर्क तथा कल्पना के माध्यम से मानवी तथा दैवी गुणों का निरूपण होगा। महाकाव्य लेखक को कल्पनात्मक विषय चुनने को पूर्ण सुविधा दी गई, क्योंकि वह सत्य के आधार पर नहीं वरन् अपनी कल्पना द्वारा ही आदर्श वीर का निर्माण कर सकेगा।

भाषण-कला का विवेचन

भाषण-शास्त्र के दोषों के विश्लेषण के उपरान्त यह नियम सर्वसम्मत हुआ कि केवल सुन्दर अथवा भव्य शब्द-योजना अथवा प्राचीन ग्रन्थों मे सुन्दर शब्द-

संकलन द्वारा ही श्रेष्ठ शैली का निर्माण नहीं हो सकेगा, और जो वागीश विषय को महत्ता न देकर केवल शब्द और शैली को ही सराहते हैं भूल करते हैं और उनकी वक्तृता कभी भी प्रभावपूर्ण नहीं हो सकती। ठोस विषय ही भाषण-कला का आधार हो सकता है। भाषण-शास्त्र के महत्त्व पर विचार करते हुए आलोचकों ने यह मत स्थिर किया कि सामाजिक तथा राजनीतिक और दर्शन के क्षेत्र में ही उसकी महत्ता अत्यधिक रहेगी। इसके द्वारा जनता का मत-परिवर्तन अथवा प्रबोध और दार्शनिक तत्त्वों का स्पष्टीकरण सफल रूप में हो सकता है; और इसी उद्देश्य-पूर्ति में भाषण-शास्त्र प्राचीन काल से ही संलग्न रहा है। परन्तु वक्ता के लिए शास्त्र-ज्ञान अत्यावश्यक है और उसी के चिन्तन और मनन द्वारा वक्तृता की श्रेष्ठ शैली का निर्माण हो सकेगा। अफलातूं ऐसे महान् आलोचक ने जब भाषण-शास्त्र की निन्दा की और उसे निकृष्ट प्रमाणित करने की चेष्टा की, तो भाषण-शास्त्र के प्रति अन्याय किया, क्योंकि तत्कालीन वागीशों के दोषों ने उन्हें क्रुद्ध किया था और वे पथभ्रष्ट हो गए थे। भाषण-शास्त्र का प्रमुख लक्ष्य प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति है। उसके साहचर्य से भावों की अभिव्यक्ति में एक विचित्र आकर्षण आ जाता है। जो सम्बन्ध तर्क का बुद्धि से है वही सम्बन्ध भाषण-शास्त्र का कल्पना से है; और वह तर्क तथा कल्पना के सहयोग द्वारा मनुष्य की इच्छा शक्ति को प्रेरित करने का प्रयास करता है। वास्तव मे यह देखा गया है कि साधारणतः मनुष्य केवल कोरे तर्क से न तो प्रभावित होता है और न प्रेरित; तर्क उसके भाव-संसार को नही छू पाता। इसलिए भाषण-शास्त्र का निर्माण हुआ जिससे मनुष्य का जटिल भाव-संसार भी तरंगित हो उठे और वह वांछित कार्य दूने उत्साह से कर सके। यह कहना भ्रामक है कि भाषण-शास्त्र केवल सुन्दर तथा आकर्षक भाषा द्वारा असत्य-भाषण करने अथवा विचारों में वैषम्य लाने का सरल साधन मात्र है। भाषण-कला भी श्रेष्ठ कला है और श्रोतावर्ग के मानसिक स्तर के अनुसार बुद्धिपूर्वक वह अपनी रूप-रेखा तथा अपना कलेवर बदलती रहती है। वक्ता-वर्ग को यह चेतावनी भी दी गई कि शब्द-प्रयोग मे सतर्कता अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि शब्दों के शिथिल प्रयोग से शैली मे दुरूहता आ जायगी। साधारण शब्द-प्रयोग में भी यह कठिनाई रहती है कि उनका अर्थ सर्वसम्मत नहीं रहता और अनेक शब्द तो ऐसे हैं जिनसे विवादग्रस्त विषयों के प्रतिपादन में भ्रामक अर्थ निकलने लगता है। इस ओर भी श्रेष्ठ वागीश को ध्यान देना चाहिए। इस सम्बन्ध मे यह भी कहा गया कि यद्यपि वक्तृता मे कला की आवश्यकता पड़ती है परन्तु ऐसी कला की नही जो कृत्रिम अथवा अस्वाभाविक रूप मे प्रयुक्त हो।

विचारों की अभिव्यक्ति में श्रम तथा बनावट का आभास ही मिलना चाहिए; स्वाभाविकता तथा स्पष्टता उसका प्रधान उपकरण है।

साहित्य-चिन्तन

इस काल में साहित्य के मूल्य तथा उसके परम्परानुगत प्रभावों का भी विश्लेषण हुआ। साहित्य मानव अनुभूतियों का अमर कोष है। उसमें निहित विचारों मे सभी युगों के मानव-समाज को श्रेष्ठ कार्य करने तथा श्रेष्ठ जीवन की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा मिली है। साहित्य मनुष्य के विशाल अनुभव-सागर के पोत-समान है; वह अपनी ज्योति से अतीत के ज्ञानालोक को सतत प्रकाशित किया करता है। अतः समीक्षकों तथा व्याख्या करने वाले पंडितों को प्राचीन पुस्तकों की ऐसी संक्षिप्त समालोचना पाठक-वर्ग को देनी चाहिए जो उनमें साहित्यिक रुचि पैदा करे और जिसके द्वारा मूल का पठन-पाठन सरल हो जाय। समीक्षको को मूल की व्याख्या देशकाल का सम्पूर्ण ध्यान रखकर करनी चाहिए, क्योंकि उसी के द्वारा मूल के अनेक दुरूह स्थल स्पष्ट हो सकेंगे। समालोचना तथा व्याख्या की इस प्रणाली का अनुसरण आगामी काल में अभूतपूर्व रूप में हुआ। ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली का यही मूल-मन्त्र भी था। लेखकों द्वारा साहित्यिक संरक्षक ढूँढने की प्रचलित प्रथा और पुस्तकों को अभिजात वर्ग के व्यक्तियो के नाम समर्पित करने की प्रवृत्ति की कटु आलोचना की गई, क्योंकि इसके द्वारा लेखको का आत्मिक पतन तथा उनकी हीनता प्रमाणित होती है। इस साहित्यिक प्रवृत्ति की भर्त्सना इसलिए और भी हुई कि इसके द्वारा निकम्मे परन्तु धनवान् व्यक्तियों को प्रतिष्ठा मिलने लगी। पुस्तकों के मूल्य के दो ही श्रेष्ठ निर्णायक होंगे— सत्य तथा सुबुद्धि। यदि लेखको की पुस्तको में सत्य का सुबुद्धिपूर्ण प्रदर्शन है तो उन्हें संरक्षको की आवश्यकता ही क्या? अठारहवीं शती के अंग्रेजी साहित्य-संसार मे इस प्रथा की पराकाष्ठा पहुँच गई थी और इसका प्रतिकार उस शती के महान् साहित्यज्ञ डाक्टर जानसन ने बहुत सफलतापूर्वक किया और लेखक-वर्ग के मर्यादा की रक्षा की।

गद्य-साहित्य के वर्गीकरण मे लेख को भी विशिष्ट स्थान मिला। इसके मूल प्रचारक रोमीय लेखक सेनेका ही प्रमाणित हुए और लेख को 'विच्छिन्न चिन्तन' कहा गया।

इतिहास-रचना

इतिहास-रचना सिद्धान्तो पर भी विशिष्ट विचार प्रस्तुत किये गए। साधारणतः यह देखा जा रहा था कि इतिहास-लेखक न तो इतिहास के तत्त्वो को

परख सकते थे और न उनकी व्यंजना ही सफल रूप में कर सकते थे। तत्कालीन लेखक अपनी इतिहास-रचना मे कल्पना तथा लोक-रुचि को इतना अधिक स्थान दे दिया करते थे कि ऐतिहासिक सत्यों के दर्शन न हो पाते थे। कल्पनात्मक तत्त्वो के प्राधान्य से ऐतिहासिक दृष्टिकोण भी विकृत हो जाता था। पहले-पहल लेखकों ने इतिहास की महत्ता स्थापित करने हेतु प्राचीन लेखको के विचारो को उद्घोषित किया। रोमीय वागीशो ने इतिहास को सत्य तथा जीवन का आलोक प्रमाणित किया था। इतिहास की उपादेयता सर्वत्र तथा सर्वकाल में विदित भी थी। उनका प्रधान लक्ष्य समाज को शिक्षा प्रदान करना तथा निश्चेष्ट व्यक्तियों को क्रियाशील बनाना था। इतिहास भी एक प्रकार का दर्शन शास्त्र है जो उदाहरणों के प्रयोग से अभीष्ट-सिद्धि करता है। श्रेष्ठ इतिहासकार को निष्पक्ष रूप से कार्य तथा कारण का सम्बन्ध स्थापित कर घटनाओं का वर्णन देना चाहिए। उसे असत्य भाषण से बचना चाहिए और अपनी आत्मा को कभी असत्य से प्रेरित नहीं होने देना चाहिए। उन्हें प्रचलित रुचि से विमुख हो सत्य का विवेचन करना चाहिए। कुछ पुराने इतिहासकार, कुछ जातियों को विशेष देवी-देवताओं से उद्भूत समझने लगते हैं; ऐसी धारणाएँ तर्कहीन तथा अनुपयोगी होंगी। इतिहास-रचना को कुछ लेखक केवल घटनाओं का संकलन समझते हैं; यह विचार भी दूषित है। लेखकों को कार्य कारण का सम्बन्ध स्पष्ट करना चाहिए और अपनी निर्णयात्मक सुबुद्धि का समुचित प्रयोग करना चाहिए। इतिहासकार के लिए विशिष्ट शैली का प्रयोग भी वांछित है, परन्तु सुन्दर तथा भव्य शैली ही श्रेष्ठ इतिहास का निर्माण नहीं कर सकेगी, वह केवल सत्यनिरूपण को अधिक ग्राह्य तथा आकर्षक बनाएगी। शैली में प्रचलित भाषा तथा मुहावरों का प्रयोग फलप्रद होगा।

अनुवाद-सिद्धान्त

अनुवाद की कला के सम्बन्ध मे जो विचार प्रकाशित हुए महत्त्वपूर्ण थे। लेखको को स्वतन्त्र रूप से अनुवाद करने का आदेश दिया गया, क्योंकि केवल शाब्दिक अनुवाद न तो प्रभावपूर्ण होता था और न आकर्षक। इससे न तो मूल की सुन्दरता ही सुरक्षित होगी और न उसकी आत्मा का ही समुचित प्रकाश हो पायगा। इसका कारण यह है कि प्रत्येक भाषा की आत्मा, उसकी शैली तथा उसके मुहावरे विभिन्न होते है और यदि अनुवादक शाब्दिक अनुवाद करने लगता है तो अपनी और मूल की भाषा के प्रति अन्याय करता है। अनुवाद की वही शैली श्रेष्ठ होगी जो आडम्बरहीन हो तथा दुरूहता मे

परे हो। स्पष्ट तथा सरलता से हृदयंगम होने वाली ही भाषा-शैली उपादेय होगी। अनुवाद की भाषा के अलंकार, मुहावरे, शब्द-समूह इत्यादि के प्रयोग में सुरुचि तथा सुबुद्धि आवश्यक है। लेखकों को अन्य भाषाओं के ऐसे शब्दों को अपनाने का आदेश मिला जिनके पर्याय या तो थे नहीं या कठिन थे। इन्हीं प्रयोगों द्वारा भाषा को पुष्ट बनाने की स्वतन्त्रता दी गई, क्योंकि बिना दूसरी भाषाओं के शब्दों को अपनाए कोई भी भाषा पुष्ट तथा आकर्षक नहीं हो पाई है।

निर्णयात्मक आलोचना की प्रगति

निर्णयात्मक आलोचना-शैली के अन्तर्गत यह सिद्धान्त प्रकाशित हुआ कि आलोचक को एकांगी गुण और दोष नहीं देखने चाहिएँ। कुछ आलोचक या तो शैली से आकर्षित हो प्रशंसा के पुल बाँध देते या विषय से प्रभावित हो साधुवाद कहने लगते। जिस प्रकार से सुन्दर वाटिका में हम क्यारियों की व्यवस्था, फूलों का रंग, वृक्षों की विभिन्नता तथा उसके समस्त आकार से आकर्षित होते हैं उसी प्रकार हमें काव्य-निर्णय में विषय, ज्ञान, गाम्भीर्य, भावोद्रेक, भव्य भाषा तथा अन्यान्य प्रेरक तत्त्वों का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। नियमानुगत काव्य ही श्रेष्ठ नहीं हो सकता, उसमें सौन्दर्यात्मक तत्त्वों का आधिक्य होना चाहिए। इसके साथ-ही-साथ हम प्रत्येक कलाकार को निश्चित नियमों की सूची द्वारा परख नहीं सकते। प्रत्येक लेखक की प्रतिभा अलग-अलग होती है और इसलिए हमारे आलोचनात्मक नियमों में भी विभिन्नता होनी चाहिए।

आलोचनात्मक कला तथा आलोचक के ध्येय की विशद व्याख्या करते हुए यह विचार अभिमत रहा कि जनसाधारण की रुचि में विकार रहता है और वे सुबुद्धिपूर्ण आलोचना नहीं कर सकते। जिस प्रकार से अखाड़े में लड़ते हुए पहलवानों को जनता वाहवाही दे चलती है उसी प्रकार साहित्य-क्षेत्र में भी वाहवाही देना ही वह श्रेष्ठ आलोचना समझती है। श्रेष्ठ आलोचना में सुबुद्धि तथा निर्णयात्मक शक्ति अत्यावश्यक है, क्योंकि इन्हीं दोनों तत्त्वों के बल पर उसकी आलोचना श्रेष्ठ होगी। यदि आलोचक केवल छिद्रान्वेषी है तो वह इधर उधर छिपी-छिपाई त्रुटियों को ही ढूँढने में व्यस्त रहेगा। वस्तुतः श्रेष्ठ कवि ही काव्य की श्रेष्ठ परख कर सकते हैं क्योंकि आलोचनात्मक कार्य सरल नहीं।

तत्कालीन साहित्य की विवेचना के फलस्वरूप कुछ पुराने साधारण काव्य-नियम फिर से दुहराये गए जिनमें लेखकों को विषय तथा विचार पर

अधिक ध्यान देने का आदेश दिया गया। शिथिल तथा अस्त-व्यस्त शैली, श्रुति-कटु शब्द तथा पदांश प्रयोग, अथवा श्रुति-मधुर परन्तु नीरस तथा अनाकर्षक पद, अत्यधिक पठन-पाठन के फलस्वरूप दुरूह साहित्यिक सन्दर्भ, कलाविहीन काव्य-शैली, अपरिष्कृत शैली, शीघ्र लेखन, रोमांचक विषय-वस्तु इत्यादि के प्रति सतर्क और सचेत रहने का निर्देश दिया गया और लेखकों को विचार, भाव तथा भाषा का सौष्ठवपूर्ण प्रयोग करने का आदेश मिला।

यूनानी साहित्यादर्श का अनुसरण

सोलहवीं शती के अन्तिम चरण में कुछ-एक श्रेष्ठ लेखकों तथा आलोचकों की रचनाओं के फलस्वरूप आलोचना के प्रति नवीन उत्साह प्रकट हुआ। अब तक आलोचकों ने काव्य-धर्म तथा काव्य-कला पर विचार किया था और नाटक के तत्त्वों को नवीन दृष्टिकोण से परखने का प्रयास किया था। साहित्य पर स्फुट रूप में भी कुछ महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये गए थे, परन्तु अब तक यूनानी साहित्यादर्शों तथा अरस्तू के आलोचनात्मक सिद्धान्तों का सम्पूर्ण महत्त्व प्रदर्शित न हो पाया था। इस शती के ज्ञान-प्रसार तथा विज्ञ लेखकों की साहित्यिक रुचि के फलस्वरूप यूनानी साहित्यिकों तथा साहित्यादर्शों के प्रति श्रद्धा उपजी और उनकी कृतियों के अध्ययन तथा उन पर मनन के बाद उनके आलोचनात्मक सिद्धान्तों की व्याख्या आरम्भ हुई। जिन आलोचकों ने इस समय साहित्य-जगत् को प्रभावित किया वे स्वयं यूनानी साहित्य के कुशल तथा सहृदय पाठक और पूर्ण ज्ञाता थे। उनकी अन्तरात्मा भी यूनानी साहित्य की प्रेरणाओं द्वारा विकसित हुई थी और वे स्वाभाविकतः यूनानी साहित्यादर्शों के प्रसार में संलग्न हुए।

पहले-पहल यूनानी साहित्यादर्शों की श्रेष्ठता की मान्यता स्थापित करते हुए यह विचार प्रस्तुत किया गया कि उनका अक्षरशः अनुकरण हितकर नहीं। यूनानी साहित्यकार केवल मार्ग-दर्शक के रूप में अपनाए जाने चाहिएँ और उनके साहित्यादर्शों की जाँच प्रकृतस्थ नियमों तथा तर्क की दृष्टि से होनी चाहिए। जो व्यक्ति उनके कथनों को वेद-वाक्य मानकर साहित्य-रचना करते थे वे भूल पर थे, क्योंकि जिन परिस्थितियों तथा जिस वातावरण से प्रेरित होकर वे नियम उस काल में बनाये गए उनकी मान्यता अक्षरशः किसी भी काल में नहीं हो सकेगी। तर्क तथा प्रकृति की दृष्टि में जो प्राचीन नियम खरे उतरें उन्हें ही मान्य समझना अपेक्षणीय है। यों भी कला निरन्तर प्रगति करती रहती है और सत्य का विवेचन किसी काल-विशेष का एकाधिकार नहीं; इसीलिए राष्ट्र-विशेष की आत्मा के अनुकूल ही साहित्य के नियमों का निर्माण

होना श्रेयस्कर होगा। प्रकृति पर विश्वास करना भी सदैव हितकर है, क्योंकि प्रकृति में अक्षय शक्ति है और वह सभी काल में काव्य को प्रेरणा प्रदान कर सकती है; उसका वरदान अक्षय है; उसका कोष भी अक्षय है और श्रेष्ठ लेखकों को उसी के सहारे साहित्य-निर्माण करना चाहिए। प्राचीन साहित्यकारों के प्रति सीमित श्रद्धा इस युग का प्रधान लक्षण है।

गद्य-शैली का विवेचन

इस शती के अन्तिम चरण के आलोचको ने गद्य-शैली, भाषण-शास्त्र, वाक्य-विन्यास, अलंकार प्रयोग, काव्य-कला, नाटक इत्यादि पर व्यापक रूप मे विचार किया और प्राचीन आलोचको को केवल निर्देशक मानकर राष्ट्रीय आवश्यकताओ तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से अपने साहित्य-सिद्धान्तो को प्रस्तुत किया। गद्य-शैली के विवेचन मे स्पष्टता को प्रधानत्व दिया गया। इसके उपरान्त सौष्ठव को महत्त्व मिला। लेखक को अपने विचारों की अभिव्यक्ति ऐसे कलापूर्ण तथा सतर्क रूप मे करनी चाहिए जिससे दुरूह विचार-स्थल स्पष्ट हो जायँ और पाठको को आकर्षक प्रतीत होने लगें। कुछ लोगो का विचार था कि शैली जितनी ही अलंकृत, दुरूह, गूढ तथा कला के अनेकानेक गुणों से सुसज्जित होगी उतनी ही श्रेष्ठ होगी। यह विचार अत्यन्त भ्रममूलक समझा गया। ऐसे अनुभवहीन लोगो का विचार था कि प्रत्येक कथन मे अलंकार की छटा के दर्शन कराना ही श्रेष्ठ कला है; और प्रकृति से दूर रहकर शैली जितने ही विशाल अलंकारों से सुसज्जित होगी, जितनी ही उसमें शाब्दिक भव्यता तथा विशालता होगी, उतनी ही वह श्रेष्ठ होगी और इसके विपरीत शैली जितनी ही सरल, स्पष्ट तथा सहज होगी उतनी ही अनाकर्षक तथा निष्प्राण होगी। सौष्ठवपूर्ण स्पष्टता ही श्रेष्ठ शैली का प्राण स्वरूप माना गया।

भाषण-शास्त्र सिद्धान्त

भाषण-शास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तों में यह नियम मान्य हुआ कि वक्ता को ऐसी शैली प्रयुक्त करनी चाहिए जो उसके व्यक्तित्व की पूर्ण परिचायक हो, उसकी भाषा भी ऐसी हो जो उसकी अन्तरात्मा से आविर्भूत होती जान पड़े। श्रेष्ठ वक्ता को शब्द तथा उसकी ध्वनि और अर्थ का पूर्ण ज्ञाता होना चाहिए क्योंकि शब्द का अर्थ ही उसकी आत्मा है और बिना उसके पूर्ण विकास के शब्द मृतप्राय रहेगे। शब्दो का असावधान प्रयोग भी विषय प्रतिपादन की दृष्टि से घातक होता है। वक्ता को शैली में श्रेष्ठता लाने के लिए श्रेष्ठ लेखकों, श्रेष्ठ वागीशो की रचनाओं

तथा वक्तृताओं का अनुकरण हितकर होगा। सतत अभ्यास द्वारा ही इसमें सफलता मिल सकेगी। यह अभ्यास वाक्य विन्यास तथा औचित्य की आत्मा को समझने में होना चाहिए। वाक्यों मे उन्हीं शब्दों का प्रयोग अपेक्षित है जो प्रचलित हो और जनसाधारण द्वारा प्रयुक्त होते हों, परन्तु इसमें भी सुबुद्धि की आवश्यकता पड़ेगी। शब्दों का प्रयोग वक्ता तथा विषय और लक्ष्य की दृष्टि से होना चाहिए। देवालय, न्यायालय, सैनिक-जीवन क्षेत्र तथा जीवन के प्रतिदिन के आदान-प्रदान में विभिन्न शब्दावली प्रयुक्त होगी। इस सम्बन्ध में भी रूढि तथा प्रचलित प्रयोग का समुचित ध्यान रखना पड़ेगा और यदि वक्ता अथवा लेखक नवीन तथा अप्रचलित शब्द प्रयोग करना चाहे तो वह अत्यन्त न्यून मात्रा मे होना चाहिए; परन्तु इन प्रयोगों मे भी स्पष्टता ही प्रमुख गुण होना चाहिए। यद्यपि यह सही है कि प्राचीन काल के शब्द नवीन प्रयोगो में भव्यता प्रतिष्ठित करेंगे और रुचिकर भी होंगे, परन्तु अभ्यासहीन लेखकों को उनके प्रलोभन से बचना चाहिए। अभ्यस्त लेखक उनका प्रयोग वैसे ही कर सकते हैं जैसे माली एक ही प्रकार की पुष्पमाला मे दो-एक सुन्दर पुष्प सुन्दरता के लिए इधर-उधर गूंथ देता है। प्राचीन शब्दों के प्रयोग में स्वाभाविकता तथा नैसर्गिकता विशेष मात्रा में होनी चाहिए।

स्पष्टता तथा सामंजस्य

उपरोक्त गुणों के अपनाने पर भी लेखक को यह कभी न भूलना चाहिए कि स्पष्ट विचार-धारा तथा महत्त्वपूर्ण विषय दोनों ही अत्यावश्यक हैं। यह सदैव देखा गया है कि लेखक वर्ग यह साधारण नियम बहुत सरलता से भूल जाते हैं और उनकी शैली दूषित हो जाती है; इसलिए प्रत्येक लेखक के लिए यह आवश्यक है कि वह विषय तथा शैली दोनों का ही आकार-प्रकार पहले से ही निश्चित कर ले। साहित्य-निर्माण में पूर्ण विचार अत्यन्त आवश्यक होगा क्योंकि बिना इस गुण के कोई भी विचार न तो क्रम-बद्ध हो सकेगा और न अन्त में अपने उद्देश्य को परिलक्षित कर सकेगा। सौष्ठवपूर्ण लेख के लिए विषय तथा शैली दोनों ही महत्त्वपूर्ण होंगे। जब तक लेखक का विषय-प्रतिपादन स्वाभाविक रूप में नहीं होता, जब तक उसका विचार-क्रम सहज रूप में प्रगति नहीं करता, जब तक वह अपने विचार-क्रम को समन्वित रूप नहीं देता, आदि, मध्य तथा अन्त में सहज सामंजस्य नहीं प्रस्तुत करता और जब तक वह बार बार आदि मे मध्य, तथा मध्य से अन्त तक क्रमात नवीन विचार-शक्ति नहीं प्रदर्शित करता, तब तक लेखक अभीष्ट-सिद्धि नहीं कर सकता। यह जानने के लिए कि मध्य तथा

अन्त को किस प्रकार प्रभावोत्पादक बनाया जाय श्रेष्ठ लेखक आदि पर अपनी दृष्टि सदैव लगाए रहते हैं। विचार-क्रम स्पष्टता का मूलाधार है।

अलंकार

उचित शैली तथा क्रम-बद्ध विचार-प्रतिपादन के साथ-साथ लेखक को अलंकार-प्रयोग द्वारा अपने लेख को प्रभावपूर्ण बनाना चाहिए। कुछ रचनाएँ तथा कुछ विषय ऐसे होते हैं जिनमें आनन्ददायी तत्त्वो की प्रधानता होती है तथा उनमें समुचित वैभिन्य भी रहता है। इस श्रेणी की रचनाओं में अलंकार अधिक उपयोगी होते हैं। उपमा तथा रूपक तथा अतिशयोक्ति इस दृष्टि से अधिक फलप्रद प्रमाणित होगे और इनके द्वारा अभिव्यक्ति मे नवजीवन आ जायगा। परन्तु अलंकार-प्रयोग में सतर्क रहना चाहिए और उनमें न दुरूहता आनी चाहिए और न उन्हें मिश्रित रूप से प्रयुक्त करना चाहिए। रूपकालंकार मे इसका ध्यान विशेष रखना चाहिए। अतिशयोक्ति प्रयोग मे भी औचित्य का पूर्ण ध्यान रखना पड़ेगा, क्योकि सहज तथा स्वाभाविक प्रयोग ही प्रशस्त हैं।

शैली का वर्गीकरण

शैली का वर्गीकरण रोमीय आलोचको के सिद्धान्तो के आधार पर हुआ। भाव्य अथवा उन्नत, मध्यम तथा साधारण शैली के अन्तर्गत प्रायः सभी लेख विभाजित हो सकते हैं। उन्नत शैली में सतर्कता अत्यावश्यक है, क्योकि उसके प्रयोग में शब्दाडम्बर का भय बना रहता है और साधारण वर्ग की शैली भी अनुचित प्रयोग द्वारा नीरस तथा निष्प्राण प्रतीत होने लगती है। वाक्यों के लम्बे-चौड़े होने से तथा घुमा-फिराकर विचाराभिव्यक्ति द्वारा शैली में शैथिल्य आ जायगा। शैली वही श्रेष्ठ होगी जो इतनी सुगठित हो कि न तो उसमें से कुछ घटाया जा सके और न कुछ जोड़ा ही जा सके। इस दृष्टि से भी शैली के तीन भेद हो सकते हैं। पहली संक्षिप्त शैली जो थोडे मे बहुत अर्थ प्रदर्शित करती है; दूसरी सांकेतिक, जो पूर्ण अर्थ का प्रकाश न कर कुछ-न-कुछ कल्पना के लिए छोड़ देती है और तीसरी है असम्बद्ध शैली, जो न तो भाषा और न विचारो के क्रम की मर्यादा-रक्षा करती है। अभ्यासी लेखक को ऐसी शैली चुन लेनी चाहिए जो थोड़े-से-थोड़े शब्दों मे सरल-से-सरल रीति से विचारो की अभिव्यक्ति कर दे। यदि शैली अत्यन्त संक्षिप्त हुई तो दुरूह हो जायगी और यदि विस्तृत हुई तो विचारों को याद रखना दूभर हो जायगा। इसलिए शैली न तो नीरस हो और न आडम्बरपूर्ण और न शिथिल।

अभ्यास की महत्ता

श्रेष्ठ शैली में अभ्यस्तता प्राप्त कर सकने के लिए कुछ सरल परन्तु मौलिक नियम भी बने। केवल व्याकरणात्मक शुद्धता से ही शैली श्रेष्ठ न होगी परन्तु व्याकरण का ध्यान भुलाना भी न चाहिए। कुछ नौसिखिए लेखक, जो शब्द पहले ध्यान में आए उसी को प्रयुक्त कर सन्तुष्ट हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप अभिव्यक्ति मे सौष्ठव नहीं आ पाता। जो शब्द सरलता से सामने आ जायें उन पर सन्दिग्ध दृष्टि रखनी चाहिए, क्योंकि जिस सरलता से वे ध्यान मे आए उससे यह प्रमाणित है कि वे सर्व-श्रेष्ठ शब्द नहीं। इसलिए लेखक को सतत अपनी निर्णयात्मक शक्ति को सतर्क रखना पड़ेगा। हां, इस नियम के पालन से लेख शीघ्रता से न लिखे जा सकेंगे, परन्तु इसी अभ्यास द्वारा आगे चलकर दक्षता अवश्य आयगी। यही नियम प्राचीन काल के श्रेष्ठ लेखकों ने भी अपनाया था और उसी को मानकर वे सफल भी हुए। जो लेखक शीघ्र ही लेख प्रस्तुत कर देता है यह प्रमाणित नहीं करता कि उसकी रचना भी उत्कृष्ट है क्योंकि शीघ्र लेखन रचना की उत्कृष्टता का प्रमाण हो ही नही सकता। इसके विपरीत यह सही है कि सफल तथा फलप्रद लेख लिखते-लिखते शीघ्रता अपने-आप आ जाती है। उत्कृष्ट-रचना में निर्णयात्मक शक्ति, संयत अभिव्यंजना तथा क्रमागत विचार-धारा के सहज ही दर्शन होंगे। हां, युवकों की रचना में स्वच्छन्दता और आडम्बर क्षम्य हो सकते है, परन्तु उसी समय जब कि वे धीरे-धीरे उससे छुटकारा पाने की तैयारी करते रहें। लेखकों को प्राचीन काल के श्रेष्ठ कलाकारों से प्रेरणा लेने का पूर्ण अधिकार है, परन्तु उन्हे अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा के अनुसार उस प्रेरणा को प्रयुक्त कर अपनी निजी शैली निर्मित कर लेनी चाहिए। वे प्राचीन लेखकों की रचनाओं से उद्धरण भी दे सकते हैं, परन्तु उनका प्रयोग बहुत अधिक नहीं होना चाहिए। औचित्य की उसमें विशेष आवश्यकता पड़ेगी। लेख को प्रभावोत्पादक बनाने का सबसे सरल साधन यह है कि लेखक मध्य को अपेक्षा आदि पर विशेष ध्यान रखे और अन्त को प्रभावपूर्ण बनाने मे अपनी सारी शक्ति लगा दे।

पत्र रचना कला

पत्र लिखने की कला पर कुछ महत्त्वपूर्ण नियम प्रस्तुत किये गए। श्रेष्ठ पत्र-लेखन में संक्षेप-कथन, स्पष्टता, सजीवता तथा विवेक अत्यावश्यक होंगे। इन गुणों में संक्षेप-कथन ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। पत्र-लेखन में लम्बे-चौड़े, विस्तृत कथन से सदैव बचना चाहिए। हां, यदि किसी अत्यन्त श्रेष्ठ विद्वान्

अथवा महात्मा को पत्र लिखना हो तो थोड़े-बहुत विस्तृत कथन की गुन्जायश रह सकती है। पत्र-लेखन का दूसरा महत्त्वपूर्ण गुण है स्पष्टता; और स्पष्टता तभी आएगी जब विचारों में सहज क्रम हो और वाक्य स्वभावतः प्रगति करते हुए अपने लक्ष्य की सिद्धि कर लें। साधारणतः यह देखा गया है कि गम्भीर विद्वान् तो अटक-अटककर लिखते और बोलते हैं और वाचाल सरलता से तथा प्रभावपूर्ण रूप में अभीष्ट-सिद्धि कर लेते हैं। इसका कारण यह है कि अत्यधिक विचारों के बोझ से विद्वानों की शैली बोझिल रहती है और उसमें सजीवता नहीं आ पाती। जिस प्रकार सुरुचिपूर्ण स्त्रियां अपने थोड़े-बहुत अलंकारों तथा स्वच्छ पहनावे में अपने को बहुत आकर्षक बना लेती हैं उसी प्रकार लेखक को विवेकपूर्ण उपेक्षा व्यवहृत करके स्वाभाविकता का परिचय देना चाहिए। पत्र-लेखक को औचित्य का भी यथेष्ट ध्यान रखना पड़ेगा। शब्द-प्रयोग, विचार, उद्धरण इत्यादि में औचित्य की आवश्यकता पड़ेगी। उपरोक्त सभी गुण केवल अभ्यास से ही प्राप्त हो सकेंगे। वास्तव मे ये अनेक गुण नैतिक तथा ईश्वर-प्रदत्त ही हैं।

काव्य की परिभाषा

काव्य-विषयक आलोचनात्मक विचारों मे यद्यपि कोई मौलिकता नहीं प्रस्तुत हुई, परन्तु काव्य की परिभाषा अत्यन्त सजीव रूप मे बनाई गई। काव्य तथा चित्र-कला में अभूतपूर्व साम्य है—काव्य मुखरित चित्र है और चित्र मूक काव्य। दोनो ही की कला अनुकरणात्मक तथा कल्पनात्मक है और दोनो ही आनन्द तथा शिक्षा-प्रदान करते हैं। दोनो में कवि ही श्रेष्ठ है क्योंकि वह हमारी बुद्धि को प्रभावित करता है और चित्रकार केवल रसेन्द्रियो को ही छूता रहता है। काव्य-रचना केवल छन्दों का खिलवाड नहीं; उसके लिए उस अक्षय शक्ति का आवाहन आवश्यक है जो सतत अपनी प्रेरणा से ज्ञान का प्रसार करती हुई जीवन को परिष्कृत बनाने का प्रयत्न करती रहती है। काव्य का लक्ष्य है भविष्य का रहस्योद्घाटन, शिक्षा तथा प्रेरणा देना तथा जीवन को उन्नत बनाना। उसका प्रमुख उद्देश्य है धर्माचरण की प्रवृत्ति का बीजारोपण, मानसिक शान्ति-प्रदान तथा मनुष्य की विषम प्रवृत्तियो का परिष्कार तथा संशोधन। उसका महत् ध्येय है ईश्वर का गुणानुवाद तथा सत्य का आनन्ददायी प्रदर्शन। भाषण-शास्त्र की अपेक्षा काव्य-कला अधिक सहज रूप, रसपूर्ण तथा भावोद्रेक उपस्थित करने वाली होती है जहाँ भाषण-शास्त्र मे शाब्दिक चातुर्य ही रहता है वहाँ काव्य सौन्दर्यात्मक तथा अधिक रसोत्पादक होता है। श्रेष्ठ काव्य श्रेष्ठ चरित्र से ही आविर्भूत होगा। कवि का जीवन भी श्रेष्ठ कविता

के अनुरूप चाहिए। इतना होते हुए भी कुछ आलोचकों ने वागीश को कवि से अधिक महत्त्वपूर्ण समझा, क्योंकि उसमें प्रभावोत्पादक शक्ति अधिक रहती है। अरस्तू की प्राचीन परिभाषा के आधार पर कवि निर्माता अथवा अपनी कल्पनात्मक शक्ति के कारण ऐन्द्रजालिक समझा गया। मानव-जीवन की उचित छन्दों में सामंजस्यपूर्ण अभिव्यंजना ही उसकी श्रेष्ठ कला थी। उसकी अभिव्यक्ति सत्य का आवरण लिये रहती है। जीवन की कल्पनात्मक अभिव्यंजना ही उसका प्रमुख ध्येय है; मानव-जीवन के अन्य शाश्वत सत्यों से उसका कोई लगाव नहीं और न उसमे कोई क्रियात्मकता ही थी। यही विचार अरस्तू का था। कवि तथा काव्य-कला के अनेक गुणों की व्याख्या के पश्चात् यह निश्चित हुआ कि कवि मे नैसर्गिक प्रतिभा होनी चाहिए जिसका पालन-पोषण, अभ्यास तथा विकास प्राचीन कवियों के अध्ययन तथा कला-ज्ञान द्वारा होना चाहिए। यही धारणा प्राचीन यूनानी आलोचक अफलातूं और अरस्तू की भी थी। अनुकरण तथा अभ्यास ही श्रेष्ठ रचना का मूल-मन्त्र है और इसके द्वारा ही श्रेष्ठ कलाकारों की कला हस्तगत हो सकती है। परन्तु अभ्यासी को 'मक्षिका स्थाने मक्षिका रूप' में अनुकरण नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार मधु-मक्खी सुन्दर तथा सुरभित पुष्पों से पराग एकत्र करती है और उसे मधु में परिवर्तित कर देती है उसी प्रकार साधक को प्राचीन विषय-वस्तु अथवा विचार को नये साँचे में ढाल देना चाहिए। इस दृष्टि से अनुकरण-कला पुनर्निर्माण की कला है जिसे रोमीय आलोचकों ने सराहा था। अभ्यासी को केवल विस्तृत तथा सुबुद्धिपूर्ण अध्ययन ही अपेक्षित नहीं, उसमें कला-ज्ञान भी विशेष मात्रा में होना चाहिए। बिना कला-ज्ञान के कोई भी अभ्यासी न तो काव्य क्षेत्र मे सफल होगा और न श्रेष्ठता ही पा सकेगा। बिना कला-ज्ञान के केवल नैसर्गिक गुण कभी भी फलप्रद नहीं होंगे और न कला-ज्ञान ही बिना नैसर्गिक गुणों के हितकर होगा। प्रत्येक साधक को श्रेष्ठातिश्रेष्ठ कलाकारों की शरण जाना चाहिए, क्योंकि श्रेष्ठ कलाकारों ने ही पहले-पहल श्रेष्ठ रचनाएँ कीं, तत्पश्चात् व्याकरणाचार्यों ने नियम बनाए। और इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि केवल नियमों तथा उपनियमों में पारंगत होने से ही श्रेष्ठ कला का आविर्भाव नहीं होगा; जिन श्रेष्ठ प्राचीन कलाकारों ने नियमों को जन्म दिया उनका अध्ययन ही फलप्रद होगा।

छन्द-प्रयोग

काव्य में छन्द-प्रयोग के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त मान्य हुए उनका प्रभाव आगामी युग के कवियों पर अधिक पड़ा और साहित्य-क्षेत्र में एक विवादग्रस्त प्रश्न उठ

खड़ा हुआ जिसका उत्तर आज तक दिया जा रहा है। छन्द विशेषतः विस्तृत काव्य-रचना मे आवश्यक नहीं। तुकपूर्ण कविता केवल बर्बर जातियों का आविष्कार था जिसके बल पर निकृष्ट विषय-वस्तु की अभिव्यक्ति ऊबड़-खाबड़ छन्दों में होती थी। यद्यपि कुछ महान् कवियों ने तुकपूर्ण काव्य लिखे परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनके द्वारा भावो की सहज अभिव्यक्ति में अड़-चन पड़ती थी। उसमें संगीत के भी गुण नहीं और न उसका प्रभाव ही आनन्ददायी होगा। तुक तो केवल पंक्ति के अन्तिम शब्दों की स्वर-सन्धि थी और प्राचीन कलाकारों ने उसे दोष समझकर ही प्रयुक्त नहीं किया। महा-काव्य में तो मुक्तक छन्द ही फलप्रद होगा क्योंकि मुक्तक छन्द द्वारा ही गति, लय तथा भावो का सहज-विस्तार सम्भव होगा।

सुखान्तकी

नाटक-विषयक सिद्धान्तो के अन्तर्गत सुखान्तकी की व्याख्या करते हुए यह मत स्थिर किया गया कि सुखान्तकी-नाटककार की कला अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और उसका महत्त्व कदाचित् वागीश की कला के समान ही है, क्योंकि सुखान्तकी-नाटककार सौष्ठवपूर्ण भाषा तथा जीवन की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति के कारण उच्च पद का अधिकारी है और उसकी कला-शक्ति चित्रकार तथा मूर्त्त कलाकार से कहीं अधिक है। रचनात्मक दृष्टि से सुखान्तकी तथा दुःखान्तकी दोनों का उद्देश्य आनन्द तथा शिक्षा-प्रदान है और दोनो के तत्त्वों मे भी साम्य है। यूनानी आलोचकों ने सुखान्तकी कलाकार को समाज का श्रेष्ठ शिक्षक घोषित किया था और उनका विचार मान्य है। कुछ लोगों का विचार है कि सुखान्तकी में हास्य आवश्यक है परन्तु यह विचार भ्रामक है, क्योंकि हास्य की सृष्टि अनिवार्य नहीं, हास्य तो केवल जनसाधारण को फुसलाने का साधन है और उसका प्रभाव जनता के मस्तिष्क पर विषम रूप मे पड़ेगा और उनका चरित्र दूषित होगा। सुखान्तकी मे प्रहसनात्मक हास्य कभी भी अपेक्षणीय न होगा। साधारणतः मुखाकृति तथा स्त्रियो के वेश मे पुरुषों के कार्यों द्वारा हास्य प्रस्तुत करने की चेष्टा की जाती है; जो किसी भी दशा मे क्षम्य नहीं। सुखान्तकी रचना में नाटककार को विषय-वस्तु पर अत्यधिक ध्यान देना चाहिए। यो तो महाकाव्य, दुःखान्तकी तथा सुखान्तकी-रचना के तत्त्वो मे साम्य है परन्तु महाकाव्य की विषय-वस्तु विस्तृत रहती है। सुखान्तकी एक ही सम्पूर्ण कार्य का अनुकरणात्मक प्रदर्शन करती है और उस कार्य के विभिन्न भागो मे इतना सुगठित सामंजस्य रहता है कि किसी भाग से भी बिना उसे विकृत किये कुछ घटाया नही जा सकता। सुखान्तकी के कार्य

भाग में भी पूर्ण समन्वय रहता है और उसमें किसी भी निरर्थक अंश को स्थान नहीं मिलना चाहिए। उसके तीनों भागों—आदि, मध्य तथा अन्त—मे सहज समन्वय तथा उचित अनुपात रहना चाहिए। यदि कोई भी भाग उचित अनुपात में नहीं तो सुखान्तकी के सम्पूर्ण कार्य में वैषम्य आ जायगा और न वह सरलता से स्मरण रह सकेगा और न सरलता से समझ में ही आयगा। कार्य के उचित विस्तार के सम्बन्ध में कोई स्थायी नियम नही, विषय-वस्तु स्वयं ही कार्य का अनुपात निश्चित कर देगी, परन्तु कोई भी कार्य चौबीस घंटे से अधिक समय में सम्पन्न नहीं होना चाहिए।

दुःखान्तकी

दुःखान्तकी की परिभाषा भी अरस्तू की परिभाषा के आधार पर बनाई गई। दुःखान्तकी सबसे अधिक गम्भीर, सबसे अधिक नैतिक और सबसे अधिक शिक्षा-प्रसारात्मक काव्य है। जो धार्मिक सम्प्रदाय इन नाटकों के विरोधी थे उनसे आग्रह किया गया कि वे अपना विरोध हटा लें, क्योंकि नाटक नैतिकता-प्रसार के सर्वश्रेष्ठ साधन थे। दुःखान्तकी तो करुणा तथा भय के माध्यम से मनुष्य की विषम भावनाओं का मानसिक परिष्कार कर उनका उचित अनु-पात आनन्ददायी रूप मे प्रस्तुत करती है। यही क्रिया चिकित्सा-शास्त्र के विवेचन-सिद्धान्त मे भी निहित है जिसके द्वारा शरीर की शुद्धि होती है। यूनानी नाटककारो के दृश्य तथा गर्भाङ्क-रहित नाटक, उनके नाटकीय तत्वों का सामंजस्य तथा औचित्य इत्यादि की प्रशंसा की गई।

इस युग के प्रायः सभी आलोचकों ने साहित्य तथा साहित्य-शक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा की। साहित्य मे एक रहस्यपूर्ण शक्ति है, उसमें अक्षय जीवन तथा अक्षय चेतना है और यह प्रत्येक युग के प्राणियों को जीवन दान दे सकती है। पुस्तक रूप में लिखित साहित्य निष्प्राण अथवा मृत नहीं, उसमें प्राण-शक्ति निहित रहती है। श्रेष्ठ पुस्तकें श्रेष्ठ व्यक्तियों की जीवनानुभूति का कोषा-गार है जो लौकिक तथा पारलौकिक जीवन का सत्य निरूपण करती रहती है। ऐसी पुस्तकें भी जो बुरी अथवा अनैतिक होती हैं, उपयोगी रहेंगी। उन्हीं के द्वारा हम अपनी भूलें सुधार सकते हैं। इसके लिए पाठकों को अपना कल्पना-त्मक सहयोग लेखकों को सहर्ष देना चाहिए।

उपसंहार

पिछले प्रकरणों में सोलहवीं शती के पूर्वार्द्ध, मध्य तथा उत्तरार्द्ध के अन्तिम चरण मे प्रचलित आलोचना-सिद्धान्तों की व्याख्या की गई। यद्यपि इस युग में प्राचीन यूनानी तथा रोमीय आलोचकों के सिद्धान्तों के अधिकांश को बार-बार

दुहराया गया और उन्हीं के साहित्य-सिद्धान्तों को मान्य प्रमाणित किया गया, फिर भी कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण विचारों के दर्शन होते हैं जिनमें मौलिकता विशेष रूप मे रही। वास्तव मे, इस युग में एक ऐसे अनुभवी आलोचक की आवश्यकता थी जो साहित्यिक क्षेत्र में गद्य तथा पद्य की अभिव्यंजना की कला तथा काव्य-कला दोनों का स्पष्ट तथा गम्भीर विवेचन देता। जिन आलोचको ने अपने-अपने साहित्य-सिद्धान्त प्रतिपादित किये उनमें अधिकतर प्राचीन साहित्य-शास्त्र में ही पारंगत थे, और उन्होने उन्हीं प्राचीन सिद्धान्तो को आधार रूप मानकर स्वतन्त्र रूप में अपने विचार प्रकट किए। वस्तुतः न तो कोई प्राचीन आलोचको के सिद्धान्त ही आदर्शवत माने गए और न कुछ नितान्त नवीन तथा मौलिक सिद्धान्तों को ही लेख बद्ध किया गया। हाँ, आलोचनात्मक-प्रेरणा के हर ओर दर्शन अवश्य होते हैं, क्योंकि सभी प्राचीन सिद्धान्त, इस युग के आलोचकों द्वारा प्रकृति तथा तर्क की कसौटी पर कसे गए और जहाँ तक सम्भव हो सका तत्कालीन देशीय परिस्थिति और व्यक्तिगत प्रतिभा का पूर्ण ध्यान रखा गया।

इस युग के आलोचनात्मक क्षेत्र की क्रिया तथा प्रतिक्रिया से प्रमाणित है कि काव्य की अनुकरणात्मकता सिद्धान्त रूप में ही नहीं वरन् क्रियात्मक रूप मे हृदयंगम की गई और यद्यपि अरस्तू के अन्य महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो की परख न हुई परन्तु उनके काव्य की परिभाषा के शुद्ध अर्थ समझे गए और काव्य की आत्मा में सर्वगत सत्यों का प्रदर्शन मान्य हुआ। अन्य क्षेत्रो में ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिससे यह साबित हो कि अरस्तू के प्राचीन यूनानी सिद्धान्तों की स्पष्ट व्याख्या हुई हो। परन्तु इसका प्रमाण अवश्य मिलता है कि कोई भी साहित्यिक-क्षेत्र अछूता न रहा। श्रेष्ठ तथा प्रभावपूर्ण गद्य-रचना-सिद्धान्तों पर सम्यक् विचार हुआ और आकर्षक तथा श्रेष्ठ-शैली के गुण गिनाये गए, और व्याकरणाचार्यों के नियमों तथा उपनियमों की उपेक्षा, साहित्य-सृष्टि के लिए वांछनीय बतलाई गई। शब्द-चातुर्य अथवा अलंकार-प्रयोग की अपेक्षा स्पष्टता को ही प्राधान्य दिया गया तथा विचारों का सहज-क्रम, विषयानुकूल शैली, पाठकों अथवा श्रोताओ के मानसिक स्तर तथा परिस्थिति के अनुकूल अभिव्यंजना, सुबुद्धिपूर्ण अलंकार-प्रयोग, कला का गुप्त प्रयोग इत्यादि जैसे विचार मान्य हुए। व्यक्तित्व का प्रदर्शन, शैली का प्रमुख गुण माना गया और क्रम, अनुपात, सरलता तथा स्पष्टता उसके प्रधान तत्त्व समझे गए। भाषण-शास्त्र-सम्बन्धी सिद्धान्तो के आधार—प्रकृति, तर्क तथा मनोविज्ञान—प्रमाणित हुए और अलंकार-प्रयोग मे भी मनोवैज्ञानिक नियमो को

महत्त्व दिया गया। श्रेष्ठ शैली के लिए क्रमागत विचारों की सहज प्रगति और आदि, मध्य तथा अन्त का आन्तरिक तथा बाह्य समन्वय बार-बार इसलिए दुहराया गया कि यह नियम इतना साधारण था कि लेखक-वर्ग सरलता से इसे भुला सकता था। सिद्धान्त रूप में तो यह चिरकाल से मान्य है परन्तु साधारणतः इन्हीं की अवहेलना की जाती है। मानव-प्रकृति का यह साधारण नियम है कि वह सिद्धान्त रूप में तो बहुत-कुछ याद रखती है मगर जहाँ उन्हें क्रियात्मक रूप देने का समय आता है वे बहुत सरलता से भुला दिए जाते हैं।

इस युग मे काव्य की महत्ता प्रमाणित करने तथा काव्य-सम्बन्धी आलोचना-सिद्धान्तों के निर्माण में अधिक उत्साह दिखाई देता है। एक ओर तो मध्ययुग के काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्त बहुत उलझे हुए थे और दूसरी ओर प्युरिटन सम्प्रदायवादी काव्य पर कुठाराघात कर रहे थे। मध्य-युग में काव्य के विषय मे सबसे प्रचलित जो सिद्धान्त था वह यह था कि काव्य केवल रूपक रूप में दार्शनिक तत्त्वों का गुप्त विवेचन देता है। इस युग के आलोचकों ने काव्य में एक रहस्यपूर्ण शक्ति के दर्शन किये और पार्थिव जगत् के रहस्योद्घाटन में ही उसकी महत्ता समझी गई। अनेक आलोचकों ने काव्य की हृदयग्राही परिभाषा भी निर्मित की और कवि की क्रियात्मक तथा कल्पनात्मक शक्ति की प्रशंसा की। अधिकतर आलोचकों ने काव्य के रूपक रूप को मान्य नहीं समझा और उसका मुख्य लक्ष्य आनन्द-प्रदान माना; कुछ ने अपनी परिभाषा में आगामी युग के रोमांचक काव्य का आभास दिया और पलायनवाद[1] की ओर संकेत किया। यद्यपि काव्य के सम्पूर्ण रहस्य हृदयंगम न हो पाए थे और न उसके विवेचन के उपयुक्त शब्दावली ही बन पाई थी, फिर भी इस युग में बहुत-कुछ सम्भव हुआ।

काव्य-कला-सम्बन्धी नियमों में दैवी प्रेरणा का प्राचीन नियम पुनः दुहराया गया, परन्तु इसके साथ-साथ काव्य की अनुकरणात्मकता का विवेचन देते हुए यह नियम मान्य हुआ कि प्राचीन शैलियों का अक्षरशः अनुकरण न तो फलप्रद होगा और न कलात्मक। देशीय प्रतिभा तथा रूढ़ि के अनुसार तथा प्रकृति और तर्क के नियमानुसार कल्पनात्मक अनुकरण ही श्रेयस्कर होगा। काव्य के पद-विन्यास में शब्दों का विलक्षण प्रयोग तथा विदेशी और अप्रचलित शब्दों का प्रयोग हितकर नहीं समझा गया। हाँ, कभी-कभी आनन्द-प्रदान के लिए विलक्षण प्रयोग क्षम्य हो सकते थे। काव्य के लिए छन्द और लय की महत्ता उत्साहपूर्वक प्रमाणित की गई परन्तु दो-एक आलोचक इस

१. देखिए—'काव्य की परख'

तत्त्व के विरोधी भी रहे। कुछ आलोचकों ने काव्य के वर्गीकरण में प्राचीन शैली ही अपनाई और कुछ ने तत्कालीन साहित्य के आधार पर समस्त साहित्य को सुखान्तक, दुःखान्तक तथा ऐतिहासिक वर्गों में बाँटा। समाज-सुधार तथा गुणानुवाद के लिए सुखान्तकी, दुःखान्तकी तथा व्यंग्य-काव्य उपयोगी समझे गए; मनुष्य के भाव-संसार के प्रदर्शन के लिए वीर गीत, चतुर्दशी, शोक-गीत इत्यादि फलप्रद माने गए। महाकाव्य में वीर-कार्यों का वर्णन मान्य हुआ और नाट्य-काव्य तथा रूपक में मानवी कार्यों का यथार्थ वर्णन ही रुचिकर समझा गया। इतना होते हुए भी काव्य का यह वर्गीकरण न तो मनोवैज्ञानिक था और न श्रेष्ठ आधारों पर ही किया गया।

नाटक-क्षेत्र में प्राचीन नियमों की अपेक्षा नवीन कला को प्रश्रय दिया गया। नाटक में काव्य की आत्मा का आभास देखा गया और नाटककार को दर्शकों के मनोनुकूल नाट्य-कला-प्रदर्शन तथा विषय-वस्तु-विवेचन का आदेश दिया गया; और दर्शकवर्ग से कल्पनात्मक सहयोग की माँग की गई, क्योंकि बिना इसके उस काल का कोई भी नाटककार रोमांचक नाटक नहीं लिख सकता था। नाटक का उद्देश्य नैतिक शिक्षा-प्रसार न होकर आनन्द-प्रसार समझा गया और नाटककार पर मानव-जीवन की अभिव्यंजना का दायित्व रखा गया। इसी काल में शेक्सपियर द्वारा लिखित अनेक नाटको के आधार पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त निर्मित हुए। "दुःखान्तकी मे मनुष्य का चरित्र ही उसका भाग्य है", सिद्धान्त मान्य हुआ और उसके द्वारा मानव के अन्तरतम तथा आत्मिक रहस्यों का उद्घाटन भी हुआ, जिसका प्रभाव आगामी काल के नाटककारो पर अत्यन्त गहरे रूप से पड़ा। इस युग के भाषण-शास्त्र, काव्य, गद्य-शैली-सम्बन्धी आलोचना-सिद्धान्तों से यह प्रमाणित है कि यह युग अँग्रेज़ी आलोचना-साहित्य में विशेष महत्त्व का है। यद्यपि मध्य युग तथा प्राचीन युग के अनेक साहित्य-सिद्धान्त बार-बार दुहराए गए परन्तु सब पर स्वतन्त्र तथा मौलिक रूप में विचार हुआ। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि इस युग के आलोचकों ने काव्य-कला के गूढ रहस्यों को न तो समझा और न उनके समझने की चेष्टा ही की, परन्तु साहित्य-सम्बन्धी वे सिद्धान्त जो प्रायः कविवर्ग तथा अन्य कलाकार भुला देते हैं, अत्यन्त स्पष्ट रूप में रखे गए। प्राचीन नियमों को नया रूप दिया गया और इस कार्य में इस युग के आलोचकों की विद्वत्ता, साहित्यप्रियता, उत्साह तथा उनकी आत्मिक शक्ति भली भाँति विदित है।

८

: १ :

सत्रहवीं शती का आलोचना-क्षेत्र : वीर-काव्य

सत्रहवीं शती के पहले पचास वर्षों में अंग्रेजी आलोचना-क्षेत्र में कुछ अधिक साहित्यिक कार्य न हो पाया। देश में गृह-युद्ध चल रहा था और धर्म-क्षेत्र में बहुत विषमता फैली हुई थी। ऐसी परिस्थिति में आलोचनात्मक साहित्य का निर्माण होता भी कैसे? जो-कुछ भी लेखकवर्ग में शक्ति तथा उत्साह था वह घरेलू झगड़ों के ही निपटाने मे लगा हुआ था। दो-चार साहित्यिकों ने ही पुस्तकों की भूमिका के रुप में कुछ आलोचनात्मक सिद्धान्तों की व्याख्या करनी चाही और वीर-काव्य, काव्य का वर्गीकरण, काव्य-कला, छन्द-प्रयोग, मुक्तक तथा तुकपूर्ण छन्द, कल्पना-शक्ति इत्यादि पर अपने विचार प्रस्तुत किये। वीर-काव्य की श्रेष्ठता इसी में थी कि उसमे महाकाव्य तथा रोमांचक काव्य दोनों के गुण समन्वित रहते और यह तभी सम्भव था कि जब कथा-वस्तु का चयन धार्मिक क्षेत्र अथवा इतिहास के विशाल कोषागार से होता। धर्म तथा इतिहास-क्षेत्र से संकलित विषयों में एक नैसर्गिक भव्यता होगी और उसके द्वारा नैतिक शिक्षा-प्रसार भी सरलता से होगा। वीर-काव्य के लेखक को समस्त नाटकीय तत्त्वों का भी पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि नाटक-रचना के अनेक साधारण तत्त्व उसमें भी प्रयुक्त होते हैं। नाटक ही के समान उसमें परिस्थिति, प्रगति, आपद्-काल[१], उतार इत्यादि के तत्त्व रहते हैं। व्यापक रूप मे वीर-काव्य में प्रायः सात तत्त्वो के दर्शन होते हैं। पहला तत्त्व है शैली, जिसमे शब्दों के विलक्षण प्रयोग द्वारा वीरता तथा प्रेम के समान उन्नत भावनाओं का प्रसार होता है; दूसरा तत्त्व है स्पष्टता तथा रचना-विधान में स्वाभाविकता; तीसरा है कथानक का ऐसे अंश से आरम्भ, जिसमे आकर्षण विशेष हो; चौथा तत्त्व है कल्पनात्मक भव्यता; पाँचवाँ चरित्र-प्रदर्शन मे निष्पक्षता; छठा है वर्णनात्मक दक्षता, जो अलंकार-प्रयोग द्वारा पुष्ट होगी; और सातवाँ तत्त्व है विभिन्नता, जिसके

१. देखिए—'नाटक की परख'

द्वारा विशेष आनन्द का प्रसार होगा।

काव्य का वर्गीकरण

काव्य के वर्गीकरण में विशेष मौलिकता के दर्शन होते हैं। जिस प्रकार समस्त विश्व—पार्थिव तथा स्वर्गीय—दो खण्डों में विभाजित है उसी प्रकार सभ्य संसार के भी तीन विभाग हैं—पहला श्रेष्ठ अथवा दरबारी जीवन, दूसरा नागरिक और तीसरा ग्राम्य जीवन। श्रेष्ठ अथवा दरबारी जीवन द्वारा वीर-काव्य, महाकाव्य तथा दुःखान्तकी का आविर्भाव हुआ, नागरिक जीवन ने सुखान्तकी तथा व्यंग्य काव्य को जन्म दिया तथा ग्राम्य जीवन द्वारा ग्राम्य-गीत इत्यादि की श्रेणी के काव्य को जीवन-दान मिला। इस विवेचन में न तो गीत-काव्य पर कोई ध्यान दिया गया और न उस पर कोई आलोचनात्मक विचार ही प्रस्तुत किया गया। परन्तु काव्य-कला-सम्बन्धी व्याख्या अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस विषय पर विचार करते हुए अरस्तू ने काव्य-कला के अन्तर्गत विषय को आदर्शात्मक रूप देने का आदेश दिया था, परन्तु उन्हने यह नहीं स्पष्ट किया था कि यह कार्य सम्भव कैसे होगा और उसके साधन क्या-क्या होंगे। पिछली शती के कुछ आलोचकों ने यह प्रयत्न किया तो अवश्य और इस कार्य को कल्पना द्वारा सम्भव माना, परन्तु अधिकतर आलोचकों ने कला के बाह्य रूप को ही महत्त्व दिया और उसी में उलझे रहे। वातावरण अथवा परिस्थिति की क्रिया तथा प्रतिक्रिया को ही उन्होंने महत्त्व दिया और काव्य की अन्तरात्मा को भेद न सके। सत्रहवीं शती के दर्शनवेत्ताओं तथा आलोचको ने काव्य-कला का आन्तरिक विवेचन दिया और शब्दो को विचारों का प्रतीक माना। दार्शनिक रूप में यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया कि संसार अपने आप ही मनुष्य के मानसिक क्षेत्र को प्रभावित करता हुआ तथा अपनी छाप डालता हुआ प्रगति करता चल रहा है और भविष्य में भी करता जायगा। काव्य के दो उद्गम-स्थान हैं—पहला परिकल्पना, दूसरा निर्णयात्मक सुबुद्धि। परिकल्पना द्वारा वह आभूषित होता है और निर्णयात्मक सुबुद्धि द्वारा उसमें शक्ति की प्रतिष्ठा होती है।

छन्द-सम्बन्धी विचार

काव्य-कला के अन्तर्गत छन्द तथा तुक-विषयक प्रश्नों पर जिस उत्साह तथा सूझ के साथ विचार किया गया वह इस काल की सबसे बड़ी विशेषता है। आलोचकों ने रूढ़ि, इतिहास, मनोविज्ञान इत्यादि का सहारा लेकर छन्द तथा तुक की उपयोगिता पर अपने विचार विशद रूप में प्रस्तुत किये। छन्द-प्रयोग के समर्थन मे सबसे सबल प्रमाण यह था कि सभी देशों

के कवियों, विशेषतः फ्रांस के कवियों, ने इसको प्रयुक्त किया और उनकी प्रशंसा हुई। इस सर्वदेशीय तथा सर्वमान्य प्रयोग से यह प्रमाणित है कि काव्य के लिए छन्द अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। कुछ कलाकारों का यह कहना कि मुक्तक छन्दों में भी काव्य की आत्मा प्रकाश पा सकती है, भ्रामक है। मुक्तक छन्द वास्तव में गद्य के ही स्तर पर रहेगा और उसके साथ-साथ दूसरी अड़चन क्रिया-प्रयोग में होगी जैसे 'मैं रहा वहाँ पर जाता'। यह कहा जा सकता है कि छन्द में भी तो यही कठिनाई कभी-कभी प्रस्तुत होगी, परन्तु उसका उत्तर यह होगा कि जब कवि इस प्रकार के दोष अपनी रचना में प्रकट करता है तो उसमें प्रतिभा की न्यूनता है। श्रेष्ठ कवि का छन्द और छन्द का अन्तिम शब्द इस सहज रीति से प्रयुक्त होता है कि उसमें किंचित् मात्र भी अस्वाभाविकता नहीं दिखाई देती। छन्द के पदों के शब्दों का चुनाव इस सुबुद्धिपूर्ण रूप से होता है कि पंक्ति का पहला शब्द दूसरे शब्द को जन्म देता है, दूसरा तीसरे को, तीसरा चौथे को और क्रमशः समस्त पद सहज रूप में विरचित हो जाता है। छन्दयुक्त काव्य में गद्य के सभी गुणों की व्यवस्था रहती है और छन्द के अपने निजी गुण उसकी शोभा द्विगुणित कर देते हैं। परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि छन्द तथा तुकयुक्त काव्य शीघ्र ही कण्ठस्थ हो जाता है और हम समयानुसार तथा मनोनुकूल उसका आनन्द लूट सकते हैं। छन्द और तुक में निहित संगीत हमारी स्मरण-शक्ति को अत्यन्त रुचिकर रहता है; इसी कारण वह हमें सरलतापूर्वक याद हो जाता है और हम उसे बहुत काल तक नहीं भूलते। नाटकों में भी तुकपूर्ण छन्द फल-प्रद होंगे। विशेषतः संवाद में तो उसके द्वारा नवजीवन तथा नवशक्ति का संचार हो जायगा। जब कोई पात्र तुकपूर्ण पद में संवाद आरम्भ करता है और जब उसका उत्तर भी उसे उन्हीं तुकपूर्ण पदों में यकायक मिल जाता है तो श्रोतावर्ग चमत्कृत हो उठता है और उसे आनन्द का अनुभव होने लगता है। छन्द तथा तुक का चमत्कार अत्यन्त आकर्षक होता है। कुछ कलाकार यह तो मानते हैं कि छन्द तथा तुक का चमत्कार आनन्ददायी होता है परन्तु उनका विचार वस्तुतः यह रहा करता है कि छन्द और तुक दोनों हमारी कल्पना और परिकल्पना को सीमित कर देते हैं और इस संकुचित क्षेत्र में ही उन्हें काव्याकर्षण लाना पड़ता है। यह विचार भी असंगत है। हमारी सहज कल्पना उच्छृङ्खल रहती है और वह अपनी स्वतन्त्र काव्य-यात्रा द्वारा इतने प्रचुर अलंकार लाकर प्रस्तुत कर देती है कि कवि कठिनाई में पड़ जाता है। उसे कल्पना द्वारा प्रस्तुत किये हुए अलंकार-कोष से सर्वश्रेष्ठ रत्न

सुनने में परिश्रम करना पड़ता है, परन्तु छन्द तथा तुक दोनों ही इस कठिनाई को हल कर देते हैं और कवि को अपनी सुबुद्धि-प्रयोग पर बाधित करते हैं। छन्द तथा तुक की माँग कल्पना-क्षेत्र को सीमित करके उसकी उच्छृङ्खलता को दूर कर देती है और सुबुद्धि को प्रेरणा देती है जिसके फलस्वरूप काव्य और भी आकर्षक हो उठता है। काव्याकर्षण के लिए छन्द तथा तुक दोनों का महत्त्व ऐतिहासिक तथा प्रायोगिक रूप में प्रमाणित है।

ऐतिहासिक, प्रायोगिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार पर छन्द-प्रयोग के समर्थन के फलस्वरूप इस प्रश्न पर लम्बा विवाद उठ खड़ा हुआ। कुछ आलोचकों ने इन्हीं उपरोक्त आधारों का सहारा लेकर छन्द तथा तुकपूर्ण दृश्य-काव्य का विरोध आरम्भ किया। ऐतिहासिक प्रमाणों का आधार लेते हुए विपक्षियों ने यह प्रमाण प्रस्तुत किया कि पन्द्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध तथा सोलहवीं के पूर्वार्द्ध में श्रेष्ठ नाटककारों ने केवल मुक्तक छन्द-प्रयोग किया और तुकपूर्ण छन्दों तथा तुकपूर्ण पदों को नहीं अपनाया। यदि फ्रांसीसी नाटककारों ने इस प्रणाली को नहीं अपनाया तो केवल इसी उपेक्षा के बल पर वे आदर्शवत् नहीं हो सकते। इतिहास के प्रमाण तो दोनों पक्षों मे हैं। विपक्षियों की दूसरी दलील तो और भी तर्कपूर्ण रही। उन्होंने नाटक में तुक अथवा छन्दयुक्त संवाद को अत्यन्त अस्वाभाविक घोषित किया, क्योंकि यह कभी नहीं देखा गया है कि कोई भी व्यक्ति तुकपूर्ण भाषा मे बातचीत करता हो; सभी व्यक्ति दिन-प्रतिदिन के कार्यों मे गद्य का ही प्रयोग करते हैं और भावावेश में तो वे मुक्तक का प्रयोग तक कर डालते हैं; परन्तु छन्दबद्ध कथोपकथन तो अत्यन्त कृत्रिम साधन है। इसके प्रयोग से यह प्रतीत होने लगता है कि समस्त कथोपकथन पहले से ही प्रस्तुत है और पात्र केवल उसे दुहरा रहे हैं। जिस प्रकार कुछ जादूगर अपने कण्ठ से इस प्रकार की बोली बोलते हैं जैसे मालूम होता है कि कोई दूसरा व्यक्ति बोल रहा है; उसी प्रकार का दृश्य पात्रों द्वारा छन्द-प्रयोग से प्रस्तुत हो जाता है। पात्र भी, जादूगर के ही समान एक ही कण्ठ से दो प्रकार की भाषा—छन्दबद्ध तथा छन्दहीन—प्रयुक्त करते दिखाई देते हैं। यह प्रयोग अत्यन्त अस्वाभाविक है। इस प्रमाण के विरोध में छन्द के समर्थकों ने यह विचार रखा कि छन्द-प्रयोग से विशेषतः वे दृश्य, जहाँ आवेषपूर्ण वादविवाद रहता है, अधिक प्रभावपूर्ण हो जाते हैं और दर्शकवर्ग पर उसका प्रभाव स्थायी रूप में पड़ता है। परन्तु अस्वाभाविकता का प्रमाण दुहराते हुए विपक्षियों ने यह कहा कि यह सम्भव कैसे है कि पात्र यकायक छन्द अथवा तुक का निर्माण करता जाय और उसके प्रत्येक वाक्य मे तुक

प्रस्तुत होता जाय। इसके लिए तो पूर्व-प्रयास आवश्यक है, जिससे इसकी अस्वाभाविकता और भी अधिक गहरे रूप में प्रमाणित होगी। अस्वाभाविकता के प्रमाण का सरलता से प्रतिकार न कर सकने के उपरान्त छन्द के समर्थकों ने विवाद का दूसरा आधार चुना और मनोवैज्ञानिक आधार पर यह प्रमाणित करना चाहा कि श्रेष्ठ काव्य में कल्पना की सहज उच्छृङ्खलता को सीमित तथा परिमार्जित करने की आवश्यकता पड़ेगी और इस कार्य के लिए छन्द तथा तुक अत्यन्त उपयोगी साबित होंगे। प्रायः यह देखा जाता है कि कल्पना अपने प्रचुर कोष से इतने अधिक अलंकृत भाव एकत्र कर देती है कि उनका उपयोग कठिन हो जाता है और ऐसे अवसर पर छन्द तथा तुक कवि की सहायता करते हैं और छन्द तथा तुक के माध्यम से नियन्त्रित कल्पना सुस्थिर तथा सुव्यवस्थित हो जाती है। विपक्षियों ने इस तर्क से यह निष्कर्ष निकाला कि छन्द-प्रयोग से दृश्य-काव्य सुन्दर तो हो जायगा परन्तु स्वाभाविक नहीं रहेगा। परन्तु दृश्य-काव्य का प्रमुख गुण तो स्वाभाविकता है; यथार्थ जीवन का चित्रण है। इस लक्ष्य-सिद्धि में तो तुक और छन्द उपयोगी नहीं जान पडते। इसके साथ-साथ क्या श्रेष्ठ तथा उत्कृष्ट विचार, छन्द में सहज रूप मे अभिव्यंजित हो सकते हैं ? क्या साधारण विचार भी सौष्ठवपूर्ण रूप मे विकास पा सकेंगे ? कदाचित् नहीं। स्वाभाविकता तथा मनोविज्ञान का आधार छोडकर अब छन्द के समर्थकों ने अन्य साहित्यिक आधार ढूँढे। उन्होंने यह तर्क प्रस्तुत किया कि यदि कवि छन्द अथवा तर्कपूर्ण भाषा का प्रयोग स्वाभाविक रीति से नहीं कर सकता तो इसमें छन्द अथवा तुक का क्या दोष ? दोष तो है कवि का; उसकी अनुभवहीनता का; उसकी प्रतिभा का। अनुभवी कवि अनेक व्याकरणात्मक तथा शाब्दिक साधनों से छन्द तथा तुक को सहज रूप मे प्रयुक्त कर सकते हैं और दृश्य-काव्य विशेषतः दुःखान्तकी की आत्मा के विकास के उपयुक्त वातावरण भी प्रस्तुत कर सकते हैं। दुःखान्तक रचनाओं में वातावरण का महत्व अधिक रहता है और इस आदर्श वातावरण को प्रस्तुत करने में छन्द तथा तुक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होंगे। रही दोषों की बात। दोष तो दोनों—छन्द तथा मुक्तक—में हैं और श्रेष्ठ लेखक अपने प्रयोग द्वारा ही उन दोषों को दूर कर सकता है। छन्द तथा तुक में दोष तभी आता है जब कवि पहले से ही तुक वाले शब्द एकत्र कर लेता है और फिर पंक्तियाँ और पद-निर्माण करने लगता है, जो अधिकांशतः अस्वाभाविक तथा अग्राह्य हो जाते हैं। देश की साहित्यिक उन्नति करने के विचार से यह तर्क भी रखा गया कि पूर्वजों ने मुक्तक-छन्द-प्रयोग की मर्यादा स्थापित की और उसमें नैपुण्य प्राप्त किया;

इस युग के लेखकों को छन्द तथा तुक की मर्यादा स्थापित करनी चाहिए। अनुभव के आधार पर बाद में यह सिद्धान्त मान्य रहा कि दुःखान्तकी के लिए छन्द तथा तुकपूर्ण भाषा की अपेक्षा मुक्तक छन्द अधिक उपयोगी तथा फलप्रद होगा।

कल्पना-तत्त्व

काव्य में कल्पना-शक्ति को अन्य गुणों की अपेक्षा अधिक महत्त्व प्रदान किया गया। कल्पना उस चालक के समान है जो आकाश में उड़ता हुआ सभी स्थलों की सूचना चित्र रूप में उपस्थित करता है अथवा वह उस माली के समान है जो द्रुत गति से पुष्पों की आकर्षक माला बना दे अथवा वह उस सन्देशवाहक द्रुतगामी हंस के समान है जो हमारे स्मरण-शक्ति के कोष से, चित्र रूप में, नीर-क्षीर-विच्छेद करके हमारे विचार प्रस्तुत कर देता है। वीर-काव्य मे व्यक्तियो के कार्यों तथा उनकी भावनाओं के आनन्ददायी चित्र कल्पना-शक्ति प्रस्तुत करती है। उसकी आत्मा न तो शब्द-चातुर्य में है न विरोधाभास में और न गम्भीर वाक्य-विन्यास में, वरन् आनन्ददायी तथा सजीव भाव-निरूपण मे ही उसकी आत्मा निहित है। उसका लक्ष्य रुचिकर भाषा द्वारा भावों को साकार बनाना है, वह प्रकृतिस्थ वस्तुओं को नवीन रूप देती है और उनका आकर्षण द्विगुणित करती है, और जिस उत्कृष्ट रूप मे वह प्राकृतिक वस्तुओ का चित्र प्रस्तुत करती है, उसकी समता अन्य कोई भी कला नहीं कर सकती। साधारणतः कल्पना के प्रमुख कार्य तीन हैं। पहला कार्य है भाव अथवा विचार-संकलन; दूसरा है भावों का वैभिन्न्य-निर्देशन तथा उनकी रूप-रेखा का निर्माण; और तीसरा कार्य है भावो की रूप-रेखा निश्चित करने के पश्चात् उन्हें सुसज्जित करके आकर्षक रूप मे प्रस्तुत करना। ये तीनो कार्य कल्पना सहज ही सम्पादित कर देती है, क्योंकि इस कार्य के लिए जिन महत् गुणों की आवश्यकता होती है वह उसमे प्रचुर मात्रा मे रहते हैं। कल्पना की गति, उसे प्रत्येक क्षेत्र में क्षण-भर में ही पहुँचा देती है और जिस विद्युत् गति से वह हर क्षेत्र में विचरण करती है, वह बुद्धि के परे है। इस गुण के कारण उसमें दैवी प्रभाव रहता है। दूसरे उसके कोष में इतनी प्रचुरता रहती है कि वह कभी रिक्त नहीं होता और वह मनोनुकूल उस कोष का प्रयोग कर सकती है। उसका तीसरा गुण है प्रदर्शन की सत्यता। उसके द्वारा प्रदर्शित भावों तथा विचारों में जितनी स्पष्टता, जितना यथार्थ तथा जितनी सत्यता रहेगी उतनी और कहीं नहीं दृष्टिगत होगी।

पिछले युग के नाटककारों की रोमांचक रचनाओं में प्राचीन यूनानी

निर्णयात्मक आलोचना की प्रगति : प्राचीन तथा नवीन नाटक-रचना-शैली

नाटक-रचना-सिद्धान्तों की जो उपेक्षा हुई उसके फलस्वरूप निर्णयात्मक आलोचना-क्षेत्र में नवीन स्फूर्ति आई और प्राचीन तथा नवीन सिद्धान्तो की तुलनात्मक मीमांसा आरम्भ हुई। कुछ साहित्य-कारों का विचार था कि प्राचीन नाटककारो ने प्रकृति का अनुकरण अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में किया था और इस कला में उनकी समता कठिन थी। अरस्तू तथा हारेस के बनाए हुए नाटक-सिद्धान्तो—विशेषतः देश, काल तथा कार्य का समन्वय—की महत्ता अक्षुण्ण थी और उनका अनुसरण ही साहित्य के लिए कल्याणकारी था। यूनानी नाटक-कारों की रचना-शैली तथा वस्तु के निर्वाह का ढंग भी अद्वितीय था। इसी कारण उनकी समस्त रचनाओं मे आकर्षण सतत रूप में प्रस्तुत है। पिछली शती के कलाविदों तथा विज्ञ लेखकों का भी यही आदेश था कि उन्हीं का अनुसरण श्रेयस्कर होगा। इस एकांगी विचार का खण्डन अनेक विद्वानो ने अत्यन्त तर्कपूर्ण रीति से किया। प्राचीन नाटककारों की रचनाएँ अनेक दृष्टि-कोणों से दूषित थीं। यूनानी नाटककार, नाटको के अंको में विभाजन की शैली से अनभिज्ञ थे जिसके कारण उनके नाटक विस्मयविहीन तथा अनाकर्षक होते थे। उनकी रचनाओं की विषय-वस्तु बहुत-कुछ प्राचीन कथानकों तक ही सीमित थी और एक ही कथानक बार-बार दुहराया जाता था। उनमें न तो नवीनता थी, न मौलिकता। देश-काल के सामंजस्य का निर्वाह भी वे पूर्ण-तया नहीं करते थे। उनकी विषय-वस्तु के समान ही उनका विचार-क्षेत्र भी बहुत संकुचित था और वे क्रूरता, उच्चाकांक्षा तथा दैहिक लालसा इत्यादि की भावनाएँ ही प्रदर्शित करते थे। प्रेम तथा स्नेह नामक भावनाएँ उनके नाटको में स्थान न पाती थीं। इसके विपरीत तत्कालीन तथा पिछली शती के नाटक-कारों का भावना-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था; उनमें नवीनता तथा मौलिकता थी; वस्तु तथा उपवस्तु के आनन्ददायी तथा सफल प्रयोग का उन्हे पूर्ण ज्ञान था और वे विचारों तथा भावो के आधार पर नाटक का विभाजन अंकों तथा गर्भांको के रूप में करते थे। अपनी मनोवैज्ञानिक सूझ के फलस्वरूप वे मिश्रि-तांकी का निर्माण कर चुके थे और कर रहे थे, क्योंकि दुःख-सुख, हास्य-रोदन, आनन्द-शोक इत्यादि विपरीत भावो के एक साथ प्रदर्शन मे ही जीवन का यथार्थ तथा जीवन की सत्यता निहित थी। यूनानी कलाकार इस तथ्य को नहीं समझते थे और वे जीवन का एकांगी चित्र प्रस्तुत करके ही सन्तुष्ट हो जाते थे। उनका विचार था कि दो विरोधी भावों के साथ-साथ निरूपण से, दोनों

भाव विरोधाभास के कारण निष्प्राण हो जाते हैं और किसी एक का भी प्रभाव स्थायी रूप मे नही पड़ता। वास्तव में यह प्राचीन सिद्धान्त भ्रामक था, क्योंकि दो विरोधी भावों के साथ-साथ रहने से तो दोनों भाव और भी तीव्र रूप में प्रदर्शित होंगे। विरोधाभास द्वारा दोनों का अनुभव भी अत्यन्त तीव्र रूप में होने लगेगा। मनोविज्ञान, अनुभव तथा जीवन के आदर्श मिश्रितांकी के पक्ष मे थे अतः पिछली शती तथा तत्कालीन नाटककारों की श्रेष्ठता प्रमाणित है।

दु:खान्तकी की आत्मा

नाटक-रचना तथा अनुवाद-विषयक सिद्धान्तो के विश्लेषण में इस युग के आलोचकों की साहित्यिक सूझ का और भी विशद प्रमाण मिलता है। दुःखान्तकी, सुखान्तकी तथा प्रहसन के तत्त्वों एवं शैली के विवेचन मे अनेक प्राचीन नियमों की झलक दिखाई दे जाती है; तथापि उनमें युग की आलोचनात्मक सूझ तथा ऐतिहासिक और तुलनात्मक आलोचना-प्रणाली का प्रसार प्रदर्शित है। कर्मों के अनुपात में सफलता तथा विफलता, हर्ष तथा शोक का अनुभव दुःखान्तकी का मुख्य आधार है। पात्र जैसा कार्य करता है उसी अनुपात मे उसे सुख अथवा दुःख मिलता है। यह भावना जगन्नियन्ता के प्रति असीम श्रद्धा का प्रसार करती है। (परन्तु संसार में ऐसा देखने को तो मिलता नहीं, अधिकतर तो पुण्यात्मा तथा सुकर्म करने वाले ही अनेक कष्ट भोगते हैं और दुष्ट तथा छल-प्रपंच में रहने वाले सांसारिक सुख भोगते दिखाई देते हैं। इस विचार को पिछली शती के आलोचको ने भली भाँति हृदयंगम करके ही अपने रोमांचक नाटको की रचना की थी और पात्रो को कर्मानुसार फल-प्रदान न करके जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने की चेष्टा की थी।)

सुखान्तकी

सुखान्तकी तथा प्रहसन के तत्त्वों की विभिन्नता पर मौलिक रूप मे विचार हुआ और सुखान्तकी की परिभाषा मे यह स्पष्ट किया गया कि सुखान्तकी के पात्र निम्न श्रेणी के व्यक्ति रहेंगे और उनके उन साधारण विचारों तथा कार्यों, प्रवृत्तियो तथा प्रपंचों का प्रदर्शन रहेगा, जिनका अनुभव हमें जीवन में प्रतिक्षण होता रहता है। प्रहसन में अस्वाभाविक प्रवृत्तियो तथा कार्यों का ही प्रदर्शन रहता है; उसमे प्रदर्शित हास्य भी अस्वाभाविक तथा अस्थिर रहता है। कार्य रूप में, सुखान्तकी मानव-चरित्र की त्रुटियो को प्रदर्शित करके आनन्द प्रदान करती है और प्रहसन केवल अमानुषिक तथा अव्यवस्थित कार्य-प्रदर्शन से दर्शकवर्ग का जी बहलाता है। सुखान्तकी मानव-चरित्र के दोषो का सजीव विवरण देकर ऐसे व्यक्तियो को प्रभावित करती है जिनमे सुरुचि तथा

सुबुद्धि दोनों की विशेष मात्रा रहती है, परन्तु प्रहसन का प्रभाव उन्हीं व्यक्तियों पर सफल रूप में पड़ता है जिनमें न तो सुबुद्धि होती है और न जो जीवन को सम्यक् रूप मे समझते ही हैं। ऐसे व्यक्ति प्रहसन के अतिशयोक्तिपूर्ण भावों तथा उसकी विच्छृङ्खलता पर मुग्ध हो जाते हैं। वास्तव में सुखान्तकी का प्रभाव मनुष्य की सुबुद्धि तथा निर्णयात्मक शक्ति पर पड़ता है और प्रहसन केवल उसकी परिकल्पना को ही प्रभावित करता है। इसी कारण सुखान्तकी द्वारा प्रस्तुत हास्य हमें मानसिक सन्तोष तथा आनन्द देता है और प्रहसनात्मक हास्य हमारी घृणा की भावना की ही तृप्ति करता है। हास्य का सफल प्रदर्शन दो विभिन्न रीतियों से होता है। पहली रीति शाब्दिक अथवा श्लेषात्मक कही जा सकती है और दूसरी परिहासात्मक। शाब्दिक अथवा श्लेषात्मक हास्य सूझ पर निर्भर रहेगा और परिहासात्मक हास्य विरोधी अथवा विषम विचारों में समानता की ओर संकेत करने के फलस्वरूप अभीष्ट-सिद्धि करेगा।

अनुवाद-शैली

अनुवाद के सिद्धान्तो पर भी महत्त्वपूर्ण रीति से विचार हुआ और प्रचलित अनुवाद की शैली का विवेचन साहित्यिक सुबुद्धि द्वारा किया गया। अनुवाद-शैली के तीन विभिन्न आधार हैं—शब्दानुवाद, भावानुवाद तथा अनुकरण। शब्दानुवाद-प्रणाली को अपनाने वाला लेखक मूल कृति के प्रत्येक शब्द का पर्याय ढूँढकर प्रत्येक वाक्य का अनुवाद करता है। भावानुवाद में शब्दों पर ध्यान नहीं दिया जाता, अर्थ का ही अधिक ध्यान रखा जाता है और लेखक मनोनुकूल सफल अभिव्यक्ति के हेतु भावों को घटा-बढा सकता है, परन्तु उन्हें परिवर्तित नहीं कर सकता। परन्तु अनुकरण-प्रणाली में तो उसे और भी स्वतन्त्रता रहेगी। वह मूल लेखक की रचना का आधार लेकर, उसी रूप रेखा को अपनाकर, दूसरी रचना प्रस्तुत करेगा; वह मूल कृति के शब्दों और उसके अर्थ की रक्षा न करके एक नवीन रचना प्रस्तुत करेगा। वह इस प्रकार रचना करेगा मानो उसने कवि का स्थान ले लिया हो और अपने दृष्टिकोण और अपनी रुचि के अनुसार समस्त रचना को देख रहा हो।

साहित्यिक दृष्टि से भावानुवाद करना ही लेखकों के लिए फलप्रद होगा। शब्दानुवाद करना तो ऐसे नृत्य करने वाले के समान है जिसके हाथ-पैर बाँध दिये गए हों; और अनुकरण-प्रणाली मे तो अनुवाद की कहीं छाया भी नहीं मिलेगी। केवल भावानुवाद में वाञ्छित स्वतन्त्रता मिलेगी तथा मूल की आत्मा सुरक्षित रह सकेगी। सफल भावानुवाद के लिए दोनों भाषाओं—मूल तथा अनुवाद—में लेखक की गति होनी चाहिए। बिना दोनों भाषाओं के

पूर्ण ज्ञान के न तो वे मूल का ठीक-ठीक अर्थ ही लगा पायेंगे और न उसका सफल अनुवाद ही कर सकेंगे। प्रत्येक भाषा के मुहावरे तथा प्रत्येक भाषा के शब्द अलग-अलग होते हैं और अनुवाद में मुहावरों तथा भावों की सफल अभिव्यक्ति तभी होगी जब उसके पर्याय से लेखक परिचित हो अथवा ऐसे सुरुचिपूर्ण पर्याय चुन ले जो मूल के अत्यन्त निकट हों।

कला की आत्मा

कला के आलोचनात्मक लक्ष्य की व्याख्या करते हुए यह सिद्धान्त मान्य हुआ कि कला का प्रधान गुण प्रकृति में निहित आदर्शों का अनुसन्धान तथा प्रकाशन है। कला आदर्शव्रत् तभी होगी जब वह प्रकृति का सत्य रूप में अनुसरण करती हुई तथा अनुभव के अनेक निरर्थक अथवा असंबद्ध क्षेत्रों से अपने को सुरक्षित रखती हुई आदर्श तत्त्वों के अनुसन्धान में संलग्न रहे। चित्र-कला तथा काव्य-कला के क्षेत्र में इस सिद्धान्त की मर्यादा अत्यन्त स्पष्ट रूप में विदित है। चित्रकार अपने विचारों को ऐसे व्यापक रूप में प्रस्तुत करता है कि उनमें निहित सत्य सर्वगत तथा सर्वव्यापी हो जाता है। प्रकृति का एकांगी चित्रण प्रकृति की आत्मा के साथ अन्याय है, यह चित्रण व्यापक न होकर किसी एक परिस्थिति का चित्रण-मात्र होगा। जब कलाकार अपने कल्पना-जगत् में, आदर्श सौन्दर्य की रूप-रेखा स्थिर करके उसके व्यापक रूप की अभिव्यंजना आरम्भ करेगा तभी वह श्रेष्ठ कलाकार के नाम से प्रतिष्ठित होगा। आदर्श कलाकार वही है जो सौन्दर्य-किरण के अनन्त स्रोत का अनुसन्धान करता हुआ मानव के सम्मुख दैवी ज्योति प्रज्वलित करे।

निर्णयात्मक आलोचना की प्रगति

निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली के प्राचीन आधारों की कोई विशेष व्याख्या न हुई। केवल अरस्तू का ही सिद्धान्त दुहराया गया। अरस्तू के अनुसार आलोचना का ध्येय निर्णय करने की समुचित रीति का ज्ञान कराना था और सर्वश्रेष्ठ आलोचनात्मक रीति वही थी जो साहित्य की उत्कृष्टता का अनुसन्धान करती और साधारण सुबुद्धि के व्यक्तियों को आनन्द-प्रदान करती। इस विचार को इस युग के आलोचकों ने भली भाँति समझकर साहित्य को स्वतन्त्र रूप से परखने का आदेश दिया। इस दृष्टि से यूनानी आलोचक लोंजाइनस के विचारों की छाया इस युग पर विशेष रूप मे है। साहित्य की परख के प्राचीन मान्य सिद्धान्तों में नियमों तथा उपनियमों की धूम थी; नियम ही प्रमुख थे, रचना गौण। इस शती के प्रमुख आलोचक[1]

---

१. जान ड्राइडेन

ने अत्यन्त मौलिक रूप में साहित्य की आलोचना-प्रणाली बनाई। उनके विचारों के अनुसार प्रत्येक साहित्यिक कृति की श्रेष्ठता का माप उसके प्रभाव के अनुपात में निहित है। कौनसी रचना पाठक पर कैसा प्रभाव डालती है? प्रभाव बुरा अथवा अच्छा है? यही प्रत्येक रचना की उत्कृष्टता का प्रमाण प्रस्तुत करेगी। कोरे नियमों के बल पर साहित्यिक कृति की श्रेष्ठता की जाँच भ्रामक ही नहीं, अपूर्ण भी होगी। पाठकवर्ग के ऊपर जैसा तथा जितना प्रभाव पड़े वैसे ही तथा उसी अनुपात में रचना श्रेष्ठ अथवा हीन होगी, शैली की श्रेष्ठता का निर्णय भी प्रभाव के आधार पर ही होना चाहिए। प्राचीन युग के आलोचक शब्द, व्यंजना, अलंकार इत्यादि की छानबीन में लगे रहते थे। वे साहित्यिक शैली के रहस्यों का उद्‌घाटन नियमों के बल पर करना चाहते थे और उन्हें शायद ही सफलता मिली हो। आनन्द-प्रदान ही श्रेष्ठ शैली का मूलाधार है। यदि साहित्य हमें इस जगत् से उठाकर एक ऐसे आनन्द-दायी जगत् में ले जाकर बिठा दे जहाँ हम अपनी सुध-बुध भूलकर आनन्दातिरेक मे डूबने-तिराने लगें तो वह साहित्य निश्चित रूप में उत्कृष्ट है, इसमे कोई भी सन्देह नहीं। श्रेष्ठ साहित्य का यही प्रमुख लक्ष्य है। यों तो सभी साहित्य का साधारण उद्देश्य शिक्षा-प्रदान होता है। परन्तु उसका महत् उद्देश्य—विशेषतः काव्य का—आनन्द-प्रदान है। साहित्यालोचन की यह मौलिक और स्वतन्त्र प्रणाली इस युग की विशेष निधि है।

तुलनात्मक आलोचना-शैली का जन्म

सत्रहवीं शती के पहले के पचास वर्षों में जहाँ कोई आलोचनात्मक प्रगति नहीं हुई वहाँ एक ही लेखक के कुछ साहित्यिक कार्यों ने इस युग को महत्त्वपूर्ण बना दिया। अब तक के आलोचक, केवल अपना ही साहित्य पढकर, प्राचीन नियमों के आधार पर आलोचना आरम्भ करते थे। इस काल में, अनेक देशों के साहित्य का अध्ययन सम्यक् रूप मे हुआ और तुलनात्मक रूप मे साहित्य की आलोचना का श्रीगणेश हुआ। अब आलोचना-क्षेत्र नियमों के परे रखा गया और वैयक्तिक रुचि के अनुसार साहित्य का मूल्यांकन होने लगा। अब तक तो प्राचीन आलोचनात्मक नियम यह बतलाते थे कि आलोचक को किसकी प्रशंसा करनी चाहिए और किसकी भर्त्सना; परन्तु इसी काल से आलोचना-साहित्य में नवीन शब्दावली का प्रयोग हुआ, नियमानुगत सिद्धान्तों की अपूर्णता सिद्ध की गई और पाठकवर्ग की रुचि ही साहित्यिक श्रेष्ठता की प्रमुख निर्णायक मानी गई। अब से साहित्यिक रचना का दृष्टिकोण मूल रूप में परिवर्तित हो गया। नियमों के सहारे साहित्य-रचना

निकृष्ट समझी जाने लगी। वही साहित्य श्रेष्ठ होगा जो आनन्ददायी हो, सत्य का निरूपण करे, प्रकृति का अनुकरण करे, न्याय का पक्ष ले और प्राचीन सिद्धान्तों की बेड़ियाँ काटकर अलग कर दे। साहित्यिक रचना को व्यापक रूप से परखने का आदर्श भी इसी काल में प्रस्तुत हुआ। अब तक की आलोचना का अधिकांश एकांगी होता था; एक ही विशेष पक्ष पर केन्द्रित रहता था। आलोचक को अब यह आदेश मिला कि वह अपने-आप को नियमों के बन्धन से मुक्त करके कुछ साधारण प्रश्न अपने से पूछे और उत्तर के अनुरूप ही आलोचना लिखे। 'क्या यह रचना मुझे आनन्द देती है ?' 'यह रचना मुझे क्यो आनन्दित करती है ?' 'क्या कोई ऐसा विशेष कारण भी है जो यह रचना मुझे अरुचिकर है ?' इन्हीं प्रश्नो के उत्तर में श्रेष्ठ आलोचना की आत्मा छिपी हुई है। वस्तुतः आलोचक को प्रत्येक रचना अथवा लेखक को परखने का आदेश मिला और एकांगी दृष्टिकोण की न्यूनता सिद्ध की गई। श्रेष्ठ आलोचक अपनी रुचि का विवेचन सरल, स्पष्ट तथा प्रभावपूर्ण भाषा में ज्यों ही करता है त्यो ही श्रेष्ठ आलोचना की आत्मा उसमें जगमगाने लगती है।

रूढ़िगत तथा नवीन आलोचना का द्वन्द्व

सत्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध तथा अन्तिम चरण में यद्यपि दो-चार आलोचकों के दर्शन होते तो अवश्य हैं परन्तु उनकी आलोचना तत्कालीन तथा पूर्ववर्ती कवियो तथा नाटककारों की कृतियो मे छिद्रान्वेषण-मात्र है। उनमे न तो साहित्य के मूल्यांकन की तत्परता है और न उसकी आत्मा को समझने की क्षमता। यद्यपि उनमें विद्वत्ता की मात्रा कम नहीं फिर भी कोई आलोचनात्मक सूझ नहीं। अधिकतर वे प्राचीन नियमो के प्रसार में ही दत्तचित्त हैं और जो भी रचना उन नियमों का उल्लङ्घन करती और जीवन को नवीन दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न करती उनके व्यंग्य-बाण का शिकार बन जाती। रोमांचक रचनाएँ इस श्रेणी के आलोचकों को फूटी आँख भी नहीं सुहातीं और वे उस पर अनेक प्रकार के असाहित्यिक आक्षेप कर बैठते हैं। उनका यह विश्वास-सा है कि यदि आलोचक सतर्क नहीं रहेंगे और नियमों की मर्यादा भंग होते देखते रहेगे तो साहित्य-जगत् में अत्यन्त गड़बड़ी फैल जायगी और उसमें इतनी अस्त-व्यस्तता आ जायगी जो आलोचको के सँभाले न सँभलेगी; और लेखकवर्ग अपनी निष्प्राण तथा विकृत रचनाओं से साहित्य-क्षेत्र को भर देगा। आलोचकवर्ग को इस चेतावनी के साथ-साथ यह आदेश भी मिला कि उन्हे श्रेष्ठ कलाकारो की उचित प्रशंसा भी करनी चाहिए और ऐसे लेखकों की भर्त्सना जो साहित्य को दूषित कर रहे हैं। इस काल में, यह सही है कि कभी-कभी श्रेष्ठ कवियों की थोड़ी-बहुत प्रशंसा

की झलक मिल जाती है जहाँ उनकी व्यापक आत्मा तथा निर्णयात्मक शक्ति का प्रभाव अवश्य मिलता है।

पिछली शती के श्रेष्ठ रोमांचक दुःखान्तकियों की अत्यन्त कटु आलोचना इस युग के उत्तरार्द्ध में प्रस्तुत की गई, क्योंकि आलोचक न तो कल्पना-जगत् की सौन्दर्यात्मक अनुभूति से ही परिचित थे और न उसमें निहित काव्य की आत्मा की ही परख कर सकते थे। जहाँ-जहाँ कल्पना तथा परिकल्पना, यथार्थ की परिधि छोड़कर, सीमाहीन काव्य-संसार में विचरण करती दिखाई दे जाती आलोचकवर्ग क्रोधित हो उठता। वे तर्क की मर्यादा का उल्लङ्घन सहन नहीं कर सकते थे और उसी की कसौटी पर कल्पनापूर्ण रोमांचक रचनाओं को कसते थे। और जब उन्हें इस सीमित परिधि के बाहर के जगत् को समझने की चुनौती मिलती तो वे क्रोधवश यही कहते कि घोड़ों की हिनहिनाहट तथा कुत्तों की गुर्राहट[1] इन रचनाओं से कहीं अधिक अर्थपूर्ण होगी। इन आलोचकों ने साहित्य-क्षेत्र में, मनोविज्ञान के सिद्धान्तों की रक्षा की दुहाई दी, परन्तु वे स्वयं मनोवैज्ञानिक सत्यों के अन्तःस्वरों को नहीं पहचान सके।

हाँ, गद्य-क्षेत्र में कुछ आलोचकों ने पिछली शती की गद्य-शैली की अलंकारप्रियता, शब्दाडम्बर, विस्तृत कथन इत्यादि की आलोचना करते हुए सरल तथा स्वाभाविक शैली को श्रेयस्कर घोषित किया। यही उनकी विशेष देन है।

उपसंहार

अंग्रेज़ी आलोचना-साहित्य के इतिहास में सत्रहवीं शती का विशेष महत्त्व है। इसी शती में कुछ ऐसे आलोचनात्मक तथ्यों का स्पष्टीकरण हुआ जो आज तक आलोचना-जगत् को प्रेरित किये हुए हैं। आलोचना की आत्मा की इतनी व्यापक अनुभूति कदाचित् पिछले किसी और युग में नहीं हुई थी। प्राचीन, मध्य तथा पुनर्जीवन युग में यद्यपि आलोचना का विकास तथा उसकी प्रगति हुई परन्तु जिस क्रियात्मक रूप से साहित्य-क्षेत्र में आलोचना का प्रयोग इस युग में आरम्भ हुआ वैसा किसी अन्य युग में नहीं हुआ। इसी शती की आलोचना-धारा कुछ अंशों में अठारहवीं शती में भी प्रवाहित रही और उन्हीं के प्रवाह के अन्तर्गत उन्नीसवीं तथा बीसवीं शती की रूप-रेखा का निर्माण हुआ। वास्तव में सत्रहवीं शती में ही कुछ बिखरे हुए साहित्य-सिद्धान्तों की रूप-रेखा स्थिर की गई, उनको सुव्यवस्थित रूप मिला तथा उनकी सूची तैयार की गई और मान्य नियमों के उदाहरण ढूँढ निकाले गए।

---

१. टामस राइमर

नाटक-रचना-क्षेत्र में अत्यन्त क्रान्तिकारी नव-सिद्धान्त बने। प्राचीन युग की नाटक-रचना-परम्परा नाटकों को न तो अंकों में विभाजित करती थी और न उसके गर्भांक ही स्थिर करती थी। जो-कुछ भी कथावस्तु का विभाजन या संकेत होता था सहगायकों[1] की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति के कारण होता था। इस काल के नाटककारों तथा आलोचको ने देश-काल-कार्य के सामंजस्य के नियम को मनोवैज्ञानिक आधार पर थोड़ा-बहुत परिवर्तित किया और अंकों तथा गर्भांकों की विशद व्यवस्था बनाई। वीर-काव्य-रचना में कथानक, अनेक स्थलों का (महाकाव्य के अनुरूप) संगठन इत्यादि का महत्त्व घोषित किया। नाटक-रचना के महत्त्व तथा उसके कल्पनात्मक सौन्दर्य की प्रशंसा की गई और वीर-काव्य की भव्यता तथा उसकी महत्ता सर्वमान्य ठहराई गई। परन्तु साहित्य का वर्गीकरण इस रूढ़िवादी रूप मे हुआ कि उसमें परिवर्तन अनावश्यक समझा गया, क्योंकि जो भी आलोचक आलोचना लिखता वर्ग का ध्यान पहले रखता, साहित्यिक गुणों का बाद में। जो साहित्य किसी वर्ग के अन्तर्गत नहीं आता उसकी आलोचना ही न होती और यदि होती भी तो केवल उसकी दुर्दशा होती। साहित्य के इस रूढ़िगत वर्गीकरण के कारण अनेक मौलिक तथा कल्पनात्मक रचनाओं की परख न हो सकी और जो भी लेखक इस प्रकार की रोमांचक रचनाओं के रचयिता थे उन्हें सम्मान नहीं मिला।

काव्य के उद्देश्य तथा कवि-धर्म की व्याख्या करते हुए यह आदर्श सर्वमान्य रहा कि काव्य को शिक्षा-प्रदान करने के साथ-साथ आनन्ददायी भी होना चाहिए। नियमों के अनुसार लिखे हुए काव्य में भी आनन्द-प्रदान की मात्रा अवश्य होनी चाहिए। यद्यपि दो-चार आलोचकों ने ही काव्य में आनन्द-प्रदान प्रमुख माना था परन्तु दृष्टिकोण बदल रहा था। प्राचीन युग में निर्मित नियमों की मान्यता एक प्रकार से इस युग में स्थायी-सी हो गई थी। जिन व्यक्तियों ने प्राचीन तथा नवीन साहित्य की तुलनात्मक महत्ता का प्रतिपादन करना चाहा वे वास्तव में रूढ़िग्रस्त थे और प्राचीन नियमों की परिधि मे ही घूम रहे थे। परन्तु इसी युग में ही ऐतिहासिक, तुलनात्मक तथा निर्णयात्मक आलोचना का स्पष्ट और स्वस्थ रूप दिखाई देगा; इसी युग में अनेक देशों के साहित्य की तुलनात्मक समीक्षा भी हुई; साहित्यालोचन में आनन्द के तत्त्व को प्राधान्य मिला और साहित्य द्वारा किसी को आनन्द की अनुभूति क्योंकर होती है और अमुक प्रकार का साहित्य अमुक व्यक्ति को क्यो रुचिकर होता है, इसके अनुसन्धान का सफल प्रयत्न पहले-पहल हुआ।

1. देखिए—'नाटक की परख'

आलोचना-क्षेत्र में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साहित्यिक तत्त्व का अनुसन्धान मौलिक रूप में हुआ। यह था साहित्यिक प्रभाव का विवेचन। प्रत्येक साहित्य में सुरुचि तथा सुप्रवृत्ति का प्राधान्य होना चाहिए और बिना इस गुण के कोई भी साहित्य न तो हितकर होगा और न महत्त्वपूर्ण। परन्तु इस युग की सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि प्रत्येक आलोचक सुरुचि तथा सुप्रवृत्ति की मनमानी परिभाषा बना लेता था। कुछ केवल वर्गीकरण में ही इसका प्रकाश पाते, कुछ दो-चार गुणों के अनुसन्धान मे इसकी पूर्ति देखते और कुछ को औचित्य की मर्यादा में ही सुरुचि का विकास मिलता। साधारणतः आलोचक ऐसे थे जो प्राचीन यूनानी तथा रोमीय कवियों द्वारा व्यवहृत कुछ-एक नियमों को सूत्र रूप में मानकर उन्हें समस्त साहित्य पर लागू किया करते; कभी वे प्राचीन कवियों द्वारा ही उन नियमो की अवहेलना से क्षुभित होकर दूसरे नियम ढूँढने लग जाते और उनको भी समस्त साहित्य पर लागू करने की चेष्टा करते। ऐसे अनुसन्धान और वैषम्य के कारण इस युग की बहुत-कुछ आलोचना विकृत हो गई। केवल एक आलोचक[1] को छोड़कर कोई यह जान ही न पाया कि सत्-समालोचना का महत् उद्देश्य सौन्दर्य का अनुसन्धान तथा उसका आकर्षक निरूपण है। इतना होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि इसी युग से रोमांचक आलोचना-प्रणाली का बीजारोपण हुआ और प्राचीन यूनानी तथा रोमीय साहित्य-शास्त्र की परिधि मे ही, विचार-स्वातन्त्र्य की मान्यता स्थापित हुई।

यदि व्यापक रूप से इस युग की आलोचनात्मक समीक्षा की जाय तो यह सरलता से स्पष्ट हो जायगा कि अधिकतर आलोचनात्मक नियम जो बने वे केवल निषेधात्मक ही थे; परन्तु उनमें श्रेष्ठ आलोचना के बीज अवश्य थे। मध्य-युग में कुछ आलोचना थी ही नहीं और सोलहवीं शती मे केवल साहित्य-निर्माण की ही धुन थी और आलोचना-निर्माण की ओर ध्यान कम था। इसी युग से आलोचना-क्षेत्र में स्थायित्व आना आरम्भ हुआ; साहित्यिक इतिहास लिखने की परम्परा चली; मान्य आलोचनात्मक नियमों के आधार पर साहित्य की आत्मा का विश्लेषण आरम्भ हुआ। परन्तु साहित्य-निर्माण की दृष्टि से यह युग अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं; काव्य-रचना मे न तो मौलिकता थी और न व्यापकता। और यह स्वाभाविक ही था, क्योंकि पिछली शती मे जिस प्रचुर मात्रा में तथा जिस श्रेष्ठ कोटि की काव्य-रचना हुई थी उसके पश्चात् कुछ दिनो के लिए कोई लिखता भी क्या। काव्य को तरंगित

१. ड्राइडेन

तथा उद्वेलित करने वाले मानवी भाव कुछ काल के लिए सुप्त हो गए थे; परन्तु नियमों के स्रोत सूखे न थे और इसीलिए नियम तो बनते गए मगर काव्य निष्प्राण ही रहा। हाँ, गद्य-शैली में विशेष परिवर्तन हुआ। पिछले युग का गद्य काव्य के समान पराकाष्ठा पर न था; उसमें अनेक गुणों की कमी थी और जो-जो नियम गद्य के विषय मे बने वे इतने उपयोगी तथा आवश्यक थे कि बिना उनके श्रेष्ठ गद्य-रचना असम्भव होती। यह साधारणतः कहा जाता है कि इस युग की आलोचना-प्रणाली ने काव्य-स्रोत सुखा दिया; परन्तु यह भी सही है कि यदि यह आलोचना-प्रणाली इसी रूप में न होती तो न तो उसके विरुद्ध आगामी युग में प्रतिक्रिया आरम्भ हो सकती थी और न रोमांचक काव्य की प्रगति ही सम्भव होती। यह एक सर्वगत साहित्यिक सत्य है कि प्रत्येक युग को उसी प्रकार की आलोचना-प्रणाली का भार उठाना पड़ता है जिसका वह पात्र होता है।

: २ :

अठारहवीं शती की आलोचना : उपहास-महाकाव्य

अठारहवीं शती के प्रथम चरण में आलोचकों ने काव्य-छन्दों तथा उनके नियमों पर प्रकाश डालने का विशेष प्रयत्न किया; लय-सम्बन्धी एक कोष भी बनाया और पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं पर अपने एकांगी विचार प्रकट करके यह सिद्ध कर दिया कि वे यूनानी तथा रोमीय साहित्य-सिद्धान्तों की परिधि के बाहर साहित्य का मूल्यांकन नहीं कर सकते थे। उन्होने साहित्य के अनेक अंगों पर प्रकाश नहीं डाला और केवल उपहास-महाकाव्य में प्रयुक्त साधनो की मीमांसा की और काव्य के कुछ प्रमुख तत्त्वों की ओर संकेत किया। उपहास महाकाव्य-रचना में विषय का चुनाव धार्मिक क्षेत्र से होना चाहिए और विषय का प्रतिपादन रूपक रूप मे ही मान्य होगा। विषय-वस्तु के अनेक भागों में सन्तुलन, सुव्यवस्था तथा विरोधाभास की रुचिकर मात्रा होनी चाहिए।

काव्य-विषय

काव्य में धर्म-सम्बन्धी विषयों का प्रतिपादन ही श्रेष्ठ समझा गया और उसका हेतु मानसिक परिष्कार। काव्य की मर्यादा इसी में समझी गई कि उसमे ईश्वर का गुणानुवाद और नैतिकता का प्रसार हो। नाटकों मे कार्य के अनुरूप फलादेश—अर्थात् बुरे कार्य का बुरा फल और अच्छे का अच्छा—का नियम मान्य हुआ। धर्माचरण तथा पापाचरण के अनुकूल तथा उसी अनुपात मे फलप्रदान यूनानी नाटककारों ने भी मान्य समझा था। इन दोनों नियमों की

मान्यता ने काव्य को निष्प्राण कर दिया और नाटक को अस्वाभाविक। काव्य की सीमा निर्धारित कर देने से उसमे अनेक श्रेष्ठ मानवी भावो के लिए स्थान न रह गया। केवल धर्म-सिद्धान्तो और नैतिक नियमो के प्रतिपादन में जब काव्य संलग्न हो गया तो उसकी आत्मा यों ही कुण्ठित हो गई। न तो उसके द्वारा आनन्द की ही अनुभूति मिल सकती और न अनेक रसों का प्रतिपादन हो सकता। इस नियमो के द्वारा काव्य की बहुत हानि हुई।

पत्रकारिता का जन्म : विषय

अठारहवीं शती के मध्य भाग मे अंग्रेज़ी साहित्य-क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ। यह महत्त्वपूर्ण कार्य था पत्रकारिता का श्रीगणेश। इसी समय से पत्रो का प्रकाशन आरम्भ हुआ और उनके अनेक आदर्श गिनाये गए। वास्तव में यह काल भी पत्रकारो की प्रतिभा के उपयुक्त ही था। साहित्यिक वादविवाद, सामाजिक विच्छृङ्खलताएँ तथा राजनीतिक वैमनस्य काफी बढ़ चला था और एक ऐसे साहित्यिक माध्यम की आवश्यकता थी जो इन सब क्षेत्रो पर प्रकाश डालता और जनता की रुचि का परिष्कार करता। यों तो आगे चलकर इन पत्रों मे अनेक प्रकार के विषयो पर जन-रुचि के परिष्कार-हेतु वादविवाद चला, परन्तु पहले-पहल दो-एक साहित्यिक आलोचको ने हास्य का विवेचन, महाकाव्य का विश्लेषण तथा काव्य में कल्पना का स्थान-निर्देश किया तथा दो-एक पुराने कवियो की साहित्यिक आलोचना प्रस्तुत की; तत्पश्चात् अनेक प्रसिद्ध कवियो की जीवनी लिखी गई तथा उनकी कृतियो की समीक्षा की गई। नाटक क्षेत्र में दुःखान्तकी, सुखान्तकी तथा मिश्रितांकी[1] पर भी कुछ स्फुट रूप में विचार हुआ और प्राचीन यूनानी परम्परागत आलोचनात्मक सिद्धान्तो की उपयोगिता प्रतिपादित की गई।

हास्य का विश्लेषण

मानव-जीवन मे, हमे पग-पग पर हास्य के दर्शन होते हैं और जगन्नियन्ता द्वारा निर्मित संसार के सभी प्राणी हँसते है। यही क्यो, समस्त प्रकृति के फल-फूल इत्यादि का हास्य भी कवि रूपक रूप में प्रस्तुत करते आए हैं। प्रायः सभी भाषाओं तथा अन्यान्य देशों के साहित्य में हरे-भरे खेत, लहलहाते लता-कुञ्ज, विकसित पुष्पावली तथा तरु-लताएँ हास्य की भावना से प्रेरित, प्रदर्शित किये गए है। नैसर्गिक रूप में हास्य हमारे आनन्द तथा सौन्दर्यानुभूति का परिचायक है। परन्तु मनुष्य का हास्य एक विशेष चित्तवृत्ति का भी परिचायक है। जब-जब मनुष्य हँसेगा तब तब उसमें अपने प्रति गर्व की मात्रा

१. देखिए—'नाटक की परख'

विशेष रूप से प्रस्तुत होती रहेगी। उदाहरण के लिए जब किसी स्थूलकाय व्यक्ति को सड़क पर केले के छिलके पर फिसलकर गिरते हुए हम देखते हैं तो उसी क्षण हम में यह भावना उत्पन्न होती है कि हम उस विशालकाय व्यक्ति से कहीं अधिक बुद्धिमान, श्रेष्ठ तथा उच्च हैं और गिरा हुआ व्यक्ति हीन, निकृष्ट तथा मूर्ख है। यही भावना हास्य-रूप में परिवर्तित हो जाती है। यह सिद्धान्त वास्तव में एक अंग्रेज़ी दर्शनवेत्ता[1] ने प्रमाणित किया था और उसे इस काल के आलोचकों ने अक्षरशः अपना लिया। कुछ लोग यह समझते हैं कि किसी भी मूर्ख व्यक्ति की उपस्थिति हास्य का कारण बन सकती है, परन्तु यह धारणा भ्रममूलक है; मूर्ख व्यक्ति की उपस्थिति केवल साधारण वर्ग के व्यक्तियों के समाज में ही हास्य प्रस्तुत करेगी। परन्तु यह भी सही है कि वक्रोक्ति[2]-प्रयोग में, पटु व्यक्तियों को हास्य प्रस्तुत करने के लिए ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती है जो सहज ही अपने हास्यास्पद कार्य प्रदर्शित करने लग जाते हैं।

हास्य का प्रयोग

हास्य का प्रकाश वस्तुतः सुखान्तकी तथा व्यंग्य-काव्य अथवा व्यंग्यात्मक नाटकों तथा प्रहसनों मे होगा। सुखान्तकी का हास्य व्यक्तियों के सामाजिक तथा सहज चरित्र-चित्रण द्वारा प्रस्तुत होता है और व्यंग्यात्मक नाटक तथा प्रहसन उन्हीं व्यक्तियों को असाधारण रूप में चित्रित करके हास्य प्रस्तुत करता है। साधारणतः हास्य के दो व्यापक आधार साहित्य में दिखाई देते हैं। पहला है वक्रोक्ति, जो तीन वर्गों में विभाजित की गई है—विचारात्मक, शाब्दिक तथा मिश्रित। और दूसरा आधार परिहास है। विचारात्मक वक्रोक्ति, विषम विचारों में निहित साम्य की ओर संकेत करती है; शाब्दिक केवल शब्दों की समानता में प्रस्तुत रहती है; और मिश्रित मे विचार तथा शब्द दोनों का सहयोग रहेगा। साधारण रूप में वक्रोक्ति असमान वस्तुओं में निहित साम्य की ओर ध्यानाकर्षण करती है।

परिहास का मूल स्रोत, मध्य-युग में मान्य, उस चिकित्सा-सिद्धान्त में था जो मानव-शरीर को चार तत्त्वों से निर्मित समझता था। 'छिति, जल, पावक, गगन, समीरा' तत्त्वों द्वारा ही शरीर निर्मित था और उन्हीं के द्वारा मनुष्य का स्वभाव भी बनता था। वायु का आधिक्य रक्त को प्रभावित करके अत्यधिक आशावादी बनाता है; 'पावक पित्त को प्रभावित करके क्रोध की मात्रा बढ़ाता

१. हॉब्स
२. 'विट'

है;- क्षिति द्वारा उदासीनता तथा विषाद उत्पन्न होता है; और जल द्वारा कफ प्रभावित होता है और स्थूलता बढ़ती है। सुखान्तक नाटककार इन्हीं तत्वों की उपस्थिति तथा उनका विकास मानव-चरित्र में देखता है। कभी-कभी ये नैसर्गिक रूप में विद्यमान् रहते हैं; कभी सामाजिक जीवन की विषमता के फलस्वरूप मनुष्य के चरित्र में प्रवेश पा जाते हैं। मनुष्य अपने स्वभाव के इतना वश में हो जाता है कि उसे कुछ भी सूझ नहीं पड़ता और वह आँखें मूँदकर अपने स्वभाव से प्रेरित हो जीवन-मार्ग पर चल पड़ता है। मूल चित्त-वृत्ति की शक्ति के सम्मुख उसकी अन्य चित्त-वृत्तियाँ हताश हो जाती हैं और व्यक्ति अपने स्वभाव के एकांगी निर्देशन को मानकर हास्यास्पद होता जाता है। उसे मर्यादा का ध्यान नहीं रहता और उसके चरित्र का स्वाभाविक तत्त्व इतना शक्तिशाली हो जाता है कि वह समाज के लिए हानिकारक बन जाता है। सुखान्तक नाटक-कार अन्यान्य व्यक्तियों में इन्हीं उपर्युक्त तत्वों के आधिक्य को प्रदर्शित करेगा और अनेक वर्गों में संघर्ष-प्रदर्शन द्वारा हास्य की सृष्टि करेगा। यह हास्य व्यक्ति के स्वभाव को परिष्कृत करके उसे समाज के उपयुक्त बनाएगा। उदाहरणार्थ एक लोभी व्यक्ति को लीजिए। लोभ उसके चरित्र का प्रधान तत्त्व है और वह उसी के फेर में रहता है और जीवन के प्रत्येक कार्य में लोभ ही को वह प्रश्रय देता है और दूसरे गुणों की परवाह नहीं करता। कोई गुण उसके चरित्र में पनपने भी नहीं पाता। ऐसे समय वह अपने लालच का दास है और नाटक-कार इसी अवगुण को लेकर सुखान्तकी की रचना कर सकता है। एक बात और हो सकती है; लालची तो वह है ही, परन्तु दूसरी ओर अपने अवगुण को छिपाने में लगा है। और ऐसी विषमावस्था हास्य का पूर्ण प्रकाश करेगी।

सुखान्तक नाटककार को इस प्रकार के ग्रस्त व्यक्तियों को नायक रूप में रखने में अनेक कठिनाइयाँ आ पडती हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि इस प्रकार का स्वभाव नैसर्गिक न होकर केवल पाखण्ड रूप में प्रस्तुत रह सकता है। व्यक्ति लालची तो नहीं, मगर वह कुछ अन्य कारणों से लालची का भेष बनाए है; और अगर सच पूछा जाय तो इसी प्रकार का पात्र सुखान्तकी में फलप्रद होगा। नैसर्गिक अवगुण में व्यक्ति का क्या दोष ? दोष तो वहीं माना जायगा जहाँ पाखण्ड हो; और सफल हास्य भी वहीं प्रस्तुत होगा।

उपरोक्त सिद्धान्त के अनुरूप विरचित सुखान्तकियों में जो सबसे बड़ी कमी दिखाई देगी वह यह है कि उसके पात्र सजीव नहीं रह सकेंगे। वे केवल अवगुणों के प्रतीक-मात्र रह जायँगे और उनके जीवन में गति न होगी; वे कठपुतली-मात्र रहेंगे। उनमें यथार्थ जीवन का संकेत नहीं मिलेगा और वे केवल

लाक्षणिक रह जायँगे। दूसरी कठिनाई यह है कि इस प्रकार के लाक्षणिक पात्रों का नाटकीय विकास न तो सम्भव है और न रुचिकर। ये पात्र केवल नाटकों में ही रह सकेंगे; उनका कोई व्यक्तित्व न होगा और जीवन से उनका कोई सम्बन्ध भी नहीं स्थापित हो सकेगा।

हास्य का वंश-वृक्ष

हास्य का विवेचन करते हुए उसका वंश-वृक्ष बनाने की भी चेष्टा की गई। हास्य-परिवार का पूर्वज है सत्य तथा सुबुद्धि। सुबुद्धि का पुत्र है वक्रोक्ति, जिसका विवाह उसी वर्ग की एक कुमारी आमोद से हुआ, जिसका ज्येष्ठ पुत्र था परिहास। परिहास में उसके पूर्वजो के अनेक गुण प्रस्तुत थे। उसमें सत्य और सुबुद्धि, वक्रोक्ति तथा आमोद के सभी तत्व कुछ-न-कुछ मात्रा में प्रस्तुत थे। कभी वह गम्भीर था कभी चंचल, कभी वक्र कभी सहज, परन्तु उसमें अपनी माता आमोद के गुण अधिक थे और वह जहाँ कहीं भी जाता अथवा जिस किसी समाज में वह उपस्थित होता हास्य द्वारा सबको आनन्दित तथा प्रमुदित रखता।

महाकाव्य-रचना-सिद्धान्त : घटनाएँ

महाकाव्य की रचना के लिए अरस्तू तथा हारेस द्वारा निर्मित सिद्धान्त ही श्रेष्ठ समझे गए और वस्तु, पात्र, भाव तथा भाषा की मीमांसा करते हुए प्राचीन महाकाव्यो में प्रयुक्त नियमो की प्रशंसा की गई। महाकाव्य का प्रधान गुण ऐसी उन्नत भावना का प्रसार है जो हमारे समस्त व्यक्तित्व को श्रेष्ठ स्तर पर रखे। पात्रो द्वारा भी ऐसे सुन्दरतम तथा भव्य भावनाओं का प्रसार होना चाहिए जो उन्नत तथा रुचिकर हो। महाकाव्य में कार्य-सम्पादन भी श्रेष्ठ रूप में होना चाहिए—उसमें अद्भुत तथा सम्भाव्य घटनाओ का ऐसा रुचिकर समन्वय होना चाहिए जो आकर्षक हो। यो तो अद्भुत घटनाओ के चुनने का स्थल रोमांचक रचनाएँ होंगी और सम्भाव्य का क्षेत्र ऐतिहासिक रचनाएँ हैं परन्तु दोनो का हृदयग्राही समन्वय महाकाव्य में ही सम्भव होगा। साधारणतः लेखक महाकाव्य लिखने मे सफल नहीं होते। इसके अनेक कारण हैं; या तो उनमें प्रतिभा नहीं और यदि प्रतिभा है तो उसका वह दुरुपयोग कर चलते हैं।

नायक

महाकाव्य का नायक अन्त में सफलता अवश्य प्राप्त करता है; यदि नायक विफल रहता है तो रचना महाकाव्य के स्तर से गिर जायगी। उसमें इतनी क्षमता और इतनी शक्ति होनी चाहिए जिसके सम्मुख उसका प्रतिद्वन्द्वी टिक

न सके। कार्य-क्षेत्र में तो वह सर्वोपरि रहेगा। मूल कार्य से सम्बन्धित अनेक स्थल महाकाव्य में रह सकते हैं, परन्तु उन स्थलो मे नाटकीय गुण होने चाहिएँ, यदि उनमें नाटकीय गुण नहीं होंगे तो वे स्थल नीरस, अग्राह्य तथा अरुचिकर हो जायँगे। कुछ लेखक अपनी विद्वत्ता प्रदर्शित करने के लिए जबरदस्ती कोई-न-कोई अवसर गढ लेते है। ऐसा नहीं होना चाहिए। यदि ये अवसर स्वाभाविक रूप से महाकाव्य के कार्य स्थल में न आ सकें तो उन्हें प्रयुक्त नहीं करना चाहिए। इसके द्वारा महाकाव्य की श्रेष्ठ तथा उन्नत भावना को चोट पहुँचेगी।

शैली

महाकाव्य की शैली के विषय में महत्त्वपूर्ण नियमो की ओर निर्देश किया गया। महाकाव्य की शैली अत्यन्त स्पष्ट, परन्तु साथ-ही-साथ अत्यन्त उन्नत होनी चाहिए और शैली को उन्नत बनाये रखने के लिए कुछ सरल साधनो की ओर संकेत किया जा सकता है। इन साधनों में अलंकार-प्रयोग, विदेशी भाषाओ के मुहावरो का प्रयोग, विशेषणो का विरोधाभासयुक्त प्रयोग, विशेष रूप मे हितकर होगे। भाषा के प्रयोग मे भी सावधानी की आवश्यकता पड़ेगी। अत्यन्त दुरूह शैली, जिसमें अप्रचलित शब्दो का बाहुल्य हो और पारिभाषिक शब्दों का आधिक्य हो, कभी भी फलप्रद न होगी।

कल्पना की व्याख्या

यो तो प्राचीन यूनानी साहित्यकारो ने काव्य मे कल्पना की उपयोगिता, उसकी आवश्यकता तथा उसके महत्त्व पर समुचित प्रकाश डाला था, परन्तु उसके सहज स्वरूप की व्याख्या में अभी करीब एक शती की देर थी। अफलातूँ ने क्रियात्मक साहित्य-रचना मे नैतिकता को प्रधानत्व दिया था और बाह्य उपकरणो को भी महत्त्वपूर्ण समझा था। परन्तु अरस्तू ने बाह्य उपकरणो को गौण ठहराया और यह घोषित किया कि किसी भी घटना अथवा भावना का कल्पनात्मक प्रदर्शन मूल से कहीं अधिक सत्य, ग्राह्य तथा सुन्दर होगा क्योकि कल्पना, यथार्थ के मूल में छिपे हुए सत्य को ढूँढ निकालती है। प्रसिद्ध दार्शनिक लॉक ने क्रियात्मक साहित्य-रचना मे विचारो तथा भावो के संघटित संसर्ग को महत्त्वपूर्ण समझकर उसे ही प्रधानत्व दिया। उनके विचारो के अनुसार किसी भी वस्तु अथवा घटना का प्रभाव जब हमारे मस्तिष्क पर पड़ता है तो हमारा मानसिक क्षेत्र स्फूर्तिमान हो उठता है और वह चित्रपट के समान बरबस, चित्र-पर-चित्र अत्यन्त विशद रूप मे प्रस्तुत करने लगता है और यही क्रियात्मक साहित्य का मुख्याधार बन जाता है। अपने मस्तिष्क

... यों कहिए कि
... से लम्बो-
... रहती

के एक कार्य-विशेष को हम कल्पना के हाथों सौंप देते हैं
अपने मानसिक कार्य-व्यापार के किसी एक तत्त्व को कल्पना के नाम
धित करने लगते हैं। वस्तुतः हमारी समस्त आत्मा सोचती-समझती
है, इच्छा-शक्ति को प्रेरित और उत्तेजित करती है। इस कार्य में हमारी आँखें
और हमारे देखने की शक्ति अपना सहयोग प्रदान करती है।

बाह्य जगत् का कोई चित्र जब हमारी आँखों अथवा अन्य इन्द्रियों द्वारा हमारे मानस में प्रवेश पाता है तो हमारी कल्पना-शक्ति तरंगित हो उठती है। वह उस चित्र को उलटती-पलटती है, उसको नया रूप देना चाहती है, उसको मनोनुकूल परिवर्तित करती रहती है और उसको आकर्षक-से-आकर्षक रूप में ग्रहण करती है। अपने इस कार्य से कल्पना दो प्रकार का आनन्द प्रस्तुत करती है। पहला आनन्द तब प्रस्तुत होता है जब कोई वस्तु हमारे सामने प्रत्यक्ष रहती है और हम उसे देख-देखकर प्रसन्न होते हैं। दूसरा आनन्द हमें तब मिलता है जब वह वस्तु हमारे सम्मुख रहती तो नहीं, परन्तु उसकी छाप हमारी स्मरण-शक्ति ग्रहण कर लेती है। समयानुसार हमारी स्मरण-शक्ति मूल वस्तु का विभिन्न स्वरूप हमारे मानस-पटल पर अंकित करती हुई हमें आनन्दित करती रहती है। यह दूसरे प्रकार का आनन्द ही समस्त कला का प्राणस्वरूप है। कला दृश्यों, वस्तुओं और भावों का प्रतिरूप प्रस्तुत करने में संलग्न हो जाती है और कल्पना उसको प्रेरणा दिया करती है। कला और कल्पना दोनों ही अपनी अभीष्ट-सिद्धि शब्दों द्वारा करती हैं और शब्दों का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य विचार-निर्माण है।

कला का मूल स्रोत

कला के मूल स्रोत की समीक्षा करते हुए यह विचार मान्य हुआ कि साधारण वस्तुएँ कलाकार को सन्तुष्ट नहीं करतीं। कलाकार अपने हृदय में अनेक वस्तुओं का आदर्श-रूप छिपाए रहता है और चाहता है कि बाह्य जगत् उसके अन्तरतम में छिपे हुए आदर्शों का प्रतिरूप देता रहे। परन्तु बाह्य जगत् के लिए यह सम्भव कहाँ! इसलिए कलाकार इस कमी की पूर्ति कला द्वारा करता है। अपनी रुचि, अपनी कल्पना तथा अपनी प्रेरणा से वह प्रकृतिस्थ वस्तुओं को आदर्शवत् चित्रित करता रहता है। प्रकृति में जहाँ कहीं उसे न्यूनता का अनुभव होता है वह अपनी कल्पना-शक्ति से उसे पूर्ण करने की चेष्टा किया करता है। जहाँ कहीं उसे कुरूपता मिलती है वहाँ वह सौन्दर्य की सृष्टि मे लग जाता है; जहाँ कहीं उसे सौन्दर्य दिखाई दे जाता है वहाँ वह उसे और भी अलंकृत करने में दत्तचित्त हो जाता है। कवि प्रकृति का सुधार तथा परिष्कार करता

है। इस सुधार और परिष्कार का भी प्रमुख साधन शब्द-शक्ति है।

कवि शब्द-शक्ति द्वारा क्रियात्मक साहित्य की सृष्टि क... शब्दो को चुनता है जो स्वतः आनन्ददायी तथा सौन्द... ...ा है। वह ऐसे ... और भावनाओं के प्रेरक होते हैं और उन्हीं के ... ...पूर्ण होते हुए विचारों के दृश्यों को रंगीन बनाता है, भाव-... कलापूर्ण प्रयोग से वह प्रकृति सौन्दर्य की सीमाएँ विस्तृत करता ... ...सार को अनुरंजित करता है और फलस्वरूप काव्य-रचना क... ...है। कवि वही है जो प्रेरणा तथा उत्तेजना के ... वर्ग को स्फूर्तिमय ... ...ता है; अथवा जो व्यक्ति श्रोता-वर्ग अथवा पाठक-... आदर्शवत् ... ...नाए तथा उत्तेजित करे, श्रेष्ठ कवि होगा। काव्य तथा कला से र... ...भी होगी जब उसमें कल्पना को जाग्रत करने की शक्ति पूर्णरूप ...ा। काव्य और कल्पना-विषयक इन विचारों का आदि संकेत हमें यूनानी आलोचकों की रचनाओ में पूर्ण रूप से मिलेगा।

जैसा कि हम पहले निर्देश दे चुके हैं कल्पना के वास्तविक स्वरूप को परखने मे अभी अनेक वर्षों की देर थी। इस काल के आलोचकों ने केवल रसेन्द्रियों में से एक—देखने की शक्ति—को ही ग्राह्य मानकर उसे कला का निर्माणकर्ता ठहराया और अन्य रसेन्द्रियो को अपनी संकुचित धार्मिकता के कारण दूर ही रखा; इसी कारण कला के अन्य माध्यमों का विस्तार न हो पाया। इसके साथ-ही-साथ इस बात पर भी जोर दिया गया कि कल्पना द्वारा प्राप्त आनन्द केवल रसेन्द्रियो—विशेषतः चक्षु—द्वारा प्राप्त आनन्द के समान है—दोनों में कोई अन्तर नहीं। और फिर कल्पना का प्रधान कार्य केवल चित्र-चयन ही माना गया; इसके सिवाय उसका कोई अन्य कार्य ही न था। कलाकार के मानस-पटल पर सहज ही उपमा और उपमेयों की शृङ्खला सी बँध जाय, यही कल्पना का मुख्य धर्म समझा गया। इतना होते हुए भी, इसमें सन्देह नहीं कि इस काल में प्राचीन काल की आलोचनात्मक प्रवृत्तियों का परिष्कार हुआ। परम्परागत आलोचना-प्रणाली में जिस सुबुद्धिपूर्ण परिवर्तन के दर्शन होते हैं, वह इस युग को महत्त्वपूर्ण बनाता है। प्राचीन आलोचना-सिद्धान्तों की संकुचित सीमाओ के भीतर जो थोड़ा-बहुत परिवर्तन हुआ उससे साहित्य को काफी प्रोत्साहन मिला। यद्यपि कोई मौलिक नियम नही बने और न मौलिक रूप में साहित्यिक प्रश्नों पर विचार ही हुआ, परन्तु यह निर्विवाद है कि इस काल में सौन्दर्यानुभूतिसूचक आलोचना-प्रणाली का प्रथम संकेत मिलता है। जो लोग केवल रूप और आकार पर ही साहित्य का मूल्यांकन कर रहे थे उन्हे नवीन दृष्टिकोण मिला; सुबुद्धि और सुरुचि का वातावरण प्रस्तुत हुआ और थोड़ी-बहुत मात्रा में कल्पना के स्वरूप को हृदयंगम करने का प्रयास

किया गया। कुछ-एक आलोचकों ने अनेक ललित-कलाओं—विशेषतः चित्र-कला तथा काव्य-कला—की तुलनात्मक समीक्षा करते हुए यह विचार प्रस्तुत किया कि काव्य उन वस्तुओं तथा भावों को प्रकाशित करता है जो स्थायित्व पा चुके हैं और चित्र-कला केवल उनका जो साथ-साथ तथा निकट संसर्ग में रहते हैं। चित्र-कला; जीवन के चलते-फिरते चित्र जो अपनी पूर्ण व्यंजना के साथ उपस्थित हो जाते हैं, चित्रित कर लेती है। काव्य-कला समस्त स्थायित्व पाए हुए भावो अथवा दृश्यों को शब्द-बद्ध करेगी। ललित कलाओं की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वे कुरूपता, हास्यास्पद स्थलो तथा भयावह अनुभवों को व्यक्त करने में असमर्थ रहती हैं।

ललित कलाओं का अनुभव हमें चार प्रकार से हो सकता है। पहला है हमारा व्यक्तिगत अनुभव—जो हम अपनी इन्द्रियों द्वारा प्राप्त करते हैं। हमारी इन्द्रियाँ हमारे सम्मुख ग्राह्य अनुभव प्रस्तुत करती रहती हैं—वे कभी-कभी कुरूप अथवा अग्राह्य भी हो सकती है। दूसरा स्रोत है तर्क। तर्क द्वारा हम इन्द्रियों के माध्यम से प्रस्तुत किये हुए अनुभवों की सत्यता की जाँच करते हैं। इन्द्रियों द्वारा प्रस्तुत अनुभव, वास्तव में अनेक मनोवैज्ञानिक कारणों से अविश्वसनीय होते हैं और तर्क द्वारा ही उनके मूल्य को आँका जा सकता है। तीसरा माध्यम है भावना तथा रुचि—जो आकर्षक तथा सुन्दर वस्तुओं की ओर ध्यानाकर्षण करती है; इसके द्वारा अनन्त का अनुभव तथा भव्य भावनाओं का प्रसार होता है। चौथा साधन है कल्पना; जो तर्क, भावना इत्यादि को सजीव तथा उन्नत बनाता है। इन चार साधनों के अतिरिक्त सुरुचि भी आवश्यक है जिसके द्वारा ललित-कला-क्षेत्र में चारुता, सामंजस्य, संतुलन तथा सौन्दर्य की व्यापक सृष्टि होगी। कला वास्तव मे सौन्दर्य का प्रतिरूप प्रस्तुत करती है। परन्तु यह प्रतिरूप विस्तृत नही होता। जीवन-क्षेत्र से कुछ अंग-विशेष चुनकर ही, कला उनका आदर्शस्वरूप प्रस्तुत करने का प्रयत्न करती है।

नाटक-रचना

नाटक-क्षेत्र में जो आलोचनात्मक विचार प्रस्तुत हुए उन पर प्राचीन यूनानी सिद्धान्तों की पूरी छाप थी। दुःखान्तकी में नैतिकता-प्रसार का ध्येय पुष्ट किया गया; और यद्यपि तत्कालीन दुःखान्तकीयो की प्रशंसा, कार्य-सम्पादन तथा विषय-वस्तु-निरूपण की दृष्टि से की गई उनमें नैतिकता की न्यूनता की भर्त्सना की गई। रोमांचक शैली तथा रोमांचक मिश्रितांकी को अत्यन्त अस्वाभाविक समझा गया। मिश्रितांकी की असंगति की बहुत कड़े शब्दो में आलो-

चना हुई—'अँग्रेजी रंगमच के इतिहास में मिश्रितांकी से बढकर कोई भयानक रचना नहीं।' दुःखान्तकीयों में एक कथावस्तु को छोडकर दूसरी अन्य उप-कथावस्तु नहीं होनी चाहिए, क्योंकि इससे मूल वस्तु के विकास में बहुत अड़चन पडेगी और नाटक प्रभावहीन हो जायगा। सोलहवीं शती के जिन श्रेष्ठ नाटक-कारों ने अपनी रोमांचक प्रेरणा द्वारा अनेक नवीन प्रयोग किये थे वे सब अग्राह्य ठहराये गए। अँधेरे रंगमंच पर कार्य, भूतों का दर्शन, प्रकृति के प्रकोप, बादलो की कड़क, विद्युत् छटा इत्यादि का प्रदर्शन अत्यन्त अवाञ्छित समझा गया। जिन-जिन साधनो से रोमांचक दुःखान्तकी भय तथा करुणा[1] का संचार करते थे उनमें प्रमुख साधन था नायक के साथ अनेक व्यक्तियो की हत्या अथवा मृत्यु; और इस साधन का घोर विरोध किया गया।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इस काल की आलोचना केवल अरस्तू तथा हारेस की आलोचना-प्रणाली का अनुसरण कर रही थी। हाँ, कहीं-कही सुबुद्धि तथा सुरुचि के दर्शन अवश्य हो जाते हैं। रोमांचक नाटकों का विरोध इस काल की सबसे बड़ी कमजोरी थी और आलोचको में जीवन के सभी पह-लुओ को व्यापक रूप में समझने की क्षमता नही थी। प्राचीन आलोचनात्मक नियमावली ही उनका मार्ग-निर्देशन कर रही थी। यदा-कदा कुछ ऐसे स्थल अवश्य दिखाई दे जाते है जहाँ आलोचक स्वतन्त्र रूप से साहित्य को परखने का प्रयत्न कर रहे हैं; परन्तु यह स्वतन्त्रता सर्वत्र विदित नही। नवीन प्रयासों पर प्राचीनता की छाप बुरी तरह पड़ी हुई है।

जीवन का चित्रण

नाटक-क्षेत्र की इस रूढिवादी आलोचना की मान्यता स्वीकार करते हुए इस युग के मध्य भाग के कुछ आलोचकों ने सोलहवीं शती के रोमांचक नाटककार विलियम शेक्सपियर की कुछ एक रचनाओं की प्रशंसा की जिसके आधार पर दो-चार अव्यक्त नियमों की ओर संकेत किया जा सकता है। नाटककारो द्वारा रचित उन नाटको की प्रशंसा हुई जिनमे मानव-चरित्र की गहराई तथा उसके भावना-संसार का पूर्ण प्रदर्शन था। नाटककार की सफलता का अब यह महत्त्व-पूर्ण अंग बन गया था; और जब-जब नाटककार अपने नाटकों मे मानव-हृदय का अनुसन्धान तथा विश्लेषण मनोवैज्ञानिक स्तर पर करते प्रशंसा के पात्र बन जाते। सफल नाटको मे पात्र-वैभिन्न्य तथा पात्र-वैचित्र्य भी अत्यन्त आवश्यक समझा जा रहा था, क्योंकि जब तक पात्रवर्ग एक-दूसरे से सहज रूप में विभिन्न न रहता उनमे न तो जीवन रहता और न वे ग्राह्य हो पाते। परन्तु जिस गुण

१. देखिए—'नाटक की परख'

की प्रशंसा मुक्त कण्ठ से की गई वह गुण था नाटककारों की सहज प्रतिभा, जिसके द्वारा वे मानव-जीवन तथा प्रकृति के रहस्यों को सुलझाने का प्रयत्न करते थे। जीवन की समस्याओं को नैसर्गिक रूप में हृदयंगम करना; मानव-हृदय का सूक्ष्म विश्लेषण देना इत्यादि गुणों की प्रशंसा दबे स्वरों में होने लगी थी।

प्राचीन नाटक-रचना का एक विशिष्ट नियम यह भी था कि रंगमंच पर एक साथ तीन से अधिक पात्रों की उपस्थिति असंगत है, क्योंकि संवाद अधिक-से-अधिक तीन ही व्यक्तियों के बीच सहज रूप में हो सकता है। इस नियम में परिवर्तन आवश्यक जान पड़ा और अनेक व्यक्तियों की एक साथ उपस्थिति क्षम्य ही नहीं वरन् कभी-कभी अत्यन्त आवश्यक समझी गई। जैसा कि हम अपने दिन-प्रतिदिन के अनुभव से जानते हैं कि रंगमंच पर उपस्थित सभी व्यक्ति संवाद करें। कुछ की उपस्थिति केवल वातावरण को गम्भीर बनाने के लिए भी हो सकती है।

नाटक-रचना के सम्बन्ध में, नाटकों को अंकों में विभाजित करने की प्रथा का अकारण विरोध हुआ। प्राचीन नाटकों के खण्डों का अस्पष्ट विभाजन सहगायक[1] के आने-जाने के आधार पर हुआ करता था और सहगायकों को जब रोमांचक नाटकों ने निकाल फेंका तो कुछ-न-कुछ विभाजन का आधार तो होना ही चाहिए था। परन्तु प्राचीन परम्परा के अनुयायी आलोचकों ने नाटकों का विभाजन आवश्यक न समझा और विभाजन को नाटकों के अन्तिम प्रभाव का घातक तथा उनकी प्रगति में बाधक समझा।

जीवनी

कदाचित् गद्य-क्षेत्र में ही इस युग का सबसे मौलिक कार्य-सम्पादन हुआ। आलोचनात्मक जीवनी लिखने की प्रथा पहले-पहल इसी काल में शुरू हुई। इन जीवनियों में कवियों के निजी जीवन से सम्बन्धित उपाख्यानों की भरमार है और कदाचित् उन्हें आकर्षक बनाने का यह एक सरल साधन-सा प्रतीत होता है। जीवनी और साहित्यिक आलोचना का यह सहज समागम साहित्य-क्षेत्र में इतना लोकप्रिय हुआ कि उन्नीसवीं तथा बीसवीं शती के अन्यान्य गद्य-लेखकों ने इसे अपनाया। यद्यपि इस काल में लिखी हुई जीवनियों में पक्षपात तथा असाहित्यिक आलोचनात्मक विचारों का बोलबाला-सा है परन्तु उनकी मौलिकता, सुपात्रप्रियता तथा लोकप्रियता में सन्देह नहीं।

साधारणतः नाटकों की कथा-वस्तु का आधार केवल प्रेम ही रहा

१. देखिए—'नाटक की परख' (प्राचीन युग)

नवीन विषय — करता था और उसी के उलट-फेर में नाटककार लगे रहते थे। अठारहवीं शती के अन्तिम चरण में जिन नाटकों ने प्रेम के आधार के अतिरिक्त अन्य आधार अपनाए उन्हें भी आलोचकों द्वारा प्रश्रय मिला और ऐसे मौलिक परिवर्तन करने वालों की प्रशंसा भी की गई। यद्यपि इस युग के प्रथम चरण के कुछ आलोचकों ने प्रेत-संसार, प्रकृति के निर्जन तथा भयावह स्थानों और भयानक दृश्यों का प्रयोग नाटकों में अनुपयुक्त और अवान्छनीय घोषित किया था तथापि बाद में दो-एक आलोचक ऐसे भी हुए जो ऐसे प्रयोगो को क्षम्य समझते थे। प्रेत-संसार अथवा प्रकृति के अद्भुत तथा रोमांचकारी दृश्य तभी वान्छित समझे जाते थे जब उनका सहज मानवी-सम्बन्ध भी प्रदर्शित होता जाय।[1] जब तक ये अलौकिक दृश्य अपने मानवी सन्दर्भ में प्रस्तुत रहते और उनका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध प्रकाश पाता रहता उनका विरोध न होता। इसके साथ-ही-साथ जिन आलोचकों की दृष्टि व्यापक थी और जो जीवन के यथार्थ को समझते थे और रूढ़िवादी यूनानी नाटक-सिद्धान्तो को केवल तर्क रूप में ही अपनाने को प्रस्तुत थे, मिश्रितांकी[2] को ही रुचिकर मानने लगे थे। उनका विचार यह था कि जीवन में विशाल तथा निकृष्ट अनुभव दोनों ही होते रहते हैं और व्यापक रूप से जीवन को प्रदर्शित करने के लिए सुख-दुःख, विशाल-निकृष्ट, हास्य-रोदन, विरोधी तत्वों का सम्यक् निरूपण होना चाहिए। इसी में नाटक की सार्थकता है। यह कहना कि दो विरोधी भावों के एक साथ प्रदर्शन से दोनो निष्प्राण हो जाते हैं गलत है; दोनों का विरोधात्मक प्रदर्शन दोनों की तीव्र अनुभूति देगा। नाटक की आलोचना-प्रणाली में इन संकेतो का प्रकट होना यह सिद्ध कर रहा है कि युग बदलने वाला है। रूढ़िगत आलोचना-प्रणाली की न्यूनता धीरे-धीरे आलोचकवर्ग समझ रहा था और समय आगामी काल के नव-प्रकाश को ग्रहण करने के लिए उत्सुक हो रहा था।

निर्णयात्मक आलोचना की प्रगति — निर्णयात्मक-आलोचना-प्रणाली के क्षेत्र में कदाचित् इस युग के प्रसिद्ध आलोचकों के विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि ये साहित्यिक सिद्धान्त रूढ़िगत तथा प्राचीन यूनानी और विशेषतः रोमीय आलोचकों के विचारो के संक्षिप्त परन्तु सुसंस्कृत संस्करण-मात्र थे परन्तु जिस दक्षता तथा जिस साहित्यिक पटुता से वे व्यंजित किये गए,

१. देखिए—'नाटक की परख' (दुःखान्तकी खण्ड)
२. देखिए—'नाटक की परख' (मिश्रितांकी खण्ड)

प्रशंसनीय हैं। अनेक छन्दबद्ध रचनाओं में आलोचनात्मक तथ्य प्रकाशित किये गए, आलोचकों को शिक्षा दी गई, आलोचना-क्षेत्र की कठिनाइयाँ स्पष्ट की गईं, आदर्श आलोचक के गुण गिनाये गए और आदर्श आलोचना की परिभाषा बनाने का प्रयत्न किया गया।

लेखक तथा आलोचक

साहित्य की प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि बुरे आलोचकों को आश्रय न दिया जाय, क्योंकि उनका लक्ष्य केवल पथभ्रष्ट करना रहता है; और यदि उन्हें इस कार्य में सफल होने दिया जायगा तो साहित्य की क्षति इतनी अधिक होगी कि उसकी पूर्ति असम्भव हो जायगी। इसके विपरीत बुरे लेखकों द्वारा साहित्य को इतनी अधिक क्षति नहीं हो सकेगी जितनी बुरे आलोचकों से, इसलिए बुरा लेखक तो क्षम्य होगा, बुरा आलोचक कदापि नहीं। इसका कारण यह है कि बुरा लेखक तो केवल साहित्य के किसी अंग-विशेष को दूषित करने का प्रयत्न करता है परन्तु आलोचक तो समस्त पाठक-वर्ग को पथ-भ्रष्ट करेगा। इसके साथ-साथ यह भी मानना पड़ेगा कि जिस प्रकार प्रतिभावान् कवि विरले ही होते हैं उसी प्रकार सुरुचिपूर्ण आलोचक भी कम ही होंगे। यों तो साधारणतया जिन आलोचकों में सुबुद्धि होती है उनमें भी कुछ-न-कुछ नैसर्गिक दोष आ जाते हैं। वस्तुतः इस वर्ग के आलोचक अपनी विद्वत्ता के शिकार बन जाते हैं और काव्य में केवल वक्रोक्ति इत्यादि की खोज में लगे रहते हैं और इस अनुसन्धान में काव्य की आत्मा को भूल जाते हैं।

श्रेष्ठ आलोचकों के लिए सबसे अधिक आवश्यक बात यह है कि वे अपनी शक्ति और अपनी क्षमता को पूर्ण रूप से तोलकर समझ लें, क्योंकि बिना इसके वे सन्तुलित विचार प्रस्तुत न कर पायँगे और यदि उनकी चेष्टा अनधिकारी होगी तो वे न तो साहित्य की आत्मा को प्रकाशित कर पायँगे और न उनके विचार ही उपयोगी हो सकेंगे। अपनी व्यक्तिगत क्षमता, अध्ययन तथा विद्वत्ता की जाँच किये बिना आलोचक या कवि बन बैठना स्तुत्य नहीं। ऐसे व्यक्तियों की कविता अथवा आलोचना निरर्थक होगी। सफल आलोचक वही होगा जो अपनी क्षमता को पहचाने और साथ-साथ यह भी माने कि कला प्रकृति से आविर्भूत है और काव्य में प्रयुक्त वक्रोक्ति का नियन्त्रण और प्रभावपूर्ण प्रयोग अपेक्षणीय है। उन्हे यह सिद्धान्त रूप में मानना पड़ेगा कि निर्णयात्मक शक्ति तथा सुबुद्धि द्वारा ही वक्रोक्ति का सफल प्रयोग हो सकेगा अन्यथा नहीं। कुछ आलोचक ऐसे भी होते हैं जो अध्ययन को महत्त्व नहीं देते। यह उनकी भूल है, क्योंकि

अध्ययनहीन आलोचक साहित्य का घोर शत्रु है। उसे प्राचीन कवि-परम्परा तथा काव्य-परम्परा, नियम तथा सिद्धान्त, साहित्यिक मत तथा मान्य विचारो का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। वही उसकी कसौटी होगी; उसी के बल पर वह साहित्य को परख सकेगा। परन्तु नियमों तथा सिद्धान्तों की मान्यता के यह अर्थ कदापि नहीं कि कोई प्रतिभावान् कलाकार दो-एक नियमों का उल्लंघन न करे। यदि नियमोल्लंघन के फलस्वरूप वह भाव-वैचित्र्य अथवा अनुभव वैचित्र्य प्रस्तुत कर लेता है तो उसका कार्य क्षम्य ही नहीं वरन् स्तुत्य भी होगा। आलोचको का एक अन्य शत्रु भी है जो आलोचना को विकृत किया करता है; वह है गर्व। जो आलोचक गर्व के वशीभूत होकर साहित्य का मूल्यांकन करता है कभी भी सफल नहीं हो सकता। गर्व दृष्टिकोण को एकांगी तथा विचार को दूषित बनाता है; निर्णयात्मक शक्ति को भी निष्प्राण कर देता है। और सहानुभूति—जो साहित्य की आत्मा को परखने के लिए अत्यावश्यक है—विदा हो जाती है। प्रायः सभी साहित्यिक आलोचकों का यह दोष है कि वे अपने गर्व के फलस्वरूप साहित्य के व्यापक रूप को समझने मे असमर्थ रहते हैं और दो-ही-चार स्थलों को चुनकर छिद्रान्वेषण में लग जाते हैं और सम्पूर्ण रचना को नहीं परखते।

साहित्य-क्षेत्र मे आलोचनात्मक अनुसन्धान द्वारा यह ज्ञात होता है कि आलोचक प्रायः साहित्यिक विलक्षणता की खोज मे ही व्यस्त रहते हैं और जहाँ उन्हें यह गुण नहीं दिखाई देता वे क्षुभित हो उठते हैं और अपनी समस्त सहानुभूति खोकर विषम रूप से आलोचना करने पर तत्पर हो जाते है। इस कार्य से उनकी सुबुद्धि को बहुत गहरी क्षति पहुँचेगी और आलोचना तो अविश्वसनीय होगी ही। कुछ आलोचक साहित्यिक विलक्षणता के साथ-साथ भाषा पर ही अपना सारा ध्यान केन्द्रित कर देते हैं और भाषा-विषयक त्रुटि उन्हे फूटी आँखो नहीं सुहाती। कुछ केवल छन्द को महत्त्व देने लगते हैं और उसी के आधार पर आलोचना कर चलते हैं और कुछ अपनी निजी रुचि और पक्षपात के इतने वशीभूत हो जाते हैं कि वे अतिशयोक्ति के पुल बाँध देते है। ऐसे व्यक्तियो की आलोचना दूषित ही नहीं वरन् साहित्य के लिए घातक सिद्ध होगी। उपर्युक्त आलोचनात्मक सिद्धान्तों की तालिका संक्षेप में निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत की जा सकती है—

१. बुरे आलोचकों की अपेक्षा बुरे लेखक क्षम्य हैं।

२. श्रेष्ठ कलाकार तथा श्रेष्ठ आलोचक विरले ही जन्मते हैं।

३. आलोचको की सुबुद्धि का सबसे बड़ा शत्रु है विद्या-गर्व तथा वक्रोक्ति

की खोज ।

४. आलोचकों में अपनी शक्ति तथा साहित्यिक क्षमता की पहचान होनी चाहिए ।
५. प्रकृति कला की जननी है; सुबुद्धि का निर्णय और नियन्त्रण स्तुत्य है ।
६. प्राचीन साहित्यकारों के नियमों का पालन श्रेयस्कर है ।
७. साहित्यिक विलक्षणता के लिए नियमोल्लङ्घन क्षम्य है ।
८. गर्व तथा अहंकार सहानुभूति तथा सुबुद्धि के घातक शत्रु हैं ।
९. विलक्षण अभिव्यंजना के आधार पर की गई आलोचना दूषित होगी ।
१०. केवल भाषा के आधार पर आलोचना एकांगी होगी ।
११. केवल छन्द पर आधारित आलोचना श्रेष्ठ नहीं ।
१२. स्वार्थपूर्ण, पक्षपातपूर्ण तथा उपेक्षापूर्ण आलोचना अत्यन्त दूषित होगी ।
१३. अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा अथवा छिद्रान्वेषण श्रेष्ठ आलोचना नहीं ।
१४. राष्ट्रीय भावना से प्रेरित आलोचना दूषित होगी ।
१५. सफल आलोचना, तर्क-दीप की ज्योति से साहित्य को परखती है ।

उपर्युक्त तालिका के गम्भीर विवेचन से यह पता चलता है कि इनमें जिन आलोचनात्मक सिद्धान्तों को महत्त्व दिया गया उनमें कोई मौलिकता नहीं। ये सिद्धान्त रोमीय आलोचकों के अंग्रेज़ी संस्करण-मात्र थे; ये रूढिगत, स्वेच्छित तथा संकुचित और संकीर्ण दृष्टिकोण के परिचायक हैं ।

इस युग की निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली के अन्तर्गत एक ऐसे साहित्यिक आदर्श की मान्यता स्वीकार की गई जिस पर इस युग में तो कम परन्तु आगामी युग में बहुत गहरा विवाद चल पड़ा। वह आदर्श था कला-क्षेत्र मे प्रकृति का सर्वगत अनुसरण'। 'प्रकृति के अनुसरण' वाक्यांश के वास्तविक अर्थ क्या थे और इस युग के आलोचक उसे किस अर्थ मे प्रयुक्त करते थे इस पर मतभेद है। इस युग के हिमायतियो का कथन है कि इस समय के आलोचक इसका वही अर्थ लगाते थे जो आजकल हम समझते हैं; परन्तु विरोधी दल का कथन है कि इस वाक्यांश का अर्थ उस समय के आलोचकों की दृष्टि मे बिलकुल विभिन्न था। उस समय की काव्य-रचना, साहित्यिक रुचि तथा स्फुट वक्तव्यो मे प्रकाशित विचारो से पता चलता है कि 'प्रकृति-अनुसरण' से तात्पर्य यह था कि लेखकवर्ग को चाहिए था कि वे साधारण, सामान्य तथा व्यावहारिक गुणो पर पूरा ध्यान दें और असाधारण, असामान्य गुणो से दूर रहें; जो कुछ भी वे दिन-प्रतिदिन देखें सुने उसी को हृदयंगम करके साहित्य-रचना करें। तात्पर्य यह कि जो वस्तुएँ विलक्षण हों उनको फलप्रद न

समझें। साधारणतः यह कहा जा सकता है कि लेखकों को इस बात की चेतावनी मिली कि वे अनुचित अतिशयोक्ति से बचें तथा बेढंगे तथा हास्यास्पद स्थलों को परिष्कृत करने के बाद ही अपनाएँ। कदाचित् यह सिद्धान्त इस अर्थ में आज तक मान्य है। परन्तु एक ओर तो प्राचीन नियमों की मान्यता घोषित की गई और साथ ही आकर्षक तथा हृदयग्राही व्यंजना-हेतु नियमोल्लङ्घन क्षम्य समझा गया। ऐसी विषम परिस्थिति ने पाठकों के सम्मुख बहुत कठिनाई प्रस्तुत कर दी।

यदि व्यापक रूप से देखा जाय तो यह ज्ञात होगा कि इस काल के आलोचकों की दृष्टि में प्रकृति का अनुसरण, प्राचीन यूनानी तथा रोमीय साहित्यिक आलोचकों के सिद्धान्तों का प्रतिपालन-मात्र था। तर्क रूप में यह कहा गया कि प्राचीन साहित्यकारों ने प्रकृति का अनुसरण किया और कुछ नियम-विशेष निर्मित किये, इसलिए उनके निर्मित नियमों का प्रतिपालन प्रकृति का अनुसरण होगा। गणित के नियम से यह सिद्धान्त ठीक हो सकता है, परन्तु साहित्य की दृष्टि से नहीं। प्रायः सभी आलोचकों ने सुबुद्धि तथा तर्क की मर्यादा की रक्षा का आदेश दिया और प्रायोगिक रूप में इस युग के आलोचनात्मक सिद्धान्तों का आकर्षण तथा उनकी आंशिक मान्यता आज तक विदित है। उनके द्वारा बुरे कवियों और बुरे काव्य का विरोध हुआ और काव्य-क्षेत्र में जो-कुछ भी आलोचना प्रकाशित हो सकी उससे काव्य का हित ही हुआ। इसके साथ-साथ यह भी मानना पड़ेगा कि अंग्रेज़ी काव्य-क्षेत्र में दूर देश के (रोम तथा यूनान) सिद्धान्तों को आरोपित करने से काव्य-कला पूर्ण रूप से प्रस्फुटित न हो पाई। रोमीय तथा यूनानी साहित्य-सिद्धान्त किसी विशेष वातावरण, किसी विशेष सामाजिक तथा साहित्यिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए बने थे और अंग्रेज़ी काव्य-क्षेत्र में उनकी मान्यता अक्षरशः स्वीकार कर लेना साहित्यिक दृष्टि से संगत न था।

'प्रकृति के अनुसरण' के आदर्श में, जिसकी समीक्षा हम पहले कर चुके हैं, विशेष हानि हुई। उस काल के आलोचकों ने यद्यपि प्रकृति का आधार किसी विशेष अर्थ में ही लिया, उनके लिए प्रकृति का वही स्वरूप ग्राह्य था जो नागरिक वर्ग की दृष्टि में मान्य था। प्रकृति का यह स्वरूप अस्वाभाविक तथा प्राणहीन था; वह नियमानुगत दृश्यों का संकलन मात्र था और उसके अनुसरण का यह अर्थ था कि किसी भी विलक्षणता, अद्भुतता तथा चमत्कार का प्रकाश काव्य द्वारा नहीं होना चाहिए। सामान्य और साधारण दृश्य तथा भावनाएँ ही प्रकृति-अनुसरण के अन्तर्गत आयँगी और उन्हीं का प्रदर्शन-मात्र

काव्य का मुख्य ध्येय है। आगामी युग में इस नियम का घोर विरोध हुआ और धीरे-धीरे रोमांचक आलोचना-प्रणाली का बीजारोपण आरम्भ हुआ।

: ३ :

उपसंहार

साहित्यिक वातावरण

अठारहवीं शती के आदि, मध्य तथा अन्तिम चरण के आलोचनात्मक साहित्य की समीक्षा के उपरान्त यह निष्कर्ष निकल सकता है कि इस शती का आलोचनात्मक साहित्य अनेक कारणों से सोलहवीं तथा सत्रहवीं शती की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। सोलहवी तथा सत्रहवी शती में आलोचना लिखी तो गई और कुछ लेखक भी जन्मे मगर इन दोनो युगो की आलोचना और उसके लेखक ऐसे नही जिनके सम्बन्ध में यह कहा जा सके कि अमुक लेखक साहित्य-क्षेत्र मे अमर रहेगा। ऐसे प्रतिभाशाली आलोचकों की कमी अवश्य है जिनके सम्बन्ध में बहुत-कुछ कहा जा सके। आलोचना-क्षेत्र बिना किसी महारथी के सूना-सा पड़ा हुआ है। परन्तु अठारहवीं शती में यह बात नही। यह युग महारथियों के लिए विख्यात है। एक, दो, तीन कई नाम गिनाए जा सकते हैं, और ये नाम ऐसे है जो किसी भी आगामी युग के महारथियों से टक्कर ले सकेंगे।[1]

महारथी आलोचकों के दर्शन के साथ-साथ इस काल के आलोचना-क्षेत्र में विभिन्नता और रुचि-वैचित्र्य के भी दर्शन होते हैं। कारण यह है कि अब आलोचना लोकप्रियता प्राप्त कर रही है और इसका सबसे सफल साधन पाक्षिक पत्रो का प्रकाशन था जो जनता को रुचिकर होते गए और धीरे-धीरे उनकी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ भी परिष्कृत होती गईं। पहले तो पाठकवर्ग यह समझता था कि आलोचक केवल दम्भपूर्ण पाण्डित्य का प्रतीक है जो मनोनुकूल प्राचीन नियमों की दुन्दुभि बजाया करता है और छिद्रान्वेषण में व्यस्त रहता है; परन्तु अब उसे विश्वास-सा होने लगा कि आलोचक इस प्रकार का जन्तु नहीं; उसमें सुरुचि है, सुबुद्धि है तथा सुधार-भावना है। आलोचक अब लेखक के नाम से सम्बोधित होने लगा।

प्राचीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन

आलोचक-लेखक ने इस काल में अनेक पुराने कवियो की काव्य-कला की श्रेष्ठता घोषित करके यह सिद्ध कर दिया कि उनमें सत्-साहित्य को परखने की क्षमता है। यद्यपि इस युग में प्राचीन रोमीय तथा यूनानी

---

१. जॉन ड्राइडेन, जानसन, पोप

साहित्य-सिद्धान्तो का बोलबाला रहा फिर भी यदा-कदा नवीन भावनाओं तथा नवीन आलोचनात्मक विचारों की झाँकी मिल ही जाती है। वे आलोचक भी जो प्राचीन सिद्धान्तों के पोषक थे, अपनी छिपी हुई आन्तरिक सहानुभूति के कारण अनेक रोमांचक तथा गीत-काव्य-लेखको को समयानुसार सराहा करते थे। परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि प्राचीन साहित्यिक सिद्धान्तों की मान्यता कम हो रही थी; कदाचित् बिलकुल नहीं। अभी भी आलोचकवर्ग नियमों और सिद्धान्तों की कसौटी पर साहित्य के वर्गीकरण और उसके विभिन्न तत्त्वों को परख रहा था। काव्य का प्रमुख कार्य सर्वगत सिद्धान्तो का प्रतिपादन था और उसे न तो विस्तृत कथन की स्वतन्त्रता थी और न उसे कलियो की मुस्कान, आकाश के अस्त-व्यस्त मेघ-पुञ्जों के हृदय में छिपी हुई सूर्यास्त की लालिमा तथा हरियाली की गोद में सोई हुई झींगुरों की टोली को देखने-सुनने की आज्ञा थी। प्रकृति-प्रांगण के विशाल दृश्य ही परिचित थे और वे भी बैठक की ओट से देखे हुए; और उसके आन्तरिक सौन्दर्य और बाह्य आकर्षण के हजारों उदाहरणों की ओर वे उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। उनका यह अटल विश्वास सा था कि प्राचीन कवियो ने काव्य के सभी मान्य क्षेत्रो में जो-कुछ भी कहने योग्य था कह डाला था; उनके काव्य की पराकाष्ठा पहुँच गई थी और उन्ही का अनुसरण हितकर था। यद्यपि गद्य-क्षेत्र में वे आलोचनात्मक लेखों की प्रथा का श्रीगणेश कर चुके थे परन्तु उसका पूर्ण उपभोग वे न कर सके। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इस युग मे आलोचनात्मक रुचि हर ओर प्रकट हो रही थी। साहित्य के पठन-पाठन में रुचि हर ओर दिखाई देगी और इसी व्यापक रुचि के फलस्वरूप इस युग में विस्तार-पूर्ण साहित्यिक इतिहास से लेकर छोटे-छोटे समालोचनात्मक लेख तक देखने को मिलेंगे।

मानसिक द्वन्द्व

वास्तव मे यह युग द्विविधा मे पड़ा हुआ है; इसमे इतना साहस नही कि वह साहित्य के नवीन संकेतों को पूर्णतया श्रेयस्कर प्रमाणित करे और इसमें इतनी अधिक विद्वत्ता है कि सरलता से वह प्राचीन रूढियो का बोझ उतारकर फेंक भी नहीं सकता। जो-कुछ भी आलोचनात्मक सिद्धान्त प्राचीन रूप में दुहराए गए अथवा नवीन रूप मे निर्मित किये गए उनमे तथ्य था, विद्वत्ता थी और विश्वास था; परन्तु साथ-ही-साथ औदार्य तथा सहानुभूति और साहित्य को स्वतन्त्र रूप में परखने की शक्ति की कमी भी थी। वे यह नही कह सकते थे कि अमुक रचना उन्हे प्रिय है इसलिए वह उनके लिए अच्छी है। नियमों

और सिद्धान्तों का सहारा उनके लिए आवश्यक-सा था और जब तक नियमों की कसौटी पर वे खरे न उतरते उनकी सुन्दरता अथवा उपयोगिता प्रमाणित न हो पाती।

नियमों की उपयोगिता

साहित्य के लिए यह मानसिक प्रवृत्ति एक प्रकार से हितकर भी कही जा सकती है। इस नियमावलम्बन की प्रवृत्ति से सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि कोई भी लेखक सरलता से वाक्-चातुर्य अथवा बुद्धि-चातुर्य से लेखक का पद नहीं प्राप्त कर सकता था; उसे लेखक के पद पर आसीन होने के लिए नियमों के सम्मुख सिर झुकाकर साहित्य-मन्दिर में प्रवेश करना होता था। इस बन्धन के फलस्वरूप साहित्यिक अस्त-व्यस्तता न फैलने पाई, जिसकी सम्भावना ऐसे बदलते हुए युग में अत्यधिक रहती है। दूसरे इस युग के आलोचकों के मानसिक विचार इतने सुस्थिर, विश्वासपूर्ण तथा ठोस थे कि उन्हे हिलाना-डुलाना सरल न था और यह एक प्रकार का वरदान-स्वरूप प्रमाणित हुआ। विश्वास के बल पर ही अविश्वास की नींव रखी जा सकती है और यदि इस युग के आलोचकों में यह अविचल विश्वास न होता तो आगामी युग में उसके विरुद्ध सरलता से प्रतिक्रिया न हो पाती।

इस सम्बन्ध में सच तो यह है कि कोई भी भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। जीवन के समान साहित्य, साहित्यिक प्रगति तथा आलोचनात्मक नियम अपना-अपना मार्ग स्वतः ढूँढ लेते हैं और समय से होड़ लेते हुए अनेक अपरिचित मार्गों में चलते हुए नवीन रूप मे आविर्भूत होते रहते हैं। इस विषय मे कोई भी मान्य नियम नही। आलोचना का भाग्य-संसार भी कुछ रहस्यपूर्ण शक्तियो द्वारा परिचालित रहता है। यह रहस्यपूर्ण शक्ति अनेक अनुभवो, अनेक परिस्थितियों तथा अनेक प्रवृत्तियो को एकत्र करके नवीन साहित्य की कल्पना और उसकी सृष्टि किया करती है, जो समयानुकूल नवीन आलोचनात्मक तथ्यों के विकास में कार्य-रत हो जाती है। सोलहवीं, सत्रहवी तथा अठारहवीं शती के समन्वित सिद्धान्तो के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया आरम्भ हुई उसी में रोमांचक आलोचना का बीज निहित था।

आलोचना-क्षेत्र में नव प्रकाश

जैसा कि हम पिछले पृष्ठो में परिलक्षित कर चुके हैं, अठारहवी शती के मध्य तथा अन्तिम चरण में कुछ ऐसे आलोचकों तथा आलोचना-प्रणाली के दर्शन होते हैं, जिसमे रूढ़िवादिता तथा संकीर्ण दृष्टि के साथ-साथ कुछ नवीनता तथा विचार-वैभिन्न्य भी प्रस्तुत हैं। आलोचना-क्षेत्र

में नवीन सिद्धान्तों का आलोक फैलने ही वाला है। इसका प्रमाण यह है कि कुछ ऐसे आलोचकों का जन्म हो रहा है जो साहित्य को परखने मे वैयक्तिक रुचि और काव्य को परखने में विशेषतः नवीन दृष्टिकोण अपना रहे हैं। यद्यपि यह आलोचकवर्ग अपने नवीन दृष्टिकोण पूर्ण विकास तथा अपने सिद्धान्तों की पूर्ण मान्यता अपने जीवन-काल में नहीं देख पाया, परन्तु इसमें किंचित्मात्र भी सन्देह नहीं कि साहित्याकाश में नवप्रभात की प्रथम किरण फूट चुकी थी।

इस नव-प्रभात के आगमन के अनेक साहित्यिक कारण भी थे। पहले तो साहित्य क्षेत्र में एक ऐसी अनुकरणात्मक प्रथा-सी चल पडी जिसके कारण अनेक रोमांचक लेखकों, विशेषतः पन्द्रहवीं तथा सोलहवी शती के कवि तथा नाटककारों की रचनाओं का अनुकरण होने लगा और तत्कालीन लेखक उसमें अपना गौरव समझने लगे। जिस उत्साह से यह अनुकरणात्मक काव्य-रचना हो रही थी उससे युग के रुचि-परिवर्तन का प्रमाण मिल रहा था और नवीन संकेत भी स्पष्ट हो रहे थे। अनुसरण तथा अनुकरण की धूम-सी मची हुई थी और हर ओर साहित्य-क्षेत्र में—विशेषत: काव्य में—नवीन सिद्धान्तों की छाया दिखाई देने लगी थी। काव्य के कुछ ऐसे पदों की व्याख्या तथा प्रशंसा हो रही थी जिनमें रोमांचक भावनाएँ निहित थीं; भाषा मे निहित नैसर्गिक संगीतात्मक तत्त्वों का अनुसन्धान हो रहा था और आलोचना-क्षेत्र में यह सिद्धान्त विश्वस्त रूप में मान्य हो रहा था कि प्रत्येक श्रेष्ठ कवि मे श्रेष्ठ आलोचक की आत्मा निहित है। परन्तु प्रत्येक श्रेष्ठ आलोचक श्रेष्ठ कवि नहीं। आलोचक की इस नवीन परिभाषा तथा इस नवीन तथ्य के अनुसन्धान के फलस्वरूप आलोचना-क्षेत्र मे क्रान्ति मचने वाली थी।

मध्य-युग के साहित्य की प्रेरणा

साहित्यिक क्रान्ति का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण लेखकों का मध्ययुग के प्रति अनुराग तथा आकर्षण था। लेखकों को मध्ययुग में ऐसी विचार-शैली, ऐसी साहित्यिक प्रणाली तथा ऐसी काव्यात्मक भावनाओं और जीवन के रहस्यों के दर्शन होने लगे कि उनको सोचने-समझने तथा उसके कल्पनात्मक रहस्यों को प्रदर्शित करने में वे तन-मन से लग गए। मध्ययुग के विशाल तथा रहस्यमय क्षेत्र में अब कविवर्ग विचरण करने लगा। प्रायः दो सौ वर्षों से आलोचकों ने मध्ययुग के जीवन को हीन, निरर्थक तथा असाहित्यिक घोषित कर रखा था। इस मध्ययुग के मार्ग पर मानो एक प्रकार का ऐसा निषेधात्मक संकेत लगा था कि साहित्य-पथ का पथिक उस ओर

प्रस्थान करने का साहस ही न कर सके। परन्तु इस परिवर्तित रुचि के अनुसार मध्ययुग के साहित्य का अध्ययन नवीन उत्साह से होने लगा। लेखकवर्ग उस काल के लेखकों की प्रशंसा तथा उनका अनुकरण करने लगा। अनेक लेखकों ने मध्ययुग के नृत्य-गीतों[1] की ओर विशेष रुचि दिखलाई और उनका संकलन किया। मध्य युग की विचार-शैली और काव्य के अनुकरण के फलस्वरूप भी समस्त साहित्य-क्षेत्र में एक नवीन स्फूर्ति आ गई।

प्राचीन आलोचना की पराकाष्ठा

मध्ययुग के प्रति इस नवोत्साह का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि इस समय प्राचीन आलोचना-प्रणाली अपनी पराकाष्ठा पर थी और उसमें प्रगति की गुञ्जाइश न थी। अब यह स्वाभाविक ही था कि साहित्य नवीन मार्ग ढूँढता और लेखकवर्ग नवोत्साह पाने का प्रयत्न करता। प्राचीन यूनानी तथा रोमीय साहित्य में अब यह क्षमता नहीं थी; उनके आलोचनात्मक सिद्धान्तों की मान्यता इतनी बढ़ी-चढी होने पर भी कोई विशिष्ट साहित्य-रचना न हो सकी। अब यह आवश्यक हो गया कि लेखकवर्ग प्रतिक्रिया आरम्भ करके नवीन क्षेत्रों में विचरण करते और नवीन आलोचनात्मक सिद्धान्तों का निर्माण करते। यह एक ऐतिहासिक तथा नैसर्गिक सत्य है कि जब कोई सिद्धान्त अथवा विचार-शैली पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है तो समय उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ कर देता है और धीरे-धीरे नवीन विचार-धाराएँ तथा नवीन सिद्धान्तों का जन्म होने लगता है। यही परिस्थिति अठारहवीं शती के अन्तिम चरण में आ गई। नवीन सिद्धान्तों तथा नवीन विचार-शैली का जन्म अनिवार्य-सा हो गया।

गीत-काव्य की समीक्षा

काव्य-क्षेत्र मे—विशेषतः गीत-काव्य तथा महाकाव्य की तुलनात्मक समीक्षा मे—आलोचना का नवीन आलोक स्पष्टतः दिखाई देता है। गीत-काव्य की शैली की महत्ता तथा श्रेष्ठता और उसके सहज आकर्षण का प्रमाण देते हुए यह विचार प्रस्तुत हुआ कि गीत-काव्य-शैली सर्वश्रेष्ठ इसलिए है कि उसमें अभिव्यंजना अपनी पराकाष्ठा पर रहती है तथा ध्वनियों का समन्वय चित्ताकर्षक होता है। यद्यपि परिकल्पना के प्रयोग द्वारा उसमे बाह्य रूप से अनेक आलंकारिक गुण आ जाते हैं तथापि उसकी वास्तविक आत्मा का जब-जब विकास होता है वह काव्य के अन्य रूपों की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर होती है। महाकाव्य का विस्तार इतना अधिक होता है

१. देखिए—'काव्य की परख'

कि उसमें काव्य की वास्तविक आत्मा अपना पूर्ण प्रकाश नहीं पा सकती; विस्तार एक प्रकार से उसके लिए घातक होता है। अतिशय संक्षेप-कथन, विशुद्ध और स्पष्ट अभिव्यक्ति तथा संगीतात्मकता गीत-काव्य के विशिष्ट तत्त्व रहेंगे। इन्हीं गुणों के आधार पर गीत-काव्य की श्रेष्ठता प्रमाणित होगी। काव्य तभी सार्थक है जब उसकी वेश-भूषा तथा उसका रूप हृदय-ग्राही हो। केवल अर्थ की सार्थकता के बल पर विशुद्ध काव्य-रचना नहीं हो सकती। कदाचित् इस युग मे गीत-काव्य की नवीन परिभाषा इसीलिए सम्भव हो सकी कि प्राचीन रूढ़िगत काव्य की परिभाषा पर से विश्वास उठ-सा चला था।

भाषा, भाव तथा छन्द

काव्य की भाषा के सम्बन्ध में यह विचार मान्य हुआ कि साधारण जन-वाणी काव्य में प्रयुक्त नहीं हो सकती; काव्य की भाषा उससे कहीं अधिक विभिन्न होगी। इसके साथ-ही-साथ कवियों को प्राचीन प्रयोगों तथा शब्दों के प्राचीन रूपों को प्रयोग करने की पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। यह पद्धति भाषा के सभी श्रेष्ठ कवियो ने अपनाई है और उसकी सहायता से अपने काव्य को अर्थपूर्ण तथा आकर्षक बनाया है। इस सिद्धान्त को सार्थक सिद्ध करने के लिए कवियों ने अपनी कविता में इन प्रयोगों को आश्रय दिया और उनकी सफलता घोषित की। साहित्य के कुछ इतिहासकारों ने कवियों के वर्गीकरण में नवीन आधार प्रयुक्त किये, कविवर्ग को चार श्रेणियो में विभाजित किया और श्रेष्ठ कवि मे कल्पना-तत्त्व का प्राधान्य अनिवार्य प्रमाणित किया। प्रथम श्रेणी के कवि वे होंगे जो उन्नत भावना, कल्पना तथा कारुण्य को प्रश्रय देकर श्रेष्ठ काव्य रचते हैं; दूसरी श्रेणी उन कवियों की है जो काव्यानुभव तो कम करते हैं परन्तु भाषण-शास्त्र के तत्त्वों तथा शिक्षा-प्रदान को प्रशंसनीय समझते है; तीसरे वर्ग के कवि वक्रोक्ति के बल पर ही काव्य-रचना करते हैं और चौथी श्रेणी के कवि कवि नही, वे केवल तुकबन्दी करने वाले कहे जा सकते है। इस वर्गीकरण में जिस प्रकार कल्पनात्मक तत्त्व तथा उन्नत भावना को श्रेष्ठ काव्य का मूलाधार समझा जा रहा है उससे आगामी काल का संकेत स्पष्ट होता जा रहा है। युग-देवता, धीरे-धीरे कवि तथा आलोचकवृन्द को नवीन प्रेरणा देकर एक नवीन काव्य-मन्दिर की ओर ले जा रहे हैं। जहां-कहीं भी काव्य का मूल्यांकन हो रहा है वहां आलोचकवर्ग केवल नियमों की मान्यता के आगे सिर नहीं झुकाता। जब-जब उन्हें उदाहरण ढूँढने होते हैं अथवा प्रेरणा लेनी होती है तब-तब वे प्राचीन यूनान

तथा रोम की दुहाई न देकर पिछले युगों के कवियो तथा नाटककारो का आदर्श प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं। काव्य मे आनन्द के तत्त्व को भी तर्क-रूप में प्राधान्य दिया जाने लगा और छन्द की उपयोगिता पर विचार-विमर्श होने लगा। काव्य का प्रधान लक्ष्य है आनन्द-प्रदान और छन्द आनन्द-प्रदान में सहायता देता है; फलतः काव्य में छन्द का प्रयोग फलप्रद है। गद्य-शैली के संगीतात्मक तत्त्वों का भी अनुसन्धान हो रहा था और श्रेष्ठ गद्य में लय की आवश्यकता लेखकवर्ग अनिवार्य समझने लगा था।

निर्णयात्मक आलोचना की प्रगति

निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली की प्रगति में सहयोग देते हुए कवियो के काव्य की जो-कुछ भी आलोचना लिखी गई उससे स्पष्ट है कि एक मौलिक दृष्टिकोण तथा एक नवीन आलोचनात्मक शब्दावली, जिसमें सौन्दर्यात्मकता को अधिक प्रश्रय दिया जाता है, प्रयुक्त हो रही है। जो भी आलोचनात्मक विचार प्रदर्शित तथा प्रकाशित हो रहे हैं उनमे मौलिकता का ही आधिक्य है। काव्य की परख ऐतिहासिक दृष्टि-कोण से होने लगी है और जहाँ कहीं भी नवीन स्थल दिखाई दे जाते हैं उनकी प्रशंसा होने लगती है। पहले तो इन नवीन स्थलों की कटु आलोचना हुआ करती थी; नवीनता पर प्रतिबन्ध लगे थे; मौलिकता पर अविश्वास था। परन्तु अब उसके प्रति प्रेम है; उसको समझने और हृदयङ्गम करने में एक प्रकार की ललक सी दिखाई देती है, चाहे यह नवीनता समय अथवा युग की दृष्टि से हो अथवा अर्थ की दृष्टि से सभी रूपों मे ग्राह्य है। इस सम्बन्ध में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नियम बना। लेखकों तथा आलोचको को समय और साहित्य का सम्बन्ध स्थापित करने का आदेश मिला, क्योंकि साहित्य अपने निर्माण-काल की दृष्टि से ही श्रेष्ठ अथवा हीन होगा। युग साहित्य की सीमाएँ निर्धारित करता रहता है और आलोचक जब तक युग की भूमिका को ध्यान मे रखकर आलोचना न लिखे तब तक आलोचना श्रेष्ठ न होगी। इसका कारण यह है कि साहित्य अपने युग की विचार-धारा, विश्वास तथा रूढ़ि को ही पहले प्रतिबिम्बित करता है; वह युग की मूक भावना को वाणी देता है, स्वरित करता है; उसी के द्वारा उसमें गति आती है और यह महत्त्वपूर्ण तत्त्व भुला देना आलोचना के प्रति अन्याय करना है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण की रक्षा के बिना आलोचना की रक्षा नहीं हो सकेगी। कारण यही है कि समय और साहित्य में चोली-दामन का सम्बन्ध है। प्राचीन युग के साहित्य को नवीन युग के दृष्टिकोण से और आधुनिक काल के साहित्य को प्राचीन काल के सिद्धान्तों के

आधार पर परखना भूल होगी। आलोचना-क्षेत्र का यह अकाट्य तथा अमर सिद्धान्त है।

नियमों की अवहेलना

नियमों तथा सिद्धान्तों के आधार पर लिखी हुई आलोचना अब सन्तोषप्रद नहीं समझी जा रही थी और अठारहवीं शती के महत् सिद्धान्त—'प्रकृति का अनुसरण करो'—की न्यूनता अनेक तत्कालीन लेखक समझने लगे थे। उनका विचार था कि 'प्रकृति का अनुसरण'-सिद्धान्त हेय नहीं; प्रकृति के अर्थ को सीमित करने में ही उसकी न्यूनता है। कवि प्रकृति का अनुसरण तो सदैव ही करता है, परन्तु जिस प्रकृति का वह अनुसरण करता है वह विज्ञान-क्षेत्र से सम्बन्धित प्रकृति नहीं; वह काव्य-क्षेत्र से सम्बन्धित प्रकृति है जिसमे काव्य का प्राण निहित रहता है। साधारण प्रकृति का प्रयोग प्रबोधक काव्य, व्यंग्य काव्य, श्लेषयुक्त काव्य इत्यादि में तो फलप्रद होगा परन्तु विशुद्ध काव्य मे नहीं। साधारण प्रकृति के नियमों के निर्वाह के फलस्वरूप काव्य की आत्मा को कितनी गहरी क्षति पहुँचेगी इसका अनुमान करना कठिन न होगा। नियमो के निर्वाह द्वारा तर्क, सुबुद्धि तथा सुरुचि की रक्षा तो अवश्य होगी परन्तु कल्पना, परिकल्पना, दूर-देश अथवा परी-देश के आध्यात्मिक आकर्षण तथा दैवी स्वप्नों को, जिनमें हमारी आकांक्षाएँ तथा हमारी आत्मिक अनुभूति छिपी है, निर्वासन-दण्ड मिल जायगा। सुबुद्धि द्वारा प्रसूत काव्य से हमारे तर्क की तुष्टि होगी, परन्तु हमारी आत्मा अछूती रहेगी। जो काव्य आत्मा को तरंगित नहीं करता, वह काव्य नहीं। इस विवेचन के यह अर्थ नहीं कि नियमों का काव्य में कोई स्थान ही नहीं। नियमों का स्थान तो प्रमाणित है, परन्तु जिस युग में जो नियम बनते हैं उसी युग के काव्य के लिए वे हितकर होते है, और दूसरे युगो की काव्य-धारा को प्राचीन नियमों के आधार पर अवगाहना फलप्रद न होगा। नवीन साहित्यिक प्रयास नवीन नियमो द्वारा ही परखे जा सकेंगे और प्राचीन नियमो के संकीर्ण दृष्टिकोण से उनकी आलोचना करना काव्य को निष्प्राण कर देना है। प्राचीन आलोचना के आधार नवीन साहित्य का बोझ वहन नही कर सकेंगे। अब तो आलोचना-क्षेत्र का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि 'काव्य हमे आनन्ददायी क्यों है?' मगर पहले प्रश्न था कि 'काव्य को किन नियमो द्वारा आनन्ददायी बनाया जा सकता है;' अथवा 'प्राचीन नियमों के आधार पर विरचित काव्य में आनन्द का प्रसार हुआ है; क्या अब उन नियमों की मान्यता से आनन्द नहीं मिल सकता?' काव्य-जगत् का आदर्श अब तो यह है कि यदि काव्य आनन्ददायी है तो उसमे दोष

होंगे ही नहीं और यह आनन्द जितना ही रहस्यपूर्ण तथा आकस्मिक होगा उतना ही काव्य हृदयग्राही तथा दोषरहित होगा। 'काव्य हमें क्यो और कैसे आनन्द देता है', यही अनुसन्धान आलोचना-जगत् का प्रमुख लक्ष्य होना चाहिए। 'क्यो' और 'कैसे' का अनुसन्धान ही हमें काव्य की आत्मा तक पहुँचा सकता है। प्राचीन आलोचना-प्रणाली का लक्ष्य था—'क्या कवि नियमानुसार काव्य-रचना करके आनन्द प्रस्तुत करता है?' अब नवीन आलोचना-प्रणाली का लक्ष्य होगा, 'क्या कवि आनन्द-प्रदान करता है?' यही नवीन दृष्टिकोण रोमांचक आलोचना-प्रणाली का मूलाधार है।

६

: १ :

उन्नीसवीं शती का साहित्यिक वातावरण

प्राचीन, मध्यकालीन तथा आधुनिक साहित्य-क्षेत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण विभिन्नता यह है कि प्राचीन तथा मध्यकालीन युग का कवि (जिसमें, युग के काव्यादर्श के अनुसार आलोचक की आत्मा निहित होनी चाहिए थी) केवल कविता लिखता था और उसे आलोचक का आसन ग्रहण करने की स्वतन्त्रता न थी। हाँ, यदि उसकी इच्छा होती तो वह मनोनुकूल कुछ आलोचना-सिद्धान्तों को छन्दबद्ध रूप में व्यक्त कर सकता था; परन्तु आधुनिक कवि प्रायः स्वेच्छापूर्वक आलोचक का आसन ग्रहण कर लेता है; वह अपनी रुचि और अपने सिद्धान्तो के प्रदर्शन और पुष्टि मे अत्यन्त उत्साहित रहता है और काव्य-क्षेत्र को छोड़कर आलोचना-क्षेत्र में गद्य रूप में अपनी आलोचना-प्रणाली का तर्कयुक्त विवरण देता है। वह प्राचीन तथा मध्यकालीन कवि-परम्परा और उसके सन्तोषप्रिय दृष्टिकोण से सहमत नहीं; वह अपनी मर्यादा-रक्षा तथा अपने सिद्धान्तों के समर्थन-हेतु आलोचना-क्षेत्र मे एक साहित्यिक वीर के रूप में अवतरित होता है और अपने विरोधियों तथा प्रतिद्वन्द्वियों को साहित्य-क्षेत्र में धराशायी करने में अपनी समस्त शक्ति लगा देता है। उसे साहित्य के प्राचीन नियम न तो मान्य हैं और न ग्राह्य; और वह प्राचीन सिद्धान्तो के विरोध में नवीन सिद्धान्तों का निर्माण कर चलता है। प्राचीन रूढ़ियों की बेड़ियाँ पहने हुए काव्य-सुन्दरी को वह मुक्त करना चाहता है और उसे नवीन, रुचिकर तथा सहज आभूषणों से सुसज्जित करने में दत्त-चित्त रहता है। उसका विश्वास-सा है कि प्राचीन सिद्धान्तों ने काव्य की आत्मा कुण्ठित ही नही की वरन् उसकी हत्या भी कर दी और काव्य मे, नवीन रूप से, प्राण-प्रतिष्ठा करने का नवीन अनुष्ठान होना चाहिए। साहित्य तथा आलो-चना-क्षेत्र मे इस नवीन रुचि के फलस्वरूप क्रान्तिकारी परिवर्तन होने की सम्भावना थी; और हुआ भी ऐसा ही। काव्य, काव्य की भाषा, काव्य की आत्मा, छन्द, तथा आलोचना-सिद्धान्तों और पत्रकारिता पर जिस नवीन,

मौलिक, मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक रूप मे विचार हुआ उसके कारण उन्नीसवीं शती का आलोचना-साहित्य महत्त्वपूर्ण ही नहीं, वरन् नवीन साहित्यिक मार्गों का परिचायक भी हुआ। इसी समय से आलोचना क्षेत्र में नव विहान का दर्शन होता है।

साहित्य-क्षेत्र का यह एक अटल नियम है कि प्रत्येक युग के कवि और उनकी कविता आगामी युग के कवियों तथा आलोचकों द्वारा तिरस्कृत होती है; और आगामी युग के कवियों का भी तिरस्कार भावी युग में जन्म लेने वाले कवियों द्वारा होता है। यह ऐतिहासिक सत्य अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शती की कवि-परम्परा में पूर्णतया प्रदर्शित है। जिन-जिन नियमो तथा साहित्य-सिद्धान्तों की मान्यता पिछली शती में रही, ठीक उसी के विपरीत अन्य नियम बने और अनेक कवियो तथा साहित्यकारो ने पिछले युग के कवियों तथा साहित्यकारों को न तो कवि समझा और न उनके द्वारा निर्मित सिद्धान्तों को ही मान्य ठहराया। पहले-पहल यह विरोध काव्य की भाषा के क्षेत्र में प्रकट हुआ।

जैसा कि हम पहले स्पष्ट रूप में कह चुके हैं कि अठारहवीं शती के कवि प्राचीन यूनानी तथा रोमीय कवियो की काव्य-परम्परा तथा काव्य-सिद्धान्त का समर्थन मुक्त-कण्ठ से किया करते थे क्योंकि वे यह विश्वास करते थे कि प्राचीन कवियों ने काव्य-संसार की जो-कुछ भी विशिष्ट अनुभूति हो सकती थी, अपने काव्य मे प्रस्तुत कर दी थी; और उन्हीं का अनुसरण काव्य-निर्माण में सहायक तथा फलप्रद होगा। परन्तु जैसा कि अध्ययन तथा अनुभव से स्पष्ट है प्राचीन काल के कवि, अपनी सहज प्रेरणावश काव्य की रचना किया करते थे। वे जिस तीव्रता से मानवी अनुभव प्रदर्शित करते और जिस सहज रूप में उसकी अभिव्यक्ति करते वह कला उनके अनुकर्ताओं को सुलभ न थी। प्राचीन कवियों की भाषा उनकी भावना के अनुरूप उन्नत तथा भव्य रहा करती और जिस विशाल कल्पना द्वारा प्रसूत उनके अलंकार होते वह भी हृदयग्राही तथा अत्याकर्षक होते। परन्तु जब अठारहवीं शती के अनुकर्ताओं ने प्राचीन कवियों का अनुकरण आरम्भ किया तो स्वभावतः उन्होंने उनकी भाषा तथा उनके अलंकार अपना तो लिये परन्तु उस प्रकार की सफल भाषा लिखने तथा सफल अलंकार-प्रयोग के लिए उनकी उन्नत भावना तथा उन्नत कला भी नितान्त आवश्यक थी। वह इनके किये न हो सका। उनकी अनुभूति तथा उनका कल्पना-संसार इनकी पहुँच के बाहर रहा और ये केवल उनके भाषा-प्रयोग को ही ग्रहण कर सके जिसका फल यह हुआ कि इस प्रकार निर्मित काव्य नीरस तथा निष्प्राण हो गया।

इस कल्पनाविहीन काव्य तथा भावहीन कविता ने प्राचीन कवियों के अनुकरण के फलस्वरूप ऐसी शब्दावली का निर्माण तथा प्रयोग सम्भव कर दिया जो वास्तव में प्राणहीन थी। यह शब्दावली थी तो वही जो प्राचीन कवि प्रयुक्त किया करते थे, परन्तु यह प्रयोग न तो काव्यात्मक होता था और न हृदयग्राही। कवि इन शब्दो के बल पर ही काव्य-रचना पर कमर कस लेते और जैसे भी सम्भव होता कविता रच डालते। इस प्रयास में वे छन्द का सहारा लेते और केवल भाषा, अलंकार तथा छन्द की सहायता से वे कवि कहलाने के अधिकारी हो जाते। इसी छन्दयुक्त भाषा-प्रयोग को वे काव्य के नाम से अभूषित करते, जिसका फल यह होता कि इस प्रकार की छन्दबद्ध भाषा वास्तविकता तथा यथार्थ से कहीं दूर जा पड़ती। इस परम्परागत शब्द-योजना तथा अभिव्यंजना द्वारा काव्य मे प्राणदायिनी शक्ति न आ पाती और यह काव्य श्रीविहीन तथा निष्प्राण ही रहता। परन्तु इस प्रकार की निष्प्राण तथा नीरस कविता लोकप्रिय क्यो रही इसके मनोवैज्ञानिक कारणो का उल्लेख अपेक्षित है।

छन्दयुक्त कविता की लोकप्रियता का कारण यह हो सकता है कि पाठकवर्ग अन्तिम पद की कल्पना सहज ही में कर सकता है; ज्यों ही कविता की पहली पंक्ति पूरी पढी गई और दूसरी तीन-चौथाई त्यो ही अन्तिम पद की वे सहज ही में भविष्यवाणी कर सकते हैं। इस क्षमता की अनुभूति पाठकों मे गर्व की भावना का संचार करती है जिसके फलस्वरूप उन्हे छन्द-प्रयोग रुचिकर होता है। यदि यह मनोवैज्ञानिक कारण मान्य हो जाय तो यह कहना भी अत्युक्ति न होगी कि इस प्रकार का काव्य केवल अज्ञानी और निम्न श्रेणी के पाठको को फुसलाकर, उनकी अव्यक्त रूप में चाटुकारिता द्वारा अभीष्ट-सिद्धि करता है; उसमें कदाचित् अन्य गुणों का अभाव है। छन्द काव्य का आवश्यक तत्त्व नहीं; वह हद-से-हद बाह्य अलंकार-मात्र हो सकता है। इसी मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान के अन्तर्गत तथा प्राचीन कवियों के आदर्शों के विरोध में जो साहित्य-सिद्धान्त निर्मित हुए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

काव्य के विषय

सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त, जो तत्कालीन कवियो के वक्तव्यो तथा भूमिका-रूप में लिखी हुई आलोचना में स्पष्ट है, काव्य में प्रयुक्त विषयों के सम्बन्ध मे है। पिछली शती के कवि अपनी काव्य-रचना के लिए कुछ विशेष विषय ही फलप्रद समझते थे और प्रायः उनकी कविता नागरिक जीवन की समस्याओं, जटिलताओं तथा अन्यान्य समाज-सम्बन्धी प्रश्नो का हल ढूँढने मे लगी

रहती थी। नगर का जीवन, भूमिका-रूप में प्रायः सभी कवि वर्णित करते और श्रेष्ठ समाज का ही चित्रण और वर्णन उन्हें प्रिय था। उनकी काव्य-दृष्टि नगर की परिधि के बाहर न जाती थी और नगर की सीमा के अन्दर ही वे काव्य-दर्शन में लगे रहते थे। इस दृष्टिकोण-विशेष के अनेक राजनीतिक तथा सामाजिक कारण हो सकते थे; परन्तु यह कहना अत्युक्ति न होगी कि पिछली शती का कवि-समाज जीवन को व्यापक रूप मे प्रदर्शित न करके केवल कुछ क्षेत्रो के ही प्रदर्शन में संलग्न रहता था और उनके लिए उसी में काव्य-प्रयोग की सफलता थी। उन्होंने यह सिद्धान्त-रूप में (अनेक राजनीतिक तथा सामाजिक कारणवश) मान लिया था कि नगर का जीवन ही श्रेष्ठ है; नागरिक ही श्रेष्ठ व्यक्ति हैं और उन्हीं की समस्याओं का प्रकाश श्रेष्ठ साहित्य-सेवा है। उन्नीसवीं शती के कवियों ने इस सिद्धान्त का घोर विरोध किया और काव्य-विषय-सम्बन्धी विचारों मे अपनी मौलिकता का परिचय दिया। उन्होंने काव्य में नागरिक जीवन की अपेक्षा ग्राम्य जीवन का वर्णन हितकर समझा। उनको साधारण मनुष्य का साधारण जीवन, उस जीवन की घटनाएँ, उस जीवन के अनुभव, उस जीवन के आदर्श, उस जीवन की स्वाभाविकता, शान्ति तथा सन्तोष विषय-रूप में रुचिकर हुए। इस नवीन सिद्धान्त के समर्थन मे अनेक प्रमाण भी प्रस्तुत किये गए।

ग्राम्य जीवन का उपभोग करने वाले प्राणी साधारणतः अपना सहज मानवी स्वभाव सुरक्षित रखते हैं और नागरिक जीवन की विषमता उन्हें दूषित नहीं कर पाती। ग्राम्य जीवन के नैसर्गिक वातावरण मे पालन-पोषण के फल-स्वरूप उसका हृदय स्वच्छ तथा उनकी मनसा पवित्र होती है। उनका स्वच्छ जीवन नैसर्गिक रूप मे प्रकाश पाता रहता है और उसमें नगर की कृत्रिमता नही आने पाती। प्रकृति के जीवन से उनका सम्बन्ध इतना निकट तथा इतना घनिष्ठ रहता है कि उनका भाव-जगत् न तो कृत्रिम होता है और न जटिल। उनकी मानवी आत्मा अपने सहज रूप मे प्रदर्शित होती रहती है। वह कृत्रिम शिष्टाचार तथा सामाजिक बन्धनो से मुक्त रहकर प्रकृति के स्थायी सौन्दर्य से अपना नाता जोडकर पल्लवित-पुष्पित होती रहती है। ग्रामीण व्यवसाय भी इस कार्य मे सहायता देते रहते हैं और ग्राम-निवासी अपनी रुचि, अपनी भावना, अपनी इच्छा तथा अपनी आकांक्षाओ का सहज विकास नैसर्गिक रूप मे किया करते हैं। श्रेष्ठ काव्य को इसी ग्राम्य जीवन के वर्णन और विवरण में तत्पर रहना चाहिए और इसी आधार पर ही श्रेष्ठ काव्य की रचना हो सकेगी। काव्य में प्रयुक्त साधारण जीवन तथा साधारण घट-

नाओं को महत्त्वहीन नहीं समझना चाहिए, क्योंकि जब वे काव्य के विषया-धार बनेंगे तो स्वयं महत्त्वपूर्ण हो जायँगे। परन्तु उनका महत्त्व इतने ही तक है कि वे हमारी भावनाओं के आधार-स्वरूप हैं, भावनाओं की गति ही उन्हे भी गतिशील बनाती है। वे व्यक्तिगत रूप में तो शिथिल तथा निष्प्राण रहेंगे, परन्तु ज्यों ही भावनाएँ अपना माया-जाल फैलाएँगी वे भी जीवित हो उठेंगे। कुछ लोग यह समझते हैं कि मानव-मस्तिष्क बिना किसी आवेशपूर्ण भावना अथवा भयंकर घटना के प्रभावित हो ही नहीं सकता। यह धारणा भ्रामक है। काव्य में चमत्कारपूर्ण घटनाओं तथा आवेश का प्रयोग काव्य को हीन बनाता है और मानव-मस्तिष्क में भी धीरे-धीरे घुन-सा लगा देता है।

काव्य का उद्गम

इसी सम्बन्ध में आलोचकों ने काव्य के उद्गम की विवेचना करते हुए यह सिद्धान्त निश्चित किया कि प्रभावपूर्ण भावनाओं का स्वच्छन्द तथा बहुल प्रवाह काव्य है और मानव के स्मृति-कोष में, भावना की एकान्त पुनरावृत्ति में ही इसका उद्गम-स्थान है। कवि का मानस पुरानी अनुभूतियों तथा भावनाओ पर मनन करता है, यह उसका सहज स्वभाव है। जब कवि कोई दृश्य देखता है अथवा कोई अनुभव करता है तो वह उसे अपने स्मृति-भण्डार में सुरक्षित रख छोडता है और कुछ काल के पश्चात् वह उसे भूल जाता है। इस विस्मृतावस्था में समयानुसार उसी भुलाए हुए दृश्य अथवा अनुभव की भूमिका लिये हुए नवीन भावों की प्रतिक्रिया आरम्भ हो जाती है और इसी प्रतिक्रिया के साथ-साथ काव्य भी आविर्भूत होने लगता है। इस निर्माण-कार्य मे कवि अपनी बहुमुखी प्रतिभा का प्रयोग कर चलता है। कवि मे अन्य गुणों का होना भी आवश्यक है। उसका पहला गुण है निरीक्षण तथा वर्णनात्मक शक्ति जिसके द्वारा वह बाह्य संसार के दृश्य तथा अनुभवों का संकलन किया करता है। इसका दूसरा गुण अनुभवात्मक शक्ति है जो उसके अनुभूति कोष को समयानुसार भरा-पूरा रखती है। तीसरा महत्त्वपूर्ण गुण है उसकी चिन्तनशीलता, जो विचारो तथा भावों का मूल्यांकन किया करती है। कल्पना तथा परिकल्पना की शक्ति द्वारा वह विचारों तथा भावों का निर्माण तथा उनको सुसज्जित किया करता है और अपनी निर्णयात्मिका शक्ति द्वारा वह काव्य में औचित्य तथा चारुता लाने का प्रयत्न करता है।

काव्य की भाषा

ग्राम्य जीवन मे प्रयुक्त भाषा की भी महत्ता प्रत्येक श्रेष्ठ कवि को समझनी चाहिए। ग्राम-निवासी जिस भाषा का प्रयोग करते हैं वह मूलतः प्रकृति के सर्व-

श्रेष्ठ स्थलों द्वारा आविर्भूत है; उस पर न तो सामाजिक वैषम्य की कलुषित छाया रहती है और न नगर के कृत्रिम जीवन की छाप। वह स्पष्ट और सहज रूप में ग्राम-निवासियों की भावना तथा आकांक्षा इत्यादि की परिचायक होती है। यह भाषा युग-युग की अनुभूति लिये हुए तथा अनेक दृष्टिकोण से अधिक दार्शनिक होती है और जो कवि, प्राचीन-काव्य-परम्परा की नियोजित शब्दावली को, जिसमें अलंकार तथा समासों की भरमार रहती है, प्रश्रय देता है काव्य को कुण्ठित तथा काव्य-कला को कलुषित करता है। इस प्रकार की बनी-बनाई काव्य-शैली का प्रयोग स्वयं कवि के चरित्र पर लाञ्छन-स्वरूप है। परन्तु भाषा-विषयक सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि वास्तव में काव्य तथा गद्य की भाषा मे कोई अन्तर ही नहीं। दोनों की अभिव्यक्ति का एक ही माध्यम है, दोनो का शृङ्गार एक है, दोनों का भाव-संसार समान है। काव्य मे न तो देवदूतो का संवाद होता है और न उसे कोई दैवी वरदान ही प्राप्त है; गद्य के समान वह भी साधारण मानवी अनुभूतियो की अभिव्यक्ति करता है और इस सिद्धान्त के प्रायोगिक रूप के सम्बन्ध मे यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि काव्य में जन-साधारण की जो भाषा प्रयुक्त की जाय उसकी शब्दावली का चुनाव अवश्य हो और इस चुनाव में सुरुचि तथा सु-भाव का ध्यान अवश्य रखा जाय। यदि शब्द-संकलन सुरुचिपूर्ण हुआ तो भाषा, साधारण जीवन के स्तर से उठी रहेगी और यदि उसे छन्द का भी सहारा मिला तो निर्मित काव्य सभी व्यक्तियों को रुचिकर होगा। इसके साथ-साथ यह भी न भूलना चाहिए कि काव्य में प्रयोग-हेतु भाषा का चुनाव तभी हो जब उसके प्रयोग करने वालो का मानस और उनका भाव-संसार सजीव अनुभवो से प्रेरित हो। अर्थात् काव्य की भाषा केवल ऐसे क्षेत्रों से और ऐसे समय चुनी जाय जब उसका सजीव प्रयोग होता रहे। इस भाषा पर एक और उत्तरदायित्व भी है— उसे घटनाओ के अन्तर्गत हमारी नैसर्गिक प्रवृत्तियो का विकास और प्रदर्शन भी देना पड़ेगा और यह भी स्पष्ट करना पडेगा कि किस प्रकार हमारे मानस में समान अथवा विपरीत भाव डूबते-उतराते रहते हैं।

काव्य की श्रेष्ठता

कविता की श्रेष्ठता की दूसरी कसौटी है उसका लक्ष्य अथवा उद्देश्य। यह लक्ष्य ऐसा होना चाहिए जो श्लाघ्य हो। इस नियम से यह तात्पर्य नही कि कवि पहले से ही लक्ष्य निश्चित कर ले और उसी को काव्य का रूप दे। इसका तात्पर्य यह है कि ज्यों-ज्यो कवि के अनुभव तथा विचार आपस में समन्वित होते हुए विकास पाते जायँ त्यों-त्यो उनका लक्ष्य भी स्पष्ट होता जाय, क्योंकि नैसर्गिक

भावावेग ही श्रेष्ठ काव्य का मूल स्रोत रहेगा और वही कवि श्रेष्ठ काव्य-रचना कर सकेगा जिसे असाधारण रूप में मनोवेगों का अनुभव हो और जिसका स्मृति-भण्डार भी भरा-पूरा हो। मनोविज्ञान की दृष्टि से हमारे विचार हमारे मनोवेगों को समन्वित तथा सन्तुलित करते रहते हैं। इस समन्वय तथा सन्तुलन के मुख्य आधार हमारे पूर्व अनुभव है; जिनके सहारे हम उन भावनाओ का विकास तथा प्रदर्शन देते रहते हैं जो हमारे जीवन में आवश्यक तथा उपयोगी हैं।

काव्य तथा कल्पना

काव्य की श्रेष्ठता के लिए कल्पना का प्रयोग भी अत्यावश्यक है। जब-जब घटनाओं का चुनाव हो और उनमे भावों की सहायता से स्फूर्ति लाना अभीष्ट हो तब-तब कल्पना के प्रयोग की आवश्यकता पड़ेगी। कल्पना भावों की तूलिका से घटनाओं को अनुरंजित करती रहेगी और यह अनुरंजित प्रदर्शन हृदय-ग्राही होगा। साधारण घटनाएँ अथवा साधारण विचार कल्पना की कृपा से ऐसा नवीन कलेवर ग्रहण कर लेते हैं कि देखते ही बनता है। वे असाधारण तथा नित नूतन रूप में हमें आकर्षित करते रहते हैं।

कवि-धर्म

इस शती में काव्यादर्श-संकेत के साथ-साथ कवि-धर्म पर भी कुछ विशिष्ट विचार प्रस्तुत किये गए और कवि के उद्देश्य और काव्य की आत्मा का विश्लेषण भी हुआ। 'कवि कौन है' तथा 'उसका लक्ष्य क्या है' इन दोनों प्रश्नो के उत्तरस्वरूप कहा गया कि कवि एक ऐसा व्यक्ति है जो साधारण जन-समूह से मनुष्य की हैसियत से संवाद करता है। उसकी भावना सजीव होती है; उसका मानस उत्साहित तथा सहानुभूतिपूर्ण रहता है; मानव-चरित्र तथा मानव-जीवन का उसे विशेष ज्ञान रहता है; उसकी आत्मा व्यापक होती है। वह अपना भावना-संसार तरंगित रखता है और अपनी आत्मा की सहज प्रेरणाओं तथा अपनी इच्छा-शक्ति के उत्फुल्ल विकास में प्रसन्न रहकर जीवन की प्राण-दायिनी शक्ति का अपूर्व अनुभव किया करता है। वह अपनी इच्छा, प्रेरणा तथा आकांक्षाओं की पूर्ति के स्वप्न देखा करता है और जहां-कहीं भी उसे उसकी न्यूनता का अनुभव होता है वह उसकी पूर्ति में संलग्न हो जाता है। उसकी अनुभूति तीव्र होती है और उसके मानस में कुछ ऐसे तत्त्व रहते हैं जिनके द्वारा वह अनुपस्थित वस्तुओ को उपस्थित कर लेता है और एक ऐसा स्वप्न-संसार बसा लेता है जो कदाचित् यथार्थ जीवन की घटनाओं के आधार पर असम्भव ही होगा। दूसरों की अनुभूति उसकी मुट्ठी में रहती है और वह बिना

किसी बाह्य प्रेरणा के अपने अन्तर्जगत् में सब-कुछ अनुभव कर सकता है। संक्षेप में कवि की मानवता, उसकी व्यापक आत्मा, उसका आनन्दातिरेक उसके व्यक्तित्व के प्रधान गुण हैं तथा जीवन की न्यूनताओं की पूर्ति उसका प्रधान लक्ष्य है। कवि अपने व्यक्तित्व के प्रकाश तथा अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए ऐसी चुनी हुई भाषा का प्रयोग करता है जो साधारण जन-समूह द्वारा भावावेश में प्रयुक्त होती है। कवि का प्रधान लक्ष्य है आनन्द-प्रदान।

काव्य का लक्ष्य

यूनानी आलोचक अरस्तू का विचार था कि काव्य साहित्य के अन्य रूपों की अपेक्षा दर्शन का विशेष आधार ग्रहण करता है और उसका लक्ष्य है सत्य का प्रदर्शन। व्यक्तिगत अथवा स्थानीय सत्यों से वह प्रभावित नहीं होता, वरन् सर्वगत और सर्वजनित सत्यों के ही निरूपण में संलग्न रहता है। वास्तव में काव्य मानव तथा प्रकृति दोनों का प्रतिबिम्ब है और आनन्द-दान ही उसका प्रधान लक्ष्य है। कुछ कवि यह समझते हैं कि आनन्द-प्रदान का कार्य उनकी मर्यादा को गिराता है और उनकी कला को हीन बनाता है, परन्तु यह विचार भ्रममूलक होगा। जब काव्य आनन्द का प्रदर्शन करता है तो वह इसका प्रमाण देता है कि संसार सुन्दर तथा प्रेममय है। वह मानव की मानवता के सम्मुख विनत होकर यह सिद्ध करता है कि आनन्द की अनुभूति ही ऐसी आदर्श अनुभूति है जो मनुष्य को सोचने-समझने, अनुभव करने तथा जीवनमय होने को बाध्य करेगी। हमारे कारुण्य और सहानुभूति-प्रदर्शन मे भी अस्पष्ट रूप में आनन्द की भावना झलक मारती रहती है। पारिभाषिक रूप में काव्य समस्त ज्ञान-वाटिका का पराग रूप है, वह समस्त ज्ञान-विज्ञान की आत्मा की अभिव्यंजना है; वह ज्ञान का आदि तथा अन्त है और मानव के हृदय के समान ही अक्षुण्ण तथा अनन्त है। कवि भी पारिभाषिक रूप में मानव-चरित्र का पोषक तथा रक्षक है और प्रेम तथा मानवी सम्बन्ध का विज्ञापक तथा प्रमाता है। वह भूगोल, जलवायु, भाषा, जातीय नियम तथा रूढि के बन्धनों से मुक्त तथा स्वतन्त्र है। विस्मृति के गह्वर में सोई हुई भावनाओं तथा विचारों और भयंकर काण्डों द्वारा विनष्ट वस्तुओं को वह पुनः प्रकाशित तथा जीवित करता चलता है। प्रेम तथा ज्ञान की रज्जुओं द्वारा वह समस्त मानव-समाज को सतत एक साथ बाँधने मे प्रयत्नशील रहता है। कवि के काव्याधार विचार सभी जगह विद्यमान रहते हैं और वह किसी भी क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप मे विचरकर अपने मनोवेगों के उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत कर सकता है। वस्तुतः मानवी इन्द्रियाँ उसका पथ-प्रदर्शन किया करती हैं; परन्तु

वह अपना मार्ग स्वयं निर्धारित करने के लिए पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कवि अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अनुभव करने तथा सोचने-समझने में सतत उद्यत रहता है और बिना किसी बाह्य उत्तेजना के वह सहज ही शीघ्रता से संसार की अनुभूति पा लेता है और उसे प्रकाशित करने की अपूर्व शक्ति रखता है। उसकी अनुभूति सर्वगत होती है और उसके विचार-संसार में समस्त मानव-समाज के विचार निहित रहते हैं। यदि यह पूछा जाय कि उसका विचार-सागर किस प्रकार तरंगित होता रहता है तो इसका उत्तर यह होगा कि अनेक प्रकार की विचार-वीथियाँ उठ-उठकर उसके मानस को तरंगित करती रहती हैं। हमारी नैतिक भावनाएँ, हमारे मनोवेग, हमारी शारीरिक अनुभूतियाँ, पंच-तत्त्वों से निर्मित विश्व—उसका प्रकाश तथा अन्धकार, ऋतु-परिवर्तन—हमारे सुख दुःख, हमारे खेद और क्लेश, हमारी आशा-निराशा, भय तथा प्रीति तथा इन्हीं से सम्बन्धित अनेक अनुभूतियाँ कवि के मानस को तरंगित करती हैं और वह इन्हीं की सफल अभिव्यक्ति की साधना में व्यस्त रहता है।

कवि-धर्म तथा काव्य-कला के उपर्युक्त विवेचन को ध्यान में रखकर हमें काव्य की भाषा का प्रश्न हल करना होगा। जब हम यह सिद्धान्त-रूप में मान चुके कि कवि को मानवी आत्मा की अभिव्यक्ति अपेक्षित है तो भला क्या उसकी भाषा साधारण समाज की भाषा से भिन्न होगी? जब कवि अपने लिए काव्य-रचना न करके जन-साधारण के लिए ही करता है तो उसे उन्हीं की भाषा भी अपनानी होगी; तभी अपने काव्य द्वारा वह उन्हें प्रभावित भी कर सकेगा। यदि कवि अपने गर्व के वश यह समझे कि जनता को ही उसके पास आना चाहिए और जिस भाषा में वह काव्य लिखे उसे सीखने तथा समझने का प्रयत्न करना चाहिए तो यह उसकी भूल होगी। उसे जन-मन के निकट आने के लिए, उनमें सहानुभूति जाग्रत करने के लिए, उनकी ही भाषा का प्रयोग करना होगा। अब रहा छन्द-प्रयोग का प्रश्न।

छन्द-प्रयोग

काव्य के लिए छन्द-प्रयोग अनावश्यक है; हाँ यह अवश्य है कि उसके प्रयोग द्वारा आनन्द-प्रदान में सहायता मिलती है। यह भी ऐतिहासिक रूप में सही है कि प्रायः सभी श्रेष्ठ कवियों ने छन्दयुक्त ही काव्य रचा है और उसके द्वारा जो विरोधाभास प्रस्तुत होता है वह विशेष रूप से आनन्दप्रद होता है; अथवा आनन्द उसी के द्वारा प्रस्तुत होता है। यह कहना भ्रामक होगा कि छन्द-प्रयोग द्वारा काव्य में विषमता आती है; इसके प्रतिकूल यह

कहा जा सकता है कि उसके प्रयोग से काव्य अलंकृत हो सकता है। छन्द का महत्त्व भावोद्रेक की दृष्टि से अधिक है, क्योंकि छन्द द्वारा कवि का उद्वेलित भाव-संसार सुस्थिर तथा सुव्यवस्थित हो जाता है और उसकी असंयत तीव्रता सन्तुलित होकर उन्नत तथा हृदयग्राही हो जाती है। यद्यपि छन्द-प्रयोग द्वारा भाषा में कृत्रिमता आती है, फिर भी करुण भाव तथा करुण कथाएँ छन्दो द्वारा अधिक प्रभावपूर्ण हो जाती हैं। इस विषय मे यह सिद्धान्त विश्वस्त है कि मानव-हृदय को असमानता के अन्तर्गत समानता का आभास आनन्द-दायक होगा, इसीलिए छन्दपूर्ण काव्य भी रुचिकर होता है। इसका प्रमाण यह है कि यदि हम गद्य तथा पद्य दोनों मे किसी विषय पर रचना करें तो पद्यात्मक रचना सौगुनी रोचक होगी।

निर्णयात्मक आलोचना

कवि-धर्म तथा काव्यालोचन के अतिरिक्त निर्णयात्मक आलोचना-क्षेत्र में अनेक विशिष्ट विचार प्रस्तुत किये गए। पहले-पहल पाठकों का वर्गीकरण हुआ तथा काव्य में सुरुचि के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया। पाठकवृन्द तीन श्रेणियो मे विभक्त किये जा सकते हैं—अज्ञ, प्रौढ तथा सुविज्ञ। अज्ञ पाठक अनुभव-हीन होते हैं और काव्य उनके लिए प्रेम अथवा लालसा की पूर्ति का साधन-मात्र है। प्रौढों के लिए काव्य का कोई आकर्षण नहीं और वे उसको सावकाश मनोविनोद-मात्र समझते हैं। सुविज्ञ ही ऐसे होते हैं जो काव्याध्ययन सुचारु-रूप से करते हैं और उसमें प्रयुक्त कला को परख सकते हैं। यही वर्ग श्रेष्ठ आलोचकों को जन्म देता है। अज्ञ और प्रौढ दोनों वर्गों द्वारा काव्य की श्रेष्ठ परख नहीं हो सकती। सुरुचि के विवेचन मे यह सिद्धान्त निश्चित हुआ कि प्रत्येक लेखक को अपने उपयुक्त पाठक वर्ग का निर्माण करना होता है और उनमें सुरुचि लाने की चेष्टा करनी पड़ती है। यदि नवीन लेखकवर्ग यह चाहता है कि उसके द्वारा रचित साहित्य की परख ठीक-ठीक हो तो उन्हे जन-रुचि का परिष्कार करना पड़ेगा। औचित्य तथा अनुरूपता सुरुचि के मूलाधार हैं।

रोमांचक सिद्धान्तों की दार्शनिक व्याख्या

कवि-धर्म, काव्य, काव्य की भाषा, छन्द-प्रयोग इत्यादि के सम्बन्ध मे जो-कुछ भी नवीन अथवा रोमांचक सिद्धान्त इस समय बने, वे वास्तव मे दार्शनिक दृष्टि से भ्रामक थे। विशेषतः वे सिद्धान्त, जो ग्रामीण भाषा की उपयुक्तता तथा छन्द की अनावश्यकता के सम्बन्ध में प्रस्तुत किये गए, थोड़े ही दिनों बाद थोथे प्रमाणित हुए और उनके दार्शनिक विश्लेषण के उपरान्त कुछ अन्य विरोधी सिद्धान्त बनाये गए।

परन्तु इसके साथ-साथ गद्य तथा काव्य की भाषा और कल्पना के सम्बन्ध में जो मौलिक सिद्धान्त प्रतिपादित किये गए उनकी महत्ता आज तक बनी हुई है। कल्पना की परिभाषा तथा उसके ध्येय के विषय में तो जो भी विचार प्रस्तुत हुए कदाचित् वे अब तक मौलिक हैं और सभी आलोचक आज तक उन्हे मान्य समझते आए हैं।

कवि तथा कल्पना

कवि-धर्म तथा काव्य के तत्त्वों में एक प्रकार का आन्तरिक सम्बन्ध है। आदर्श कवि वही है जो मानव की समस्त आत्मा को प्रेरित करके क्रियाशील बनाता है। वह मानव चरित्र के अनेक स्वाभाविक गुणों को सामंजस्यपूर्ण बनाकर उनकी मर्यादा-रक्षा करके उन्हें उनके भव्य रूप में प्रदर्शित करता है। उसकी कला विभिन्न गुणों मे ऐक्य का प्रसार करके अत्यन्त आश्चर्यपूर्ण रूप में समन्वय का आदर्श प्रस्तुत करती है। इस आश्चर्यपूर्ण कला को हम कल्पना के नाम से सम्बोधित कर सकते हैं। साधारणतः कवि काव्य-निर्माण में दो मार्गों का अनुसरण कर सकता है। एक तो वह कुछ घटनाओं का ऐसे रूप मे वर्णन कर सकता है जो हमारे लिए स्मरणीय हो जायँ अथवा वह ऐसे सत्य का निरूपण करना आरम्भ कर दे जिसके फलस्वरूप वर्णनात्मक तथा ऐतिहासिक कविता का जन्म हो जाय। परन्तु कवि चाहे जो भी मार्ग अपनाए उसका प्रधान लक्ष्य आनन्द की अभिव्यंजना तथा उसका प्रसार ही रहेगा। यदि यह सिद्धान्त मान लिया जाय तो यह भी कहना पड़ेगा कि उपन्यास अथवा लेख भी काव्य हैं, क्योंकि उनका भी लक्ष्य आनन्द प्रदान है। परन्तु यह निष्कर्ष ठीक नहीं। काव्य का प्रत्येक विभिन्न स्थल पृथक् रूप में तथा एकरूप होकर आनन्द का विस्तार करता है; उपन्यास तथा लेख के लिए यह सम्भव नहीं।

काव्य-विषय तथा भाषा

काव्य-निर्माण के सम्बन्ध में जिस ग्रामीण जीवन को विषय रूप मे अपनाने का आदेश दिया गया वह तर्क की दृष्टि से अवाञ्छित था। काव्य का लक्ष्य है यथार्थ का आदर्शवत् निरूपण अथवा आदर्श का यथार्थवत् प्रदर्शन; और इन दोनो दृष्टिकोणों से ग्रामीण जीवन फलप्रद न होगा। अनुभव द्वारा यह भी प्रमाणित है कि ग्रामीण जीवन में अनेक दोष होते हैं। उसका वातावरण अक्सर ऐसा रहता है जो श्रेष्ठ काव्य के लिए फलप्रद न होगा। इसके साथ-साथ ग्राम-निवासियों मे शिक्षा, सुसंस्कृत विचार तथा अनुभवात्मक शक्ति की कमी रहती है। इसी कारण जो भी कविता ग्राम-जीवन को विषयाधार मानकर लिखी जायगी, श्रेष्ठ न हो पायगी। यही

बात ग्रामीण भाषा के प्रयोग में भी मान्य है। रोमांचक आलोचक यह कह सकते हैं कि ग्राम-निवासी नित्य-प्रति प्रकृति के संसर्ग मे जीवन व्यतीत करते हैं इसलिए उनकी भाषा शुद्ध और नैसर्गिक होगी तथा स्थायित्व के गुण उसमें सहज ही प्रस्तुत रहेंगे। परन्तु सच बात तो यह है कि भाषा के श्रेष्ठातिश्रेष्ठ शब्दो तथा अन्य गुणों से ग्रामीण दूर ही रहते हैं। वे न तो तथ्य तक पहुँच पाते हैं और न उसके अन्तरतम मे निहित सिद्धान्तो को ही हृदयंगम कर पाते हैं। उनका प्रकृति से संसर्ग भी कोई श्रेष्ठ स्तर का नहीं होता; वे तो केवल प्रकृति के उर्वर भागो को ही देखते हैं और जो कोई भी वस्तु उन्हे जीवन यापन में सहायक होती है अपना ली जाती है। वे सदैव एकांगी दृष्टिकोण से प्रकृति का प्रयोग करते हैं। वे उसका सर्वांग रूप देखते ही नही। इसके फलस्वरूप उनकी अभिव्यंजना दूषित तथा उलझी हुई होती है। भाषा के श्रेष्ठातिश्रेष्ठ तत्त्व केवल मानसिक क्रिया-प्रतिक्रिया तथा चिन्तन के फलस्वरूप प्रकट होते हैं और ग्रामीण इनसे वंचित रहते है। इस सम्बन्ध में टिप्पणी रूप में यह कहना कि ग्रामीण जो भाषा भावावेश में प्रयुक्त करते हैं वही चुननी चाहिए और भी भ्रामक है। भावावेश में तो ग्रामीण केवल उसी भाषा का उपयोग करेंगे जो उनकी स्मरण-शक्ति द्वारा संचित है। फलतः वे कोई नवीनता भी न ला सकेंगे। इसलिए उनका प्रयोग प्राणहीन ही होगा। सच तो यह है कि ग्रामीणो द्वारा प्रयुक्त भाषा के प्रधान तत्त्व उनकी प्रान्तीयता, स्थानीय तथा भद्दे प्रयोग ही रहेंगे और यदि ये तत्त्व हटा दिये जायँ तो फिर ग्रामीणों द्वारा प्रयुक्त भाषा तथा साधारण भाषा में अन्तर ही क्या रह जायगा। अतः यह सिद्ध है कि ग्रामीणों द्वारा प्रयुक्त भाषा काव्य के लिए अनुचित होगी।

भाषा के सम्बन्ध में यह नियम मानना पड़ेगा कि उसकी तीन श्रेणियाँ हैं। पहली है नित्य-प्रति के संवाद की भाषा, दूसरी है गद्य की भाषा तथा तीसरी है काव्य में प्रयुक्त भाषा। इन तीनो का वर्गीकरण क्रम पर निर्भर रहेगा। संवाद की भाषा में कोई क्रम नहीं, गद्य की भाषा में क्रम की मात्रा अधिक रहेगी और सबसे अधिक क्रम काव्य की भाषा में ही रहेगा। इस दृष्टि से गद्य तथा काव्य में विरोध नहीं; दोनों की भूमिका तथा दोनो के तत्त्व समान हैं; विरोध तो केवल बनावट तथा शैली में होगा। इसलिए अकाव्य रूप मे यह कहना कि गद्य तथा काव्य की भाषा में कोई अन्तर नही भ्रममूलक है। अन्तर अवश्य है। वास्तविक विरोध होना चाहिए काव्य तथा पद्य मे; क्योंकि पद्य में काव्य के गुण रह भी सकते हैं और नहीं भी; परन्तु काव्य में काव्य के

गुण न होना घातक होगा।

छन्द-प्रयोग

काव्य में छन्द का होना वैसा ही अनिवार्य है जैसा काव्य में काव्य के गुणों का समावेश। इनका पहला ऐतिहासिक कारण तो यह है कि सभी श्रेष्ठ कवियों ने काव्य-रचना में छन्द का प्रयोग किया है और अपनी कविता आकर्षक बनाई है। दूसरा कारण मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक है। कवि जब काव्य-रचना करता है तो उसमें भावावेश अत्यधिक रहता है। इस भावावेश मे कवि-हृदय उद्वेलित हो उठता है और उसे सफल अभिव्यंजना के हेतु अपने भावावेश का नियमन करना होता है। इन उद्वेलित भावों को जिस ठहराव की आवश्यकता होती है उसी से छन्द की व्युत्पत्ति होती है। छन्द-प्रयोग हमारी भावनाओं को पूर्णरूपेण विकसित करता है; उसके द्वारा हमें सतत विस्मय की अनुभूति मिलती रहती है; कभी वह जाग्रत होती है, कभी सन्तुष्ट हो जाती है। यदि छन्द इस विस्मय का विकास तथा तुष्टि न करे तो भावावेश शिथिल हो जायगा और काव्य प्राणहीन। इसलिए छन्द ही नहीं वरन् शब्दों का सुचारु-चयन भी आवश्यक है। इसके द्वारा काव्य अपने सहज रंग में रँग जाता है। मनोवैज्ञानिक रूप से यह कहा जा सकता है कि मानव का मस्तिष्क एक विशेष नियम द्वारा परिचालित होता है और इस परिचालन का मूलाधार है सामंजस्य की स्थापना और उसी की साधना। इस दृष्टि से भी काव्य के लिए छन्द तथा उच्च स्तर की शब्दावली विशेष रूप में अपेक्षणीय होगी। छन्द कवि के भावों को प्रभावयुक्त बनाते हैं तथा हमारे ध्यान को आकृष्ट रखते हैं। जिस प्रकार खमीर के मिलाने से मदिरा की तेज़ी बढ जाती है उसी प्रकार छन्द के सुयोग से काव्य का लालित्य द्विगुणित हो जाता है। और सच बात तो यह है कि कवि छन्द का प्रयोग इसलिए करता है कि वह गद्य न लिखकर काव्य-रचना कर रहा है, क्योंकि बिना छन्द-प्रयोग के काव्य अपूर्ण रहेगा। यही धारणा संसार के महान्-से-महान् कवियों की रही है।

जिस प्रकार छन्द काव्य के लिए अनिवार्य है उसी प्रकार भाषा-विशेष भी काव्य के लिए अनिवार्य है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है काव्य-रचना मे चिन्तन आवश्यक है और इसी चिन्तन के फलस्वरूप शब्दों का चुनाव करना पड जाता है। कवि का भावावेश निर्णयात्मक तथा प्रेरक शक्ति द्वारा नियमित होता है और इन्हीं दोनों मानसिक क्रियाओं के फलस्वरूप भाषा के शब्दों का भी संकलन होता चलता है। निर्णयात्मिका शक्ति शब्दों के चुनाव में सतर्क रहती है और चुने हुए शब्दों की व्यंजना तथा लक्षणा-शक्ति को वार-

बार देखती रहती है और शब्दावलियों को परिष्कृत किया करती है। इस प्रयोग से काव्य की भाषा स्वभावतः आलंकारिक हो जाती है और इसमें कोई दोष भी नहीं। श्रेष्ठ काव्य में तीन स्पष्ट तत्त्व प्रस्तुत रहेंगे। पहला तत्त्व है छन्द, दूसरा वाक्य-विन्यास तथा तीसरा है विचार अथवा भाव। ये तीनों जब उच्च स्तर पर रहेंगे तो काव्य सहज ही श्रेष्ठ होगा।

कल्पना

काव्य के प्रमुख तत्त्वों में सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है कल्पना। जिन दो श्रेणियों के काव्य की चर्चा हम पहले कर चुके हैं उन्हें कल्पना ही सुसज्जित किया करती है। रोमांचक रूप में कभी वह पारलौकिक पात्रों अथवा घटनाओं अथवा भावों मे हमारे पार्थिव तथा मानवी जगत् के अनुभवों को साकार किया करती है और कभी हमारे दिन-प्रतिदिन के जीवन की घटनाओं, सम्पर्क मे आये हुए पात्रों तथा दैनिक अनुभवों को नवीन तथा आकर्षक सज्जा में विभूषित करके प्रस्तुत करती है। जो-जो वस्तुएँ हम अपने दैनिक जीवन मे देखकर भी नहीं देखते उन्हें वह ऐसे रूप में प्रदर्शित करती है जो हठात् हमे आकर्षित कर लेती है। हमारा स्वार्थ तथा हमारा दैनिक परिचय जिन वस्तुओं को हीन तथा आकर्षक समझकर अलग करके रखता है उन्हीं को हमारी कल्पना पुनः हमारे सम्मुख आकर्षक रूप में ले आती है। हमारे अविश्वास को क्षणिक अथवा अस्थायी रूप मे स्थगित करके परी-देश की सैर करना ही कल्पना का लक्ष्य है। हमारे अविश्वास के इस क्षणिक अवरोध में ही काव्य की आत्मा का पूर्ण दर्शन निहित है।

कल्पना वास्तव में हमारी प्रेरक तथा निर्णयात्मिका शक्ति द्वारा जन्म लेती है। उन्हीं के सहज तथा सरल और अव्यक्त निरीक्षण मे वह फूलती-फलती है और विरोधी अथवा विषम गुणों के सामंजस्य में अपनी झलक दिखला जाती है। जहाँ कहीं भी, असमानता मे समानता के भाव हो, विचार तथा उसकी छाया का प्रदर्शन हो, व्यक्तिगत तथा व्यापक सत्यों का निरूपण हो; प्राचीन में नवीन की भावना का प्रसार हो, वहाँ पर कल्पना का शुभ दर्शन अवश्य हो जायगा। सुरुचि काव्य का शरीर है, परिकल्पना[1] उसका आभूषण, प्रेरणाएँ उसका जीवन तथा कल्पना उसकी आत्मा है।

निर्णयात्मक आलोचना का प्रसार: काव्य-शैली के दोष

कल्पना के इस अभूतपूर्व मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के साथ-साथ काव्य-शैली के अनेक दोषों की ओर भी संकेत किया गया। और इन संकेतों को अनेक आलोचकों ने सिद्धान्त रूप में अपनाकर निर्णया-

१. देखिए—'काव्य की परख'

त्मक आलोचना-प्रणाली की पुष्टि की। इनके द्वारा कवि को यह आदेश दिया गया कि उसे अपने काव्य की भाषा का स्तर समरूप रखना चाहिए; सुन्दर तथा आकर्षक शब्दावली अथवा शब्द-समूह के साथ-साथ नीरस तथा शुष्क शब्दावली का गठबन्धन हितकर नहीं। साधारण भावों अथवा विचारो की पुनरावृत्ति भी बहुत खटकती है। कभी-कभी कवि-वर्ग एक ही प्रकार के माध्यम में सब प्रकार के भावों की अभिव्यंजना करने लग जाते हैं; किसी को नाटकीय माध्यम इतना प्रिय लगने लगता है कि वे उसे समयानुसार न अपनाकर मनोनुकूल अपनाने लगते हैं जिसके फलस्वरूप काव्य का आकर्षण खो जाता है। इसी प्रवृत्ति के साथ-साथ कभी-कभी यह भी देखने मे आता है कि वे ऐसे अलंकारो अथवा विचारो का बोझ शब्दो पर रख देते है जो वे सहज रूप मे वहन नही कर पाते; कभी भाषा भारी होती है तो विचार थोथे, और विचार गम्भीर होते हैं तो भाषा शिथिल। इसके विपरीत यह नियम भी बना कि भाषा के उचित प्रयोग द्वारा काव्य की आत्मा सुरक्षित होती है। संयत, मौलिक तथा गम्भीर विचारो से काव्य को शक्ति मिलती है; अलंकारो के यथार्थ प्रयोग से उसमे सत्यता आती है; चिन्तन तथा करुण भावो के कल्पनापूर्ण प्रदर्शन मे उसकी आत्मा का पूर्ण विकास होता है।

पत्र-सम्पादन

साहित्य-सम्बन्धी पाक्षिक पत्रो के सम्पादन के विषय मे जो आलोचनात्मक विचार प्रस्तुत किये गए उनके आधार पर भी निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली पर समुचित प्रकाश पडता है। सबसे प्रमुख विचार जो आधारभूत कहा जा सकता है वह यह है कि आलोचक की व्यक्तिगत रुचि आलोचना का श्रेष्ठ नियम नही बन सकती। यदि वह यह कहे कि अमुक स्थल उसे अरुचिकर है इसलिए वह स्थल काव्यहीन है अथवा निकृष्ट है तो यह तो आलोचना नहीं हुई, मत प्रदर्शन-मात्र हुआ; और इस विषय में कवि की बात, जिसमें उसका अनुभव और चिन्तन निहित है, कहीं ऊपर रहेगी। आलोचक को मनुष्य की हैसियत से तो यह अधिकार है कि वह किसी भी साहित्य के प्रति अपनी अरुचि प्रकट करे परन्तु आलोचक की हैसियत से नहीं। उसका मत आलोचना-सिद्धान्त नहीं बन सकता। उसकी आलोचना तभी श्रेष्ठ तथा मान्य होगी जब वह अपने अध्ययन तथा चिन्तन के फलस्वरूप साहित्यिक श्रेष्ठता के माप के लिए कुछ ऐसे विश्वस्त नियमों का निर्माण कर ले जो दार्शनिक तथा तार्किक दृष्टि से विशिष्ट हो और जिनके उदाहरण विश्व-साहित्य-कोष से प्रस्तुत

किये जा सकें। जब तक आलोचक पहले से आलोचनात्मक सिद्धान्तों का निर्माण नहीं करता और निर्माण करने के बाद केवल उन्हीं की कसौटी पर साहित्य को नहीं परखता तब तक वह श्रेष्ठ आलोचक नहीं कहा जा सकता। उसे काव्य के भेद तथा उपभेद बतलाने होंगे, सबके उपयुक्त सिद्धान्त बनाने होंगे और उन्हीं सिद्धान्तों के बल पर साहित्य की श्रेष्ठता तथा हीनता घोषित करनी होगी। उसे सिद्धान्तों को प्रमाणित करने के लिए उदाहरण देने होंगे; परन्तु ऐसे छोटे-मोटे उदाहरण नहीं जो इधर-उधर मुँह छिपाए पड़े हो परन्तु ऐसे जो प्रत्यक्ष हों, अनेक हों, प्रशस्त हों और महत्त्वपूर्ण हों। आकस्मिक अथवा इधर-उधर बिखरी हुई न्यूनता विशेष महत्त्व नहीं रखती। यदि आलोचक का दृष्टिकोण दार्शनिक है और उसकी आलोचना-प्रणाली सैद्धान्तिक तथा तर्कपूर्ण है तो कलाकार को उसका आदेश सहर्ष अपनाना होगा। आलोचक को उदाहरणसहित उन-उन स्थानो की ओर स्पष्ट संकेत देना होगा जहाँ कलाकार ने भूल की है और ऐसे सिद्धान्तों का पूर्ण आलोक दिखाना पड़ेगा जिनके सहारे उन भूलों का प्रदर्शन तथा उनका संशोधन हो सके। परन्तु प्रायः ऐसा नहीं होता।

पत्रकारिता तथा समाज

पत्रकारिता द्वारा जो साहित्य-सेवा और साहित्य-प्रेम का प्रसार हो सकता है उस पर विचार करते हुए यह मत निश्चित हुआ कि समाज तथा राष्ट्र के साहित्यिक उत्थान में पत्रकारिता का विशेष महत्त्व है। पत्रो के अनेक स्तम्भो, विशेषतः आलोचना-स्तम्भ के अन्तर्गत साहित्य-रचना और सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक प्रश्नो पर ऐसे विचार प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनसे जन-रुचि का परिष्कार हो सकता है, असत्-साहित्य की निन्दा हो सकती है और सत्-साहित्य की प्रशंसा की जा सकती है। परन्तु अक्सर ऐसा होता है कि आलोचकवर्ग अपना उत्तरदायित्व भूल जाता है। वे लेखक की कृति को अलग रख देते हैं और उसके व्यक्तित्व, उसके व्यवसाय, उसके परिवार, उसकी शिक्षा इत्यादि पर कठोर आघात करने लग जाते हैं। कुछ अत्यन्त पुरानी साहित्यिक कृतियों को, जो भूली जा चुकी हैं और जिनमें लेखक की कुछ भी प्रतिभा प्रदर्शित नहीं हुई, पुनः समालोचनार्थ ढूँढ निकालते हैं और उन पर कठोर आघात आरम्भ कर देते है जिससे कि उसका दिल दुखे। लेखक की साहित्यिक क्षमता तथा काव्य-प्रतिभा की आलोचना कदाचित् ही हो पाती हो। इस कार्य से कवि की रचना पर तो प्रकाश क्या ही पड़ता; प्रकाश पड़ने लगा आलोचक के द्वेष, उसकी ईर्ष्या तथा उसके ओछेपन पर।

आलोचक की भाषा तथा शैली

समालोचना आलोचक का जन्म-सिद्ध अधिकार है। रचनाओं के जो-जो दोष वह उदाहरणसहित प्रमाणित कर सके वे भी क्षम्य हैं। लेखक को भी उत्तर देने का अधिकार है; शिकायत करने का अधिकार नहीं। उसे यह भी कहने का अधिकार नहीं कि उसकी रचना की आलोचना में अमुक प्रकार की भाषा का प्रयोग हो अथवा उसके दोषो की ओर दृष्टिपात ही न किया जाय और उसके गुणों की ही प्रशंसा की जाय। आलोचक को व्यंग्य-पूर्ण अथवा कठोर शैली व्यवहृत करने का भी पूर्ण अधिकार है, परन्तु उसे पहले यह निश्चित कर लेना चाहिए कि वह अपनी शैली तथा भाषा द्वारा किस प्रकार का प्रभाव डालना चाहता है और उसका वास्तविक लक्ष्य है क्या। अपने लक्ष्य तथा अपने विचारों को पूर्ण रूप से नाप-तोलकर उसे आलोचना लिखने पर उद्यत होना चाहिए। परन्तु ज्यो ही आलोचक यह जताने लगता है कि वह लेखक की कृति की अपेक्षा उसके व्यक्तित्व, उसकी शिक्षा तथा व्यवसाय इत्यादि के विषय में अधिक जानकारी रखता है तो उसकी आलोचना आलोचना न होकर द्वेष तथा ईर्ष्या का प्रदर्शन-मात्र रहेगी। इस कार्य के फलस्वरूप आलोचक अपने श्रेष्ठ स्थान से गिर जाता है; वह साहित्य-मन्दिर के पुजारियों को अनादृत तथा अपमानित करता है और साहित्य-देवता के श्राप का पात्र बनता है। सबसे अच्छी बात तो यह होती कि देश के अनेक विषयों के ख्याति-प्राप्त विद्वानों की एक ऐसी समिति बन जाती जो साहित्या-लोचन की एक तर्कयुक्त नियमावली बना लेते और वैज्ञानिक तथा तार्किक आधार पर विद्वज्जनों की साहित्यिक कृतियों की सत्-समालोचना का निर्देश देते; और स्वयं भी साहित्य-संसार की सेवा के लिए आदर्शवत् आलोचना लिखते रहते।

आलोचकों के दोष

पत्रकारिता के क्षेत्र में सबसे अधिक हानि ऐसे व्यक्तियों द्वारा होती है जो अपने सम्पादित पत्रों की ग्राहक-संख्या बढाने के लिए ऐसे निकृष्ट साधनों को अपनाते हैं जो अत्यन्त हेय तथा कलुषपूर्ण होते हैं। इन साधनों में सबसे हेय वह प्रवृत्ति है जिसके वशीभूत होकर आलोचक वर्ग गडे हुए मुर्दे उखाडता है और उसी पर टीका-टिप्पणी करना आरम्भ कर देता है। वह लेखकों की अपरि-पक्वावस्था की तथा भूली-भुलाई कृतियो को पुनः पाठकवर्ग के सम्मुख लाकर भर्त्सना आरम्भ कर देता है और उसमें एक विचित्र आनन्द का अनुभव करता है। ऐसे-ऐसे भूले-भुलाए लेख प्रस्तुत किये जाते हैं जिन्हें लेखक स्वयं हीन

कह चुका है और उसके लिए क्षमा-प्रार्थी रह चुका है। परन्तु ईर्ष्या तथा द्वेष-वश यह आलोचकवर्ग इतना पतित हो जाता है कि बिना सोचे-विचारे इतनी व्यंग्यात्मक तथा कुरुचिपूर्ण आलोचना लिख डालता है जिसका प्रभाव लेखक-वर्ग पर अत्यन्त विषम रूप में पड़ता है और साहित्य की अपार क्षति होती है।

जैसा कि पहले हम संकेत दे चुके हैं, आलोचकवर्ग जब केवल व्यक्तिगत रुचि के आधार पर आलोचना लिखता है और न तो किसी सिद्धान्त का ही आधार लेता है और न दोषो को प्रमाणित करने के लिए कोई समुचित उदाहरण ही देता है तब उसकी आलोचना अत्यन्त दूषित हो जाती है। इस दोष से ग्रसित वह तर्क के स्थान पर स्वेच्छाचारिता तथा सिद्धान्त के स्थान पर वितण्डावाद का प्रयोग करेगा। वह न तो अपना अर्थ ही स्पष्ट कर पायगा और न अपने निर्णय को ही उचित प्रमाणित कर सकेगा। कभी-कभी यह भी होता है कि दोषो के प्रमाण में उदाहरण तो दिये जाते हैं, परन्तु वे उदाहरण इतने असंगत होते हैं कि वे प्रमाण की पुष्टि ही नहीं करते। वे प्रायः ऐसे स्थल होते हैं जिनके अर्थ आलोचक स्वयं ही नहीं समझ पाया है। ऐसा प्रतीत होता है कि आलोचक ने सरसरी निगाह से भी लेखक की रचना नहीं पढ़ी और पढ़ी भी तो आलोचना लिखने के बाद।

जब हम यह सिद्धान्त निर्धारित कर चुके कि कवि का प्रमुख लक्ष्य जीवन के सबसे अधिक आनन्दपूर्ण तथा उल्लासपूर्ण भावों का निरूपण है तब आलोचक को आलोचना लिखते समय निर्धारित तत्त्वों को पूर्ण रूप से ध्यान मे रखना होगा। उसे सम्पूर्ण कविता पर चिन्तन करना होगा। केवल स्फुट स्थलो के गुण-दोष को ध्यान में रखकर लिखी हुई आलोचना न तो उचित होगी और न ग्राह्य। चाहे मूर्ति-कला हो अथवा चित्र-कला अथवा काव्य-कला, आलोचक को सम्पूर्ण मूर्ति, सम्पूर्ण चित्र तथा सम्पूर्ण कविता को समुचित रीति से समझने के पश्चात् ही सिद्धान्तो के आधार पर अपने विचार प्रस्तुत करने चाहिएँ। जो भी आलोचक एक ही तत्त्व अथवा अर्थ अथवा एकांगी दृष्टिकोण के आधार पर आलोचना लिखेगा, साहित्य की मर्यादा की रक्षा न कर सकेगा। मानसिक तथा नैतिक स्वस्थता आलोचक का सर्वश्रेष्ठ गुण है; यह उसकी श्रेष्ठ आलोचना का भी मूल मन्त्र है।

उन्नीसवीं शती में आलोचनात्मक प्रगति

उन्नीसवीं शती के पहले के पच्चीस वर्षों में ऐसे अनेक आलोचक हुए जिन्होने आलोचना-क्षेत्र को अपनी प्रतिभा तथा मौलिकता से आलोकित किया और नवीन तथा मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी किया। यों

तो इस शती के आरम्भ में ही रोमांचक आलोचना की नींव पड चुकी थी और १७६८ ईसवी में पुस्तकों की भूमिका के रूप में अनेक नवीन आलोचनात्मक तत्वों, काव्य के मूल तत्वो — विषय, भाषा, छन्द इत्यादि — पर साहित्यकारो ने अपने मत का प्रदर्शन किया था; परन्तु उन्नीस वर्ष बाद जिन अपूर्व आलोचना-सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ कदाचित् उनकी समता आज तक नहीं हो सकी। इसी समय जैसा कि हम पहले वर्णन दे आए हैं काव्य के मूल तत्त्वों की व्याख्या मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक दृष्टिकोण से की गई और कल्पना की वास्तविक आत्मा की परख हुई। पत्रकारिता-क्षेत्र से सम्बन्धित आलोचनात्मक लेखो मे जिन आलोचनात्मक तत्वो की ओर संकेत किया गया उसी मे आगामी वर्षों की आलोचना-प्रणाली का बीज निहित था।

आलोचना की परिभाषा

आलोचना के नियमो, आलोचको के लक्ष्य, आलोचना के तत्वों तथा उसके वर्गीकरण-सम्बन्धी जो-जो विचार, उन्नीस से लेकर पच्चीस वर्ष अर्थात् छः वर्षों के अन्तर्गत प्रस्तुत हुए वास्तव में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। आलोचना की साधारण परिभाषा बनाते हुए यह विचार प्रस्तुत किया गया कि आलोचना का प्रधान कार्य साहित्यिक कृतियो के गुण-दोष का उदाहरणसहित विवेचन और तर्कपूर्ण तथा सूक्ष्म विश्लेषण है। परन्तु साधारणतया आलोचक-वर्ग इस परिभाषा के सही अर्थ न समझकर छिद्रान्वेषी बन जाते है। वे कविता की एक साधारण पंक्ति को तोड़-मरोड़कर उसके हजारों शब्दार्थ लगाने लग जाते हैं और मनमाने रूप मे उसकी अच्छाई-बुराई पर विचार करने लगते हैं। उनका उद्देश्य प्रायः लेखक को हीन तथा उसकी कृति को निरर्थक प्रमाणित करता रहता है और अपने-आप वे साहित्य के श्रेष्ठ आलोचक तथा कला के अपूर्ण पारखी होने का दावा करते हैं। अपने गर्व का प्रदर्शन ही उनका मुख्य उद्देश्य रहेगा। वे लेखक को 'बेचारा' कहकर और उसकी रचना को जीवन-यापन का साधन-मात्र समझकर उसे साहित्यिक न्यायालय में ला खडा करेंगे और उसे सब प्रकार से दोषी ठहराकर अपनी न्यायप्रियता का परिचय देंगे।

लेखकवर्ग तथा आलोचक

परन्तु इसमें लेखकों का भी दोष है। लेखकवर्ग इतनी अधिक पुस्तकें लिख रहा है कि प्रत्येक व्यक्ति को उन सबका अध्ययन अत्यन्त दुष्कर है; इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि एक ऐसे आलोचकवर्ग की मॉग की जाय जो रचित साहित्य का रसास्वादन पहले करे और अन्ततोगत्वा उसका परिचय साधारण पाठकवर्ग को भी दे। श्रेष्ठ लेखक का परिचय देना श्रेष्ठ आलो-

चक का श्रेष्ठ कर्तव्य है। और जब आलोचक इस अनुसन्धान का भार वहन करके अच्छे तथा बुरे लेखकों का वर्गीकरण तथा विवेचन देगा तो लेखकवर्ग को रुष्ट होने का अधिकार नहीं होगा। परन्तु प्रायः ऐसे अनुसन्धान में एक विषम प्रवृत्ति का जन्म हो जाता है। आलोचक लेखक को ऐसा प्राणी समझने लगता है जिसकी न तो कोई सामाजिक उपयोगिता है और न जिसे कोई सम्मान ही मिलना चाहिए। अपने गर्व के प्रदर्शन तथा अपनी ईर्ष्या के प्रकाश के लिए वह लेखकों की रचनाओं को चुन लेते हैं और उनकी खिल्ली उड़ाना आरम्भ कर देते हैं; केवल अपने वाक्-चातुर्य का वे उसे शिकार बनाते रहते हैं। वे लेखको का मनोनुकूल अपमान करके अपनी प्रतिष्ठा बढाने का प्रयत्न करते हैं और धीरे-धीरे उन्हें यह आभास होने लगता है कि वे स्वयं ईश्वर हैं और उनके सम्मुख प्रत्येक लेखक को नतमस्तक होकर उनकी पग-धूलि लेने को उद्यत रहना चाहिए।

आलोचकवर्ग प्रायः जिस शैली का प्रयोग करता है उसमे तर्क की अपेक्षा वितण्डावाद और सिद्धान्त-प्रतिपादन की अपेक्षा गर्वोक्ति ही अधिक रहती है। एक व्यंग्यपूर्ण वक्तव्य देकर वे आलोचना-शास्त्र के महान् ज्ञाता बन बैठते हैं और जिस तत्परता तथा शीघ्रता से वे अपने साहित्यिक वक्तव्य प्रकाशित करते हैं उसे देखकर आश्चर्य ही होता है। उनकी धारणा यह रहती है कि यदि शीघ्रता तथा तत्परता से आलोचनात्मक सम्मति न दी जायगी तो साधारण पाठकवर्ग प्रभावित ही नहीं होगा और जब साधारण पाठकवर्ग प्रभावित ही नही हुआ तो आलोचक को मान-प्रतिष्ठा कैसे मिलेगी? पुस्तको के परिचय के विषय में यह बात और भी अधिक देखने मे आयगी। आलोचकवर्ग का यह कहना है कि साधारण जनता की यह प्रवृत्ति है कि उसे कुछ ऐसे चटपटे विषय मिलने चाहिएँ जिन पर वे आपस में वादविवाद कर सकें और आलोचक पुस्तकों के विषय मे चटपटे वक्तव्य देकर ही जन-साधारण को आकर्षित कर सकता है। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप आलोचक यह समझने लगे है कि जब तक कोई फड़कती हुई बात नहीं कही जायगी आलोचना न तो सर्वप्रिय होगी और न उपयोगी। आलोचना जितनी ही अधिक चमत्कृत तथा विस्मयकारिणी होगी; जितनी ही उसमें चकाचौंध में डालने की शक्ति होगी उतनी ही वह लोकप्रिय होगी।

आलोचकों की प्रवृत्ति

सिद्धान्त रूप मे यह कहा जा सकता है कि आलोचना का प्रधान लक्षण साहित्यिक कृति के रूप, रंग, आकार, प्रकार तथा उसकी वास्तविक आत्मा का प्रदर्शन है। परन्तु इस सिद्धान्त की अवहेलना करते हुए आलो-

चक कभी तो विषय-वस्तु के गुण-दोष, कभी देश, काल, कार्य के नियम का उल्लंघन, कभी रचनाओं के अनैतिक तत्त्वों पर प्रकाश डालकर पूर्णतया सन्तुष्ट हो जाते हैं। हाँ, अगर बहुत हुआ तो दो-एक बातें शैली के उन्नत अथवा हेय रूप पर कहकर और पात्रों को श्रेष्ठ अथवा निकृष्ट प्रमाणित करके विश्राम ले लेते हैं। वे यह कभी भी नहीं बतलाते कि अमुक रचना में कौनसे रस का प्रतिपादन किया गया है, उससे आनन्द-प्राप्ति किन-किन तत्त्वों द्वारा होती है, उसकी आत्मा किस प्रकार विकसित हुई तथा उसमें कौनसे ऐसे कल्पनात्मक तत्त्व हैं जिनके द्वारा सुरुचि का प्रसार होगा। रचना के बाह्य-आकार-प्रकार पर तो भारी-भारी वक्तव्य रहेंगे और उसकी आत्मा-विषयक कदाचित् एक भी विचार प्रस्तुत नहीं किया जायगा। ऐसे आलोचक यह कभी भी जानने का प्रयत्न नहीं करेंगे कि आखिर लेखक का उद्देश्य क्या था और अभीष्ट-सिद्धि में वह कितना सफल अथवा विफल हुआ। कभी-कभी साहित्यिक रचनाएँ भी इस कोटि की होती थीं कि उनकी आलोचना बाह्य आकार-प्रकार के आधार पर ही हो सकती थी; उनमें न तो साहित्य की आत्मा होती थी, न उसके विश्लेषण की आवश्यकता। साधारणतया जो आलोचना लिखी जाती थी वह या तो बिलकुल ही नीरस होती अथवा इतनी सैद्धान्तिक कि पाठकों को केवल सिद्धान्त ही हाथ लगता था। उनके लिए सहानुभूतिपूर्ण विवेचन तथा तर्कयुक्त विश्लेषण अत्यन्त दुष्कर कार्य था। कुछ तो केवल गुणों का ही ढिंढोरा पीटते और कुछ दोषों के प्रदर्शन में आनन्द लेते और जन-साधारण में इतनी कुरुचि प्रसारित कर देते कि जहाँ कहीं भी छिद्रान्वेषण होता उन्हें आत्मिक सन्तोष तथा आनन्द मिलने लगता।

आलोचकों का वर्गीकरण

आलोचना की जो भी प्रचलित व्यवस्थाएँ थीं उन्हीं के आधार आलोचकों का वर्गीकरण भी किया गया। प्रथम श्रेणी उन आलोचकों की निर्धारित हुई जो अपने दल-विशेष के मत का प्रतिपादन करते और अन्य कोई आधार न अपनाते। ऐसे आलोचक 'राजनीतिक आलोचक' अथवा 'पक्षावलम्बी आलोचक' कहलाए। ये अपने दल-विशेष का इतना ध्यान रखते कि जो भी लेखक उनके दल के सिद्धान्तों के विरुद्ध लेखनी उठाता और उनके आदर्शों का अनुसरण न करता उसका अपमान करने पर ये तुल जाते और अन्त में यह प्रमाणित करने की चेष्टा करते कि वह लेखक हीन, निकृष्ट तथा निकम्मा है। इस वर्ग के आलोचक लेखक की रचना को तो ताक पर रख देते और उसके व्यक्तित्व पर चोट-पर-चोट करने लगते और कीचड़ उछालते।

अपने द्वेष के वे इतने वशीभूत हो जाते कि साधारण मानवता का भी ध्यान उन्हें न रहता और जिस प्रकार एक क्रूर बिल्ली असहाय चूहे को कोने मे पकड़कर अपने पंजों से इधर-उधर उछालती है और उसे सफाचट करके मूँछों पर ताव देती है उसी प्रकार यह आलोचकवर्ग विरोधी दल के लेखको के पीछे पड़ जाता और उन्हें मारकर ही दम लेता। उनका सिद्धान्त है : तर्क का उत्तर गाली।

आलोचको की दूसरी श्रेणी मे ऐसे व्यक्ति थे जो आलोचना लिखने मे एकांगी दृष्टिकोण ही अपनाते थे। ये अपनी एक गोष्ठी-सी बना लेते और जो भी कृति इस गोष्ठी की साहित्यिक रुचि के विपरीत होती, और जो भी लेखक इस गोष्ठी के साहित्यिक आदर्शों को न अपनाते उनके कृपा-पात्र न होते। इनमे कुछ गोष्ठियाँ तो ऐसी थीं जो शैली के आलंकारिक सौन्दर्य को महत्त्व देतीं और कुछ ऐसी जो उसमें सरलता और स्पष्टता ही अपेक्षणीय समझतीं। कुछ ऐसे लेखको को आदर्शवत् मानतीं जो केवल शब्दों के चुनाव को ही श्रेष्ठ समझते और कुछ ऐसो को जो अर्थ-गाम्भीर्य को प्रश्रय देते। इस वर्ग के आलोचकों का सबसे बड़ा दोष यह था कि जो भी लेखक उनकी रुचि के अनुसार साहित्य-रचना न करता उनमें वे कोई भी अन्य गुण देखने को तैयार ही न होते। चाहे उस लेखक मे अनेक प्रशंसनीय गुण होते वे उसकी ओर से विमुख ही रहते। इस वर्ग के आलोचक वस्तुतः यह सिद्ध कर देते हैं कि लेखक में सुरुचि अथवा साहित्यिक गुणो की कमी नहीं; कमी है आलोचकों के मस्तिष्क मे, हृदय में, साहित्यिक ज्ञान मे। इसलिए इस वर्ग के आलोचकों की लिखी हुई आलोचना दोषपूर्ण होगी। साधारण नियम तो यह होना चाहिए कि यदि किसी आलोचक को अमुक गुण रुचिकर है अथवा अमुक दृष्टिकोण प्रिय है तो उसे उन्हीं लेखकों को ढूँढकर पढना चाहिए जिनमे उसके मनोनुकूल गुण उपस्थित हों; उन्हे प्रत्येक लेखक से अपनी मनोनुकूल रचनाओ को माँगने का अधिकार नहीं। यदि उन्हे आलंकारिक शैली रुचिकर है तो ऐसे अनेक लेखक हैं जो इस प्रकार की शैली मे बहुत-कुछ लिख चुके है और वे समयानुसार उनका पठन-पाठन कर सकते हैं और यदि उन्हें स्पष्ट तथा सरल शैली रुचिकर है तो ऐसे लेखको की भी कमी नहीं। लेखक को अपनी रुचि के अनुसार साहित्य-रचना का पूर्ण अधिकार है और आलोचक को भी अपने मनोनुकूल लेखक चुनने का वही अधिकार प्राप्त है। परन्तु उसे यह अधिकार कदापि नहीं कि वह प्रत्येक लेखक से अपनी रुचि के अनुकूल ही साहित्य-रचना की माँग करे। ऐसे आलोचकों को अपनी रुचि को पाठकवर्ग के सिर पर थोपने का कोई भी अधिकार नहीं। उन्हे स्पष्टतया यह कह देना

चाहिए कि मुझे यह शैली अथवा यह पुस्तक रुचिकर है और जो लोग ऐसी ही रुचि रखते हों उन्हे मैं इस पुस्तक के अध्ययन का आमन्त्रण देता हूँ। उन्हे यह कहने का तो कभी भी अधिकार नहीं कि अमुक लेखक अथवा अमुक पुस्तक मुझे प्रिय नहीं इसलिए वह सबके लिए हेय तथा निरर्थक है। प्रत्येक लेखक अपनी शैली तथा अपने दृष्टिकोण को अपनाने और श्रेष्ठ रूप मे उसे व्यवहृत तथा प्रदर्शित करने के लिए स्वतन्त्र हैं और आलोचक को अपनी व्यक्तिगत रुचि की बेड़ियाँ उसके पैरो में डालने का कोई अधिकार नही।

तीसरे तथा चौथे वर्ग के आलोचक क्रमशः ऐन्द्रजालिक तथा शाब्दिक आलोचक कहे जा सकते हैं। ऐन्द्रजालिक आलोचक साहित्य के साधारण, सरल तथा सहज रूप से प्रभावित नहीं होते। वे प्रत्येक स्थल पर गूढ़ार्थ की खोज में भटकते हैं। जब तक शैली जटिल न हो, शब्दों का प्रयोग गूढ तथा संकेत अत्यन्त क्लिष्ट न हो वे सन्तुष्ट नहीं होते। वे अपने को सब प्रकार से सर्वज्ञ समझने लगते हैं और जो भी विचार अपूर्व, गूढ़ अथवा संकेतात्मक होते हैं उनको सुनकर वे 'साधुवाद! साधुवाद!' कह चलते हैं। परन्तु जो भी साहित्य जन-साधारण समझ ले अथवा हृदयंगम कर ले उनके लिए निम्न कोटि का होगा; वे तो यही चाहेगे कि सिवाय उनके दूसरा उसको समझ ही न सके और वे ही उसके टिप्पणीकार समझे जायँ। जब तक उनके इस गर्व की पूर्ति नही होती कोई भी रचना उन्हे रुचिकर नहीं होती। शाब्दिक आलोचक वे हैं जो केवल व्याकरणात्मक अशुद्धियो के पीछे पड़े रहते हैं; जहाँ उन्हे किसी वाक्य अथवा पंक्ति में कोई अशुद्ध प्रयोग दिखाई दिया अथवा कोई व्याकरणात्मक दोष दृष्टिगत हुआ कि उन्हें सन्तोष मिलने लगता है और उसी पर वे विस्तारपूर्वक टीका-टिप्पणी आरम्भ कर देते है। शब्द का अक्षर-विन्यास, छन्द की गति-भंग, पंक्ति की अशुद्धि की मीमांसा उन्हे इतनी मनोनीत होती है कि वे अन्य गुण भूल जाते है। श्रेष्ठ साहित्य, ऐसे व्यक्तियो के द्वारा हीन प्रमाणित होता रहता है; वे न तो श्रेष्ठता को परख सकते है और न स्वयं उनमें कोई उन्नत भावना रहती है।

आलोचना-क्षेत्र मे प्रायः यह देखने मे आता है कि जो व्यक्ति अत्यन्त प्रतिभाशाली तथा मौलिक विचार वाले होते है साधारणतः श्रेष्ठ कोटि के आलोचक नहीं बन पाते। उनका दृष्टिकोण बहुधा एकांगी हुआ करता है और वे प्रत्येक साहित्यिक रचना को अपनी श्रेष्ठ प्रतिभा की कसौटी पर कसते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि उन्हे प्रायः अधिकतर रचनाएँ थोथी तथा निम्न कोटि की प्रतीत होने लगती है। नवीन लेखकवर्ग के प्रति तो वे कभी

भी सहानुभूति प्रदर्शित नहीं कर पाते। पुराने तथा प्रतिभाशाली लेखक ही उनकी कसौटी पर खरे उतर सकते हैं। परन्तु जिन व्यक्तियों में साधारण प्रतिभा तथा साधारण विद्वत्ता रहती है वे प्रायः अच्छे आलोचक होते हैं। इसका कारण यह है कि उनमें न तो गर्व की मात्रा अधिक होती है और न अपनी विद्वत्ता का ही चश्मा वे लगाए रहते हैं। वे दूसरे के दृष्टिकोण को सोचने-समझने तथा सीखने-सिखाने को सदैव तत्पर रहते हैं। उनमे इतनी सुरुचि तथा इतना मानसिक सन्तुलन रहता है कि वे पक्षपात तथा एकांगी दृष्टिकोण से बहुत दूर रहते हैं; उनमे दूसरों को पास से निरखने की अपूर्व क्षमता रहती है; वे सभी जगह सभी शैलियों तथा सभी विषयो में सुरुचि रखते हैं: श्रेष्ठ साहित्य उन्हे जहाँ भी मिले वे प्रसन्नतापूर्वक उसे ग्रहण करने को उद्यत रहेगे। उनका मानस एक प्रकार से सदैव साफ तथा स्वच्छ रहता है और वे उसे सब प्रकार के प्रभावों को प्रतिबिम्बित करने योग्य बना लेते हैं। उनका स्पष्ट सिद्धान्त यह रहता है कि "चाहे मुझमें दैवी शक्ति ही क्यो न हो यदि मुझमें सहानुभूति नहीं तो मेरा कोई मूल्य नही।" यह कहीं अच्छा है कि आलोचक, जहाँ कही भी उसे सौन्दर्यानुभूति मिले, ग्रहण करे और हमे उस ओर अग्रसर कर दे। ऐसा आलोचक किस काम का जो अपने गर्व, क्रोध, ईर्ष्या इत्यादि के वशीभूत लेखकों को हीन प्रमाणित करे। ऐसे आलोचक आलोचना-क्षेत्र मे साहित्य के घोर शत्रु हैं।

परिभाषाओं का निर्माण

उन्नीसवीं शती के प्रथम चरण में रोमांचक विचार-धारा के अन्तर्गत काव्य के साधारण रूप-रंग तथा आकार-प्रकार पर विस्तृत तथा स्फुट रूप में भी विचार होता रहा। कदाचित् किसी भी युग में काव्य की इतनी अधिक तथा इतनी स्वाभाविक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक तथा सौन्दर्यपूर्ण परिभाषाएँ नहीं बनी जितनी इन पच्चीस वर्षों में निर्मित हुईं। जिस परिभाषा के अनुरूप तथा जिन तत्वों के आधार पर और जिस लक्ष्य को सम्मुख रखकर काव्य-रचना अठारहवी शती में हुई थी उनकी प्रतिक्रिया आवश्यक तथा अनिवार्य थी। काव्य की परिभाषा बनाने तथा उसके अनेक गूढ तत्त्वों को समझने में आलोचको ने जिस तत्परता तथा सूझ का परिचय दिया उसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी होगी। इसी युग में काव्य का स्तर उन्नत हुआ और कवि उस पद पर आसीन किया गया जहाँ से वह आज तक पद-च्युत नही किया गया।

साधारणतया काव्य जीवन की घटनाओं अथवा प्रकृति-जीवन का

काव्य सहज दिग्दर्शन कल्पना तथा भावनाओं की सहज उत्तेजना द्वारा लययुक्त स्वरों में कराता है। वस्तुतः काव्य कल्पना और आवेश की भाषा है और हमारे जो-कुछ भी अनुभव सुख-दुःख के क्षणों का निर्माण करते हैं उससे सहज ही सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। काव्य का स्रोत प्रत्येक स्थान पर दृष्टिगत होगा और हमारे जीवन की प्रत्येक अनुभूति मे उसका प्राण निहित है। उसकी भाषा सार्व-जनिक है और हमारे हृदय को छूती रहती है; और जो भी व्यक्ति उसके प्रभाव को नहीं ग्रहण करता और उससे विमुख रहता है वह न तो जीवन की महत्ता समझता है और न अपने जीवन का ही मूल्य जानता है। साधारण जनता का यह विचार कि काव्य हमारे अवकाश का मनोरंजन-मात्र है और तुच्छ है भ्रामक है। शताब्दियों से मानव-समाज काव्याध्ययन द्वारा आनन्दित होता आया है और भविष्य में भी उसका आनन्द कम नहीं होगा। कुछ लोग यह भी समझते हैं कि काव्य केवल पुस्तकों मे लिखा रहता है और उसके कुछ छन्द-विशेष हैं जिनमें उसकी रचना होती है; यह विचार और भी भ्रामक तथा दूषित है। काव्य कहाँ नहीं है ? जहाँ कहीं भी शक्ति है, सौन्दर्य है, सामंजस्य है वही काव्य भी है। जल की तरंग मे, पुष्पो की उमंग में, प्रकृति के प्रत्येक स्थल पर काव्य-सुन्दरी का दर्शन होता रहता है। यह सच है कि इतिहास का अध्ययन गम्भीर तथा महत्त्वपूर्ण है परन्तु यह शाश्वत सत्य है कि काव्या-ध्ययन अधिक गौरवपूर्ण है और उसका साम्राज्य विशाल है। इतिहास तो केवल उन घटनाओं का लेखा रखता है जो समय-समय पर किसी देश अथवा राष्ट्र के जीवन मे घटित होती रहती हैं। वे घटनाएँ नीरस होती हैं और युद्ध तथा उससे सम्बन्धित विभिन्न विभागों द्वारा सीमित रहती हैं; उनमे गति नही होती, उनमें प्राण नही होता, इसलिए उनमें आनन्द की मात्रा भी नहीं के बराबर रहती है। परन्तु काव्य केवल लेखन-शैली नहीं, वह जीवन का मूला-धार है, उसका जीवन-तत्त्व है। इसके अतिरिक्त जो-कुछ भी है व्यर्थ है, निरर्थक है, मृत है। जीवन का जो भी सार है वह उसका काव्य है। भय, आशा, प्रेम, घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, पश्चाताप, प्रशसा, आश्चर्य, करुणा, नैराश्य उन्माद, सभी मे काव्य निहित है। काव्य हमारे जीवन-तत्त्व में प्रतिष्ठित उस अणु के समान है जो फूल-फलकर हमारे सारे व्यक्तित्व को स्वस्थ तथा उन्नत बनाता रहता है; बिना उसके मानव पशु-समान रहेगा। मानव-समाज के सभी प्राणी-मात्र कवि हैं—आँख-मिचौनी खेलते हुए बच्चे गुड्डे गुड़ियों के खेल खेलने के पश्चात् एक-दूसरे के गले में वरमाल डालते हुए चरवाहों के

बालक; इन्द्र-धनुष की ओर देखता हुआ ग्रामीण; नगर के दर्शनार्थ आया हुआ पथिक; स्वर्ण-राशि को समेटता हुआ कृपण; राज्य-पुरस्कार की आकांक्षा में व्यस्त आशापूर्ण दरबारी, रक्त-रंजित प्रतिभा की अर्चना करता हुआ बर्बर क्रूर स्वामी के सम्मुख नतमस्तक दास; देवत्व की लालसा का स्वप्न देखता हुआ विजेता; धनी और दरिद्र, वीर तथा कायर, युवा तथा वृद्ध, गर्वपूर्ण, द्वेषपूर्ण, उच्चाकांक्षा की ओर अग्रसर होता हुआ प्राणी, सभी अपना-अपना स्वतन्त्र संसार बसाए रहा करते हैं और कवि उन्हीं के जीवन का दिग्दर्शन कराया करता है। यदि काव्य स्वप्नवत् है तो समस्त मानव-जीवन भी वही है। प्रसिद्ध दार्शनिक अफलातूँ ने अपने राज-तन्त्र से कवियों को बहिष्कृत कर दिया था, क्योंकि उसका विश्वास था कि कवि की कृति मानव को पथभ्रष्ट करेगी और सफल नागरिक वही बन सकेगा जो काव्य के भ्रम से दूर रहे। उनका सिद्धान्त कितना भ्रममूलक था, इस तथ्य से प्रमाणित है कि उनकी पुस्तक को तो लोग भूल गए परन्तु यूनानी महाकाव्य के रचयिता होमर की रचना आज भी सर्वप्रिय है। इसलिए काव्य न तो स्वप्नवत् हैं और न प्रयोजनहीन। काव्य जीवन का अनुकरण है। परन्तु कल्पना और आवेश भी तो जीवन के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। इसलिए यह परिभाषा कि काव्य कल्पना तथा आवेश की भाषा है, अक्षरशः प्रमाणित है।

काव्य का लक्ष्य

काव्य का प्रमुख लक्ष्य है हमारी कल्पना को जाग्रत करना; उसे भव्य तथा उन्नत बनाना। काव्य की अपूर्व ज्योति केवल वस्तुओं तथा घटनाओं पर ही प्रकाश नहीं डालती वह अपना प्रकाश चतुर्दिक् डालती हुई हमारे मनस्तल की गूढ़ से-गूढ़ भावनाओं तथा हमारे अन्तर्जगत् के कोने-कोने को विद्युत् गति से आलोकित कर देती है; वह जीवन को गति देती है और समस्त विश्व को परिचालित करती है; वह विश्व के किसी भी बन्धन से सीमित नहीं होती, वरन् यथार्थ को सीमाओं का बन्धन तोड़ती हुई कल्पना द्वारा परी-देश की झाँकी दिखलाती चलती है। काव्यानुभूति ऐसी सुन्दरतम अनुभूति है जो कवि के मानस को व्यग्र अथवा उन्मादित कर देती है; उसकी कल्पना-प्रदत्त एक अनुभूति अन्य भव्य अनुभूतियों की शृङ्खला-सी बना देती है और जब तक वह सबका समुचित प्रकाश नहीं कर देती तब तक सन्तुष्ट नहीं होती। प्रेयसी के सुनहले केश, किसी व्यक्ति का विशालकाय शरीर, बालक की मृदुलता, क्रमशः सोने के खदान पर पड़ती हुई सूर्य किरण-पुञ्ज, ऊँचे मीनार तथा चमेली लता-कुञ्ज के कम्पन के रूप मे कवि देखता है; उसकी अनुभूति अपने प्रकाश

के लिए व्यग्र हो अनेक काल्पनिक चित्रों का सहारा लेकर सन्तुष्ट होती है। काव्य हमारी भावनाओं की भाषा है; हमारी परिकल्पना का बाह्य-आभरण है। वह हमारे नैतिक तथा मानसिक जीवन द्वारा आविर्भूत होती है; वह हमारे औत्सुक्य, हमारी कार्यशीलता 'तथा अनुभव-शक्ति की प्रेरणा है और वह श्रेष्ठ तभी होगी जब वह हमारे समस्त व्यक्तित्व को प्रभावित करे।

कल्पना-तत्त्व

कल्पना का सम्बन्ध यथार्थ से परे, परी-देश, अदृश्य तथा अस्पष्ट जीवन-स्थलों से रहा करता है। जो भी हमारी दृष्टि से परे है, पहुँच के बाहर है, अदृश्य तथा अस्पष्ट है, कल्पना द्वारा अंकित, चित्रित तथा प्रतिबिम्बित होता है। परन्तु आधुनिक काल की वैज्ञानिक प्रगति ने ही कल्पना को पंख-विहीन करके निष्प्राण नहीं कर दिया वरन् जीवन के समस्त सौन्दर्य को भी छिन्न-भिन्न कर दिया। काव्य के बाह्य रूप के लिए संगीतात्मक अभिव्यंजना भी आवश्यक होगी। गद्य की गद्यात्मकता काव्य के लिए घातक है—गद्य में प्रयुक्त असम्बद्ध वाक्यांश, कर्कश वाक्य-समूह इत्यादि काव्य की भाषा ग्रहण करते ही अपना चोला बदल देते हैं। परन्तु यह समझना भी भूल होगी कि गद्य और काव्य का आकार केवल पद्य अथवा छन्द पर निर्भर है। गद्य हमारे जीवन की साधारण दैनिक घटनाओं को वर्णित करता है और हमारी कल्पना उससे अछूती रहती है; परन्तु काव्य हमारी कल्पना से उसी प्रकार सम्बन्धित है जिस प्रकार प्राण शरीर से।

कवि की परिभाषा

उन्नीसवीं शती के पहले के पचीस वर्षों में कवि, काव्य तथा साहित्य की मर्यादा-विषयक जो-जो वक्तव्य प्रकाशित हुए उनमें पुनर्जीवन-काल की पूर्ण छाया प्रतिबिम्बित है। उस समय भी, जैसा हम पहले प्रकरणों में स्पष्ट कर चुके हैं, कवि तथा काव्यादर्श पर विस्तृत तथा दार्शनिक रूप में विचार हुआ था। उसी विचार-धारा के अन्तर्गत इस काल में भी कवि की परिभाषा बनाई गई, काव्य-निर्माण का लक्ष्य स्पष्ट किया गया और काव्य की आत्मा का विवेचन हुआ। अठारहवीं शती उत्तरार्द्ध में जो काव्य-परम्परा चल पड़ी, और राजनीतिक तथा सामाजिक कारणों के फलस्वरूप जो आलोचना-प्रणाली लोकप्रिय हुई, उसके द्वारा उन्नीसवीं शती पूर्वार्द्ध के कवियों की काफी क्षति हुई, उन्हें आलोचकों के व्यंग्य-बाण सहन करने पड़े और अपने काव्यादर्श तथा कवि की महत्ता क्रमशः प्रतिपादित तथा स्थापित करने के लिए लेखनी उठानी पड़ी।

कवि अथवा कलाकार केवल ऐसे व्यक्ति नहीं जो भाषा तथा संगीत तथा नृत्य, वास्तु-कला, चित्र-कला, मूर्ति-कला इत्यादि का निर्माण करते हैं; ये

वास्तव में समाज के निर्माता हैं, न्याय तथा धर्म-शास्त्र के संस्थापक हैं, नागरिक समाज के संयोजक हैं, जीवन की अनेक ललित कलाओं के ज्ञाता हैं, शिक्षक हैं तथा इस जगत् से परे अदृश्य परन्तु सत्य तथा सुन्दर जगत् के द्रष्टा हैं। वे प्राचीन काल में भविष्यवक्ता तथा स्रष्टा के नाम से सम्बोधित होते आए हैं, क्योंकि वे त्रिकालदर्शी हैं और वर्तमान, भूत तथा भविष्यत् उनकी मुट्ठी में रहता है। कवि अनन्तानुरागी एवं देश-काल की परिधि से स्वतन्त्र होगा; द्रष्टा तथा स्रष्टा दोनों के गुण समरूप से उसमें होगे। व्यक्तिगत रूप में कवि पूर्ण ज्ञानी होगा और संसार के लिए आनन्द, धर्म, तथा गौरव का प्रसार करेगा। वह स्वयं भी आनन्दमय तथा मानव-समाज का सिरमौर होगा और कदाचित् उसका यश अक्षय रहेगा। वह जीवन के गूढ़ातिगूढ़ रहस्यो का उद्घाटन कर्ता, द्रष्टा तथा संसार का सफल परन्तु अनभिषिक्त शास्त्रकार है।

काव्य की आत्मा काव्य अनेक रूप में कल्पना की अभिव्यंजना-मात्र नहीं परन्तु उसका सम्बन्ध आदिपुरुष से भी है। मानव अव्यक्त रूप में एक वीणा के समान है जिसकी हृत्तन्त्री पर अनेक बाह्य तथा आन्तरिक अनुभूतियाँ प्रभंजन रूप में मीड़ प्रस्तुत करती रहती हैं और ध्वनि तथा लय का निर्माण होता रहता है, जो काव्य की आत्मा है। इस निर्माण-कार्य में एक दैवी शक्ति निहित रहती है। काव्य समस्त ज्ञान का केन्द्र है और वहीं से समस्त ज्ञान का विकास हुआ है। वह विज्ञान की भी आत्मा है। ज्ञान और विज्ञान उसी में निहित तथा उसी के द्वारा प्रादुर्भूत है; जीवन-वृक्ष का वह बीज है; विश्व-वाटिका का वह पराग है। प्रेम और धर्म, मित्रता तथा राष्ट्रीयता, प्रकृति का अक्षय सौन्दर्य उसी के प्रकाश से आलोकित तथा उसी की प्रेरणा से जीवनमय है। काव्य-शक्ति तर्क के समान हमारी कार्य-शक्ति की दास नहीं; और कोई व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि मैं अब काव्य-रचना करने जा रहा हूँ। ऐसा होने पर उसका प्रयत्न निष्फल ही रहेगा। कवि-जीवन में काव्य-निर्माण के क्षण बुझते हुए अंगारो के समान होते है जो किसी अदृश्य परन्तु प्रभावपूर्ण वायु से यदा-कदा दहक उठते हैं। इन क्षणों का आवागमन वे न तो समझ पाते हैं और न समझ सकते हैं। यदि वे क्षण कहीं पूर्ण रूप से व्यक्त हो जाते और उनके बुझने के पहले ही कवि उनकी प्रज्ज्वलित ज्वालामय ज्योति काव्य में परिणत कर पाते तो उसकी चकाचौंध तथा उसकी शक्ति ऐसी होती जिसकी कल्पना असम्भव है। परन्तु दुर्भाग्य से वे क्षण जब काव्य-रूप में परिणत होने लगते हैं तो उनकी शक्ति क्षीण होती रहती है, वे प्रभावहीन होने लगते हैं और जैसे ही

वे शब्दबद्ध होते हैं वैसे ही निष्प्राण तथा निर्जीव हो जाते हैं। और इसके फलस्वरूप जो भी काव्य हमारे सम्मुख साहित्य-रूप मे प्रस्तुत होता है वह कवि की मौलिक अनुभूति तथा आदि-प्रभाव से कहीं दूर तथा शिथिल होता है। यह कहना भ्रम-मूलक है कि काव्य-रचना में परिश्रम तथा अध्यवसाय आवश्यक है। यदि ऐसा हो भी तो उनकी आवश्यकता केवल इन्ही पूर्वोक्त क्षणों के निरीक्षण तथा प्रयोग मे ही होगी, अन्यथा नहीं।

श्रेष्ठ तथा उत्फुल्ल जीवन के सर्वश्रेष्ठ आनन्दपूर्ण क्षणों का संग्रह काव्य के नाम से विभूषित किया जा सकता है। प्रायः अदृश्य रूप मे हमारे मानस मे व्यक्तियो तथा स्थानों से सम्बन्धित अनेक विचार तथा भावनाएँ तरंगित तथा शान्त होती रहती है परन्तु वे आनन्ददायी होती है और हमारे व्यक्तित्व को उन्नत बनाती रहती हैं। उनका आगमन तथा प्रत्यागमन हमें सदैव प्रफुल्लित करता रहता है; उनकी विदाई में भी हमें जो वेदना की अनुभूति होती है उसमें भी एक प्रकार के विचित्र आनन्द का सम्मिश्रण रहता है। कवि ऐसी ही अनुभूतियो का केन्द्र है और काव्य विश्व के श्रेष्ठातिश्रेष्ठ तथा सर्वसुन्दर वस्तुओं को अमरत्व प्रदान करता रहता है। भाषा के सुन्दर माध्यम से वह जीवन के आलोकपूर्ण क्षणों का विस्तार मानव-जगत् में करता रहता है। काव्य इस दृष्टि से मानव-हृदय में निहित दैवी तत्त्वों के प्रकाश और विकास की सुरक्षा किया करता है।

काव्य संसार की सभी वस्तुओं को सुन्दरता का वरदान देता रहता है। वह सुन्दर को सुन्दरतम तथा कुरूप अथवा असुन्दर को सौन्दर्ययुक्त करता रहता है। उसी की दैवी शक्ति अनेक विरोधी रसों का सामंजस्य प्रस्तुत करती रहती है; उसके स्पर्श से ही मृत मे नव-जीवन का संचार होता है; अदृश्य दृष्टि की परिधि मे आ जाता है; अपरिचित संसार से परिचित हो जाता है और वह पग-पग पर सुप्त सौन्दर्य को जाग्रत करता चलता है। मानव की सांसारिक बेडियाँ वह सहज ही काट फेंकता है और उसे शताब्दियों के श्राप से मुक्त करके अनन्त की ओर अग्रसर करता है; उसी के द्वारा हमारी रसेन्द्रियां सब कुछ अनुभव करने की शक्ति ग्रहण करती है; वह नित्य नवीन रूप में हमें विश्व-दर्शन कराता है और हमारे नेत्रो को नित नवीन ज्योति-दान देता है।

कविता तथा कहानी

कविता, जो जीवन के शाश्वत सत्यों का सहज प्रतिबिम्ब है, कहानी से अनेक अंशों मे विभिन्न होगी। कहानी तो अनेक रूप घटनाओं की सूची-मात्र है जो परिस्थिति, समय तथा कार्य-कारण इत्यादि की परिधि में अभीष्ट सिद्धि करती

है परन्तु कविता तो मानव-प्रकृति के अपरिवर्तनीय गुणों का अनुकरण है जो स्रष्टा से सम्बन्धित हैं और मूल रूप में उसी के मानस में स्थित रहते हैं। एक सर्वगत तथा असीम है; दूसरा एकांगी तथा सीमित। कथा-साहित्य समय के हाथों का खिलौना है परन्तु कविता की अजेय शक्ति के सामने सिर झुकाता है और उसमें निहित शाश्वत सत्यों को प्रकाशमान किया करता है। कथा-साहित्य उस दर्पण के समान है जो सुन्दर वस्तुओ का विकृत तथा असुन्दर रूप प्रस्तुत करता है; परन्तु कविता ऐसे दर्पण के समान है जो विकृत वस्तुओ को सौन्दर्यपूर्ण बनाता रहता है।

कविता के गुण

कविता के लिए यह आवश्यक नहीं कि उसके सभी स्थल काव्यपूर्ण हो : उसके एक ही अथवा अनेक स्थल पर काव्य के दर्शन हो सकते हैं। कभी-कभी एक ही पंक्ति अथवा एक ही शब्द मे अगाध काव्य-माधुरी ध्वनित होती रहेगी, उसमें ऐसे स्वर होंगे जिनकी प्रतिध्वनि अनन्त काल तक स्वरित रहेगी। काव्य-कला के वस्तुतः दो गुण हैं। एक से वह ज्ञान तथा शक्ति के नवीन क्षेत्रों का अनुसन्धान करती है और दूसरी से मानव के मानस में सत्यम् तथा सुन्दरम् की लयपूर्ण अभिव्यंजना की लालसा अंकुरित करती चलती है। सामाजिक जीवन के ऐसे विषम समय में जब पदार्थवाद तथा स्वार्थ का अधिक बोल-बाला हो काव्य अत्यधिक उपयोगी होगा; उसकी शक्ति पदार्थ-वाद की विषमता को दूर करती रहेगी।

साधारणतया भाषा, ध्वनि तथा विचारों के अनुसन्धान से पता चलता है कि उनमें एक प्रकार का नैसर्गिक लय तथा व्यवस्था रहती है। इस-लिए प्राचीन काल से अब तक कवियों की भाषा लयपूर्ण होती रही है; और इसी लयपूर्ण भाषा के प्रत्यागमन द्वारा अनेक प्रकार के छन्दो का भी जन्म हुआ। कवि के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह छन्द-प्रयोग करे ही, परन्तु परम्परा तथा काव्य-आत्मा की माँग सदा यही रही है कि छन्द-प्रयोग हितकर तथा श्रेयस्कर है।

आलोचना के नवीन नियम

उन्नीसवीं शती के प्रथम चरण की रोमांचक आलो-चना-प्रणाली को स्पष्ट रूप में समझने के लिए इस काल के अनेक कवि-आलोचकों द्वारा प्रस्तावित आलो-चना-प्रणाली का क्रमिक वर्णन फलप्रद होगा। कवियों द्वारा लिखित भूमिकाओं तथा उन भूमिकाओं की टीका-टिप्पणी में ही इस समय के समस्त महत्त्वपूर्ण आलोचना-सिद्धान्तो की तालिका मिल जायगी।

यद्यपि इस काल के सभी कवि-आलोचक अपनी-अपनी नूतन तथा मौलिक आलोचना-प्रणाली प्रस्तावित करते रहे, परन्तु सभी के आधारभूत कुछ सामान्य सिद्धान्तों की ओर संकेत किया जा सकता है—

१. आलोचक के लिए यह आवश्यक है कि वह सभी युगों के साहित्य का अध्ययन करे, क्योंकि यह अध्ययन उसके लिए अत्यन्त हितकर होगा।

२. किसी पुराने युग की आलोचना-प्रणाली आगामी युग के लिए हितकर न होगी। सभी युगों को पृथक् रूप में अपनी-अपनी आलोचना-प्रणाली का समयानुसार निर्माण करना होगा।

३. साहित्य-रचना के नियम तथा उपनियम बनाने की प्रथा और उसी के आधार पर साहित्य-निर्माताओं को साहित्य-रचना पर वाध्य करना घातक होगा। नियम कभी-कभी उपयोगी हो सकते हैं, परन्तु सर्वदा नहीं; और जो भी नियम बनें उनके आधार श्रेष्ठ साहित्यकारों की ही रचनाएँ होनी चाहिएँ। वाह्य-रूप से निर्मित नियमों का बोझ कलाकारों को कुण्ठित करेगा।

४. विषय तथा वस्तु के परिवर्तित होते ही उसकी वाह्य रूप-रेखा भी परिवर्तित होती जायगी।

५. साहित्य को एकरूपेण बनाना श्रेयस्कर नहीं—उसमे समयानुसार परिवर्तन अवश्य उपस्थित होता रहेगा।

६. साहित्य की श्रेष्ठता का निर्णय उसके प्रभाव पर ही निर्भर रहेगा।

७. साहित्य का प्रमुख लक्ष्य है आनन्दानुभूति, उसकी आत्मा है कल्पना, और शैली उसका शरीर-मात्र है।

८. किसी भी व्यक्ति को अमुक प्रकार के साहित्य को श्रेष्ठ समझने और उससे प्रभावित होने पर वाध्य करना मूर्खता है; उसकी रुचि ही उसके लिए श्रेष्ठ आलोचक का कार्य सम्पादन करेगी।

९. साहित्य-निर्माण में विषय का महत्त्व नहीं; कला और शैली पर ही सब-कुछ निर्भर रहेगा।

१०. यह आवश्यक नहीं कि श्रेष्ठ कवि अथवा गद्य-लेखक स्वयं भी धर्मपरायण हो; उसे होना तो चाहिए, परन्तु यदि वह ऐसा नहीं है तो यह दुःख का विषय तो अवश्य है परन्तु केवल इसी के कारण उसकी रचना हीन कदापि नहीं होगी। साहित्य नैतिकता का दास नहीं, हाँ, आचार-विचार का दास हो सकता है।

११. सुरुचि साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग है, परन्तु उसी को सम्पूर्ण महत्त्व

देना भ्रममूलक होगा।

१२. श्रेष्ठ आलोचक वही है जो बाह्य प्रभावो को सहज ही ग्रहण कर ले और उनकी सहज अभिव्यक्ति भी कर दे।

१३. जहाँ कहीं भी सौन्दर्य प्रस्तुत होगा वहाँ सामंजस्य की भावना अवश्य रहेगी। उच्छृङ्खल सौन्दर्य की भावना निरर्थक है।

काल की प्रतिक्रिया : आलोचना का नव-निर्माण

उपर्युक्त सिद्धान्तों के क्रमिक वर्णन से यह विचार पुष्ट होता है कि उन्नीसवी शती के कवि तथा कलाकार प्राचीन नियमों तथा साहित्य-सिद्धान्तों से ऊब उठे थे; उन्हें ये प्राचीन सिद्धान्त फूटी आँखो भी न सुहाते थे। धीरे-धीरे उन्होने अपने निजी अनुभव द्वारा जान लिया था कि ये प्राचीन नियम उनकी सहज प्रतिभा के शत्रु-रूप हैं और उनके आधार पर श्रेष्ठ साहित्य-रचना या तो उनकी शक्ति के बाहर है या उसका कोई मूल्य नहीं। चाहे जो भी कारण हो प्राचीन नियमो की मान्यता, जो बहुत दिनों से चली आ रही थी और जिसे पिछली शती के साहित्यकारो ने एक बार फिर से प्रोत्साहन दिया था, अब किसी अंश में भी रुचिकर न थी; उसके प्रति विद्रोह की भावना भली-भाँति जाग्रत हो चुकी थी।

आलोचना-क्षेत्र का अब यह एक विशिष्ट सिद्धान्त-सा बनने वाला था कि *आलोचना का प्रधान लक्ष्य साहित्य-सौन्दर्य को हृदयंगम करके दूसरों को उसकी* अनुभूति देना है। उसके लिए साहित्य-द्वार खुले हुए थे और किसी पर भी प्रतिबन्ध नहीं था। प्रत्येक लेखक अपने विषय-चयन और मनोनुकूल विषय-प्रतिपादन के लिए स्वतन्त्र था। परन्तु इस प्रयोग में जहाँ इतनी वाञ्छनीय स्वतन्त्रता मिली वहाँ थोड़ी-बहुत कठिनाइयाँ भी प्रस्तुत हुई। सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि यह युग ऐसा था जहाँ पुराने नियमों की मान्यता तो हट गई थी परन्तु नवीन नियमों को प्रतिष्ठा न मिल सकी थी, इसलिए थोड़ी-बहुत साहित्यिक विच्छृङ्खलता अनिवार्य थी। प्रत्येक लेखक नियमों के बन्धन से स्वतन्त्र होने के फलस्वरूप मनमाने नियम अपनाने लगा था। अपने देश के साहित्य का ज्ञान तो थोड़ा-बहुत उनको था परन्तु दूसरे देशों के साहित्य का ज्ञान अत्यन्त न्यून था, इसलिए उनके निर्मित नियम केवल जातीय हो सकते थे और सब देशो के साहित्य पर सिद्धान्त रूप मे इतना आरोप नहीं हो सकता था। उन्होने साहित्य के मुख्य तत्वों को अधिकांश रूप में समझ तो लिया था पर ऐसे सर्वगत सिद्धान्तों का अब तक निर्माण नही हो पाया था जो सबके लिए मान्य होते। कल्पना, परिकल्पना, छन्द तथा काव्य के लक्ष्य

पर जिस मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक रूप में जो-कुछ भी विचार हो चुका था उनकी मान्यता अब तक बनी हुई है और थोड़े-बहुत अंशों में ही उसमे परिवर्तन हुआ है। कल्पना के विषय में तो जो विवेचन हुआ था उसके कुछ आगे कहने की गुञ्जाइश ही नहीं; उसके वास्तविक मूल तत्त्व का पूर्ण विश्लेषण हो चुका था। साहित्य के आनन्ददायी लक्ष्य को भी सभी श्रेष्ठ आलोचकों ने सिद्धान्त रूप में मान लिया था। हाँ, छन्द-विषयक कुछ नवीन विचार आगामी युग में अवश्य प्रस्तुत हुए।

इस काल के आलोचकों ने नियमों का विरोध करके साहित्य-देवता को बन्धन-मुक्त करके उसे नवजीवन दिया। साहित्य का यह जीवनामृत तथा उसका वरदान उन्हे मध्यकालीन युग में मिला जहाँ प्रेम और वात्सल्य, लालसा और आकांक्षा, आशा तथा गौरव की अनेकरूपी भावनाएँ सब ओर अपना आँचल फैलाए थीं। कवि ने प्रत्येक ललित कला को ग्राह्य समझा और चित्र-कला के रंग, काव्य के शब्द, मूर्ति-कला की तराश, सबमें एक प्रकार का सौन्दर्यात्मक सामंजस्य पाया। उन्होंने गद्य को काव्य के लय से सुसज्जित किया और काव्य को मानव-हृदय के अधिक पास ले आने का प्रयत्न किया। आलोचना अब अपना नवनिर्माण कर रही थी।

पिछली शती ने आलोचकों पर नियमों और सिद्धान्तों का इतना अधिक भार रख दिया था कि उनकी नैसर्गिक शक्ति कुण्ठित हो गई थी, परन्तु जैसा हम अभी कह आए हैं इस युग ने नियमो के सभी बन्धन ढीले कर दिये जिसके फलस्वरूप अनेक क्षेत्रों में उच्छृङ्खलता फैली। सभी लेखक आलोचक के पद पर अपने को आसीन करने लगे। यह धारणा पुष्ट होने लगी कि आलोचक के लिए न तो अध्ययन आवश्यक है और न साहित्य-ज्ञान। परन्तु साहित्यिक कृति पर आलोचना लिखना वास्तव मे सरल नहीं, चित्र-कला पर तो कदाचित् सरल भी हो। चित्र को देखते ही कुछ भाव उदय हुए और कोई भी बुद्धिमान् आलोचक उनकी समुचित अभिव्यंजना सफल रूप मे कर सकता है, परन्तु साहित्यिक रचना को आद्योपान्त पढ़ना पड़ेगा; उसके ठीक अर्थ को हृदयंगम करना होगा और तब यह प्रश्न उठेगा कि लेखक का उद्देश्य क्या था; उसने अपनी उद्देश्य-पूर्ति मे सफलता पाई अथवा नहीं। कहीं ऐसा न हो कि उसने उद्देश्य तो कुछ और ही रखा हो और उसके द्वारा सिद्धि मिली हो किसी दूसरे ही उद्देश्य को। अनेक प्रकार के विषम विचार आलोचक के हृदय मे प्रकट हो सकते हैं। उसकी धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा पारिवारिक भावनाएँ उसे पथभ्रष्ट करने का भरसक प्रयत्न करेंगी; और यदि वह इन सब

प्रबल शत्रुओं से सुरक्षित रह सका तो उसे साहित्यिक कृति के सम्पूर्ण तथा यौगिक प्रभाव को पूर्णतया हृदयंगम करके उसकी सहज अभिव्यक्ति का उत्तरदायित्व अपने ऊपर रखना पड़ेगा। कुछ लोगो का यह कथन है कि अभ्यास से सब-कुछ हो जायगा। परन्तु यह एक अटल सिद्धान्त है कि बिना साहित्य-ज्ञान के, आलोचक अभ्यास चाहे जितना भी करे, उसे सफलता नहीं मिलेगी।

आलोचना-क्षेत्र का नव-विकास

उन्नीसवीं शती के मध्य काल में कुछ अन्य यूरोपीय देशों के आलोचकों की रचनाओं के पठन-पाठन के फलस्वरूप अंग्रेजी आलोचना-क्षेत्र मे कुछ महत्त्वपूर्ण आदर्शों की प्रतिष्ठापना हुई; आलोचक की परिभाषा बनी, उसके लक्ष्य का विवेचन हुआ और आलोचना के प्रमुख तत्त्वो के विश्लेषण के साथ-साथ उसका वर्गीकरण भी हुआ। आलोचक का प्रमुख ध्येय निर्णयात्मक है और उसे साहित्य पर अपना निर्णय निश्चयात्मक रूप मे देना पड़ेगा। प्रायः सभी देशो के साहित्यकारो ने आलोचको पर साहित्यिक सुरुचि पर विचार करने तथा उस विचार को तत्परता से स्पष्ट रूप मे व्यक्त करने का उत्तरदायित्व रखा है और इस उत्तरदायित्व का प्रायः सभी आलोचक यथासाध्य निर्वाह करते आए हैं।

ऐतिहासिक आलोचना-प्रणाली की प्रगति

समय की गति तथा सामाजिक और साहित्यिक परिवर्तन के फलस्वरूप आलोचना के ध्येय तथा आलोचकों के लक्ष्य में भी परिवर्तन हुआ और ऐतिहासिक आलोचना-प्रणाली की नींव पड़ी या यो कहिए कि इस प्रणाली की ख्याति बढी। यह सही है कि इस प्रणाली ने आलोचना-क्षेत्र को नवीन आलोक दिया; विचारकों ने साहित्य-निर्माण के सर्वांगीण तत्त्वो को हृदयंगम भी किया परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने निश्चित रूप से जो-कुछ कहने योग्य था कह डाला। इस प्रणाली के अनुसार आलोचना लिखने वालो ने यद्यपि साहित्य की अमिट सेवा की, परन्तु उपसंहार रूप में प्रस्तुत किये हुए नियम अधिक ग्राह्य नहीं। कभी-कभी तो ऐसा भी हुआ है कि उन्होने निश्चयात्मक तथा प्रामाणिक रीति से कुछ कहा भी नहीं और अन्त तक अपना निश्चय प्रकट करने में झिझकते रहे। उन्होंने लेखकवर्ग की प्रशंसा के पुल बाँधे, उनके द्वारा रचित साहित्य को अक्षय बतलाया, परन्तु क्यों और कैसे, इसका कोई भी निर्णय नहीं कर सके। अपनी आलोचना-प्रणाली से उन्होने पाठको के हृदय मे आशाएँ तो अनेक अंकुरित की, परन्तु फलीभूत एक न हुई।

ऐतिहासिक आलोचना-प्रणाली की पहली माँग यह है कि प्राचीन साहित्यकारों की आलोचना करते समय आलोचक स्वयं अपने को उसी देश, काल, परिस्थिति तथा वातावरण मे रखे और उस समय की आत्मा को भली भांति हृदयंगम करने के बाद लेखनी उठाए। जब तक आलोचक मूल लेखक के देश-काल से परिचित नहीं होता, जब तक वहाँ के आचार-विचार का उसे ज्ञान नही होता और जब तक वह उस काल की आत्मा को नहीं पहचानता उसे ऐतिहासिक आलोचना लिखने में सफलता नहीं मिलेगी। इसके लिए यह आवश्यक नहीं कि आलोचक महत् ज्ञानी हो और उसमे साहित्य-ज्ञान का अपार भण्डार हो, परन्तु यह आवश्यक है कि आलोचक में सजीव सहानुभूति हो, आत्मीयता की भावना हो, सुरुचि-उत्पादन की शक्ति हो और उस काल के विचार-सागर मे डूबने-तिराने की क्षमता हो।

साहित्य का यह भी एक अटल नियम है कि आलोचना व्यक्तिगत रूप में निरुपाय रहती है। अकेले तो वह बेचारी निरुपाय ही नही वरन् हतोत्साह तथा विफल भी रहेगी; उसके लिए जनता का सहयोग आवश्यक है। बिना इस सहयोग के वह अपनी अभीष्ट-सिद्धि नही कर पायगी। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि आलोचक समाज का मन्त्रीमात्र है, जो अपने अन्वेषण द्वारा जन-रुचि का लेखा रखा करता है। परन्तु उसका यह लेखा भी अधिकांश रूप में अपूर्ण रहता है, क्योंकि जन-रुचि के अथाह विचार-सागर को वह यदा-कदा ही थाह पाता है। बहुत गहरी अनुभूति के बाद भी बहुत-कुछ समाज के हृदय में ही शेष रह जाता है जिन पर वह प्रकाश नहीं डाल सकता। इसका सबसे स्पष्ट उदाहरण हमे तब मिल सकता है, जब हम यह समझें कि साहित्यकार ने पृष्ठ के एक ही ओर लिखा है और दूसरी ओर का स्थान रिक्त है, और हमे उसी रिक्त स्थान की समुचित पूर्ति करनी है। रिक्त-स्थान जन-मन का स्थान है, उनकी समस्त भावना का संसार है और उसे ही आलोचक को अपनी सुरुचि तथा सुमति से रँगना होगा। उसे तत्कालीन समाज के हृदय का चित्र, उसके समस्त रंग तथा उसकी गति पूर्णरूपेण हृदयंगम करने के पश्चात् ही आलोचना लिखनी चाहिए। इसी में ऐतिहासिक आलोचना-प्रणाली की सफलता तथा श्रेष्ठता है।

आदर्शात्मक आलोचना-प्रणाली

दूसरे प्रकार की प्रचलित आलोचना-प्रणाली आदर्शात्मक कही जा सकती है। इस प्रणाली के अनुसार आलोचना लिखने वाले पहले से ही अपने मन में कुछ साहित्यिक आदर्शों की सूची तैयार कर लेते हैं और

इसी सूची के सिद्धान्तों की कसौटी पर प्रत्येक गुण तथा दोष परखने लगते हैं। जो भी रचना उनके निर्मित सिद्धान्तों का अनुसरण नही करती और उससे गिरी रहती है वह निकृष्ट प्रमाणित कर दी जाती है। आलोचक वक्रदृष्टि से प्रत्येक सिद्धान्त की पूर्ति की माँग किया करता है और अत्यन्त कठोरतापूर्वक साहित्य के प्रत्येक अंग की जाँच किया करता है। परन्तु कौनसा ऐसा लेखक अब तक जन्मा है जो इस प्रकार की आदर्शात्मक आलोचना-प्रणाली को पूर्ण रूप से सन्तुष्ट कर दे ? क्या वह किसी वर्ग विशेष के निश्चित आदर्श की लकुटि पकड़कर साहित्य में अपना सत्य-मार्ग ढूँढ सकेगा ? क्या इस प्रकार की आलोचना-प्रणाली लेखक की आत्मा को पूर्ण रूप से समझ सकेगी ? जब वह कोरे सिद्धान्तों के बल पर ही सब-कुछ परखेगी तो क्या बहुत-कुछ उससे छूट न जायगा ? जीवन को सिद्धान्तों की परिधि में अब तक कौन बाँध पाया है ? साहित्य, जो जीवन का प्रतिबिम्ब है, उसको सिद्धान्तों की बेड़ियाँ पहनाना मृग-मरीचिका ही होगी। लेखक की आत्मा साहित्य में अनेक अस्पष्ट, अदृश्य, तथा रहस्यपूर्ण रूप मे विकास पाती रहती है और स्थायी रूप से गढे हुए सिद्धान्त भला उसका पार क्या पायँगे। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि जो भी कुछ आदर्शात्मक आलोचना निरर्थक समझकर छोड़ देती है वही महत्त्वपूर्ण होता है, उसी की मान्यता युग-युग मे चली आती है, वही साहित्य का प्राण होता है। प्रकृति के समान ही मानव-प्रकृति भी परिवर्तनशील, अगाध तथा अनन्त है और पहले से निश्चित किये हुए सिद्धान्तों के बल पर इस महान् मानव-प्रकृति के गुण-दोष का निश्चय असम्भव ही होगा।

अनुसन्धानात्मक आलोचना-प्रणाली

तीसरी आलोचना-प्रणाली, जिसे अनुसन्धानात्मक कह सकते हैं, ऐतिहासिक आलोचना-प्रणाली के अन्तर्गत ही पोषित हुई। इसके अनुसरणकर्ता केवल मूल के पीछे पड़े रहते हैं। उनका उद्देश्य यह रहता है कि तत्कालीन प्रकाशित तथा अप्रकाशित लेखों, पत्रों, वक्तव्यों के अध्ययन के फलस्वरूप वे साहित्यिक रचना की पूरी गति पहचान लें। जो-जो आधार मूल-रूप मे लेखक ने अपनाए, जो-जो प्रभाव उसने तत्कालीन साहित्य से ग्रहण किये, जो जो विचार उसने हृदयंगम किये उनका पूरा अनुसन्धान होना चाहिए और इसी के फलस्वरूप साहित्य की सफल आलोचना सम्भव हो सकेगी। वे तत्कालीन साहित्यकारों की रचनाओं से अनेक प्रमाण एकत्र करके लेखक के साहित्याधार की खोज किया करते हैं। लेखक के निजी पत्र-व्यवहार, उसकी

पुस्तकों का प्रथम संस्करण, उसके मित्रों की राय, इत्यादि उनके लिए अमूल्य निधि होंगे। इस प्रणाली के पोषकों की अनुसन्धानात्मक शक्ति, परिश्रम तथा अध्यवसाय की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी होगी। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के साहित्यिक प्रमाणों के आधार पर हम साहित्यिक रचना के विषय में बहुत-कुछ जान लेंगे। प्रमाण इतने प्रचुर तथा अकाट्य होंगे कि किसी को उनका विरोध करने का साहस भी नहीं होगा। परन्तु जिस प्रकार बालक कपड़े की बनी गुडिया को उलट-पलट, तोड़ फोड़, झटक-पटक और अन्त में उसकी धज्जियाँ उड़ाकर यह जान लेता है कि वह किस प्रकार बनी थी, किस प्रकार सजाई गई थी और किस प्रकार दोनों पैरों पर खड़ी हो सकी थी, उसी प्रकार अनुसन्धानात्मक प्रणाली के मानने वाले आलोचक भी अपने ध्येय की पूर्ति करेंगे। क्या बालक वास्तव में गुड़िया के सौन्दर्य, उसकी सज्जा का आकर्षण, उसके काले धागों से बनी हुई आँखों की गोल पुतली का प्रकाश समझ पाया? कदाचित् नहीं। उसी प्रकार इस वर्ग का आलोचक भी साहित्य के आन्तरिक सौन्दर्य से विमुख रहा। लेखक की नैसर्गिक प्रतिभा, उसके निजी दृष्टिकोण, उसकी प्रेरक तथा मानसिक शक्ति, उसकी कल्पनात्मकता, क्या इन बाह्य उपकरणों से आँकी जा सकेगी? अनुसन्धानात्मक आलोचना-प्रणाली फलप्रद अवश्य है परन्तु साहित्य की आत्मा उसकी पहुँच के बाहर रहेगी; लेखक की नैसर्गिक प्रतिभा का वह मूल्यांकन नहीं कर सकेगी।

परिस्थिति-मूलक आलोचना-प्रणाली

उपर्युक्त आलोचना-प्रणालियाँ अधिकांश रूप में जब ग्राह्य न हुई तो परिस्थितिमूलक आलोचना-प्रणाली की नींव डाली गई। आलोचक को साहित्यकार के देश और जाति, वंश तथा परम्परा, शिक्षा तथा सभ्यता, आचार तथा विचार, परिवार तथा परिस्थिति सबको ध्यान में रखकर उसकी कृति की परख करनी होगी। इस प्रणाली के अनुयायी वास्तव में साहित्यकार की रग-रग का परिचय हमें अनुसन्धानात्मक प्रणाली के समान ही दे देंगे। वे साहित्यकार की जातीय, परम्परागत तथा पारिवारिक विशेषताओं का परिचय तो अवश्य देंगे परन्तु फिर भी वे मानवी प्रतिभा और नैसर्गिक शक्ति का लेखा न रख पायेंगे। साहित्य-संसार में पग-पग पर हमें ऐसे कलाकार मिलते हैं जिन्होंने देश और जाति, वंश तथा परम्परा, शिक्षा तथा सभ्यता, आचार तथा विचार के बन्धन से अपने को स्वतन्त्र रखा; अथवा इनसे सीमित रहते हुए भी उन्होंने अपने आत्मिक अथवा आध्यात्मिक जीवन को मुक्त रखा। पिंजरे में बन्द पक्षी अपनी नैसर्गिक शक्ति नहीं खोता; वर्षों के बन्दी-

जीवन के पश्चात् भी वह पर फड़फड़ाकर उड़ सकता है। उसी प्रकार परि-स्थिति इत्यादि से सीमित कलाकार भी अपनी नैसर्गिक प्रतिभा का परिचय सहज ही देता रहेगा। कलाकार तो एक ऐन्द्रजालिक है जो जहाँ कहीं भी हो, किसी परिस्थिति मे हो, अपनी रहस्यपूर्ण कला प्रदर्शित कर सकता है। उसकी प्रतिभा का कोई बाह्य आधार नही; उसकी कल्पना-शक्ति को कोई बाधा नहीं व्यापती। वह मुक्त तथा स्वतन्त्र कलाकार स्रष्टा की समता कर सकता है।

आलोचक के अधिकार

सहज रूप में तो आलोचक के अधिकार अत्यन्त सीमित हैं। उसे कवि की कल्पना, उसकी विषय-प्रतिपादन शैली, उसके विचारों के मूल आधार इत्यादि पर प्रश्न पूछने का अधिकार प्राप्त नहीं; उसे केवल यही कहने का अधिकार है कि रचना अच्छी है अथवा बुरी। कवि चित्र-कार के समान ही, अपने भाषा-रूपी रंगों को व्यवहृत करने की पूर्ण स्वतन्त्रता रखता है; आलोचक को रंगों के चयन पर विवाद करना श्रेयस्कर नहीं, उसे उनके सफल अथवा विफल प्रयोग पर ही टीका-टिप्पणी का अधिकार रहेगा। साधारणतया साहित्य के लिए श्रेष्ठ अथवा हीन विषय नहीं होते; कवि ही श्रेष्ठ अथवा निकृष्ट होते हैं। विषय कोई भी हो, कहीं का भी हो, कैसा भी हो, साहित्य के उपयुक्त है। कला पर ही सब-कुछ निर्भर रहेगा। इसलिए आलोचक को विषय की श्रेष्ठता अथवा हीनता, सौन्दर्य अथवा कुरूपता, उपयोगिता तथा निरर्थकता पर विवाद नहीं करना होगा। उसे तो केवल यह देखना होगा कि अभीष्ट-सिद्धि हुई अथवा नहीं। उसे यह निश्चय करना पड़ेगा कि कलाकार जिस लक्ष्य को लेकर चला था उसकी पूर्ति हुई अथवा नहीं। इसके अतिरिक्त न तो आलोचक को कुछ और पूछने का अधिकार है और न कलाकार पर दूसरा कोई उत्तरदायित्व ही है। काव्य-कुञ्ज के सभी पुष्प, तरु-लताएँ, वल्लरियाँ, कीट-पतंग कवि का मुख निरखा करते हैं; वह किसी को भी मनोनुकूल चुन सकता है। कवि को दैवी स्वतन्त्रता प्राप्त है। यही अकाव्य सिद्धान्त है।

काव्य के मुख्य विषयाधार

उन्नीसवी शती के मध्यभाग तथा अन्तिम चरण मे, जैसा कि हम पहले संकेत दे चुके हैं, आलोचना-क्षेत्र मे विशेष प्रगति हुई। आलोचना की विभिन्न प्रणा-लियों पर सम्यक् रूप से विचार हो रहा था और उनके गुण-दोष भी गिनाए जा रहे थे। इसके साथ-साथ काव्य की श्रेष्ठता

पर भी विचार प्रस्तुत किया जाने लगा। श्रेष्ठ काव्य-रचना के लिए कलाकार को कौनसे यत्न करने चाहिएँ, किन आदर्शों का अनुकरण क्यों और कैसे करना चाहिए, कैसी शैली अपनानी चाहिए, ऐसे प्रश्नों पर भी आलोचक अपनी सम्मति समुचित रूप मे देते रहे। सबसे पहले इस प्रश्न पर विचार हुआ कि काव्य में किन विषयो का प्रयोग फलप्रद होगा? काव्य के लिए प्राचीन युग के वीरों से सम्बन्धित विषय ही हितकर होंगे, क्योंकि वे ही विषय ऐसे होंगे जिनमे काव्य की आत्मा का पूर्ण प्रस्फुटन सहज रूप मे होगा। यदि काव्य के विषय इधर-उधर से चुने गए और कलाकार प्राचीन ऐतिहासिक वीरो की जीवन-सम्बन्धी घटनाओं के प्रदर्शन से विमुख रहा तो उसमें वह काव्य की आत्मा की प्रतिष्ठापना सहज रूप में न कर पाएगा। इसका कारण यह है कि प्राचीन ऐतिहासिक विषयो में ऐसी क्षमता होती है कि वे शीघ्र ही उच्च-स्तर पर प्रदर्शित होने लगते हैं और कवि की निजी प्रतिभा को अधिक परि-श्रम नहीं करना पड़ता। कवि स्वयं उस भव्य विषय से प्रेरणा ग्रहण करता है; एक तो विषय ऐसे ही भव्य है दूसरे उसे कवि की प्रतिभा का सहारा मिल गया; और इसका फल यह हुआ कि उसमें दुगुना प्रकाश आ गया। परन्तु यदि विषय साधारण अथवा क्षुद्र है तो कवि को उसे उन्नत बनाने मे अत्य-धिक प्रयास करना पडेगा और उसकी शक्ति का दुरुपयोग होगा। इसका यह तात्पर्य नहीं कि साधारण विषयो अथवा साधारण जीवन से सम्बन्धित घट-नाओं पर काव्य नहीं रचा जा सकता। रचा अवश्य जा सकता है परन्तु कवि की प्रतिभा पर इतना बोझ पड़ेगा कि कदाचित् उस बोझ को वह सँभाल ही न सके। और यदि उसने सँभाल भी लिया तो एक प्रकार से उसका दुरुप-योग तो हुआ ही, क्योंकि वही प्रतिभा किसी श्रेष्ठ विषय का प्रतिपादन करती तो विषय तो चमक ही उठता कवि को परिश्रम भी न पडता; और दोनों के सहयोग से श्रेष्ठ काव्य का निर्माण होता। प्राचीन तथा पौराणिक विषयो में अक्षय शक्ति निहित रहती है और जब-जब कवि इन विषयों को चुनता है स्वयं भी उनसे शक्ति ग्रहण करता है। कुछ लोगो का यह विचार है कि पौराणिक जीवन हमारे आधुनिक जीवन से इतना दूर है कि हम यथार्थ तथा गम्भीर रूप में उसका समुचित प्रदर्शन नहीं कर पायँगे। परन्तु श्रेष्ठ काव्य के लिए इसकी आवश्यकता ही क्या? आवश्यकता तो केवल उन उन्नत भावों को हृदयंगम करने की है जिनसे वे प्राचीन वीर प्रेरित हुए। यही वह आवश्यक तत्व है जो काव्याधार बनाया जा सकता है। देश, काल इत्यादि की बाधा की तो कोई सम्भावना ही नहीं। कवि को तो केवल वह पौराणिक

घटना चुन लेनी चाहिए जो हजारों वर्ष पहले मानव-समाज को प्रभावित करती रही। वही आज भी प्रभावित करेगी। इसका कारण यह है कि उन पौराणिक कथाओं मे मानव की अक्षय भावनाओं का स्पष्टीकरण है और मानव जब तक मानव नाम से आभूषित है वे भावनाएँ उसे रुचिकर रहेंगी। इसके साथ-साथ इसका एक और लाभ भी है। वह यह है कि आधुनिक समाज अभी स्थायित्व नहीं ग्रहण कर पाया है; विरोधी आदर्श उसे विकल किये हुए हैं। साहित्य में जितना स्वेच्छाचार तथा उच्छृङ्खलता फैली हुई है उतनी कहीं नहीं। इसलिए यह आवश्यक है कि ऐसे समय में हम ऐसे काव्यादर्श अपनाएँ जिनके विषय में विरोध की सम्भावना ही न हो। इसका सबसे सरल साधन है यूनानी साहित्य का अध्ययन तथा उसके साहित्यादर्शों पर विचार तथा चिन्तन। इसका फल यह होगा कि आधुनिक समाज का प्राणी मानसिक सन्तुलन, सुरुचि तथा धर्माचरण शीघ्र अपना लेगा।

काव्य का ध्येय

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पौराणिक तथा ऐतिहासिक जीवन से सम्बन्धित घटनाएँ ही श्रेष्ठ काव्य के लिए फलप्रद समझी गईं। परन्तु उसके लिए कुछ और भी यत्न करने पड़ेंगे। कवि को ऐसे काव्यात्मक रूप में इन घटनाओं को प्रस्तुत करना पड़ेगा जो उत्साहवर्धक तथा आनन्ददायी हों। बिना आनन्द-प्रदर्शन के उनका कोई प्रयोजन न होगा क्योंकि जैसा एक साहित्यिक मनीषी ने कहा है—काव्य दुःखद क्षणों से त्राण देता है; वह जीवन के वैषम्य को विस्मृत करता है। और श्रेष्ठ कला का भी यही ध्येय होना चाहिए : कला की सफलता आनन्द-प्रसार में ही है। इसलिए कवि को तो पहले एक विशिष्ट तथा पौराणिक विषय चुनना होगा—ऐसा विषय जिसके प्रदर्शन द्वारा हमारी मानवी शक्तियां विकास पाएँ, ऐसा विषय, जो हमारे अगाध भावना-संसार को तरंगित करे। तत्पश्चात् सम्पूर्ण कार्य को उसे इस प्रकार प्रदर्शित करना पड़ेगा कि अन्त में हमारे ऊपर केवल एक व्यापक तथा स्पष्ट प्रभाव पडे। उस कार्य के अनेक स्थलों में गहरा तथा आन्तरिक सम्बन्ध अपेक्षित होगा और यद्यपि वे अलग-अलग विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण न हों परन्तु अन्त में अनेक स्थलों के समायोग के फलस्वरूप जो प्रभाव पडे वह आनन्ददायी, प्रभावपूर्ण तथा उत्साहवर्धक अवश्य हो। इस दृष्टि से कवि मे तीन गुण होने चाहिएँ—पहला पौराणिक विषय-चयन की रुचि, दूसरा, कार्य-संगठन-क्षमता तथा तीसरा, श्रेष्ठ अभिव्यंजना की पहचान।

काव्य की शैली कैसी होनी चाहिए? वह अत्यधिक अलंकृत हो

काव्य-शैली

अथवा सरल ? अलंकृत शैली में क्या दोष हैं ? इन प्रश्नों के उत्तर के फलस्वरूप यह नियम मान्य हुआ कि अलंकृत शैली श्रेष्ठ काव्य के लिए अधिक उपयुक्त न होगी। यद्यपि आधुनिक कवि कुछ पुराने कवियों की काव्य-परम्परा को अपनाकर अत्यधिक आलंकारिक शैली का प्रयोग करने लगे हैं परन्तु उसका प्रभाव अच्छा नहीं पड़ता। अत्यधिक अलंकृत शैली पाठक को पथ-भ्रष्ट कर देती है: वह विषय की महत्ता पर ध्यान न देकर शैली पर अधिक ध्यान देने लगता है और अन्त में यह समझने लगता है कि शैली ही काव्य का श्रेष्ठ गुण होगा। परन्तु जैसा हम स्पष्टतया कह चुके हैं विषय की ही महत्ता प्रमुख रूप में रहेगी। सरल तथा सुरुचिपूर्ण शैली ही श्रेष्ठ काव्य के लिए फलप्रद होगी। प्राचीन कवियों की रचनाएँ इसी कारण श्रेष्ठ हैं कि उनका विषय महत्त्वपूर्ण है, उनमें नैतिक भावना उच्च कोटि की है, उनमें हमारे भाव-संसार को सतत तरंगित करने की शक्ति है और उसकी शैली सरल तथा प्रभावशाली है। भावों की गम्भीरता तथा अभिव्यंजना की सरलता उनकी शैली के श्रेष्ठ गुण हैं। इस दृष्टि से प्राचीन यूनानी काव्य का पठन-पाठन, अध्ययन तथा चिन्तन और भी फलप्रद होगा। उनका शाब्दिक अनुकरण हमें नहीं करना चाहिए, परन्तु उन्हीं के आदर्शों का प्रतिपालन श्रेष्ठ काव्य की आत्मा का विकास करेगा।

भव्य शैली के तत्त्व

शैलियों में सर्वश्रेष्ठ शैली को हम 'भव्य अथवा उन्नत शैली' के नाम से सम्बोधित कर सकते हैं। भव्य शैली के उदाहरण साधारणतया यूनान के आदि-कवि होमर में ही प्रदर्शित होंगे। इस शैली के तीन मुख्य आधार हैं—पहला आधार तो है कवि का निजी नैतिक तथा आदर्शवत् जीवन; दूसरा है काव्य-प्रतिभा, तीसरा सरल तथा गम्भीर अभिव्यंजना और महत्त्वपूर्ण तथा विशिष्ट विषय-चयन। भव्य शैली का विकास सम्पूर्ण क्षेत्र में ही होगा—पृथक्-पृथक् स्थलों में इसका विकास नहीं हो पाएगा। कवि की कार्य-संगठन शक्ति से इसका आन्तरिक सम्बन्ध होते हुए यह सम्पूर्ण काव्य में आदि से अन्त तक प्रदर्शित रहेगी। इस विवेचन के साथ-साथ यह कहना असंगत न होगा कि इस शैली में कुछ ऐसे रहस्य हैं जिनका उद्घाटन असम्भव है। हम केवल उसके बाह्याकार की ओर ही संकेत कर सकते हैं। अभिव्यंजना जब सर्वांगीण रूप से आदर्शवत् होगी अथवा मानवी भाव जब उच्चातिउच्च स्तर पर प्रदर्शित होगा तभी इस शैली का जन्म और विकास होगा। आनन्दातिरेक, दुःख की पराकाष्ठा अथवा किसी भी भावना के चरम प्रदर्शन में इस शैली का दर्शन

मिल सकेगा।

युग तथा कला

आदर्श काव्य तथा आदर्श शैली के गुणानुवाद के साथ-साथ काव्य-कला तथा काव्य-शक्ति, अनुवाद-कला तथा आलोचना-सिद्धान्त पर भी कुछ विचार मिलते हैं। काव्य-कला के विकास तथा उसके श्रेष्ठातिश्रेष्ठ प्रयोग के लिए यह आवश्यक है कि उस युग में भी श्रेष्ठता हो। श्रेष्ठ युग ही श्रेष्ठ कलाकारों का जन्मदाता हो सकेगा और जब-जब युग हीनावस्था को प्राप्त होगा काव्य भी निष्प्राण तथा निकृष्ट होता जायगा। इस तथ्य का इतिहास साक्षी है। यूनान की जो प्रतिष्ठा चौथी तथा पाँचवीं शती में थी फिर उसे प्राप्त न हो सकी और उसी समय उसका साहित्य भी सर्वश्रेष्ठ रहा। कलाकार की व्यक्तिगत श्रेष्ठता तथा युग एवं देश की समुन्नत दशा दोनो के सहयोग के ही फल-स्वरूप श्रेष्ठ काव्य-कला का जन्म हुआ है और भविष्य में भी होगा। यही कारण है कि एलिज़बेथ के समुन्नत समय में सर्वश्रेष्ठ साहित्य की रचना हुई।

काव्य का स्वरूप

काव्य का प्रमुख लक्ष्य है जीवन की मीमांसा। काव्य जीवन के अनेक स्थलो और विभिन्न स्तरो का अनुसन्धान करके उन विशिष्ट तत्त्वों की ओर संकेत करता है जो अमर हैं, अनन्त हैं और मानव-हृदय में आदि काल से प्रकाश पाते आए हैं। इस दृष्टि से काव्य सभ्य-समाज की मानसिक अनुभूतियो का अमर-कोष है। उसी पर समाज तथा युग की प्रगति निर्भर रहेगी, क्योंकि उसी से भावी युगों को प्रेरणा मिलेगी और मानवी-सभ्यता का विकास होगा। काव्य में वस्तुतः एक ऐसी दैवी शक्ति निहित रहती है जिसका विवेचन सरल नहीं। यह दैवी शक्ति जीवन के रहस्यो को खोलती चलती है; उसके प्रश्नों का हल ढूँढती है; उसकी जटिलताओं की व्याख्या करती है। उसकी व्याख्या नैतिकता से ओत-प्रोत रहती है और उन्नत भावों का संचार किया करती है। नैतिकता, काव्य-कला का विस्तृत क्षेत्र है; जीवन की व्याख्या उसका प्राण है; श्रेष्ठ काव्य-विषय उसका शरीर है।

अनुवाद के नियम

अठारहवीं शती के अन्तिम चरण में प्राचीन महा-काव्यों के अनुवाद की एक लहर-सी चल पड़ी थी और इसलिए यह आवश्यक था कि उन्नीसवीं शती के आलोचक इन अनुवादों का मूल्यांकन करते और अनुवाद-कला के कुछ विशिष्ट सिद्धान्त निर्मित करते। जो-जो अनुवाद प्रस्तुत थे उनके आधार पर अनुवाद-कला-सम्बन्धी जो सिद्धान्त बने उनमे सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह

था कि शब्दानुवाद कभी भी श्रेष्ठ नहीं होगा और जब तक अनुवादक की गति दोनों भाषाओं में एक-सी न होगी अनुवाद निम्न कोटि का ही रहेगा। पिछली शती के अनुवादों की सबसे बड़ी कमी यह थी कि उन्होंने अनुवाद के लिए एक विशेष शब्दावली का निर्माण कर लिया था जिसके कारण अनुवाद का अस्वाभाविक हो जाना अनिवार्य हो गया। अनुवाद का प्रधान तत्त्व प्रसाद गुण है। जब तक भाषा में प्रवाह नहीं, स्पष्टता नहीं, भव्यता नहीं तथा विचारों का पूर्णरूपेण विकास नहीं, तब तक अनुवाद श्रेष्ठ न होगा। श्रेष्ठ अनुवाद वही होगा जो दोनों भाषाओं के ज्ञाताओं को समरूप से आकर्षित करे।

आलोचना तथा संस्कृति

आलोचना-क्षेत्र के विशिष्ट विचारों में सबसे महत्त्वपूर्ण विचार आलोचना तथा संस्कृति के आन्तरिक सम्बन्ध में प्रस्तुत हुआ। ज्ञान-वृक्ष के फल का ही नाम संस्कृति है; और संस्कृति का आलोचना से गहरा सम्बन्ध है, क्योंकि आलोचना का मुख्य ध्येय है ज्ञानार्जन। वह ज्ञान का माध्यम है और उसी की सहायता से ज्ञान-कोष की पूर्ति होती रहती है जो आगे चलकर संस्कृति का रूप ले लेती है। सफल तथा श्रेष्ठ आलोचक वही है जो नवीन विचार को जन्म दे। ये ही नवीन विचार ज्ञान की श्रृङ्खला बनाते जायँगे जो आगे चलकर सभ्यता तथा संस्कृति की पुष्पमाला के रूप में विकसित होगी। वस्तुतः आलोचना ज्ञानार्जन तथा उसके प्रसार की एक विशिष्ट शैली है। जिस प्रकार विद्युत्-छटा एक क्षण में ही समस्त आकाश को प्रकाशमान् कर देती है उसी प्रकार आलोचना-कला विचारो का प्रकाश फैलाती रहती है। विचार ही भावी संस्कृति के मूलाधार हैं। संक्षेप में आलोचकों का प्रधान गुण है निष्पक्षता। वे जल में कमल के समान रहकर साहित्य की परख निष्पक्ष रूप में किया करते हैं। अपनी सरल सहानुभूति द्वारा वे साहित्य-प्रांगण में सहज रूप मे विचरण करते हुए नवीन विचारों को जन्म दिया करते हैं, साहित्य का महत्त्व स्पष्ट करते रहते हैं, और संस्कृति की नींव सुदृढ़ करते हैं।

प्राचीन नियमों की पुनरावृत्ति

उन्नीसवीं शती के मध्यकालीन आलोचनात्मक साहित्य के सूक्ष्म विश्लेषण के उपरान्त कदाचित् यह धारणा पुष्ट होगी कि वास्तव मे इस समय की आलोचना-प्रणाली में प्राचीन आलोचना-प्रणाली की अनेक मान्यताएँ नवीन रूप मे पुनः अवतरित हो रही हैं। काव्य के विशिष्ट तत्वों की समीक्षा करते हुए अरस्तू ने भी श्रेष्ठ विषय-चयन और उन्नत शैली की

आवश्यकता प्रतिपादित की थी। 'विषय-चयन पर ही सब-कुछ निर्भर रहेगा', इसकी भी सत्यता उन्होने ही पहले-पहल प्रमाणित करने का प्रयास किया था। काव्य में, कार्य के सम्पूर्ण संगठन पर भी उन्होंने विशेष जोर दिया था, परन्तु उस काल में जब ये सिद्धान्त बने, साहित्य बहुत कम था और उसी के आधार पर बने हुए आलोचनात्मक नियमो को सर्वगत मान लेने में कठिनाई भी थी। इस युग में जब साहित्य का कोष भरा-पूरा हुआ और वे ही नियम फिर से विभिन्न रूप मे प्रस्तावित हुए तो उनकी सर्वगत मान्यता में कोई विरोध नही प्रस्तुत हो सका। भव्य तथा उन्नत शैली के भी जो तत्त्व रोमीय आलोचकों ने गिनाए थे उन्हीं को थोड़े-बहुत परिवर्तित रूप में इस काल में भी मान लिया गया। गम्भीर तथा संयत शैली के द्वारा मानव की अनेक उन्नत तथा भव्य भावनाओं की अभिव्यक्ति अत्यन्त सहज रूप में हुई है और कदाचित् होती भी रहेगी। सभी देशों के श्रेष्ठ साहित्यकारों ने इस शैली का सफल प्रयोग किया है।

इस काल के आलोचकों ने प्राचीन यूनानी तथा रोमीय आलोचनात्मक सिद्धान्तों को नवीन रूप में पुनः क्यों प्रतिपादित किया इसका एक विशेष कारण है। इस शती के प्रथम चरण के आलोचकों ने, पिछली शती के साहित्य-कारों की अनेक रचनाओं से असन्तुष्ट तथा क्रोधित होकर नवीन सिद्धान्तो का निर्माण किया और यह आवश्यक भी था कि नवीन युग की आवश्यकताओं के लिए नवीन सिद्धान्त भी बनते। परन्तु आलोचको का असन्तोष और विरोध इस हद तक बढा कि जो भी सिद्धान्त पिछली शती के आलोचकों ने सफलतापूर्वक साहित्य-निर्माण में प्रयुक्त किये थे सबको दूषित प्रमाणित करके उन पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इसका फल, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, हानिकारक हुआ। साहित्यिक स्वतन्त्रता इतनी बढ़ गई कि उसका नियन्त्रण असम्भव-सा हो गया। और जब यह नवीन युग अपनी किशोरा-वस्था में था तो उससे स्थायी सिद्धान्तों की माँग भी बेकार थी। नवीन सिद्धान्त प्रयुक्त तो हो रहे थे, परन्तु उन्होंने स्थायित्व नहीं प्राप्त किया था और प्राचीन सिद्धान्तों पर प्रतिबन्ध तो लग ही चुका था। इस विषम परि-स्थिति में अनेक साहित्यकारों ने मनमाने रूप मे साहित्य-रचना करनी आरम्भ की और इतनी अधिक मात्रा में साहित्य-निर्माण होने लगा कि उसकी श्रेष्ठता तथा हीनता पर विचार करना असम्भव हो गया। और यह निर्णय करता भी कौन? जो लोग इस कार्य में संलग्न हुए वे राजनीति तथा सामा-जिक रूढ़ियों से इतने दबे हुए थे कि उनमें न तो क्षमता थी और न सहानु-

भूति। उन्होंने विरोध ही किया और इस विरोध का फल यह हुआ कि नवीन साहित्यकारों ने भी एक बाढ-सी ला दी और विरोधी दल थोड़े-बहुत हाहाकार के पश्चात् बिलकुल शान्त हो गया। अब रोमांचक साहित्यकारो का बोलबाला हो गया और आगे चलकर धीरे-धीरे विच्छृङ्खलता फैलने लगी। जब तक साहित्य-रचना श्रेष्ठ कलाकारों के हाथ की वस्तु थी उसमें गुण-ही-गुण प्रस्तुत हुए, परन्तु ज्यों ही निम्न कोटि के कलाकारों ने रोमांचक भावनाओ की अभिव्यंजना आरम्भ की, दोष-ही-दोष प्रस्तुत होने लगे। अब आलोचकों को सतर्क होना पडा और कुछ ऐसे नियमों की मान्यता स्थापित करनी पड़ी जो तत्कालीन साहित्य में स्थिरता लाते और उन्हे नियन्त्रित करते। और यह कार्य उन्नीसवी शती के प्रथम तथा मध्य चरण के समाप्त होते-होते सन् १८६५ ई० में पूर्ण भी हुआ। इसका विवेचन हम पिछले पृष्ठों में दे चुके हैं। जो भी आलोचनात्मक नियम इस काल में बने उनकी मान्यता शती के अन्त तक रही। केवल अन्तिम दस वर्षों मे ही दो-एक नवीन साहित्यादर्शों के दर्शन होते है जिनका वर्णन शेप है।

नवीन सिद्धान्त

इस शती के अन्तिम दस वर्षों में जो काव्य-सिद्धान्त तथा आलोचना-प्रणाली प्रस्तुत हुई उस पर अन्य यूरोपीय देशो की आलोचना-प्रणाली की छाप स्पष्ट है। विशेषतः फ्रांसीसी आलोचना-प्रणाली से प्रेरित होकर ही ये नवीन नियम बने। साहित्य का प्रमुख लक्ष्य है आनन्दानुभूति देना और जो साहित्य जितनी अधिक और जितनी गहरी अनुभूति देगा, उतना ही श्रेष्ठ होगा। जिस क्षण लेखक अथवा कवि की प्रज्वलित आत्मिक ज्योति की किरण पाठक के मनस्तल को छू लेती है वही क्षण वास्तव में आनन्द का कोप है और जो भी लेखक अथवा कलाकार ऐसे क्षणों को जितनी ही अधिक संख्या में निर्मित करेगा और जितनी देर तक उन्हें प्रज्वलित रखेगा वह उतना ही श्रेष्ठ होगा। दीपक की प्रज्वलित ज्योति-शिखा को पतंगे छूकर हट जाते हैं और बार-बार फिर आनन्दवश वहीं आते हैं; उसी प्रकार कलाकार के काव्य की दीप-शिखा ज्यो-ज्यों पाठकों के हृदय को छूती रहेगी त्यों-त्यो उन्हे असीम आनन्द का अनुभव होगा और वे भी बार-बार कलाकार की कविता को हृदयंगम करने का प्रयत्न करेंगे।

शैली का लक्ष्य

इस मौलिक सिद्धान्त के साथ-साथ काव्य मे शब्द-सम्बन्धी नियमों पर भी विचार हुआ। मानव की अपार अनुभूतियों की अभिव्यंजना के लिए गूंगा

ज्ञात होता है कि एक विशाल शब्द-कोष की आवश्यकता है; परन्तु ऐसा होते हुए भी यह नियम श्रेष्ठ है कि किसी भी एक प्रकार की अनुभूति की अभिव्यंजना के लिए एक ही शब्द विशेष है। ज्यो ही कवि वह शब्द ढूँढ़ निकालता है उसका प्रभाव अटल तथा अमिट हो जाता है। ज्यो ही हम अनुभव करना आरम्भ करते हैं त्यो ही उसकी अभिव्यक्ति भी करना चाहते हैं, परन्तु हमारी अभिव्यक्ति की लालसा लालसा ही रह जाती है, क्योकि हम ठीक शब्द सोच नहीं पाते। जैसे-तैसे हम अभिव्यक्ति तो कर लेते हैं परन्तु हम सन्तुष्ट नहीं होते और यही सोचते हैं कि यह बात और भी अच्छे तथा प्रभाव पूर्ण ढंग से कही जा सकती थी। इसी खोज में व्यस्त रहना और भाव-विशेष के लिए शब्द-विशेष को ढूँढ़ निकालना ही शैली का प्रधान लक्ष्य है। जिस प्रकार से रत्नजटित हार मे ज्यों ही बीचो-बीच हीरे की कणिका जड़ दी जाती है उसका आकर्षण पूर्ण हो जाता है उसी प्रकार शब्द-विशेष की सफल खोज के पश्चात् शैली का सौन्दर्य हृदयग्राही हो जाता है। इस नियम को अनेक रोमांचक कवियो ने अनायास ही मान लिया था। उन्नीसवीं शती के अनेक श्रेष्ठ कलाकारों ने इस सिद्धान्त के महत्त्व को पूर्णरूपेण समझकर अत्यन्त सौन्दर्यपूर्ण साहित्य की रचना की है।

आलोचना के मौलिक नियम

आलोचना-क्षेत्र मे तो जो मौलिक तथा विशिष्ट नियम बना उसकी समता कदाचित् किसी भी अन्य युग की आलोचना-प्रणाली से नहीं हो सकती। अब तक आलोचक का प्रधान कार्य यह समझा जाता था कि वह अपना साहित्यिक निर्णय प्रकाशित करे, साहित्यिक रचना के गुण-दोष की परख करे और पाठकवर्ग को उसके गुण-दोष का परिचय दे। रोमांचक आलोचकों ने भी घूम-फिरकर थोड़े-बहुत अंशों में इन्हीं आदर्शों को श्रेयस्कर समझा था और साहित्य के गुण-दोष की परख वे आलोचक की सहायता से ही करना चाहते थे। इसी कारण उन्होने आलोचक को सभ्यता तथा सस्कृति का अभिभावक तथा पोषक कहा था, क्योंकि ज्ञानार्जन मानव की नैसर्गिक प्रवृत्ति है और साहित्य ही अपार ज्ञानागार है। इस युग की नवीन आलोचना-प्रणाली की व्याख्या करते हुए यह सिद्धान्त बनाया गया कि आलोचक का मानस चित्र खींचने वाले कैमरे के समान होना चाहिए। चित्र खीचने वाला जिस व्यक्ति अथवा दृश्य का चित्र खींचना चाहता है, उस ओर कैमरे को स्थिर करता है और ज्यो ही दृश्य अथवा व्यक्ति का सम्पूर्ण चित्र शीशे की परिधि में आ जाता है त्यों ही वह बटन दबाता है और सम्पूर्ण चित्र शीशे पर

अंकित हो जाता है। उसी प्रकार आलोचक को अपने मस्तिष्क तथा रसेन्द्रियों को कैमरे के शीशे के समान साहित्यिक कृति की ओर एकाग्र करके उसका सम्पूर्ण तथा यौगिक प्रभाव ग्रहण करना चाहिए। तदनन्तर उन प्रभावो को अन्य स्थायी प्रभावों के आधार पर आँकना पड़ेगा और अपने स्मृति-कोष में सुरक्षित अनेक काल्पनिक तथा आध्यात्मिक अनुभूतियों के समक्ष उनको रखकर उनका संशोधन तथा परिष्कार करना पड़ेगा और चिन्तन तथा मनन द्वारा उसकी आत्मा को हृदयंगम करके उत्कृष्ट शैली द्वारा उसे प्रकाशित करना पड़ेगा। जिस प्रकार चित्र खीचने वाला चित्रांकित शीशे को अनेक रासायनिक मसालों द्वारा अंधेरी कोठरी में स्वच्छ करता है और उसे चिकने कागज पर अंकित करता है, उसी प्रकार आलोचक को अपनी अनुभूतियों के रसायनों से उन्हे शुद्ध करके, चिन्तन तथा मनन द्वारा उन्हे स्वच्छ करके, स्पष्टतया व्यक्त करना चाहिए। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि आलोचक का प्रमुख लक्ष्य कवि के गुणों को हृदयंगम करके उसकी विवेचना करना और तत्पश्चात् उसे स्पष्टतया व्यक्त करना है। इस कार्य मे सफल होने के लिए यह आवश्यक है कि आलोचक में आनन्दानुभूति की आकांक्षा सतत प्रस्तुत रहे, जो विवेचन में परिणत होकर स्पष्ट रूप में व्यक्त होती जाय।

यह कहना अत्युक्ति न होगी कि इस नवीन तथा मौलिक आलोचना प्रणाली मे अनेक दोष दिखलाई देंगे। पहले तो इस प्रकार की आलोचना के प्रयोग मे अत्यधिक धैर्य तथा सहनशीलता की आवश्यकता पड़ेगी और आलोचक को इस महायज्ञ मे अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को न्योछावर कर देना होगा और उसे एक ऐसी सद्भावना द्वारा साहित्य को परखना होगा जिसमें शक्ति नहीं होगी। इसका अर्थ यह हुआ कि उसमें तर्क की न तो कोई उपयोगिता होगी और न उसका कोई स्थान; और साथ ही इस प्रणाली में रसानुभव पर ही इतना अधिक उत्तरदायित्व रहेगा कि उसके अनेक स्थल अछूते रह जायँगे। यह भी मानना पड़ेगा कि केवल नैतिकता अथवा आनन्दानुभूति का ही विश्लेषण आलोचना न कहलाएगी। कुछ आलोचक तो यहाँ तक कह बैठेंगे कि उन आनन्दानुभूति के क्षणों का मूल्य ही क्या? और फिर सबके लिए यह सम्भव भी तो नहीं कि वे पूर्णतया आनन्दानुभूति कर सकें, उस अनुभूति के आधार का विवेचन करें, तत्पश्चात् उसे शैली के माध्यम से दूसरों तक ले जायँ।

परन्तु इस सिद्धान्त की मौलिकता तथा इसके सार्वजनिक प्रयोग पर किसी को सन्देह नहीं हो सकता। यह ऐसा सिद्धान्त है जो सभी देशों के आलोचक साहित्य की परख में व्यवहृत कर सकते हैं। कवि की रचना से सभी

पाठकवर्ग कुछ-न-कुछ रस ले ही सकते हैं और थोड़े-बहुत रूप में सभी उस अनुभूति के आधार भी स्पष्ट कर लेंगे। सभी भाषाओं तथा देशों के साहित्य की आलोचनात्मक परख इस सिद्धान्त द्वारा सफल रूप में होगी। कदाचित् आलोचना-क्षेत्र में अरस्तू के युग से लेकर आज तक इस सिद्धान्त के समान दूसरा अन्य महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त नहीं बना। इसके सर्वगत प्रयोग की संभावना पर ही इसकी इतनी अधिक महत्ता है।

: ४ :

आधुनिक युग का वातावरण

उन्नीसवीं शती के अन्त तथा बीसवीं के आरम्भ से ही आधुनिक साहित्य का जन्म होता है। इस युग की प्रकृति तथा प्रवृत्ति, दृष्टिकोण तथा रुचि, आदर्श तथा प्रयोग सबकी साहित्यिक समीक्षा अत्यन्त दुष्कर है। इसके अनेक कारण हैं। पहला तो यह कि यह युग हमारे इतना पास है कि व्यापक तथा बाह्यवादी रूप से इस पर विचार नहीं हो सकता; और दूसरे इस युग की मान्यताएँ भी किसी स्पष्ट रूप में अब तक स्थिर नहीं हो पाईं। यह भी हो सकता है कि जो भी लेखक आजकल लोकप्रिय तथा महत्त्वपूर्ण हैं अपनी श्रेष्ठातिश्रेष्ठ कृति शायद लिख ही रहे हों अथवा उसकी सम्भावना ही हो।

आधुनिक युग वादों का युग भी है और जहाँ वादों को प्रश्रय मिला विवाद अवश्यम्भावी होगा। राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, तथा अन्तर्राष्ट्रीय कारणों से यह युग सबसे अधिक जटिल तथा विषम हो गया है और इन कारणों की साधारण समीक्षा के उपरान्त ही हम इन प्रचलित वादों का रूप-रंग तथा उनके प्रधान तत्त्वों को परख सकेंगे। उन्नीसवीं शती का अंग्रेज़ी समाज सम्पन्नता तथा सन्तोष की दृष्टि से अपनी पराकाष्ठा पर था। देश में इतनी शान्ति थी तथा राजनीतिक दृष्टि से देश को इतनी समृद्धि प्राप्त थी कि लोगों का यह विश्वास-सा हो गया था कि ईश्वर बड़ा न्यायी है और संसार की निधियाँ इतनी अपार हैं कि उनकी समाप्ति कभी भी नहीं हो सकेगी। व्यापारी तथा व्यवसायी-समाज दिन-प्रतिदिन उन्नति कर रहा था और साम्राज्य की नींव सुदृढ हो रही थी। ऐसे समय कौन ऐसा व्यक्ति था जो राज्य-महिषि तथा दैवी वरदान के गुण-गान न करता। कवियों ने गुणानुवाद के पुल बाँधने आरम्भ किये, क्योंकि काव्य तो समाज का प्रतिबिम्ब है और इस उन्नी-सवीं शती की साम्राज्य-लिप्सा तथा लक्ष्मी पूजन एक प्रकार से अनेक कवियों ने धर्म रूप में अपना लिया था।

परन्तु ठीक इसी समय कुछ ऐसी विषम परिस्थितियाँ धीरे-धीरे प्रस्तुत

होने लगीं, कुछ ऐसे शत्रु सिर उठाने लगे कि इस शती की नींव हिलने लगी। सभी राष्ट्रीय, राजनीतिक, धार्मिक तथा आर्थिक आदर्शों पर कुठाराघात होने लगा और व्यवसायी समाज विह्वल हो उठा। जिस प्रकार अनेक सुन्दर पुष्पों मे काँटे अवश्यमेव होते हैं उसी प्रकार प्रत्येक सम्पन्न तथा समृद्ध देश में विप्लवकारियों का भी जन्म हो जाता है। इंगिलस्तान की व्यापारिक सम्पन्नता ही उसके वैषम्य की मूल कारण हुई। साम्राज्यवाद तथा पूँजीवाद के उभय-चक्र ने अनेक विषम परिस्थितियों को जन्म दिया जिनका परिणाम बीसवीं शताब्दी आज तक अनुभव रही है। कल-कारखानों की प्रगति के कारण समाज में अनेक नवीन वर्गों का जन्म होने लगा जिनके आदर्शों तथा उद्देश्यो में जमीन-आसमान का फर्क स्पष्ट हुआ और जो आगे चलकर द्वन्द्व का रूप ग्रहण करने लगा। इसी ने श्रमिक वर्ग, मध्यम वर्ग तथा श्रेष्ठ वर्ग को जन्म देकर तथा पोषित करके ऐसे घातक कीटाणुओं को प्रश्रय दिया जिसके द्वारा आज तक के आधुनिक समाज का सम्पूर्ण शरीर विकल है। ज्यों-ज्यों व्यवसायी-समाज सम्पन्न होता गया और साम्राज्यवाद की नींव सुदृढ होती गई त्यों-त्यों बेकारी, वर्ग-विरोध, गरीबी इत्यादि का भी प्रसार होने लगा। मशीन-युग का पोषित मानव केवल मशीन होकर रह गया; उसे मानवी आदर्श भुलाने पड़े; उसे मानवता को विदा देनी पड़ी।

धार्मिक-क्षेत्र में तो जो विषमता फैली उसका कहना ही क्या! अब तक तो ईश्वर न्यायी था, मनुष्य उसका प्रतिबिम्ब था, स्वर्ग था, नर्क था, विश्वास था, मुक्ति की सम्भावना थी; परन्तु कुछ लोगो ने यह प्रमाणित करना आरम्भ किया कि ईश्वर है ही नहीं, स्वर्ग मिथ्या है, नर्क हमारे भय की पराकाष्ठा है और जीवन-संघर्ष ही सबसे अधिक प्रमाणपूर्ण शास्त्र है। उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण में दो-चार ऐसी पुस्तकें प्रकाशित हुईं जिन्होने ईश्वर पर से विश्वास उठा दिया और यह सिद्ध किया कि मनुष्य कुछ परिस्थिति-विशेष द्वारा प्रगतिपूर्ण प्रकृति के अनेक जीव-जन्तुओं के आधार पर ही स्व-निर्मित है। ईसाई धर्म-पुस्तक की मनुष्य-जन्म-विषयक कहानी किसी भी अंश मे सत्य नही। मनुष्य तो आदि पुरुष वानरों का वंशज है और संसार के सभी प्राणी एक शक्तिशाली प्राकृतिक शक्ति के कारण स्वतः जन्म लेते हैं और अपनी निजी शक्ति के अनुसार जन्मते और मरते हैं। मनुष्य तो प्रकृति की प्रयोग-शाला का एक रसायन-मात्र है। धर्म-पुस्तक पर से विश्वास की माया हटते ही धर्माध्यक्षों के निजी जीवन की व्याख्या आरम्भ हुई और उन्हें भी व्यवसायी-मात्र ठहराकर (क्योंकि धर्म की सेवा ही उन्हें जीवन-यापन का सहारा

दिये थी) उनकी खिल्ली उड़ाई गई। अविश्वास की बाढ़ इतनी बढ़ी कि सभी धार्मिक तत्त्वों का सूक्ष्म विवेचन होने लगा और तर्क की कसौटी पर सब की परख आरम्भ हुई। तर्क-सूर्य ने अन्ध-विश्वास के बादलों को छिन्न-भिन्न कर दिया और साथ-ही-साथ मनुष्य के सभी विश्वस्त आदर्श मूर्तियों को खण्ड-खण्ड करके फेंक दिया। धर्म की बेड़ियाँ कटते ही और ईश्वर की अन्त्येष्टि क्रिया होते ही मानव अपनी शक्ति के आधार पर अपनी संसार-यात्रा पर निकल पड़ा। उसके सभी विश्वास छिन गए; सभी सम्बल लुट गए।

कहाँ तो समाज के ऊपर एक पहाड़ फटा ही था कि एक दूसरा पहाड़ भी शीघ्र ही फट पड़ा। प्रथम महायुद्ध छिड़ गया। जनता युद्ध के लिए तैयार की जाने लगी। राष्ट्र-ध्वज-वन्दन होने लगा। साम्राज्य की रक्षा का बिगुल बजा; स्वतन्त्रता तथा प्रजातन्त्र की रण-भेरी निनादित हुई। देश के स्वस्थ नवयुवक देश की रक्षार्थ अपने प्राणों की आहुति देने पर तत्पर होने लगे। चार वर्षों तक यह महायुद्ध नरमेध के रूप मे होता रहा और अन्त मे लगे हुए झण्डे उखाड़ फेंके गए और उखड़े हुए झंडे फिर से लगा दिये गए। युद्ध से पहले राजनीतिज्ञों ने यह विश्वास दिलाया था कि जो भी व्यक्ति इस समय देश के हवन-कुण्ड में प्राणो की आहुति देगा अमर होगा और देश के इतिहास मे उसका नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा। उन्हे यह विश्वास दिलाया गया था कि रणभूमि में शत्रु की हार होते ही प्रजातन्त्र आदर्श में चार चाँद लग जायँगे और एक ऐसा नव विहान आयगा जिसकी कल्पना नहीं हो सकेगी। उन्होंने शपथ खाई थी कि जिन आदर्शों के लिए उन्होंने शस्त्र उठाया है वे मानवी आदर्श हैं और ज्यों ही उन आदर्शों की सुरक्षा हुई त्यों ही उनका प्रायोगिक रूप भी सामने आयगा और घी-दूध की नदियां बह चलेंगी। उन्होंने मनसा, वाचा, कर्मणा यह आदर्श घोषित किया था कि उनका युद्ध धर्म-युद्ध है और उनका शत्रु उनका ही शत्रु नहीं वरन् समस्त सभ्य समाज का शत्रु है, उसको पराजित करना प्रत्येक सभ्य मनुष्य का महान् कर्तव्य है। परन्तु जब चार वर्षों बाद शान्ति के झण्डे फहराये गए और सन्धि हुई तो दूसरा ही दृश्य प्रस्तुत हुआ। जो व्यक्ति देश के लाड़ले बनाकर धर्म-युद्ध में भेजे गए थे जब अपने वर्षों के क्रूर तथा अमानुषिक अनुभवो तथा जीवन के आधारभूत तत्त्वो को हृदयंगम कर घर लौटे तो उनके लिए देश में स्थान नहीं था। युद्ध की समाप्ति के साथ-साथ उनकी जीविका की भी समाप्ति हो चुकी थी। परन्तु उनका अरमान था कि घर लौटते ही उनकी आरती उतारी जायगी, उनका नाम स्वर्णाक्षरो मे अंकित

होगा और खन्दकों की कीचड़, मांस के लोथड़ों तथा जूँओं से भरे हुए रक्ताभिषिक्त कम्बलों के बीच लिपटा हुआ जीवन उन्हे भूल जायगा और वे परीदेश के उड़न-खटोले पर बिठला दिये जायँगे और शान्ति और सम्पन्नता उन पर चँवर डुलाएगी। परन्तु यह सब कुछ भी न हुआ। लाडले आवारा कहे जाने लगे; उड़न-खटोले की जगह उन्हे कारखाने के मजदूर-वर्ग में भी स्थान न मिला और सम्पन्नता और शान्ति के स्थान पर उन्हे घोर मानसिक ग्लानि का अनुभव होने लगा। मृत्यु ही उन्हें अधिक प्रिय जान पड़ने लगी। राष्ट्रीय आदर्शों की मृग-मरीचिका उन्हे अन्त तक छलती रही और वे भी उस मरीचिका को जीवन का सत्य समझकर उसके पीछे भागते रहे। उनका हृदय फट चला; उनका विश्वास खो गया; वे विक्षिप्त-से हो गए।

युद्ध के पश्चात् देश आर्थिक कठिनाइयों की बेड़ियों में और भी कसकर जकड़ गया। देशी माल की खपत के लिए बाजार की आवश्यकता पहले भी थी और अब भी थी परन्तु इस चार वर्ष की हलचल ने सब कुछ अव्यवस्थित कर दिया था। बमों के कारखाने शीघ्र ही भोजन बनाने के कारखानों में नहीं परिणत किये जा सकते; उसमें बहुत विलम्ब होता है। अर्थ-शास्त्र के पण्डित ऐसी चालें चलने लगे जिससे दूसरे देशों की अपेक्षा उनकी सम्पन्नता दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ने लगे। इसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता को बल मिला और जहाँ एक ओर व्यवसायी समझौते होते गए दूसरी ओर द्वेष, घृणा तथा ईर्ष्या को प्रोत्साहन मिलता गया। देश में यों ही खाद्य-पदार्थों की कमी थी और वे बाहर के देशों से ही आते थे। अतएव साम्राज्य-वादी नीति को और भी प्रोत्साहन मिला। धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा व्यावसायिक दुर्व्यवस्था से समस्त आधुनिक समाज विह्वल हो उठा।

परन्तु यह राष्ट्रीय दुर्दशा इंगलिस्तान ही में नहीं प्रायः सभी यूरोपीय देशों में फैली हुई थी। प्रथम महायुद्ध समाप्त भी नहीं हो पाया था कि उन्नीस सौ सत्रह ई० में रूस में हाहाकार मच गया। ज़ार ने महायुद्ध के बाद भी अपनी सत्ता जमाए रखने का अन्तिम प्रयास किया। उन्होंने अपने महल के गुम्बद से गोलियों की बाढ़ चलवाई। हजारों निरपराध सीने पर गोली खाकर अन्तिम श्वास में ज़ार का विनाश मनाते हुए परलोक सिधारे। परन्तु गोली की बाढ से जनता रुकी नहीं; जनता अपनी अविचल शक्ति के बल पर आगे बढ़ती गई। महल पर अधिकार कर लिया गया। ज़ार जान लेकर भागे। रूसियों ने अपने नेता केरेन्स्की को अपना भाग्य सौंप दिया। प्रथम महायुद्ध की प्रतिध्वनि अब भी इधर-उधर से आ रही थी। भूखा, नंगा, त्रस्त रूस

युद्ध से ऊब उठा था। उसे युद्ध की जगह शान्ति चाहिए थी; पहनने को कपड़े और पेट भरने के लिए भोजन। परन्तु केरेन्स्की को अपनी सम्पन्नता की जगह दूसरे का ध्यान ही कहाँ रहा! उन्हें तो अपनी सत्ता तथा अपना अधिकार प्रिय था। जनता चिल्ला-चिल्लाकर कह रही थी—'केरेन्स्की अपना वचन पूरा करे! उसका वचन था रूस को शान्ति, रूस को भोजन तथा कपड़े देने का!! हमारी रोटी कम होती जा रही है; हमारे बच्चो को दूध नहीं मिलता; हमारे सिपाहियो को शान्वि नहीं मिलती!!!' उधर खन्दकों से सिपाहियो ने भी आवाज लगाई—'हमारे देशवासियो! हम खन्दको में भूखे हैं। हम जाड़े से ठिठुर रहे हैं; हमारे पैरो मे जूते नहीं: हम अपनी कब्रें स्वयं अपने हाथों खोद रहे हैं। केरेन्स्की ने वचन दिया था कि युद्ध शीघ्र बन्द होगा; हम सन्धि चाहते हैं; हम शान्ति चाहते हैं। शान्ति, भोजन और जीविका!!' इसी के नारे हर ओर लग रहे थे। इस नारे के उत्तर में केरेन्स्की के दल ने तथा उनके सिद्धान्तों के प्रकाशक समाचार-पत्रों ने लेखों की बाढ़ चलाई—"विरोधियों का गला घोंट दो! शान्ति चाहने वालों को ज़मींदोज कर दो! यहूदियों को मौत के घाट उतारो।" केरेन्स्की के हाथ में अपना प्राण सौंपकर रूसी जनता क्षुभित हो उठी थी; उन्होने मिलकर आवाज उठाई—'केरेन्स्की रूस का शत्रु है। केरेन्स्की का नाश हो!' इसका फल यह हुआ कि सेना स्वतन्त्र हो गई और उसने अपना अनुशासन अपने हाथो ले लिया। मजदूरों और किसानों ने अपना सहयोग उन्हे प्रदान किया। एक महती सभा का आयोजन हुआ। सभा-भवन की दीवारों पर इश्तहारो का जमघट था। जनता का खून खौल रहा था; वे रह-रहकर बोल उठते थे—'युद्ध का विनाश हो। क्रूरता का नाश हो। भूख का निवारण हो!' इस महती सभा ने देश में पूँजीवाद का अन्त किया और साम्यवाद की नींव डाली। आजकल समस्त यूरोप मे पूँजीवाद, साम्यवाद तथा जनतन्त्र के आदर्शों में होड़ चल पड़ी है।

द्वितीय महायुद्ध ने तो परिस्थिति और भी विषम बना दी है। विज्ञान ने, मानवता पर जो बलात्कार किया है उसका इतिहास मानव अपने ही हाथों लिखने पर बाध्य हो रहा है। फासिस्टवाद तथा नाज़ीवाद के खंडहरो से भयानक आवाजें आ रही हैं। चीन मे पहले तीस वर्षों से गृह-युद्ध चल रहा था जो अभी-अभी समाप्त हुआ और साम्यवाद की नीव पड़ी। जहाँ शान्ति है वहाँ गृह-युद्ध हो रहा है; और जहाँ-जहां असन्तोष की चिनगारियाँ हैं वे प्रज्वलित हो रही हैं। अमरीका की डालर-राजनीति रूबल-राजनीति से होड़

लेने पर कमर कसे तैयार है और प्राचीन यूनानी राक्षस हाइड्रा (जिसका एक सिर कटते ही दूसरे उसी क्षण उग आते हैं) समान जटिल प्रश्न उठते और बिगड़ते जा रहे हैं। एक देश दूसरे देश से उसी प्रकार प्रभावित हो रहा है जैसे शीतला से निरीह बालक। समय तथा दूरी, दोनों पर विज्ञान ने विजय प्राप्त कर ली है। लाखों मील की सैर घण्टों में हो जाती है। विज्ञान समुद्र-मन्थन कर चुका है, आकाश की सीमाएँ बाँध चुका है, नक्षत्रों की गणना कर चुका है और पृथ्वी की परिधि निश्चित कर चुका है।

इतना सब होते हुए भी आधुनिक समाज का मानव क्षुभित, दुःखित तथा उन्मादित है। और ऐसे वातावरण में लिखे हुए साहित्य की क्या सरलता से परख हो सकेगी? प्रतिदिन नित-नवीन वादों का जन्म हो रहा है। काव्य तथा काव्य-शैली, उपन्यास-कला, कथा-साहित्य, दुःखान्तकी, सुखान्तकी, एकांकी, गीत-काव्य, आलोचना-क्षेत्र, सभी में कुछ-न-कुछ प्रयोग रूप में लिखा जा रहा है। जो-जो आदर्श तथा जो-जो शैलियाँ पिछली शती में प्रचलित थीं उनका घोर विरोध हो रहा है। प्राचीन की परम्परा तोड़ दी गई है; नवीन स्थायित्व नहीं पा रहा है और मानव विज्ञान, मनोविज्ञान, मनस्तल-विज्ञान के आधार पर व्यक्तिवादी, बाह्यवादी, अन्तर्वादी, मनस्तलवादी, रूढ़िवादी तथा प्रगतिवादी शैलियों से अपने व्यथित भाव-संसार को व्यक्त करने का अथक परिश्रम कर रहा है।

आधुनिक मनुष्य के भाव-संसार में सबसे पहले नैतिक भावनाओं की समीक्षा आरम्भ हुई जिसके फलस्वरूप सामाजिक तथा नैतिक, राष्ट्रीय तथा आर्थिक पाखण्डों की खूब ही हँसी उड़ाई गई। पारिवारिक तथा व्यावसायिक आदर्शों को तर्क की कसौटी पर जाँचकर उनकी कमजोरियों पर तीव्र प्रकाश पड़ना आरम्भ हो गया है। इसके फलस्वरूप कला के रोमांचक सिद्धान्तों को गहरा धक्का लगा और यथार्थवाद की पूजा आरम्भ हुई। हास, परिहास, उप-हास, व्यंग्य के अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग बड़ी तत्परता तथा उत्साह से होने लगा। जीवन की सभी अनुभूतियों को साहित्य द्वारा व्यक्त करने का प्रयास श्रेयस्कर समझा जाने लगा जिसके फलस्वरूप यथार्थवाद तथा संकेतवाद को प्रश्रय मिला। कुछ विह्वल और विकल व्यक्ति छायावाद तथा रहस्यवाद के झूले में आँखें मूँद झूलने पर तत्पर हो गए। समस्त साहित्य-क्षेत्र वादों का अखाड़ा मात्र हो गया।

यथार्थवाद

इस युग का सबसे महत्त्वपूर्ण वाद यथार्थवाद है जिसका बोलबाला साहित्य में आजकल अत्यधिक

है। यद्यपि यथार्थ चित्रण की महत्ता सभी काल में रही है परन्तु जिस उत्साह तथा औत्सुक्य से आधुनिक युग ने इसे अपनाया है उसकी समता पिछले युगों से नहीं हो सकती। इस वाद के अनुयायी यह विश्वास करते हैं कि साहित्य में (काव्य, नाटक, उपन्यास इत्यादि) किसी विषय पर प्रतिबन्ध नहीं; विषय जो भी हो, जहाँ कहीं का भी हो, जैसा भी हो, साहित्यकार को उसे मुक्त हृदय से अपनाना चाहिए। भूख और दरिद्रता, पीड़ा और रोग, नग्नता तथा वासना—जीवन के वे दृश्य जिन्हें हम देखकर भी नहीं देखना चाहते; वे स्थल जहाँ पहुँचकर हम प्राणायाम करते हैं और रूमाल नाक पर रख लेते हैं—सभी साहित्याधार हो सकते हैं। सड़े मांस के लोथड़ों पर भिनभिनाती मक्खियाँ तथा चन्द्रिका की छटा, कच्ची नालियों पर बसे हुए घरों के फटे परदों से छन-छनकर आती हुई टिमटिमाती रोशनी तथा उषा की रक्ताभ लालिमा, कराहते हुए रोगी तथा नवदम्पति की रंगरलियाँ, गन्दे कफन में आधा लिपटा हुआ, अन्तिम यात्रा पर जाता हुआ मृत मानव तथा नव-जीवन ग्रहण करता हुआ नव-जात शिशु, सभी साहित्य की छत्र-छाया में विश्राम कर सकते हैं। सभी के द्वारा आनन्दानुभूति हो सकती है। अरस्तू का प्राचीन सिद्धान्त कि दुःखान्तकी के लिए श्रेष्ठ व्यक्ति—राजे-महाराजे, सेनानायक तथा राजकुमार ही—नायक रूप में रहेंगे आधुनिक युग में निकाल फेंका गया और उसके स्थान पर सभी श्रेणी के व्यक्तियों को नायक-नायिका बनने का अधिकार प्राप्त हुआ। प्रमाण रूप में यह कहा गया कि साधारण तथा निम्न वर्ग हमारे इतना पास है कि उसका प्रदर्शन हमें अत्यन्त गहरे रूप में प्रभावित करेगा; परन्तु उच्च वर्ग का जीवन हमसे इतनी दूर है कि उसका कल्पनात्मक अनुभव ही सम्भव होगा। वे हमारे हृदय को नहीं छू पायँगे। उपन्यास, कथा-साहित्य, सुखान्तकी तथा एकांकी में भी प्रयुक्त होने वाले विषयों पर से समस्त प्रतिबन्ध हटा दिये गए हैं।

संकेतवाद

यथार्थवाद तथा संकेतवाद, दोनों में गहरा सम्बन्ध है; दूसरा पहले से ही आविर्भूत है। यथार्थ की यथार्थता से, कभी-कभी क्या, प्रायः ऐसा होता है कि हम ऊब उठते हैं। हम यह सोचते हैं कि यथार्थ को तो हम भुगत ही रहे हैं, कभी कुछ और सोचकर भी तो देखते कि कैसा लगता है। यथार्थ की अनुभूति एक-न-एक दिन हमसे ऐसा आग्रह करती है कि हम उसे भूल जायँ और चाहे थोड़ी ही देर के लिए क्यों न हो एक ऐसे स्थान पर अपनी दृष्टि गड़ा दें जहाँ यथार्थ अपनी चोट न दे सके। जिस प्रकार झूठ बोलता हुआ बालक,

इकन्नी अपने मुँह में रखकर कहता है हमने नहीं ली उसी प्रकार हम भी यथार्थ से दूर किसी संकेत को अपनी आँखों की कोरों में दबाकर अपने को भुलावा देना चाहते हैं।

साहित्य-विषयक विचार : छन्द-प्रयोग

प्राचीन, मध्य तथा रोमांचक काल की अपेक्षा तो आधुनिक युग मे काव्य-शैली में महान् अन्तर प्रस्तुत हुआ है। छन्द, लय, टेक, अलंकार तथा शब्द-प्रयोग में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गए हैं। उन्नीसवीं शती के आलोचको ने छन्द को आवश्यक न कहते हुए भी काव्य मे उसका प्रयोग फलप्रद प्रमाणित किया और जो कविवर्ग छन्द-प्रयोग में पटु हुआ उसकी प्रशंसा की। आधुनिक युग ने पुनः छन्द का बहिष्कार किया और उसे काव्य के लिए अहितकर समझा; यही नहीं, उन्होंने मुक्तक छन्द ही नहीं बनाए वरन् स्वतन्त्र पंक्तियों मे काव्य-निर्माण आरम्भ कर दिया। छन्द के विरोध तथा स्वतन्त्र पद्य-शैली के समर्थन मे उन्होने यह तर्क प्रस्तुत किया कि जब हम छन्द मे सोचते नहीं, कल्पना नहीं करते और उसका हमारे विचार-संसार मे कोई स्थान नहीं तो लिखित काव्य में उसका प्रयोग क्यो हो? इसके साथ-साथ जब हमारे विचार मनमाने रूप मे आते हैं, कोई विस्तृत होता है तो कोई केवल झलक मार जाता है; कोई अनेक विचारो का आधार बन जाता है, तो हमारी लिखी हुई पंक्तियाँ उसी रूप, उसी विस्तार तथा उसी व्यवस्था की प्रतिरूप क्यो न हो? शब्दो द्वारा, कृत्रिम रूप में, प्रस्तुत लय भी अस्वाभाविक है; वास्तव में हृदयग्राही वही लय होगा जो हमारी आन्तरिक अनुभूति का प्रतिरूप हो अथवा वर्णनात्मक काव्य मे, बाह्य रूप से प्रकाशित लयों का प्रतिरूप हो। रेलगाड़ी पर लिखी हुई कविता में उसके पहियों की गति प्रतिध्वनित होनी चाहिए; उड़ते हुए पक्षी पर लिखी कविता मे उसके डैनों की फड़फड़ाहट का आभास मिलना चाहिए।

कला का आदर्श

काव्यादर्श तथा कलादर्श मे भी काफी विषमता फैली है। एक ओर यह कहा जा रहा है कि कला की सफलता कला के नैसर्गिक सिद्धान्तो की पूर्ति ही में है; उसका अन्य कोई प्रयोजन नहीं। दूसरी ओर यह सिद्धान्त रखा जा रहा है कि कला जब तक जीवन की अभिव्यंजना करके जीवन की अनुभूति नहीं देती, कला कही जा नहीं सकती। तीसरी ओर वर्ग-संघर्ष का प्रकाश ही कलादर्श माना जा रहा है और प्रमाण मे यह कहा जा रहा है कि जब कला जीवन के लिए है और वर्ग-संघर्ष जीवन का प्रधान तत्त्व है तो कला का वही

प्रधान ध्येय भी होना चाहिए।

आलोचनादर्श—जिसकी ऐतिहासिक प्रगति का लेखा हमने पिछले प्रकरणों में प्रस्तुत किया है—परिवर्तित होता जा रहा है और आलोचना धीरे-धीरे सौन्दर्यानुभूति-शास्त्र के अन्तर्गत अपना नीड़-निर्माण कर रही है। रोमांचक आलोचना-प्रणाली की उच्छृङ्खलता के विरोध में नियमों को यदा-कदा प्रश्रय मिलने लगा है। परन्तु यह अब तक मान्य है कि आलोचना का मुख्य लक्ष्य साहित्य को प्रेमपूर्वक हृदयंगम करके श्रेष्ठातिश्रेष्ठ विचारों तथा भावों का अविरल प्रसार करना है। अन्य आलोचना-प्रणालियों का सैद्धान्तिक तथा विस्तृत विवेचन हम सैद्धान्तिक खण्ड में प्रस्तुत करेंगे।

द्वितीय खण्ड

•

सिद्धान्त

१

सिद्धान्त-निर्माण के आधार

: १ :

आलोचना-प्रवृत्ति की व्यापकता

आलोचना का क्षेत्र प्रायः अत्यन्त व्यापक समझा जाता है। ऐसा स्वाभाविक भी है, क्योंकि आलोचना का सम्बन्ध हमारी रुचि तथा हमारे हृदय से ही है। जीवन में पग-पग पर हमें आलोचना के दर्शन होते हैं और प्रतिक्षण हम अपनी आलोचनात्मक शक्ति का परिचय अनेक रूपों में दिया करते हैं। मुझे अमुक वस्तु पसन्द है, अमुक वस्तु रुचिकर नहीं; अमुक व्यक्ति अच्छा है, अमुक व्यक्ति अत्यन्त शुष्क है, इसी प्रकार का निर्णय हम सदैव देते रहते हैं। कला के सम्बन्ध में तो यह बात और भी अधिक मात्रा में लागू होगी, क्योंकि कला तथा हमारी रुचि और हमारे हृदय में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। पाठकवर्ग बिना इस बात की परवाह किये कि पुस्तक उनकी नही पुस्तकालय की है, वे पुस्तक को सुन्दर नहीं बना रहे वरन् गन्दी कर रहे हैं, अनेक स्थलों पर अपनी रुचि का परिचय टिक-मार्क लगाकर अथवा अच्छा-बुरा लिखकर दिया करते हैं। जो-कुछ भी उन्हें रुचिकर नहीं उसे देख-कर उनकी नाक-भौं सिकुड़ने लगेगी और जो-कुछ रुचिकर होगा उसे प्रत्यक्ष देखते ही वे 'साधुवाद!' अथवा 'धन्य है!' कह उठेंगे।

समय की गति के साथ-साथ आलोचना का क्षेत्र भी विकसित हुआ। आदि-काल से आज तक आलोचना का इतिहास देखने के पश्चात् कदाचित् यह कहना पड़ेगा कि प्रत्येक युग ने अपने मनोनुकूल तथा आवश्यकतानुसार अपनी आलोचना-प्रणाली निर्मित कर ली और उसी के आधार पर साहित्य के सभी अंगो की परख की। काव्य, नाटक, भाषण-शास्त्र इत्यादि की आलो-चना सभी युगों में होती आई है। यूनानी आलोचक अरस्तू ने जब आलोचना लिखनी आरम्भ की तो उनके सम्मुख काव्य, नाटक तथा गीत के अनेक उदा-

हरण प्रस्तुत थे। उसी प्रस्तुत सामग्री के आधार पर उन्होंने अपना आलोचना-शास्त्र निर्मित किया। अरस्तू के समय में काव्य का केवल एक ही रूप था—वह था सामाजिक रूप। काव्य उनके और उनके युग के लिए पढ़ने की वस्तु नहीं थी; वह थी गायन की वस्तु। गायन ही नहीं, उसके लिए नृत्य तथा वाद्य भी आवश्यक था। इसलिए उनके लिए यह भी आवश्यक हुआ कि वे कविता को ऐसे ढाँचे में ढालते जिससे गायन तथा नृत्य में सुविधा होती; फलतः उन्होंने ऐसे छन्द भी चुने जो सहज ही गायन की लय में घुल-मिल जाते। अरस्तू के लिए महाकाव्य केवल ऐसी पुस्तक नहीं जो हजार पृष्ठों में लिखी गई हो और जिसमें अनेक छन्दों का प्रयोग हुआ हो; उनकी दृष्टि में गीत-काव्य तुकान्त अथवा अतुकान्त पंक्तियों में लिखी हुई छोटी कविता नहीं। महाकाव्य उनके लिए रंगमंच पर प्रदर्शित करने के लिए और गीत गायन तथा नृत्य के साथ-साथ प्रदर्शन के लिए है। इस दृष्टि से यदि हम अपने काव्य तथा गीत की परिभाषा देखें तो हमें जमीन-आसमान का फर्क मिलेगा। हमारे लिए काव्य-अध्ययन की वस्तु है; वह पुस्तक अथवा पुस्तका-लय के रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत रहती है और हम समय व्यतीत करने अथवा लोकोपयोगी ज्ञानार्जन के लिए ही उसका प्रयोग करते हैं। मध्यकालीन युग तक साहित्य का यह प्राचीन रूप जीवित रहा, परन्तु मुद्रण-कला के आविष्कार तथा मुद्रणालयों की स्थापना होते ही उसका सम्पूर्ण स्वरूप ही परिवर्तित हो गया। जब तक यूनानी तथा मध्यकालीन युग की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ जीवित तथा प्रचलित रहीं, आजकल की आलोचना-शक्ति पल्लवित-पुष्पित न हो सकी। जिस विस्तृत रूप में हम आजकल आलोचना करते हैं वह उस काल में असम्भव थी। उदाहरण के लिए यदि यह कल्पना की जाय कि यदि मुद्रणालय न होते और मुद्रण-कला से लोग अनभिज्ञ रहते तो शेक्सपियर-सम्बन्धी अथवा रासो, तुलसी, कबीर तथा सूर-सम्बन्धी अनु-सन्धानों की क्या दशा होती। शेक्सपियर पर जो हजारों ग्रन्थ लिखे गए उनकी कहीं छाया भी न मिलती और उनके नाटकों का ज्ञान या तो हमें कुछ नाटककारों के पास जो लुकी-छिपी प्रतियाँ रहतीं उनसे मिलता अथवा रंगमंच पर प्रदर्शित नाटकों द्वारा प्राप्त होता। इसी प्रकार गीत-काव्य हमें वास्तविक गीतों के रूप में ही दिखाई देता; निर्जीव शब्दों के रूप में उसका दर्शन दुर्लभ ही होता। मुद्रणालयों ने साहित्य को निर्जीव तथा अस्वाभाविक-सा बना दिया है और साहित्य की सामाजिक आत्मा निष्प्राण-सी हो गई है। मध्यकालीन वातावरण का पुनर्निर्माण कठिन ही नहीं वरन् ऐसी परिस्थिति

में असम्भव-सा हो गया है। साहित्य का वह स्वरूप तो हमे स्वप्न में भी देखने को नहीं मिलता। हम केवल मशीन के समान वैयाकरण, दर्शनवेत्ता, मनोवैज्ञानिक इत्यादि के अनेक रूप मे उसकी परख किया करते हैं। कहाँ तो वह दिन था जब एक व्यक्ति अपने कुछ साथियों को लेकर गायन, नृत्य तथा वाद्य द्वारा श्रोताओं तथा दर्शकों को मन्त्रमुग्ध-सा रखता था; अब एक यह दिन है जब हम कोश लिये शब्दों के अर्थ, वाक्यों का विन्यास तथा अलंकारों के अर्थ समझने में व्यस्त हैं। हमारे सम्मुख छपे हुए कागजों का अम्बार लगा है जिसमें प्रकाशक के वक्तव्य से लेकर परिशिष्ट तक मुद्रणालयों की कृपा के फल-मात्र हैं। हत भाग्य से हम साहित्य की आत्मा को हृदयंगम करना चाहते हैं, परन्तु हमारा प्रयत्न विफल ही रहता है।

आलोचना का साहित्यिक जन्म

प्राचीन काल से लेकर आज तक जिस-जिस रूप मे आलोचना का प्रयोग तथा प्रकाश हुआ उसका इतिहास भी कम रोचक नहीं। सोलहवीं शती से ही इसका श्रीगणेश समझना चाहिए। एक ओर तो मुद्रण-कला का आविष्कार और दूसरी ओर पुनर्जागरण-काल में प्राचीन साहित्य की ओर जो सुरुचि पैदा हुई दोनों ने मिलकर आलोचना-साहित्य का बीजारोपण किया, परन्तु मध्य-युग में आलोचना न तो क्रियात्मक साहित्यकारों द्वारा लिखी गई और न उन लोगों ने ही लिखा जिनसे उनका सम्पर्क रहा। हाँ, यह कभी-कभी अवश्य होता रहा कि कविवर्ग अपनी रचना-सम्बन्धी दो-चार आलोचनात्मक टुकड़े इधर-उधर जोड़ दिया करते थे। इनका महत्त्व गौण ही रहा करता था। परन्तु सोलहवी शती के प्रथम चरण में अरस्तू तथा हारेस के आलोचनात्मक सिद्धान्त खोज निकाले गए। पुनर्जीवन-युग के इन आलोचकों का केवल यही प्रमुख उद्देश्य था कि लेखकों की शिक्षा-दीक्षा कैसी हो और जो-जो सिद्धान्त उन्होंने निर्मित किये उन सबमें मूल लेखकों की संकुचित दृष्टि तथा सिद्धान्त-निर्माण की उतावली का अच्छा-खासा परिचय प्राप्त होता है। प्रायः सभी आलोचकों का विश्वास-सा प्रतीत होता है कि साहित्य-रचना सिखलाई जा सकती है और जो व्यक्ति सिद्धान्तों को पूर्णतः हृदयंगम कर लेगा सहज ही कलाकार बन जायगा। कदाचित् इससे बढ़कर किसी अन्य भ्रामक सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं हो सकता।

कवि की शिक्षा-दीक्षा का महत्त्व

वास्तव में आलोचक पर यह उत्तरदायित्व रखना कि वह अपनी शिक्षा द्वारा लेखकों तथा कलाकारों की सृष्टि करे ठीक नहीं। कहीं-कहीं तो आलोचना तथा

आलोचक की उपस्थिति कलाकार के लिए घातक भी सिद्ध होगी। प्रायः यह भी देखा गया है कि जब-जब कलाकारों के सम्मुख कोई साहित्यिक नमूना आदर्श-रूप में रखकर उनसे यह कहा गया कि उसी के अनुरूप वे भी रचना करें तो उन्हें सफलता नहीं मिली; सफलता तभी मिली जब नमूना उनके सामने से हटा लिया गया और उन्हें स्वतन्त्र कर दिया गया। परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि अध्ययन तथा अनुकरण से कलाकार को सहायता अवश्य मिलेगी, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि बिना इस सुविधा के कलाकार कलाकार ही नहीं हो सकता। कला के निर्माण में आलोचना के सिद्धान्तों का सम्यक् ज्ञान आवश्यक नहीं।

आदर्श कृतियों के अनुकरण से हानि

साहित्य के अध्ययन तथा आलोचना-शास्त्र के पारायण के बाद यह सत्य दृष्टिगोचर होता है कि कलाकारों की यह उत्कट इच्छा रही कि वे किसी विशेष प्रकार की रचना करें जिसकी प्रशंसा तथा लिखने की कठिनाई दोनों पर आलोचना-शास्त्र ने प्रकाश डाला है। फलतः कलाकारों में एक प्रकार की उच्चाकांक्षा उपजी, जिससे प्रेरित होकर उन्होंने एक विशेष प्रकार की रचना का भार वहन किया; जिसे आलोचना-शास्त्र ने सराहा। इस प्रयास का फल साधारणतः अच्छा तो नहीं हुआ मगर जहाँ लेखक में नैसर्गिक प्रतिभा थी वहाँ श्रेष्ठ साहित्य की रचना सम्भव भी हुई। अंग्रेजी काव्य-साहित्य के इतिहास मे एक ऐसा समय आया जब लेखकों को यह आभास मिला कि जो-जो साहित्य-निर्माण के नियम यूनानी आलोचक अरस्तू ने बनाए, यदि उनके अनुसार रचना की जायगी तो वह श्रेष्ठ तथा श्रेयस्कर होगी। इस उच्चाकांक्षा से प्रेरित होकर लेखकों ने महाकाव्यों तथा लम्बी-लम्बी कविताओं की रचना आरम्भ की। परन्तु सफलता एक-आध को ही मिली, और अधिकतर लेखकों की नैसर्गिक प्रतिभा कुण्ठित हुई। ऐसी अवस्था मे हम आलोचक को ही दोषी ठहराएँगे, क्योंकि उसने साधारण साहित्यकार के सम्मुख एक ऐसी मृगतृष्णा का निर्माण किया जिसके पीछे साहित्यकार सब-कुछ भूलकर भागता रहा और अन्त में उसे सन्तोष नहीं मिला। इसके विपरीत यदि उपन्यास-साहित्य को लिया जाय तो दूसरी ही बात दिखाई देगी। यूनानी आलोचकों के सम्मुख एक भी उपन्यास नहीं था; वह उपन्यास का युग न होकर काव्य का ही युग था। फलतः उन्होंने कोई भी उपन्यास-सम्बन्धी नियम नहीं बनाए और इस विषय पर कोई आलोचना नहीं लिखी गई। इसका फल यह हुआ कि आलोचना के नियम न होने के कारण लेखकों ने अपनी नैसर्गिक प्रतिभा

पर ही भरोसा किया और सैकड़ों शैलियाँ ढूँढ निकालीं; सैकड़ों विषय खोज निकाले और उनकी कल्पनात्मकता तथा प्रतिभा को सीमाबद्ध नहीं रहना पड़ा। आलोचना-शास्त्र की सबसे बड़ी न्यूनता यही रही है कि जहाँ उसके द्वारा कुछ श्रेष्ठ लेखकों को प्रोत्साहन तथा प्रेरणा मिली अनेक लेखकों को उसकी सीमाओं का शिकार बनना पड़ा और विफलता देखनी पड़ी।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि साधारणतः आलोचक और आलोचना, क्रियात्मक साहित्यकार के लिए उलझनें पैदा करते हैं और उसकी क्रियात्मकता पर चोट पहुँचाते हैं। क्रियात्मक कलाकार के लिए आलोचना शास्त्र से अनभिज्ञ रहना ही श्रेयस्कर होगा। कभी-कभी अज्ञान भी बड़े काम की चीज साबित होता है। अधकचरे ज्ञान से तो अज्ञान कहीं अच्छा होगा। साथ-साथ सम्पूर्ण ज्ञान भी हितकर नहीं, क्योंकि उसके द्वारा आत्म-विश्वास पर धक्का लगता है; पग-पग पर कलाकार को भय रहता है कि अमुक नियम की अवहेलना तो नहीं हो रही, अथवा अमुक नियम का पूर्णतः पालन हुआ या नहीं। और जब कलाकार आत्म-विश्वास खोकर नियमों के हाथ का खिलौना-मात्र हो जाता है तो उसका विरचित साहित्य नीरस तथा निष्प्राण हो जायगा, इसलिए क्रियात्मक कलाकार को अपनी नैसर्गिक प्रतिभा पर ही विश्वास करके साहित्य-रचना में संलग्न होना चाहिए। अपनी प्रेरणा के अतिरिक्त किसी अन्य शक्ति का अनुशासन उसके लिए हितकर नहीं, क्योंकि साहित्य तथा कला का इतिहास इसका साक्षी है कि आलोचना-प्रणालियाँ, जो समय-समय पर प्रचलित रहीं, साहित्यकार के पैरों में बेड़ियाँ डालती रहीं; और वही साहित्यकार सही अर्थ में साहित्य-निर्माता हुआ जिसने ये बेड़ियाँ तोड़ फेंकीं; वही कलाकार श्रेष्ठ कहलाया जिसने अपने नियम स्वतः बनाए। इस तथ्य का एक और भी साधारण प्रमाण मिलेगा, परन्तु इसके लिए हमे एक प्रश्न-विशेष का उत्तर ढूँढना पड़ेगा—और वह प्रश्न है, साहित्यकार पहले जन्मा अथवा आलोचक। साधारणतः यही कहना पड़ेगा कि साहित्यकार ही पहले आया। परन्तु दूसरे उत्तर मे भी कुछ सत्य का आभास अवश्य मिलेगा और वह उत्तर होगा, साहित्यकार पहले जन्मा तो अवश्य, परन्तु उसमें आलोचक की आत्मा निहित थी। परन्तु आलोचक की आत्मा तथा आलोचना के नियमों अथवा पद्धतियो मे जमीन-आसमान का फर्क दिखाई देगा।

: २ :

साधारणतया साहित्य-क्षेत्र दो भागों में बाँटा गया है, जिनमें पहला

आलोचना का क्षेत्र है उपयोगी साहित्य और दूसरा ललित साहित्य। उपयोगी साहित्य का प्रधान लक्षण होना चाहिए ज्ञान का विकास तथा विस्तार; और ललित साहित्य का लक्ष्य होना चाहिए नैतिक तथा आत्मिक उत्थान। परन्तु इन दोनो वर्गों में इतनी समानता तथा इतना सामंजस्य है कि दोनों की सीमाएँ निश्चित करना कठिन है। पुस्तकालयों पर साधारण दृष्टि डालकर हम यह देख सकते हैं कि दोनों वर्गों के बीच में ऐसी अनगिनत पुस्तकें हैं जिनको हम दोनों वर्गों में रखने पर बाध्य होंगे। इस कठिनाई को सुलझाने के लिए एक पश्चिमी आलोचक ने साहित्य के इन दोनों वर्गों का पुनः नामकरण किया। पहला वर्ग कहलाया ज्ञानात्मक और दूसरा प्रेरणात्मक। जैसा कि पहले वर्गीकरण से स्पष्ट है ज्ञानात्मक साहित्य का उद्देश्य भी ज्ञान-विज्ञान का प्रसार था, परन्तु दूसरे वर्ग का आदर्श हमारे जीवन को प्रेरणा देना था, उसके अनुभव-संसार को परिपूर्ण करना था, उसे तरंगित करना तथा उसे मानवी शक्ति प्रदान करना था। इस वर्गीकरण की मान्यता आज तक बनी हुई है और इसके अनुसार अर्थ-शास्त्र तथा दर्शन, धर्म तथा विज्ञान-सम्बन्धी पुस्तकें, इतिहास, जीवन-चरित्र, राजनीति इत्यादि सम्बन्धी रचनाएँ—जिनके सहारे हम अपनी जिज्ञासा-पूर्ति करते हैं, तर्क तथा वादविवाद करके अपने-अपने मत का समर्थन करते हैं; और अपना ज्ञान-कोष भरापूरा बनाते हैं—उपयोगी साहित्य कहलाती हैं और काव्य तथा अन्यान्य कला-सम्बन्धी रचनाएँ तथा कृतियाँ ललित साहित्य कहलाती हैं। प्रथम वर्ग की रचनाओं की जो भी आलोचना होगी वैज्ञानिक तथा दार्शनिक आलोचना कहलाएगी और उसका ध्येय होगा तर्क-संगत सिद्धान्त-निरूपण। यह आलोचना-प्रणाली तर्क तथा पार्थिव सत्यता की कसौटी पर सबको कसेगी और इन्हीं के आधार पर अपना निर्णय प्रस्तुत करेगी। वह इन रचनाओ में प्रकाशित विचारो तथा तर्क को परखेगी, उन पर विचार करेगी और प्रमाणों की विवेचना करके उनकी सत्यता तथा असत्यता पर प्रकाश डालेगी। इसके विपरीत काव्य, नाटक, उपन्यासादि तथा अन्यान्य कला-सम्बन्धी आलोचना साहित्यिक आलोचना कहलाएगी। साहित्यिक आलोचना ललित साहित्य-क्षेत्र में सीमाबद्ध है। ललित साहित्य का अपना क्षेत्र अलग है; उपयोगी साहित्य के विषय मे हम जो प्रयोग लागू कर आए है इस पर प्रयुक्त नहीं होंगे। उपयोगी साहित्य तर्क की कसौटी पर कसा गया, उसमें प्रकाशित तथ्यों की सत्यता तथा असत्यता की विवेचना की गई परन्तु ललित साहित्य तर्क तथा विश्लेषण के परे रहेगा; वे उसे किंचित्-मात्र भी नहीं परख सकेंगे।

उसकी आलोचना तो हृदय तथा सहज ज्ञान द्वारा ही हो सकेगी। कल्पना तथा सौन्दर्यात्मक शक्ति के द्वारा ही हम उसकी आत्मा की पहचान कर सकेंगे। इसका यह तात्पर्य नहीं कि ललित साहित्य का सम्बन्ध न तो तर्क से है और न सत्य से; दोनों से उसका अटूट सम्बन्ध है और दोनो की वह अवहेलना नहीं करता। परन्तु यह सम्बन्ध बाह्य न होकर आन्तरिक होता है और बहिर्जगत् में रहकर हम उसके सम्बन्ध को नहीं समझ पाएँगे। उपयोगी तथा ललित साहित्य दोनों ही सत्य-पदानुरागी हैं। दोनो ही सत्य की खोज में निकलते हैं और दोनो ही विभिन्न मार्गों से उसके दर्शन करते हैं—विभिन्नता केवल दृष्टिकोण में है। उपयोगी साहित्य निर्णयात्मक शक्ति के सहारे सत्य-पथ पर आ लगता है और ललित साहित्य सहज ज्ञान के पंखों पर उड़ता हुआ अपने वांछित ध्येय को प्राप्त कर लेता है। विज्ञानज्ञ तथा कलाकार का विवेचन विभिन्न तो अवश्य होता है परन्तु लक्ष्य दोनों का समान होता है—पहला बहिर्जगत् में खड़े-खड़े तर्क की मर्यादा-रक्षा करते हुए अन्तर्जगत् में जा पहुँचता है और दूसरा कल्पना तथा प्रेरणा के सहारे बिना किसी बाह्य-साधन के अन्तर्जगत् में प्रवेश पा लेता है।

इस प्रसंग में सबसे अद्भुत बात तो यह है कि विज्ञानज्ञ का विवेचन पग-पग पर कलाविद् के विवेचन-क्षेत्र में आने का प्रयत्न करता रहता है। कलाकार की विवेचना तथा उसकी शैली उसको अभूतपूर्व रूप से आकर्षित किया करती है और वह यथासम्भव अपने लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए उसके कुछ-एक गुणों को अपना ही लेता है। कलाकार की कल्पना, उसकी आकर्षक शैली, उसका हृदयग्राही वस्तु-प्रतिपादन विज्ञानज्ञ को क्यो आकर्षित करते हैं? वह अपने कथन को सीधे रूप मे न कहकर उसे क्यो अलंकृत करना चाहता है? इन प्रश्नों का उत्तर सरल है और साधारण मनोविज्ञान इसका हल प्रस्तुत कर देगा। सौन्दर्य-प्रेमी होने के नाते ही विज्ञानज्ञ और इतिहासकार तथा जीवन-चरित्र-लेखक कलाकार के क्षेत्र मे आने की यथासम्भव इच्छा किया करते हैं। इसीलिए जैसा हम पहले संकेत दे चुके हैं दोनों वर्गों (उपयोगी तथा ललित) का साहित्य अनेक अंशों में घुलने-मिलने का प्रयत्न किया करता है और आलोचक भी उपयोगी साहित्य की आलोचना में वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक रीति न अपनाकर साहित्य-रीति का अनुसरण करने पर विवश हो जाता है। यह कथन भ्रामक है कि साहित्यिक आलोचक का उपयोगी साहित्य-क्षेत्र से कोई सम्बन्ध नहीं। उसका सम्बन्ध तो प्रमाणित है, मगर तभी जब उपयोगी साहित्य अपनी मर्यादा छोड़कर ललित साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण

करने पर तत्पर हो जाता है। ज्यों ही यह चेष्टा प्रकट होगी ललित साहित्य का समालोचक उसे अवश्य अपनाएगा।

इसके साथ-साथ कभी-कभी हम साहित्य के इतिहासकार तथा साहित्य के आलोचक के विषय में भ्रम में पड़ जाते हैं और साहित्यिक इतिहास-लेखक को आलोचक की पदवी दे बैठते हैं। इसके कारण आलोचना-क्षेत्र मे वैषम्य आ जाता है। यदि कोई लेखक तुलसीदास-कृत 'रामायण' की अनुक्रमणिका बनाए, सूर के पदों का पाठ शुद्ध करे अथवा जायसी की कविता में अवधी के अनेक रूप ढूँढे अथवा शेक्सपियर के नाटकों की प्रकाशन-तिथि निश्चित करे अथवा रस-शास्त्र पर लेखकों की सूची तैयार करे तो वह आलोचक कहलाने का अधिकारी नहीं। हाँ सम्पादक, संकलनकर्ता, इतिहासकार इत्यादि नाम पाने का वह अधिकारी है। उसी प्रकार सत्-समालोचक यदि तुलसी की आत्मा को परखता है, सूर के हृदय तक पहुँचता है और शेक्सपियर के निर्मित पात्रों के मानवी चरित्र के द्वन्द्व को पूर्णतया हृदयंगम कर लेता है तो वह इतिहासकार नहीं, और न वह सम्पादक ही कहलाएगा। उसे तो केवल सत्-समालोचक की पदवी से सन्तुष्ट रहना पड़ेगा। परन्तु साधारणतः हम साहित्य के इतिहासकार अथवा संकलनकर्ता पर आलोचक का भार डाल देते है; उससे यह आशा करते हैं कि वह हमें कवियो के हृदय तक पहुँचाएगा और साहित्य की आत्मा का दर्शन कराएगा। इसमें वह विफल रहता है और हम असन्तुष्ट रहते हैं। और यदि हम सन्तुष्ट हो भी गए तो पथभ्रष्ट अवश्य हो जायँगे। ऐसी परिस्थिति मे हम न तो साहित्य के पुजारी हो पाएँगे और न साहित्य की ऐतिहासिक प्रगति का ही ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

आलोचना का क्षेत्र ललित साहित्य-समालोचना से सीमित होते हुए भी अनेक रूप में व्यापक है; इस व्यापकता में ही उसका महत्त्व है, गौरव है।

आलोचक तथा साहित्यकार का सम्बन्ध

साहित्य-क्षेत्र में काव्य तथा गद्य और इनके अन्तर्गत नाटक तथा उपन्यासादि वर्गों की महत्ता बहुत काल से चली आई है, परन्तु इस सम्बन्ध में सबसे आश्चर्य-जनक तथा महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जब-जब हमने काव्य, नाटक अथवा उपन्यास के तत्त्वो को परखने तथा समझने का प्रयत्न किया हमने न तो कवि की सहायता ली, न नाटककार के पास गये और न किसी उपन्यासकार का ही सहारा ढूँढ़ा, वरन् इसके विपरीत हम एक दूसरे वर्ग के व्यक्ति के पास गये जिसे हम आलोचक के नाम से पुकारते आए हैं। आश्चर्य तो इस बात पर है कि जब हम भविष्य के प्रति

उत्सुक होते तथा नक्षत्रों की गति समझना चाहते तो ज्योतिषी की शरण जाते, जब किसी भवन का निर्माण करना चाहते तो मूर्तिकार तथा वास्तुकार से परामर्श लेते और जब सामुद्रिक बेड़ों का निर्माण करते तो यन्त्रकारों की सभा का आयोजन करते, परन्तु जब हम कविता तथा नाटक और उपन्यास की श्रेष्ठता अथवा हीनता का निर्णय करना चाहते हैं तो न तो कवि को पूछते हैं, न नाटककार को बुलाते हैं और न उपन्यासकार पर ही विश्वास करके उससे परामर्श लेते हैं, वरन् जाते हैं आलोचक के पास, जो स्वतः न तो कवि है, न नाटककार और न उसने कोई उपन्यास ही लिखे हैं। इस वैषम्य की परम्परा कब से स्थापित हुई और उसकी प्रगति कब और कैसे हुई इसका लेखा हम अन्यत्र दे चुके हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में विचारणीय बात यह है कि जो मान्यता हम आलोचकवर्ग को प्रदान कर चुके हैं वह आज तक बनी हुई है और हम यह उनका धर्म समझने लगे हैं कि वे हमे साहित्य की आत्मा का परिचय दें, उसके तत्त्वों का विश्लेषण करें और उसकी श्रेष्ठता अथवा हीनता पर अपना निर्णय दें। इसी परम्परा के अनुसार प्राचीन काल से लेकर आज तक आलोचकवर्ग साहित्य-क्षेत्र का श्रेष्ठ तथा मान्य निर्णायक रहा है; उनका एक अलग वर्ग-सा बन गया है और साहित्य का विद्यार्थी साहित्यिक प्रश्नों का हल इसी वर्ग पर छोड़ देता है। उसे यह कभी ध्यान ही नहीं आता कि आलोचकवर्ग साहित्यकार नहीं; परन्तु वह उनके निर्णय से पूर्णतया सन्तुष्ट रहता है।

इस आलोचकवर्ग के प्रति कवियों तथा साहित्यकारो की क्या-क्या भावनाएँ रही और समय-समय पर उनसे किस प्रकार तथा किस स्तर पर वादविवाद उठ खड़ा हुआ इसका अध्ययन अत्यन्त रोचक होगा। जब-जब आलोचकों ने अपना निर्णय किसी साहित्यकार की कृति के सम्बन्ध में प्रदान किया तब-तब साहित्यकारों ने या तो उनका निर्णय मानकर अपनी भूल स्वीकार की या अपने पक्ष के समर्थन में अपने सिद्धान्तों को और भी स्पष्ट किया या क्रोधवश अपनी मर्यादा-रक्षा के लिए आलोचकों की घोर निन्दा की और उनसे वादविवाद आरम्भ कर अपने मत का समर्थन किया। सभी देशो के आलोचनात्मक साहित्य के इतिहास मे उपर्युक्त परिस्थितियो के अनेक उदाहरण मिलेंगे। अंग्रेज़ी साहित्य मे, अठारहवीं शती उत्तरार्द्ध तथा उन्नीसवीं के पूर्वार्द्ध में कुछ ऐसी पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगी थीं जिनमें सामयिक साहित्य-समीक्षा होती थी। प्राचीन तथा रूढिवादी दृष्टिकोण के आलोचक राजनीतिक दलबन्दी मे भाग लेने के कारण नवीन दृष्टिकोण अपनाने वाले साहित्यकारों तथा कवियों की कृतियो की आलोचना अत्यन्त विषम रूप में करते, उन पर व्यंग्य-बाण बरसाते

और प्रायः कवि की कृति को भूलकर उसके व्यक्तित्व पर छींटे कसते। रोमांचक युग[1] के प्रसिद्ध कवि वर्ड्सवर्थ की जब एक श्रेष्ठ रचना प्रकाशित हुई तो आलोचक वर्ग ने उसकी आलोचना करते हुए कहा—'मिस्टर वर्ड्सवर्थ, इन सब सडियल चीजों से काम नहीं चलेगा।' प्रसिद्ध कवि कीट्स को तो आलोचकों ने इतनी मार्मिक चोट पहुँचाई कि उनका स्वास्थ्य और भी बिगड़ता गया और वे शीघ्र ही काल-कवलित हुए। एक अत्यन्त कल्पनापूर्ण तथा श्रेष्ठ कृति की आलोचना करते हुए एक पत्रकार ने उनके व्यक्तित्व पर आघात करते हुए लिखा—'मिस्टर कीट्स,[2] जाइए, जाकर अत्तार की दुकान पर गोलियाँ बनाइए और मरहम तैयार कीजिए।' परन्तु जब इन्हीं आलोचकों ने कवि बायरन[3] की रचनाओं को हीन प्रमाणित करने का प्रयास किया तो बायरन की प्रतिभा और भी जागृत हुई और उन्होंने एक लम्बी कविता में उनकी खूब खबर ली और आलोचक मैदान छोड़ भागे। हिन्दी-साहित्य में श्री अवध उपाध्याय तथा स्वर्गीय प्रेमचन्द के विषम आलोचनात्मक द्वन्द्व[4] की कहानी से हिन्दी के सभी पुराने पाठक परिचित होंगे। यूनानी साहित्यकारों की गोष्ठियों में अनेक रचनाओं पर व्यंग्य-बाण बरसाना तो साधारण बात थी, जिनके उदाहरणों की कमी नहीं। यूनानी नाटककार साफोक्लीज, एरिस्टॉफेनीज़ तथा यूरिपाइडीज के नाटकों में ऐसे प्रचुर स्थल हैं जहाँ एक-दूसरे के आदर्शों तथा सिद्धान्तों की कटु आलोचना हुई है। इसके विपरीत अनेक साहित्यकार ऐसे भी हुए हैं जिन्होने आलोचको तथा उनकी कला की प्रशंसा की और उनके महत्त्व को प्रमाणित करने के लिए कुछ उठा न रखा। इस वर्ग के साहित्यकारो ने आलोचकों की विद्वत्ता, ज्ञान तथा नैसर्गिक प्रतिभा की प्रशंसा की, उनको दैवी अनुभूतियो से प्रेरित समझा और उन्हें साहित्यकारों तथा कवियो के समकक्ष रखकर उनकी सराहना की।

आलोचक तथा साहित्यकार का द्वन्द्व

आलोचकों तथा साहित्यकारों का यह विषम द्वन्द्व कब से आरम्भ हुआ और उस द्वन्द्व की प्रगति कब और कैसे हुई इस प्रश्न पर हम प्रथम खण्ड में विचार कर चुके हैं, परन्तु यह स्पष्ट है कि साहित्यकार तथा आलोचक साहित्य-क्षेत्र में अत्यन्त प्राचीन काल से अपना अलग-अलग

१. देखिए—'अंग्रेजी साहित्य का इतिहास'
२. वही
३. वही
४. 'सरस्वती' के अनेक पृष्ठो मे यह विवाद कई अंको मे समाप्त हो पाया था। इस विवाद का शीर्षक था 'प्रेमचन्द की करतूत'।

वर्ग बनाये हुए है और क्रमशः पहले से यह आशा की जाती है कि वह साहित्य-सृजन करेगा और दूसरा अपनी सुरुचि तथा निर्णायिका शक्ति द्वारा उस साहित्य का मूल्यांकन करेगा। इस वर्गीकरण के आधार पर साधारणतः यह धारणा फैली हुई है कि साहित्यकार तथा आलोचक दो विभिन्न जगत् के प्राणी हैं; उनके उद्देश्य तथा आदर्श भिन्न हैं। कदाचित् यह धारणा भ्रामक है, क्योकि समय-समय पर हमे ऐसे कवि मिले हैं जो श्रेष्ठ आलोचक रहे और ऐसे आलोचको के भी दर्शन हुए हैं जो अपने समय के श्रेष्ठ कवि भी थे। जहाँ आलोचको के सम्बन्ध में यह कहा गया कि छिद्रान्वेषण उनका आदर्श है और द्वेष तथा ईर्ष्या मे उनकी आत्मा लिपटी रहती है वहाँ यह भी कहा गया कि कवि की कृति का सुचारु अध्ययन आलोचक ही प्रस्तुत कर सकते हैं। जहाँ यह धारणा व्यापक रूप मे प्रसारित रही कि कवि को कवि ही समझ सकेगा वहाँ यह भी कहा गया कि श्रेष्ठ आलोचक में श्रेष्ठ कवि की आत्मा निहित रहती है। वास्तव मे देखा जाय तो यह सिद्धान्त स्पष्ट हो जायगा कि दोनो वर्गों का वैषम्य तर्क की कसौटी पर नहीं ठहरता। कवियो ने स्वयं अपनी रचनाओ की अत्यन्त श्रेष्ठ आलोचना लिखी है और अनेक आलोचकों ने साहित्यकारो के मित्र होने के नाते अथवा स्वतः साहित्यकार होने के नाते अथवा साहित्य-सेवा-व्रत के आदर्श से प्रेरित होकर, इस श्रेष्ठ कोटि की आलोचना प्रस्तुत की है जिसकी समता कठिन है। उन्होने हमे कवि-हृदय तक पहुँचाया, उसका स्पन्दन सुनवाया और भाषा, भाव तथा शैली का विवेचन करके साहित्य-क्षेत्र के अनेक रहस्यो को स्पष्ट किया और जीवन के प्रति हमारी अनुभूति तीव्र की।

आलोचना-कला की सृष्टि

इस सम्बन्ध में, जिसका हम संकेत दे चुके हैं, एक ऐसे प्रश्न पर विवाद होता चला आया है जिस पर विद्वान् एकमत नहीं। प्रश्न यह है कि साहित्य-क्षेत्र में पहले-पहल सृष्टि किसकी हुई—आलोचक की अथवा कवि की। यूनानी साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि अफलातूँ तथा अरस्तू ने पहले-पहल आलोचना-साहित्य की नींव डाली, साहित्य-निर्माण के नियमो पर विचार किया, कुछ सिद्धान्त बनाए और उन्हीं के आधार पर अन्य साहित्यकारो ने भी अपने कल्पित साहित्य की रूपरेखा निश्चित की। परन्तु अफलातूँ तथा अरस्तू ने जब साहित्य-निर्माण के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया तो उन्होने उस समय के साहित्य का अध्ययन किया, तत्पश्चात् उन्हीं साहित्यिक रचनाओं को आधार रूप मानकर सिद्धान्तों की सृष्टि की।

फलतः साहित्य ही आलोचना की जननी हुआ। साहित्यकार ने ही आलोचक को जन्म दिया और यदि साहित्यकार अपनी रचनाओं की सृष्टि न करता तो आलोचना की भी सृष्टि न हो पाती। परन्तु इसके साथ-साथ यह भी विचारणीय है कि यदि आलोचना-शक्ति न होती तो साहित्य-सृजन असम्भव होता। उदाहरण के लिए जब संसार के प्रथम चित्रकार ने पहले-पहल मनुष्य अथवा पशु-पक्षी का पहला चित्र बनाया होगा (और चित्र ही भाषा का मूल रूप हैं) तो वह चित्र केवल मनुष्य अथवा पशु-पक्षी के शारीरिक अवयवों का संकेत-मात्र होगा। रेखाओं द्वारा निर्मित मनुष्य जीता-जागता मनुष्य न होकर मनुष्य की शारीरिक आकृति का आभास-मात्र देगा। उसके हाथ-पैर होंगे; कान, नाक, आँख होंगी; गरदन और भुजाएँ होंगी परन्तु यह सब-कुछ होगा केवल रेखा-रूप में और वे केवल जीवित मनुष्य के ऐसे प्रतिरूप होंगे जिनको प्रथम चित्र-की कल्पना-शक्ति ने अपनी सहायता से निर्मित किया। वास्तविक मनुष्य तो इस चित्र से कहीं दूर होगा, परन्तु उसको देखते ही हम अनायास कह उठेंगे—'यह तो मनुष्य है!' अथवा 'यह पक्षी है।' वस्तुतः आदि चित्रकार ने अपनी कल्पना-शक्ति की प्रेरणा अथवा सहायता से एक ऐसी रेखापूर्ण आकृति का निर्माण किया जो मनुष्य होते हुए मनुष्य न था—वह था केवल कल्पनात्मक प्रतिरूप। यह कल्पनात्मक प्रतिरूप वास्तव में उसकी आलोचना-शक्ति की प्रेरणा मात्र था। अपनी आलोचना-शक्ति से आदि चित्रकार ने मनुष्य के महत्त्वपूर्ण अवयवों को पहचाना, उनकी संख्या तथा ऊँचाई-चौड़ाई निश्चित की, आँख-नाक का समुचित स्थान निश्चित किया, और रेखाओं की सहायता से सम्पूर्ण मनुष्य का चित्र निर्मित कर दिया। अथवा आदि कवि वाल्मीकि की प्रथम रचना को लीजिए। आदि कवि ने क्रौंच का वध देखा, और ऐसे समय जब वह प्रणय-लीला में निमग्न था। उस दृश्य को देखते ही उनके मन में अपार करुणा की बाढ़ आ गई; उन्होंने उस करुण भाव को पहचाना, उसे संयत किया, उसे छन्द की परिधि में बाँधा और इस आलोचनात्मक कार्य के पश्चात् उनकी काव्यधारा प्रवाहित हो चली। उनकी आलोचना-शक्ति ने रस-निर्णय किया और उनकी कल्पना-शक्ति ने उस निर्णय को काव्य की करुण धारा में प्रवाहित किया। आलोचना ने ही पहले-पहल चित्रकार तथा कवि की सहायता की; उसी के निर्णय को अपनाकर कल्पना ने अपनी प्रेरक शक्ति से साहित्य-शिशु को जन्म दिया। इस दृष्टि से साहित्यकार तो बाद में जन्मा, आलोचक पहले अवतीर्ण हुआ। उपर्युक्त विवाद प्राचीन काल से चला आ रहा है और पाठकवर्ग मनोनुकूल, तर्क के आधार पर, साहित्यकार तथा आलो-

चक के महत्त्व को पहचानता रहा है।

इस प्रसंग में सबसे विचारणीय तथा महत्त्वपूर्ण प्रश्न तो यह है कि आदिचित्रकार की चित्र-कला तथा आदिकवि की कविता को पहचाना किसने, और उसका प्रभाव किसने किस प्रकार ग्रहण किया। आदिचित्रकार द्वारा निर्मित चित्र को देखकर उसके बहुत से साथियो ने तो उसके प्रथम प्रयास की हँसी उड़ाई होगी और रेखाओ द्वारा निर्मित मनुष्य को मनुष्य समझने से इन्कार कर दिया होगा, कुछ ने उस चित्र के केवल कुछ अंशों को समझा होगा और बाकी को निरर्थक कह डाला होगा, परन्तु दो-चार अवश्य ऐसे होंगे जिन्होने उसे देखते ही उसकी सराहना की होगी; उसको पूर्णतः समझा होगा और अन्त में उससे आनन्द भी उठाया होगा। इसी अन्तिम वर्ग के प्राणियों द्वारा साहित्य की प्रगति होती आई है और साहित्यकार को प्रोत्साहन मिला है। इस वर्ग के व्यक्ति ने चित्रकार द्वारा निर्मित मनुष्य के कल्पनात्मक प्रतिरूप को देखते ही उसका आशय समझा होगा, उसके प्रत्येक अंग की सराहना की होगी और उससे आनन्द उठाया होगा। वास्तव मे उसके मन मे वे सब प्रश्न उठे होंगे जो चित्रकार के मन में थे; जिन-जिन मानसिक क्रियाओ द्वारा चित्रकार ने सफल चित्र बनाया उन सब क्रियाओं को उसने अपने मन में दुहराया होगा। जिस पथ पर चलकर चित्रकार ने चित्र निर्मित किया उसी पथ पर चलकर इस वर्ग के पाठक ने उसका पूर्ण आनन्द ग्रहण किया। इसी प्रकार आदिकवि के श्लोक को बहुतेरे तो समझे न होंगे; कुछ ने केवल थोड़े-बहुत वाक्यांश समझे होंगे, परन्तु कुछ ऐसे व्यक्ति अवश्य होगे जिन्होंने कवि की समस्त मानसिक क्रिया अपने मानस में दुहराई होगी, करुणा से द्रवित हुए होगे और अपनी आत्मा को कवि की आत्मा मे डुबो-कर उसका आनन्द ग्रहण किया होगा। प्रथम चित्रकार अपनी चित्र-कला का पूर्ण परिचय केवल उसी को दे पाया होगा, जिसमे चित्रकार की आत्मा निहित रही होगी और आदिकवि अपनी कविता का आनन्द केवल उसी को दे पाया होगा जिसमें कवि की आत्मा की झाँकी प्रस्तुत होगी। जिस प्रकार प्रथम चित्रकार तथा कवि मे आलोचक की आत्मा प्रकाशित हुई होगी उसी प्रकार प्रथम आलोचक में भी चित्रकार तथा कवि और कलाकार की आत्मा की पुकार सुनाई देगी। दोनों ही एक-दूसरे पर आश्रित हैं। जिस प्रकार कलाकार कल्पना से प्रेरित होकर अपने स्वप्न-जगत् को मूर्त रूप देता है, अपने अनु-भव-संसार को शब्द-शक्ति से साकार बनाता है, अपनी भावनाओ को अपने हृदय के गह्वर से निकालकर मूर्तिमान मन्दिर का निर्माण करता है, उसी

प्रकार आलोचक भी अपने कार्य में संलग्न होता है। हाँ वह कवि की साहित्य-सृजन-प्रणाली को उलट-भर देता है। मूर्त-स्वप्न-जगत् से चलकर वह अमूर्त कल्पना को परख लेता है; साकार अनुभव-संसार में चलकर उनके आकारहीन उद्गम स्थान तक पहुँच जाता है और मूर्तिमान मन्दिर के भीतर पैठकर उसकी नींव तक अपनी दृष्टि डाल लेता है। आलोचक, कलाकार के कलापूर्ण जगत् का अथक यात्री है; दोनों में वैषम्य नहीं; दोनों का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है।

आलोचना-क्षेत्र की कठिनाइयाँ

आधुनिक काल के ललित-कला-सम्बन्धी साहित्य में बहुत विषमता फैली हुई है और आलोचक वर्ग अनेक प्रयोगो द्वारा ललित कलाओं के हृदय को परखने का महत् प्रयत्न कर रहे हैं। आलोचको का यह प्रयत्न, दूसरी तथा तीसरी शती-पूर्व ईसा से लेकर आज तक, निरन्तर होता चला जा रहा है जिसके फलस्वरूप नित्य नवीन नियमो, सिद्धान्तों तथा आदर्शों का निर्माण हुआ है और हो भी रहा है। जिस आलोचनात्मक बीज को अरस्तू तथा अफलातूँ ने बोया था वह रोमीय तथा अंग्रेजी तथा अन्य यूरोपीय देशो के साहित्यकारों ने साधना द्वारा अंकुरित किया और जो आज एक महान् वट-वृक्ष के समान है जिसकी छाया के नीचे अनेक वादो का प्रचार हो रहा है। सभी आलोचक इसी अनुसन्धान मे लगे हैं कि वे यह जान ले कि काव्य पढ़ने के उपरान्त जो कुछ भी भावनाएँ जाग्रत होती हैं अथवा जो भी अनुभव होता है उसका मूल्य क्या है। क्या ये अनुभव हितकर हैं? यदि हैं तो क्यो? क्या काव्यानुभूति जीवन की अन्य अनुभूतियों से श्रेष्ठ है? यदि है तो क्यो? हममे ललित कलाओ के प्रति आकर्षण क्यो उत्पन्न होता है? हमें अमुक कविता क्यों रुचिकर है और दूसरी अरुचिकर क्यो है? हम काव्य अथवा चित्र मे कौनसे तत्त्व ढूंढ़ें? हम किस प्रकार उनसे पूर्ण लाभ उठा सकेंगे? इत्यादि ऐसे प्रश्न हैं जो पाठकवर्ग आलोचकों से सदैव पूछता आया है; और आलोचकों ने उसका क्या उत्तर दिया? वे उत्तर कहाँ तक मान्य हैं? क्या आलोचक ही इस प्रश्न के उत्तर देने के अधिकारी हैं? ये भी ऐसे प्रश्न हैं जो आलोचक स्वयं अपने से पूछते आए हैं। जैसा हम पहले कह चुके हैं सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि स्वर्ण की शुद्धता को परख के लिए हम स्वर्णकार के पास जाते हैं; रसायनो के गुण-दोष जानने के लिए हम रसायन-शास्त्रज्ञों की शरण लेते हैं; गृह-निर्माण के विषय की जानकारी के लिए यन्त्रवेत्ताओं का सहारा ढूँढते हैं और जीव-जन्तुओं के विषय में अनु-

सन्धान हित जीव-विद्या-विशारदो की सम्मति लेते हैं, परन्तु काव्य की परख के लिए कवि के पास नहीं जाते; उपन्यास की परख के लिए उपन्यासकार का सहारा नही ढूँढते; एकांकी की श्रेष्ठता की जाँच के लिए नाटककार की सम्मति नहीं लेते। ऐसा क्यो ? इसके लिए हम आलोचकों के पास आते हैं; हम उनकी सम्मति और सहायता चाहते हैं और उनका सहयोग प्रत्येक ललित-कला को परखने और समझने में हितकर समझते है। इस विचित्रता का क्या कारण है ? साधारणतया हमे कवि से कविता समझनी चाहिए, उपन्यासकार से उपन्यास के विषय में जानकारी प्राप्त करनी चाहिए और चित्रकार के पास उसके चित्र का अर्थ और उसका सौन्दर्य हृदयंगम करने जाना चाहिए। परन्तु ऐसा होता नहीं। हम इन ललित कलाओ के निर्माताओं के पास न जाकर जाते हैं आलोचक के पास। तो क्या इसका यह अर्थ है कि कवि स्वयं अपनी रचना की आलोचना नहीं कर सकता ? और यदि आलोचक कवि की रचना की आलोचना भली भाँति कर देता है तो क्या वह कवि नही कहला सकता ? कवि और आलोचक का सम्बन्ध क्या है ? क्या कवि को आलोचक होना आवश्यक है ? क्या आलोचक मे कवि की आत्मा है ? ये भी प्रश्न इतने गम्भीर तथा जटिल हैं कि इनका हल जितना सरल दिखाई देता है उतना है नहीं। प्राचीन काल से लेकर उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण तक के लगभग कवि अथवा कलाकार तथा आलोचक का घोर विरोध चलता रहा है और यह धारणा पुष्ट होती रही है कि जब कवि की काव्य-सुन्दरी उससे विमुख हो गई तो वह आलोचक बन बैठा; जब कवि का काव्य-स्रोत सूख गया तो उसने आलोचना-क्षेत्र मे पदार्पण किया, जब वह कवि न रहा तो आलोचक के पद पर आसीन हो गया। बीसवीं शती के आरम्भ से यह विरोध बिलकुल मिट गया है; कवि तथा आलोचक दोनो का संगम हो गया है। अब आलोचक काव्य-क्षेत्र का पुरोहित न होकर कवि के समान ही काव्य-क्षेत्र का यात्री बन गया। परन्तु इस प्रश्न का उत्तर ज्यो-ज्यो आलोचना-शैली की व्याख्या तथा आलोचकों का वर्गीकरण होता जायगा स्वतः स्पष्ट होता जायगा।

आलोचना-क्षेत्र के प्रचलित शब्द

आधुनिक आलोचना-शैली की विषमता के सम्बन्ध में प्रायः यह देखा जा रहा है कि यद्यपि कवि तथा आलोचक का विरोध मिट तो गया और आधुनिक काल मे दोनो ही का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध भी स्थापित हो गया परन्तु आलोचको ने दूसरी कठिनाई प्रस्तुत कर दी है। प्रायः आलोचकों की आलोचना रीति-काल के कवियो के समान हो गई है। नख-

शिख-वर्णन में रीति-काल के भारतीय कवि जिन विशेषणों तथा जिस समास-युक्त शब्दावली का प्रयोग करते आए हैं वही भाषा तथा वही शब्दावली प्रायः आधुनिक आलोचना-क्षेत्र में अक्षरशः प्रयुक्त होने लगी है। यह भाषा तथा शब्दावली ऐसी है जिसके सही अर्थ न तो आलोचक ही समझते हैं और न उसका स्पष्ट अर्थ पाठकवर्ग ही हृदयंगम कर पाता है। वास्तव मे इन शब्दों का अर्थ भी ऐसा उलझा हुआ होता है और उनका प्रयोग भी इतना अर्थहीन होता है कि उसके द्वारा कोई भाव स्पष्ट नही होता। उदाहरण के लिए 'सुन्दर', 'मृदुल', 'सुकुमार', 'उन्नत' शब्द ऐसे हैं जो विषय अथवा शैली के गुण व्यक्त करने के लिए समालोचना-क्षेत्र में नित्य-प्रति प्रयुक्त होते हैं। इन शब्दों के वास्तविक अर्थ क्या हैं? क्या ये शब्द वास्तव मे विषय अथवा शैली के गुण हैं? इन प्रश्नो का उत्तर भी आलोचना का आकार-प्रकार समझने के लिए फलप्रद होगा। अमुक कविता 'सुन्दर' है, उसकी भावना 'मृदुल' तथा 'सुकुमार' है, परन्तु प्रभाव 'भव्य' तथा शैली 'उन्नत' है; इसका ठीक-ठीक अर्थ मनोविज्ञानी अथवा दर्शनज्ञ ही स्पष्ट कर सकेंगे। 'सुन्दर' तथा 'मृदुल', 'सुकुमार' तथा 'उन्नत'—ये शब्द कदाचित् कला के विशेषण नहीं, हाँ यह कहा जा सकता है कि जब कलानुभूति होती है तो इन शब्दों में अन्तर्हित जो-जो भावनाएँ हैं प्रकाश पाने लगती हैं। इस तथ्य का विवेचन भी हमें आगे करना होगा, क्योंकि बिना इन शब्दो की जटिलता समझे आलोचनात्मक सिद्धान्तों को समझने में कठिनाई होगी। काव्य क्षेत्र में ही क्यों चित्र-कला तथा मूर्त्तिकला के क्षेत्र में भी जिन विशेषणों का प्रयोग हम आँखें मूँदकर करते हैं, उन्हें हम इन कलाओं का गुण-मात्र ही समझते हैं। चित्र में रंगों का 'सुन्दर सामंजस्य' है, मूर्ति मे 'जागृत भावना मूर्त्त' हो गई है; इसका सीधा-सादा मनोवैज्ञानिक अर्थ तो यह होना चाहिए कि अमुक चित्र अथवा मूर्ति हमारे हृदय में ऐसी अनुभूति जाग्रत करती है जिसे हम इन शब्दों द्वारा व्यक्त करने का विफल तथा दूषित प्रयास करते हैं। सत्-समालोचना, हमारे अनुभूति-क्षेत्र की मीमांसा है। और यह मीमांसा फलप्रद तभी होगी जब हम आजकल के अनेक प्रयुक्त शब्दो का समुचित विवेचन तथा विश्लेषण स्पष्ट रूप में कर ले।

दृष्टिकोण की कठिनाई

भाषा-प्रयोग की कठिनाई के साथ-साथ दूसरी कठिनाई दृष्टिकोण की है। काव्य की परख करते समय कभी तो हमारी दृष्टि कलाकार के शब्द-प्रयोग पर जम जाती है, कभी अलंकार पर, कभी छन्द पर,

कभी-कभी समास-विशेष पर और हम साधुवाद कह उठते हैं। और यदि उसके अनेक प्रयोग हमें रुचिकर न हुए तो उन्हीं पर अपनी दृष्टि जमाकर हम उसकी भर्त्सना आरम्भ कर चलते हैं। हम स्थल-विशेष अथवा खण्ड-विशेष को परखकर सम्पूर्ण कविता की आलोचना करना चाहते हैं और हमारी दशा अन्त में वही होती है जो सात नेत्रविहीन पुरुषों की हुई, जो हाथी का वर्णन कर रहे थे—एक ने उसकी सूँड छूकर उसे अजगर-समान कहा; दूसरे ने उसके पैर छूकर उसे वृक्ष-समान बतलाया; तीसरे ने उसकी पीठ पर हाथ फेरकर उसे चौरस मैदान कहा और चौथे ने कान छूकर हाथी को पंखे की प्रतिमूर्ति प्रमाणित किया। हाथी उनके अनुभव से दूर रहा; हम काव्य की आत्मा से दूर रहे।

आलोचना-क्षेत्र में दृष्टिकोण के अतिरिक्त कुछ अन्य कारणों द्वारा भी वैषम्य फैला हुआ है। इनमे सबसे प्रमुख कारण है हमारी व्यक्तिगत मानसिक जटिलता। जब कभी हम आलोचना लिखते हैं तो कभी हम कलाकार के उन साधनों की प्रशंसा करना आरम्भ कर देते हैं जिसके द्वारा उसने अभीष्ट-सिद्धि की; और उसी को आलोचना भी समझ बैठते हैं। परन्तु सच तो यह है कि जब कभी हम किसी कला-विशेष द्वारा व्यक्त अनुभव को समझने में प्रयत्न शील होंगे; उसका मूल्यांकन आरम्भ करेंगे तभी आलोचना का बृहत् रूप साकार होने लगेगा। कला मे प्रयुक्त साधनों की वही महत्ता है जो गृह-निर्माण मे ईंट, चूने, गारे तथा मिस्त्री की है; परन्तु जो भी अनुभव-विशेष हमें होंगे और जिनका मूल्य हम पूर्णतया समझेंगे वही आलोचना की आत्मा होगी। जो-जो बातें हम साधनो के विषय मे कहते हैं वह आलोचना नहीं; आलोचना की झाँकी तो हमे तभी दिखाई देगी जब हम उसके द्वारा जगाये हुए अनुभवों को परखें, उसके मूल्य को समझें और उसे हृदयंगम करे। इस विषय की मीमांसा हम आगे चलकर विस्तारपूर्वक करेंगे। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भाषा के अस्पष्ट तथा अनर्थक प्रयोग और दूषित दृष्टिकोण तथा साधन और साध्य को परखने की कठिनाई ही समस्त आलोचना-क्षेत्र मे वैषम्य फैलाए है।

कलाकार का लक्ष्य

अब कलाकार को लीजिए। वास्तव में कलाकार के लिए यह आवश्यक है कि वह यह भली भाँति समझ ले कि उसकी कला तभी सफलीभूत होगी जब वह अपना सन्देश पाठकों तक पहुँचा दे। प्रायः यह देखा जाता है कि जो भी अनुभव हम करते हैं उसे व्यक्त करना चाहते हैं। यह हमारा सहज स्वभाव है

और हम इस स्वभाव के दास हैं। हम जितना भी चाहें अपने अनुभवों को कृपण की तरह छिपाकर नहीं रख सकते; हमें उन्हें व्यक्त करना ही पड़ेगा। हाँ, यह बात दूसरी है कि वे अनुभव कभी भाषा के माध्यम से व्यक्त हों अथवा भ्रूभंगिमा या हमारे शारीरिक अवयवो द्वारा प्रकाश पाएँ। व्यक्त होने की चेष्टा वे अवश्य करेंगे और होंगे भी। इस प्रवृत्ति का कारण यह है कि हम सभी सामाजिक प्राणी हैं; हमारा सम्पर्क एक-दूसरे से सदा रहता है। यही नहीं, अपनी शैशवावस्था से ही कुछ आदि एवं अपूर्व संस्कारों द्वारा हम अपने अनुभव व्यक्त करना सीख लेते हैं। शिशु का हास तथा उसका रोदन और उसके अनेक कार्य इसी प्रवृत्ति के मूल परिचायक है। हमारे मस्तिष्क की बनावट भी कुछ ऐसी है कि बिना अनुभवों को ग्रहण किये अथवा उन्हे व्यक्त किये उसे चैन नहीं। या यों कहिए कि अभिव्यक्ति की इच्छा और लालसा ने ही धीरे-धीरे लाखो वर्षों के अनन्तर हमारे मस्तिष्क की वही रूप-रेखा बना दी है जिसका वरदान हमें आज प्राप्त है। इस वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक सत्य को स्पष्टतया समझने के लिए हमें कुछ ऐसे उदाहरण लेने पड़ेंगे जिनकी चर्चा उन्नीसवीं शती के कुछ महान् विज्ञानवेत्ताओं ने की है। जीव-शास्त्र का यह एक अटल नियम है कि जीव परिस्थिति के अनुकूल अपनी रूप-रेखा बनाता है, अपनी प्रवृत्ति को जन्म देता है और पोषित करता है और प्रकृति के मूल-नियम (वही जीव प्रगति कर सकेगा जिसमें संघर्ष की शक्ति होगी तथा विरोधी शक्तियों को पराजित करके अपनी सत्ता स्थापित करने की क्षमता होगी) की रक्षा करता है। ऊँट को अपना मुँह तथा दाँत ऐसा बनाना पड़ा जिससे वह बबूल के काँटों को चबा सके; उसे अपने पैरो मे ऐसी झिल्ली का निर्माण करना पड़ा जिस पर अग्नि-समान तप्त बालुका का प्रभाव किंचित् मात्र भी न पड़े; हाथी को अपनी सूँड को अत्यन्त शक्तिपूर्ण बनाना पड़ा; तोते को हरे रंग के परों की व्यवस्था बनानी पड़ी और अफ्रीका के जंगली चितकबरे घोड़ो को ऊँची-ऊँची शाखो पर लगी हुई पत्तियो को खाने के लिए अपनी गरदन को वर्षों की तपस्या के बाद लम्बा करना पड़ा। इसी वैज्ञानिक सिद्धान्त के आधार पर हमारे मस्तिष्क को भी लाखों वर्षों की तपस्या के उपरान्त अपने में ऐसी शक्ति की 'प्रतिष्ठापना करनी पड़ी कि वह जटिल-से-जटिल अनुभव कर सकता और उसे व्यक्त करने की क्षमता प्राप्त कर सकता। अभिव्यक्ति की आकांक्षा ने ही मानव-मस्तिष्क की आधुनिक रूप-रेखा निर्मित की है। इसके साथ-साथ हमारे सहज अनुभवों की भी रूप-रेखा बदलती गई। जब हम कोई अनुभव प्राप्त करते हैं तो उसे व्यक्त करना हमारा लक्ष्य हो जाता है : इस

अभिव्यक्ति के योग्य हमारे अनुभव को भी बनना पडता है। उसे भी अपनी रूप-रेखा बनानी-बिगाडनी पड़ती है। हमारा मस्तिष्क तथा हमारा अनुभव दोनों आपस में अपना-अपना स्थान निश्चित कर लेते हैं। हमारा मस्तिष्क, अनुभवों को अभिव्यक्ति के सँकरे मार्ग मे सहज रूप मे जाने पर विवश करके उसकी रूप-रेखा परिवर्तित भी कर देता है और मस्तिष्क को भी, अनुभवो को ग्रहण कर, उन्हे अभिव्यंजना योग्य बनाने का उत्तरदायित्व ओढना पडता है। यह रही वैज्ञानिक सिद्धान्त की बात। इसी के आधार पर हमे यह मानना पडेगा कि अभिव्यक्ति की आकांक्षा हममें जन्मजात है और हमारे मस्तिष्क को इसी अभिव्यक्ति में सहायक होने योग्य बनना पडता है और हमारे अनुभवो को भी अपनी रूप-रेखा समयानुसार परिवर्तित करनी पडती है। जब यह सिद्धान्त हमारे दैनिक जीवन मे प्रमाणित है तो कला-क्षेत्र मे तो इसका महत्त्व अवर्णनीय है। कला की सफलता सफल अभिव्यक्ति मे ही है और कलाकार की महत्ता इसी लक्ष्य को सम्मुख रखकर ही समझी जा सकेगी। मूक कला मूक मनुष्य के समान ही व्यर्थ होगी; अभिव्यक्ति उसका प्राण है।

इतना होते हुए भी यदि हम कलाकार से यह पूछें कि क्या उसका लक्ष्य अपनी भावनाओं तथा अनुभवों को दूसरे तक पहुँचाना है तो उसे इस प्रश्न पर आश्चर्य होगा। कदाचित् वह कह भी बैठे कि कदापि नही। वह यह भी कह सकता है कि वह इस लक्ष्य से अनभिज्ञ है। उसका उत्तर सम्भवतः यह भी हो सकता है कि उसका लक्ष्य केवल सौन्दर्य की सृष्टि है अथवा वह स्वान्तः सुखाय ही कला का निर्माण करता रहता है। और यह उत्तर एक प्रकार से श्रेष्ठ कला-निर्माण के लिए हितकर भी होगा, क्योकि यदि वह सदा यह स्मरण रखेगा कि उसका लक्ष्य अपने पाठको को प्रभावित करना है अथवा अपने अनुभवों को श्रेष्ठातिश्रेष्ठ रूप मे पाठको तक पहुँचाना है तो उसकी कला को क्षति पहुँचेगी और वह श्रेष्ठ कलाकार भी नही कहला पाएगा। वास्तव मे कलाकार अस्पष्ट रूप मे इस लक्ष्य को छिपाए रखता है। वह स्पष्टतया कभी नही समझता कि उसके सम्मुख पाठकवर्ग है और उसे अपना सन्देश उन तक पहुँचाना है। वह अपने अनुभवों को समुचित रूप मे व्यक्त करने, मनोनुकूल रूप मे सँवारने तथा उनकी पूर्णरूपेण अभिव्यंजना मे इतना संलग्न रहता है कि उसे किसी दूसरी बात का ध्यान ही नहीं आता; ध्यान केवल यही रहता है कि किस प्रकार उसका अनुभव सुन्दरतम रूप मे प्रस्तुत हो। पाठकवर्ग का ध्यान केवल उसके मनस्तल में अन्तर्हित रहता है। और जैसा हम कह चुके है उसके लिए यह फलप्रद भी है। यदि

उसका ध्यान बँट गया और उसने अपने सम्मुख एक ओर कला की मर्यादा-रक्षा तथा दूसरी ओर पाठकवर्ग की उपस्थिति की कल्पना आरम्भ कर दी तो उसकी कला का सौन्दर्य ही नहीं कम होगा प्रत्युत वह श्रेष्ठ भी न हो पाएगी। इस दुहरे उत्तरदायित्व को स्पष्टतः ध्यान में रखने से वह दोनों को हानि पहुँचाएगा। परन्तु इसका प्रमाण क्या है कि पाठकवर्ग का ध्यान उसके मनस्तल में अन्तर्हित है? इसका प्रमाण ढूँढने के पहले हमें यह विचार करना पड़ेगा कि आखिर कलाकार अपने अनुभवों को सौष्ठवपूर्ण, गौरवपूर्ण एवं यथार्थ-रूप में व्यक्त करने की चेष्टा ही क्यों करता है। उसे सतत यह ध्यान क्यों बना रहता है कि उसके अनुभव कहीं इस प्रकार न व्यक्त हो जायँ कि वे झूठे दिखाई दें; वह इस प्रकार न प्रकाश पा जायँ कि उनका स्तर गिरा हुआ हो; वे इस प्रकार न प्रदर्शित हो जायँ कि उनका सौन्दर्य कम हो जाय। अपनी मानसिक अथवा काल्पनिक अनुभूतियों को वह गौरवित तथा सुन्दरतम रूप में प्रकाशित ही क्यो करना चाहता है? स्पष्ट है कि वह किसी तक उन अनुभवों को पहुँचाना चाहता है। कला की सृष्टि स्वान्तःसुखाय करते हुए भी उसकी साधना यह प्रमाणित करती है कि उसके मनस्तल में किसी का ध्यान अवश्य है। चाहे वह इस तथ्य को कितना ही छिपाए—और उसका इसे छिपाना ही कला के श्रेष्ठ स्तर को छू लेना है—उसके मनस्तल में इसका ध्यान रहता अवश्य है। दूसरे हमें यह भी स्पष्टतः तथा सिद्धान्त रूप मे समझ लेना चाहिए कि जिस स्तर का तथा जितना ही प्रसंगोचित कलाकार का अनुभव होगा उसी स्तर का तथा उसी प्रसंगोचित अनुभव का आविर्भाव पाठकवर्ग के हृदय मे भी होगा। दोनों में मानसिक साम्य अभीष्ट है। इस तथ्य को उदाहरण रूप में समझने में कठिनाई न होगी। कलाकार अथवा कवि ने सान्ध्य-सूर्य को पश्चिम के रक्ताभ आकाश मे डूबते देखा। उसे देखते ही उसे कुछ अनुभव होने आरम्भ हुए और जब तक अस्ताचलगामी सूर्य पूर्ण रूप से डूबकर सन्ध्या के घूँघट के पीछे विलीन न हो गया तब तक कवि के अनुभवों की शृङ्खला बँधी रही। उसके डूबते ही उसके अनुभवों की शृङ्खला टूटी। कवि ने अब अपने अनुभवों की अभिव्यक्ति करनी चाही। उसके प्रधान अनुभव से लगे-लिपटे अनेक सहकारी अथवा गौण अनुभव भी प्रकाश पाने के लिए छटपटाने लगे। उसे यह आभास हुआ कि कदाचित् सान्ध्य-सूर्य, आकाशरूपी नवेली का सौभाग्य-सिंदूर होगा; अथवा वह प्रकाश रूपी देवता की हत्या करता हुआ रक्त-रंजित दानव का चित्र है; अथवा वह मानव के जीवनावसान का प्रतिबिम्ब-मात्र है। इन मूल अनुभवों के साथ-साथ अन्य

सहकारी तथा गौण अनुभव भी रह सकते हैं जो हमारी स्मरण-शक्ति पग-पग पर प्रस्तावित करती रहती है। (ये मूल अनुभव कलाकार की रुचि इत्यादि पर निर्भर रहेंगे।) और जब कवि ने यथार्थ, प्रसंगोचित तथा अपनी सुसंस्कृत सुरुचि की कसौटी पर उन अनुभवों को परख-परखकर एकत्र कर लिया, तत्पश्चात् अभिव्यंजना पर तत्पर हुआ। और जो भी अनुभव-विशेष उसने व्यक्त किये उसी प्रकार के अनुभव यदि पाठकवर्ग में भी आविर्भूत हुए तो कलाकार सफल है। यदि वह अपने प्रधान, प्रसंगोचित तथा यथार्थ अनुभवों की प्रतिलिपि पाठकों के मानस के सम्मुख न फैला सका तो उसकी कला दूषित ही होगी।

कला का महत्त्व

कला का महत्त्व पूर्णतया हृदयंगम करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं परन्तु सबसे बड़ी कठिनाई है भाषा की। मनुष्य द्वारा निर्मित भाषा उसकी सबसे बड़ी शत्रु है। इसी ने कला तथा कला के पारखियों के बीच एक गहरी खाई खोद दी है जो हमें उसके पास पहुँचकर उसे समझने में कठिनाइयाँ प्रस्तुत किया करती है। इसी ने कला द्वारा प्रस्तुत आनन्द को समझने तथा उसके द्वारा आनन्द उठाने में भी अड़चनें डाली है, परन्तु फिर भी हमें कला के महत्त्व को समझने तथा उसके द्वारा प्रस्तावित आनन्द का उपभोग करने का प्रयत्न करना ही पड़ेगा।

जीवन में जो कुछ भी हम मूल्यवान्, उपयोगी तथा फलप्रद समझते आए हैं उसी को कला सुरक्षित करती आई है—वह हमारे विशाल तथा आनन्दप्रद अनुभवों का अक्षय कोष है। वह ऐसे व्यक्तियों के मानस मे जन्म लेती है जो अनेक रूप मे असाधारण होते हैं; उनमें अनुभव की तीव्रतम शक्ति रहती है; उनमे जटिल-से-जटिल तथा विरोधी-से-विरोधी अनुभवों को समन्वित करने की अपूर्व क्षमता रहती है, उसमे जीवन के संकीर्ण-से-संकीर्ण मार्ग को प्रशस्त करके उसे विशाल बनाने की आकांक्षा रहती है। कला के बीज-रूप, ये अनुभव जब जन्म लेते हैं और प्रकाश पाते हैं तब वे समाज और व्यक्ति, दोनो के लिए मूल्यवान् हो जाते हैं। इन्ही कलाओं के कोष मे हम अपने अमूल्य-से अमूल्य अनुभवो की निधि सुरक्षित करते हैं। हमारे जीवन के कुछ अनुभव तो ऐसे सरल होते हैं जो शीघ्र ही तथा बिना किसी महत् प्रयत्न के प्रकाशित हो जाते है, मगर कुछ ऐसे जटिल तथा गूढ भी होंगे जो बिना कला के माध्यम के न तो प्रकाश ही पा सकते हैं और न मूल्यवान् ही हो सकेंगे। उदाहरण के लिए जब हम अपने से बड़ो का अभिवादन करते हैं

अथवा नौका पर पहले-पहल चढ़ते हैं अथवा वाटिका में बैठते हैं तो उस समय हमें जो अनुभव होते हैं, सधारणतया सहज तथा सरल ही होते है। उन्हें प्रकाशित करने के लिए हमें कुछ अधिक प्रयत्न नही करना पड़ता, परन्तु जो भी अनुभव हमें राग, विराग, अनुराग, प्रेम, घृणा, करुणा, उच्चाकांक्षा, गर्व, ईर्ष्या द्वेष के क्षेत्र में होते हैं उनका प्रकाश इतना सरल नहीं। कला का ही माध्यम इन अनुभवों को स्पष्ट कर सकेगा। साथ-ही-साथ वह यह भी निश्चित कर देगा कि कौनसे अनुभव क्षणिक हैं, हेय हैं, निकृष्ट हैं और कौनसे गौरवपूर्ण हैं, श्रेष्ठ हैं, ग्रहणीय हैं। इसीलिए प्राचीन आलोचकों ने कवि को भविष्य वक्ता कहा है, क्योंकि जो-जो अनुभव हमें सतत होते रहेंगे और जो-जो अनुभव-हम अमूल्य निधि समझते रहेंगे, उन्हीं की ओर वह बरबस संकेत करता रहता है।

: ३ :

आलोचना के नियमों का निर्माण

प्रायः सभी वर्ग के पाठकों की यह इच्छा रहती है कि उन्हे आलोचना की एक ऐसी बनी-बनाई नियमावली दे दी जाय जिसके सहारे वे साहित्य के विभिन्न अंगों की परख किया करें; जिसके द्वारा वे श्रेष्ठ साहित्य का मूल्यांकन कर सकें और उसके गुणो से परिचित हो जायँ। इसके साथ-साथ उनकी यह भी इच्छा रहती है कि हीन साहित्य के दोषो की तालिका भी उन्हे दे दी जाय जिसके आधार पर वह किसी भी साहित्य की न्यूनताएँ भी समझ ले। वस्तुतः साहित्य के गुण अथवा अवगुण को जाँचने का वे एक वैज्ञानिक यन्त्र-सा अपेक्षित समझते है जो दूध-का-दूध और पानी-का-पानी अलग-अलग करके रख दे।

पाठकवर्ग जब यह माँग सामने रखते हैं तो कदाचित् वे यह नही समझते कि उनकी यह माँग साहित्य के प्रति घोर अन्याय है और आलोचक के पास वह वस्तु है ही नही जिसकी उससे माँग की जा रही है। साहित्य की श्रेष्ठता की परख सीधे सादे शब्दो मे असम्भव है और आलोचना की कोई भी विशिष्ट प्रणाली इस मांग की पूर्ति नहीं कर सकती। आलोचकों के पास कोई ऐसा नुस्खा भी नहीं जो वह पाठको की भेंट करके उन्हे सन्तुष्ट कर दें। आलोचना का क्षेत्र एक प्रकार का साहित्यिक तीर्थ है, जहाँ साहित्य-देवता के अन्यान्य प्रेमी मनोनुकूल विचरण किया करते हैं और 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी' के सिद्धान्त को प्रमाणित करते रहते हैं। जिस प्रकार तीर्थ-यात्री अपने पूज्य देव की आराधना करता हुआ तीर्थ-मार्ग पर

विश्वास की भ्रकुटी पकड़े चला चलता है और अन्त में अपनी यात्रा समाप्त करते-करते अपने पूज्य देव के दर्शन कर ही लेता है उसी प्रकार आलोचक भी अपने विश्वास तथा परिश्रम और सूझ के बल पर अपने श्रेष्ठ साहित्य-देवता का दर्शन कर लेता है। विश्वास उसका भी सम्बल है; उसके देवता भी उसे दर्शन दे ही देते हैं। हो सकता है कि कभी-कभी मन्दिर का पट बन्द भी रहे परन्तु कभी-न-कभी खुलता वह अवश्य है। आलोचक का विश्वास, उसकी श्रद्धा, उसका अध्यवसाय कभी भी विफल नहीं होता।

तीर्थों के समान ही कला-क्षेत्र भी अत्यन्त विस्तृत है। उस क्षेत्र में कार्य करने वाले कलाविदों का न तो एक-सा दृष्टिकोण है और न एक-सी शैली। इसके अतिरिक्त उनके व्यक्तित्व में इतनी विभिन्नता है कि उसका कोई जवाब नहीं; और इसी वैयक्तिक वैभिन्य द्वारा अनेक आलोचनात्मक कठिनाइयाँ प्रस्तुत हो जाती हैं। इसी के द्वारा आलोचना-क्षेत्र मे घोर वैषम्य फैला हुआ है। इसी के चक्रव्यूह मे फँसकर आलोचक दम तोड़ देता है। कभी वह कलाकार के चरित्र के पीछे पड़ेगा और उसकी भर्त्सना करेगा; कभी उसके राजनीतिक तथा सामाजिक विचारो पर टीका-टिप्पणी आरम्भ करेगा और कभी उसके धार्मिक विश्वासों पर कुठाराघात करने पर तुल जायगा। कभी-कभी आलोचना-क्षेत्र के रूढिगत सिद्धान्तों की दुहाई देते हुए वह कलाकारो की मौलिकता को त्याज्य प्रमाणित करने लगेगा; कभी युग के अवसाद पर आँसू बहाते हुए भविष्य के लिए प्रार्थना करने लगेगा; और कभी कलाकारो को अनैतिक कहकर सन्तोष पा जायगा। वह कदाचित् यह कभी न करेगा कि अपनी निजी शक्ति का प्रयोग करे, अपना व्यक्तिगत दृष्टिकोण परिष्कृत करे और अपनी सूझ-बूझ से साहित्य के प्राण को परखने का प्रयास करे। इसका यह तात्पर्य नहीं कि आलोचक प्रत्येक नवीन कृति की प्रशंसा के पुल बाँध दे और जो भी कृति रूढि तथा परम्परा के विरोध मे लिखी गई हो उसे श्रेष्ठ प्रमाणित करे अथवा उनकी उपेक्षा तथा कटु आलोचना मे पन्ने-के-पन्ने रँग डाले।

युग और साहित्य

सबसे पहली बात जो ध्यान में रखने योग्य है वह यह है कि प्रत्येक लोकप्रिय साहित्यिक कृति प्रचलित विचार-धारा का प्रतिबिम्ब होती है; उसमे तथा समाज के प्राण मे एक आन्तरिक सम्बन्ध होता है। हमारी जो भी छिपी हुई भावनाएँ होंगी, उनका प्रकाश जहाँ कहीं भी हमें मिलेगा हम उसी ओर दौड़ पड़ेगे। इसी सिद्धान्त के अनुसार जब कभी कोई ऐसी पुस्तक प्रकाशित होती है, जो हमारी छिपी हुई उत्सुकता तथा आकांक्षा तथा हमारे मनस्तल के रहस्यपूर्ण

संसार का विश्लेषण करती है तो हम उसे अत्यन्त चाव से पढ़ने लगते हैं। आतिशी शीशे पर सूर्य-किरण पड़ते ही आग-सी निकलने लगती है; उसी प्रकार हमारे हृदय की छिपी हुई आग बाह्य उपकरणों द्वारा प्रज्वलित हो उठती है। इस सिद्धान्त के समर्थन में अनेक पुस्तकों के नाम गिनाए जा सकते हैं।

लोकप्रिय रचनाओं की आलोचना

आलोचकवर्ग को साधारणतया इस प्रकार की लोकप्रिय रचनाओं के प्रति सतर्क रहना पड़ेगा। हो सकता है वे अच्छी हों; यह भी हो सकता है कि वे हीन कोटि की हों और यह भी हो सकता है कि वे इन दोनों में से एक भी न हों। कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी लेखक की कृति ज्यों ही प्रकाशित हुई उसकी प्रशंसा में जमीन आसमान के कुलाबे मिलाए जाने लगे; परन्तु थोड़े ही दिनों के पश्चात्, अथवा लेखक की मृत्यु के बाद, कोई उस कृति की चर्चा भी नहीं करता। प्रशंसा की बाढ़ के पश्चात् उनकी अवहेलना आरम्भ होने लगती है और एक दिन ऐसा भी आता है जब कोई उस कृति का नाम तक नहीं जानता। इस प्रकार के अस्थायी प्रशंसा पाने वाले लेखकों के प्रति जनता का क्रोध और भी अधिक रहता है। वे सोचते हैं कि उस लेखक ने कुछ काल तक हम लोगों को भ्रम में डाल रखा था और अब जब भ्रम-जाल दूर हो गया है तो उसका बदला लेना चाहिए। प्रायः ऐसा भी होता है कि लेखक को अपनी युवावस्था में तो लोकप्रियता न प्राप्त हुई परन्तु धीरे-धीरे, ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया, उसकी ख्याति दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती गई। इस कथन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि साहित्यिक ख्याति या तो विधि के विधान पर निर्भर है अथवा वह भी लक्ष्मी के समान चंचला है। इस रहस्य का उद्घाटन असम्भव ही जान पड़ता है। कदाचित् इसका रहस्य वही हो, जिसकी ओर हम अभी-अभी संकेत कर आए हैं। लेखक ने समाज की कोई ऐसी दुखती हुई रग पकड़ ली है अथवा हमारे मानस के गुप्त स्तरों में से उसने कोई ऐसा तत्त्व निकालकर सामने ला रखा है कि हमें उससे कुछ काल के लिए सन्तोष मिलने लगता है और वह रचना लोकप्रिय हो जाती है।

इस दृष्टि से आलोचक का कार्य और भी कठिन प्रतीत होगा। और जब हम उससे यह भी आशा नहीं कर सकते कि वह हमें कोई बनी-बनाई नियमावली दे देगा तो उसका कार्य और भी दुष्कर जान पड़ेगा। पाठकवर्ग के रुचि-वैचित्र्य तथा उसकी विषमता की ओर हम संकेत कर चुके हैं; वैसी ही विभिन्नता आलोचकों की रुचि में भी रहा करती है। इतना होते हुए भी

जब हम पुराने आलोचकों की भूलों को समझकर, अपने नवीन अनुभव के आधार पर साहित्य का मूल्यांकन आरम्भ करेंगे तो कदाचित् उन भूलों को दुहराने की सम्भावना न रह जायगी। जब भी किसी कृति का मूल्यांकन आलोचक को करना पड़े तो उसे कुछ प्रश्न अपने से ही पूछने चाहिएँ और जैसा भी उत्तर मिले उसे ही अपनी आलोचना का आधार मानना चाहिए। क्या यह कृति सन्तोषप्रद है? क्या यह शीघ्रता तथा सरलता से हृदयगम की जाती है? क्या इसके अध्ययन मे हमे एड़ी-चोटी का पसीना एक करना पड़ता है? क्या यह कृति सुन्दर नहीं? क्या यह कुत्सित भावनाएँ प्रसारित करती है? यदि ऐसा है तो क्या उसमें शक्ति है; आकर्षण है? क्या हम उसे पढते ही एकाएक उत्तेजित हो उठते हैं? क्या हमे वह घृणित प्रतीत होती है? यदि ऐसा है तो क्यो? क्या यह नवीन कृति कुछ सन्देश प्रस्तुत करती है? यदि हाँ, तो वह सन्देश कैसा है? उसका मूल्य क्या है? क्या यह कृति मौलिक है? यदि है तो क्यो? इसमें मौलिक अंश कौन-कौन हैं? क्या इसे हम प्रमाणपूर्वक मौलिक कह सकेंगे? जब इन प्रश्नों का समुचित उत्तर आलोचक ढूँढ निकाले तो उसका यह प्रयास होना चाहिए कि वह इन्ही उत्तरों के बल पर अपनी अनुभूति मे पाठकवर्ग को साझीदार बनाए।

दुरूह कृतियों की आलोचना

साहित्य-क्षेत्र मे अक्सर ऐसा हुआ है कि जब कोई कृति प्रकाशित हुई तो उसे किसी ने समझा ही नही और यदि समझा भी तो उसका अधिकांश यों ही रह गया। अनेक श्रेष्ठ आलोचक, अनेक ऐसी नवीन कृतियो को समझने मे असमर्थ रहे जो भविष्य मे अत्यधिक प्रख्यात हुईं। अधिकतर तो आधुनिक लेखक ऐसे हुए हैं जो अपनी दुरूह शैली तथा दुर्बोध भाषा द्वारा ही पाठकवर्ग को प्रभावित करना चाहते हैं, जिसके फलस्वरूप पाठकवर्ग उनसे दूर होता जा रहा है। इसका तात्पर्य यह हो सकता है कि लेखकवर्ग जान-बूझकर पाठको के सम्मुख एक दीवार खड़ी कर देते है; और केवल इसीलिए कि उन्हे कोई तथ्य की बात नहीं कहनी है, वरन् पांडित्य का वेश बनाना-मात्र ध्येय है। यह भी हो सकता है कि वह पाठको को भ्रम मे डालकर यह प्रमाणित करना चाह रहे हो कि उनकी प्रशंसा की जाय। जो भी कृति पाठकों की समझ के बाहर हो उसकी प्रशंसा अक्सर होने भी लग जाती है। अंग्रेज़ी तथा हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में आजकल यह प्रवृत्ति अक्सर देखने में आ रही है।

प्रायः दुरूहता कुछ विशेष कारणों द्वारा प्रस्तुत होगी—कल्पना की

उड़ान, विचारों का संक्षेप रूप, अप्रचलित भाषा तथा विषम अभिव्यक्ति। असाधारण उपमा तथा उपमेय, असंयत विचार-धारा एवं नवीन शब्द-प्रयोगों द्वारा भी दुरूहता प्रस्तुत हुई है। परन्तु यह दुरूहता कोई नई बात नहीं। सभी देशों के साहित्यकारों के नाम गिनाए जा सकते हैं जिनकी कविताएँ अत्यन्त कठिन रहीं और आज तक दुर्बोध हैं। अक्सर ऐसा भी हुआ है कि विचार-गाम्भीर्य द्वारा भी कृति दुरूह हो गई है और बिना लेखक की टीका-टिप्पणी के हाथ नहीं लगती। साधारणतया यह भी देखने में आता है कि लेखक कुछ कहना ही नहीं चाहता और हम उसके अर्थ की आशा लगाए-लगाए थक जाते हैं अथवा वह जान-बूझकर हमे रहस्यपूर्ण जगत् मे रखना चाहता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कलाकार तर्क के बन्धन से ऊब उठता है और उसकी सब शृङ्खलाओं को तोड़ता हुआ एक नवीन तर्क का निर्माण करके तथा उसका सहारा लेकर मौलिक साहित्य की रचना करने लग जाता है। कभी-कभी कुछ व्यक्तिगत रहस्यों की ओर संकेत देने के फलस्वरूप भी कृति दुर्बोध हो जाती है।

नियमों के पुनरुत्थान की सम्भावना

साधारणतया जैसा हम अभी-अभी कह चुके हैं, साहित्यिक आलोचना की जहाँ कहीं भी चर्चा होती है वहाँ आलोचना के नियमों तथा सिद्धान्तों की ओर संकेत करना अनिवार्य-सा समझा जाता है। ऐतिहासिक खण्ड मे हम देख चुके हैं प्राचीन तथा मध्य युग के आलोचक भी नियमों तथा सिद्धान्तों की मर्यादा के निर्वाह मे संलग्न रहे और वही कुछ आधुनिक आलोचक भी करना चाहते हैं। परन्तु उनका दृष्टिकोण बदला हुआ है और शब्दावली दूसरी है। वे भी कुछ ऐसी रीति-नीति की खोज में रहते हैं जिसकी सहायता से आलोचना लिखने का कार्य सहज हो जाय। जैसा कि हम पिछले खण्ड मे देख चुके हैं, उन्नीसवीं शती उत्तरार्द्ध से आलोचना-क्षेत्र नियमो तथा सिद्धान्तो के बन्धन से मुक्त होने लगा था। अठारहवी शती की नियमानुगत आलोचना-प्रणाली कलाकारो के लिए सन्तोषप्रद न थी; उन्होंने ही उनके कठिन सिद्धान्तो की मर्यादा भंग करनी आरम्भ की और एक ऐसा युग आ गया कि हर ओर नियमो की अवहेलना आरम्भ हो गई और रोमांचक काल की कृतियां प्रायः सभी प्राचीन नियमों का विरोध करती रहीं। साहित्य बन्धनमुक्त था; जीवन भी बन्धनहीन था। प्रकृति के विशाल प्रांगण मे साहित्यकार मनमाने रूप में विचरण कर मनोनुकूल साहित्य-पुष्प चुनता और उसका पराग बिखराता। परन्तु उन्नीसवीं शती के समाप्त होते ही समय ने

फिर एक बार पलटा खाया। जिस विचार-स्वातन्त्र्य, कल्पना-स्वातन्त्र्य, तथा शैली-स्वातन्त्र्य द्वारा अनेक विशिष्ट कविताओ, नाटको तथा गौरव-गीतो का जन्म हुआ उसके प्रति लोगो की श्रद्धा घटने लगी। बन्धनमुक्त साहित्यकार अपनी स्वातन्त्र्य-लिप्सा से ऊब उठा; बन्धनहीन जीवन फिर बन्धनों की अटूट शृङ्खला मे बँधने को तरसने लगा और अब ऐसा समय आ गया है कि अनेक आधुनिक आलोचक पुनः सिद्धान्तो तथा नियमो के प्रतिपादन में दत्तचित्त है। परन्तु चाहे जो हो और आधुनिक लेखक जितना भी चाहे, प्राचीन नियमो की वही प्राचीन मान्यता कदाचित् ही स्थापित हो पाए; प्रतिक्रिया चाहे कितनी भी चरम-सीमा तक क्यो न हो, प्राचीन युग फिर वापस नही आ सकेगा। हाँ, कुछ नवीन नियम बन सकते है और कुछ दृष्टिकोण भी परिवर्तित रूप ले सकते है।

आलोचक की विफलता के कारण— 'अर्थ-दोष'

आलोचक प्रायः अनेक कारणवश सफल आलोचना लिखने में विफल रहते हैं और प्रमुख कारणों की ओर संकेत भी किया जा सकता है। विफलता का प्रधान कारण अधिकतर अर्थ-दोष हुआ करता है। कुछ आलोचक कवि अथवा कलाकार की कृति का ठीक-ठीक अर्थ लगा ही नही सकते। वे यह समझ ही नही पाते कि कलाकार की रचना मे जो शब्द प्रयुक्त हुए और जो विचार प्रदर्शित किये गए उनका सही अर्थ क्या है अथवा वे किस अर्थ मे प्रयुक्त हुए हैं। काव्य और कला पक्ष की बात तो दूर, वे बेचारे पंक्ति का अन्वय करके उसके अर्थ गद्य मे नही समझ पाते; और यदि वे कहीं उसका अर्थ आधा अथवा तिहाई समझ भी ले तब भी अनर्थ की सम्भावना बनी रहती है। यह दोष साधारण पाठकवर्ग मे भी अधिकांशतः रहा करता है और आलोचक भी उससे मुक्त नहीं।

कुछ आलोचक ऐसे भी होते है जो कलाकार की कृति द्वारा जिस रस का परिपाक होता है वह समझ नही पाते; वे अपनी रसेन्द्रियाँ या तो विकसित नहीं कर सके या उसके महत्त्व को नहीं समझ पाए। इस वर्ग के आलोचक प्रायः इसीलिए विफल रहते हैं कि जो कुछ भी प्रभाव उनकी रसेन्द्रियों पर पड़ रहा है उसकी ओर वे विमुख हैं। ज्यो ही कविता की पंक्ति उन्होंने पढी अथवा उनके सामने दुहराई गईं और जो शब्द-ध्वनि उससे निकली उसकी गति, उसकी लय, उसका लालित्य वे किसी भी अंश में हृदयंगम नहीं कर पाते। काव्य-पाठ मे हम साधारणतया यह देखते है कि ज्यो-ज्यो कविता की पंक्ति पढी जाती है त्यों-त्यो उसकी ध्वनि एक विशेष ध्वन्यात्मक स्वरूप

हमारी श्रवणेन्द्रिय के सम्मुख प्रस्तुत करती है और हमारे मस्तिष्क द्वारा उन ध्वन्यात्मक आकारों का नामकरण हुआ करता है। जिस प्रकार सिनेमा-गृह के चित्रपट पर चल-चित्र एक के बाद दूसरा निरन्तर विद्युत्-गति से प्रस्तुत होता रहता है और हम उन आकारो के अर्थ अपनी आँखों तथा मस्तिष्क के सहयोग द्वारा जानते रहते हैं उसी प्रकार कविता-पाठ जिन-जिन शब्दो का ध्वन्यात्मक स्वरूप हमारी श्रवणेन्द्रिय के सम्मुख रखता है, उनकी विशेषता अथवा उनका महत्त्व हम नही समझ पाते, जिसके फलस्वरूप काव्य की आलोचना दूषित होने लगती है।

कल्पनात्मक स्थलों की दुरूहता

काव्य मे प्रयुक्त कल्पना तथा कल्पनात्मक अंशो द्वारा जो अर्थ की कठिनाई प्रायः प्रस्तुत होती रहती है उसके फलस्वरूप भी आलोचक पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं। अधिकतर वे वाक्य अथवा वाक्यांश अथवा समास द्वारा शब्द-चित्र प्रस्तुत करती हुई शब्दावली, जो उपमा, उपमेय इत्यादि को व्यक्त करने मे प्रयुक्त होते हैं, ठीक तरह हृदयंगम नही कर पाते। प्रायः उन्हें हृदयंगम करने में वे इसलिए विफल रहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति मे उसको समझने की सम्यक् शक्ति नहीं रहती और यदि रहती भी है तो अत्यन्त भिन्न रूप मे; किसी मे यह शक्ति पर्याप्त होगी, किसी में न्यून और किसी में किंचित् मात्र भी नहीं। इसलिए यह आशा करना कि सभी पाठकवर्ग अथवा आलोचक शब्द-चित्रों के पीछे जो दिव्य भावना छिपी है उसको समान रूप में हृदयंगम कर लेंगे, व्यर्थ होगा। यों भी हमारे व्यक्तिगत मानस मे जिन भावों तथा अनुभवों के चित्र छिपे रहते हैं एक-दूसरे से सर्वथा विभिन्न रहते हैं और काव्य जब विभिन्न रूप में तथा अनेक उपकरणों द्वारा हमारे अनुभवों का प्रतिबिम्ब चित्र-रूप मे हमारे सम्मुख प्रस्तुत करने लगता है तो उसे समझने में हम पीछे रह जाते हैं। कुछ पाठक और आलोचकवर्ग ऐसे भी हैं जो काव्य में कल्पना तत्त्व को इतना महत्त्व देते हैं कि उन्हें इस तत्त्व के बिना कविता निरर्थक जान पड़ती है; कुछ उसको आवश्यक तो समझते हैं परन्तु अधिक महत्त्व नहीं देते और कुछ ऐसे भी हैं जो उसे थोड़ा बहुत भी स्थान देने को प्रस्तुत नहीं। कल्पना द्वारा प्रस्तुत उपमाओं तथा उपमेयों की प्रतिक्रिया, जो हमारे मानस के अथाह सागर में प्रतिक्षण होती रहती है उसके फलस्वरूप हम किसी सामान्य निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते। जिस प्रकार ऊबड़-खाबड़ पृथ्वी पर जब वर्षा होती है तो कहीं पानी बह जाता है, कहीं बहता-बहता रुक जाता है और कहीं थाला बाँध लेता है, कहीं काई जम जाती है, कहीं स्थान स्फटिक-

शिला-सा स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार हमारे मानस-पटल पर कल्पनाप्रदत्त चित्रों तथा प्रतिबिम्बों के पड़ते ही विभिन्न रूपों की प्रतिक्रिया होने लगती है जो काव्य का सही मूल्य जानने मे बाधा प्रस्तुत करेगी। यदि मानव का मानस समान रूप से गहरा और चौड़ा होता और प्रत्येक अनुभव की प्रतिक्रिया अन्यान्य व्यक्तियों में समान रूप में प्रदर्शित होती तो आलोचक का कार्य कहीं सरल हो जाता। परन्तु ध्यान रहे कि इससे काव्य की मनमोहकता बहुत-कुछ कम हो जाती और उसका रूप महाजन की बही के समान हो जाता जहाँ देना-पावना का उल्लेख-मात्र रहता है। काव्य का आकर्षक रहस्य इसी में है कि वह प्रत्येक व्यक्ति को विभिन्न रूप में सतत प्रभावित करता है।

स्मरण-शक्ति की बाधा

आलोचना-क्षेत्र की अनेक कठिनाइयाँ हमारी स्मरण-शक्ति द्वारा भी प्रस्तुत होंगी। हमारी स्मरण-शक्ति अनेक प्रकार के अनुभव, भाव तथा विभाव अपने कोष में छिपाए रखती है। प्रतिदिन के जीवन मे जो-कुछ भी हम अनुभव करते हैं उन सबको हमारी स्मरण-शक्ति संचित कर लेती है। ज्यों ही हम कविता-पाठ आरम्भ करते हैं त्यों ही हमारे स्मरण-कोष में संचित भावों में एक हलचल-सी मच जाती है और हम अपने व्यक्तिगत, संचित अनुभवो और विचारो में पढ़े हुए काव्य की छाया पाने का प्रयास करने लगते हैं। अनेक भाव और विचार एकाएक हमारे सम्मुख असम्बद्ध रूप मे प्रस्तुत हो जाते हैं। ये ही विचार इधर-उधर से आ-आकर हमारी काव्यानुभूति को विकल करते हैं। जिन अनुभवों का सम्बन्ध हमारे सम्मुख पढी हुई कविता से किंचित् मात्र भी नही होता वे उनसे झूठा सम्बन्ध मान लेने पर हमें विवश करने लगते हैं। जिस प्रकार आधुनिक लड़ाई में लड़ता हुआ पैदल सैनिक अपने सिर की टोपी पर हरी घास या पत्तियाँ इसलिए बाँधकर घुटनो के बल चलता है कि शत्रु-दल उसे केवल हरा पेड़ या सघन डाल समझकर उस पर वार न करेगा उसी प्रकार हमारे अनेक अनुभव रंग बदल-बदलकर अपना सम्बन्ध हमारी पठित कविता से जोड़ने को प्रस्तुत हो जायँगे जिसके कारण अनेक आलोचनात्मक भूलो की बहुत सम्भावना रहेगी। उपयुक्त तथा प्रासंगिक अनुभवो को छाँट लेना कुछ सरल कार्य नहीं, क्योंकि अनुपयुक्त तथा अप्रासंगिक अनुभवों की टोली इतनी बढी-चढ़ी रहती है कि दोनो का स्पष्टीकरण भी सरल नहीं। उदाहरण के लिए हम एक करुण दृश्य देखते हैं जिसमें एक वृद्धा अपने पुत्र को युद्ध मे हताहत पाकर धैर्यहीन हो विलाप करती है; उसी समय हमारी स्मरण-शक्ति अनेक करुण अनुभवो को, जो हमे जीवन में हुए हैं, लगातार प्रस्तुत करने

लगती है। उसी बीच हमे यह भी याद आता है कि किसी व्यक्ति को हमने आत्म-हत्या भी करते देखा था। यह दृश्य भी हमारे सम्मुख (यद्यपि वह भयानक तथा बीभत्स है) करुणा का आवरण पहनकर प्रस्तुत हो जाता है जिससे हमारे मूल भाव की न तो पुष्टि होती है और न उसकी तीव्रता ही बढती है; वरन् कुछ देर के लिए हम इस अप्रासंगिक अनुभव की पगडण्डी पर चल पडते हैं और अपना सही रास्ता भूल जाते हैं।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हमारे मानस में अनेक विचारों तथा अनुभवो की प्रतिक्रिया एक स्थायी रूप लेकर बैठी रहती है जिसके फलस्वरूप हमारी आलोचनात्मक कठिनाइयाँ कई गुना बढ जाती हैं। काव्य तो यह चाहता है कि जो-कुछ भी प्रतिक्रिया प्रस्तुत हो उसका मूल आधार काव्य ही हो, पाठकवर्ग का स्थायित्व पाया हुआ अनुभव-कोष नहीं; और इसी में काव्य का रहस्यपूर्ण आकर्षण भी निहित है। जिस प्रकार ग्रामोफोन के तवे पर ज्यो ही हम साउंड-बक्स मे लगी हुई सुई चला देते हैं त्यो ही तवे की रगों मे छिपी हुई ध्वनियाँ प्रकाश पाने लगती हैं। सुई बहुत चाहने पर भी तवे से कोई नई ध्वनि नहीं निकाल सकती; उससे तो वही ध्वनि निकलेगी जो उसमे पहले से अन्तर्हित कर दी गई है। उसी प्रकार काव्य पढने के पश्चात् जब हमारे संचित और स्थायी अनुभव तरंगित होने लगते हैं तो हमें उस काव्य के ठीक-ठीक मूल्यांकन में कठिनाई पडने लगती है। इस परिस्थिति में ऐसा होता है कि हमारे बने बनाए और सजे-सजाए स्थायी अनुभव हमारे मानस मे एक बाढ-सी ला देते हैं जिसका फल यह होता है कि काव्य की प्रेरणा तो दब जाती है और उसके स्थान पर हमारे स्थायी अनुभव ही सज-धजकर निकल पडते हैं। उदाहरण के लिए यदि कोई माँझी एक ऐसे छोटे ताल में मछली मारने जाय जहाँ उसने चार मछलियाँ गिनकर पहले ही से रख दी हैं, और उन चारों को मारकर वह घर ले आए और अपनी मछली पकडने की कला की प्रशंसा करे तो उसकी कला ही क्या? इसी प्रकार कवि जब हमारे स्थायित्व पाये हुए भावों को प्रकाशित करे तो उसकी कला कला नहीं; वह वाह्याडम्बर-मात्र है।

भावुकता की बाधा

आलोचकों की अनुचित भावुकता भी उनकी आलोचना में दोष प्रकट करेगी; और भावुकता एक ऐसा साधारण तत्त्व है जो प्रचुर मात्रा मे प्रत्येक व्यक्ति मे अस्पष्ट अथवा स्पष्ट रूप में सतत रहा करता है। भावुकता आ-आकर हमारे भाव-कोष को धूमिल किया करती है। उसके कारण हमारे मूल भाव समुचित

मात्रा में अपना विकास नहीं कर पाते और न सम्यक् रूप में प्रकाश ही पाते हैं। जब-जब भावुकता सुगम अथवा सहज रूप से हमारे भाव-संसार पर छाएगी तब-तब आलोचना दूषित होगी। कुछ कवि अथवा कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो अकारण ही रोदन में आनन्द प्राप्त करते हैं; कुछ ऐसे भी होते हैं जो भावों के अनुचित आधिक्य से ही संतोष पाते हैं। जब तक कि उनका रोदन आकाश और धरती न हिलाए और जब तक उनकी करुणा रोते-रोते नेत्रविहीन न हो जाय तब तक वह यह समझते हैं कि करुण रस का परिपाक समुचित मात्रा मे हुआ ही नहीं। इसके साथ-साथ आलोचक कभी-कभी अपनी उन भावनाओं को भी प्रकाशित करने लगते है जिनको अनेक पारिवारिक अथवा सामाजिक कारणों से वे अपने मनस्तल में छिपाये रहते हैं। हमारी भावुकता तथा हमारे मनस्तल मे छिपी हुई अनेक वर्जित तथा असंयत भावनाएँ हमारे आलोचना-कार्य मे बाधा डालती रहेगी।

रूढ़ि तथा पक्षपात की भावना

प्रायः पाठक तथा आलोचकवर्ग सिद्धान्त-विशेष के पोषक होने के कारण साहित्य—विशेषतया काव्य—की ठीक परख नही कर पाते। सिद्धान्त विशेषतया हमारे धार्मिक, आर्थिक तथा देशीय जीवन से सम्बन्ध रखेंगे और जब-जब हम काव्य की परख करने निकलेंगे उनकी छाप सदैव हमारे मस्तिष्क पर प्रस्तुत रहेगी। हम सदैव काव्य को उसी सैद्धान्तिक कसौटी पर कसने का प्रयत्न करेंगे। हम किंचित् मात्र भी यह न सोचेंगे कि यह सिद्धान्त, जो हमने अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण के कारण अपना लिए हैं उनसे कला का कोई सम्बन्ध है अथवा नहीं। हम यह चाहेंगे कि काव्य हमारे सिद्धान्त-विशेष का पोषण करे; हम यह चाहेंगे कि काव्य हमारे ही दृष्टिकोण से लिखा जाय और हम यह भी आशा करने लगेंगे कि हमारे लिए वही काव्य हितकर है, जो हमारे सिद्धान्त-विशेष की पुष्टि करे। यदि काव्य हमारे सिद्धान्त की पूर्ति नहीं करता तो वह निरर्थक है। इस दूषित दृष्टिकोण द्वारा प्राचीन काल से लेकर आज तक आलोचना दूषित होती आई है। सिद्धान्तों को प्रधानता देने वाली और काव्य को गौण रूप में रखने वाली विचार-धारा आजकल बहुत व्यापक रूप ले रही है, जिसके कारण अनेक वादो का जन्म हुआ है।

आलोचना-क्षेत्र की कुछ अन्य कठिनाइयाँ व्यवहृत शैली द्वारा भी कभी-कभी प्रस्तुत हो जायँगी। उदाहरण के लिए प्राचीन काल में नाटक-रचना में केवल पाँच अंकों की व्यवस्था थी और उन अंकों मे ही नाटककार अपने सम्पूर्ण विषय-वस्तु का प्रकाश करके अपनी अभीष्ट-सिद्धि कर लेते थे। इसलिए हम यह

समझने लगे हैं कि नाटक में पाँच ही अंक आवश्यक हैं और यदि कोई आधुनिक नाटककार तीन या छः अंकों मे अपने नाटकीय ध्येय की पूर्ति करता है तो हम उसमें दोष निकालने लगते हैं। हम नाटक के वास्तविक तत्त्वों की ओर ध्यान न देकर उसके बाह्य रूप की व्याख्या में उलझ जाते हैं। दूसरे, जो-जो शैलियाँ तथा जो-जो साहित्य अथवा काव्य-रूप अथवा 'फॉर्म' प्रतिष्ठित तथा प्रचलित हो चुके हैं हम उन्हीं को मान्य समझने लगते हैं, जिसका विषम फल काव्य के मूल्यांकन मे सतत दिखाई देता है। इस दृष्टि से यदि महाकाव्य मे नियत पृष्ठ न हुए अथवा गीत-काव्य में दो चार पंक्तियाँ घट-बढ गई अथवा अतुकान्त हुई तो हम उन्हें दोषपूर्ण समझने लगते हैं। इसके अर्थ तो यह हुए कि हम गायक के गायन की आलोचना गीत की ध्वनि और उसकी मार्मिकता के आधार पर न करके गायक की अवस्था तथा उसके रूप-रंग के आधार पर करें।

कभी-कभी कुछ विशेष आलोचना-प्रणाली के प्रति पक्षपात रखने मे भी हम साहित्य की विशुद्ध आलोचना से विमुख रह जाते हैं। आलोचना लिखते समय हमारा पक्षपात एक विशेष आलोचना-प्रणाली की ओर हमें अग्रसर करता रहता है। वह बार-बार उसे ही अपनाने की हमें चुनौती दिया करता है और इसका फल यह होता है कि आलोचक सत्-समालोचना के मार्ग पर अग्रसर नहीं हो पाता।

वस्तुतः आलोचना-क्षेत्र के जिन उपर्युक्त दोषों की ओर संकेत किया गया है वह एक-दूसरे से सम्बन्धित है। अर्थ या अनर्थ तथा रसेन्द्रियों की दूषित अनुभूति एक ही वर्ग के दोष हैं और दोनों अन्योन्याश्रित हैं। कल्पना-प्रसूत दोष, स्मरण-शक्ति-सम्बन्धी त्रुटियाँ और स्थायी प्रतिक्रियाओं की बाधाएँ भी एक ही वर्ग के दोष हैं। भावुकता तथा मनस्तल में छिपी हुई वर्जित भावनाएँ हमारे किसी सिद्धान्त-विशेष के पोषक होने के द्वारा ही प्रादुर्भूत होंगी। यदि आलोचक सतर्क रहे और अपनी आलोचना में इन दोषों का निराकरण करता रहे तो उसकी आलोचना का अधिकांश महत्त्वपूर्ण तथा विश्वसनीय होगा। आलोचक पर ही सत्-समालोचना का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व है। इन आलोचनात्मक बाधाओं का विवेचन हम अगले पृष्ठों मे विस्तारपूर्वक करेंगे।

: ४ :

भाषा-प्रयोग तथा अर्थ वैभिन्य

जैसा कि हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं आलोचकों की आलोचना अधिकांश रूप मे इसीलिए दोषपूर्ण रहा करती है कि वे काव्य के अर्थ पूर्णतया नहीं समझ

पाते। कभी-कभी क्या, वे प्रायः अर्थ को महत्त्व भी नही देते। वे यह भी नहीं जानते कि जब-जब हम काव्य का अर्थ समझने की कोशिश करते हैं तो हममें कौन-कौनसी मानसिक प्रतिक्रियाएँ होने लगती हैं। वे यह भी नहीं जानते कि उनका अभीष्ट क्या है; और जो कुछ भी उन्होने पाया है उसका मूल्य क्या है। यदि हमे इन प्रश्नों का हल मिल जाय तो आलोचना-क्षेत्र की अनेक जटिल गुत्थियाँ सुलझ जायँगी और आलोचक का कार्य सरल हो जायगा। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ-एक आलोचक और पाठक ऐसे भी होते हैं जो अपनी सहज प्रतिभा द्वारा, बिना किसी प्रयास के और बिना इन उपर्युक्त प्रश्नों का हल ढूँढे हुए सफल आलोचना लिख लेते हैं।

काव्य के अर्थ के सम्बन्ध में यह भली-भाँति जान लेना आवश्यक है कि काव्य में अर्थ-वैभिन्य तथा उसकी व्यापकता द्वारा ही अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। जब हम काव्य रचते अथवा वार्तालाप करते हैं तो प्रायः हमारे द्वारा रचित काव्य तथा हमारे द्वारा बोले हुए शब्द अनेक अर्थों तथा अनेक संकेतो के प्रतिरूप हुआ करते हैं। एक ही पंक्ति अनेक अर्थों का समूह प्रस्तुत करने लगती है और काव्य की भाषा का यह सहज गुण भी है। साधारणतः भाषा के चार विभिन्न कार्य माने गए हैं और इन्हीं चार कार्यों पर आलोचना आधारित रहेगी।

भाषा का पहला कार्य है विचार-प्रकाश। जब-जब हम भाषा प्रयुक्त करते हैं हमारा प्रमुख ध्येय यह रहता है कि हमारे विचार अथवा भाव दूसरो तक पहुँचें। कभी हम चाहेगे कि किसी समस्या पर जो हमारे विचार हों दूसरे समझें और दूसरों के विचार हम समझे, और कभी चाहेगे कि जो भाव हमारे हृदय में हैं वे ही भाव दूसरो में भी प्रकाश पाएँ। जीवन की अनेक घटनाओं, अनुभवो तथा परिस्थितियो—सभी पर हम कुछ-न-कुछ सोचा-विचारा करते हैं और तदुपरान्त अपने सोच-विचार को दूसरो तक पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। इसके साथ-ही-साथ ऐसा भी होता है कि जब कभी हम अपने विचार दूसरो तक पहुँचाने का प्रयत्न करते है उस समय हमारा एक दृष्टिकोण भी प्रस्तुत रहता है जिसके सहारे हमारे विचार किसी विशेष रूप में दूसरो तक पहुँचते हैं। कभी हम अपने विचारों को आंशिक रूप मे तथा पक्षपातपूर्ण होकर व्यक्त करेंगे; कभी पक्षपातरहित होकर स्पष्टवक्ता बन जायँगे और कभी ऐसे दृष्टिकोण से अपनी बात सामने रखेंगे कि उसीको सब महत्त्वपूर्ण समझने लगेंगे और उसी के आधार पर हमारे कथन का मूल्य निर्धारित होगा। हाँ, यह हो सकता है कि अपनी बात कहते हुए न तो हमें अपने पक्षपात का ध्यान

आए और न किसी विशेष दृष्टिकोण का ही हमें ध्यान रहे; हम अपनी बात इतनी सरलता तथा सहज रूप में भी कह सकते हैं कि हमें दोनो ही का कोई स्पष्ट ध्यान न आए। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि हम दो व्यक्तियों की मैत्री अथवा शत्रुता पर अपने विचार प्रकट कर रहे हैं अथवा अर्द्धरात्रि की शान्ति और मध्याह्न के कोलाहल पर अपने भावो का प्रकाश हमारा अभीष्ट है। जैसा भी हमारा सम्बन्ध दोनों व्यक्तियों से होगा उसी दृष्टिकोण से हमारा विचार भी प्रकाश पाकर एक को दोषी अथवा निर्दोष ठहराएगा और जैसा भी हमारा व्यक्तिगत अनुभव होगा उसी के आधार पर अर्द्धरात्रि तथा मध्याह्न काल द्वारा प्रादुर्भूत भावनाएँ भी प्रकाश पाएँगी। यदि हमारे अनुभूति-कोष में अर्द्धरात्रि केवल शान्ति की प्रतीक रही तो हम उसे शान्तिदायिनी ठहराएँगे और यदि भय का अनुभव हुआ तो वह हमारे लिए भय तथा अन्धकार की प्रतीक बन जायगी। जो भी हो, हमारा विचार-प्रकाश हमारे पुराने अनुभवों से रंजित होगा, जिसके आधार पर हम एक विशेष दृष्टिकोण से ही अपनी बात कहेंगे।

अर्थ के सम्बन्ध मे हमे अपने कथन के लहजे पर भी ध्यान रखना होगा। विचारो तथा भावों के प्रकाश में सबका अलग-अलग लहजा हुआ करता है और यह लहजा हमारे श्रोतावर्ग के मानसिक स्तर के अनुसार परिवर्तित भी हुआ करता है। जैसा हमारा श्रोतावर्ग होगा वैसा ही हमारा शब्द-प्रयोग भी होगा और जैसा भी सम्बन्ध हम उनसे निबाहना चाहेंगे उसीके अनुसार हमारी शब्दावली तथा हमारी कथन-शैली भी परिवर्तित होती जायगी। वक्ता अथवा लेखक जितना ही अपना लहजा परिवर्तित करेगा उससे उसका तथा श्रोताओ का सम्बन्ध उतना ही स्पष्ट होगा। जब हम यह सिद्धान्त रूप मे मान लेंगे कि जिस पाठकवर्ग के लिए हम अपनी रचना प्रस्तुत करेंगे उसी के स्तर के अनुसार हमारी शैली भी बदलेगी तथा हमारा लहजा भी परिवर्तित होगा, तब हम अत्यन्त सरलतापूर्वक आलोचना की रूप-रेखा निर्मित कर लेंगे। उदाहरण के लिए हमें निम्न वर्ग के लिए कोई रचना प्रस्तुत करनी है। हम उसी के अनुसार अपना लहजा भी बना लेंगे। हमारे इस लहजे में हमारा गर्व, हमारी करुणा, हमारा अहंकार अथवा हमारी सहानुभूति मनोनुकूल स्थान पायगी; और यदि हमें श्रेष्ठ वर्ग के लिए रचना करनी है तो हमारे लहजे में श्रद्धा अथवा अश्रद्धा इत्यादि की भावना रहेगी।

भाषा-प्रयोग मे अपने लक्ष्य का भी ध्यान आवश्यक होगा, क्योंकि लेखक का लक्ष्य चाहे व्यक्त हो अथवा अव्यक्त, उसी की सिद्धि में वह सलग्न

रहेगा। साधारणतः वह किसी कार्य-सिद्धि के लिए ही भाषा का प्रयोग करता है और इसी कारण उसका भाषा-प्रयोग स्वच्छन्द न होकर अनेक रूप मे सीमित हो जाता है; और जब तक हम लेखक के लक्ष्य को स्पष्टतया नही समझ लेते हम न तो उसकी भाषा के अर्थ ग्रहण कर पाएँगे और न प्रयोग की सफलता-विफलता का निर्णय कर सकेंगे। लेखक कभी तो अपने निजी विचार अथवा भाव प्रकाशित करेगा; कभी श्रोतावर्ग के अनुसार अपना दृष्टिकोण परिवर्तित करेगा और कभी-कभी टीका-टिप्पणी करते हुए अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होगा और इन सभी परिस्थितियों मे उसकी भाषा की रूप-रेखा परिवर्तित होती जायगी। लेखक का लक्ष्य समझकर ही उसकी सफलता तथा विफलता का निर्णय करना आलोचना-क्षेत्र का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है।

लेखक जब किसी कार्यवश भाषा का प्रयोग करेगा तब कभी तो वह अर्थ को प्रधानता देगा, कभी अपनी रुचि और दृष्टिकोण को आगे रखेगा, कभी अपने लहजे को ही विशेष महत्त्व देगा, और कभी केवल अपनी लक्ष्य-सिद्धि को ही ध्यान में रखकर सबको थोडा-थोडा स्थान देगा। परन्तु सबसे मुख्य बात तो यह है कि भाषा-प्रयोग के उपर्युक्त कार्य एक-दूसरे से गहरे रूप में सम्बन्धित हैं। कहानी अथवा उपन्यास-लेखक अपनी भाषा मे अपने अर्थ और लहजे को महत्त्व देगा; विज्ञानज्ञ अर्थ को ही प्रधानता देगा और अपनी रुचि तथा दृष्टिकोण को कुछ भी महत्त्व नही देगा; और यदि दृष्टिकोण को वह उपयोगी समझेगा तो भी उसकी रूप-रेखा, अपने श्रोतावर्ग की विद्वत्ता के स्तर के अनुसार, वह परिवर्तित करता रहेगा। महाकाव्य-लेखक को अर्थ, दृष्टि-कोण, लहजे तथा लक्ष्य-सिद्धि का ध्यान समान रूप में रखना होगा और यही नाटककार के लिए भी अपेक्षित है। अपने दैनिक वार्तालाप मे हम भाषा-प्रयोग की चारो कठिनाइयाँ भली-भाँति समझ लेंगे; कभी तो हमे अपनी रुचि तथा दृष्टिकोण को महत्त्व देना होगा; कभी अपने लहजे को ही प्रधानता देनी पडेगी और कभी लक्ष्य-सिद्धि को ही सम्मुख रखना पडेगा। इसी प्रकार कवि अथवा कलाकार भी, जो अपने पाठकवर्ग से एक प्रकार का संवाद ही करता है, अपने सन्देश के लिए कभी लक्ष्य का, कभी लहजे का तथा कभी रुचि तथा दृष्टिकोण का मनोनुकूल ध्यान रखेगा। अपनी लक्ष्य-सिद्धि के लिए कभी वह अपने सन्देशो की रूप-रेखा बदलेगा, कभी तर्कहीन स्थलों को स्थान देगा, कभी अलंकार-प्रयोग द्वारा अपने लहजे को ही प्रधानता देगा। तात्पर्य यह है कि कलाकार, भाषा के चार कार्यों के वशीभूत, अपने लक्ष्य और दृष्टिकोण, लहजे तथा भाव-प्रकाश, सबमे परिवर्तन किया करता है जिसको

सम्यक् रूप में न समझने के कारण आलोचक श्रेष्ठ आलोचना लिखने में विफल रहते हैं। कभी तो कवि शब्दार्थ पर जोर देता है, कभी लक्ष्यार्थ पर; और कभी-कभी निरर्थक अथवा तर्करहित पंक्तियों द्वारा अभीष्ट-सिद्धि का प्रयत्न करता है; कभी वह केवल अपने लहजे के जोर पर ही अपनी लक्ष्य-सिद्धि करने लगता है। और इनको समुचित रूप में हृदयंगम करने के पश्चात् ही आलोचक को सफलता प्राप्त हो सकेगी।

आलोचनात्मक बाधाओं का निराकरण

जैसा कि हम पिछले पृष्ठों में स्पष्ट कर चुके हैं पाठक-वर्ग साधारणतः ठीक-ठीक अर्थ न समझकर और अर्थ का अनर्थ करके आलोचना लिखने में विफल रहते हैं और यह केवल इसलिए होता है कि पाठक या तो ध्यानपूर्वक कविता अथवा साहित्यिक कृति पढते नहीं अथवा उसकी भाषा क्लिष्ट होने के कारण उसके सही अर्थ नहीं निकल पाते। परन्तु इस दोष का निराकरण सरल है, वह यह कि पाठक को कविता अनेक बार पढने के उपरान्त ही कवि के अर्थ, उसके लक्ष्य तथा उसकी अभीष्ट-सिद्धि की आलोचना करनी चाहिए। काव्य को अनेक बार पढने पर उसके रहस्यपूर्ण अथवा क्लिष्ट अर्थ स्वतः स्पष्ट होने लगते हैं। साधारणतः कवि अपनी लक्ष्य-सिद्धि के लिए पहले से ही किसी निर्णय को लेकर नहीं चलता; ज्यों-ज्यों काव्य की रूप-रेखा बनती जाती है त्यों-त्यों कवि भी अपने लक्ष्य को स्पष्ट रूप में देखने लगता है। पहले से कदाचित् ही वह अपने लक्ष्य की ओर संकेत कर सके। और जब किसी काव्य पर कवि के रहस्यपूर्ण व्यक्तित्व की छाप भी रहेगी तो उसे अनेक बार पढने के उपरान्त ही हम उसका अर्थ हृदयंगम कर सकेंगे। कुछ लोगो का विचार है कि काव्य में अर्थ और पद-विन्यास की कोई महत्ता नही; परन्तु यह विचार भ्रमपूर्ण है। कवि पद्यांशों द्वारा ही हमारे मानस को तरंगित करके हमारे भावों पर अधिकार पाता है; और यदि हम पद्यांशो का अर्थ और उनकी ठीक-ठीक व्याख्या न कर सके तो हम काव्य के हृदय को नहीं छू पाएँगे। इसके यह तात्पर्य नही कि हमें काव्य के शब्दार्थ पर ही सबसे अधिक जोर देना चाहिए। शब्दार्थ आवश्यक तो है, परन्तु उससे भी अधिक आवश्यक वह अर्थ है जो शब्दों की सीमित शक्ति के कारण कवि संकेत-रूप में ही स्पष्ट कर पाता है। शब्दार्थ, भावार्थ, तथा संकेतात्मक अर्थ, सभी पर श्रेष्ठ आलोचक की आँख लगी रहेगी। उसे अप्रचलित शब्दों से परिचय प्राप्त करना होगा, अपने अधूरे ज्ञान को सम्पूर्ण करना पड़ेगा और विद्वान् की दृष्टि से कवि के अर्थ तथा उसके लक्ष्य का अनुसन्धान करना पड़ेगा; और तभी वह सत्-समालोचक बन सकेगा।

अलंकारों का संकेत

काव्य की अलंकारपूर्ण भाषा तथा काव्यात्मक शब्दों का संकेतात्मक अर्थ—दोनों ही आलोचक के लिए प्रायः कठिन जान पड़ेंगे और जब तक वह काव्यात्मक शब्दावली तथा अलंकार के हृदय का पारखी न होगा तब तक उसकी आलोचना नीरस रहेगी। साधारणतः पाठकवर्ग तथा आलोचक अलंकारपूर्ण पद्यांशों के शब्दिक अर्थ मे ही उलझे रहते हैं और जब तक कि उपमा और उपमेय की समानता अक्षरशः प्रमाणित नहीं कर लेते तब तक उन्हे संतोष नहीं होता। कुछ पाठकवर्ग तो इतने अज्ञानी होते हैं कि वे काव्यात्मक भाषा और आलंकारिक प्रयोगों को निरर्थक तथा प्रलाप-मात्र समझते हैं। कवि का अलंकार-प्रयोग तथा उसके विचारों की कल्पनात्मक तथा काव्यात्मक अभिव्यंजना को उचित रूप मे समझने के लिए आलोचक को विशेष रूप मे सतर्क रहना पड़ेगा और सतर्क रहकर ही वह कवि के भाव और उसके लक्ष्य को पहचान सकेगा। कवि का मानस तो एक विस्तृत तथा अथाह सागर है और पाठकवर्ग शब्दों की छोटी-मोटी नौकाओं के द्वारा ही उस पर विहार करना तथा उसे थाहना चाहता है। शब्दों की शक्ति तो सीमित है और हद-से-हद वे संकेत-रूप में ही हमें कवि-हृदय की झाँकी दिखलाएँगे; और यह हमारी शक्ति पर निर्भर है कि हम किस मात्रा मे उस संकेत को समझें। अलंकार केवल कवि की सौन्दर्यप्रियता के ही नहीं वरन् उसकी सीमित शब्दावली के भी प्रमाण हैं। जब कभी शब्द-शक्ति कवि को निराधार छोड देती है' तब वह अपनी कल्पनात्मक शक्ति के सहारे अलंकारों के परी-देश में पहुँच जाता है और वहाँ से नये-नये रत्नाभूषण लाकर काव्य-सुन्दरी को सुसज्जित करता है। यथार्थतः अलंकार काव्य-प्रासाद के बृहत् स्तम्भ हैं।

काव्य-रचना मे कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कवि अभीष्ट-सिद्धि के लिए अपनी विचार शृङ्खला तोड बैठता है, सम्बन्धवाचक शब्द छोड़ देता है और बिना एक अलंकार की पूर्ण रूप-रेखा बनाए दूसरे अथवा तीसरे अलंकार-प्रयोग में संलग्न हो जाता है। ऐसी परिस्थिति मे अपनी सीमित कल्पना तथा अपने सीमित अनुभवो के कारण हम कवि का साथ नहीं दे पाते और पीछे छूट जाते हैं। जिस प्रकार अन्धे भिखारी के हाथ में छोटी लकडी पकड़ाकर उसका छोटा बालक चौडे मार्ग पर तो धीरे-धीरे चलकर उसका पथ-प्रदर्शन सहज रूप में कर लेता है परन्तु जहाँ कही भी भीड़ अथवा भय होता है वह भिखारी को जल्दी-जल्दी चलने पर बाध्य करने लगता है और एक समय ऐसा भी आता है कि भीड़ के दबाव में अन्धे के हाथ की लकड़ी छोड़कर वह आगे

निकल भागता है। उसी प्रकार कवि, शब्दो और अलंकारो की लकुटि हाथ मे देकर आगे चला चलता है और हमारा पथ-प्रदर्शन किया करता है, परन्तु उसके भावों की भीड और उसके कल्पना का आवेश उससे हमारा साथ छुडा देती है और शब्द और अलंकार की ही लकुटि हमारे हाथ मे रह जाती है। उसी के सहारे हम काव्य-मार्ग पर चलने का प्रयत्न करते हैं और ऐसी परिस्थिति में जो भी कठिनाइयाँ हमें राह में झेलनी पड़ेंगी उनकी कल्पना हम सहज ही कर सकते हैं।

कवि का उद्देश्य

आलोचक के लिए सबसे आवश्यक बात तो यह है कि वह सबसे पहले कवि के उद्देश्य अथवा लक्ष्य का अनुसन्धान करे, क्योंकि अपनी लक्ष्य-पूर्ति के लिए उसे सभी अधिकार प्राप्त हैं। इस अधिकार के अन्तर्गत वह निरर्थक शब्दों का प्रयोग करने, अलंकारों को अपूर्ण छोडने, अप्रचलित शब्दों का प्रयोग करने तथा प्रचलित शब्दों को दुहराने के लिए पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है। यदि वह अपने लक्ष्य की पूर्ति कर लेता है और अभीष्ट-सिद्धि कर सकता है तो हमें उसके विरुद्ध असन्तोष प्रकट करने का अधिकार नहीं। अनेक आलोचक कवि के लक्ष्य की ओर ध्यान न देकर उसके अर्थ-दोष अथवा मिश्रित अलंकार के प्रति अपना असन्तोष प्रकट किया करते हैं। मिश्रित अलंकारों की अपनी अलग उपादेयता है। आलोचक को तो केवल यह देखना है कि उनका प्रयोग लक्ष्य-पूर्ति तथा अभीष्ट-सिद्धि में सहयोग प्रदान करता है अथवा नहीं। यदि अलंकार के विभिन्न अंग काव्य भाव को विकसित तथा अनुरंजित करते है तो उनकी उपयोगिता प्रमाणित है। यदि उनके द्वारा न तो काव्य-भाव का विकास होता है और न उसके अनेक अंग एक-दूसरे पर अवलंबित ही हैं तो उसकी कोई उपादेयता नहीं। कवियो का सर्वप्रिय काव्यालंकार मानव-गुणारोप रहा है। उसका प्रयोग वे अत्यधिक मात्रा में किया करते हैं और उसकी उपयोगिता भी प्रमाणित है, क्योंकि उसके सहारे कवि अपने भावों को मनोनुकूल उलट-पलट सकता है और अभीष्ट-सिद्धि कर सकता है; हाँ इतना अवश्य होना चाहिए कि उसका लक्ष्य स्पष्ट रहे और उस लक्ष्य की श्रेष्ठता भी प्रमाणित होती जाय। साधारणतः श्रेष्ठ आलोचकों का यह कथन भी रहा है कि मानव-गुणारोप-अलंकार काव्य का सदैव से अविरल स्रोत रहा है : इसी प्रयोग द्वारा अनेक कवियों ने अपनी समुज्ज्वल काव्य-प्रतिभा का प्रमाण दिया है; इसी के द्वारा उन्होंने अनेक नीरस विषयों तथा साधारण जीवन के अनुभवों में काव्य की अद्भुत आत्मा के दर्शन कराये हैं। भाषा के अनेक अंग भी स्वतः ऐसे हैं

जो सतत काव्य मे मानवगुणारोप-अलंकार प्रयोग की प्रेरणा दिया करते हैं। भाषा की नैसर्गिक गति, सर्वनाम, क्रिया तथा क्रिया-विशेषण सभी के द्वारा यह प्रेरणा मिलती है। इसके साथ-ही-साथ इस अलंकार-प्रयोग में हमारी भावनाएँ, हमारे विचार, हमारी चित्त-वृत्तियों के संघर्ष की कहानी भी छिपी रहती है, क्योंकि जीवन के विषय मे हम जो कुछ भी सोचते-समझते हैं उन्हीं का गुणारोप जड़ जगत् पर किया करते हैं। इन प्रयोगो द्वारा हमारी मानसिक क्रिया-प्रतिक्रियाएँ तीव्र होती रहती है और इनके द्वारा हम अपने को भी समझने मे सफल होते हैं। दूसरे, मानवगुणारोप-अलंकार द्वारा हम संक्षेप में बहुत-कुछ कहने मे सफल होगे जितना साधारण रूप में कहने के लिए हमें अनेक पंक्तियाँ लिखनी पड़ेंगी। इसमे हमारी अनेक-रूपी भावनाओ की संक्षिप्त समष्टि रहती है। संक्षिप्त कथन तथा भाषा के कम-से-कम अथवा अल्प-व्यय मे ही काव्य का आकर्षण निहित है। इसी गुण पर काव्य-सुन्दरी का सौन्दर्य बहुत-कुछ अंश में निर्भर है। हमारी भावनाओं को जब संक्षेप कथन की पायल पहना दी जाती है तो उनकी झंकार में एक अपूर्व सौन्दर्य आ जाता है। परन्तु कवि को इस विषय में सतर्क रहना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि यदि उपमा तथा उपमेय के अनेक गुणों की विस्तृत व्याख्या की गई तो काव्य-सौन्दर्य कम होने की सम्भावना प्रस्तुत हो जायगी। दो-चार ही गुणो का आरोप काव्य-सौन्दर्य के लिए फलप्रद होगा। स्पष्ट है कि आलोचना-क्षेत्र का सबसे बडा अवगुण काव्य के शब्दार्थ पर जोर देने से प्रस्तुत होता रहता है; और आलोचको को यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि श्रेष्ठ काव्य के यथोचित रसास्वादन के लिए बौद्धिक चेतनता तथा मानसिक सतर्कता अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इन्हीं दोनों की सहायता से शब्द, भाव, कल्पना तथा शैली इत्यादि का रहस्योद्घाटन हो सकेगा।

मानसिक एकाग्रता

प्रत्येक आलोचक अथवा पाठक को यह भी स्मरण रहना चाहिए कि श्रेष्ठ काव्य का रहस्य केवल चलताऊ रूप में पठन-पाठन के फलस्वरूप नहीं खुल सकता। उस रहस्योद्घाटन के लिए मानसिक श्रम तथा एकाग्रता की आवश्यकता पड़ेगी। केवल शब्दार्थ पर जोर देने से भी कोई लाभ नहीं होगा और आलोचक को इस अनुसन्धान मे लगे रहना पड़ेगा कि कहाँ तक शब्दार्थ, कहाँ तक भावार्थ, तथा कहाँ तक संकेतार्थ कवि की अभीष्ट-सिद्धि मे सहायक हो रहा है और उसी मात्रा में—उसे तीनो को—अपनी आलोचना मे स्थान देना पड़ेगा। यदि वह इन तीनों में से किसी एक पर ही किसी कारणवश जोर दे चलता है

तो उसे काव्य का सम्पूर्ण रस न मिल सकेगा, क्योंकि कवि तो अभीष्ट-सिद्धि के लिए अनेक मार्गों के अनुसरण करने में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है और हमें उसकी इस स्वतन्त्रता पर बन्धन लगाने का अधिकार नहीं। हमे केवल यही अधिकार है। हम उसकी अभीष्ट-सिद्धि के साधनो पर पूर्ण ध्यान रखें और अन्ततोगत्वा यह निश्चय करें कि उसको उन साधनों द्वारा कहाँ तक सफलता मिली। हमें कवि से यह पूछने का अधिकार नहीं कि उसने अमुक साधन क्यों नहीं अपनाया, और अमुक लक्ष्य अपने सम्मुख क्यों नहीं रखा; अमुक विषय क्यों चुना और अमुक शैली क्यो नहीं प्रयुक्त की। हमे जो-कुछ भी अधिकार प्राप्त है वह यह है कि अमुक साधन अपनाकर और अमुक शैली प्रयुक्त करके, कलाकार को अभीष्ट-सिद्धि में कहाँ तक सफलता मिली; कवि का लक्ष्य क्या था; उसके साधन क्या थे; उसकी सफलता की मात्रा क्या है। इन्हीं तीनो प्रश्नों के उत्तर पर श्रेष्ठ आलोचना आधारित रहेगी।

लक्ष्य का अनुसन्धान

जैसा कि हम पहले संकेत दे चुके हैं, कवि के उद्देश्य अथवा लक्ष्य-साधन द्वारा काव्य के अर्थ में अनेक भ्रम उत्पन्न होंगे और यदि आलोचक अथवा पाठक-वर्ग सतर्क न रहे तो वे उसकी सफल आलोचना भी न कर पाएँगे। जब तक हम कवि के उद्देश्य अथवा लक्ष्य को भली-भाँति समझ न लें हमें उसकी कविता का अर्थ लगाना दुष्कर होगा; और यदि हमने अपने बौद्धिक चातुर्य से उसका अर्थ लगा भी लिया तो हम काव्य की आत्मा को ग्रहण न कर पाएँगे। केवल अर्थ के बल पर कवि के लक्ष्य को पूर्णरूपेण समझ लेना कठिन है और जब तक हम दोनों को पूर्णतया हृदयंगम न कर लेंगे हमारी आलोचना दूषित होगी। आलोचक को कवि के लक्ष्य के साथ-साथ उसके लहजे पर भी पूरा ध्यान देना होगा, क्योंकि लहजे के कारण कवि के अर्थ तथा उसके उद्देश्य, दोनों में अस्त-व्यस्तता आ जाने की सम्भावना है। प्रायः लोगों की यह धारणा रहा करती है कि लहजे का महत्त्व केवल वार्तालाप अथवा वादविवाद मे ही रहता है परन्तु मनोविज्ञान तथा साहित्यिक अनुसन्धान ने यह सिद्धान्त निश्चित-सा कर दिया है कि काव्य-रचना मे लहजे का महत्त्व भी कम नहीं। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होगा कि कवि के लहजे ने ही उसकी कविता को अमरत्व प्रदान किया और यदि उसका लहजा अमुक प्रकार का न होता तो उसकी अमुक कविता इतनी लोकप्रिय न हो पाती जितनी कि वह है। प्रायः ऐसी कविताओं में भाव तो सामान्य कोटि के होते हैं और कल्पना भी उत्कृष्ट नहीं होती परन्तु लहजा इतना सौष्ठवपूर्ण तथा हृदयग्राही होता है कि कविता जबान पर चढ

जाती है और भुलाए नहीं भूलती। कुछ आलोचकों का विचार है कि शैली का महत्त्व लहजे से अधिक है, परन्तु सच बात तो यह है कि लहजा ही शैली का प्राण है और जो-कुछ भी उत्कृष्टता अथवा रहस्य शैली मे रहा करता है उसके पीछे लहजे की ही झाँकी बार-बार दिखलाई देगी। ज्यो ही लेखक अथवा कवि ने पाठकवर्ग के प्रति अपना लहजा निश्चित कर लिया त्यों ही उसकी शैली की रूप-रेखा बनती जायगी और वह लहजा जितना ही सौष्ठवपूर्ण, जितना ही औचित्यपूर्ण तथा जितना ही पाठकवर्ग के बौद्धिक अथवा मानसिक अनुभूतियो के अनुरूप होगा उतना ही काव्य की लोकप्रियता बढती जायगी। कवि के लहजे तथा पाठक के हृदय दोनो मे वही सम्बन्ध है, जो दो अनन्य मित्रों में होता है; आँखों-ही-आँखो में दोनो एक-दूसरे की बात समझ जाते हैं।

जिस कवि की कविता अपना लहजा उचित स्तर पर नही रखती, लोक-प्रिय नहीं हो पाती। कभी तो लहजे से ऐसा ज्ञान होने लगता है कि कवि शिक्षक के स्थान पर खड़ा होकर हमें पाठ पढाने का प्रयत्न कर रहा है; कभी ऐसा मालूम होता है कि वह हमे निकृष्ट समझकर आदेश दे रहा है और अपनी सत्ता जमाने का प्रयत्न कर रहा है और कभी ऐसा आभास मिलता है कि कवि हमारे वर्ग का ही प्राणी न होकर देव-लोक से आशीर्वाद देने में संलग्न है; भूल से अथवा अज्ञानवश अथवा अहंभाव के वशीभूत होकर वह दो-एक ऐसे शब्द प्रयुक्त कर देता है अथवा प्रयुक्त वाक्यांशो में ऐसी भावना का संकेत देता है जो हमें कवि के हृदय तक नही पहुँचातीं और उसका सहारा ढूँढने में बाधा प्रस्तुत करती हैं। हमे कवि तथा उसके लक्ष्य पर सन्देह होने लगता है। हम उससे अपनत्व स्थापित नहीं कर पाते। ऐसी दशा मे न तो कवि लोकप्रिय हो पाता है और न उसकी कविता ही सर्वप्रिय हो पाती है। जब तक पाठकवर्ग कवि में अपनत्व का आभास नहीं पाता; जब तक उसे यह विश्वास नहीं होता कि कवि उसीके जगत् का सामान्य प्राणी है; और जब तक यह धारणा घर बनाए रहती है कि कवि का हृदय तो कही और है और उसकी भाषा का ही चमत्कार उसे प्राप्त है, तब तक वह उससे अलग-थलग और खिचा-खिंचा-सा रहता है, क्योकि जिस प्रकार सामाजिक व्यवहार में औचित्य तथा समुचित विचार-प्रकाश की आवश्यकता पडती है उसी प्रकार काव्य में कवि का लहजा भी औचित्यपूर्ण तथा ग्राह्य होना चाहिए। परन्तु औचित्य का विचार सभी देशों तथा प्रत्येक काल मे एक-सा नहीं रहता। उसका स्तर बदलता रहता है। इसी कारण किसी युग-विशेष के कवि तो पाठकवर्ग के पास वैसे ही आते हैं जैसे शिक्षक विद्यार्थी के पास अथवा मित्र, मित्र के पास और

कोई युग ऐसा भी आता है जहाँ कवि पाठकवर्ग की कोई परवाह नहीं करते और अपने मे ही व्यस्त रहते हैं। और यह एक नियम-सा है कि अनुचित लहजे से श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ कविता या तो अपना वांछित प्रभाव नहीं डाल पाती और भुला दी जाती है अथवा महत्त्वहीन हो जाती है। हाँ, कभी-कभी ऐसा हो सकता है कि वाञ्छित प्रभाव डालने के लिए कवि कुछ विशेष शब्द-प्रयोग मे औचित्य की सीमा का थोड़ा-सा उल्लङ्घन कर बैठे और ऐसी परिस्थिति मे पाठक को और भी सतर्क रहना पड़ेगा। यों तो कवि को यह सहज अधिकार नहीं कि वह हम से वैसे ही बातें करे जैसे श्रेष्ठ वर्ग के लोग निम्न वर्ग के व्यक्तियो से करते है, परन्तु उसे हम यह अधिकार तभी देने को प्रस्तुत हो सकेंगे जब वह हमे इसका पूर्ण विश्वास दिला दे कि उसकी बात इतनी महत्त्व-पूर्ण और हमारे लिए इतनी कल्याणकारी है कि उसे सुनने के लिए हमे उसे यह अधिकार देना ही पड़ेगा। नाम के बल पर नहीं केवल महत्त्वपूर्ण सन्देश के बल पर उसे यह अधिकार मिल सकेगा। और यह अधिकार माँगकर यदि वह केवल ऐसी साधारण अथवा महत्त्वहीन बात कहता है जिसका अनु-भव हमे पहले से ही है तो हमे उस पर क्रोध आना स्वाभाविक ही होगा।

आलोचनात्मक कार्य मे साधारणतः आलोचक इसलिए और भी पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं कि वे शब्द के अर्थ और अपनी निजी भावना दोनों को अलग-अलग नहीं रख पाते; प्रायः दोनों के ही द्वारा आलोचनात्मक कार्य कठिन हो जायगा। कुछ शब्द परम्परागत प्रयोग के कारण एक विशेष प्रकार के अर्थ ग्रहण कर लेते हैं; कुछ अपनी ध्वनि-विशेष के कारण विशेष भावना का प्रसार करने लगते हैं; और कुछ सन्दर्भ के कारण नवीन् विशेषता ग्रहण कर लेते हैं। हमारी भावना का खेल तो हर स्थल पर रहा करता है और दोनों के पास आते ही एक विचित्र प्रतिक्रिया आरम्भ होने लगती है, जिसके द्वारा आलो-चनात्मक कार्य दुष्कर हो जाता है। कुछ शब्द तो भावना का प्रसार पहले करते हैं और अर्थ-प्रतिपादन बाद में; कुछ अर्थ की ओर पहले ध्यान आकृष्ट करेंगे बाद में भावना की ओर, और कुछ ऐसे भी होंगे जो दोनों कार्य साथ-ही-साथ करेंगे। इन सभी परिस्थितियों में आलोचक को पूर्ण रूप से सतर्क रहना पड़ेगा।

काव्य का आकार

कुछ आलोचक कविता के छन्द, गति, लय तथा मात्रा इत्यादि पर इतना जोर देते हैं कि वे काव्य की आत्मा तक नहीं पहुँच पाते; और कुछ ऐसे भी होते हैं जो उस ओर बिलकुल विमुख तो रहते हैं परन्तु कविता के आकर्षण की

परख नहीं कर पाते। आलोचकवर्ग कभी तो मात्रा अथवा पद गिनने में लग जाता है अथवा गति और लय की छान-बीन शुरू कर देता है; और जब कविता इन दोनो कसौटियों पर खरी नही उतरती तो उसकी निकृष्टता प्रमाणित की जाने लगती है। परन्तु वास्तव मे यह दोनों प्रणालियाँ श्रेयस्कर नहीं; छन्द, पद, गति तथा लय विभिन्न वर्ग के पाठकों पर विभिन्न प्रभाव डालते हैं और पाठक की मानसिक स्थिति से उनका गहरा सम्बन्ध है। छन्द, पद, गति तथा लय कभी-कभी ध्वनि के समकक्ष हार मान लेते हैं और जब ध्वनि अत्यन्त रुचिकर होती है तो सभी उसका आकर्षण ग्रहण कर लेते है। इससे यह प्रमाणित है कि छन्द के किसी एक अंग की विशेषता के कारण कविता श्रेष्ठ नही कही जा सकेगी; उसमे सबका सहयोग नितान्त आवश्यक है।

दूसरे वर्ग के पाठकों को काव्य की अलंकारिकता लुभाए रहती है। उनके लिए अलंकार ही काव्य का प्राण है और बिना उसके बहुल प्रयोग के वे सन्तुष्ट नही होते। परन्तु कुछ ऐसे भी होते है जो काव्य मे प्रयुक्त अलंकार की ओर ध्यान ही नहीं देते और यदि उनका ध्यान उस ओर आकृष्ट भी किया जाय तो भी उन पर कोई विशेष प्रभाव नही पड़ता। इसका कारण यह है कि जिन व्यक्तियो का अनुभव-संसार अधिकांशतः दृष्टि से सम्बन्धित रहता है वे प्रायः अलंकारो के प्रति अपूर्व श्रद्धा रखते हैं। वे अपने स्मृति-कोष में स्थित अनेक अनुभवो का प्रतिरूप अलंकारो मे देखना चाहते हैं। परन्तु जैसा हम पहले कह चुके हैं स्थायित्व पाए हुए अनुभव हमारे काव्यालोचन मे अनेक रोड़े अटकाते हैं और उनका प्रतिकार आवश्यक है।

काव्य के पठन-पाठन मे सबसे साधारण धारणा यह रहा करती है कि कविता किसी-न किसी प्रकार अथवा किसी-न-किसी रूप मे हमारी किसी व्यक्त अथवा अव्यक्त भावना की तुष्टि करे। इसका तात्पर्य यह है कि हमें यह आशा बराबर बनी रहती है कि जब या ज्यों ही हम कविता पढ़ेंगे हमें किसी-न-किसी प्रकार का सन्तोष अवश्य प्राप्त होगा, परन्तु सबसे रहस्यपूर्ण बात यह है कि हम स्वतः यह नहीं जानते कि हम किस आशा की पूर्ति की प्रतीक्षा किये बैठे हैं। साधारण दिन-प्रतिदिन के जीवन में, अवकाश के समय हमे कभी तो मनुष्य के एकाकी जीवन की अवस्था उत्साहहीन बनाती है, कभी जीवन और मृत्यु के प्रश्नों पर विचार करते-करते हम क्षुभित हो उठते है; कभी विश्व के अगम विस्तार और मानव की हीनता देखकर हतप्रभ हो जाते है; और कभी मनुष्य के अज्ञान का ध्यान आते ही उसे कोसने लगते है। ये भावनाएँ तथा विचार ऐसे हैं जो समय-समय पर उठते रहते हैं और हम यह चाहा करते हैं

कि साहित्य इन्हीं विचारों पर प्रकाश डाला करे और हमारी मानवी गुत्थियाँ सुलझाया करे। प्रायः इन्हीं भावनाओं का पूर्ण अथवा आंशिक प्रकाश हम काव्य तथा साहित्य में अपेक्षित समझने लगते हैं। शायद ही कोई विरला पाठक अथवा आलोचक हो जो काव्य के अधिकांश में इन्हीं उपरोक्त भावों का प्रकाश न ढूँढता हो। इसके साथ-ही-साथ हम यह सतत समझा करते है कि कविता के छन्द, शब्द, ध्वनि इत्यादि में ही काव्य के सर्वगुण निहित रहते हैं और उनका हमारी मानसिक अवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं। परन्तु वास्तव में काव्य जो-कुछ भी प्रभाव हमारे ऊपर डालने का प्रयत्न करता है; जो-कुछ भी आनन्द हमें दे पाता है और जितना भी कुछ हमें प्रेरित कर पाता है उसका उत्तरदायित्व काव्य के गुणों पर तो कम, हमारी मानसिक अवस्था तथा हमारे स्थायित्व पाए हुए भावो पर कहीं अधिक रहेगा। प्रायः इस रहस्य को हम न तो समझ पाते हैं और न इसका महत्त्व ही जान पाते हैं। काव्य तथा साहित्य की सत्-समालोचना में इस प्रकार का अज्ञान घातक होगा।

आलोचकों की प्रायः यही धारणा रहा करती है कि महत्त्वपूर्ण विषय, विशिष्ट शब्द-चयन, समुचित छन्द-प्रयोग, सौष्ठवपूर्ण अलंकार, संक्षिप्त कथन, महत्त्वपूर्ण सन्देश, आदर्श दृष्टिकोण इत्यादि पर ही साहित्य तथा काव्य की महत्ता निर्भर रहती है। कुछ आलोचक तो सिद्धान्त रूप में यह मानने लगते हैं कि जब तक कविता में कोई आदर्श सन्देश न हो और आदर्शवाद का प्रचार न हो तब तक वह मूल्यहीन रहेगी। कुछ केवल माधुर्य तथा प्रसाद गुणों और काव्य की प्रेरक शक्ति के आधार पर ही काव्य का मूल्यांकन करते है। उनके लिए यह कहना अत्यन्त सरल है कि कौनसी कविता अच्छी है और कौन निम्न कोटि की; परन्तु प्रत्येक कविता के गुणों के विवेचन में वे विफल रहेंगे। आलोचना-क्षेत्र के इन रूढिवादी सिद्धान्तों ने सत्-समालोचना की विशेष हानि की है और हमे कुछ ऐसे दृष्टिकोण अपनाने पर विवश किया है जिनसे साहित्य तथा साहित्यकार दोनों की हानि होती चली आई है। इन्हीं के कारण हमारी निर्णय-शक्ति दूषित होकर शिथिल पड़ गई है और हम काव्य की आत्मा अथवा उसके अन्य गुणों की परख में विफल रहते हैं। जिस प्रकार ऋतु-सम्बन्धी परिवर्तन जानने के लिए विज्ञानज्ञ ताप-मापक यन्त्र लगाकर सरदी-गरमी की मात्रा जानने का प्रयत्न करते हैं और अपने मानसिक तथा शारीरिक अनुभव से उसका निर्णय नही करते, उसी प्रकार साहित्य-क्षेत्र के पाठकवर्ग तथा आलोचक नियमों की सूची सम्मुख रखकर साहित्य की श्रेष्ठता तथा हीनता का निर्णय किया करते हैं। हमारी रुचि तथा प्रवृत्ति का सबसे घातक

शत्रु हमारी निर्णय-शक्ति है। पग-पग पर हमारी रुचि हमारी निर्णय-शक्ति का वार सहन करती रहती है; और एक समय ऐसा आ जाता है कि हमारी रुचि शिथिल, निश्चेष्ट तथा प्राणहीन होकर हाथ-पाँव डाल देती है। काव्य तथा साहित्य-क्षेत्र ने अब तक कोई ऐसा साधन अथवा यन्त्र नहीं निर्मित किया जिसके सहारे हमारी रुचि की आत्मा की रक्षा होती रहे और सत्समालोचना के विकास तथा उसकी प्रगति में बाधा न पड़े। जो भी निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली हमारी रुचि और हमारे व्यक्तित्व को गौण रखेगी हमें सन्तुष्ट नहीं कर पाएगी।

वास्तव मे काव्य अथवा साहित्य के मूल्य की परख सरल नही; उसके लिए कोई विश्वस्त साधन अथवा यन्त्र नहीं बन पाया है; और जो भी साधन हमे प्राप्त है, वह है हमारा व्यक्तित्व। इसी व्यक्तित्व की सहायता से तथा उसमें जो विभिन्न परिवर्तन होते हैं, उनमे हम काव्य की आत्मा तक पहुँच सकेंगे। कभी-कभी तो ऐसा भी होगा कि हम अपनी रुचि के समर्थन में न तो कोई तर्क-पूर्ण प्रमाण दे सकेंगे और न किसी विशिष्ट सिद्धान्त अथवा आधार को ही प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत कर पाएँगे। और सिद्धान्त भी तो वस्तुतः केवल कुछ साधारण त्रुटियो और दूषित दृष्टिकोण को बचाने में ही सहायक होते हैं। उनके ऊपर काव्य की परख का समस्त उत्तरदायित्व नही रखा जा सकेगा। उनके द्वारा हमें यह सन्देश मिलता रहेगा कि काव्य की आत्मा अनेक रूप मे हमें प्रभावित करती रहती है और हमे सतत सतर्क रहकर आलोचक का कार्य करना चाहिए; उसके द्वारा हमें यह प्रेरणा मिलती रहेगी कि हमे अपने व्यक्तित्व को भली भाँति तथा पूर्ण रूप से काव्यालोक के सम्मुख प्रसारित करना चाहिए। इसके फलस्वरूप जिस एकांगी दृष्टिकोण से हम कभी-कभी काव्य की परख कर चलते हैं उनका नियन्त्रण तथा परिष्कार होगा और हमें काव्य को सर्वांगीण रूप में हृदयंगम करने का उत्साह प्राप्त होगा। नियम तथा सिद्धान्त तो केवल हमारी भूलें सुधार सकते हैं; वे स्वतः हमें काव्य की आत्मा का दर्शन नहीं करा सकते। अपनी रुचि के समर्थन में हमे जब कभी तर्क तथा नियम और सिद्धान्त के प्रतिपादन की आवश्यकता प्रतीत हो तो हमें उसी क्षण यह समझ लेना चाहिए कि कहीं कुछ गड़बड़ अवश्य है और हमें श्रेष्ठ आलोचक के पद से च्युत होने का खतरा है। जब कभी हम काव्य का पठन-पाठन आरम्भ करते हैं उसी क्षण हमारे व्यक्तित्व पर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व आ जाता है। हमारे पुराने अनुभव-कोष और नवीन काव्या-नुभव दोनो के बीच हमारा व्यक्तित्व साकार हो उठता है। उसे यह निर्णय

करना पड़ता है कि क्या यह नवीन काव्यानुभव इतना मूल्यवान् तथा फल-प्रद है कि वह हमारे पुराने अनुभव-कोष मे विशिष्ट स्थान प्राप्त कर सकेगा? क्या हमारा यह अनुभव-कोष उससे आभूषित हो पाएगा? क्या उसके ग्रहण करने में कोई कठिनाई होगी? क्या कठिनाई इतनी अधिक होगी कि हमारा पुराना अनुभव-कोष कुछ काल के लिए अस्त-व्यस्त हो जायगा? जब-जब इस नवीन अनुभव को फलप्रद रूप में ग्रहण करने मे हमारे पुराने अनुभव-संसार में अस्त-व्यस्तता आने का भय होने लगता है तो हमें यह निश्चय-सा हो जाता है कि कदाचित् यह नवीन अनुभव या तो निकृष्ट है अथवा प्रयोजन-हीन। इस प्रकार की धारणा घातक होगी। हमें अपने व्यक्तित्व द्वारा अपने अनुभव-कोष पर ताला नहीं डालना चाहिए। अनुभव चाहे नवीन-से नवीन क्यों न हो, चाहे वह अधिक-से-अधिक अस्त-व्यस्तता क्यों न लाए, यदि वह वास्तविक रूप में अनुभव है तो उसके लिए हमे स्थान बनाना ही पड़ेगा। सम्भव है कि यह नवीन अनुभव ही सबसे अधिक मूल्यवान प्रमाणित हो; सम्भव है कि पुराने अनुभवों के मूल्य इस नवीन अनुभव के मूल्य के आगे ओछे साबित हों। इस प्रसंग मे सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि जब ऐसी परिस्थिति आ जाती है तब भी आलोचक एक प्रकार से उससे अनभिज्ञ ही रहता है। उसके मनस्तल में कैसा द्वन्द्व मचा हुआ है, इसका उसे किंचित्-मात्र भी ध्यान नहीं आता। हाँ, कभी-कभी उसे मानसिक उद्विग्नता का अनु-भव अवश्य होने लगता है परन्तु धीरे-धीरे यह समस्त द्वन्द्व समाप्त हो जाता है और जब हमारे अनुभव-क्षेत्र में फिर एक बार शान्त वातावरण प्रस्तुत होने लगता है तब हम यह अनुभव करने लगते हैं कि इस प्रकार की हलचल एक प्रकार से फलप्रद ही है। शान्त जलाशय में कंकड़ फेंकने के पश्चात् जब हलचल समाप्त हो जाती है तो पानी और भी स्वच्छ दिखाई देता है उसी प्रकार अनुभव-क्षेत्र के हलचलों के समाप्त होते ही हमें काव्य की आत्मा का ज्ञान और भी सुलझे और सुथरे रूप में होने लगेगा। इस प्रश्न पर हम विस्तृत रूप में विचार करेंगे।

मानव-मस्तिष्क की विशेषता

आधुनिक आलोचना-प्रणाली के अनुसार, कविता-पाठ के पश्चात् अथवा उसी समय हमारे मानस में अनेक मनोवेग तरंगित होते हैं। ज्यों ही हमारी दृष्टि कविता के अक्षरों पर पड़ी त्यों ही मनोवेगों का द्वार खुला। यही बात सभी कलाओं के देखने के पश्चात् होगी। कविता के मूर्त्त-रूप हैं शब्द, पद तथा पंक्ति; और ज्यों ही ये हमारे नेत्रों की परिधि में आते हैं

मनोवेगों का संचालन होने लगता है। परन्तु यह संचालन सभी पाठको के मानस में एक ही प्रकार का नहीं होता, क्योंकि हम सभी अपने साथियो से अनेक रूप में भिन्न हैं। हमारी शिक्षा-दीक्षा, संस्कार तथा रूढ़ि हममें यह पार्थक्य प्रस्तुत करती रहेगी; परन्तु मनुष्य होने के नाते मनोवेग सबमें रहते हैं और इसलिए उनका तरंगित होना भी अनिवार्य है। जैसा हम कह चुके हैं शान्त जलाशय में कंकड गिरने, अथवा हवा चलने, अथवा मगरमच्छ इत्यादि के लड़ने-झगडने के साथ-ही-साथ सम्पूर्ण जलाशय तरंगित तथा उद्वेलित हो उठता है उसी प्रकार मानव का मानस भी तरंगित हो उठता है। यह उसका सहज स्वभाव है।

दूसरे, सभ्यता की ऐतिहासिक प्रगति का लेखा हमें यह बतलाता है कि हमारी शिक्षा पहले-पहल चित्रो द्वारा आरम्भ हुई और ज्यों-ज्यो सभ्यता का विकास होता गया चित्रों का स्थान शब्दो ने ले लिया। परन्तु सभ्यता का इतना चरम विकास होते हुए भी हमारे मानस में शब्दो के पर्याय-चित्रों की ही बहुलता रहती है; और ज्यो ही शब्दों का उच्चारण आरम्भ हुआ त्यों ही चित्र की रूप-रेखा बनने लगती है और ज्यो ही उच्चारण समाप्त हुआ चित्र अपने सम्पूर्ण रूप में प्रस्तुत हो जाता है। काव्य-क्षेत्र मे तो यह तथ्य और भी गहरे रूप मे प्रदर्शित होगा। काव्यानुभूति के क्षेत्र मे, वास्तव में, हमारी भावनाओं से सम्बन्धित चित्र ही प्रकाश पाते हैं और उसी प्रकाशित चित्र को हम उस कविता का अर्थ कहते आए हैं। कविता के शब्द, एकाएक चित्र-रूप में हमारे मानस-पटल पर सिनेमा के चित्रों के समान खिंचने लगते है। ज्यो ही ये चित्र हमारे मानस-पटल पर खिंचने लगते हैं त्यों ही उनका अर्थरूप हम हृदयंगम करने लगते है। उदाहरण के लिए जैसे ही हम—

"तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हे, समुझाय कछू मुसुकाय चली"

अथवा

"दिन औधि के कैसे गिनूँ सजनी अंगुरीन के पोरन छाले पड़े"

पंक्ति का उच्चारण करते हैं, हमारे अनुभव-क्षेत्र में नव-वधू की संकोचपूर्ण मुद्रा का चित्र तथा उसकी आकांक्षा, सलज्जता, संशय, सुकुमारिता तथा हताश विवशता का चित्र क्रमशः साकार होने लगता है। परन्तु साधारणतः ऐसा होता है कि जब हमारे मनोवेगों से सम्बन्धित चित्र उपस्थित होने लगते हैं तो वे अनेक होते हैं, और बहुत से तो ऐसे होते हैं, जिनका मूल भावना तथा मूल चित्र से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता और यदि रहता भी है तो बहुत दूर का। जिस प्रकार मधुमक्खी के छत्ते पर आकर अनेक मक्खियाँ भिनभिनाती तथा

छटपटाती हैं परन्तु एक छिद्र में केवल एक ही रह पाती है, उसी प्रकार मूल चित्र से सम्बन्धित अनेक सहकारी अथवा सम्बन्धी चित्र उठते तो हैं परन्तु मूल चित्र ही धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगता है और दूसरे विदा होने लगते हैं। श्रेष्ठ आलोचना इन्हीं गौण अथवा अनेक दूसरे चित्रों को अलग-बिलग करने का प्रयत्न करती है। वह श्रेष्ठ तभी होगी जब वह मूल चित्र की ओर संकेत देगी। परन्तु मूल चित्र के पहचानने में कविता की लय तथा उसमें प्रयुक्त छन्द पर भी, विशेष रूप में, इसका भार रहेगा। और जब तक हम छन्द और लय के रहस्य को भी स्पष्टतः नहीं समझ लेंगे तब तक हमें मूल चित्र की पहचान में कठिनाई होगी।

लय तथा छन्द का सौन्दर्य और उसका विवेचन

लय तथा छन्द का आकर्षण और उनका आकार-प्रकार शब्द तथा ध्वनि की पुनरावृत्ति तथा हमारी प्रतीक्षा की भावना पर निर्भर रहता है। ज्यों ही हमारी प्रतीक्षा सफल होगी छन्द तथा लय को भी पूर्णता प्राप्त होगी; उसकी विफलता में ही छन्द तथा लय की आकृति बिगड़ जायगी। परन्तु यह प्रतीक्षा हमारे मन में अव्यक्त तथा अस्पष्ट रूप में ही रहती है; हम उससे विकल नहीं होते। उदाहरण के लिए जब हम चौपाई की पहली पंक्ति का पहला खण्ड

भुवन चारि-दस भूधर 'भारी'

पढ़ते हैं त्यो ही हमारी प्रतीक्षा तीव्र हो जाती है और हम किसी ऐसे शब्द की आशा लगाए बैठे रहते हैं जिसकी ध्वनि 'भारी' के अनुरूप होगी और ज्यो ही हम दूसरा खण्ड—

'सुकृति मेघ बरषहि सुखवारी'

पढते हैं हमारी प्रतीक्षा सफल हो जाती है और हमें एक विचित्र प्रकार का आनन्द प्राप्त होने लगता है। यदि कवि दूसरे खण्ड मे 'बारी' के स्थान पर 'जल' शब्द का प्रयोग करता तो हमारी ध्वनि की प्रतीक्षा विफल रहती और हम ज्यों ही पढ़ते—

सुकृति मेघ बरषहिं सुख जल

त्यों ही छन्द की आकृति तो बिगड़ ही जाती, आनन्द के स्थान पर हमारी प्रतीक्षा की भावना को चोट भी लगती और चौपाई हमें आकर्षित न कर पाती।

छन्द में अन्तिम शब्द और ध्वनि की पुनरावृत्ति, जैसा कि हम ऐतिहासिक खण्ड में कुछ आलोचकों के वक्तव्यों से स्पष्ट कर चुके हैं, हम में एक

प्रकार के गर्व का भी विकास तथा उसका शमन करती है। और ज्यों ही उस गर्व की पूर्ति हो जाती है हमें अपूर्व आनन्द आने लगता है। यह बात उर्दू कवियों के मुशायरों से कहीं अधिक स्पष्ट होगी। ज्यों ही शायर ने पहला मिसरा पढ़ा त्यों ही श्रोतावर्ग दूसरे मिसरे के अन्तिम शब्द कह उठते हैं; कभी-कभी तो शायर मिसरे का अन्तिम शब्द पढ़ता ही नहीं और श्रोतावर्ग ही उसे या तो उच्चरित करते हैं या बिना उसे सुने ही हुए वाह-वाह करने लगते हैं। उनकी गर्व की भावना का शमन होता है और उन्हे आनन्द प्राप्त होने लगता है। शब्द तथा ध्वनि की यह प्रतीक्षा हमें गद्य-क्षेत्र में नहीं करनी पड़ती, इसीलिए साधारणतः गद्य में लय कम ही होता है। हाँ, श्रेष्ठ गद्य-लेखक ऐसे भी हुए हैं जिनकी पंक्तियो में भी लय की मात्रा बड़े सुचारु रूप में दिखाई देगी। कविता अथवा पद्य में हमारी प्रतीक्षा रह-रहकर जाग्रत होगी, गद्य-क्षेत्र में नहीं। हमारी प्रतीक्षा के आग्रह-दुराग्रह, उसकी सफलता-विफलता की गति मे ही लय का जन्म होता है और शब्द भी अपनी शक्ति का पूर्ण प्रकाश तभी करता है जब वह लय की तरंग मे पड़ जाता है। सरोवर का नील कमल, वेगवती लहरियों की गोद मे झूलता हुआ, अपने पूर्ण सौन्दर्य को प्रकाशित करके हमारे हृदय मे स्थान बना लेता है उसी प्रकार लय-सरोवर की तरंगो में मुखरित तथा विकसित शब्द अत्यन्त हृदयग्राही हो जाता है।

कभी-कभी क्या साधारणतः ऐसा होता है कि हमारी प्रतीक्षा सतत सफल होती रहती है और उसी के आग्रह के अनुसार शब्दों तथा ध्वनियो की पुनरावृत्ति होती चलती है; परन्तु जब सतत रूप में ऐसा होता रहता है तो थोड़ी देर बाद हम ऊब उठते है। कुछ शाब्दिक ध्वनियाँ ऐसी होती हैं जिनकी प्रतीक्षा अत्यन्त सरल तथा स्पष्ट रूप में होती है और उनकी पुनरावृत्ति का आनन्द कुछ देर तो रहता है मगर शीघ्र ही उसका लोप हो जाता है। यदि किसी कविता में बार-बार 'रहीं-रहीं, 'महीं-मही', 'नहीं-नहीं' की पुनरावृत्ति बिना किसी आश्चर्यपूर्ण भावना के होती रही तो हम ऊबकर कविता पढ़ना बन्द कर देंगे। हमें द्वन्द्व भी रुचिकर है। जब हमारी प्रतीक्षा और उसके प्रतिद्वन्द्वी कवि की कल्पना में द्वन्द्व छिड़ जाता है और कवि ऐसी शब्द-ध्वनि ला देता है जिसे या तो हम सोच ही नहीं पाए या सोचते-सोचते असमंजस में पड़ गए तो हमें अपूर्व आनन्द फिर से प्राप्त होने लगता है।

श्रेष्ठ काव्य

अब रही कविता के पूर्ण आकार की परख। कौनसी कविता अच्छी है, कौनसी महत्त्वहीन है, इन प्रश्नो का हल आलोचक तभी प्रस्तुत कर सकेंगे जब वे

कुछ विशेष बातों का ध्यान रखेंगे। पहली बात तो यह है कि वे पूर्ण रूप से यह निश्चित कर लें कि कवि जो कुछ भी अनुभव कराना चाहता था, करा पाया या नहीं। क्या उसे अपने मनोनुकूल सफलता मिली? दूसरे, क्या कवि का अनुभव मूल्यवान् है? अथवा क्या उसका अनुभव मूल्यहीन तो नहीं? तीसरी बात है, क्या कवि ने जो भी माध्यम चुना वह उपयुक्त तथा उचित था अथवा नहीं? उसमें तो कोई न्यूनता नहीं? और चौथे कवि के अनुभव, उसके चुने हुए लक्ष्य, तथा उसके माध्यम में अपूर्व समन्वय है अथवा नहीं? यदि नहीं तो न्यूनता कहाँ रही?

साधारणतया ऐसा होता है कि जिस छन्द को कवि चुनता है उसके द्वारा कविता अपना पूर्ण प्रकाश नहीं पाती। कभी तो छन्द का विस्तार इतना छोटा होता है कि कविता के विचार उसमें नहीं पनपते और कभी इतना बड़ा होता है कि काव्य-भावना उसके लिए छोटी पड़ती है। मुक्तक छन्द के चुनाव में यह सिद्धान्त विशेषकर लागू होगा, क्योंकि जब तक मुक्तक छन्द विस्तृत न होगा, प्रभावपूर्ण न हो पाएगा। छोटे पैमाने का मुक्तक छन्द-काव्य विचार कुण्ठित ही करेगा। यही सिद्धान्त यूनानी मनीषियों का भी था। उनके विचारों के अनुसार कला को विशिष्ट रूप में ही अवतरित होना पड़ेगा; जो भी आकार वह ग्रहण करे उसमें कुछ-न-कुछ विशालता अवश्य होनी चाहिए। छन्द-काव्य का आकार बनाया-बिगाड़ा करता है।

दूसरे, प्रायः ऐसा होता है कि जो भी अनुभूति कवि पाठक को देना चाहता है वह निश्चित रूप में प्रकाश नहीं पाती और उसकी छाया-मात्र ही दिखाई पड़ती है। यह भी हो सकता है कि कवि पाठक के ऊपर इतना अधिक उत्तरदायित्व रख दे कि वह उसका निर्वाह न कर पाए और उससे इतनी अधिक आशा करे जिसकी पूर्ति वह कर ही न पाए। कवि को पाठक पर उतना ही उत्तरदायित्व रखने का अधिकार है जितना वह स्वतः वहन कर रहा हो। उसने पाठक पर रखा मन-भर का उत्तरदायित्व; और वह अपना छटाँक-भर भी बोझ वहन करने को प्रस्तुत नहीं, ऐसी परिस्थिति में घोर वैषम्य प्रस्तुत हो जायगा।

इसके साथ-साथ, जो भी मनोवेग तथा भावनाएँ कवि प्रस्तुत करे, वे उचित मात्रा में उच्च स्तर पर प्रवाहित होनी चाहिएँ। मनोवेग, चाहे किसी भी क्षेत्र का क्यों न हो, उचित तथा वाञ्छित मात्रा में ही प्रकाश पाने में उसकी सफलता होगी। प्रेम तथा मैत्री, क्रोध तथा घृणा, गर्व तथा सन्तोष इत्यादि सामान्य क्षेत्र से जो भी मनोवेग प्रवाहित होते हैं, प्रायः ऐसा होता है कि हममें से अनेक उनसे तत्काल और गहरे रूप में प्रवाहित होने लगते हैं। कभी-

कभी अनेक कारणों से हीन साहित्य के पढ़ने अथवा कला के महत्त्व को ठीक-ठीक न समझ सकने के कारण हमारे दृष्टिकोण तथा हमारी मानसिक प्रतिक्रिया में एक प्रकार का स्थायित्व-सा आ जाता है। हम थोड़े ही मे सन्तुष्ट हो जाते हैं। जिन स्थायित्व पाये हुए मनोवेगों को किसी कविता ने थोड़ा-बहुत तरंगित किया कि हम उछल पड़ते हैं और साधुवाद कह चलते हैं। विशेषतः निम्न कोटि के साहित्य को पढ़ने से हमारे मानसिक क्षेत्र में जुते हुए खेतों के समान मेड़ें बन जाती हैं और उन मेड़ों के बीच थोड़ा पानी भी इकट्ठा होते ही हम विशाल सागर का अनुमान कर बैठते हैं।

उदाहरण के लिए जब माता-पिता युवा पुत्र से यह प्रश्न करते हैं कि उसे किस प्रकार की सुन्दर युवती पत्नी-रूप में ग्राह्य होगी तो वह भावी पत्नी के गुण तथा सौन्दर्य के तत्त्वों को न गिनाकर सिनेमा-जगत् की सुन्दरियों की ओर आँखों की कोर उठा देता है। हमारे मानसिक क्षेत्र मे सौन्दर्य की मर्यादा की मेड़ें बँध गई हैं; हम उनके परे सोच ही नहीं पाते। हमारी भावनाएँ इतना स्थायित्व पा गई हैं कि उनकी नैसर्गिक तीव्रता खो-सी गई है और जाली सिक्के की भाँति हमारी मानसिक प्रतिक्रियाएँ ठस हो गई हैं। हमारी मनन-शक्ति क्षीण हो गई है; हमारे मनोवेग दो-ही-चार हिलकोरे खाकर शान्त हो उठते हैं। उनमें हमारे समस्त प्राण को प्रभावित करने की शक्ति नहीं रहती। वे किनारे पर ही टकराकर शिथिल पड़ जाते हैं और जीवन के विशाल सागर में, युद्ध-पोत के समान, लहरों के थपेड़ों को सहन करते हुए क्षितिज की ओर प्रयाण करने में विफल रहते हैं। हमारी मानसिक प्रतिक्रिया एक छोटे कमरे में प्रवाहित प्रतिध्वनि के समान वहीं चक्कर मारती रहती है; उसमे समस्त आकाश को गुञ्जरित तथा प्रतिध्वनित करने की शक्ति नहीं रहती। हमारे विचार कृत्रिम शृङ्खलाओं से सीमित हो जाते हैं, अवरुद्ध हो उठते हैं, सीमा की बेड़ियाँ पहन लेते हैं। श्रेष्ठ कवि इन्हीं सीमाओं को विस्तृत करता है; कृत्रिम शृङ्खलाओं को तोड़ता है; और हमारे मानस में जमी हुई बालुका की भीत को विध्वंस करने में लगा रहता है। वह उस सिक्के मे खन-खनाहट पैदा करना चाहता है। वह प्राणहीन में प्राण की प्रतिष्ठापना करना चाहता है।

स्थायित्व पाये हुए दृष्टिकोणों से साहित्य की न तो प्रगति हो सकेगी और न उसका मूल्यांकन ही किया जा सकेगा। ऐसे दृष्टिकोण बालकों मे सहज रूप में, प्रौढ़ों में अनुकरण रूप मे, तथा वृद्धों मे स्वेच्छाचार तथा पांडित्य रूप मे प्रस्तुत रहा करते हैं। ये मूल्यांकन की शक्ति को क्षीण, शिथिल तथा

कुण्ठित करेंगे।

साहित्य-क्षेत्र का यह भी एक साधारण सिद्धान्त है कि जो भी साहित्यिक कृति सभी वर्ग के व्यक्तियों को सभी काल में प्रभावित तथा आकर्षित करती रहे उच्चकोटि की होगी; उसमें अमरत्व के गुण होंगे। और जो भी कृति कुछ ही व्यक्तियों को तथा थोड़े समय के लिए ही आकर्षित करेगी उसमें अमरत्व के गुण न होंगे और वह साहित्य चिरस्थायी न होगा। परन्तु यह सिद्धान्त भी भ्रममूलक होगा। इसका कारण यह है कि जब कभी हमें ऐसी कृति का उदाहरण मिलता है जो प्राचीन काल से आज तक आकर्षणपूर्ण है तो हम यह समझने लगते हैं कि सभी वर्गों के व्यक्तियों को वह कृति समान रूप से प्रिय है। परन्तु बात ऐसी नहीं। सभी व्यक्तियों में रुचि-वैभिन्य स्वाभाविक है और जो भी रचना आज तक लोकप्रिय कही जाती है उसे सभी व्यक्ति अनेक दृष्टिकोणों से पढ़ते हैं, परखते हैं और आनन्द उठाते हैं। और यह कहना भ्रममूलक होगा कि सभी को वह एक ही प्रकार से रुचिकर है। शेक्सपियर तथा कालिदास अथवा तुलसीदास का ही उदाहरण लीजिए। जिन-जिन व्यक्तियों ने इन महान् साहित्यकारों की कृतियाँ पढ़ी है सभी ने अपनी रुचि के अनुसार अपने दृष्टिकोण के अनुसार ही उसका आनन्द पाया है; सबका आनन्द-प्राप्ति का स्तर एक-सा नहीं। किसी को कालिदास की उपमा आनन्ददायिनी हुई तो किसी को उनकी भाषा और तीसरे को उनका वस्तु-निरूपण; किसी को शेक्सपियर की कल्पना रुचिकर हुई, किसी को उनकी मानव-हृदय को थाहने की शक्ति आनन्ददायी हुई। ऐसे ही किसी को तुलसी की भक्ति रुचिकर हुई और किसी ने उनके परिवारादर्श को ही सराहा।

जो कला अथवा कलात्मक कृति ऐसी हो जो हमे प्राचीन काल से आकर्षित करती आई हो उसके सम्बन्ध मे यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उसका आधार हमारे वे ही नैसर्गिक मनोवेग हैं जो अत्यन्त सहज तथा सरल रूप में हमारे चरित्र मे विकास पाते आ रहे हैं। कला इन्हीं मनोवेगों को इस प्रकार सुव्यवस्थित तथा परिचालित करती है जो हमे अत्यन्त सन्तोषप्रद होते हैं। प्रायः ऐसे मानव-मस्तिष्क, जो पुष्ट, स्वस्थ तथा उन्नत होते हैं, इस प्रकार की कला द्वारा सन्तोष न पाते हुए भी सन्तुष्ट हो जाते हैं और यथासम्भव उनकी भी तुष्टि उनके द्वारा हो ही जाती है। उनके भी सहज मनोवेग अपनी तितिक्षा भूलकर जो भी उनके सम्मुख आता है, उससे सन्तोष पा जाते हैं।

यह भी सच है कि अनेक कवि अपनी बात पाठकों तक पहुँचाने में इसलिए असमर्थ रहते हैं कि उन्हें पाठकों की सहानुभूति नहीं प्राप्त होती;

उनकी बात को समझने के लिए कुछ विशेष अनुभवों की आवश्यकता पड़ती है। इसी कारण श्रेष्ठ कविवर्ग तथा साधारण पाठक एक-दूसरे के बहुत समीप नहीं आ पाते। इसके साथ-साथ पौराणिक सन्दर्भ इत्यादि भी काव्य को समझने मे कठिनाई प्रस्तुत किया करते हैं। जो लोग उन सन्दर्भों को समझते हैं और जो प्राचीन कथाओं से परिचित रहते हैं, वे काव्य की आत्मा को बहुत-कुछ समझ लेते हैं; और जो लोग इससे परिचित नही रहते वे काव्य की आत्मा को पूर्णरूपेण समझने मे असमर्थ रहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जो व्यक्ति इन सन्दर्भों को पहचान लेंगे उन्हे एक विचित्र प्रकार के गर्व तथा आनन्द का अनुभव अवश्य होगा।

कुछ लोगो की यह धारणा भी रही है कि इन सन्दर्भों को पहचानने की जितनी क्षमता पाठको मे होगी उतना ही उनका समाज उत्कृष्ट होगा; अथवा उत्कृष्ट समाज, सन्दर्भपूर्ण काव्य का जन्मदाता होगा। परन्तु यह धारणा भी भ्रममूलक है। सन्दर्भपूर्ण काव्य दुधारी तलवार के समान है; इसके द्वारा काव्य उत्कृष्ट हो सकता है और इसके द्वारा सुरुचि का प्रसार भी सम्भव है; परन्तु इसके बहुल प्रयोग द्वारा काव्य में कृत्रिमता आएगी और कभी-कभी कवि के मानसिक आलस्य का भी आभास मिलेगा। इतना होते हुए भी सन्दर्भपूर्ण काव्य की अपनी अलग श्रेष्ठता है, क्योकि जैसे-जैसे सभ्यता प्रगति करती जायगी हमारे अनुभव भी अनगिनत तथा अनेक होते जायँगे। कविवर्ग भी हमारी सभी अनुभूतियों को जाग्रत करने का प्रयास करेगा और उनकी कविता सहज रूप में सन्दर्भपूर्ण होती जायगी। न्यूनता केवल साधारण पाठक-वर्ग में रहेगी; क्योकि वे ही समाज की समस्त अनुभूतियों को अपने मानस मे एकत्र न कर पाएँगे। यह सही है कि ज्यों-ज्यों हमारी सभ्यता प्रगति करती जायगी काव्य और भी सन्दर्भपूर्ण होता जायगा; समझना-न-समझना पाठक-वर्ग का कार्य होगा। परन्तु हम कवियों से इस बात की माँग अवश्य कर सकते हैं कि वे समस्त सन्दर्भों की तालिका अपनी पुस्तक के परिशिष्ट में जोड़ दें।

अन्य आलोचनात्मक विचार

यह स्वाभाविक ही है कि साहित्यकार की आलोचना उसके प्रशंसको द्वारा लिखी जाय; वह शिष्यो द्वारा भी लिखी जा सकती है; परन्तु प्रशंसक हो अथवा शिष्य उसमे आलोचक की कला और आलोचक की आत्मा भी होनी चाहिए; उसमें विद्वत्ता होनी चाहिए, उसमें साहित्यिकता होनी चाहिए। मित्रता अथवा पारिवारिक सम्बन्ध की रक्षा करने वाले प्रायः अच्छे आलोचक नहीं हो सकते। उनमे न तो आलोचक की आत्मा होगी और

न कला; केवल स्नेह तथा प्रेम के आधार पर सत्समालोचना नहीं लिखी जा सकती।

साथ-साथ यह कहीं अच्छा होता कि जो व्यक्ति अपनी ईर्ष्या अथवा पाण्डित्य का बोझ हल्का करना चाहते हों आलोचना न लिखकर क्रियात्मक साहित्य-निर्माण में अपना समय लगाएँ, क्योंकि इस प्रकार उनके समय का सदुपयोग होगा और साहित्य तथा साहित्यकारों की हानि भी नहीं होगी। कटूक्ति अथवा विध्वंसक आलोचना साहित्य को जितनी क्षति पहुँचाती है कदाचित् उतनी कोई अन्य वस्तु नहीं। इसलिए साहित्य की रक्षा के लिए यह परमावश्यक है कि आलोचकवर्ग, जो केवल अपनी ईर्ष्या अथवा द्वेष प्रकाशित करने के लिए आलोचक बन बैठता है क्रियात्मक साहित्य लिखे, क्योंकि निकृष्ट कोटि के क्रियात्मक साहित्य से समाज की उतनी क्षति नहीं होती जितनी निकृष्ट आलोचना द्वारा होती है।

क्रियात्मक तथा आलोचनात्मक शक्ति

प्रायः यह कहा जाता है कि क्रियात्मक शक्ति की तुलना में आलोचनात्मक शक्ति का स्तर नीचा है, क्योंकि क्रियात्मकता मनुष्य-मात्र का आभूषण है, यह उसका मुख्य धर्म है, यही उसकी महत्ता का पोषक है और इसी के द्वारा मानव सर्वोच्च आनन्द की प्राप्ति करता है। परन्तु इस सिद्धान्त-निरूपण में हम यह भूल जाते हैं कि मनुष्य की इस क्रियात्मक शक्ति के क्षेत्र एक नहीं अनेक हैं। केवल साहित्य-सृजन के क्षेत्र में ही उसकी क्रियात्मकता सीमित नहीं; और यदि ऐसा होता तो अनेक व्यक्ति सर्वोच्च आनन्द की प्राप्ति से वञ्चित रह जाते। बहुत से व्यक्ति ऐसे भी हैं जिनकी क्रियात्मकता का क्षेत्र साहित्य-रचना न होकर केवल ज्ञान-प्राप्ति अथवा किसी उपयोगी वस्तु का निर्माण अथवा शुभ कर्म भी हो सकता है।

इस सम्बन्ध में एक दूसरी बात भी ध्यान में रखने योग्य है। वह यह कि श्रेष्ठ साहित्य अथवा श्रेष्ठ कला सभी युगों में समान रूप से नहीं पनप सकती। क्रियात्मक शक्ति की कुछ विशेष माँग हुआ करती है और जो युग वह माँगें पूरी कर सकेगा श्रेष्ठ-साहित्य तथा श्रेष्ठ-कला का दर्शन कराने में सफल रहेगा। परन्तु जब तक साहित्य की यह माँगें पूरी नहीं होतीं तब तक किया क्या जाय? इसका उत्तर यह है कि हमें वे विचार, वे वस्तुएँ तथा वे साहित्यिक समिधाएँ धीरे-धीरे इकट्ठी करनी होंगी। हमें उस दिन की प्रतीक्षा करनी होगी जब समस्त सुविधाएँ प्रस्तुत करने की हममें शक्ति आ जायगी। मुख्यतः विचार ही क्रियात्मक साहित्य का आधार है; बिना इसके न तो उसकी रूप-रेखा

बनती है और न उसकी आत्मा ही तृप्त होती है।

क्रियात्मक साहित्य वास्तव मे यह प्रयत्न नहीं करता कि वह नवीन विचारों का प्रसार करे; उसकी यह इच्छा नहीं कि वह अपने मौलिक विचारों की खोज द्वारा लोगो को स्तम्भित तथा आश्चर्यित करे। यह कार्य तो दर्शन-वेत्ताओं का है। दर्शनज्ञ ही इसमें पटु होंगे; यह उन्हीं का क्षेत्र है। क्रियात्मक साहित्य का क्षेत्र दूसरा है। क्रियात्मक साहित्य का प्रमुख कर्तव्य है समन्वय तथा अभिव्यक्ति। उसे न तो कोई मौलिक सत्य ढूँढ़ निकालना है और न कोई विश्लेषण-पटुता ही दिखलानी होगी। उसे केवल प्रस्तुत आध्यात्मिक तथा ज्ञानवर्धक वातावरण में प्रसारित उन्नत विचार-श्रृङ्खला को हृदयंगम करना होगा, उसे परखना होगा और तदुपरान्त उनको अत्याकर्षक तथा समन्वित रूप मे प्रस्तुत करना होगा, उनको दैवी रूप देना होगा। उन्नत तथा समन्वित दृष्टि-कोण ही श्रेष्ठ साहित्य का आधार है, परन्तु अभाग्यवश न तो वाञ्छित वाता-वरण ही प्रस्तुत हो पाता है और न श्रेष्ठ साहित्य की रचना ही हो पाती है। इसलिए सभी देशो के साहित्यिक इतिहास मे स्वर्ण-युग एक-ही-आध बार आ पाता है; इसीलिए श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ साहित्यकारो की रचनाओं मे भी कुछ-न-कुछ कमी कहीं-न-कहीं अवश्य रह जाती है। समुन्नत तथा उत्कृष्ट कला तथा साहित्य-निर्माण के लिए दो शक्तियो का संगम आवश्यक है—पहली शक्ति होगी कला-कार की और दूसरी समय के आग्रह की; और जब दोनो का सहज संगम होगा तभी श्रेष्ठ साहित्य तथा श्रेष्ठ कला आविर्भूत होगी। दोनों अलग-विलग रहकर कुछ नहीं कर पाएँगे; एक के बिना दूसरी निष्क्रिय तथा श्रीविहीन होगी। परन्तु यह कब और कैसे होता है इस रहस्य को दैव ही जाने, उस पर मानवी-नियन्त्रण नही।

परन्तु इतना होते हुए भी आलोचक की शक्ति बहुत-कुछ इस ओर सहायता दे सकती है। वह ज्ञान, विज्ञान, दर्शन तथा इतिहास, नीति तथा अध्यात्म, कला तथा साहित्य, सब क्षेत्रों को अवगाहती हुई सबका यथार्थ तथा वास्तविक रूप प्रस्तुत कर सकती है। वस्तु की वास्तविकता तथा सत्यता को परखने में वह यथेष्ट सहायता दे सकेगी और कालान्तर में एक ऐसा ज्ञाना-त्मक वातावरण प्रस्तुत कर देगी जिसमें क्रियात्मकता पनपेगी, जिससे लाभ उठाकर वह समुन्नत कला को जन्म देगी। वह ऐसे विचारो का बीजारोपण, यत्र, तत्र, सर्वत्र, कर देगी जो धीरे-धीरे प्रस्फुटित तथा विकसित होंगे और कला तथा साहित्य को जीवनामृत देने में सहायक होंगे। हाँ, यह सही है कि आलोचना द्वारा प्रसारित इस वातावरण में वह स्वाभाविकता तथा नैसर्गिक

शक्ति नहीं रहेगी जो उसमें होनी चाहिए, परन्तु फिर भी जो कुछ भी सम्भव होगा उसमें कुछ-न-कुछ ऐसी शक्ति अवश्य रहेगी जो सन्तोषजनक तथा फल-प्रद होगी। कालान्तर में हम देखेंगे कि इस शक्ति द्वारा प्रसारित विचारों की श्रृङ्खला धीरे-धीरे बढ़ती जायगी; वह समाज को अपने घेरे में समेट लेगी और उन्नत साहित्य तथा कला का आविर्भाव होगा।

कवि के लिए भी यह आवश्यक है कि उसे संसार तथा जीवन का समुचित ज्ञान हो, क्योंकि बिना इस गुण के वह श्रेष्ठ काव्य-रचना नहीं कर सकेगा। विशेषतः आजकल का संसार तथा आज का जीवन इतना जटिल है कि आज के कवि को विशेष सूझ-बूझ से काम लेना पड़ेगा; उसमे श्रेष्ठ कोटि की आलोचनात्मक शक्ति अपेक्षित होगी, अन्यथा उसका प्रयत्न विफल होगा। इसी कमी के कारण बायरन[1]-जैसे महान् कवि की कविता अमरत्व न प्राप्त कर सकी; इसके विपरीत गर्टा[2] की कविता मे अमरत्व के गुण आए, क्योंकि उनमें संसार तथा जीवन को सर्वांगीण रूप में परखने की क्षमता थी; उनमे उसका वास्तविक रूप हृदयंगम करने की शक्ति थी। प्रश्न यह है कि क्या जीवन का विशाल अध्ययन क्रियात्मक शक्ति को क्षति नही पहुँचाएगा?

अध्ययन तथा क्रियात्मक शक्ति

अध्ययन तथा क्रियात्मक शक्ति का सम्बन्ध बहुत काल से विवादग्रस्त रहा है। कुछ विचारकों का कथन है कि अध्ययन के बिना क्रियात्मक साहित्य-रचना सम्भव नहीं और कुछ इसे अपेक्षित नहीं समझते। उदाहरण के लिए यूनानी तथा रोमीय कलाकारों की ओर संकेत किया जायगा, क्योंकि उस युग में साहित्य की बहुलता न थी; शेक्सपियर[3] को उदाहरण-रूप रखा जायगा, क्योंकि उनका अध्ययन नहीं के बराबर था। यदि वास्तव में देखा जाय तो इन कलाकारो को इसकी आवश्यकता ही क्या थी? उनका जीवन-काल तथा उनके समाज का ज्ञानात्मक तथा आध्यात्मिक वातावरण ऐसा था, जो इस कमी को पूरा किया करता था; उस काल में उत्कृष्ट विचारों की ऐसी उग्र-धारा प्रवाहित थी कि जिसमें सभी डूबते-उतराते थे; नवीन विचारो तथा नवीन भावो से समस्त समाज उद्वेलित तथा प्रेरित था और इस समय के साहित्यकार सहज ही यह प्रेरणा ग्रहण कर लेते थे और उन्नत साहित्य-रचना कर सकते थे। यही कारण है कि अध्ययन की न्यूनता प्राचीन काल के कवियों के साहित्य

---

१. देखिए—'अंग्रेजी साहित्य का इतिहास'

२. जर्मन कवि

३. "शेक्सपियर को न तो यूनानी भाषा आती है और न रोमीय!"—बेन जॉनसन

मार्ग को अवरुद्ध नहीं कर सकी। समकालीन वातावरण ने यह कमी पूरी कर दिखाई। हाँ, जहाँ ऐसा अपूर्व वातावरण प्रस्तुत नहीं, वहाँ, जैसा कि हम पहले स्पष्टतया कह चुके हैं, अध्ययन तथा पठन-पाठन समुचित मात्रा में सहायता प्रदान कर सकेगा। पुस्तकें तथा अध्ययन-प्रवृत्ति प्राचीन युग की सम्पूर्ण छाया तो नहीं उसका कुछ-न-कुछ छोटा-मोटा प्रतिरूप अवश्य प्रस्तुत कर देगी और इसी छाया के सहारे वाञ्छित वातावरण प्रस्तुत हो जायगा।

श्रेष्ठ आलोचक के प्रमुख गुण-विराग

साधारणतया श्रेष्ठ आलोचक के गुणों को केवल एक शब्द मे व्यक्त किया जा सकता है; यह शब्द है विरति अथवा विराग। बिना इस गुण के श्रेष्ठ आलोचना सम्भव न होगी। इस गुण को प्रयोग मे लाते ही आलोचक पक्षपातहीन हो जायगा; वह बिना किसी अनुराग के सबको समझेगा और परखेगा। वह प्रयोगात्मक वस्तुओ अथवा विचारो से दूर रहेगा और उनकी ओर इतना सजग रहेगा कि उन्हें किसी प्रकार भी अपने को प्रभावित न करने देगा। वह वे ही नियम अपनाएगा जो उस क्षेत्र में नैसर्गिक रूप में लागू होंगे और यह नियम होगा विचार-स्वातन्त्र्य। वह अपने मस्तिष्क को, (जो विषय उसके सम्मुख हैं) उस क्षेत्र मे स्वच्छन्द रूप में विचरण करने देगा। उसे किसी प्रचलित वाद की परवाह न होगी और न विचारों की उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता पर ही वह ध्यान रखेगा। राजनीतिक, सामाजिक अथवा आर्थिक तथा धार्मिक लगाव-लिपटाव से वह परे रहेगा। संक्षेप में प्रायोगिकता को वह लेश-मात्र भी प्रश्रय नहीं देगा।

बहुत से पाठक आलोचक से इस बात की आशा करेंगे कि वह उनका जीवन-मार्ग प्रशस्त करे, उन्हे विचारो तथा वस्तुओ की उपयोगिता तथा अनुपयोगिता का अनुभव कराए; वह अनेक सामयिक प्रश्नो पर अपनी सम्मति प्रदान करे, जिसके सहारे पाठकवर्ग या तो स्वतः अपनी सम्मति बनाए-बिगाड़े या आँखें मूँदकर उसका अनुसरण करे। परन्तु आलोचक इन आशाओं की पूर्ति न करेगा। उसका मुख्य धर्म केवल एक होगा—संसार तथा जीवन के विशिष्ट विचारों का सुबुद्धिपूर्ण संचय अथवा उनका सम्यक् ज्ञान प्राप्त कराना, जिसके फलस्वरूप मौलिक तथा सत्य विचार-धारा का अविरल प्रवाह होता रहे। इस कार्य में उसे उच्चकोटि की ईमानदारी बरतनी पड़ेगी और उसमें अपूर्व मानसिक शक्ति अपेक्षित होगी। उसे यह कभी भी न भूलना चाहिए कि पाठकवर्ग बार-बार यह आग्रह करेगा कि आलोचक उसको ऐसा मार्ग सुझाए जो उसके लिए श्रेयस्कर तथा उपयोगी हो; परन्तु इस आग्रह को

उसे अपनी आलोचनात्मक प्रतिभा के लिए घातक समझना पड़ेगा। इसका कारण यह है कि प्रायः सभी देशों का आलोचना-साहित्य इसी कमी के कारण दूषित हो गया है। आलोचकों ने अपने प्रमुख धर्म को भूलकर अपने को प्रायोगिकता के चक्कर में डाल दिया जिसका फल यह हुआ कि आलोचना आलोचना न होकर वर्ग-विशेष की चेरी हो गई। उसे पक्षपातपूर्ण होना पड़ा, उसका विराग तथा उसकी विरति लुप्त हो गई। प्रायोगिकता के आकर्षण ने उसे निर्जीव तथा निष्फल बना दिया। उसकी मानसिक स्वच्छन्दता विदा हो गई और वह वादों के पाश में जकड़ दिया गया, बन्दी हो गया।

इस विचार से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि समाज में मनुष्य अपने को वर्गों में बाँटे ही नहीं और अपने निजी वर्ग के उपयुक्त विचारों का प्रकाश ही न करे। मनुष्य वर्गीकरण के लिए स्वतन्त्र है; उसे अपने वर्ग की प्रशंसा करने का पूर्ण अधिकार है; परन्तु उसे यह अधिकार नहीं कि वह इस कार्य में आलोचना का सहारा ढूँढे। श्रेष्ठ आलोचना न तो किसी वर्ग अथवा वाद-विशेष का आदर अथवा प्रचार करेगी और न उसमें लिप्त हो जायगी। वह न उनकी शत्रु होगी न मित्र, न सहकारी न सहयोगी। वह अपने कर्तव्य पर अटल रहेगी; और वह कर्तव्य सत्य तथा समुन्नत मौलिक विचार-धाराओं को प्रवाहित करते रहना है। जिस प्रकार बाढ के समय गंगा में हजारों धाराएँ बहती रहती हैं किन्तु प्रमुख धारा एक ही रहती है जो बाढ़ के उपरान्त भी उसी गति से बहती रहती है उसी प्रकार आलोचना की केन्द्रीय धारा भी अपने एकाकी रूप मे समुन्नत तथा मौलिक विचार-वीथियों के साथ सतत निर्लिप्त तथा स्वच्छन्द होकर प्रवाहित होती रहती है।

विस्तृत ज्ञान

आलोचक का दूसरा प्रमुख गुण होगा विस्तृत ज्ञान। उसे अपनी ही मातृ-भाषा के साहित्य का ही ज्ञान नहीं वरन् अन्य साहित्यों का ज्ञान भी अपेक्षित होगा और यदि ऐसा न हुआ तो उसकी आलोचना थोथी, एकांगी तथा निम्न कोटि की होगी। जब आलोचक को अन्य देशों की मौलिक तथा उत्कृष्ट विचार-धारा का परिचय प्राप्त नहीं तो भला वह अपने ही देश के साहित्य को कैसे सर्वश्रेष्ठ कह सकेगा। तुलनात्मक ज्ञान सत्-समालोचना का प्राण है। यदि आलोचक यह भ्रामक विचार अपनाता रहेगा कि केवल उसी के देश में समुन्नत विचारों की उत्कृष्ट धारा प्रवाहित है और अन्य देश इससे वंचित हैं तो वह आलोचक तो नहीं राष्ट्रीय भाट अवश्य कहलाएगा।

इसमें सन्देह नहीं कि विचारों का साम्राज्य निस्सीम है। विचारों की

गति वायु की गति के समान कोई भी बन्धन नहीं मानती और संसार के सभी देशों की विचार-वीथियों को इकट्ठा करके उसे समन्वित कर, सत्समालोचना-सागर का निर्माण हो सकेगा। अगस्त्य मुनि के समान श्रेष्ठ आलोचक को ज्ञान के सागर को अपनी अंजुलि मे भर लेना होगा। इसी के बल पर श्रेष्ठ आलोचक संसार तथा जीवन में जो भी उत्कृष्ट, मौलिक तथा उन्नत विचारों की सतरंगिनी कला विकीर्ण है उन्हें समन्वित करके आलोचना का मनोमुग्धकारी विशाल इन्द्रधनुष साहित्याकाश में खचित कर सकेगा।

सहानुभूति-प्राप्ति की आवश्यकता

एक महान् दर्शन-वेत्ता का कथन है कि श्रेष्ठ साहित्य की कसौटी श्रेष्ठ लेखकों द्वारा नहीं निर्मित होती वह समकालीन पाठको के मानसिक स्तर और सहानुभूति के बल पर ही निर्मित होगी। और यह सच भी है क्योकि प्रायः यही देखा गया है कि जनता तथा आलोचकवर्ग—दोनों की उपेक्षा ने अनेक मौलिक लेखकों को हतोत्साहित किया, जिसके फलस्वरूप लेखकों ने भविष्य के निर्णय पर ही अपने को छोड़ दिया और तत्कालीन आलोचको तथा समकालीन पाठको की उन्होने रत्ती-भर भी परवाह नही की। इस कथन से यह प्रमाणित है कि कलाकार को उसके युग की कम-से-कम एक या दो साहित्यिक गोष्ठियों की सहानुभूति अवश्य प्राप्त होनी चाहिए। दोनो के पारस्परिक सहयोग के फलस्वरूप ही युग का साहित्य श्रेष्ठ बन सका है; और इसमें सन्देह नहीं कि यदि दोनों में निरन्तर वैषम्य प्रस्तुत रहता तो न तो श्रेष्ठ लेखक ही जन्म ले पाते और न युग ही महत्त्व प्राप्त कर सकता। लेखकों तथा आलोचको के सम्बन्ध मे भी यही बात कही जा सकती है। यद्यपि पुराने आलोचकों ने अपनी सम्मति के प्रदर्शन मे अनेक भूलें कीं और उनका संशोधन आगामी काल के लेखकों ने ही किया, परन्तु इतना अवश्य है कि पुराने युग के लेखको ने अपने विरोधी आलोचकों से होड न ली; उन्होंने उनके विरुद्ध विद्रोह का झण्डा नहीं खड़ा किया; उन्होंने उनकी बात किसी-न-किसी अंश में अवश्य मान ली। प्रायः उन्होंने पाठकवर्ग के विरुद्ध भी अपनी आवाज कुछ विशेष रूप में ऊँची नहीं की और उन्हें यदि क्रोध भी आया तो अपने ऊपर, अपने भाग्य पर; और वे भविष्य पर आशा लगाए काव्य-सेवा मे संलग्न रहे। उन्होंने साहित्य की अनेक रूढियाँ अपनाईं, अनेक परम्परागत नियम भी अपनाए और अपनी प्रतिभा के अनुसार उन्हीं रूढियो के आधार पर श्रेष्ठ काव्य तथा श्रेष्ठ साहित्य के निर्माण का प्रयास किया। उन्होने प्राचीन रूढियां ध्वस्त नहीं कीं; उनमें बवंडर नही प्रस्तुत किया; उन्होंने उन्हे केवल हिलाया, उनका परिष्कार

किया और धीरे-धीरे उनकी साहित्य-सेवा आलोचक तथा पाठकवर्ग ने सहर्ष ग्रहण की।

परन्तु आधुनिक युग तो विद्रोह एवं विप्लव का युग है, नवीनता का युग है। लेखकवर्ग प्राचीन रूढ़ियों को देख-सुनकर अपनी आँख बन्द करके नाक पर रुमाल रख लेता है और मौलिकता की खोज मे फिरता रहता है; चाहे वह मौलिकता कितने भी त्याग के पश्चात् क्यों न मिले। इस कार्य में अनेक सामाजिक परिवर्तनों ने भी बहुत सहयोग दिया जिनमें प्रमुख सहयोग छापेखानो तथा पत्रकारों का था। पत्रकारों ने साहित्यिक रूढि को अत्यन्त हीन प्रमाणित करके लेखकों को नवीन मार्ग ढूँढने पर उत्साहित तथा विवश किया, जिसका फल यह हुआ कि रूढि के पोषक पण्डितो ने आधुनिक मौलिकता के विरोध मे अपनी समस्त शक्ति लगा दी और इस विरोध को एक प्रकार के साहित्यिक आन्दोलन का रूप देने की चेष्टा भी की। इस पारस्परिक विरोध का फल यह हुआ कि आधुनिक साहित्यकार दो वर्गों मे विभाजित हो गए—रूढि के पोषक तथा रूढि के ध्वंसकर्ता। और इन दोनो में वैमनस्य तथा पारस्परिक विरोध बढता जा रहा है। ऐसी परिस्थिति मे आलोचकों का कार्य और भी अधिक कठिन हो गया है; और ऊपर से हम इन आलोचकों को अपना निर्णय देने पर बाध्य करना चाहते हैं। उनसे हम यह आशा रखते हैं कि वे पक्षपातरहित होकर रूढि की उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता बतलाएँ, मौलिकता की सतत खोज करें, साहित्यिक अनैतिकता-सम्बन्धी विषयों पर अपने विचार स्पष्ट रूप मे प्रकट करें। उनसे हमें यह भी आशा बनी रहती है कि वे हमें सत्साहित्य श्रेष्ठ साहित्य तथा महान् साहित्य का परिचय देंगे और अपने अनेक गुणों तथा अनुभवो के सहारे हमारा साहित्यिक पथ-प्रदर्शन करते रहेंगे।

परन्तु वे अन्य गुण हैं क्या? वे अनुभव कौनसे हैं जिनके आधार पर आलोचक अपना कार्य सुचारु रूप से कर सकेंगे?

आलोचक के अन्य गुण

आलोचक को सफल आलोचना लिखने के लिए प्राचीन साहित्य तथा प्राचीन युग का पूर्ण ज्ञान सतत अपेक्षित होगा। बिना इस ज्ञान के आलोचना का कोई भी श्रेष्ठ स्तर निर्मित नहीं हो सकता। जिस प्रकार धनुर्धर अपनी प्रत्यंचा पर बाण जितना ही पीछे खींचेगा उतनी ही तीव्र गति से उसका बाण आगे जायगा, उसी प्रकार जो आलोचक प्राचीन युग तथा प्राचीन साहित्य का जितना ही पूर्ण ज्ञाता होगा उतनी ही उसकी आलोचना अधिक शक्तिपूर्ण तथा कल्याणकारी होगी। परन्तु प्राचीन साहित्य में

गति रखने वाले आलोचकों को अधिक सतर्क रहना पड़ेगा। इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी कठिनाई यह होगी कि उनकी रुचि प्राचीन साहित्य में इतनी अधिक रहेगी कि नवीनता के प्रति वे उदासीन हो सकते हैं। प्राचीन युग के श्रेष्ठ साहित्य पर मनन और चिन्तन के फलस्वरूप उनकी रुचि में इतना स्थायित्व भी आ सकता है कि उन्हे और कुछ रुचिकर ही न लगे। उनकी यह विकृत धारणा बन सकती है कि प्राचीन साहित्यकारो के समक्ष ठहरेगा ही कौन ? साहित्य में जो कुछ भी आदर्श प्रतिष्ठापित होने वाला था वह तो हो चुका और नवीन साहित्यकार या तो अनुकर्त्ता होंगे अथवा निम्न कोटि के कलाकार। इस प्रकार के रूढिग्रस्त विचार श्रेष्ठ आलोचना के लिए कभी भी हितकर न होंगे। आलोचकों को सभी विदेशी साहित्यों में भी पारंगत होने की आवश्यकता पड़ेगी, क्योंकि विदेशी साहित्य के ज्ञान के बिना उनका हृदय संकुचित रहेगा और उनका दृष्टिकोण एकांगी होगा। विदेशी साहित्य-ज्ञान उनके रूढिगत विचारों का परिष्कार करेगा और उसी की सहायता से वे सभी देशों के अनेक-रूपी साहित्य का ठीक-ठीक मूल्यांकन कर सकेंगे। वे किसी भी नवीन कृति को 'युग-प्रवर्त्तक', 'युगान्तरकारी' अथवा 'निकृष्ट' एवं 'हीन' कहने में सहज ही हिचकेंगे और उनमे साहित्य का माप लगाने की इतनी शक्ति आ जायगी कि आलोचना की भूलें कम होंगी। जिस प्रकार बालक अपने सहपाठियों तथा सहयोगियों के साथ रहते-सहते, खाते-पीते अनेक सामाजिक गुण सीखकर निःस्वार्थता, सहयोग तथा सहानुभूति-प्रदर्शन में पटु हो जाता है उसी प्रकार आलोचक का प्राचीन तथा अन्य विदेशी-साहित्य-ज्ञान उसकी सहानुभूति का पोषण करता है, उसे निष्पक्ष बनाता है तथा सभी देशों के साहित्य को सम्यक् रूप में समझने की प्रेरणा देता है।

आलोचना-क्षेत्र का यह एक साधारण अनुभव है कि प्रकाण्ड पण्डित तथा अनेक विद्वान् श्रेष्ठ आलोचक नहीं बन पाते। इस नियम के कदाचित् दो या एक प्रतिवाद हों; परन्तु साधारणतया यही देखा गया है कि अनेक कारणवश विद्वान् श्रेष्ठ आलोचक बनने में असमर्थ ही रहते हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि वे विशेषतः प्राचीन साहित्यकारों के ही प्रशंसक और प्राचीन साहित्य को ही सर्वश्रेष्ठ मानने वाले हो जाते हैं और उनके लिए किसी भी नवीन कृति की श्रेष्ठता, उपयोगिता तथा उसकी महत्ता समझना-समझाना अत्यन्त दुष्कर हो जाता है। इसके अतिरिक्त वे प्रत्येक नवीन कृति में प्राचीन की छाया देखे बिना सन्तुष्ट ही नहीं होंगे। जब तक वह आलोचनार्थ कृति को अनुकरण-मात्र अथवा प्राचीन की तुलना में निकृष्ट न प्रमाणित करलें तब तक

उन्हें शान्ति नहीं मिलती। अमुक नवीन कृति पर किस प्राचीन ग्रन्थ की छाया है, उस पर किन-किन प्राचीन विचार-धाराओं का प्रभाव पड़ा, किन-किन प्राचीन लेखकों अथवा उनकी कृतियों द्वारा नवीन लेखक को प्रेरणा मिली, इसीके अनुसंधान में वे लगे रहेंगे। क्रियात्मक रचना को परखने के लिए प्रकाण्ड पाण्डित्य लाभप्रद न होगा। एक जर्मन लेखक का यह कथन अनेक अंशों में ठीक उतरता है कि अपूर्ण ज्ञान ही क्रियात्मक कल्पना को प्रेरित तथा उत्तेजित करता है; और जिन-जिन लेखकों को प्राचीन युग का सम्पूर्ण ज्ञान था वे प्रायः क्रियात्मक रचना में असमर्थ ही रहे। यही बात आलोचकों के विषय में भी कही जा सकती है। जो आलोचक, प्राचीन साहित्य का जितना ही अधिक पोषक होगा उतनी ही उसके लिए नवीन की परख कठिन होगी। प्राचीन साहित्य के अनेक विद्वान् नवीन साहित्यिकों की कल्पनात्मक रचनाओं से विमुख रहे; उन्होंने नवीन चित्रकारों का विरोध किया और नवीन संगीतज्ञों के नवीन रागों की उपेक्षा की। साहित्य तथा आलोचना के क्षेत्र में इस प्रकार का वैषम्य स्वाभाविक ही है, क्योंकि साहित्य तथा कला का सम्बन्ध हमारे मस्तिष्क से न होकर हमारे हृदय तथा हमारी अनुभूतियों से है; और यही कारण है कि धर्म तथा राजनीति के क्षेत्र के अतिरिक्त जहाँ घोर-से-घोर विवाद छिड़े, वह साहित्य का ही क्षेत्र है।

सौन्दर्यानुभूति-क्षमता

कदाचित्, श्रेष्ठ आलोचक की पहचान यही रहेगी कि वह कला के अनेक तत्त्वों का तर्कपूर्ण विवेचन देने, उसकी व्याख्या करने तथा उस पर टीका-टिप्पणी लिखने की अपेक्षा सौन्दर्यानुभूति को ही प्रश्रय दे। कला के हित के लिए विवेचन, व्याख्या, टीका तथा टिप्पणी की आवश्यकता तो अवश्य है और उसका अपना महत्त्व भी है परन्तु वह महत्त्व गौण है। प्रधानता सौन्दर्यानुभूति की शक्ति को ही दी जानी चाहिए। जो भी आलोचक सौन्दर्य को (चाहे वह कहीं भी हो) देखते ही आह्लादित हो उठे, जो भी आलोचक 'सत्यं' तथा 'सुन्दरं' का आलोक पाते ही अपनी आँखों में उसकी चकाचौंध कर ले तथा जो भी आलोचक मौलिक भावनाओं अथवा शैली को देखते-समझते उत्साहित तथा उत्तेजित हो सके, श्रेष्ठ होगा। श्रेष्ठता प्राप्त करने के लिए उसमें सहज रसानुभूति की क्षमता आवश्यक होगी; उसे अपने मानस का द्वार सुस्थिर रूप में खोलकर सभी अलौकिक प्रभावों को ग्रहण करना पड़ेगा। उस सहज रसानुभूति की व्याख्या तथा वर्गीकरण और उसका रहस्योद्घाटन तो बाद की बात है। पहले उसे उसी प्रकार सूर्य के तेज को देखकर, उस ओर उन्मुख हो, अपने विशाल हृदय को

आलोकित तथा विकसित करना होगा, जिस प्रकार सूर्यमुखी विकसित हो उठती है। जिस प्रकार बिजली का बटन दबाते ही कमरा प्रकाश से आलोकमान हो उठता है उसी प्रकार सौन्दर्य तथा मौलिकता के दर्शन होते ही आलोचक को आलोकित हो उठना चाहिए। परन्तु इस सिद्धान्त मे एक कठिनाई भी है। वह यह कि अपनी अपरिपक्वावस्था मे हम विशेषतया उन्हीं साहित्यिक कृतियों से प्रभावित होते हैं, जो हमारी अविकसित अथवा आंशिक रूप में विकसित भावनाओं को उकसाती हैं। हमें अतिशयोक्ति प्रिय होती है और उत्तेजनापूर्ण अंश ही सन्तोषप्रद होते हैं। रोमांचक भावों, राष्ट्र-प्रेम, पलायनवाद[1] में हमारी रुचि रहती है। हम साहित्यिक कृतियो की आत्मा को समझने और उसमे पैठकर उसे देखने में असमर्थ रहते हैं। और यही दशा अनेक साहित्यकारों की भी रहती है। वे भी कुछ वर्षों तक जन-रुचि पर छाए रहते हैं; पत्रकारो द्वारा उनकी प्रशंसा में पृष्ठ-के-पृष्ठ छपा करते है और उनकी तुलना कालिदास, शेक्सपियर, मिल्टन इत्यादि महान् लेखको से की जाने लगती है। आलोचकों द्वारा उनकी इतनी प्रशंसा होने लगती है कि साधारण पाठक अपनी स्वतन्त्र रुचि का प्रकाश कर ही नहीं सकते। परन्तु इस त्रुटि से बचने का भी साधन सरल है। आलोचको तथा पत्रकारो को चाहिए कि वे अपनी रुचि को परिवर्तित करने में न झिझकें। उन्हें यह चाहिए कि वे नवीन कृति के प्रभाव को ग्रहण करके उसको अवश्य प्रकाशित करें; परन्तु अपना साहित्यिक निर्णय कुछ काल के लिए स्थगित रखें। उनकी महत्ता इसी मे है कि वे प्रत्येक सौन्दर्ययुक्त विषय अथवा विचार के सम्मुख हमें ला खड़ा करें और उसके मूल्य का निर्णय तत्काल न करके कुछ समय पश्चात् करें। हो सकता है कि पत्रकारों को यह सुविधा न प्राप्त हो सके परन्तु श्रेष्ठ आलोचक यह सहज ही कर सकता है। पत्रकार भी यदि चाहेंगे तो परिचय-मात्र देने के पश्चात् समालोच्य पुस्तको का मूल्यांकन सुस्थिर तथा स्वस्थ रूप में कर सकेंगे। पुस्तक पढ़ने के उपरान्त समालोचक को अपने-आपसे यह प्रश्न पूछना चाहिए कि क्या अमुक लेखक की अमुक कृति का प्रभाव मेरे ऊपर स्थायी रूप में पड़ा है अथवा वह केवल चार दिन की चाँदनी थी; क्या उस पुस्तक ने मेरे अस्थायी भावों अथवा विचारों को ही प्रभावित तो नहीं किया और हमारे मानस में अपना स्थान भूल से बना लिया; कहीं मुझे भ्रम तो नहीं हुआ; क्या कलाकार की कृति को मैंने कलाकार की ही आँखो से देखने की चेष्टा की है? इन प्रश्नों के समुचित उत्तर पर ही श्रेष्ठ आलोचना की रचना हो सकेगी।

१. देखिए—'काव्य की परख'

वास्तव में सर्वश्रेष्ठ आलोचक वही है जो मूर्तिमान सौन्दर्यानुभूति के लिए हमें प्रेरणा दे और सर्वश्रेष्ठ आलोचना वही है जो हमें अपनी इन्द्रियों द्वारा रसानुभूति देने में संलग्न रहे। यों तो अनेक साहित्यकारों ने आलोचना की अनेक परिभाषाएँ बनाईं परन्तु सर्वश्रेष्ठ परिभाषा उन्नीसवीं शती के लेखकों ने ही निर्मित की। इस शती के एक श्रेष्ठ लेखक[1] का कथन है कि 'आलोचक की हैसियत से मैंने उसी को अपनाने की चेष्टा की जो मुझे रुचिकर हुआ और उस रुचि की व्याख्या तथा उसका समर्थन, जब मुझे आवश्यक लगेगा और मेरी शक्ति के बाहर न होगा, मैं सहर्ष करूँगा।' उसी शती के अन्तिम चरण में जिस व्यक्ति[2] ने श्रेष्ठ आलोचनात्मक सिद्धान्त का प्रचार करना चाहा वह और भी ग्रहणीय है—'आलोचक वही है जो कलाकार के गुणों को हृदयंगम करके उनका विवेचन पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करे।' एक आधुनिक फ्रांसीसी साहित्यकार ने आलोचक को आनन्द का प्रसारक कहा है। इसमें कदाचित् किंचित्मात्र भी अतिशयोक्ति नहीं कि साधारण पाठकवर्ग की अपेक्षा आलोचक में कला की रसात्मकता तथा उसके द्वारा आनन्दानुभूति प्राप्त करने की क्षमता अधिक रहती है; और इसके पहले कि वह दूसरो को आनन्दानुभूति दे उसे स्वयं अपने को इस योग्य बनाना चाहिए कि उसके मानस में सहज ही आनन्द की अनुभूति आती जाय। यदि वह स्वतः आनन्द का अनुभव नही करता तो वह दूसरों को उसकी अनुभूति कैसे देगा? इसके साथ-साथ उसका दृष्टिकोण भी सर्वांगीण होना चाहिए, क्योंकि एकांगी दृष्टिकोण द्वारा निष्पक्ष आलोचना असम्भव होगी। अपने एकांगी दृष्टिकोण के वशीभूत आलोचक केवल उन्हीं कलाकारो द्वारा प्रभावित होगा जो उसे प्रिय होंगे; जिनके साथ उसकी सहानुभूति गहरी होगी। हाँ, इस एकांगी दृष्टिकोण के फलस्वरूप यह बात आवश्यक हो सकती है कि आलोचक उस कवि अथवा कलाकार की सम्भवतः अति श्रेष्ठ आलोचना प्रस्तुत कर ले जो उसे प्रिय हो। चाहे इसके फलस्वरूप अन्य कलाकारो की आलोचना निष्प्राण अथवा दूषित हो परन्तु उसके प्रिय कलाकार की आलोचना श्रेष्ठ तथा महत्त्वपूर्ण हो सकती है।

प्रभावशाली व्यक्तित्व

साधारणतया यह देखा जा रहा है कि समालोचकों द्वारा लिखी आलोचना में वैभिन्न्य नहीं होता; एक ही प्रकार की शब्दावली, एक ही प्रकार की शैली, एक ही प्रकार का दृष्टिकोण सर्वत्र प्रस्तुत रहता है। एक ही समालोचक संगीत, साहित्य,

१. हैज़लिट

२. वाल्टर पेटर

इतिहास, दर्शन, अर्थशास्त्र इत्यादि विभिन्न विषयों पर समालोचना प्रस्तुत करता है, जिसका फल यह होता है कि पाठकवर्ग का पथ-प्रदर्शन तो दूर वे पथभ्रष्ट ही होते हैं। इन समालोचनाओं में आलोचक के व्यक्तित्व के कहीं भी दर्शन नहीं होते; आभास मिलता है कि एक ही व्यक्ति दस आदमियों की बोली बोल रहा है और प्रत्येक बोल नीरस, शुष्क तथा प्राण हीन है। व्यक्तित्व-हीन आलोचना, पक्षपातपूर्ण आलोचना की अपेक्षा किसी भी रूप में ग्राह्य नहीं होगी। वह आलोचक ही क्या, जो गिरगिट के समान रंग बदलता रहे! यथार्थतः आलोचक का व्यक्तित्व जितना प्रभावशाली होगा उतनी ही उसकी आलोचना भी प्रभावपूर्ण होगी और उतनी ही सफलता पूर्वक वह अनेक कलाकारों की आलोचना भी कर सकेगा। प्रभावशाली व्यक्तित्वपूर्ण आलोचक कला की प्रेरणा को भी सम्यक् रूप में ग्रहण करेगा; उसे रसानुभूति भी उचित रूप और मात्रा में होगी। वह देर तक स्वान्तःसुखाय मनमाने रूप में कला के सागर में गोता लगाए बैठा न रहेगा और ज्यों ही उसे आनन्द तथा रस की अनुभूति होगी त्यों ही सुस्थिर रूप में वह उसकी अनुभूति पाठकों को देने लगेगा। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि श्रेष्ठ आलोचक वही है जो साहित्य द्वारा अपने मानस को तरंगित करे, अपनी चेतना तथा प्रतिभा द्वारा उसकी व्याख्या तथा विवेचना करे और जो भी अपूर्व आनन्द की ज्योति उसे दिखाई दे उसकी पूरी झलक पाठकवर्ग को दे। आलोचक में भी कलाकार की क्रियात्मक प्रतिभा होनी चाहिए। साहित्य की मीमांसा, उसके विश्लेषण तथा व्यवच्छेद के पश्चात् उसमे पुनः प्राण-प्रतिष्ठा करके उसका मूल रूप दुबारा प्रस्तुत करने की क्षमता होनी चाहिए। आलोचक केवल विश्लेषक तथा विवेचक भी हो सकता है; वह पाठकों को कला के अनेक अंगो को अलग-अलग करके उनका आन्तरिक तथा बाह्य रूप दिखला सकता है; वह उसकी शक्ति तथा उसकी मौलिकता का मूल्यांकन भी कर सकता है। परन्तु साधारण लेखक की अपेक्षा उसमें ज्ञानाधिक्य, अनुभवात्मक शक्ति, विभिन्न साहित्य तथा कला-शैलियो का ज्ञान एवं कलाकार की कलात्मक अनुभूति को पुनः प्रकाशित करने की विशेष शक्ति होनी चाहिए। कलाकार की शक्ति तथा अतिशय आनन्दानुभूति की क्षमता की प्रशंसा सभी आलोचकों ने की है। आलोचकों में भी उतनी ही मात्रा में यही गुण अपेक्षित होगे।

निर्णयात्मक शक्ति

आधुनिक युग के अनेक विद्वानों का विचार है कि आलोचक का कार्य केवल कला के सौन्दर्य की अनुभूति देना है। कदाचित् यह विचार असंगत है।

आलोचक को सौन्दर्यानुभूति देना तो आवश्यक है ही, परन्तु उसके लिए एक बात और भी आवश्यक है—वह है उसकी निर्णयात्मक क्षमता। आलोचक से सभी वर्ग के पाठकों की यह स्पष्ट माँग रही है कि वह साहित्य तथा कला पर अपना निर्णय प्रस्तुत करे। परन्तु अनेक आलोचक इस कार्य से हिचकते रहे हैं। इसका कारण यह है कि प्राचीन युग के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया आधुनिक युग में आरम्भ हुई उसी के अन्तर्गत आलोचना-सिद्धान्तों के विरुद्ध भी प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। प्राचीन युग के विचारकों ने नियमों का अनुशासन इतना कठिन और सिद्धान्तों का महत्त्व इतना अधिक बढ़ा दिया था कि किसी भी नवीन विचार, नवीन कृति, तथा नवीन शैली को लोकप्रियता न प्राप्त हो पाई। प्राचीन पद्धति के आधार पर की गई समालोचना, जो साधारणतया सामाजिक तथा नैतिक दृष्टिकोण से हुआ करती थी, कलाकार के हृदय तथा कला की आत्मा तक नहीं पहुँच पाती थी; और यह पद्धति अठारहवीं शती के मध्य-काल तक प्रचलित रही। परन्तु अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध तथा उन्नीसवीं के पूर्वार्द्ध में जो विप्लवकारी परिवर्तन राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्र में हुए उन्हीं के प्रभाववश साहित्य-रचना-क्षेत्र में भी क्रान्ति आई। इस क्रान्ति के फलस्वरूप आलोचना-क्षेत्र का यह एक विशिष्ट नियम हो गया कि नियमों की महत्ता कम की जाय; कला को कलात्मक ढंग से परखा जाय तथा प्रत्येक कला-कार के ऊपर पडे हुए अन्यान्य प्रभावों की भूमिका समझने के उपरान्त कलाकार के लक्ष्य तथा उसकी पूर्ति के साधनो तथा अभीष्ट-सिद्धि का अनुसन्धान करके उसकी कला का मूल्यांकन किया जाय। कलाकार की कला सुन्दर, असुन्दर, असाधारण, चाहे जैसी भी हो, हमे उसी की आँखों से उसे देखना होगा।

रोमांचक आलोचना-प्रणाली ने, जिसका प्रादुर्भाव उन्नीसवीं शती पूर्वार्द्ध में हुआ, नवीन साहित्य-मार्गों का निर्माण किया और नवीन आलोचना-सिद्धान्तों को जन्म दिया। उसके पोषकों ने नियमानुगत तथा रूढ़िगत आलो-चना-प्रणाली को हीन प्रमाणित किया। उनका यह सिद्धान्त बन गया कि कलाकार की शिक्षा-दीक्षा तथा उस पर पडे हुए सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक प्रभावों का निरीक्षण किया जाय; समय की गति पहचानी जाय और तदुपरान्त शैली का विवेचन किया जाय। राजनीतिक तथा धार्मिक पक्षपात का दृष्टिकोण हेय समझा गया और कला का दृष्टिकोण ही अभिमत हुआ। परन्तु इतना होते हुए भी निर्णय देने की आवश्यकता कभी भी कम न समझी गई : इसी कारण आलोचक को निर्णय देना एक प्रकार से अनिवार्य-सा हो गया। परन्तु निर्णय देने का यह अर्थ नहीं कि वह मनमाने रूप में दिया जाय।

वे ही निर्णय मान्य तथा सफल होंगे जो इस तथ्य को सदा ध्यान में रखेंगे कि कोई निर्णय आदर्श निर्णय नहीं; अपने मनोनुकूल सभी अपना निर्णय देने को स्वतन्त्र हैं और जब तक आलोचक, कला तथा कलाकार के अन्यान्य सम्बन्धों को हृदयंगम न कर ले उसका निर्णय मान्य न हो सकेगा। निर्णय की आवश्यकता को न समझना तथा उस उत्तरदायित्व से मुख मोड़ लेना श्रेष्ठ आलोचक के लिए कदाचित् हितकर नहीं। इस उत्तरदायित्व से चाहे वह कितना ही बचना चाहे उसे सफलता प्राप्त न होगी। चाहे वह उपन्यासकार के उपन्यास की कहानी बतलाए, चाहे वह कवि की कविता के छन्द की व्याख्या करे, चाहे वह नाटककार के नाटकों के अंकों तथा गर्भांकों का लेखा रखे—इन सभी स्थलों पर उसे अपनी निर्णयात्मक शक्ति का प्रयोग करना ही पड़ेगा। उसे कुछ अंशों को छोड़ना पड़ेगा, कुछ को अपनाना पड़ेगा, कुछ को महत्त्वपूर्ण समझकर उनका विस्तृत उल्लेख देना होगा और कुछ को महत्त्वहीन समझकर उनकी उपेक्षा करनी पड़ेगी। इसलिए आलोचक को निर्णय देने में अरुचि नहीं होनी चाहिए। उसे केवल इस बात पर सदैव तत्पर रहना चाहिए कि वह किसी भी वर्ग अथवा श्रेणी के साहित्य से विमुख न होगा। उसे प्रत्येक युग तथा देश की साहित्यिक रुचि का अभिवादन करना पड़ेगा; परन्तु वह यह कहने पर स्वतन्त्र अवश्य रहेगा कि अमुक साहित्यिक तथा अमुक युग का साहित्य उसे विशेष प्रिय है। यदि आलोचक बाह्यवादी[1] ढंग से ही साहित्य की आलोचना करेगा तो उसकी आलोचना शुष्क तथा नीरस होगी। उसे यह कहने का पूर्ण अधिकार है कि अमुक साहित्यिक मुझे जरा भी रुचि-कर नहीं; उसकी रचनाएँ पढ़ते ही मुझे निद्रा आने लगती है; अच्छा होता कि उसकी पुस्तकें मेरे पुस्तकालय मे न होतीं। परन्तु उसे यह कहने का जरा भी अधिकार नहीं कि दूसरे व्यक्ति उस साहित्यकार की रचनाएँ न पढ़ें; उसको रुचिकर न समझें; उसकी पुस्तकों को अपने पुस्तकालय मे स्थान न दें। इस सम्बन्ध में उसे यह भी घोषणा करनी पड़ेगी कि यद्यपि अमुक साहित्यिक मुझे अरुचिकर है परन्तु उसमें श्रेष्ठता है, भव्यता है, प्रतिभा है, मौलिकता है तथा जीवन-शक्ति है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत सभी आलोचकों को अपनी व्यक्तिगत रुचि के अनुसार अपने से यह पूछना पड़ेगा कि उन्हें यह नवीन कृति कितनी अच्छी या बुरी लगी? मुझ पर उसका कैसा प्रभाव पड़ा? मुझे वह क्यों और कैसे प्रभावित करती है? और उसके द्वारा जो आनन्द मुझे मिला उसके विशेष तत्त्व क्या हैं? सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वमान्य आलोचक वही

१. देखिए—'काव्य की परख'

होगा जो न तो रूढ़ि का अनुयायी होगा और न नियमों के पीछे पड़ेगा; और न बाह्यवादी रूप में ही साहित्य का मूल्यांकन करेगा। उसे अपनी रुचि के अनुसार ही साहित्य की अच्छाई-बुराई का निर्णय देना होगा। वह यह कभी नहीं कहेगा कि अन्य सभी पाठक उसीकी रुचि का अनुसरण करें। उसे दूसरों को भी वही स्वतन्त्रता देनी होगी जिसका वह स्वतः उपभोग करता है।

यदि आलोचकों को वर्गों में विभाजित करके अथवा कलाकार के लक्ष्य तथा उसकी पूर्ति का ध्यान रखकर आलोचना लिखने पर उन्हें उत्साहित किया जाय तो उपर्युक्त आलोचनात्मक कार्य अत्यन्त सरल हो जायगा। साहित्य के वर्गों के अन्तर्गत किसी की कृति को रखकर जब आलोचक उसका मूल्यांकन करे तो उसे यह देखना चाहिए कि वह कृति उस वर्ग में कहाँ तक खप रही है और उस वर्ग में होने के फलस्वरूप उसमें कौन-कौनसे वाञ्छित अथवा अवाञ्छित तत्त्व हैं। यद्यपि साहित्य के वर्गीकरण के प्रति अनेक आलोचकों ने उपेक्षा दिखलाई है, परन्तु इस वर्गीकरण से लाभ की ही सम्भावना अधिक रही। वर्गीकरण का आदर्श जब-जब आलोचकों ने अपनाया तब-तब उन्होंने आलोचक के एक श्रेष्ठ गुण की रक्षा की। परन्तु वर्गीकरण के साथ-साथ निर्णयात्मक शक्ति की आवश्यकता सदैव रहेगी। साधारणतया आलोचक साहित्य के वर्गीकरण के पश्चात् मूक रहने का प्रयत्न करते हैं; यदि वे अपना निर्णय भी प्रस्तुत कर सकते तो साहित्य के पाठकों का उपकार ही होता।

कुछ आलोचक युग को ही ध्यान में रखकर आलोचना लिखने पर तत्पर हो जाते हैं। उनका सिद्धान्त यह पूछना रहता है कि क्या अमुक कृति अमर रहेगी? क्या उसमें अमरत्व के अनेक गुण हैं? यदि हैं तो कौन-कौन? यह सिद्धान्त अनेक अंशों में भ्रममूलक है। आलोचकों को अपने समय के पाठकों के लिए ही अपना मत-प्रदर्शन करना चाहिए; भविष्य के आलोचक ही भविष्य के पाठकों के पथ-दर्शक होंगे और आज के आलोचक को, भविष्य का ध्यान छोड़कर, अपने समय के पाठकों की ही सेवा करनी चाहिए। तत्कालीन विचार-धारा के पक्षपात की भावना से सुरक्षित रहकर आलोचक को अपने समय के साहित्य को अपनी रुचि के अनुकूल परखना पड़ेगा। आलोचक जब-जब अपना सुस्थिर निर्णय अपने उत्साह तथा अपनी आनन्दानुभूति के आधार पर देगा तब-तब उसकी आलोचना श्रेष्ठ होगी।

श्रेष्ठ शैली

आलोचक के लिए यह भी अत्यावश्यक है कि कलाकार के समान वह स्वयं भी श्रेष्ठ तथा सुन्दर और चित्ताकर्षक शैली में अपने विचार प्रकट करे। उसकी

शैली कदाचित् उसकी आलोचना से कम महत्त्वपूर्ण नहीं, क्योंकि अनेक श्रेष्ठ आलोचक श्रेष्ठ शैली पर अधिकार न रख सकने के कारण अपनी लोकप्रियता न बढ़ा सके। कुछ आलोचक ऐसे भी हुए जिन्होंने साहित्य की आत्मा को पूर्णतया हृदयंगम तो कर लिया, परन्तु उसका परिचय दूसरों को न दे सके; और यदि दिया भी तो अत्यन्त अस्पष्ट अथवा जटिल रूप में, जिसका फल यह हुआ कि न तो उनके विचार ही ग्राह्य हुए और न उनके पाठकवर्ग की संख्या ही बढ़ सकी। आधुनिक काल में यह परिस्थिति और भी स्पष्ट हो रही है। आलोचकवर्ग, पाठकों से दूर होता जा रहा है और जटिल तथा अस्वस्थ शैली के कारण ही यह सब हो रहा है। कभी-कभी यह शैली अप्रचलित शब्द प्रयोग करती है और कभी-कभी इतनी विशेष शब्दावली का प्रयोग करती है कि साधारण पाठकवर्ग उनका अर्थ समझ ही नहीं पाता। एक ओर जहाँ विद्वान् आलोचकवर्ग जटिल तथा दुरूह शैली का प्रयोग कर रहे हैं दूसरी ओर पत्रकार आलोचना को निकृष्ट स्तर पर ले आ रहे हैं। चलती-फिरती चुहचुहाती भाषा तथा आकर्षक शब्द-प्रयोग तथा मनोरंजक शैली अपनाकर वे समालोचना को 'चना जोर गरम' का लटका बनाए हुए हैं। उनका ध्येय केवल यही रहता है कि किसी-न-किसी प्रकार पुस्तक-परिचय पढ़ा अवश्य जाय और पाठकवर्ग पर उसका वैसा ही प्रभाव पड़े जैसा सिनेमा-जगत् की अभिनेत्रियों को देखने के पश्चात् पड़ता है। आज का आलोचक या तो विद्वान्-मण्डली का सदस्य है अथवा चटपटी समालोचना वालों के नवीन वर्ग का सदस्य है। उन्नीसवीं शती की सहज, सरल, स्वस्थ तथा सुरुचिपूर्ण आलोचना-प्रणाली की साहित्यिक धारा एक प्रकार से सूख-सी गई है। इस दृष्टि से इसी युग के आलोचकों का अनुसरण अपेक्षणीय होगा, क्योंकि इसी युग के समालोचकों ने अपनी विद्वत्ता घर-घर पहुँचाई, साहित्य की आत्मा की झाँकी दिखलाई तथा एक अत्यन्त रुचिकर तथा साहित्यिक शैली में सौन्दर्य का दिग्दर्शन कराया। उन्होंने न तो विशेषज्ञ की शैली अपनाई और न ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र की विशेष शब्दावली का ही प्रयोग किया; उन्होंने केवल यह प्रयास किया कि उनके द्वारा पाठकवर्ग श्रेष्ठ साहित्य के निकट आता जाय और उसकी आत्मा का परिचय प्राप्त करता जाय।

आधुनिक आलोचना की रूप-रेखा

आजकल के आलोचक प्राचीन साहित्य की बाल की खाल निकालने में सिद्धहस्त हो रहे हैं; वे यह चाहते हैं कि प्राचीन साहित्य का पूर्ण ज्ञान हमे पहले हो तभी हम किसी भी साहित्य को परखने योग्य हो

सकेंगे। इसी लक्ष्य को सम्मुख रखकर मनोविज्ञान-वेत्ता, मनस्तत्व-शास्त्रज्ञ, अर्थ-शास्त्री तथा समाज-शास्त्रज्ञ, सभी साहित्यों के स्रोत, उसके प्रभाव तथा उसके अनेक तात्त्विक अंशों की व्याख्या करने तथा टीका-टिप्पणी में लगे हैं। सौन्दर्य-शास्त्री वाग्जाल बिछाकर साहित्य-रूपी सुनहले पक्षी को पकड़ने का प्रयत्न कर रहे हैं और साहित्य के पीछे छिए हुए रहस्यमय स्तरों के अन्वेषण में व्यस्त हैं। उन्हें न तो आधुनिक साहित्य में रुचि है और न वे उसका मूल्यांकन ही कर रहे हैं। आज का जो साहित्य पल्लवित तथा पुष्पित हो रहा है उससे वे विमुख हैं और उसको वे महत्त्वहीन समझ रहे हैं। श्रेष्ठ आलोचक के आदर्श या तो उन्हें ज्ञात नहीं या वे उसकी मनमानी उपेक्षा कर रहे हैं।

आधुनिक काल मे एक यह भी भ्रम फैला हुआ है कि साहित्यकार को आलोचक की आवश्यकता ही क्या? साहित्यकार को आलोचक की आवश्यकता अवश्य है और रहेगी। हाँ, उसका दृष्टिकोण परिवर्तनशील होना चाहिए। वह एक ऐसा व्यक्ति है जो कलाकारों का शत्रु नहीं, मित्र है। वह उनका पथ-प्रदर्शन करता है; उनकी कमजोरियो की ओर संकेत करता है; उनका कारण स्पष्ट करता है तथा उनको दूर करने की व्यवस्था बनाता रहता है। वह कलाकार की कला को अधिक अर्थपूर्ण बनाता है और कभी-कभी ऐसे भी तत्त्व निकाल रखता है, जो कदाचित् कलाकार को स्वप्न में भी ध्यान में न आए थे। साधारण पाठकों की अपेक्षा, जैसा हम पहले कह चुके हैं, आलोचक अधिक ज्ञानी तथा सावधान और सतर्क रहेगा। उसकी स्मरण-शक्ति भी अपूर्व होगी और वह प्राचीन तथा नवीन दोनो को सम्मुख रखकर दोनों की तुलनात्मक अच्छाई-बुराई प्रदर्शित कर सकेगा। वह कलाकार की मानसिक तथा आध्यात्मिक प्रगति का समुचित लेखा रख सकेगा, उन्हे सावधान करेगा और उनकी कला को श्रेष्ठतर बनाने का आदेश देकर उसके साधन बतलाएगा। वह कलाकार पर पड़े हुए प्रभावो का परिचय उसको देगा और व्यक्तित्व की रक्षा करने तथा उसको समुचित रूप में प्रकाशित करने को उत्साहित करेगा। वह उसकी अनेक कृतियों की तुलना अन्य विदेशी कलाकारो की कृतियों से करेगा और नवीन विचार-धाराओं का परिचय देगा। सफल आलोचक वही होगा जो आधुनिक कलाकारों की कल्पना-शक्ति, उनकी प्रतिभा, उनके आदर्श, दिव्य-जगत् की मूर्तिमान कल्पना हृदयंगम करे और उसका परिचय दूसरों को दे। उसे कलाकारो को अपने ज्ञानालोक का सहयोगी बनाकर साहित्य-क्षेत्र में भविष्यवक्ता का आसन ग्रहण करना पडेगा।

साधारणतया लेखकवर्ग आलोचकों के कार्यों से अत्यन्त विक्षुब्ध रहा

है और यह बात नई भी नहीं। प्राचीन काल से लेकर आज तक साहित्यकार आलोचकों का विरोधी[1] है और जब तक कि कोई महान् आध्यात्मिक परिवर्तन नहीं होता और जब तक इन दोनों वर्गों के व्यक्ति एक-दूसरे की महत्ता समुचित रूप से नहीं समझते तब तक यह द्वन्द्व प्रस्तुत रहेगा। परन्तु खेद तो इस बात का है कि जब हमारे शिक्षा-सिद्धान्त कहाँ-से-कहाँ पहुँचे, न जाने कितने विश्वविद्यालयों की संख्या बढ़ी और साहित्य-ज्ञान-प्रसार की सुविधाएँ अनेक रूप में प्रस्तुत हुईं, आलोचना क्षेत्र में कोई भी प्रगति न हुई। हमारे सौन्दर्यानुभूति की तीव्रता बढ़ाने के न तो शिष्ट साधन प्राप्त हुए और न हमारी रुचि का ही परिष्कार हुआ। इस परिस्थिति का मुख्य कारण व्यावसायिकता है। व्यावसायिकता ने साहित्य-क्षेत्र को दूषित कर रखा है और इसीके वशीभूत पाठकवर्ग पुस्तक खरीदते समय यह सोचता है कि जितने पैसे वह व्यय कर रहा है उसके बदले में उसी मूल्य की वस्तु उसे मिल रही है अथवा नहीं। हमारी रुचि भी साहित्य की ओर कम होती जा रही है, क्योंकि समाज में धन की महत्ता बढ़ती जा रही है।[2] धन की महत्ता के साथ-साथ प्रेस ने भी अपने प्रचार-कार्य द्वारा ऐसी विषम परिस्थिति ला दी है कि उसका प्रतिकार अत्यन्त कठिन हो गया है। जब पत्रकारों ने किसी लेखक को उचित अथवा अनुचित रूप मे आगे बढ़ाया तो उसको नवीन पद पर आसीन रखने के लिए उसकी प्रशंसा मे निरन्तर लेख छपते रहे और लेखक को भी अपनी मर्यादा बनाए रखने के लिए नवीन कृतियों की रचना करनी पड़ी। चाहे वे रचनाएँ किसी भी कोटि की क्यों न हों, प्रेस को अपनी प्रशंसा की बाढ़ उसी पुरानी गति पर रखनी पड़ी। इसका फल यह हुआ है कि प्रत्येक आधुनिक लेखक की तुलना कालिदास, भवभूति, शेक्सपियर तथा मिल्टन से की जाने लगी। इसके साथ-ही-साथ ऐसे उत्तेजनापूर्ण साहित्य की माँग बढ़ने लगी है कि इस बाढ़ को रोकना भी असम्भव दिखाई दे रहा है। हमारी रुचि सत्-साहित्य से हटकर अभिनेत्रियो की जीवनी पढ़ने पर उतर आई है; प्राचीन साहित्य की चर्चा होते ही हमे नींद-सी आने लगती है और विद्यार्थीवर्ग को यदि परीक्षा का भय न होता तो कदाचित् उनके पुस्तकालयों में 'लन्दन-रहस्य' तथा 'भूतनाथ' इत्यादि की कोटि की रचनाएँ ही स्थान पातीं। इस परिस्थिति का विस्तृत विवेचन हम प्रगतिवादी आलोचना के अन्तर्गत करेंगे।

---

१. देखिए—'सात एकाकी' : चौराहा

२. देखिए—'काव्य की परख' : प्राक्कथन

परिस्थिति का निराकरण

१. ऐसे पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन, जो धन की अपेक्षा सुरुचि-प्रसार पर ही अपना लक्ष्य केन्द्रित करें।

२. ऐसे लेखकों तथा साहित्यकारों का पोषण, जो सत्-साहित्य में सुरुचि के प्रचारक हों।

३. ऐसी साहित्यिक गोष्ठियों का निर्माण, जो समय की रुचि का परिष्कार तन, मन, धन से करे और वैमनस्य तथा प्रतिस्पर्धा को तिलांजलि दे।

४. सतर्क आलोचकों का अभिवादन।

५. साहित्य को धर्म, राजनीति इत्यादि के विषम प्रसार से दूर रखा जाय।

६. अन्वेषण तथा अन्वेषकों को सुविधाएँ दी जायँ, जो साहित्य-ज्ञान का प्रसार करें।

७. ऐसे शिक्षकवर्ग की संख्या बढ़ाई जाय, जो विद्यार्थियों को सत्-साहित्य-रचना में उत्साहित करें। उनमे यह कहने का साहस हो कि अमुक विषय पर सौ पुस्तक हैं जिनमें निन्यानवे निरर्थक हैं।

८. केवल पाठान्तर बतलाने वाले तथा पाठ-शुद्धि में लगे हुए शिक्षकों की अपेक्षा ऐसे शिक्षकों को प्रोत्साहन मिले, जो कलाकार की साहित्यिक कला के प्रति विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित करें।

९. साहित्यकारों की व्यक्तिगत जीवनी के चटपटे स्थलों पर लेखक प्रकाश न डाले, वरन् उनकी कला की ही मीमांसा करे।

१०. समाज की अस्थिर रुचि की लेखकवर्ग परवाह न करे और समाज-शास्त्रियों के एकांगी दृष्टिकोण से बचा रहे।

११. आलोचना की भाषा सरल, सुस्पष्ट हो तथा अनेकरूपेण शब्द-जाल से मुक्त रहे।

१२. नवीन साहित्यकारों का समुचित पथ-प्रदर्शन हो और उन्हें प्रोत्साहन मिले।

१३. पत्रकारों को पत्रकारिता तथा प्रेस की व्यावसायिक नीति से लेखकों तथा साहित्य की सुरक्षा हो। और प्राचीन साहित्य के प्रति पाठकवर्ग में रुचि उपजाकर उन्हें नवीनता की ओर अग्रसर किया जाय, क्योंकि श्रेष्ठ कलाकार श्रेष्ठ पाठक-समाज सदैव अपेक्षित समझेंगे।

: ८ :

बौद्धिक सहानुभूति तथा क्रियात्मक आलोचना-प्रणाली की आवश्य-

आलोचक का कार्य कला के अन्तर्गत पिछले पृष्ठों में हम जिन आलोचनात्मक तत्वों का विश्लेषण कर आए हैं उनसे यह स्पष्ट होगा कि साहित्य अथवा कला के क्षेत्र में आलोचक साधारणतः दुभाषिए का कार्य करते हैं और जो व्यक्ति इस कार्य मे जितना ही दक्ष होता है उतनी ही उसके विचारों की प्रशंसा होती है। आधुनिक युग तो, जैसा हम स्पष्टतः प्रमाणित कर चुके हैं, वास्तव मे औद्योगिक तथा व्यापारिक युग है और इस युग में यदि कला और साहित्य भी व्यापार की वस्तुएँ बन जायँ तो उसमें आश्चर्य ही क्या, और जिस प्रकार व्यापारिक क्षेत्र में हमे खरीदारो तथा दलालों, विज्ञापकों तथा प्रशंसको की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार साहित्य और कला को परखने, उसके प्रभाव को आँकने तथा उसके मूल्य को समझने के लिए भी कुछ ऐसे व्यक्तियो की आवश्यकता पड़ेगी जो हमें उसकी उपयोगिता तथा अनुपयोगिता, सफलता अथवा विफलता का विवेचन दे सकें।

उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष भी सहज ही निकल सकता है कि व्यापारिक क्षेत्र के समान ही कला-क्षेत्र में दलालों के समान आलोचक भी कुछ वस्तुओं की प्रशंसा करके उनकी माँग बढाएँ और कुछ की निन्दा करके उसकी माँग घटाएँ। परन्तु आलोचक कला के व्यापार-क्षेत्र का दुभाषिया होते हुए भी अपने कार्य की कुछ सीमाएँ बाँध लेता है। कदाचित् वह यही श्रेष्ठ समझता है कि अपनी सुबुद्धि, तर्क तथा सत्साहित्य-ज्ञान के बल पर साहित्य अथवा कला की अनुभूति दूसरो के हृदय में जाग्रत करे और जो-जो पाठक उसके प्रभाव को हृदयंगम न कर सकें उनके हृदय में उसकी अनुभूति जगाए और जहाँ कही भी यह अनुभूति हलकी अथवा दुरूह हो उसे सहज रूप में तीव्र करे।

जैसा हम पहले संकेत रूप में कह चुके हैं और जैसा कि कुछ विद्वानों का विचार भी है, आलोचको का कार्य भी कलाकारो के समान ही क्रियात्मक है। कलाकार कलापूर्ण वस्तु के निर्माण के पहले अपनी रुचि के अनुसार संसार अथवा कल्पना-क्षेत्रों से सामग्री एकत्र करेगा, उनमें चुनाव करेगा, उनकी उपयोगिता-अनुपयोगिता देखेगा, और चुनी हुई चीजों में सौन्दर्य की सृष्टि करके उन्हे मोहक रूप देकर हमारे हृदय को छूने का प्रयास करेगा। इसी तथ्य को समझकर अंग्रेजी के एक श्रेष्ठ नाटककार[1] तथा गद्य-लेखक ने कहा था कि बिना आलोचनात्मक ज्ञान के कला का सौष्ठवपूर्ण निर्माण कठिन ही नही वरन् असम्भव भी है। और इसी विचार के आधार पर कुछ लोगों ने यह धारणा-बना ली कि प्रतिभाहीन कवि आलोचक बन बैठता है और काव्य-क्षेत्र मे विफल

१. ऑस्कर वाइल्ड

होने के पश्चात् आलोचना लिखकर प्रशंसा प्राप्त करना चाहता है। कदाचित् यह विचार इस प्रमाण से और भी पुष्ट होगा कि अनेक कवि अपना काव्य-स्रोत सूखने के पश्चात् आलोचना-क्षेत्र में आ गए। अंग्रेजी साहित्य में तो इसके अनेक उदाहरण मिलेंगे और हिन्दी में भी कुछ कम नहीं। परन्तु अंग्रेजी-क्षेत्र के सम्बन्ध में इतना अवश्य कहा जायगा कि कवियों ने कभी-कभी स्वयं ही अपने काव्य की ऐसी आलोचना प्रस्तावना के रूप में लिख डाली, जो आलोचना-जगत् की अपूर्व निधि मानी जाती है। इस दृष्टि से आलोचक की भी कार्य-शैली, कवि की कार्य-शैली से अनेक अंशो में मिलती-जुलती रहेगी। कवियो के समान आलोचक भी अपने व्यक्तित्व के माध्यम से कलापूर्ण सामग्री, उसके चयन और नियमन का विवेचन देते हैं। दोनों ही अपनी-अपनी अनुभूति पाठकों के सम्मुख रखते हैं और दोनों ही कल्पना का सहारा लेकर अपना चिन्तन और अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। परन्तु दोनों के कार्य समानान्तर होते हुए भी दोनों में विशेष अन्तर है। कलाकार की प्रतिष्ठा होती है कला के सृजन में; आलोचक की प्रसिद्धि होती है उसे अनुभवगम्य बनाने में। आलोचक कला का अन्वेषक है और कला की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करके हमारे हृदय मे उसके प्रति स्थान बनाना ही उसका प्रधान लक्ष्य रहेगा।

यह तो सर्वसम्मत है कि कला का प्रमुख ध्येय समाज मे आनन्द का प्रसार है और जो कला इस आनन्द के प्रसार मे जितनी ही अधिक सहायता करेगी उतनी ही श्रेष्ठ होगी। मूर्त-कलाकार की तराशी हुई मूर्ति देखकर हमारी आँखों में चकाचौंध आ जायगी, चित्रकार के बनाये हुए चित्र द्वारा हमारी आँखें और हमारा मन प्रफुल्लित अथवा द्रवित हो जायगा और संगीत के आरोह तथा अवरोह द्वारा हमारी सभी इन्द्रियाँ आनन्द-सागर मे डुबकियाँ लेने लगेंगी। संक्षेप में हमारे मानसिक और शारीरिक क्षेत्र में आनन्द की लहरें समा जाती हैं और हम आनन्दातिरेक मे विभोर हो जाते हैं। संगीतज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ कलाकार है, क्योंकि सूक्ष्म स्वरो के आधार पर ही वह इतने अथाह आनन्द-सागर की सृष्टि कर चलता है। और आलोचक भी यदि इसी आनन्द-प्रसार में सहयोग देता है तो श्रेष्ठ है। यदि वह हमारा आनन्द घटाता है तो निकृष्ट है और यदि दोनों नहीं करता तो साहित्य-क्षेत्र में उसकी आवश्यकता ही क्या? इस विचार से यह भ्रामक अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि निकृष्ट आलोचक भी अपेक्षित है। वह अपेक्षित है तो केवल इसी विचार से कि वह आलोचना की पहली सीढ़ी पर है। उससे भविष्य मे आशा है कि वह अपने कर्तव्य को पहचानेगा और श्रेष्ठता की ओर अग्रसर होगा। कभी-कभी कुछ

बालक भी गाली पहले सीख लेते है और सौष्ठवपूर्ण संवाद बाद मे सीखते हैं।

यूरोपीय साहित्य के क्षेत्र मे कदाचित् आलोचकवर्ग ही ऐसा वर्ग रहा है जिसने खूब गालियाँ खाई और खूब गालियाँ दी। इसकी तुलना कुछ अंशों मे भारतीय परिवार के सास-बहू के झगड़ो और पत्नी-उपपत्नी की कहा-सुनी अथवा पुत्र और विमाता के विषम संवादो से हो सकती है। हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में भी यह दृश्य कुछ कम देखने मे नहीं आता। कवियों, उपन्यासकारों, नाटककारो तथा अन्य कला-क्षेत्र के विशेषज्ञो के जीवन मे इस प्रकार की घटनाएँ सदा देखने में आती हैं और इस शती के प्रथम चरण का आलोचनात्मक साहित्य बहुत-कुछ अंशों में इसका साक्षी है। इसी कारण वही आलोचक सम्मान प्राप्त करता रहा है जिससे हमने स्नेह-सम्बन्ध स्थापित कर लिया। आलोचक की श्रेष्ठता भी इसी में है कि हमारे हृदय को वह अपनी स्नेह-पूर्ण दृष्टि से द्रवित किया करे। आलोचको के विषम कार्यों को देखकर ही अंग्रेजी के एक साहित्यकार का कहना है कि ऐसा मनुष्य, जो तटस्थ होकर उदारता-पूर्वक 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' को पहचानने का प्रयत्न करता है, उस व्यक्ति से कही अच्छा है जो ज्ञानी और मौलिक साहित्यकार बनकर ईर्ष्या और द्वेष का प्रसार करता हुआ अपने ज्ञान और विशेषता का झण्डा फहराता है और दूसरो को अपने समक्ष हीन समझता है। श्रेष्ठ आलोचक भी वही होगा जिसमे ज्ञान और अपूर्व प्रतिभा तो कम है परन्तु उदारता और क्षमता अधिक है; जिसकी व्यापक दृष्टि विशेषज्ञ की पैनी दृष्टि से कही अधिक सुस्थिर और मानवी है और जो अपूर्व प्रतिभाशाली होते हुए भी अपने गुणो को साधुता का आवरण पहनाए रहता है। क्योकि प्रायः जितने व्यक्ति अपूर्व प्रतिभावान् होते हैं उनमें विरले ही उदार होते हैं। इस दृष्टि से भी आलोचक साहित्य के रंगमंच का एक ऐसा दर्शक है जो बरबस आर्द्र होकर अपनी भावना तथा अपने विचार व्यक्त करते हुए अन्य दर्शको के सामीप्य का अनुभव करने लगता है।

कलात्मक वस्तु को देखकर वस्तुतः हमारे मन मे तीन प्रकार के भाव उठ सकते हैं—पहला भाव तो वह हो सकता है जो हमे उसे आँख मूँदकर अपनाने को कहो; दूसरा वह होगा जो हमारे मन में 'क्यों' और 'कैसे' की समस्या प्रस्तुत करे, और तीसरा ऐसा हो सकता है जो हमे निश्चेष्ट बनाए रहे और उसकी ओर उन्मुख ही न होने दे। आलोचक इस तीसरे प्रकार की निश्चेष्ट भावना का कट्टर विरोधी है; वह उत्साहपूर्ण, उत्तेजित तथा सतर्क रहना चाहता है। विस्मयपूर्ण, आश्चर्यजनक, रुचिकर तथा मन-भावन वस्तुओं की खोज में वह उसी प्रकार घूमता फिरता है जैसे शिकारी शिकार की खोज में

अथवा छोटे बालक खिलौने की खोज में। सम्यक् प्रशंसा करने में उसकी अपूर्व क्षमता रहती है। जिस प्रकार ईश्वरीय वैभव और दैवी महत्ता को हृदयंगम करने के प्रयास में अनपढ़ और अज्ञानी प्रशंसा के पुल बांधना आरम्भ कर देते हैं और ज्ञानी सुस्थिर चित्त होकर भक्तिपूर्वक विश्व का अनुसन्धान करके अपनी श्रद्धांजलि प्रस्तुत करते हैं उसी प्रकार श्रेष्ठ आलोचक अपनी मानसिक सुस्थिरता, शान्तचित्तता तथा व्यापक दृष्टि से साहित्य का मूल्यांकन करते हैं।

वास्तव में कला का आनन्द हमें दो प्रकार से मिलता है—एक तो हमारे विस्मय द्वारा और दूसरे सुबुद्धि से जो हमें जीवन की पहचान कराती चलती है। कलाकार जब जीवन के कलात्मक दृश्य हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है तो हममें चकाचौंध आ जाती है और हम जीवन की भव्यता तथा उसकी उच्चता के आनन्द-सागर में डूबने-उतराने लगते हैं; और जब कलाकार जीवन को यथार्थ रूप में प्रदर्शित करता है तो हमें विस्मय होने लगता है कि अरे! क्या हम वास्तव मे ऐसे हैं? और तब हमारा अन्तःकरण कह बैठता है—हाँ, क्यों नहीं, जरा अपने को पहचानिए तो! तो हममें एक प्रकार के विस्मय द्वारा मानसिक आनन्द प्राप्त होता है। श्रेष्ठ आलोचक हमारी इन्हीं दोनो भावनाओं को सतत तीव्र किया करता है और अपने कार्य को महत्त्वपूर्ण समझकर ही आगे बढता है। वह कलाकार के ज्ञान-भाण्डार की ओर देखकर व्यथित नहीं होता और न उसकी स्वच्छन्दता से ही क्रुद्ध होता है। वह इसे सोचता ही नहीं कि किसे मारूँ, किसे गिराऊँ, किसे उठाऊँ। उसे दशरथ का स्वर—

'कह केहि नृपति निकासहु देसू'

याद ही नहीं आता। वह तो केवल उस मधु-मक्खी के समान है; जो प्रत्येक पुष्प से मधु संचित करती रहती है। श्रेष्ठ आलोचक किसी का भी आभारी नहीं; वह स्वतन्त्र है, बन्धन रहित है।

इतना होते हुए वह सब प्रकार से स्वाधीन नही। उसकी स्वाधीनता एक प्रकार से उसके लिए स्वयं बन्धन रूप हो जाती है। उसे उन सभी साहित्यिक मार्गों पर चलना पडता है जिन पर चलकर हम आनन्दित हो चुके हैं; उन्हें उन स्थलो की परिक्रमा करनी पडेगी जिनसे हमें आत्मिक संतोष मिला है; उसे अपने को साहित्य पर न्यौछावर करना पडेगा तभी उसकी विभूति उसको मिल सकेगी। ईसाई धर्म की एक उक्ति है—'आत्मा का बलिदान ही उसकी सुरक्षा है'—और इसी आदेश पर आलोचक सतत चला करता है। कला भी उसी देवी के समान है जो बलिदान पाकर ही अमरत्व का पर-

दान देती है। आलोचना में भी बलिदान को वरदान मे परिणत करने की अद्भुत क्षमता है

क्या आपने दादी की कहानी सुनते हुए बालक को देखा है—उसकी अबोधता, उसकी उत्सुकता, उसका आग्रह ? आश्चर्यजनक घटनाओं की कथा शुरू होते ही विस्फारित नेत्र क्रूर देव के बन्धन से छुटकारा पाने वाली रानी के आनन्द का स्थल आते ही उसका आनन्दातिरेक ? चुड़ैल के घर मे घुसते ही राजकुमार की रक्षा के प्रति उसकी आशंका ? राजकुमार के आहत होने पर उसका क्रोध ? और जादूगर की जड़ी द्वारा स्वस्थ होने पर उसका सन्तोष ? यदि हाँ, तो आप आलोचक के हृदय तक पहुँच गए। कला का क्षेत्र भी बालकों की सहज प्रवृत्ति का इच्छुक रहता है। आलोचक को उसकी परख में अपने को पूर्ण रूप से न्योछावर करने की क्षमता और स्फूर्ति होनी चाहिए; तभी कला-सुन्दरी अपनी वरमाला उसके गले में डालेगी।

जिस प्रकार से कला, बिना अपना पूरा मूल्य रखाए, कवि को अपने पास फटकने नहीं देती, और जो कवि अपने गर्व, अहंकार अथवा व्यक्तित्व का जामा पहने उसको वरने जाते हैं उनसे विमुख होकर कला-सुन्दरी वही और चल देती है, उसी प्रकार आलोचना की कला भी बिना अपना पूरा मूल्य लिये अपने क्षेत्र में किसी को सफलतापूर्वक और शान्ति से विचरण नहीं करने देती। केवल चाबी लगाकर उसके महल का फाटक नहीं खुल सकता और न दीवार फाँदकर ही अन्दर जाया जा सकता है। इसके लिए तो शान्त चित्त होकर कुछ ऐसे मन्त्रों का प्रेमपूर्वक तथा आग्रहपूर्ण उच्चारण करते रहना होगा, जब तक कि आलोचना-सुन्दरी अपने भक्त का स्वर न पहचान ले। तात्पर्य यह कि जैसे रंगमंच पर प्रदर्शित नाटक को देखने में हमे तीन घंटे का समय देना पड़ता है, एकाग्र रहना पड़ता है, हर ओर से अपनी ज्ञानेन्द्रियाँ उसी ओर केन्द्रित करके उसे समझने का प्रयत्न करना पडता है, अथवा यात्री को पैदल चलकर, धूप और वर्षा सहन करके गंगा को कीचड मे हेलकर संगम तक पहुँ-चना पड़ता है, उसी प्रकार आलोचना-रूपी नाटक को देखने वाले वर्ग-विशेष को आलोचक-रूपी यात्री बनकर आलोचना-रूपो संगम के हृदय तक पहुँचने का कठिन प्रयास करना पडेगा।

इस विश्लेषण का यह अर्थ नहीं कि आलोचक के सम्मुख धैर्य, उत्साह तथा शान्ति पाठ के सिवाय और कुछ रहता ही नहीं। रहता है और अवश्य रहता है। अच्छा तो जिन तत्त्वों अथवा जिन आदर्शों को वह नहीं भुलाता वे आखिर हैं क्या ? क्या ये आदर्श उसमें जन्मजात है अथवा शिक्षा ने उसे वर-

दान-स्वरूप दिये हैं ? कुछ साहित्यकारों के विचार में आलोचक सुबुद्धिपूर्ण अनुभव के द्वारा ही कुछ मूल तत्त्वों की रूप-रेखा बनाकर उन्हीं की ज्योति में अपना साहित्यिक मार्ग ढूँढा करता है। कुछ श्रेष्ठ अन्वेषकों का मत है कि बाह्यवादी[1] तथा निर्लिप्त रूप से संसार के सबसे श्रेष्ठ विचारों तथा अनुभवों का अनुसन्धान और उनका प्रसार आलोचकों का आदर्श है। इन परिभाषाओं से यह निष्कर्ष निकल सकता है कि शिक्षा और अनुभव की निधि के आधार पर ही आलोचक श्रेष्ठ बन जायगा। कदाचित् नहीं। क्योंकि यदि यह सिद्धान्त सत्य होता तो सभी विद्वान् आलोचक होते। विद्वत्ता और आलोचना-कला में चोली-दामन का सम्बन्ध नहीं। कुछ तो ऐसे आलोचक हो गए हैं, जो विद्वान् किसी भी अर्थ में नहीं कहे जा सकते; और उन्होंने अत्यन्त श्रेष्ठ कोटि की आलोचना लिखी; कुछ ऐसे विद्वान् आलोचक भी हुए हैं जिन्होंने अपनी कटु आलोचना से सुकुमार-हृदय कवियों का तर्पण कर डाला और उन्हें पनपने न दिया। परन्तु इतना होते हुए भी कवि-हृदय और आलोचक के हृदय में एक विचित्र साम्य है; उनका भावना-संसार एक है; उनका कल्पना-संसार एक है; उनका जीवन-स्रोत एक है। किन्तु सिद्धान्त रूप में हम यह भी नहीं कह सकते कि कलाकार श्रेष्ठ आलोचक हो सकेगा और श्रेष्ठ आलोचक कलाकार बन जायगा। यह साहित्य की परम्परागत विडम्बना है। कवि-हृदय से प्रसूत काव्य तथा आलोचक के मस्तिष्क से प्रसूत आलोचना में वही सम्बन्ध है जो इन्द्र-धनुष के सात रंगों में है अथवा वृक्षों और उनकी हरियाली में है। कलाकार अपने व्यक्तित्व के माध्यम से कला का निर्माण करता है; आलोचक बाहर से उसे परखने का प्रयास करता है और जितना ही वह कलाकार के व्यक्तिगत अनुभवों के पास पहुँचता जायगा उतनी ही उसकी समीक्षा सत्य होती जायगी। श्रेष्ठ आलोचक, साहित्य-संसार के विकसित प्रसूनों का मधु-संचय करता हुआ, उनके सौरभ, उनकी मिठास, उनके आकर्षण को बिखेरता हुआ, पाठकों को उन्हें ग्रहण करने और उनका उपभोग करने का आवाहन देता हुआ, अपने विशिष्ट कार्य की पूर्ति करता है।

साधारणतः पाठकों का अनुमान है कि कोई भी व्यक्ति आलोचना लिख सकता है और प्रायः सभी विषयों पर कुछ-न-कुछ कहा जा सकता है। इस अनुमान से आलोचना-क्षेत्र में बहुत विषमता फैल गई है जिसका संशोधन होना आवश्यक है। ज्यों ही कोई पुस्तक प्रकाशित हुई कुछ लोगों ने उस पर अपने विचार प्रकट करने शुरू किये और साधारणतः वे ही विचार आलोचना के नाम से सम्बोधित होने लगे। यह प्रथा ऐसी चली कि सभी साहित्य-

1. देखिए—'काव्य की परख'

क्षेत्रों में प्रचलित हो गई। किसी ने यह न सोचा कि जो-जो विचार-प्रदर्शन पाठकों ने, लेखको की कृतियो को पढकर किये वास्तव में वह आलोचना है भी या नहीं ? क्या इन्हीं विचारों के संकलन का नाम आलोचना है ? परन्तु जब इस प्रकार की प्रवृत्ति चल पडी तो उसकी बाढ को कौन रोकता। आलोचना अपना मुँह छिपाए एक कोने में पड़ी रही और लेखकों के स्फुट वक्तव्य ही आलोचना के नाम पर बिकने लगे। इस वक्तव्यों में कवियों की खबर ली जाती, उपन्यास-लेखकों के पीछे डण्डे चलाए जाते, और नाटककारो को खदेडा जाता। सत्समालोचना तथा साहित्यिक वक्तव्य में वही अन्तर है जो एक सन्त और छिद्रान्वेशी में है; अथवा अथाह सागर और जल के एक बुद्‌बुद में। सत्समालोचना लिखी जाती है अधिकारीवर्ग द्वारा; वक्तव्य दिये जाते हैं अनधिकारी विज्ञापनबाजी द्वारा, पारस्परिक प्रशंसकों द्वारा, प्रचारकों द्वारा, पुरोहितों और यजमानों द्वारा।

वास्तव में सत्समालोचना वही होगी जो किसी रचना के रूप और उसकी आत्मा की अभिव्यक्ति करे; परन्तु आलोचक का कार्य और आलोचना का ध्येय कुछ और ही समझा जाता है। कोशों में भी आलोचक की परिभाषा होगी—ऐसा व्यक्ति, जो साहित्य पर अपना निर्णय दे; ऐसा व्यक्ति, जो साहित्यिक रचना की असाहित्यिकता तथा अनौचित्य को स्पष्ट करे। यह परिभाषा भ्रामक ही नहीं वरन् असंगत भी है। आलोचक का कार्य न तो निर्णयात्मक है और न आदेशात्मक; न तो वह किसी का विरोधी है और न किसी का प्रशंसक; न तो वह किसी का आभारी है और न कोई उसका आभारी। परन्तु इस विचार के पोषक हैं ही कितने ! सभी देशों मे आज भी आलोचक का कार्य निर्णयात्मक समझा जाता है और उससे यह आशा की जाती है कि वह साहित्यिक रचनाओ की अच्छाई-बुराई पर सतत प्रकाश डालेगा।

जिस मूल कारण से साहित्य-क्षेत्र मे इतनी विषमता फैली वह कुछ साहित्यकारों द्वारा कुछ अच्छे वक्तव्यों का संकलन-मात्र था। कुछ अवकाश-प्रेमी साहित्य के पाठकों ने अनेक नियम पुस्तक रूप मे एकत्र किये, और उन्हे आलोचना के रूप में बाजार में बेचा और कुछ लोगों ने उसे खरीदा। जिन व्यक्तियों ने उन्हे पढा अथवा खरीदा वे उसको अपनी जेब में लिये घूमने लगे और जहाँ कहीं भी साहित्य का दर्शन होता वे अपनी पुस्तक निकालकर बैठ जाते और उसमें एकत्र नियमो के अनुसार उसकी परख करने लगते। अमुक क्षेत्र में यह नियम भंग हुआ, अमुक क्षेत्र में वह नियम भंग हुआ; सभी क्षेत्रों में कुछ-न-कुछ नियम भंग हुए; फलतः यह साहित्य हीन है, निकृष्ट है, अपठनीय

है। एवमस्तु ! इस विचार-धारा का फल यह हुआ कि नियम तो प्रमुख हो गए, साहित्य गौण; आलोचक प्रधान बन बैठा, साहित्यकार मुँह छिपाने लगा। पाठकवर्ग ने यह न जाना कि क्या आलोचक का कार्य कागज के दीमकों-सा है। वस्तुतः प्रमुखता किसको मिलनी चाहिए—साहित्य को अथवा नियम को ? साहित्यकार को अथवा आलोचक को ? आधुनिक काल में इसका निर्णय अत्यावश्यक है।

जिस प्रकार आश्चर्यानुभूति द्वारा काव्य प्रसूत है; उसी आश्चर्यानुभूति द्वारा आलोचना की भी सृष्टि होती है। सूर्योदय, सूर्यास्त, मेघ-गर्जन, वर्षा, शिशिर में ठिठुरते हुए तरु पल्लव, वसन्त में फूलती हुई सरसों, पूर्णिमा में उद्वेलित जलराशि, अमावस्या का शान्त सरोवर, नवोढा का प्रेम, प्रौढा की विश्रान्ति, बाल्यावस्था का आनन्द, युवावस्था का उत्साह, वृद्धावस्था की असहायता; प्रेम का आकर्षण, ईर्ष्या का उन्माद, जीवन की निस्सारता, आत्मा की सार्थकता—सभी कलाकार को चकित तथा विस्मित किया करते हैं और वह इसी आश्चर्यानुभूति के विभिन्न रंगों द्वारा जीवन के कलापूर्ण चित्र खींचा करता है। आलोचक भी कलाकार के विस्मय में साझीदार बन बैठता है और उसी के अनुभव की लकुटि पकड़कर कला के प्रभाव को हृदयंगम किया करता है। कला की बनाई हुई लीक पर चलकर आलोचक उस उत्तुङ्ग शिखिर पर जा पहुँचता है जहाँ से उसे कलाकार की कला का सर्वोत्तम दृश्य दिखाई पढने लगता है। आलोचना-रूपी पथिक कलाकार की अनुभव-रूपी लकुटि को पकड़-कर कला के शिखर की ओर चल पडता है और अन्त में कला के अन्ततम में स्थापित मूर्ति के दर्शन में सफल होता है।

हम स्पष्टतया देख चुके हैं कि आलोचक के लिए यह आवश्यक है कि उसमे बौद्धिक सहानुभूति हो और सौन्दर्य के प्रति अनुराग और श्रद्धा हो और उसकी खोज और अनुसन्धान में धैर्य हो, सामर्थ्य हो, सुबुद्धि हो। सर्वश्रेष्ठ आलोचक वही होगा जो अपनी आत्मा को स्वतन्त्र रखते हुए भी अपने विचारों को संयत रखता है; इसी संयम और स्वातन्त्र्य के अपूर्व सामंजस्य में श्रेष्ठ आलोचक की आत्मा झलक जाती है। समय आ गया है जब हमें भूल जाना चाहिए कि आलोचक का कार्य छिद्रान्वेषण है, निर्णयात्मक है, सिद्धान्त-निरूपण है।

सामाजिक तथा साहित्य-क्षेत्र मे आलोचक का कार्य कला-ज्ञान-प्रसार है और इसके लिए जैसा हम पहले संकेत दे चुके हैं न तो अपार विद्या की आवश्यकता है और न अथाह कला-ज्ञान ही अपेक्षित होगा। आवश्यक केवल

यही है कि आलोचक में अपने को साहित्य में समो देने की प्रवृत्ति हो और तदनन्तर दूसरों को उस ओर आग्रहपूर्वक आकर्षित करने की क्षमता हो। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि उसमें, साहित्य के सभी क्षेत्रों में, अपने को समो देने की क्षमता हो; वह मनोनुकूल अपना क्षेत्र चुन सकता है और उसी क्षेत्र की ओर पाठकों को आकर्षित कर सकता है। और हमारा यह आग्रह कि वह सभी क्षेत्रो की ओर हमें क्यों नहीं आकर्षित करता, अपने को सभी क्षेत्रो में क्यों नहीं समोता, हमारी ज्यादती ही होगी। इसका हमे अधिकार नही; हम यह नही कह सकते कि अमुक आलोचक हमें सब-कुछ क्यो नही देता; हमें तो जो-कुछ वह देता है उतने मे ही सन्तुष्ट होना चाहिए और दूसरे क्षेत्रो के लिए अन्य आलोचकों का सहारा ढूँढना चाहिए। हम अंगूर की टहनियो से आम के फल नहीं माँगते और न आम से गूलर की ही आशा करते है। शहद की मक्खियों से हम केवल मधु ही पाते हैं, शर्करा नही। इसी आधार पर हमें जो-कुछ मिले उसी से सन्तुष्ट अथवा असन्तुष्ट होने का अधिकार है।

इसके साथ-साथ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यदि अमुक आलोचक अमुक काव्य की आलोचना हमारे दृष्टिकोण से नहीं करता तो इसमें खिन्न होने की क्या बात। सत्य के अनेक स्वरूप हो सकते हैं, परन्तु आत्मा एक रह सकती है; उसी प्रकार प्रत्येक आलोचक से हम सभी स्वरूपो का प्रदर्शन माँगने के अधिकारी नहीं। जिस स्वरूप को वह ग्राह्य समझे हमारे सम्मुख प्रस्तुत करे और यह हमारे ऊपर है कि उस स्वरूप को हम ग्रहण करें अथवा उससे अलग रहे। यदि आलोचक सत्य के केवल एक स्वरूप को पूर्णतया हृदयंगम कर पाया है तो कदाचित् हमारा उससे विलग रहना या मुँह मोड लेना असम्भव ही होगा। एक ही व्यक्ति से सत्य के सभी स्वरूपों के माँगने का भी हमें अधिकार नहीं; अधिकार है जो-कुछ मिले उससे प्रसन्न अथवा अप्रसन्न अथवा विमुख रहने का। आलोचक को अपने व्यक्तित्व की रक्षा का उतना ही अधिकार है, जितना हमे अपने व्यक्तित्व की रक्षा का अधिकार है। आलोचक अपने व्यक्तित्व द्वारा कला के किसी भी सत्य स्वरूप का आभास दे सकता है; हम उसे ग्रहण करें अथवा नहीं, यह हमारे ऊपर है। और यदि आलोचक का व्यक्तित्व ऐसा-वैसा नहीं, और कला के स्वरूप का उसे पूर्ण ज्ञान है तो उससे प्रसूत सत्य का ऐसा संकेत मिलेगा जो हमारे ऊपर व्यापक और गहरा प्रभाव डालेगा, जिसे हमें ग्रहण करना ही पड़ेगा; और जहाँ हमने इतना किया कि हम पर उसका प्रभाव सर्वाङ्गीण होता जायगा। आलोचना उन प्रेरणाओं का चित्रांकन है जिनसे साहित्य आविर्भूत है, सुसज्जित है, जीवित

है। यह तथ्य कवि तथा पाठक के उत्तरदायित्व के विश्लेषण द्वारा और भी स्पष्ट होगा।

कवि का उत्तरदायित्व

कवि का प्रमुख धर्म अपने अनुभवों का सफल प्रकाश है। वह अपने पुराने तथा नवीन अनुभव चुनकर, उनमें साम्य उपस्थित करके उन सबका आन्तरिक सम्बन्ध ग्रहण करके उन अनुभवों से सम्बन्धित अनेक दूसरे अनुभवों का रहस्य हम पर सफल रूप में प्रकट करने का प्रयास करेगा। उसमें बाह्य अनुभवों और प्रभावों को ग्रहण करने की अद्भुत क्षमता रहती है; वह अपने मानस में इन सभी अनुभवों को स्वतन्त्र रूप में विचरण करने देता है। वे सहज रूप में इधर-उधर विश्राम किया करते हैं। जिस प्रकार जब युद्ध की कोई संभावना नहीं रहती तो सैनिक इधर-उधर आनन्द से विचरण करते रहते हैं—कोई गीत गाता है, कोई धूम्र-पान करता है, कोई अपनी प्रेयसी का चित्र खींचता है तो कोई पेड़ पर बैठा वंशी की धुन छेड़ता है, परन्तु युद्ध की तैयारी का बिगुल बजते ही समस्त सैनिक सैन्य-रूप में सज-धजकर एकत्र हो जाते हैं, उनकी लम्बी कतारें बँध जाती हैं और वे युद्ध-क्षेत्र की ओर चल पड़ते हैं उसी प्रकार कवि के मानस में अनेक अनुभव इधर-उधर बिखरे पड़े रहते हैं और सहज तथा मनमाने रूप में विचरण किया करते हैं, परन्तु काव्यादेश अथवा प्रेरणा पाते ही सुव्यवस्थित रूप ग्रहण कर लेते हैं। अथवा चिड़ियाघरों मे यों तो अनेक रंग-बिरंगे पक्षी इधर-उधर उठते-बैठते, लड़ते-झगड़ते, शान्त-म्लान, अनेक मुद्राओं में दिखाई देते हैं परन्तु ज्यों ही चारे-दाने का समय आता है सभी अपने-अपने हिंडोलों पर टँग जाते हैं, उसी प्रकार से कवि के मानस में रंग-बिरंगे अनुभव इधर-उधर निश्चेष्ट पड़े रहते हैं परन्तु काव्यावेश की पुकार सुनते ही सुव्यवस्थित रूप में समन्वित हो एकत्र हो जाते हैं। अथवा वर्षा ऋतु के आरम्भ होते ही आकाश में हलके, धुँधले, गहरे-काले, मेघ-पुन्ज इधर-उधर विचरण करते रहते हैं और वरुण देव की गर्जना के साथ ही समस्त आकाश मेघाच्छन्न हो जाता है और अविरल वृष्टि आरम्भ हो जाती है; उसी प्रकार कवि के काव्याकाश में अनेक प्रकार के अनुभव मेघ रूप में अविच्छिन्न प्रवाहित रहते हैं, परन्तु काव्य-सुन्दरी की एक ही पुकार में इकट्ठे हो काव्य-धारा बरसा चलते हैं। साधारण व्यक्तियो तथा कवियों में यही फर्क है कि कवि के मानस के अनुभव अनेक होकर एक हो जाते हैं और सहज रूप में आश्चर्यपूर्ण गति से प्रकट होने लगते हैं, परन्तु साधारण व्यक्तियों के अनुभव न तो अनेक रूप रहते हैं, न एक हो पाते हैं, और न समन्वित रूप में प्रकट होने की क्षमता ही रखते हैं। कवि का प्रधान

धर्म अपने अनुभवों को दूसरे व्यक्तियों के पास पहुँचाना है, उनमें भी वही अनुभूति लाने की चेष्टा करना है, उनमें भी उन्हीं मनोवेगों को प्रवाहित कर देने का प्रयत्न करना है। चित्रकार प्रकृति से एक चित्र उठाकर चित्रपट पर यथावत् अंकित कर देता है; मूर्त्त कलाकार मानव की मूर्त्ति संगमरमर में साकार कर देता है; उसी प्रकार कवि भी अपने अनुभवों को दूसरो के चित्रपट रूपी मानस पर अथवा संगमरमर रूपी हृदय में अंकित तथा साकार किया करता है। इस कार्य में जितनी ही अधिक उसे सफलता मिलेगी, जितने यथार्थ रूप में वह अपने अनुभवो को साकार कर पाएगा, उतना ही वह कवि सफल होगा, श्रेष्ठ होगा। परन्तु यह ध्यान रहना चाहिए कि केवल कवि का अनुभव करना ही यथेष्ट नहीं; यह तो बहुत से दूसरे व्यक्ति भी कर सकते हैं और करते हैं। अपने स्मृति-कोष को भरने का ही नाम कविता करना नहीं : उस स्मृति-कोष के अनुभवो के सफल प्रकाश मे ही कवित्व रहेगा।

पाठकवर्ग का उत्तरदायित्व

कवि में तो उपर्युक्त गुणों का होना आवश्यक है ही, परन्तु पाठको अथवा श्रोतावर्ग में भी इसी से मिलते-जुलते कुछ अन्य गुण भी अपेक्षित होंगे। उनमें भी निर्णयात्मक शक्ति, अर्थ के प्रति सतर्कता, अनुभव ग्रहण करने की क्षमता तथा अनेकरूपी अनुभवो की विशेषताओं तथा गुणो की परख की शक्ति होनी चाहिए। पाठक जितना ही सतर्क रहेगा उतना ही कवि के अनुभवो को ग्रहण करने की उसमे क्षमता रहेगी। उसे अपने मनोवेगो को यथासम्भव संयत रखने तथा कवि के मनोवेगों को पूर्ण स्थान देने के लिए तत्पर रहना पड़ेगा। यदि पाठकवर्ग में ये गुण नहीं हुए तो वे कवि को उसके कार्य में सफल होने नहीं देंगे। नेत्रविहीन को उँगली द्वारा संकेत देना अथवा नासिकाविहीन से इत्र की सुगन्ध पूछना निरर्थक ही होगा। कवि की अनुभूति भी जितनी ही विशिष्ट, स्पष्ट तथा प्रभावपूर्ण होगी उतनी ही शीघ्रता तथा गहराई से वह दूसरों के हृदय में उतरेगी तथा प्रकाश पाएगी। अनुभूति की प्रभावपूर्णता पर ही उसकी सफल अभिव्यंजना निर्भर रहेगी। सफल कवि वही होगा जो मनुष्य की सम्पूर्ण आत्मा को प्रेरित तथा प्रभावित करे। उसके मनोवेगो तथा अनुभूतियों में विलक्षणता होगी, उनमें अद्भुत सामंजस्य होगा; उसकी निर्णयात्मक शक्ति सतत सतर्क रहेगी, उसमे भावनाओं को संयत रखने की अपूर्व क्षमता होगी।

इस सम्बन्ध मे यह पुनः संकेत देना आवश्यक है कि जब तक कवि तथा पाठक के मनोवेगों में साम्य न रहेगा कवि का प्रयत्न विफल रहेगा।

अथवा यों कहिए कि दोनों के भाव-संसार के आधार एक ही होने चाहिएँ। करुणा और वात्सल्य, क्रोध तथा ईर्ष्या, गर्व तथा सन्तोष ऐसी अनुभूतियाँ हैं जो सभी प्राणि-मात्र में विहार करती रहती हैं; परन्तु वे रहती हैं सुप्त, अस्पष्ट और रहस्यपूर्ण रूप में। कवि उन्हीं मनोवेगों को प्रवाहित करता है जिसकी बूँद पहले से ही, पाठकवर्ग के हृदय मे, मनुष्य होने के नाते तैर रही है और कवि का सहारा पाते ही बूँद अपना आकार विस्तृत करके विशाल होने का प्रयत्न करने लगती है। जल-राशि पर ही बुद्बुद उठते है पत्थर पर नहीं, नौका जल पर ही चलती है वालुका पर नहीं, उसी प्रकार जब तक कवि तथा पाठक के अनुभवाधारों मे साम्य नहीं होगा काव्य का प्रयत्न विफल ही रहेगा। यह एक शाश्वत सत्य है कि सौन्दर्य स्वतः कोई वस्तु नहीं और न कोई गुण ही है; वह तो उसी मानस में साकार होगा जो उसकी कल्पना करेगा। परन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि कवि तथा पाठक की अनेक अनुभूतियों में अथवा अनेक मनोवेगों मे सदैव साम्य रहेगा। स्वभाव तथा रुचि-वैचित्र्य के फलस्वरूप अनेक मनोवेग विभिन्न भी होंगे और पाठको को अपने विभिन्न मनोवेगों को संयत कर कवि की अनुभूति ग्रहण करने की चेष्टा करनी पड़ेगी।

: ६ :

कला तथा नैतिकता

आलोचक, कवि तथा पाठकवर्ग के उत्तरदायित्व के विवेचनोपरान्त यह भी आवश्यक है कि कला के उत्तरदायित्व का भी विवेचन किया जाय। आधुनिक युग में कला तथा नैतिकता की भावना मे उत्तरोत्तर विरोध बढता जा रहा है। सत्यं, शिवं एवं सुन्दरं के निर्माण में प्रायः यह समझा जा रहा है कि नैतिकता अड़चनें डालती है और कलाकार की कला को कुण्ठित तथा सीमित करके उसकी स्वच्छन्द आत्मा के लिए घातक हो जाती है। आलोचना तथा नैतिकता में भी एक प्रकार का अन्तर्विरोध प्रदर्शित हो रहा है और लोगों का यह विश्वास-सा हो चला है कि आलोचक का क्षेत्र साहित्य और कला का क्षेत्र है—नैतिकता के क्षेत्र से उसका क्या प्रयोजन? नैतिकता तो उन लोगों का क्षेत्र होना चाहिए जो हमारे धर्म-अधर्म के ठेकेदार हों अथवा समाज-सुधार के नेता हों। आलोचक को तो केवल साहित्य को ही देखना और परखना पड़ेगा; साहित्य का कैसा प्रभाव पड़ता है, उसमे नैतिक गुण हैं अथवा नहीं, उसमें भले तथा बुरे का ज्ञान-बोध देने की चेष्टा अथवा क्षमता है या नही, इस प्रकार के प्रश्नों से आलोचक को दूर ही रहना चाहिए।

इस प्रकार का दूषित दृष्टिकोण साहित्यिक प्रगति में बाधक ही नहीं अहितकर भी होगा। जो आलोचकवर्ग साहित्य तथा नैतिकता के सम्बन्ध को समुचित रूप में ग्रहण नहीं कर पाते और साहित्य के बाह्य प्रभावों की ओर से विमुख रहते हैं वे न तो श्रेष्ठ आलोचक ही हो सकेंगे और न साहित्य के मर्म को ही समझ पाएँगे। जिस प्रकार चिकित्सक को हमारी शारीरिक शुद्धता तथा शारीरिक स्वास्थ्य की देख-भाल करनी पड़ती है और उसी का ध्यान रखकर रोगों का उपचार सोचना पड़ता है उसी प्रकार आलोचक, साहित्यकार तथा कलाकार को भी हमारी मानसिक शुद्धता तथा मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा करनी पडेगी। ज्यों ही चिकित्सक हमारी शारीरिक शुद्धता का ध्यान छोड़ देता है त्यो ही अनेक अन्य रोग हमारे शरीर में घर बनाने लगते हैं। उसी प्रकार जब आलोचक हित-अहित तथा हमारी मानसिक शुद्धता का ध्यान छोड़कर कला के अन्य उपकरणो की ओर ध्यान देने लगता है तो हमारे मानसिक तन्तु शिथिल होकर अनेक रोगों के शिकार होने लग जाते हैं।

आलोचक को, चाहे वह साहित्य के किसी भी क्षेत्र का क्यों न हो, कला के मूल्य के विषय में अपनी धारणाएँ निश्चित करनी पड़ेगी। जिस प्रकार जब हम तीर्थ-यात्रा पर निकलते हैं तो यात्रा का सम्पूर्ण सामान इकट्ठा करते हैं, मार्ग को ठीक प्रकार समझ लेते हैं और उस यात्रा के फलस्वरूप जो-कुछ भी हमें आत्मिक अथवा आध्यात्मिक शान्ति की कल्पना अथवा आकांक्षा रहती है उसके भी मूल्य को पूर्ण रूप से समझ-बूझकर ही पग उठाते हैं, उसी प्रकार आलोचक भी साहित्य-तीर्थ का यात्री है और उसे भी अपनी साहित्य-यात्रा का सम्बल इकट्ठा करके अपने कार्य का मूल्य पूर्ण रूप से समझ लेना चाहिए। ज्यों ही आलोचक किसी की कला पर अपने विचार प्रकट करना आरम्भ करता है त्यो ही हमें यह आभास मिलना चाहिए कि उसे कला के मूल्य का पूर्ण ज्ञान है; हमें यह विश्वास होना चाहिए कि हम किसी नौसिखिये की बात नही सुन रहे है, वरन् ऐसे व्यक्ति की बात सुन रहे हैं जो सिद्धान्त-रूप में जीवन तथा कला के मूल्य को समझता है और हमे भी उसी का अनुभव कराना चाहता है। जिस आलोचक में कला के मूल्य विषयक न तो कोई विचार हैं न कोई धारणा है और न कोई सिद्धान्त है वह आलोचक साहित्य के लिए किंचित् मात्र भी उपयोगी नहीं। जौहरी अथवा गंधी रत्नों का मूल्य और इत्रों की सुगन्ध क्रमशः देखते ही पहचान लेते हैं। क्यो? इसका कारण क्या है? कारण यह कि रत्नो के आदर्श रूप तथा सुगन्ध के आदर्श गन्ध की कल्पना उनके मस्तिष्क में बनी हुई है और उसी के सहारे वे रत्नों तथा सुगन्ध

का मूल्य निश्चित किया करते हैं। अथवा किसी ज्योतिषी के कार्य को देखिए। श्रेष्ठ ज्योतिषी को नक्षत्रों के नियमित मार्ग का पूर्ण ज्ञान है; उसे यह भी पूर्ण ज्ञान है कि किन-किन नक्षत्रों के सामंजस्य द्वारा कैसे व्यक्ति की जन्म-कुण्डली श्रेष्ठ होगी। श्रेष्ठ नक्षत्रों का श्रेष्ठतम सम्बन्ध वह जानता है और उसी के सहारे, उसी की कसौटी पर, अनेक लोगों का भाग्य बतलाया करता है। ज्योतिषी के मानस में, नक्षत्रों तथा उनके अविकल सामंजस्य का पूर्ण चित्र है—वह उनके मूल्य को पूर्ण रूप से समझता है और उसी आदर्श अथवा काल्पनिक मूल्य के आधार पर व्यक्तियों की कुण्डलियों का मूल्य निर्धारित किया करता है। फलतः आलोचक में कला-विषयक मूल्य का पूर्ण ज्ञान सतत अपेक्षित होगा।

आधुनिक युग के यथार्थवाद तथा व्यावसायिक सभ्यता ने कला के मूल्य को दूषित कर दिया है। धन-लिप्सा ने कला को भी बाजारू रूप देकर उसे क्रय-विक्रय की एक वस्तु-मात्र बना दिया है। धीरे-धीरे हमारा मस्तिष्क शिथिल होता जा रहा है और हम कला के महत्त्व तथा मूल्य-विशेष को न समझकर पथभ्रष्ट होते जा रहे हैं। सामाजिक जीवन में नित्य ऐसे दृश्य देखने में आते हैं जिससे यह विश्वास-सा होने लगता है हमें किसी भी मानवीय भावना का न तो मूल्य ज्ञात है और न हम उसके मूल्य को समझने का प्रयत्न ही करते हैं। सिनेमा-गृहों, रेडियो, संगीतालयों की प्रवृत्ति देखते ही हमे यह स्पष्ट रूप से समझ में आ जायगा कि किस शीघ्रता से हम मूल्य-विषयक सभी विचारों से दूर होते जा रहे हैं। हमारी मूल्य-विषयक धारणाएँ भी परिवर्तित होती जा रही हैं और जिस प्रकार की पुस्तकें लोकप्रिय हैं, अथवा जिस प्रकार की पाक्षिक अथवा मासिक पत्रिकाएँ प्रकाशित तथा रुचिकर हो रही हैं उनसे स्पष्ट है कि हमारे उस मानसिक जगत् में, जहाँ पर हम विचारों तथा अनुभवों का काल्पनिक मूल्य लगाए बैठे थे, बड़ी उथल-पुथल मच गई है। साहित्य-क्षेत्र में, बहुसंख्यक पाठकों की निर्णयात्मक शक्ति, जो प्रायः अत्यन्त क्षीण होती है, और भी अधिक क्षीण होने लगी है, और जो भी व्यक्ति इस तथ्य को समझकर उन्हे सही रास्ते पर लाने का प्रयास करता है उसके प्रति विरोध की भावना बढने लगती है। ये बहुसंख्यक पाठकवर्ग अपनी विषम रुचि के शिकार बने हुए, श्रेष्ठ आलोचकों की न तो बात सुनने को तैयार रहते हैं और न साहित्य की मर्यादा को ही समझते हैं। वे आलोचकों का घोर विरोध आरम्भ करके उनकी अनुपयोगिता प्रमाणित करने पर कमर कस लेते हैं और इस कार्य में उन्हें आनन्द भी आता है। और आनन्द क्यों न आए?

यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि श्रेष्ठ व्यक्तियो के प्रति हीन व्यक्तियों की नैसर्गिक घृणा रहेगी। अब समय आ गया है कि जब बहुसंख्यक पाठकवर्ग की रुचि का परिमार्जन तथा नियन्त्रण हो। उन्हे मूल्य-विषयक शिक्षा-दीक्षा दी जाय; उन्हें उस स्तर पर ले आया जाय जहाँ वे साहित्य-सूर्य के प्रकाश को पूर्ण-रूपेण ग्रहण कर सकें। शायद आदेशात्मक आलोचना से भी काम नहीं चलेगा। हमे उन आदेशों को तर्क के आधार पर प्रतिष्ठित करना होगा; उन्हें मूल्य-विषयक शिक्षा देनी होगी; सत्य की कसौटी तैयार करनी पड़ेगी; कला की आत्मा का विश्लेषण करना होगा।

परन्तु हमे यह न भुलाना चाहिए कि मूल्य-विषयक धारणा वास्तव में काल्पनिक ही रहेगी। तर्क का सहारा हम चाहे कितना भी क्यो न लें हम यह कभी स्पष्टतया नहीं कह पाएँगे कि 'सत्य' क्या है अथवा 'शिवं' और 'सुन्दरं' के यथार्थ तत्त्व क्या हैं। कौनसे अनुभव मूल्यवान् हैं; और कौनसे मूल्यहीन। इसकी भी कसौटी केवल काल्पनिक अथवा मानसिक ही होगी। सत्य की परख किन्हीं भी बाह्य गुणो के आधार पर न हो सकेगी और न सुन्दरं के ही अनेक बाह्य गुणों की हम तालिका प्रस्तुत कर सकेंगे। सत्यं, शिवं एवं सुन्दरं में कुछ ऐसे गुण अन्तर्हित रहते हैं जो हमारी नैसर्गिक अथवा सहज-ज्ञान प्रवृत्ति शीघ्र ही पहचान लेती है। उसमें तर्क-वितर्क की गुञ्जायश नहीं रहती; हमने उसे देखा नहीं कि पहचाना। उसमे हमे लेश-मात्र भी न तो संशय रहता है और न देर लगती है।

यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो हमें यह कहना पडेगा कि कुछ तो हमारे अनुभव ऐन्द्रिक होंगे और कुछ पारैन्द्रिक। ऐन्द्रिक अनुभव से तात्पर्य ऐसे अनुभवो से है जो अपनी इन्द्रियों द्वारा हम प्राप्त करते हैं—हमारी आँखें, आकाश का नीलापन, हमारे हाथ बर्फ की ठण्डक और हमारी जिह्वा तिक्त अथवा काषाय का पूर्ण ज्ञान करा देगी। पारैन्द्रिक अनुभव वे होंगे जो हमारी इन्द्रियों की क्षमता के परे होतेहैं। कार्य-कारण का मूक सम्बन्ध जानना, किसी कार्य को असम्भव कहना अथवा अपने भविष्य की रूप-रेखा निर्मित करना—ऐसे श्रेणी के अनुभव हैं जो हमारी इन्द्रियाँ प्रस्तुत करने में विफल रहेगी। इसी श्रेणी मे सत्यं, शिवं तथा सुन्दरं की भावना भी है। कहा जाता है कि किसी कवि ने सौन्दर्य का श्रेष्ठतम चित्र खींचने के लिए किसी चित्रकार को आमन्त्रित किया। चित्रकार ने कवियों द्वारा साहित्य में वर्णित सौन्दर्य की खोज आरम्भ की। प्रायः कवियों ने अनेक उपमानो द्वारा सौन्दर्य का वर्णन किया था; उन्होंने केश को सर्प, नासिका को शुक, दसन को दाड़िम, नेत्र को

मीन, ग्रीवा को कपोत, स्कन्ध को नन्दी वृष, जाँघों को कदली-स्तम्भ तथा चाल को हंस-समान उपमानों द्वारा प्रकाशित किया था। चित्रकार ने इन्हीं उपमानों को एकत्र कर दिया और जब कवि ने सौन्दर्य का यह विस्मयपूर्ण चित्र देखा तो वह मूर्च्छित हो गया। स्पष्ट है कि सत्यं, शिवं, सुन्दरं की कल्पना ही हो सकेगी और उसके मूल्य को हम मानसिक रूप मे ही समझ सकेंगे।

यह वस्तुतः प्रमाणित है कि जीवन तथा कला-क्षेत्र में, शुभाशुभ का विचार अपेक्षित ही नहीं वरन् अत्यावश्यक होगा। क्या शुभ है तथा क्या मूल्यवान् है, इन प्रश्नो का उत्तर इस तरह दिया जा सकता है कि शुभ अथवा मूल्यवान् वही है जो ऐसी अनुभूति दे जिसके द्वारा हमें सन्तोष तथा शान्ति का पूर्ण आभास मिले और इसी स्थान पर नैतिकता का जन्म होता है। वह हमें इस बात पर बाध्य करती है कि हम जीवन से अधिकाधिक मात्रा में वही ग्रहण करें जो अत्यधिक मात्रा में शुभ हो; वही ग्रहण करें, जिसके द्वारा हमारे व्यक्तिगत जीवन, दूसरों के जीवन तथा समाज में साम्य उपस्थित होता चले। इस दृष्टि से कला का ध्येय ऐसी मूल्यवान् अनुभूतियो का वरदान है, जो अधिकाधिक विस्तार से हमें प्रेरित करें और हमारी अन्य सहज अनुभूतियों को क्षति भी न पहुँचाएँ। उसे हमें ऐसी मानसिक स्थिति का वरदान देना चाहिए जो अत्यधिक मात्रा में हमे सन्तोष देते हुए जीवन से सामंजस्य बैठाने की प्रेरणा देती रहे।

परन्तु यहाँ इस तथ्य को भली भाँति विचाराधीन रखना चाहिए कि अनुभूतियों के शुभाशुभ का विचार, समाज तथा सभ्यता के स्तर तथा ऐतिहासिक प्रगति के साथ-साथ परिवर्तित होता रहेगा। अनेक सामाजिक रूढ़ियों तथा अन्यान्य दृष्टिकोणों के फलस्वरूप बहुत-कुछ जो आज शुभ है उसे हम पहले अशुभ समझते आए हैं; अथवा जो कल रुचिकर था उसे आज अधार्मिक घोषित कर रहे हैं। परन्तु इतना होते हुए भी सभी युगों ने अपने समय, परिस्थिति, दृष्टिकोण तथा आवश्यकताओं के अनुसार ऐसे नियमों तथा सिद्धान्तो का निर्माण करना चाहा है जो उस काल के जीवन में थोड़ा-बहुत साम्य तथा सामंजस्य प्रस्तुत अवश्य करें। परिवर्तनशील समाज ने परिवर्तनशील नियमों को भी जन्म दिया; परन्तु सभी सामाजिक प्राणियों ने समयानुकूल ऐसे सिद्धान्तों का निर्माण अवश्य किया जिनकी मर्यादा उस काल मे तब तक बनी रही जब तक समय ने पलटा खाकर धीरे-धीरे जन-रुचि को परिवर्तित नहीं कर दिया।

जैसा कि हम पहले प्रकरणो में कह चुके हैं, आलोचक को हमारे मान-

सिक स्वास्थ्य का सदैव ध्यान रखना पड़ेगा। समाज को परिवर्तनशील मानकर भी उसे हमारे सम्मुख ऐसे सिद्धान्तो को रखना पडेगा जो हमें जीवन के मूल्य का ध्यान बराबर दिलाते रहे। उसे स्वयं भी जीवन मे कौनसी वस्तु मूल्यवान् है, इसकी कसौटी सदैव तैयार रखनी पड़ेगी। कुछ आलोचकों ने जब यह कहा कि काव्य का प्रमुख ध्येय जीवन की मीमांसा है तो उसका यह तात्पर्य था कि हम काव्य द्वारा यह जान सकेगे कि कौनसे अनुभव मूल्यवान् हैं तथा किन अनुभवों को हमें जीवन के हित के लिए सुरक्षित रखना पड़ेगा। और जो-कुछ भी काव्य के विषय में सत्य है, वही सभी कलाओं पर भी लागू होगा। हम कवि के पास भी इसीलिए जाते है कि उसके पास ऐसे अनुभवों का बृहत् कोष रहता है जिनकी सुरक्षा हम स्वयं करना चाहते हैं। इसमें एक प्रकार से अर्थ-शास्त्र का सिद्धान्त प्रदर्शित है। कवि ही उस व्यापारी के समान है जिसके पास अनुभूति रूपी सामान का एकाधिकार प्राप्त है; उसके लिए हमें उसी के पास जाना पड़ेगा क्योंकि और किसी से हमें वह वस्तु प्राप्त ही न हो सकेगी। कवि का मानस ही ऐसा मानस है जहाँ अनुभूति-कमल अपने विशाल-से-विशाल तथा भव्य-से-भव्य रूप में विकसित होते हैं। उसकी अनुभूतियों की सबसे बड़ी विशेषता यह होगी कि वे न तो विशृङ्खल होंगी और न मूल्यहीन। उनमें साम्य, सामंजस्य तथा समन्वय सहज रूप में प्रस्तुत रहेगा। जो-कुछ भी हमारे मानस में अव्यवस्थित तथा विषम और निरर्थक रूप में प्रस्तुत रहता है, उसे कवि सुव्यवस्थित करके मूल्यवान् बनाने का उद्योग करेगा और उसमें सफल भी होगा। इसी सुव्यवस्था तथा सामंजस्य द्वारा हमारे हृदय की अनेकरूपेण अनुभूतियो को प्रेरणा मिलेगी जो अनेक प्रकार से मूल्यवान सिद्ध होगी। और इस मूल्य का नैतिकता से गहरा सम्बन्ध रहेगा। वास्तव मे नैतिकता की नींव हमारे धर्माध्यक्ष नहीं डालते; नैतिकता की नींव डालने वाले होते हैं कवि। वे ही हमारे अव्यवस्थित तथा विशृङ्खल मानस में ऐसी सुव्यवस्था बनाते रहते हैं कि जो भी प्रेरणाएँ हमें मिलती हैं उनमें नैतिकता का सुमधुर प्रकाश अन्तर्हित रहता है। श्रेष्ठ अनुभूति की प्रेरणा में ही श्रेष्ठ जीवन का आधार है।

कला का लक्ष्य

हम प्रमाण सहित स्पष्ट कर चुके हैं कि कला का लक्ष्य कलाकार के मानस में कुछ अनुभूति-विशेष को तरंगित करके उसी अनुभूति-विशेष को ज्यों का-त्यों दूसरों के मानस मे तरंगित करना है। परन्तु इसके साथ-साथ हमे कला की आत्मा का भी विवेचन करना पडेगा और जिस प्रकार की अनुभूति उसके द्वारा दूसरों मे प्रतिबिम्बित होगी उसकी भी परख करनी पड़ेगी। कुछ आलोचकों

का विचार है कि कला में, युग की धार्मिक निष्ठा को प्रकाश पाना चाहिए; यह धार्मिक निष्ठा ऐसी होनी चाहिए जो जीवन के विशाल अर्थ को समझे, आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध स्थापित करे। कला में समस्त प्राणिवर्ग को एक सूत्र में बाँधने की क्षमता होनी चाहिए, और यह दो साधनों द्वारा सम्भव होगा। पहला साधन जो कला को अपनाना चाहिए वह है मानव तथा ईश्वर के सम्बन्ध की घोषणा; और दूसरे, मानव में भ्रातृ-भाव के आदर्श को जाग्रत करना। इन्हीं दो साधनों द्वारा कला महान्-से-महान् कार्य कर सकेगी। आनन्द, दया, करुणा तथा शान्ति की भावनाएँ ऐसी हैं जो मानव-हृदय में सहज ही प्रकाश पाती रहती हैं; इन्हीं के द्वारा समस्त मानव-समाज में ऐक्य की भावना का प्रसार हो सकेगा। अन्य भावनाएँ भी तभी मूल्यवान होंगी जो इस ध्येय की पूर्ति में सहयोग देंगी और जो भी कला अथवा जो भी अनुभूति इस ओर कदम नहीं उठाती और वर्ग-विशेष को ही प्रश्रय देती है वह हीन होगी। यदि कला में यह प्रमुख ध्येय परिलक्षित नहीं तो उसका कोई उपयोग नहीं, वह हीन है! कला का प्रमुख कार्य है हिंसा का शमन; और उसकी सफलता इसी कार्य पर निर्भर रहेगी।

इस सिद्धान्त के प्रतिकूल दूसरे वर्ग के आलोचको का कथन है कि काव्य एक दैवी प्रक्रिया द्वारा हमें प्रभावित करता है। वह हमारे मानस का विकास करके उसे इस योग्य बनाता है कि वह हमारी सहस्रों अस्पष्ट अनुभूतियों को प्रश्रय दे सके और उन्हें सुव्यवस्थित सुरक्षित कर सके। जो कुछ भी हमारी प्रवृत्तियों को विकसित करे, हमारी कल्पना को विस्तृत करे, हमारी ऐन्द्रिक अनुभूति को तीव्र करे, वह मूल्यवान होगा। श्रेष्ठ लेखक तथा कलाकार ही कला को अपने इस ध्येय की पूर्ति करने में सहायक हो सकेंगे।

उपर्युक्त विरोधी विचारों का कारण है हमारा विषम दृष्टिकोण। पहला केवल नैतिकता का ही लक्ष्य स्वीकार करता है और दूसरा उस ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता। परन्तु यह प्रश्न तो प्राचीन काल से ही कलाकारों तथा आलोचकों को व्यथित करता आया है। ऐतिहासिक खण्ड मे हम देख चुके हैं कि कला के ध्येय पर, प्रत्येक युग में विभिन्न विचार प्रदर्शित होते रहे हैं। यूनानी तथा रोमीय और अंग्रेजी साहित्यकार इस प्रश्न पर अपने अलग-अलग विचार प्रकट करते आए हैं। किसी ने काव्यादर्श आनन्द-प्रधान रखा, किसी ने शिक्षा-प्रधान। कुछ आलोचकों ने दोनों ही सिद्धान्तों को मान्य समझा। कुछ ने दोनों को मान्य समझते हुए आनन्द को प्रधानत्व दिया; और कुछ ने ऐसी व्यवस्था रखी कि दोनों बातें साथ-साथ होती चलें। परन्तु इन

सिद्धान्तों के प्रस्तावों ने कभी भी यह बतलाने का कष्ट नही किया कि काव्य द्वारा जो आनन्द अथवा जो शिक्षा प्रसारित हो उसका रूप क्या हो ? उसकी अच्छाई-बुराई की कसौटी क्या हो ? इसमे सन्देह नही कि आनन्द-प्रसार कला का सहज लक्ष्य है और उसका मूल्य भी इसी में है परन्तु इसके यह अर्थ नहीं कि उसका ध्येय केवल आनन्द-प्रसार ही है। आनन्द का अपना विशिष्ट स्थान है; परन्तु उसे अन्य अनुभूतियो को बहिष्कृत करने का अधिकार नही।

"कला, कला के लिए है"

कला के क्षेत्र में सबसे गहरी विषमता, आधुनिक युग के एक नवीन सिद्धान्त द्वारा फैली हुई है। यह सिद्धान्त प्रचलित है कि कला की सफलता की कसौटी केवल कला-विषयक नियम ही होंगे। यदि कला इन नियमों की तुष्टि करती है तो उससे हमे और कुछ माँगने का अधिकार नहीं। जिस प्रकार से यदि कोई गृहिणी, पाक-शास्त्र के सब नियमो की रक्षा करती हुई छत्तीस व्यंजन बनाकर खिला दे और यदि उसमें हमें स्वाद न आए अथवा उससे हममें कुपच हो जाय तो गृहिणी का क्या दोष—उससे हमे और किसी प्रकार की तुष्टि की इच्छा न होनी चाहिए। पाक-शास्त्र की कला की सुरक्षा में ही उसकी सफलता रही, भोजन के रुचिकर अथवा अरुचिकर होने में नहीं। उसी प्रकार यदि कलाकार कला के सब नियमों को मानता हुआ कला का निर्माण कर देता है तो उसका प्रभाव हम पर जो भी पडे कलाकार को उससे क्या ? उसका उत्तरदायित्व तो तभी समाप्त हो गया ज्यों ही कला पूर्ण रूप में प्रकाशित हो गई। हाँ, अगर कलाकार चाहे तो वह कला द्वारा नैतिकता का प्रसार करे, हममें अनेक मानवी भावों को जाग्रत करे; धर्म और यश की मर्यादा स्थापित करे। यह तो कलाकार की रुचि पर है। पर जब यह सब-कुछ कला न करे तो उसे दोष नहीं देना चाहिए। वह दोनों मार्ग चुनने में स्वतन्त्र है; हम भी किसी एक को अपनाने के लिए स्वतन्त्र हैं। परन्तु इस सिद्धान्त के विरोधी दल में हम उन सब साहित्यकारों के नाम गिना सकते हैं जिन्होने प्राचीन युग से आज तक साहित्य का भव्य प्रासाद निर्माण किया है। उपर्युक्त सिद्धान्त क्यों लोकप्रिय हुआ, उसको रुचिकर बनाने में किन-किन साहित्य-सिद्धान्तों ने सहायता दी, इसका संकेत देना शायद आवश्यक होगा। जैसा कि हम साहित्य-क्षेत्र में देखते आए हैं कि प्रत्येक नवीन युग पिछले युग के सिद्धान्तो को ठुकराया करता है और उनके विरोध में नवीन सिद्धान्तों का निर्माण करता आया है वैसा ही आलोचना-क्षेत्र मे भी होता आया है। अठारहवी शती के साहित्यकारो ने अंग्रेजी समाज के सत्रहवीं शती के साहित्यकारों की कृतियो को हास्यास्पद ठहराया।

अठारहवीं शती के साहित्यकारों को उन्नीसवीं शती के कलाकारों ने हीन प्रमाणित किया; और वही बात पुनः उन्नीसवीं शती के सम्बन्ध में भी हुई; बीसवी शती ने पिछले युग के साहित्यकारों की खूब ही खबर ली। परिवर्तन साहित्य का महान् सत्य है। इसी के अनुसार कला के लक्ष्य के विषय में भी रुचि-परिवर्तन होता आया है। पिछले युग ने कला को नैतिकता की जंजीरों में इतना जकड़ दिया कि कुछ साहित्यिक वीरों ने कला-सुन्दरी को इस विषम दासता से मुक्ति देने का बीड़ा उठा लिया। कुछ लेखक ऐसे भी हुए जिन्होंने इन सिद्धान्तों को हितकर प्रमाणित किया और यूरोपीय कला-क्षेत्र में एक ऐसी लहर भी चली जिसके प्रवाह में अनेक लेखक बह भी गए। इन्होंने यह सिद्ध करना चाहा कि सौन्दर्यानुभूति का एक अलग स्थान है, एक अलग व्यक्तित्व है, उसका लगाव किसी से नहीं। नैतिकता इत्यादि की चर्चा उसके लिए अवाञ्छित है; उसका उससे कोई लगाव नहीं। कला को, उसके अन्य प्रभावों के आधार पर श्रेष्ठ अथवा हीन नहीं कहा जा सकता। कला का संसार उसके प्रभाव के संसार से अलग है, विरक्त है। सौन्दर्यानुभूति की श्रेष्ठता इसी में है कि वह सौन्दर्यानुभूति है; उसका क्या प्रभाव पड़ता है या पड़ेगा, इस ओर वह विमुख तथा विरक्त रहती है। उसको परखने के लिए हमे उसी क्षेत्र में जाना पड़ेगा; हम किसी अन्य अन्य क्षेत्र में रहकर उसके मूल्य को निर्धारित नहीं कर सकते।

यह धारणा वास्तव में प्रायः भ्रममूलक कही गई है। पहले तो यह स्पष्टतया समझ लेना चाहिए कि काव्य के अनेक रूप हैं, अनेक वर्ग हैं, अनेक आकार-प्रकार हैं। किसी में हम उसका प्रभाव देखते हैं, किसी में हम सौन्दर्यानुभूति परिलक्षित पाते हैं और किसी मे दोनों को पाने का यत्न करते हैं। परन्तु यह कहना कि सभी प्रकार के काव्य में हम केवल सौन्दर्यानुभूति को ही प्रश्रय देंगे और उसके बाह्य प्रभावों का कोई भी लेखा न रखेंगे कला-क्षेत्र के लिए कदाचित् हितकर न होगा।

कला-क्षेत्र में सौन्दर्यानुभूति-सिद्धान्त के समर्थकों का यह भी कहना है कि काव्य का यथार्थ जीवन से कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं, और सम्बन्ध है भी तो बहुत क्षीण और अस्पष्ट। उसका संसार अलग है; सम्पूर्ण तथा स्वतन्त्र है। उसको हृदयंगम करने के लिए हमें उस संसार की यात्रा करनी होगी, अपने व्यक्तिगत अथवा सामाजिक रूढ़िगत धारणाओं अथवा विचारों को विदा देना होगा। अपने यथार्थ जीवन की चाल को स्थगित करके सौन्दर्यानुभूति के तीर्थ की ओर स्वतन्त्र रूप में प्रयाण करना होगा। इस सिद्धान्त का अर्थ यह हुआ कि काव्य तथा यथार्थ जीवन में यही-नहीं कि कोई सम्बन्ध

ही नहीं वरन् दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं। परन्तु यह सिद्धान्त तो आदि काल से मान्य है कि काव्य मे उन्हीं अनुभूतियों का अक्षय भाण्डार है जो हमें यथार्थ जीवन में पग-पग पर होती हैं और जिन्हे हम सुव्यवस्थित रूप में नहीं परख पाते; और उन्हे परखने के लिए कला तथा कलाकार का सहारा ढूँढते है। प्रत्येक कविता हमारी यथार्थ अनुभूति का प्रतिबिम्ब है—ऐसा प्रतिबिम्ब जो हम दूसरो तक पहुँचा सकते हैं। प्रत्येक कविता जब हमारी अनुभूति-विशेष का प्रतिबिम्ब है तो हमें उस प्रतिबिम्ब को उसी रूप मे सुरक्षित रखना चाहिए; ऐसा न हो कि अन्य अनुभूतियाँ आ-आकर उस प्रतिबिम्ब पर अपनी छाया डालती रहे और उसे इतना विकृत कर दें कि उसे हम पहचान ही न पाएँ। इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि प्रत्येक अनुभूति का अपना अलग व्यक्तित्व है, अलग मूल्य है और उसका मूल्य समझने के लिए हमे उसी अनुभूति के आकार-प्रकार को, बिना किसी बाहरी लगाव-लिपटाव के प्रश्रय देना होगा।

साधारणतः इस सम्बन्ध में यह सिद्धान्त अभिमत हो रहा है कि जो भी आलोचना-प्रणाली काव्य अथवा कला को जीवन से विमुख अथवा विरक्त रखेगी अथवा अस्पष्ट रूप से सम्बन्धित रखने का प्रयास करेगी हमारे दृष्टिकोण को दूषित कर देगी, और जो भी आलोचना-प्रणाली हमें यह आदेश देगी कि यदि हम सौन्दर्य-प्रेमी हों तो सौन्दर्य के क्षेत्र में आएँ; नैतिकता-प्रेमी हो तो नैतिकता के क्षेत्र में जायँ, और इस तरह अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व के दो टुकड़े कर दें, बहुत दिनों जीवित नहीं रह पाएगी। इस प्रकार का विकेन्द्रीकरण न तो व्यक्ति के लिए हितकर होगा, न समाज के लिए; और कला तथा साहित्य के लिए तो कभी भी उपयोगी न हो पाएगा।

२

आलोचना के वर्गीकरण की समस्या

: १ :

आलोचना-प्रणालियों के वर्गीकरण की समस्या

ऐतिहासिक खण्ड में हम स्पष्ट कर चुके हैं कि आलोचना का इतिहास तीन युगों में बाँटा जा सकता है। पहला युग होगा पूर्व-अरस्तू; दूसरा होगा अरस्तू-युग तथा तीसरा उत्तरार्द्ध अरस्तू-युग। इससे स्पष्ट है कि आलोचना-साहित्य मे अरस्तू ही एक ऐसे व्यक्ति हुए जिन्होंने अपनी श्रेष्ठ प्रतिभा द्वारा दो युगों का निर्माण करके आलोचना-शास्त्र की नींव डाली और उसे समृद्ध बनाया। अरस्तू ही यूनानी साहित्य के उस ज्योतिपूर्ण स्तम्भ के समान हैं जिनके प्रकाश द्वारा भावी युगों के आलोचना-शास्त्र की रूप-रेखा निर्मित हुई।

पूर्व-अरस्तू युग में आलोचना न तो श्रेष्ठ रही और न उसका क्षेत्र ही व्यापक था। जो कुछ भी दो-एक सिद्धान्त बन सके वे होमर के महाकाव्य[1] को ही आदर्श मानकर बने। यूनानी समाज में होमर-जैसे साहित्यकार का वही स्थान है जो संस्कृत तथा हिन्दी में क्रमशः कालिदास तथा तुलसीदास का है और जो भी नियम बने उनमें होमर की ही दुहाई दी गई। इस काल की आलोचना को हम होमरवादी आलोचना नाम दे सकते हैं। यह आलोचना केवल अर्थ के स्पष्टीकरण मे लगी रहती थी और किसी भी सौन्दर्यात्मक नियम का प्रयोग नहीं करती थी; और अर्थ के स्पष्टीकरण मे भी निर्णयात्मक शक्ति का प्रयोग नहीं होता था।

अर्थ के स्पष्टीकरण में आलोचकवर्ग केवल एक विशेष दृष्टिकोण अपनाता था। उनके लिए समस्त साहित्य रूपक-रूप था। और वे सबमें रूपक ढूँढने का प्रयत्न करते और सफलतापूर्वक अर्थ स्पष्ट करते। इस समय के लिए यह स्वाभाविक ही था। उनका यह विचार सही था कि काव्य में अनेक

१. 'आडेसे' तथा 'इलियड'

अर्थ निहित हैं और छिपे हुए अर्थों को स्पष्ट करना ही आलोचक का धर्म होगा।

इस काल में हमें आलोचना-शास्त्र के दो निर्माता मिलेंगे—एक तो दर्शनवेत्तावर्ग[1] और दूसरा सुखान्तकी लेखकवर्ग।

अफलातूँ के पहले, यूनानी समाज मे तार्किकों का बोल-बाला था। वे श्रेष्ठ वैयाकरण थे और उनमे तर्क करने की अपूर्व क्षमता थी। परन्तु उनकी मान्यता बहुत दिन न रह सकी और उन पर युवाओं को दुश्चरित्र बनाने का अभियोग लगाया गया और उनके महान् नेता सुकरात को विष-पान पर विवश किया गया। अफलातूँ ही ऐसे दर्शनवेत्ता बचे जिन्होंने आलोचना-शास्त्र के निर्माण में पहला कदम उठाया। उन्होंने काव्य की आत्मा तथा काव्य के निर्माण-कार्य, दोनों पर विशिष्ट विचार प्रस्तुत किये।

परन्तु कहीं-कही अफलातूँ के विचारों में व्यतिक्रम दोष है और कहीं-कहीं विरुद्धार्थ अथवा असंगति दोष; ऐतिहासिक खण्ड मे इन दोषो से हम अवगत हो चुके हैं। काव्य की प्रशंसा करते हुए वे एक स्थान[2] पर तो कहते हैं कि काव्य दैवी उन्माद अथवा दैवी प्रेरणा द्वारा प्रसूत होगा और दूसरे[3] स्थान पर वे काव्य को अनैतिकता के प्रसार का कारण समझकर उसे समाज से बहिष्कृत करने का आदेश देते हैं। इस विरुद्धार्थ का एक विशेष कारण है। वास्तव में अफलातूँ श्रेष्ठ दर्शनवेत्ता तथा महान् शिक्षक थे; वे साहित्य को मूल्यवान् तभी समझ सकते थे जब उसके द्वारा जीवन नैतिकतापूर्ण तथा अध्यात्मवादी बनता। उनके लिए साहित्य तभी श्रेष्ठ था जब प्रायोगिक रूप मे तथा दिन-प्रतिदिन के जीवन में उससे सहायता मिलती, अन्यथा नहीं। उन्होने काव्य के निर्माण-कार्य के आधार पर अपने इस विचार की पुष्टि की। जीवन का प्रमुख ध्येय है सत्य का अनुसन्धान और यह सत्य प्रकृति द्वारा प्रसूत भाव-

१. जेनोफन तथा अफलातूँ।
एम्पीडाक्लीज तथा जेनोफन आदर्शवादी व्यक्ति थे और उनमे नैतिकता का प्राधान्य था। यद्यपि वे श्रेष्ठ आलोचना लिखने मे विफल रहे परन्तु उनकी आदर्शवादिता महत्त्वपूर्ण रही। उन्होने होमर को महत्त्व नहीं दिया और उनकी रचनाओ को अनैतिक घोषित किया। एम्पीडाक्लीज ने भी कोई महत्त्वपूर्ण आलोचना नहीं लिखी। उन्होने जीवन-सत्यो पर तो विशद प्रकाश डाला परन्तु साहित्य मे उनकी सूझ न थी। केवल अफलातूँ की ही लेखनी द्वारा हमे श्रेष्ठ आलोचना सिद्धान्त मिले।

२. 'आयॉन एण्ड फ़ीड्रस'

३. 'रिपब्लिक'

नाओं के प्रसार तथा पुस्तकाध्ययन द्वारा ही सम्भव होगा। इन्हीं के द्वारा ज्ञान-प्राप्ति भी होगी और जब तक काव्य हमें इस ज्ञान तथा इस सत्यानुसरण में फलदायक नहीं, तब तक उसका कोई महत्त्व नहीं। साहित्य का प्रमुख ध्येय भी सत्य तथा नैतिकता का प्रसार है। परन्तु साहित्य, विशेषतः काव्य-निर्माण कला, पर जब विचार हुआ तो यह सिद्ध हुआ कि समस्त कला हमारी अनुकरणात्मक प्रवृत्ति पर आधारित है और काव्य भी सत्य का अनुकरण करता है।

अफलातूँ का यह दार्शनिक सिद्धान्त था कि जो कुछ भी हम इस पार्थिव संसार में देखते, सुनते और अनुभव करते हैं उन सबका मूल रूप स्वर्ग मे स्थित है। मानव की आत्मा जब स्वर्ग में रहती है तो इन मूल रूपों को सहज ही पहचानती है और उन्हीं के सम्पर्क में रहती है; परन्तु जब हम इन मूल रूपों का अनुकरण इस पार्थिव जगत् में करते हैं तो हमें उनकी छाया-मात्र ही मिलेगी और जब साहित्यकार इनका अनुकरण अपनी रचनाओं में करेगा तो वह सत्य (मूल रूपों) से और भी दूर जा पड़ेगा। काव्य इस दृष्टि से हमें बहुत दूर ले जाता है; उसके द्वारा सत्यानुभूति असम्भव होगी।

दूसरे सिद्धान्त का विवेचन करते हुए उन्होंने इस विचार की पुष्टि की कि काव्य मनुष्य के भावना-संसार को प्रभावित करता है और भावना-संसार इतना विचित्र तथा उच्छृङ्खल रहता है कि उस पर न तो कोई नियम लागू होगा और न उस पर विश्वास ही निश्चित रूप में किया जा सकेगा। तर्क पर ही हम विश्वास कर सकते हैं। जो साहित्यकार हमारी भावनाओं को आधार-रूप मानकर काव्य-रचना करेंगे उनको सतत इस बात का ध्यान रहेगा कि वे पाठकवर्ग को आनन्द-प्रदान करें और बहुत सम्भव है कि वे दुश्चरित्र व्यक्तियों के जीवन को प्रस्तुत करें और समाज में दूषण फैलाएँ। इस तर्क से काव्य तथा कला दोनों ही समाज के लिए अहितकर होंगे। इतना होते हुए भी अफलातूँ की ही रचनाओं में हमें पहले-पहल आलोचना तथा उसके वर्गीकरण की समस्या की झलक मिल जाती है जिसे भविष्य के लेखकों ने अपनाकर अथवा उसका विरोध[1] करके आलोचना-शास्त्र की प्रगति की और उसके वर्गीकरण में सहायता दी।

कुछ विशिष्ट साहित्यकारों ने अनेक रचनाओं को आलोचना-क्षेत्र से परे रखा, जिसके फलस्वरूप पत्र-साहित्य, दैनिकी पाठान्तर संशोधन तथा प्रामाणिकता प्रकाशन इत्यादि ज्ञानात्मक साहित्य इस क्षेत्र से अलग किये गए

१. अरस्तू

और आलोचना-शास्त्र का सम्बन्ध केवल उस वर्ग के साहित्य से रखा गया जिसमें प्रेरणा तथा गति देने की शक्ति थी।

कुछ विचारकों ने पुस्तकालोचन को साहित्यालोचन के अन्तर्गत स्थान तो दिया परन्तु उसे विशुद्ध आलोचना-क्षेत्र के अन्तर्गत मान्यता नहीं मिली। इसका कारण यह था कि पुस्तकालोचन वास्तव में पाठकवर्ग से सम्बन्धित था और इसलिए उसकी दृष्टि विशेषतः बाह्य उपादानों पर ही लगी रहती थी।

जैसा कि हम पहले संकेत दे चुके हैं ज्यो-ज्यों साहित्य की आत्मा तथा उसकी रूप-रेखा का विकास होता गया त्यों-त्यों आलोचना की परिभाषा और उसका ध्येय भी परिवर्तित होता गया। प्राचीन विचारको के अनुसार साहित्य का अपना कोई विशेष अथवा व्यक्तिगत स्थान नहीं था; साहित्य केवल दूसरो की शक्ति पर पनपने वाली वस्तु थी। फलतः उन्होंने कला और साहित्य को अनुकरण-मात्र ही समझा। उनका विचार था कि जीवन-क्षेत्र में जो-जो उपकरण प्रस्तुत हैं उन्ही के प्रयोग द्वारा कलाकार को उनका अनुकरण करना होगा। यह विचार यूनानी विचारको का था और कला को वे केवल अनुकरणात्मक समझते थे।

रोमीय युग में कला को एक विशेष प्रकार का महत्त्व दिया गया। रोमीय कला को जीवनदायी तथा प्रेरणापूर्ण समझते थे और उच्चादर्शों का निर्माता मानते थे। उनका यह भी विश्वास था कि साहित्य को शिक्षाप्रद होना चाहिए और उसे नैतिकता के प्रसार में प्रयत्नशील रहना चाहिए। इस युग में बाह्य सत्यो पर ही साहित्य आधारित किया गया।

रोमीय युग की समाप्ति के पश्चात् साहित्य की मर्यादा गिर गई; वह केवल अभ्यास-मात्र रह गया। उसका अध्ययन इसीलिए उचित समझा गया कि उसके द्वारा प्राचीन युग की कृतियों के अध्ययन तथा प्रकृति के परिशीलन में सहायता मिलती थी। तत्पश्चात् रोमांचक युग में ही साहित्य को पुनः महत्त्व प्राप्त हुआ और उसे समाज, व्यक्तित्व, जाति, युग तथा देश-काल की अभिव्यक्ति का साधन माना गया। फलतः इसी युग में आलोचना-प्रणालियों का जन्म हुआ और उनके वर्गीकरण की समस्या हल की गई। प्रायः आलोचना शब्द की मूल भावना में भी निर्णयात्मक तत्त्व बहुत दिनों से प्रस्तुत रहा और जैसे-जैसे आलोचना-शास्त्र की प्रगति होती गई तैसे-तैसे इस मूल भावना के अर्थ में भी परिवर्तन होता गया। साधारणतया साहित्यिक निर्णय के दो आधार बनाये गए। पहला आधार स्थित नियमो का था और दूसरा सौन्दर्यात्मकता का।

नियमानुगत आलोचना-प्रणाली के अन्तर्गत साधारणतः आलोचना के तीन कार्य हो सकते हैं। इसका प्रथम कार्य है अर्थ का स्पष्टीकरण; दूसरा वर्गीकरण और तीसरा निर्णय प्रदान करना। स्पष्टीकरण का अर्थ यह है कि आलोचना कृति-विशेष का वर्णन दे, उसका विश्लेषण करे, तत्पश्चात् टिप्पणी दे। आलोचक का यह प्रमुख कर्तव्य होगा कि वह कलाकार के लक्ष्य को स्पष्ट करे, क्योंकि प्रायः कलाकार का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उसकी कृति में प्रस्तुत नही रहता। किन्तु केवल कलाकार तक आलोचना सीमित न रहेगी, क्योंकि कला-कृति के रचने में केवल कलाकार सब-कुछ न था; उस पर अन्यान्य रूप से अनेक प्रभाव पड़े; उन सबको उसने ग्रहण किया। उसके समकालीन लेखकों की विचार-धारा उसके सम्मुख प्रवाहित थी; उसे भी उसने देखा। उसने अन्यान्य पुस्तकें भी पढ़ीं; अपनी विचार-शक्ति द्वारा उसने उनका प्रभाव भी ग्रहण किया। इतना सब होने के पश्चात् ही कलाकार अपनी कृति पाठकवर्ग के सम्मुख रख सका। इसलिए यह आवश्यक होगा कि आलोचना कला-कृति को राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण, विचार-धारा तथा काल-गति का पूर्ण विचार रख-कर परखे। किसी भी कला-कृति को उस समय-विशेष की आत्मा तथा उसकी गति से अलग-विलग करके उसकी आलोचना करना फलप्रद न होगा। जिस प्रकार गंगा की तरंगों के प्रवाह में भक्तों द्वारा चढाई हुई पुष्प-मालाएँ बहती चली जाती हैं उसी प्रकार समय की विचार-गति का सहारा लेती हुई कला-कृति भी पाठकों के सम्मुख आती रहती है और बिना समय की विचार-धारा तथा उसके व्यापक प्रभाव को समझे आलोचना श्रेष्ठ स्तर न पा सकेगी। अब रहा वर्गीकरण का प्रश्न।

वर्गीकरण के लिए भी आलोचना प्रायः तीन आधार अपनाएगी। पहला आधार होगा वैज्ञानिक, दूसरा नैतिक और तीसरा होगा सौन्दर्यात्मक। वैज्ञानिक आधार अपनाने के फलस्वरूप जो भी आलोचना जन्म लेगी वह प्रकृति की प्रगति के इतिहास की परम्परा अपनाएगी और तर्कपूर्ण दृष्टि से कला-कृति की रूप-रेखा तथा उसकी आत्मा का अनुसन्धान करेगी। नैतिक आधार अपनाने के फलस्वरूप वह नैतिक नियमों के सहारे कला-कृति का मूल्यांकन करेगी और जब सौन्दर्यात्मक आधार ग्रहण करेगी तो सौन्दर्य-शास्त्र के नियमों द्वारा कला-कृति के प्रभाव को परखेगी।

इसमें कदाचित् सन्देह नहीं कि तीनों आधारों पर विरचित आलोचना का प्रमुख कार्य निर्णय प्रदान करना रहेगा। इस कर्तव्य से वह विमुख नहीं रह सकेगी, क्योंकि ज्यों ही कोई कला-कृति आलोच्य-रूप में उसके सम्मुख आएगी

और अर्थ के स्पष्टीकरण और वर्गीकरण का प्रश्न उठेगा त्यों ही यह प्रश्न भी उठेगा कि अमुक कृति अपने वर्ग-विशेष की अन्य रचनाओं की तुलना में कितनी श्रेष्ठ अथवा हीन है अर्थात् उस कृति की तुलनात्मक आलोचना आरम्भ होगी और निर्णय प्रदान करना अनिवार्य हो जायगा। आलोचना का प्रमुख कर्तव्य पाठकवर्ग की रुचि, कलाकार की प्रतिभा तथा साहित्य की गति-विधि, सभी का लेखा-जोखा रखना रहेगा। इस सिद्धान्त के फलस्वरूप साहित्यिक आलोचना का प्रधान धर्म, राष्ट्र की साहित्यिक विचार-धारा तथा उसकी प्रगति का इतिहास समझना होगा। उसे राष्ट्र-विशेष की साहित्यिक आत्मा को कालान्तर में सुरक्षित तथा जीवित रखकर अपने विशिष्ट कर्तव्य की पूर्ति करनी होगी।

: २ :

'आलोचना' का अर्थ

आलोचना-शास्त्र के वर्गीकरण की समस्या के अध्ययन के सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि आलोचना शब्द के विभिन्न अर्थ और उनके प्रयोग को ठीक-ठीक समझ लिया जाय। यह इसलिए और भी आवश्यक है क्योंकि अनेक साहित्यिक विचारकों ने आलोचना शब्द के अर्थ मनोनुकूल लगाए और उसी के आधार पर उन्होंने अपनी आलोचना लिखी; और जब तक इन सब साहित्यिक मनीषियो द्वारा स्पष्ट किये हुए अर्थ को समुचित रूप मे समझा न जायगा 'आलोचना'-सम्बन्धी अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती रहेंगी। व्यापक रूप से देखने पर यह पता चलेगा कि प्रायः आलोचना शब्द का प्रयोग केवल साहित्य-सम्बन्धी विषयो मे नहीं वरन् जीवन के अनेक क्षेत्रों के सम्बन्ध मे भी हुआ और साहित्य से इसका सम्पर्क कुछ बाद का है। दर्शन, समाज-शास्त्र तथा राजनीति के क्षेत्र में ही पहले-पहल इस शब्द का व्यापक प्रयोग हुआ और उसके अनन्तर साहित्य भी उसकी परिधि मे लाया गया। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि साहित्य के प्रथम आलोचक दर्शनज्ञ पहले थे कलाकार बाद मे। फलतः आलोचना का प्रयोग यदि साहित्य-क्षेत्र मे बहुत बाद में आया तो उसमें आश्चर्य ही क्या?

साहित्य-क्षेत्र में आलोचना का अर्थ पहले-पहल छिद्रान्वेषण माना गया और जब-जब यह शब्द प्रयुक्त हुआ प्रायः अर्थ यही रहा कि लेखक की भूल-चूक और उसकी कृति की न्यूनताओ की ओर संकेत किया जाय। आलोचक का यही धर्म समझा गया कि वह लेखक के प्रति विरोधी दृष्टिकोण रखे और उससे पग-पग पर जवाब तलब करे और अन्त में उसे दोषी, निकृष्ट तथा हीन प्रमाणित कर दे। त्रुटियों का लेखा रखना ही श्रेष्ठ आलोचना कहलाई और जो

भी व्यक्ति अत्यधिक त्रुटियों की तालिका बना सके श्रेष्ठ आलोचक माना गया।

उन्नीसवीं शती में ही आलोचना के अर्थ तथा उसके प्रयोग में परिवर्तन हुआ। अब आलोचना का अर्थ छिद्रान्वेषण न रहा और न आलोचक का यह धर्म ही रहा कि वह साहित्यकार के प्रति विरोधी भावना रखे और उसकी त्रुटियों का संकलन करे। आलोचना का अर्थ अब यह माना गया कि त्रुटियों की ओर संकेत कम परन्तु विशेषताओं का उल्लेख अधिक किया जाय। उस समय के कुछ साहित्यकारों ने यहाँ तक कह डाला कि आलोचना का केवल यही अर्थ है कि केवल प्रशंसा की जाय; आलोचक छिद्रान्वेषी नहीं वह प्रशंसक होकर ही कर्तव्य-पूर्ति करेगा। परन्तु इस अर्थ को विरले ही विचारक मानने पर प्रस्तुत थे और साधारणतः वही अर्थ अभिमत रहा कि कुछ प्रशंसा की जाय और कुछ दोष दिखलाए जायँ। वास्तव में जो महत्त्वपूर्ण प्रश्न विचारकों को व्यस्त किये था वह यह था कि क्या आलोचना केवल प्रशंसा ही करे और दोषों की ओर से दृष्टि हटा ले? यदि ऐसा हुआ तो सभी लेखकों की प्रशंसा की जायगी, सभी एक वर्ग के हो जायँगे; सभी को श्रेष्ठ कहना पड़ेगा। क्या ऐसा अर्थ साहित्य की प्रगति के लिए हितकर होगा? इसके विपरीत दूसरा प्रश्न यह था कि यदि आलोचना का कार्य केवल दोष-निर्देश ही रहा तो क्या लेखकों का जी न टूट जायगा? क्या कोमल हृदय वाले कलाकार साहित्य-रचना कर पाएँगे जब उन्हें पग-पग पर यह भय रहेगा कि उनकी कृतियों की धज्जियाँ उड़ा दी जायँगी? क्या वे हताश न होंगे; और ऐसी परिस्थिति में क्या साहित्य का मार्ग अवरुद्ध न हो जायगा? इस विषम परिस्थिति से निकलने के लिए कुछ साहित्यिक विचारकों ने यह सुझाव रखा कि आलोचना का कार्य यही होना चाहिए कि वह कला-कृति का ज्यों-का-त्यों वर्णन कर दे; न तो दोष निकाले और न प्रशंसा ही करे।

इस सम्बन्ध में कुछ दर्शनज्ञों ने, दर्शन-शास्त्र मे प्रयुक्त आलोचना शब्द के प्राचीन अर्थ के आधार पर यह विचार प्रस्तुत किया कि आलोचना की विशेषता इसी में है कि वह मनुष्य की निर्णयात्मक शक्ति के प्रयोग के लिए समुचित उपक्रम प्रस्तुत कर दे। आलोचना का स्वतः कार्य यही रहेगा कि वह निर्णय-क्षेत्र के अनेक साधन जुटा दे और अलग हो जाय। इस दृष्टि से आलोचना, निर्णयात्मक शक्ति की परिचारिका-मात्र हुई। उसका और कोई महत्त्व नहीं।

उपरोक्त अर्थ के आधार पर कुछ साहित्यकारों तथा साहित्य के विशिष्ट पाठकों ने आलोचना का अर्थ यह लगाया कि तुलना करना ही उसका प्रधान कार्य है। यदि तुलनात्मक कार्य में आलोचना सहयोग देती है तो वह सफल होगी अन्यथा नहीं। वास्तव में आलोचना, समस्त मानवी ज्ञान-क्षेत्र में विच-

रण करती हुई तुलनात्मक कार्य में हाथ बटाती है; वह विचार-संघर्ष पर पनपती है; यही उसका जीवन है। श्रेष्ठ आलोचना दो विभिन्न कार्य-प्रणालियों की तुलना प्रस्तुत करेगी। इन विचारों के अध्ययनोपरान्त फिर वही प्रश्न उठता है कि क्या आलोचना केवल विचारों की तुलना अथवा उनका वर्गीकरण प्रस्तुत करे? क्या आलोचना केवल गणितज्ञ का कार्य करे अथवा वैज्ञानिक की कार्य-शैली अपनाए? क्या भावना, कल्पना, परिकल्पना[1] का सम्बन्ध आलोचना से किंचित्मात्र भी नहीं?

कुछ साहित्यकारों ने आलोचना के उद्देश्य की व्याख्या करते हुए यह विचार अभिमत ठहराया कि किसी भी वस्तु को ज्यों-का-त्यों देखने अथवा उसके यथार्थ स्वरूप को परखने का नाम ही आलोचना होगा। यदि आलोचना वस्तु की, जैसी भी वह है, परख हो जाती है तो श्रेष्ठ आलोचना का जन्म होगा। इसके साथ-साथ यह भी सर्वसम्मत रहा कि आलोचना का श्रेष्ठ कार्य तभी सफल होगा जब वह श्रेष्ठ मानवी विचारों अथवा भव्य भावनाओं के अविरल प्रवाह मे सहयोग दे। संसार की श्रेष्ठतर भावनाओ तथा उत्कृष्ट विचारों का प्रकाश तथा उनका प्रसार ही श्रेष्ठ आलोचना का ध्येय होना चाहिए। अब प्रश्न यह उठता है कि किसी वस्तु के यथार्थ स्वरूप की परख यदि की जायगी तो कैसे की जायगी? परखने के कार्य में क्या हमारी निर्णयात्मक शक्ति का प्रयोग न होगा? और जब हम किसी भी वस्तु को ज्यो-का-त्यो अथवा जैसी भी वह है समझने अथवा परखने का कार्य करेगे तो क्या हमे उस वस्तु की तुलना अन्य वस्तुओं से न करनी पड़ेगी? इसके साथ-साथ क्या आलोचक त्रुटियो की ओर से आँखें बन्द कर लेगा? क्या इनका प्रकाश आलोचना-क्षेत्र में नही आता? प्रायः इन विचारो के मूल में महान् जर्मन दर्शनज्ञ[2] का आलोचना-सिद्धान्त ही व्याप्त था। उनका विचार था कि मति-वैभिन्य के सिद्धान्तों का अन्वेषण ही आलोचना का प्रमुख ध्येय होगा; आलोचना उन साधारण सिद्धान्तों की खोज करेगी जो हमारी रुचि की विभिन्नता की उत्तरदायी हैं।

यदि हम इस विषय पर एक नवीन दृष्टिकोण से विचार करें तो हमें यह जानना होगा कि वे कौनसे सिद्धान्त हैं जिनके सहारे श्रेष्ठ आलोचना लिखी जा सकेगी। क्या वैज्ञानिक दृष्टिकोण द्वारा श्रेष्ठ आलोचना सम्भव होगी? क्या आलोचना एक वैज्ञानिक प्रणाली नहीं? क्या अन्य वैज्ञानिक प्रयोगात्मक विषयो के समान इसका प्रयोग नहीं हो सकता? क्या नीति और तर्क-शास्त्र के

---

१. देखिए—'काव्य की परख'

२. इमैन्युएल काण्ट

समान इसका प्रयोग सम्भव होगा ?

दूसरा दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक हो सकता है। हम यह प्रश्न पूछ सकते हैं कि क्या आलोचना हमारे मनोभावों से सम्बन्धित है ? अथवा क्या वह हमारे मस्तिष्क द्वारा परिचालित है ? अथवा क्या मनोभाव तथा मस्तिष्क दोनों से ही उसका श्रेष्ठ सम्बन्ध बना रहेगा ? यदि इसका उत्तर यह दिया जाय कि इसका सम्बन्ध वस्तुतः हमारे मस्तिष्क से है तो दूसरा प्रश्न जो सहज ही पूछा जा सकता है वह होगा—क्या आलोचना हमारी कल्पना तथा हमारी निर्णयात्मक शक्ति से सम्बन्धित न होगी ? क्योंकि यह शक्तियाँ भी तो मानसिक हैं ? हम यह भी पूछे बिना न रहेंगे कि क्या प्रत्येक मानसिक क्रिया तथा प्रतिक्रिया आलोचना न कहलाएगी ? और यदि आलोचना, हमारी निर्णयात्मक शक्ति द्वारा परिचालित है तो वह हमारे अन्य निर्णयात्मक कार्यों से किस रूप में भिन्न रहेगी ?

कुछ लोगों का यह विचार भी है कि आलोचना सामाजिक सिद्धान्तों पर ही आधारित रहती है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि आलोचना सामाजिक सिद्धान्तों पर आधारित है तो उसका लक्ष्य क्या है ? क्या उसका लक्ष्य वैयक्तिक है ? अथवा समस्त समाज उसके सम्मुख लक्ष्य-रूप रहता है ? समाज की रूप-रेखा सँवारने-सुधारने में आलोचना का कितना उत्तरदायित्व रहेगा ?

हम प्रायः यह भी पूछते हैं कि क्या आलोचना दर्शन पर आधारित है ? यदि है तो कौनसा ज्ञान-क्षेत्र आलोचना के अन्तर्गत प्रकाश पाएगा ? और जो ज्ञान-क्षेत्र आलोचना अपनाएगी वह कितना महत्त्वपूर्ण होगा ? क्या यह कार्य बाह्यवादी रूप में सम्भव होगा अथवा व्यक्तिवादी रूप में सम्पन्न होगा ? क्या समस्त प्राकृतिक वस्तुओं से इसका सम्बन्ध रहेगा अथवा केवल कला-क्षेत्र इसकी परिधि में आएगा ?

आलोचना के वर्गीकरण में प्रायः सबसे बड़ी कठिनाई यह होती है कि हम उसका वर्गीकरण कभी तो रीति को और कभी विषय को आधार मानकर करते हैं। और दोनों में महान् अन्तर होगा। रीति के आधार पर की हुई आलोचना और विषय के आधार पर की गई आलोचना का रूप ही नहीं वरन् उसकी आत्मा भी विभिन्न होगी। जो आलोचना इतिहास में अंकित कार्यों तथा तथ्यों का लेखा रखेगी ऐतिहासिक आलोचना कहलाएगी और जो विज्ञान की रीति अपनाकर विज्ञान के सत्यों का विवेचन करेगी वैज्ञानिक आलोचना कहलाएगी। और इसी आधार पर हम यह कह सकते हैं कि जो

आलोचना साहित्य को परखेगी साहित्यिक आलोचना कहलाएगी; और जितने प्रकार के विषय होंगे उतने ही प्रकार की आलोचना भी जन्म लेगी। प्रायः साहित्यिक आलोचना विषय के आधार पर होती रही है और भविष्य में भी होगी। परन्तु कुछ लोगो का विचार है कि साहित्य एक प्रकार की कला है और जो आलोचना कला के उपयुक्त हो, वही साहित्य में भी उपयुक्त होनी चाहिए। परन्तु इस प्रश्न पर बहुत मतभेद है।

प्रायः दो प्रकार की आलोचनाएँ एक-दूसरे के विपरीत समझी जाती हैं। इनमें एक तो है निर्णयात्मक आलोचना और दूसरी है अनुमानात्मक आलोचना। निर्णयात्मक आलोचना का उद्देश्य यही है कि जो भी साहित्यिक सामग्री उसके सम्मुख आए वह उस पर अपना निर्णय दे; उसका मूल्य निर्धारित करे; उसको कुशल पारखी के समान परखे।

अनुमानात्मक आलोचना का सरल उद्देश्य साहित्यिक तथ्यो का एकत्रीकरण तथा उनको सुव्यवस्थित रूप देना रहेगा। परन्तु इस प्रणाली के दो विभाग और माने गए हैं जिनमें एक का कार्य तो किसी साहित्यिक कृति का नियमानुसार विवरण देना और दूसरे का उन अन्यान्य बाह्य प्रभावों का विवेचन रहेगा जिसका प्रभाव रचना पर विशेषतः पड़ा होगा। इस दृष्टि से वह विशेषतः परिस्थिति इत्यादि पर ही अधिक जोर देगी।

इस वर्गीकरण के अतिरिक्त साहित्यिक आलोचना की अन्यान्य प्रणालियाँ गिनाई जा सकती हैं। इनमे कुछ का आधार निर्णयात्मक तथा अनुमानात्मक आलोचना-प्रणालियों से विभिन्न होगा और उनमे दार्शनिक दृष्टिकोण भी अधिक रहेगा। प्रायः कुछ विचारकों ने व्यक्तिवादी तथा बाह्यवादी दो आलोचना-प्रणालियों पर अधिक जोर दिया है। कुछ ने आलोचना को विश्लेषणात्मक और दूसरो ने संयोगात्मक वर्गों में बाँटा है। कभी विचारकों ने उसे निश्चयात्मक तथा अनिश्चयात्मक रूप में देखा है। जब आलोचना सम्पूर्ण साहित्य को परखेगी तो वह निश्चयात्मक तथा उच्चकोटि की होगी और जब वह एक या दो पहलुओ से सीमित रहेगी तो वह निम्न कोटि की तथा अनिश्चयात्मक रूप लेगी। कुछ साहित्यकारो ने तो इन विभिन्न प्रणालियों को अनेक नामो से पुकारा है—आन्तरिक आलोचना तथा बाह्यालोचना, दार्शनिक आलोचना, नैतिक आलोचना, सौन्दर्यात्मक आलोचना, ऐन्द्रिक आलोचना, अविचल आलोचना, गत्यात्मक आलोचना इत्यादि। सच तो यह है अब तक विशिष्ट अथवा तर्क रूप में आलोचना का वर्गीकरण हुआ ही नही और न यह सम्भव ही होगा। इसके साथ-साथ प्रत्येक देश की आलोचना भी विभिन्न

होगी और उसका वर्गीकरण भी अनेक विभिन्न आधारों पर होगा। इससे वर्गीकरण की कठिनाई और भी बढ जायगी।

: ३ :

'परिभाषा' की समस्या: उसके आधार

परन्तु आलोचना का वर्गीकरण चाहे किसी भी आधार पर क्यो न हो और उसकी परिभाषा चाहे जो भी बने; आलोचना के कार्य अथवा लक्ष्य तथा उसकी परिभाषा में साम्य होना आवश्यक होगा। तभी वर्गीकरण का प्रश्न भी उठेगा और प्रायः आलोचना के अनेक कार्य तथा अनेक लक्ष्य परिलक्षित होंगे। कुछ लोगो का विचार है कि आलोचना, जैसे कि ज्ञान की ज्योति जगाने वाले अन्य विषय हैं, हमारी बौद्धिक उत्सुकता को जाग्रत करके हममें ज्ञान की ज्योति जगाती है; उसका और दूसरा कोई लक्ष्य नहीं। मनुष्य, मनुष्य होने के नाते अपनी जाग्रत उत्सुकता का शमन करना चाहता है और आलोचना भी भरसक इसी में सहयोग देगी। कुछ दूसरे विचारकों का कहना है कि आलोचना हमें साहित्याध्ययन में सहायता देती है; साहित्य के प्रभाव को तीव्र करती है और साहित्य-मन्दिर में प्रवेश करने की शक्ति और श्रद्धा प्रदान करती है। बिना इसकी सहायता के साहित्य के अनेक स्थल अस्पष्ट अथवा उलझे रहेंगे; उनका प्रभाव क्षीण रूप में पड़ेगा; वे हमारे हृदय से दूर रहेंगे। इसके साथ-साथ आलोचना इस ओर भी संकेत करेगी कि कौनसी साहित्यिक कृति श्रेष्ठ तथा हितकर और फलप्रद होगी और कौनसी हेय तथा अवाञ्छित होगी। इस दृष्टि से वह हमें चेतावनी देगी कि अमुक कृति अच्छी है अमुक हीन, जिससे कि हमें साहित्य-क्षेत्र में भटकना नहीं पड़ता और हम थोड़े ही समय में श्रेष्ठ और निकृष्ट साहित्य की परख कर लेते हैं। यदि आलोचक न होंगे और आलोचना न लिखी जायगी तो पाठकवर्ग भटकता फिरेगा और अपनी मानसिक शक्ति का सदुपयोग न कर पाएगा।

परन्तु आलोचना की उपयोगिता एक और भी है। आलोचना लेखक के उपयुक्त पाठकवर्ग प्रस्तुत किया करती है और उसकी कृति के पठन-पाठन के लिए उचित वातावरण तैयार करती रहती है। और जब लेखक की कृति सामने आती है तो पाठकवर्ग उसे उत्सुकतापूर्वक ग्रहण करता है। इस दृष्टि से आलोचना की शक्ति और उसकी उपयोगिता का माप लगाना सरल नहीं और परिभाषा बनाते समय इस तत्त्व का विशेष ध्यान रखना होगा। इसके साथ-साथ लेखकवर्ग के लिए भी आलोचना अत्यन्त फलप्रद होगी। इसकी सहायता से लेखकवर्ग यह जान लेगा कि हमारा पाठक-समाज कैसा

है; उसकी शिक्षा-दीक्षा कैसी और कितनी है; उसकी समझ और सूझ कितनी है और इस सबको ध्यान में रखकर वह साहित्यिक रचना करेगा और अपनी प्रतिभा का नियन्त्रण करता रहेगा। इसका फल यह होगा कि साहित्यकार जो भी कृति पाठकवर्ग को देगा वह उनकी रुचि और उनके मानसिक स्तर को समझकर देगा। प्रायः श्रेष्ठ कलाकार अपने समय के पहले जन्मते हैं, और बहुत दिनों बाद उनकी कला का मूल्य लग पाता है। आलोचना जब इन प्रतिभावान कलाकारो को अपनी प्रतिभा नियन्त्रित करने तथा समाज की रुचि-विशेष का ध्यान रखने का आदेश देती है तो दोनो की रक्षा करती है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि आलोचना कलाकार की सहज प्रतिभा को कुण्ठित कर दे और उसका पूर्ण प्रकाश न होने दे। प्रतिभावान कलाकार का यह सहज स्वभाव है कि वह समाज की अवहेलना करे और समाज चाहे उसे ग्रहण करे अथवा न करे वह अपनी प्रतिभा के वशीभूत होकर अपनी बात पर दृढ रहे। इस अति की रोक-थाम के लिए आलोचना सतत हितकर प्रमाणित हुई है। इन विशेष तत्त्वों का भी संकेत आलोचना की परिभाषा में सम्यक् रूप में मिलना चाहिए।

आलोचना का एक दूसरा विशिष्ट प्रयोग यह है इसके द्वारा समाज की साहित्यिक रुचि का संशोधन तथा परिमार्जन होता रहता है। साधारणतः समाज की रुचि निम्नगामिनी होती है और आलोचना सतत यह प्रयास किया करती है कि समाज की साहित्यिक रुचि का स्तर गिरने न पाए। और यदि ऐसा न हुआ तो कलाकार की साहित्यिक प्रतिभा पर धक्का लगेगा और समाज की भी सेवा न हो पाएगी। इस दृष्टि से तो आलोचना की आवश्यकता तथा उसकी उपयोगिता अवश्य प्रमाणित है।

प्रायः यह भी देखा गया है कि साहित्यकार तथा समाज दोनों में ही एकांगी दोष आने लगता है और पक्षपात की भावना अपना रंग इतना गहरा कर लेती है कि संतुलन की भावना नष्ट हो जाती है। दोनों वर्ग पक्षपात के वशीभूत होकर स्पष्ट रूप से कुछ सोच नहीं पाते। ऐसी परिस्थिति में आलोचना की बहुत आवश्यकता पड़ेगी। प्रायः इसी के द्वारा साहित्यिक पक्षपात की भावना मिट जायगी और सन्तुलन की भावना का विकास होगा। यह निर्विवाद है कि पक्षपात की भावना साहित्य के विकास, कलाकार की प्रतिभा की रक्षा तथा पाठकवर्ग की सुरुचि के मार्ग मे रोड़े बिछाती है और श्रेष्ठ आलोचना द्वारा ही यह कठिनाई दूर हो सकेगी। यह भी सही है कि प्रायः कलाकार वादो के जाल में फँसकर रह जाते हैं और पाठक वर्ग भी वादों के वशी-

भूत किसी अन्य प्रकार की रचना ग्रहण करने को तैयार नहीं होते और उन्हें प्रसन्नता तभी होती है जब कलाकार उनके मनोनुकूल चुने हुए वाद की पुष्टि करे। इस वैषम्य को दूर करने में भी आलोचना बहुत हद तक उपयोगी प्रमाणित होगी।

साहित्य-क्षेत्र में प्रायः यह भी देखने मे आता है कि लेखकवर्ग तथा पाठकवर्ग दोनों में कभी-कभी एक प्रकार की मानसिक रुग्णता आ जाती है और स्वस्थ साहित्य उन्हें नहीं भाता। वे ऐसा साहित्य चाहते हैं जो उनकी मानसिक रुग्णता और भी बढ़ाए, क्योंकि इसी मे उन्हें आनन्द मिलता है और स्वस्थ साहित्यिक विचार उन्हे रुचिकर तथा ग्राह्य नहीं होते। इस साहित्यिक रोग का निदान भी केवल आलोचना द्वारा होगा। आलोचना पग-पग पर यह चेतावनी देती रहेगी कि कौनसी साहित्यिक प्रवृत्ति स्वस्थ तथा हितकर होगी। और लेखक तथा पाठकवर्ग का कल्याण किस प्रकार के साहित्य द्वारा सम्भव होगा। यह मानसिक रुग्णता इतनी घातक होती है कि इसका विषम प्रभाव बहुत गहरे रूप मे पड़ता है और कुरुचि की वृद्धि होने लगती है और एक ऐसा अस्वस्थ वातावरण छा जाता है कि अन्य कोई स्वस्थ भावना अथवा विचार पनपने नही पाता। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि इस रोग का शमन शीघ्र ही हो और साहित्यकार तथा पाठकवर्ग दोनों अपने कर्त्तव्य को पहचानें। आलोचना के इस विशिष्ट तत्त्व को भी श्रेष्ठ परिभाषा परिलक्षित करेगी।

आलोचना साधारणतः उन व्यक्तियों के लिए बिलकुल अनिवार्य है जिनके पास प्राचीन अथवा नवीन कृतियों के पढने का अवकाश नहीं। कुछ लोगों को इतना भी अवकाश नहीं रहता कि वह यह भी जान पाएँ कि कौन से लेखक इस समय साहित्य-क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं और उनकी रचनाओ का मूल्य क्या होगा। मूल ग्रन्थो को पढने का तो उन्हें किंचित् मात्र भी अवकाश नहीं रहता; इसलिए यह अत्यावश्यक है कि उनके पास कोई ऐसा उपयुक्त साधन हो जिसके द्वारा वे थोड़े ही समय में साहित्य-क्षेत्र के नवीन प्रकाशनों तथा प्राचीन मूल ग्रन्थों में उनकी गति बना दे। आलोचना ने इस कार्य को अद्भुत क्षमता के साथ किया है और अपनी उपयोगिता प्रमाणित की है। इस उपयोगिता को भी आलोचना की परिभाषा परिलक्षित करने का प्रयास करेगी।

आलोचना-क्षेत्र का साधारणतः एक विशेष प्रश्न अनेक साहित्यकारों को बहुत काल तक कठिनाई में डाले रहा—क्या आलोचना के लिए यह

आवश्यक अथवा उचित होगा कि वह कलाकार के चरित्र अथवा उसके व्यक्तित्व का भी लेखा रखे ? क्या साहित्यकार के चरित्र का विवेचन आलोचना की परिधि में नहीं आता ? यदि आता है तो इससे साहित्यालोचन मे सहायता मिलेगी अथवा नहीं ? अथवा आलोचना का ध्येय केवल पाठकवर्ग को परितोष देना अथवा उन्हे किसी मत-विशेष के प्रति विश्वास दिलाना है ? बहुत काल तक तो आलोचक यही समझते रहे कि आलोचक का यह प्रथम कर्तव्य है कि वह साहित्यकार के चरित्र और उसके व्यक्तित्व का भलीभाँति विवेचन करे, तत्पश्चात् उसकी कृति का मूल्यांकन करे। इस प्रवृत्ति द्वारा अनेक साहित्यकारों के चरित्र, उनकी पारिवारिक प्रतिष्ठा, उनकी अनेक न्यूनताओं को लक्ष्य करके तीखे व्यंग्य-बाण बरसाए गए। जो कलाकार इस प्रवृत्ति के शिकार हुए, कभी घोर विरोध कर बैठे और प्रत्युत्तर द्वारा अपने आलोचकों को मैदान छोड़कर भाग जाने पर बाध्य किया; कुछ ऐसे रहे जिन्होने अपने सिद्धान्तो को स्पष्ट किया और उनका समर्थन मौलिक रूप मे किया और कुछ ऐसे भी रहे जो हतोत्साह होकर जीवन की आस छोड़ बैठे। प्रायः इस प्रवृत्ति से साहित्य की हानि हुई और साहित्यकारो का बहुत समय वादविवाद मे नष्ट हुआ। हाँ, इसका एक परिणाम कदाचित् अच्छा हुआ। इस प्रवृत्ति के कारण ही साहित्यकारों ने श्रेष्ठ आलोचनात्मक विचारो की सृष्टि की, श्रेष्ठ साहित्य-सिद्धान्त निर्मित किये और एक ऐसी गद्य-शैली का प्रयोग किया जिसकी प्रतिष्ठा आज तक बनी हुई है।

आलोचना के वर्गीकरण तथा परिभाषा निर्मित करने के सम्बन्ध मे सबसे जटिल समस्या यह है कि क्या आलोचना के सिद्धान्त बन सकते हैं और यदि बन सकते हैं तो वैज्ञानिक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, नैतिक अथवा सौन्दर्यात्मक सिद्धान्त इत्यादि मे वे किसका अधिक सहारा लें और वे किस पर पूर्णतः आधारित हो। क्या एक बार किसी युग मे आलोचना-सिद्धान्त बन गए तो बन गए ? क्या उनमें परिवर्तन सम्भव अथवा आवश्यक है या नहीं ? यदि नहीं तो क्या पाठकवर्ग की रुचि स्थायी है या स्थायी रहेगी ? रुचि की कौन परख करेगा ? क्या प्रत्येक देश के पाठकों की रुचि समान होती है ? और यदि नहीं तो इस रुचि-वैभिन्य के क्या कारण हैं। इन उपरोक्त प्रश्नो के सम्बन्ध में यह प्रश्न भी उठेगा कि क्या प्राचीन मान्य साहित्यिक ग्रन्थ आदर्श-रूप मान लिये जायँ और उन्हीं के आधार पर अन्य कृतियों की आलोचना होती रहे ? क्या इन मान्य प्राचीन ग्रन्थों से हम समस्त आलोचना-सिद्धान्त निकाल सकेंगे ? यदि नहीं तो क्यों नही ? क्या यह भी सम्भव है कि कोई साहित्यिक

कृति आलोचना-सिद्धान्तों के प्रति विमुख रहे, उनकी अवहेलना करे और फिर भी श्रेष्ठ, कलापूर्ण तथा महत्त्वपूर्ण बनी रहे ? क्या पाठकवर्ग की रुचि का ध्यान आलोचना के लिए आवश्यक नहीं ? यदि है तो क्या प्रत्येक युग के पाठकवर्ग की रुचि की विभिन्नता के अनुसार आलोचना भी अपनी रूप-रेखा परिवर्तित नहीं करती रहेगी ?

कुछ लेखकों ने यह विचार रखा है कि आलोचना के सिद्धान्त बन सकते हैं और वे चाहे किसी भी आधार पर आधारित क्यों न हों उसका मूल-सिद्धान्त तथा उसका एक आदर्श यही रहेगा कि संसार के श्रेष्ठातिश्रेष्ठ विचारों तथा भावनाओं की वह परख करे और उनके प्रसार में दत्तचित्त हो। तर्क-रूप में यह कहा जा सकता है कि कलाकार अपने समय के श्रेष्ठ विचारों तथा भावों के आधार पर ही अपना कला-प्रासाद निर्मित करता है। वह एक प्रकार से अपने समय की मानसिक तथा बौद्धिक विचार-धाराओं में बहता रहता है और आलोचक के लिए यह आवश्यक है कि वह इस ओर पक्षपातहीन और सचेत रहे कि समय की विचार-धारा संकीर्ण अथवा संकुचित न हो जाय और वह उचित गति तथा विस्तार के साथ उचित दिशाओं में प्रवाहित रहे। इस सिद्धान्त के विवेचनोपरान्त यह समस्या सामने आयगी कि क्या कला की क्रियात्मक शक्ति आलोचना का अनुसरण करे, उसे प्रभुत्व दे और अपने को गौण समझे ? क्या यह सिद्धान्त कला की क्रियात्मक शक्ति को कुण्ठित नहीं करेगा ? और फिर क्या यह सम्भव है कि आलोचक पक्षपातहीन हो ? यदि उस पर यह अंकुश रखा गया तो क्या वह सहज ही साहित्य की ओर से विमुख न हो जायगा ? पक्षपात की भावना ही तो उसे प्रेरणा देती है और जब प्रेरणा ही नहीं तो श्रेष्ठ आलोचना कैसे सम्भव होगी। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि आलोचना-क्षेत्र की जटिल समस्याओं का अन्त नहीं; चाहे कितना भी श्रेष्ठ सिद्धान्त क्यों न बने, चाहे कितनी भी व्यापक परिभाषा क्यों न निर्मित हो, तर्क-रूप में उनका पूर्ण समर्थन असम्भव होगा। यही कारण है कि आलोचना का आज तक कोई एक विशिष्ट रूप निश्चित नहीं हो पाया; इसी में उसका महत् आकर्षण है; उसकी हृदयग्राहिता है।

३

आलोचना का वर्गीकरण

: १ :

आलोचना का वर्गीकरण

आधुनिक अंग्रेज़ी साहित्य मे अनेक आलोचना-प्रणालियो का प्रयोग हुआ है और हो रहा है। आलोचको के भी स्पष्ट वर्ग बन गए हैं और वे अपनी साहित्यिक विभिन्नता लिये हुए तथा अपने विभिन्न दृष्टिकोण स्थिर किये हुए आलोचनात्मक कार्यों मे संलग्न हैं। उन सबकी अलग-अलग शिक्षा-दीक्षा है और अपनी अलग-अलग विशेषता। इन विभिन्न वर्गों के आलोचको की विशेषताओं का विवेचन यदि हम नियमपूर्वक कर सकते तो अधिक कठिनाई न होती, परन्तु इस प्रकार के विवेचन में व्यक्तिगत दृष्टिकोण तथा पक्षपात का दोष स्पष्टतः दिखलाई दे जायगा। इसलिए आलोचना-सिद्धान्त के विशेष वर्गों का ही विवेचन अधिक श्रेयस्कर होगा, क्योंकि किसी एक प्रणाली के नियमों से परिचित हो जाने पर अनेक अन्य आलोचकों का वर्गीकरण सरलतापूर्वक हो सकेगा।

साहित्यकारो ने, आलोचना के वर्गीकरण के अनेक आधार प्रस्तुत किये है। कुछ लेखको ने, जैसा हम अभी स्पष्टतः कह चुके हैं, आलोचना को विषय के आधार पर वर्गों में बाँटने का सिद्धान्त बनाया जिसके फलस्वरूप दर्शन, अर्थ-शास्त्र, व्याकरण, जीवन-शास्त्र इत्यादि के आधार पर आलोचना का वर्गीकरण हो सकता था और दार्शनिक आलोचना, अर्थ-शास्त्रीय आलोचना, व्याकरणात्मक आलोचना इत्यादि वर्ग बन सकते थे। कुछ विद्वानो ने देश के नाम के आधार पर आलोचना के वर्गीकरण का नियम बनाया जिसके अनुसार अंग्रेजी, अमरीकन, रूसी तथा फ्रांसीसी आलोचना-प्रणाली का नामकरण हुआ। वास्तव मे ये दोनो ही आधार अनुपयुक्त तथा निरर्थक थे और यह समझकर श्रेष्ठ विचारकों ने आलोचना का वर्गीकरण प्रणालियो के आधार पर किया। इस सिद्धान्त के आधार पर अनुमानात्मक, ऐतिहासिक, निर्णयात्मक, वैज्ञा-

निक, तुलनात्मक-ऐतिहासिक, जीवन-वृत्तान्तीय, नैसर्गिक, रीति, मनोवैज्ञानिक, व्यक्तिवादी, क्रियात्मक, कार्यात्मक, व्यक्तित्व-प्रदर्शन, तीव्रानुभूति, अभिव्यंजनावादी तथा प्रगतिवादी अन्यान्य आलोचना-प्रणालियों का जन्म हुआ।

अनुभवात्मक आलोचना-प्रणाली

आलोचना-क्षेत्र की, कदाचित् सबसे पुरानी प्रणाली अनुभवात्मक है। अंग्रेजी साहित्य-क्षेत्र में इसकी मान्यता भी करीब तीन सौ वर्ष पुरानी होगी। जिन आलोचकों ने इस प्रणाली की प्रशंसा विशेष रूप में की और जो इसके प्रवर्त्तक हुए उन्होंने इसकी कमी को पहले ही स्वीकार किया और भावी विचारकों को यह आदेश मिला कि वे इसकी उन्नति करें। क्योंकि यह प्रणाली केवल अपनी शैशवावस्था में ही है, जो व्यक्ति इस प्रणाली का उपयोग करना चाहें उनमें कौनसे गुण होने चाहिएँ इस प्रश्न पर भी विचार किया गया। ऐसे आलोचकों का पहला गुण होना चाहिए निरीक्षण-क्षमता, जो इसका मूल आधार रहेगी। दूसरे उनमे विश्लेषण की क्षमता यथेष्ट मात्रा में होनी चाहिए और यदि ये दोनों गुण उनमें सहज रूप में आ गए तो वे सरलता से तीसरा गुण भी प्रयुक्त कर सकेंगे। यह तीसरा गुण है वर्गीकरण की सूझ।

अनुमानात्मक आलोचना-प्रणाली का यह मूल सिद्धान्त है कि प्रत्येक साहित्यिक कृति का वैज्ञानिक रूप में अध्ययन हो सकता है और आलोचना भी इसी वैज्ञानिक विधि का अनुसरण करती हुई नियमों तथा साहित्यिक विधानो का निर्माण कर लेगी। परन्तु इसमें एक बहुत बड़ी कठिनाई दृष्टिगत होगी; वह यह कि वैज्ञानिक प्रयोग तो स्थायित्वपूर्ण होंगे और एक निरीक्षक अथवा विश्लेषक दूसरे से कदाचित् ही भिन्न हो। भौतिक तथा रसायन-शास्त्रों के नियमो में स्थायित्व है परन्तु साहित्य-क्षेत्र में यह सम्भव नहीं। साहित्य-क्षेत्र में तो प्रत्येक व्यक्ति अपने मनोनुकूल विवेचन दिया करेगा। काव्य इत्यादि का तो प्रत्येक व्यक्ति पर विभिन्न प्रभाव पड़ेगा और रुचि-वैचित्र्य के अनुसार उसकी प्रशंसा भी होगी।

समर्थकों ने रुचि-वैभिन्य की कठिनाई को हल करने के लिए कुछ मनोवैज्ञानिक उपायों का सुझाव रखा। क्या यह सम्भव नही कि हमारे अनुभवों का भी वर्गीकरण हो तथा उनको एक संविधान का रूप दे दिया जाय? हमारे अन्यान्य अनुभव—जैसे भय और प्रीति, ईर्ष्या और घृणा, गर्व तथा प्रतिस्पर्द्धा—सभी विवेचनोपरांत विधिवत् अध्ययन किये जा सकते हैं। इसके साथ-साथ अनेक आलोचकों के रुचि-वैभिन्य का भी वर्गीकरण सम्भव होगा और उनकी

रुचि को भी विधिवत् वर्गों में बाँटा जा सकेगा। विज्ञान-क्षेत्र के समान, इसके द्वारा साहित्य में स्थायित्व की भावना आएगी और हम सरलतापूर्वक निश्चित रूप में अपनी आलोचना लिख सकेंगे। और यदि कहीं भूल-चूक हो भी जाय तो आलोचक अन्य साहित्यिक पुस्तकों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा उस भूल को सुधार लेगा। यह आलोचना-प्रणाली सहज ही लेखकों तथा उनकी रचनाओं की मूल भावना तथा उनका वास्तविक स्वरूप परखने में बहुत सहायता देगी।

अनुमानात्मक आलोचना-प्रणाली के अनुसरणकर्ता को तीन विशेष नियम ध्यान में रखने होंगे। पहला उसे श्रेष्ठता के अनुसार साहित्य के वर्ग बनाने पड़ेंगे जिनके द्वारा वह प्रत्येक वर्ग की विशेषता तथा उसकी श्रेष्ठता का अध्ययन करेगा। और उसे जहाँ कला में वैभिन्य दृष्टिगत होगा वह नये वर्ग बनाता जायगा। दूसरे उसे यह सिद्धान्त-रूप में मानना पड़ेगा कि कला प्रकृति का अंश है; और प्रकृति के समान ही उस पर भी कुछ नियम लागू होने चाहिएँ : परन्तु वे नियम ऐसे न होंगे जो उस पर बाहर से लाकर भारस्वरूप रख दिए जायँ। इस सन्दर्भ में नियम का अर्थ केवल यही है कि आलोचक जिस प्रकार प्रकृति के जीवन को स्पष्ट करता है उसी प्रकार वह साहित्य की आत्मा को भी स्पष्ट करे। तीसरे उसे यह भी मानना पड़ेगा कि कला निरन्तर उन्नति करती जाती है और किसी भी युग में उसकी पराकाष्ठा नहीं पहुँचती। इसके विपरीत निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली का समर्थक यह समझता है कि प्राचीन युग में साहित्य की पराकाष्ठा पहुँच चुकी थी और अब जो भी साहित्य लिखा जायगा वह उसी प्राचीन साहित्य की तुलना में ही आँका जायगा। यूनानी तथा रोमीय साहित्यकारों[1] ने साहित्य की पराकाष्ठा प्रस्तुत कर दी है।

: २ :

ऐतिहासिक आलोचना-प्रणाली

आधुनिक काल में जो दूसरी आलोचना-प्रणाली साधारणतया लोकप्रिय हुई है और जिसने विशेष प्रगति की है उसे हम 'ऐतिहासिक आलोचना-प्रणाली' के नाम से सम्बोधित कर सकते हैं। इस प्रणाली को अनेक प्रसिद्ध आलोचकों ने बिना मीन-मेष निकाले पूर्णतः अपना लिया है और इसी की सहायता से आधुनिक आलोचना-जगत् मे नव-जीवन का संचार भी हुआ है। कुछ आलोचक ऐसे भी हैं जो इस प्रणाली के कुछ विशेष नियमों के विरोधी हैं परन्तु उन्होंने भी बिना

१. होमर तथा वर्जिल

जाने हुए इसके अनेक नियमों को अपनाया और उनसे लाभ उठाया। इस प्रणाली का सहज प्रसार ऐसे रूप में होता गया कि कभी-कभी यह सरलता-पूर्वक नहीं बतलाया जा सकता कि कौन आलोचक इस प्रणाली का वास्तविक रूप मे विरोधी है। इस प्रणाली ने आलोचना-संसार के सभी आलोचकों को प्रभावित ही नहीं वरन् वशीभूत करके कुछ ऐसे नैसर्गिक नियमों का प्रतिपादन कर दिया है कि सभी आलोचक किसी-न-किसी अंश में इसका सहारा ढूँढते हैं। इस प्रणाली के अन्तर्गत जो नियम प्रधानतः मान्य हैं और जिसे आधुनिक आलोचक नित्य प्रति प्रयोगात्मक रूप में प्रयुक्त करते आए हैं वह साहित्य-निर्माण काल और तत्कालीन वातावरण का ध्यान और उसका समुचित विवेचन है। यदि वास्तविक रूप में देखा जाय तो यह प्रणाली प्रचलित तो बहुत दिनों से है, परन्तु इसके गुरुत्व का अनुभव आलोचकों को हाल ही में हुआ है; और आलोचकवर्ग इसी प्रणाली पर विशेष रूप से जोर देते जा रहे हैं जिसके फलस्वरूप एक अन्य आधुनिक आलोचना-प्रणाली से इसका सम्पर्क और सम्बन्ध और भी गूढ होता जा रहा है। ऐतिहासिक तथा अन्य आलोचना-प्रणालियों का विवेचन हम आगे विस्तारपूर्वक करेंगे परन्तु यहाँ स्पष्टतया समझ लेना उचित है कि ऐतिहासिक आलोचना-प्रणाली को आधुनिक काल में इतनी गुरुता तथा इतना महत्त्व मिला कि अन्य प्रणालियाँ इसके सम्मुख गौण प्रतीत होने लगी हैं।

बहुधा यह कहते सुना जाता है कि ऐतिहासिक आलोचना-प्रणाली ने साहित्य की विशेष प्रगति की, और जो साहित्यिक इतिहास इस दृष्टि से लिखे गए उनके द्वारा पाठकवर्ग का बहुत अधिक उपकार हुआ। परन्तु यह बात कुछ ही अंशों में ठीक उतरेगी। इसमें सन्देह नहीं कि जहाँ तक लेखकों के जन्म मरण का लेखा प्रस्तुत करना था, उनका जीवन-काल निश्चित करना था तथा उनकी कृतियों की सूची तैयार करना था वहाँ तक तो इस प्रकार की आलोचना अत्यन्त फलप्रद हुई। और इस प्रकार की आलोचना पश्चिम में पुनर्जीवन-काल से लेकर सत्रहवीं शती के अन्त तक लिखी गई। परन्तु यह भी अधिकांशतः सत्य है कि इस प्रकार की आलोचना ने हमारा ध्यान, पुस्तकों की ओर से हटाकर, लेखकों और उनके द्वारा प्रवाहित व्यापक साहित्यिक धाराओं की ओर लगा दिया। कलाकार की रचनाएँ तो हमसे कहीं दूर जा पड़ी हैं और उनका उपयोग हम साहित्यिक धाराओं के नामकरण इत्यादि में ही करते हैं। पुस्तक को पुस्तक-रूप में न देखकर हम उसका लेखन-काल, कार्य तथा कारण-सम्बन्ध निश्चित करने में लग जाते हैं। उदाहरण के लिए

अंग्रेजी साहित्य में कवि चासर का युग पुनर्जीवन काल का शुभागमन घोषित करता है और हिन्दी-साहित्य मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आधुनिकता का प्रथम संकेत देते है। इतना सब होते हुए भी किसी आलोचक ने अब तक यह नहीं बतलाया कि इस प्रकार के आलोचनात्मक अध्ययन का मूल्य क्या है और साहित्य की प्रगति में इस प्रणाली-विशेष को हम आवश्यक क्योकर समझे। इस प्रकार की आलोचना-प्रणाली का मुख्य आधार पाठान्तर की खोज और उसका संशोधन-मात्र है और साधारणतः इसके द्वारा ही हम युग-जीवन का दर्शन कराने में सफल होते हैं।

कदाचित् इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रणाली के अन्तर्गत की गई आलोचना पाठकवर्ग का ध्यान कला-कृति से बार-बार हटाकर युग-जीवन की ओर ले जायगी। ऐतिहासिक आलोचना-प्रणालो हमे इस पर विवश करेगी कि हम भारतेन्दु के युग की अनेक विचार-धाराओ को पहले परखें—राष्ट्रीयता का बीज क्यो और कैसे पडा, भारत की राजनीतिक तथा आर्थिक दुर्व्यवस्था का कैसा दृश्य था; सामाजिक रूढियाँ कौनसा कार्य कर रही थीं; उस समय का भारत रूढिगत धर्म में कितना रत था, शिक्षा की क्या व्यवस्था थी; अन्तर-प्रान्तीय ईर्ष्या का कितना प्रसार था। इस युग-अनुसन्धान में जब तक आलोचक लगा रहा भारतेन्दु की काव्य-कला तथा नाटक-कला एक ओर पड़ी रही और अनुसन्धान के पश्चात् केवल यही तथ्य हाथ लगा कि अमुक साहित्यिक धारा के प्रवाहित करने में भारतेन्दु को बहुत अधिक श्रेय था; वे हिन्दी-साहित्य में आधुनिकता का प्रथम दर्शन अनेक रूप मे कराते हैं। इस प्रणाली के पोषको ने युग की आत्मा का परिचय तो अवश्य दिया परन्तु कलाकृति की ओर हमे आकर्षित नहीं किया या कम किया। कलाकार उनके लिए कुछ विशेष चिन्तन-धाराओं के पोषक-मात्र रह गए और उनका महत्त्व इसीमें विशेषतः रहा कि उस युग-विशेष की प्रमुख विचार-धारा का स्पष्ट संकेत उनकी कलाकृति में मिलता है। इस दृष्टि से, युग-विश्लेषण को तो प्रधान तत्त्व मिला और कलाकार की कलाकृति गौण रूप में एक ओर पड़ी रही।

: ३ :

निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली

इस प्रणाली के प्रचार और इसकी लोकप्रियता के मूलतः दो कारण थे : एक था पुनर्जीवन[१]-काल में यूनानी साहित्य का विस्तृत अध्ययन तथा उसकी श्रेष्ठता की मान्यता और दूसरे पत्रकारिता का प्रचार।

१. देखिए—'अंग्रेजी साहित्य का इतिहास'

मध्ययुग के व्यतीत होने पर यूनानी साहित्य का प्रचार विस्तृत रूप में बढ़ने लगा और अनेक विद्वान् इस साहित्य के पठन-पाठन में कार्यरत हुए। कुस्तुन-तुनिया पर तुर्कों के अधिकार होने के पश्चात् जिन विद्वानो ने इधर-उधर भागकर अपनी अमूल्य साहित्यिक निधि की रक्षा की थी पुनः प्राचीन यूनानी विद्या तथा कला का पठन-पाठन तथा प्रचार आरम्भ किया, जिसके फलस्वरूप समस्त यूरोप में इसकी सर्वप्रियता बढ़ी। इस व्यापक अध्ययन का फल यह हुआ कि समस्त विद्यार्थीवर्ग केवल यूनानी साहित्य के मान-दण्ड द्वारा अन्य साहित्यों की श्रेष्ठता का निर्णय करने लगे। यह स्वाभाविक ही था, क्योंकि उस युग में किसी और देश का साहित्य न तो इतना उन्नत था और यदि था भी तो उसका प्रचार न हो पाया था।

दूसरे, मुद्रण-कला के आविष्कार के फलस्वरूप पुस्तकों की भरमार होने लगी और इतनी अधिक संख्या मे पुस्तकों का प्रचार होने लगा कि उनकी श्रेष्ठता का निर्णय कठिन ही नहीं असम्भव भी होने लगा। पाठको को ऐसे वर्ग के व्यक्तियों की आवश्यकता हुई जो उनको यह बतलाते कि कौनसी पुस्तक श्रेष्ठ है और कौन नहीं। विरले ही ऐसे पाठक थे, जो स्वयं पुस्तको की साहित्यिक श्रेष्ठता का निर्णय कर लेते; इसलिए पुस्तकों की आलोचना प्रका-शित होने लगी; समालोचकों को महत्त्व मिलने लगा; और वे ही साहित्यकारों तथा पाठकवर्ग का साहित्यिक निर्देशन करने लगे। वे आज तक करते आ रहे हैं और कदाचित् भविष्य में भी करते जायँगे।

यदि व्यापक रूप मे देखा जाय तो निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली के अनेक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य भी दृष्टिगत होंगे; परन्तु इसका प्रमुख कार्य पुस्तकों तथा लेखकों का उनकी साहित्यिक श्रेष्ठता के अनुसार स्थान-निर्देश रहेगा। उसे यह संकेत स्पष्ट रूप में देना पड़ेगा कि अमुक लेखक श्रेष्ठ है, अमुक नहीं; अमुक पुस्तक महत्त्वपूर्ण है, अमुक नहीं। यह निर्णय, प्रयुक्त आलोचना-प्रणाली कला के अन्यान्य नियमों की सहायता से करेगी। परन्तु ये नियम वे न होंगे जो कला की आत्मा में सहज ही अन्तर्हित होंगे। ये तो वे नियम होंगे जो कला पर बाह्य रूप से आरोपित किये गए होंगे। वास्तव में नियम वही श्रेष्ठ होंगे जो किसी कला में सहज ही व्याप्त रहते हैं और किसी बाह्य रूप में निर्मित नियमावली के अंग नहीं होते। तात्पर्य यह है कि ये नियम न तो वैज्ञानिक होंगे और न नैसर्गिक; ये समाज के किसी-न-किसी सामाजिक अथवा राजनीतिक वर्ग द्वारा निर्मित हुए होंगे। दूसरे, निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली का अनुसरण करने वाला आलोचक कुछ अपने स्थायी मानदण्ड बना लेगा।

यह मानदण्ड और कोई वस्तु नहीं, वह केवल प्राचीन साहित्यकारों की श्रेष्ठताओं की सूची होगी और वे बार-बार उन्हीं प्राचीन श्रेष्ठ कलाकारो के नाम की दुहाई देंगे।

साधारण रूप में निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली के मानने वालों में दो वर्ग हैं। एक वर्ग तो रूढिवादी है जो यह समझता है कि प्राचीन लेखकों ने साहित्य की चरम सीमा छू ली थी और किसी भी युग का दूसरा लेखक उनके श्रेष्ठ स्तर को नहीं पा सकता। फलतः जो काव्य तथा साहित्य यूनानी तथा रोमीय साहित्यकारो[1] ने रच दिया वह श्रेष्ठातिश्रेष्ठ है; उसकी तुलना किसी से नहीं हो सकती। इसलिए जितने भी साहित्यकार श्रेष्ठ रचना करना चाहते हैं उनके लिए प्राचीन युग के कलाकारों का ही पदानुसरण करना हितकर होगा। आलोचना-क्षेत्र में भी, इस रूढिवादी वर्ग के अनुसार, यूनानी तथा रोमीय आलोचको[2] द्वारा निर्मित नियम और रचना-सिद्धान्त अपूर्व तथा अद्वितीय हैं; उनकी मर्यादा और उनकी श्रेष्ठता सतत बनी रहेगी। इसलिए सभी युगो के सभी साहित्य-निर्माताओ के लिए यह आवश्यक है कि उन्हीं के नियमो और सिद्धान्तो के अनुसार ही साहित्य-रचना करें। दूसरा वर्ग, रूढिवादी प्राचीन सिद्धान्तों को पूर्ण मान्यता प्रदान करने का विरोधी है; इस वर्ग ने यद्यपि तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता मानी तो अवश्य परन्तु सौन्दर्यात्मक सिद्धान्तों को भी फलप्रद समझा। इस वर्ग का विचार है कि साहित्यालोचन मे तुलनात्मक मानदण्ड आवश्यक तो हैं परन्तु इतने नहीं कि किसी और सिद्धान्त का सहारा ही न लिया जाय। श्रेष्ठ कोटि की निर्णयात्मक आलोचना तभी होगी जब तुलनात्मक मानदण्डों के साथ-साथ सौन्दर्यात्मक सिद्धान्तों का भी सहारा लिया जाय।

इन दोनो विरोधी वर्गों के सिद्धान्तों के समन्वय के फलस्वरूप जिस निर्णयात्मक आलोचना का जन्म होगा, उसमे भी यदि देखा जाय तो दो-एक न्यूनताएँ फिर भी रह जायँगी। आलोचना की यह प्रणाली कुछ कृत्रिम सीमाएँ बाँधने का प्रयत्न करेगी और आलोचक कभी तो मनोविज्ञान का और कभी जीवन-वृत्त का सहारा लिया करेगा जिसके फलस्वरूप प्रस्तुत रचना पर तो उसकी दृष्टि कम रहेगी और लेखक अथवा कलाकार पर अधिक। यह भी हो सकता है कि आलोचक इतिहास और वातावरण पर ही अधिक जोर देने लगे। यह भी सम्भव है कि वह कलाकार की आत्मा मे बैठ ही न सके और न उसकी

१. होमर, वर्जिल
२. अरस्तू, हारेस

आवश्यकता ही समझे। इसके साथ-साथ एक और कमी दिखलाई पड़ेगी; वह यह कि इस प्रकार की आलोचना आलोचक की अनुभव-शक्ति अथवा प्रभावों को ग्रहण करने की शक्ति पर पानी डाल देगी। उसे विशेषतः अपना निर्णय देने पर ही बाध्य होना पड़ेगा और दोषारोपण की प्रवृत्ति से वह बच नहीं सकेगा। इन्ही न्यूनताओं को ध्यान में रखते हुए भविष्य में अनुमानात्मक तथा क्रियात्मक आलोचना-प्रणाली का जन्म तथा प्रचार हुआ। परन्तु यह ध्यान रहे कि इस आलोचना-प्रणाली में भी क्रियात्मकता के कुछ-न-कुछ अंश अवश्य प्रस्तुत हैं।

साधारणतया निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली ने साहित्य-निर्णय में वातावरण, युग-जीवन-समीक्षा इत्यादि पूर्ववर्ती सिद्धान्तों की मान्यता भी घटाई। कुछ पुराने आलोचकों ने वातावरण तथा युग-जीवन का आधार लेते हुए साहित्यालोचन की परम्परा चलाई थी; नवीन आलोचकों ने तर्क रूप मे विचार करते हुए यह प्रमाणित किया कि साहित्य कोई ऐतिहासिक प्रमाण-पत्र तो है नहीं जो वातावरण तथा युग-जीवन को महत्त्व दे। जब उसकी आनन्द-दायिनी शक्ति ही उसकी विशेषता है तो फिर वातावरण इत्यादि का लेखा रखने का क्या प्रयोजन ?

कुछ प्राचीन आलोचकों का यह विचार था कि साहित्य की प्रगति और उन्नति विकासात्मक सिद्धान्तो के ही अनुसार होगी, अर्थात् साहित्य की प्रगति धीरे-धीरे प्रत्येक काल में होती रहती है और क्रमशः उसका विकास भी होता रहता है। परन्तु नवीन आलोचकों ने यह नियम निर्धारित किया कि जब कला को आनन्ददायी होना है तो वह किसी भी युग में आनन्ददायिनी हो सकती है। जब कला प्रत्येक युग में निर्मित हो सकती है तो प्रत्येक युग में वह आनन्ददायिनी भी हो सकती है, फलतः वह सृष्टि के विकासात्मक सिद्धान्त से सम्बन्धित नहीं। हाँ, ज्ञान तथा विज्ञान की उन्नति क्रमशः होगी और उसका विकास विकासात्मक सिद्धान्त के आधार पर ही होगा। जहाँ किसी कलाकार का जन्म हुआ कि कला आविर्भूत हुई; वह श्रेष्ठ कलाकार के व्यक्तित्व पर निर्भर है; समय के विकास पर नहीं।

: ४ :

वैज्ञानिक आलोचना-प्रणाली

फ्रांसीसी साहित्य के कुछ प्रसिद्धि-प्राप्त आलोचकों ने साहित्य की हीनता तथा श्रेष्ठता का निर्णय करने के लिए कुछ ऐसे सिद्धान्त बनाए जिनकी महत्ता अब तक घट नहीं पाई। आधुनिक युग की वैज्ञानिक प्रगति

से प्रभावित होकर उन्होंने उसी के क्षेत्र के कुछ नियम अपनाए और आलोचना-धार निर्मित किये। विज्ञान-क्षेत्र मे वर्गीकरण, कार्य-कारण-सम्बन्ध-समीक्षा, तत्त्वो का विवेचन, पारस्परिक सम्बन्ध इत्यादि का आधार लेकर अनुसन्धान किया जा रहा था। उन्हीं आधारों को अनेक साहित्यिक आलोचकों[1] ने भी अपनाया। उन्होने भी साहित्य को वर्गों मे विभाजित किया, उनके कार्य-कारण के पारस्परिक सम्बन्ध का अनुसन्धान किया, शब्दो के धातु-रूप का निश्चय किया, और देश विशेष के सामाजिक तथा राजनीतिक एवं राष्ट्रीय जीवन को भूमिका-रूप में रखकर साहित्यिक कृति की जाँच आरम्भ की। उन्होंने मनोविज्ञान तथा मनस्तत्त्व-शास्त्र का सहारा लेकर कवि-हृदय को परखना चाहा। परन्तु इस वैज्ञानिक आलोचना-प्रणाली द्वारा साहित्य के मूल्यांकन में कितनी सहायता मिली यह प्रश्न विवादग्रस्त है। विज्ञान-क्षेत्र में यह सिद्धान्त तो किसी हद तक लागू हो सकते है परन्तु साहित्य-क्षेत्र अथवा दर्शन-क्षेत्र मे क्या ये नियम फलप्रद होगे? क्या सत्यं तथा सुन्दरं तक पहुँचने के निश्चित मार्गों का निर्देश किया जा सकेगा? और यदि कुछ मार्गों की ओर निर्देश किया भी गया तो क्या यह सम्भव है कि समय उसमें परिवर्तन न ले आएगा? क्या जो मार्ग हमारे युग ने निर्दिष्ट किये वही मार्ग आगामी युगो मे भी लोकप्रिय अथवा रुचिकर होंगे? इतिहासकार तो विशेष रूप से समय को ही श्रेष्ठ निर्णायक समझेंगे। समय तथा युग को ही वे प्रधानता देंगे और जो-कुछ समय ने न भुलाया अथवा जिस किसी की लोकप्रियता समय के हाथ का खिलौना न रही उसीको वे श्रेष्ठ समझेंगे।

प्रायः साहित्यिक आलोचना-क्षेत्र मे वैज्ञानिक आलोचना-प्रणाली का समुचित प्रयोग होने पर भी कोई विशेष लाभ नहीं होगा। पहले तो साहित्य के आलोचक से यह आशा रखना कि वह वैज्ञानिक के समान बने-बनाए नुसखे प्रस्तुत कर देगा और उन्ही के सहारे हम साहित्य के सभी रोगों का निदान (गुण-दोष) कर लेंगे, हमारी भूल होगी। श्रेष्ठ साहित्यकार तो वैज्ञानिक सिद्धान्तों को यों भी महत्त्व नहीं देते; वे उन्हे फलप्रद ही नही समझते। वे तो यह समझते हैं कि आलोचना तथा दर्शन-क्षेत्र में विचित्र साम्य है। हम पहले कह चुके हैं कि सत्यं, शिवं तथा सुन्दरम् के तीर्थ-यात्री के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह अपनी मंजिल तक पहुँच ही जाय; उसे तो वह मार्ग ही प्रिय है; उसी पर चलते रहने में ही वह जीवन की सफलता समझता है। उसी प्रकार आलोचना-क्षेत्र का पथिक भी अपने लक्ष्य की ओर चलता रहता

१. ब्रूनेतियर

है; ज्यों-ज्यों वह आगे चलता है त्यों-त्यों उसका लक्ष्य भी कदाचित् दूर होता जाता है। उसे उसकी सफलता अथवा विफलता विचलित ही नहीं करती। उसे उस मार्ग पर चलते रहने में ही आनन्द का अनुभव हुआ करता है। जिस प्रकार भिखारियों की टोली भीड़ में भिक्षा माँगते हुए बढ़ती जाती है और इस बात का लेखा नहीं रखती कि किसने क्या दिया और दिन-भर परिश्रम के बाद उनको कितनी सफलता मिली, उसी प्रकार श्रेष्ठ आलोचक भी सत्य तथा सुन्दर के अनुसन्धान में लगा रहता है। उसे अपनी सफलता अथवा विफलता का ध्यान ही नहीं आता।

वैज्ञानिक आलोचना-प्रणाली चाहे कितने भी सिद्धान्त क्यो न बना दे, साहित्यिक आलोचना-क्षेत्र में आलोचकों का स्वच्छन्द विचरण कम न होगा : इसी स्वच्छन्द विचरण में श्रेष्ठ आलोचक की आत्मा छिपी है। जब विज्ञान हमें सौन्दर्य का दर्शन नहीं करा सकता तो वैज्ञानिक आलोचना-प्रणाली हमें साहित्य के सौन्दर्य का कैसे परिचय दे सकेगी?

वैज्ञानिक आलोचना के अन्य आधार—आय

कुछ विचारकों की यह धारणा है कि किसी भी साहित्यिक कृति की लोकप्रियता ही उसकी श्रेष्ठता का प्रमाण होगी। यदि कोई साहित्यिक तीस वर्ष की अवस्था में अपनी रचनाओं द्वारा कोई निश्चित आय कर पाता है तो उसे चालीस वर्ष की अवस्था मे उससे ड्यौढ़ी आय कर लेनी चाहिए; और यदि नहीं तो या तो वह साहित्यिक प्रगति ही नहीं कर रहा अथवा उसकी कला हीन है। आर्थिक लाभ तथा सामाजिक मान-दान को अनेक व्यक्तियो ने आलोचना का श्रेष्ठ आधार मान लिया है और यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ये आधार अत्यन्त थोथे हैं और उनमें भी कुछ तत्त्व नहीं। इसका सरल प्रमाण यह है कि अनेक श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियाँ तथा दर्शन-सम्बन्धी पुस्तकें आजकल के व्यक्ति भूले से नहीं पढ़ते और इस सिद्धान्त के आधार पर तो उन्हें हीन ही प्रमाणित करना पड़ेगा। बहुत सी आधुनिक साहित्यिक कृतियाँ ऐसी भी हैं जो हम पढ़ते तो बहुत चाव से हैं, परन्तु यह भी जानते हैं कि वे दस वर्ष से अधिक जीवित न रह सकेंगी, चाहे लेखक को धन कितना ही क्यों न मिल जाय।

क्रमिक श्रेष्ठता

इसी भ्रममूलक सिद्धान्त को मानने वाले प्रायः यह प्रश्न छेड़ बैठते हैं कि दस या बारह साहित्यिकों की गणना उनकी श्रेष्ठता के क्रम के अनुसार हो सकती है। वे यह कह चलते हैं कि पाठकवर्ग उनकी श्रेष्ठता का अनुमान लगाकर

उन्हें प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी का साहित्यिक घोषित कर सकते हैं। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि इस प्रकार से श्रेष्ठता का निर्णय अत्यन्त दूषित होगा। पाठकों की रुचि तथा साहित्यकार के विशेष गुण के पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर यह कभी नहीं कहा जा सकता कि अमुक लेखक श्रेष्ठ है। हाँ, केवल यह कहा जा सकता है कि अमुक लेखक में अमुक गुण हैं और गुणो की श्रेष्ठता तथा हीनता का कौन निश्चय कर सका है? इसके साथ-साथ पाठको का रुचि वैभिन्य भी इस निर्णय में अत्यन्त बाधक होगा और अन्त में यही कहना पड़ेगा कि अमुक रुचि के पाठक को अमुक गुण वाला लेखक प्रिय है। साहित्यिक गुणो का क्रमागत लेखा, भ्रममूलक ही नहीं अत्यन्त विवादग्रस्त तथा तर्कहीन होगा।

युग का दिग्दर्शन

एक दूसरे वर्ग के आलोचकों का कथन है कि जो आधुनिक लेखक अपने समाज और समय, अपनी सभ्यता और संस्कृति, आधुनिक औद्योगिक उथल-पुथल का प्रतिबिम्ब अपनी रचनाओ में प्रस्तुत करेगा, श्रेष्ठ होगा। वही आधुनिक लेखक जो आजकल के समाज के प्रश्नों पर प्रकाश डाले और आजकल के जीवन को साहित्य में पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित करे, श्रेष्ठ तथा अमर होगा। इसके अर्थ यह हुए कि साहित्य का कार्य वही है जो इतिहास का कार्य है। इसमें सन्देह नही कि अनेक श्रेष्ठ लेखको ने अपने समय की समस्याओ तथा अपने समकालीन जीवन की बहुत यथार्थ तथा हृदयग्राही झाँकी अपनी रचनाओं में प्रस्तुत की और हमें उनकी रचनाओ द्वारा अनेक रूप से उस समय का ज्ञान प्राप्त हुआ और हमने उन्हीं के विवरणो द्वारा समय की गति जानी-पहचानी। परन्तु इसके यह अर्थ कदापि नहीं कि साहित्य का केवल यही लक्ष्य है कि वह अपने समय की ऐतिहासिक रूप-रेखा हमारे सम्मुख प्रस्तुत करे और इसी के आधार पर हम उसकी श्रेष्ठता का निर्णय करें। यह भ्रममूलक सिद्धान्त कुछ एकांगी दृष्टिकोण रखने वाले आलोचकों ने ही बनया और इनका कथन है कि यूनानी साहित्यकार होमर की रचनाएँ, मध्य-युग के श्रेष्ठ साहित्यकार दाँते की कृतियाँ तथा अन्य देशों के अनेक कलाविदों की रचनाएँ केवल इसीलिए श्रेष्ठ हैं कि उनके द्वारा हमें उनके युग का पूर्ण चित्र मिलता है।

इस वर्ग के आलोचक यह भूल जाते हैं कि साहित्यिक श्रेष्ठता का निर्णय समकालीन जीवन के यथार्थ चित्रण पर नहीं वरन् उन कृतियों की कल्पनात्मक श्रेष्ठता पर निर्भर रहता है। होमर तथा दाँते, कालिदास तथा तुलसीदास की कल्पना ही उनके अमरत्व का कारण है। परन्तु यह कहना कि

साहित्य केवल समाज का प्रतिरूप है और लेखक केवल अपने समाज तथा अपने जीवन की परिस्थितियों का दास होकर ही रचना करता है, भ्रामक होगा। प्रायः यह देखने में अधिक आया है कि श्रेष्ठ साहित्यकार, श्रेष्ठ गायक, श्रेष्ठ चित्रकार तथा श्रेष्ठ मूर्तिकार अपने जीवन की परिस्थितियों तथा अपने समाज के आग्रह से कहीं दूर रहकर अपनी कृतियों का निर्माण किया करते हैं। उन्होंने कभी तो भावी युग के मानव को ध्यान मे रखकर अपनी रचनाएँ कीं कभी स्वान्तःसुखाय ही अपने कार्य में लगे रहे। संसार के श्रेष्ठातिश्रेष्ठ लेखक तो सभी युगों में सर्वप्रिय रहे और उनकी श्रेष्ठता इसमें कदापि नहीं रही कि उन्होंने केवल अपने युग का चित्र प्रस्तुत किया। उनकी श्रेष्ठता, वास्तव मे, इसीमें रही कि उन्होंने अपने युग का ध्यान न रखकर युग-युगान्तर का ध्यान रखा और अक्सर उनके समकालीन लेखको अथवा समाज ने उस समय उनकी अवहेलना ही की। वे अपने युग तथा अपने समाज द्वारा लोकप्रिय न होकर कहीं बाद में जाकर सर्वप्रिय हुए।

इस सम्बन्ध में, साधारणतया इतनी बात मानी जा सकती है कि अनेक लेखको ने अपनी रचनाओं के लिए युग-चित्र के प्रदर्शन का ध्येय अपने सम्मुख रखा; परन्तु उनकी श्रेष्ठता का माप उनके द्वारा प्रदर्शित युग-चित्र के आधार पर न हो सकेगा। केवल साधारण प्रतिभा के कलाविदों ने ही अपनी रचनाओं को समय का प्रतिबिम्ब बनाया; केवल साधारण कोटि के कलाकारो ने ही अपने समाज को पूर्णतया प्रदर्शित करने का लक्ष्य अपने सम्मुख रखा। और यदि हमें पूर्णरूपेण समय की गति-विधि जाननी है, और किसी एक युग के जीवन का सम्यक् परिचय प्राप्त करना अभीष्ट है तो हमें उस युग में प्रकाशित अनेक छोटी-छोटी पुस्तकों को देखना होगा जिन्हे समय ने निकम्मी कहकर अलग डाल दिया है। अपूर्व प्रतिभा के कलाकार अपने देश-काल के सम्बन्ध से सदैव मुक्त रहे। उन्होंने अपने देश-काल का चित्र प्रस्तुत तो किया, परन्तु उनकी प्रदर्शन-कला तथा उनकी कल्पना इतनी उच्चकोटि की थी कि युग-चित्र युग-चित्र न होकर कलाकार के कल्पना-जगत् का चित्र हो गया। जिस प्रकार टकसालों मे कच्चे धातु के टुकड़े पर उसका मूल्य तथा किसी देशाधिपति की आकृति ठप्पे द्वारा अंकित कर दी जाती है और तभी उसका मूल्य लग पाता है। उसी प्रकार श्रेष्ठ कलाकार, अपनी प्रतिभा की छाप युग पर डालकर उस युग को महत्त्वपूर्ण बना देता है। युग तो एक साधन-मात्र रह जाता है; कलाकार की अपूर्व प्रतिभा ही मूल्यवान होती है। कच्चे धातु का टुकड़ा बिना ठप्पे के मूल्यहीन रहता है; प्रतिभाशाली व्यक्ति के व्यक्तित्व

की छाप के बिना युग प्राणहीन रहता है। वस्तुतः श्रेष्ठ कलाकारों का लक्ष्य अपने युग का समर्थन अथवा उसका प्रदर्शन नहीं रहा; उनका श्रेष्ठ गुण रहा है युग का विरोध तथा परिस्थितियों के प्रतिकूल घोर संघर्ष।

प्रायः वैज्ञानिक आलोचना-प्रणाली पिछले सौ वर्षों से प्रचलित है और पिछले पचहत्तर वर्षों से यह साहित्य-क्षेत्र में प्रयुक्त हो रही है। अंग्रेजी के एक[1] महान् इतिहासकार ने अपने इतिहास की भूमिका मे लिखा है—"मेरा उद्देश्य साहित्य का ऐसा इतिहास लिखने का है जिसमे मनोवैज्ञानिक सत्यो का आभास मिले।" और मनोवैज्ञानिक सत्यों से उनका तात्पर्य उन कार्य-कारण-सम्बन्धो का विश्लेषण था जो साहित्यिक इतिहास की रूप-रेखा बनाते हैं। लेखक ने इस महत्त्वपूर्ण आदर्श को अपने इतिहास मे प्रदर्शित न कर पाया हो परन्तु उनका आदर्श सराहनीय है, क्योंकि यही अंग्रेजी-साहित्य के प्रथम लेखक हैं जिनके सिद्धान्तो के फलस्वरूप साहित्य मे वैज्ञानिक प्रणाली की आलोचना का श्रीगणेश हुआ और उनकी पुस्तक में पहले-पहल इस प्रणाली की स्पष्ट छाप मिलती है। वैज्ञानिक आलोचना-प्रणाली ने साहित्य-कार और इतिहासकार दोनों को जीव-प्रगति-इतिहास के अन्तर्गत ही स्थान दिया है। डार्विन-सदृश विज्ञानवेत्ताओ ने अनेक प्रमाणो द्वारा यह सिद्धान्त निश्चित किया था कि प्रकृति स्वभावतः प्रगति करती आई है और पृथ्वी पर जितने भी जीव-जन्तु पाए जाते हैं उन सबकी प्राचीन अवस्था से लेकर आधुनिक काल तक किसी-न-किसी रूप मे प्रगति होती आई है अथवा यों कहिए कि सम्पूर्ण प्रकृति अपने प्राचीन आंशिक रूप से उत्तरोत्तर प्रगति कर रही है और करती जायगी और इसी प्रगति मे सभ्यता के स्तरो के समय-समय पर दर्शन होते रहेगे। साहित्यिक इतिहास को भी इसी प्रगति-सिद्धान्त के अन्तर्गत स्थान देने मे कुछ लाभ हुए और कुछ हानि। सबसे पहला लाभ तो यह हुआ कि ऐतिहासिक आलोचना-प्रणाली से इसका सम्बन्ध प्रगाढ होता गया और इन दोनो के सामंजस्य द्वारा अनेक साहित्यिक जटिलताएँ सुलझती गईं। ऐतिहासिक आलोचना-प्रणाली वातावरण तथा देश-काल का सम्पूर्ण लेखा सम्मुख रखकर आलोचना करने मे संलग्न होती है और वैज्ञा-निक प्रणाली भी वातावरण तथा प्रकृतस्थ नियमों की जाँच द्वारा जीव-प्रगति के सिद्धान्त निर्मित करेगी। अतः दोनो का आत्मिक सम्बन्ध स्पष्ट है। परन्तु इस लाभ के साथ-ही-साथ सबसे बडी हानि यह हुई कि साहित्यकार अथवा इतिहासकार वातावरण तथा देश काल की प्रवृत्तियो को स्पष्ट करने मे इतने

१. टेन

अधिक उलझ गए कि उनका दृष्टिकोण दूषित हो गया, उनका आलोचनात्मक निर्णय साहित्य का न होकर देश-काल का निर्णय हो गया और महत्त्व की वस्तु गौण होकर रह गई। वैज्ञानिक प्रणाली को अपनाने वाला आलोचक अथवा साहित्यकार साहित्य को गौण मानकर ही आगे बढ़ता है और फलतः अन्य सिद्धान्तों को, जो बाह्य रूप से साहित्य को प्रभावित करते रहे हैं, अधिक महत्त्व-पूर्ण समझ बैठता है। इस विषमता से विरले ही वैज्ञानिक-प्रणाली के अनु-यायी बचे हों। यह फिर भी दावे के साथ कहा जा सकता है कि इस प्रणाली ने भी साहित्य को विशेष रूप से प्रभावित किया है और यद्यपि इस प्रणाली की क्षमता पूर्णतया मानने में अनेक साहित्यकारों को संकोच होगा इसका प्रभाव महत्त्वपूर्ण ही रहा है। विज्ञान में चुम्बक की-सी शक्ति होती है और यदि वैज्ञानिक प्रणाली अनेक आलोचकों को अपनी ओर सहज ही आकृष्ट कर लेती है तो उसमें आश्चर्य ही क्या? परन्तु ध्यान में रखने वाली बात यह है कि जो भी साहित्यिक आलोचना-प्रणाली विज्ञान का सहारा ढूँढेगी धीरे-धीरे अपनी महत्ता खो देगी और विज्ञान के चक्र-व्यूह मे पड़कर अपना अस्तित्व मिटाती चलेगी। आजकल ऐतिहासिक प्रणाली का अनुसरण करने वाला प्रत्येक आलोचक वैज्ञानिक प्रणाली के दोषपूर्ण सिद्धान्तो से परिचित तो है परन्तु उसे ऐतिहासिक प्रणाली के भी कुछ अवाञ्छनीय सिद्धान्तों से सतर्क रहना चाहिए। केवल वातावरण और देश-काल ही साहित्य का मूल आधार नहीं। कलाकार और साहित्यकार की दृष्टि यदि केवल वातावरण और देश-काल में केन्द्रित अथवा उसीसे मर्यादित रहती तो साहित्य अथवा कला की लोकप्रियता अनेक युगों में समान-रूप न रह पाती। कलाकार तो भूत और भविष्य दोनों को अपनी मुट्ठी में रखता है; उसे वातावरण अथवा देश-काल द्वारा मर्यादित कर देना साहित्य रूपी पक्षी को पंखविहीन करना है। ज्यों ही आलोचक साहित्य अथवा कला को केवल वातावरण और देश-काल का खिलौना-मात्र मान लेगा उसका पथभ्रष्ट होना अनिवार्य-सा हो जायगा।

कुछ आलोचक ऐतिहासिक आलोचना-प्रणाली की न्यूनता को भली भाँति समझकर उसके एकांगी दृष्टिकोण से सतर्क रहे और इस विरोध का श्रेय फ्रांसीसी आलोचकों को ही अधिक मिलना चाहिए। इन फ्रांसीसी आलो-चकों ने यह प्रश्न उठाया कि जब प्रकृति के सभी अंगो में प्रगति के प्रमाण मिलते हैं और यह सिद्धान्त मान्य है तो साहित्य भी इन सिद्धान्तों का सहारा क्यों न ले? डार्विन द्वारा प्रमाणित प्रकृति के प्रगति-सिद्धान्त क्या आलोचक साहित्य में प्रयुक्त नहीं कर सकते, इस प्रश्न पर मतभेद है। ऐतिहासिक

प्रणाली के विरोधी दल में उन्हीं आलोचकों की गणना है, जो डार्विन द्वारा प्रभावित सिद्धान्तों के पूर्ण ज्ञाता होने का अधिकार रखते हैं। समर्थकों मे केवल कुछ फ्रांसीसी आलोचक, विशेषकर ब्रुनेतियर उल्लेखनीय हैं। उन्होने वैज्ञानिक स्वप्रगतिवाद को आलोचना-क्षेत्र मे विशेष रूप में प्रयुक्त करके यह सिद्धान्त निश्चित किया कि साहित्य में पुस्तकों का प्रभाव एक-दूसरे पर अवश्य ही पडता है। पहले की प्रकाशित पुस्तक उत्तरोत्तर प्रकाशित होने वाली पुस्तको को अव्यक्त रूप में प्रभावित करती चली जाती है। इसी सिद्धान्त की नींव पर उन्होंने यह साहित्यिक निर्णय प्रस्तुत किया कि पुस्तको का क्षेत्र भी एक संगठित जन-समुदाय के समान है और उसका विभाजन भी विभिन्न वर्गों में होता जाता है जो एक-दूसरे के अन्तर्गत होते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि तुलसीदास अथवा शेक्सपियर की रचनाओ का वर्गीकरण हो तो हमें तुलसी महाकाव्य-लेखक और शेक्सपियर नाटककार के रूप में दिखलाई देंगे और इस तथ्य को जानने के पश्चात् हमें महाकाव्य-परम्परा तथा नाट्य-परम्परा पर अन्वेषण करना पड़ेगा। उनका विचार था कि किसी एक प्रकार का साहित्य जब अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है तो उसके बाद उसका पतन होने लगता है। उदाहरणार्थ तुलसी के महाकाव्य में आध्यात्मिक, साहित्यिक, राष्ट्रीय तथा सामाजिक तत्वों के प्रदर्शन की इतनी पराकाष्ठा पहुँची कि उनके पश्चात् किसी ने उस टक्कर का महाकाव्य लिखने का साहस ही नहीं किया और उत्तरोत्तर उस वर्ग के साहित्य में हीनता आती गई, इसी प्रकार शेक्सपियर के दुःखान्तकी[1] और सुखान्तकी इस उच्चकोटि के लिखे गए कि उनके पश्चात् उस कोटि के नाटक लिखे ही नहीं गए और जो लिखे भी गए उनमें किंचित् मात्र भी शेक्सपियर की कला दृष्टिगत न हुई। निष्कर्ष यह निकला कि आलोचक को लेखक ही नही वरन् साहित्य के एक वर्ग-विशेष पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करके उस वर्ग का प्राचीन, आधुनिक तथा भावी इतिहास लिखना चाहिए। यदि आलोचक गीतकाव्य, सुखान्तकी अथवा दुःखान्तकी, किसी भी वर्ग का अध्ययन आरम्भ करता है तो उसे उसका आदि रूप तथा वर्तमान रूप तथा वर्तमान रूप का पूरा ऐतिहासिक ब्यौरा देना चाहिए और इसी ब्यौरे मे ही उस साहित्यिक वर्ग की महत्ता है। इसमे सन्देह नहीं कि इस प्रकार के एक वर्गीय अध्ययन द्वारा यह सिद्धान्त मान्य हो जाता है कि स्वप्रगतीय (सेल्फ इवोल्यूश्नरी) वैज्ञानिक-प्रणाली में विशेष तथ्य है। अमरीका मे आजकल इस प्रकार की आलोचना बहुत प्रचलित है और लेखक-वर्ग एकवर्गीय अध्ययन में बड़ी

१. देखिए—'नाटक की परख'

क्षमता दिखला रहे हैं। वे साहित्य का एक वर्ग चुनकर उसका व्यापक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं और उसी वर्ग का लेखा आदि से अन्त तक देकर, उसी वर्ग की उन्नति के साधनों तथा अवनति के कारणों की ओर निर्देश करते हैं। इन अमरीकी लेखकों ने महाकाव्य, व्यंग्य काव्य, गीत-काव्य, लेख-साहित्य, सभी का एकवर्गीय अध्ययन प्रस्तुत किया है।

परन्तु यह आलोचना-प्रणाली जहाँ इतनी लाभदायक और उपयोगी सिद्ध होती है वहाँ अपनी न्यूनता भी प्रकट करती है। यह प्रणाली इस कारण बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है कि आलोचक अपने निर्दिष्ट क्षेत्र से न तो विलग होता है और न विमुख; और आदि से अन्त तक अपने निर्दिष्ट पथ पर चलता रहता है। परन्तु इस प्रणाली की सबसे बड़ी कमी यह है कि आलोचक अपने एकवर्गीय अध्ययन द्वारा यह प्रमाणित करने की चेष्टा किया करता है कि साहित्य कोई व्यापक अथवा सुसंगठित वस्तु न होकर विच्छिन्न रूप में प्रस्तुत रहता है और उसके किसी एक वर्ग का दूसरे के साथ अटूट सम्बन्ध नहीं। प्रमाण की आवश्यकता नहीं कि साहित्य एक व्यापक वस्तु है—उसके प्रत्येक वर्ग में चोली-दामन का सम्बन्ध है और किसी एक वर्ग को सम्पूर्ण साहित्य से अलग-विलग करके अध्ययन करने में फिर वही एकांगी दोष आने का भय है। इसके साथ-ही-साथ इस एकवर्गीय अध्ययन द्वारा हम लेखक को अत्यन्त गौण स्थान देने का साहस करने लगेंगे और बाह्य आवरण को मूल रूप-तत्त्व से अधिक महत्त्वपूर्ण समझेंगे। महाकाव्य हमारे लिए किसी युग-विशेष की सामाजिक तथा नैतिक व्यवस्था का प्रतिरूप न होकर केवल एक बाह्य-रूपी वस्तु होकर रह जायगा; हम उसकी आत्मा को हृदयंगम न कर पाएँगे, उसके बाह्य उपकरणों में ही उलझे रहेंगे। मूल तत्त्व तो हमारे हाथ से निकल जायँगे और बाह्य रूप को ही हम भ्रामक रूप में महत्त्वपूर्ण समझ बैठेंगे।

इस आलोचना-प्रणाली में थोड़ा-बहुत परिवर्तन करके कुछ-एक आलोचकों ने कहीं-कहीं नवीन दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया, जिनके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आलोचक को यह समझना चाहिए कि काव्य कल्पना से प्रादुर्भूत है और वह एक ही कवि का कार्य न होकर समस्त देश और उसके निवासियों की आत्मा का दिग्दर्शन कराता है। अतएव आलोचक में कल्पनाजनित साहित्यिक धाराओं को परखने की क्षमता होनी चाहिए, क्योंकि साहित्यिक धाराएँ पहले-पहल छोटी तथा गतिहीन लहरियों के रूप में प्रकट होती हैं तत्पश्चात् वेगवती होती हुई धीरे-धीरे निष्प्राण होकर समय के भँवर में विलीन होकर अन्य नवीन धाराओं को जन्म देती हैं। इस सिद्धान्त के अनु-

सार काव्य, समाज, राजनीति तथा राष्ट्रीय जीवन से सम्बन्धित होगा। इस आलोचनात्मक निर्णय से इतना लाभ तो अवश्य हुआ कि कवि का तथा कलाकार का व्यक्तित्व आलोचक के सम्मुख प्रस्तुत रहा और साहित्य की व्यापकता का भी आभास मिलता रहा। जिन-जिन साधनों द्वारा राजनीतिक इतिहासवेत्ता अपने ध्येय की पूर्ति करते हैं उन्हीं-उन्हीं साधनों को आलोचक भी अपनाता है, दोनों में ध्येय और साधनों में घनिष्ठ सम्बन्ध विदित है।

: ५ :

तुलनात्मक ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली

आधुनिक आलोचकों ने उपरोक्त आलोचना-सिद्धान्तों की न्यूनता को समझकर एक अन्य प्रकार की तुलनात्मक-ऐतिहासिक-आलोचना-प्रणाली की नींव डाली और उसकी व्यापकता की प्रशंसा की। आलोचकों ने विज्ञान-क्षेत्र से शब्द लेकर इसका नामकरण किया है। यों तो आलोचना सदैव तुलनात्मक ही होती है परन्तु इस नये वर्ग के आलोचकों ने शरीर-शास्त्र, लोक-गाथा, भाषा-विज्ञान तथा शब्द-व्युत्पत्ति-शास्त्र से इसका सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की है। इसका प्रमुख उद्देश्य साहित्यिक प्रभावों का अनुसन्धान है; और इस सिद्धान्त के अन्तर्गत आलोचक साहित्य तथा उसकी अनेक शैलियों पर किसी एक लेखक का व्यापक प्रभाव स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। उदाहरणार्थ इस वर्ग के आलोचक को महाकाव्य परम्परा पर तुलसीदास का, गीत-काव्य-परम्परा पर जयदेव का, आधुनिक नाट्य-परम्परा पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का प्रभाव हृदयंगम करना अपेक्षित होगा। इस वर्ग के आलोचकों का, विशेषतः फ्रांस मे, बोलबाला है और यद्यपि इसको स्थायित्व पाए बहुत दिन नहीं हुए, इस वर्ग ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। परन्तु महत्त्वपूर्ण होते हुए भी इसमे कुछ-न-कुछ त्रुटि रह ही गई है क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार आलोचक जब साहित्य में पारस्परिक प्रभावों का अनुसन्धान करेगा तो वह मूल-ग्रन्थ को गौण मानकर केवल प्रभाव डालने वाली पुस्तक अथवा परम्परा को प्रधान मान बैठेगा। उसको सहज रूप में ध्यान नहीं रहता कि जब वह केवल,यथावत प्रभावों का माप ले रहा है तो उसकी दृष्टि के सम्मुख साहित्य के कुछ बाह्य अथवा गौण तत्त्व ही आएँगे। जब इस वर्ग का आलोचक किसी कहानी-लेखक अथवा नाटककार अथवा कवि की कविता को इस कसौटी पर कसेगा तो उसका ध्यान कहानी लिखने वाले की कथा-वस्तु, नाटककार के पात्र-सामंजस्य और कवि के छन्द अथवा कुछ वाक्यांश अथवा शब्द ही तक परिमित रह जायगा और उसे साहित्य की व्यापकता का लेश-मात्र भी

ध्यान न आ पाएगा। वास्तव में, इस प्रणाली का नामकरण ही भ्रममूलक रूप में हुआ है। इसका नाम तुलनात्मक आलोचना-प्रणाली न होकर व्युत्पत्यात्मक आलोचना-प्रणाली ही होना चाहिए क्योंकि इस सिद्धान्त को मानने वाला आलोचक व्युत्पत्ति पर ही अधिक ध्यान देता है और साहित्य के दूसरे अंगों को महत्त्वपूर्ण नहीं समझता। ये आलोचक सैद्धान्तिक रूप से यह मान लेते हैं कि समस्त यूरोप मानसिक तथा आध्यात्मिक रूप से समन्वित है और उसकी समस्त कार्य-प्रणाली विभिन्न होते हुए भी समान उद्देश्य की ओर लक्ष्य करती है। इसी उद्देश्य की पूर्ति में आलोचक, अन्तर्राष्ट्रीय अथवा अन्तरदेशीय प्रभावों का माप लगाते हैं और क्रम से एक के बाद दूसरे देश के प्रभाव का लेखा प्रस्तुत करते हैं। जब आलोचक इस सिद्धान्त के अनुसार आलोचना करने बैठते हैं तो यह भूल जाते हैं कि सम्भवतः अनेक देशों में कुछ समानता नैसर्गिक रूप में रहती है और यह सही नहीं कि दूसरे देशों के प्रभाव-स्वरूप ही उनमें वे विशेषताएँ प्रकट हुईं। किसी भी देश में, अनेक साहित्यिक धाराएँ बिना दूसरे देशों से प्रभावित हुए, प्रवाहित हो सकती हैं और वे स्वतन्त्र रूप से प्रकट होती हैं, वेगवती होती हैं तथा पराकाष्ठा पर पहुँचते ही गतिहीन तथा निष्प्राण हो जाती हैं। यह कदापि आवश्यक नहीं कि सभी साहित्यिक धाराएँ एक-दूसरे का आभार मानें और नैसर्गिक रूप में सम्बन्धित भी हों। उनकी स्थिति स्वतन्त्र रूप में भी रह सकती है। यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि पारस्परिक प्रभावों के प्रकाश अथवा अन्वेषण में ही आलोचना की सफलता नहीं है। तुलनात्मक आलोचना-सिद्धान्त के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह केवल पारस्परिक प्रभावों को मूल-तत्त्व मानकर अपने लक्ष्य की पूर्ति करे।

उपरोक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट ही है कि साहित्यकार अनेक आलोचना-प्रणालियों का अनुसन्धान कर आलोचना की सहज एवं नैसर्गिक प्रवृत्तियों को समझने का जी-तोड़ परिश्रम कर रहे हैं; परन्तु कुछ ऐसे भी तत्त्व हैं जो अब तक उनके हाथ नहीं आ सके हैं। यही कारण है कि आलोचक का कार्य और भी कठिन और जटिल होता जा रहा है। उसके ऊपर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व रखा हुआ है; उसे एक राष्ट्र का ही नहीं वरन् अन्य राष्ट्रों के जीवन और साहित्य का भी समुचित ज्ञान होना चाहिए; उसमें अन्तर्राष्ट्रीय प्रभावों और पारस्परिक सम्बन्धों को समझने की यथेष्ट क्षमता होनी चाहिए; उसे राष्ट्रीय जीवन से प्रसारित राजनीतिक तथा सामाजिक नीति-रीति का अनुभव होना चाहिए और उसे विज्ञान और जीव-शास्त्र, भाषा-विज्ञान तथा

शब्द-व्युत्पत्ति-शास्त्र में पारंगत होना चाहिए। बिना इस व्यापक ज्ञान के आलोचक अपने ध्येय की पूर्ति सफलतापूर्वक न कर सकेगा।

इसके साथ-ही-साथ यह ध्यान में रखना उचित है कि चाहे आलोचक साहित्य को सामाजिक व्यवस्था का क्रियात्मक रूप समझे, अथवा उसे राष्ट्रीय कल्पना द्वारा आविर्भूत माने, अथवा उसे राष्ट्र के निवासियों का मानसिक विश्लेषण समझे, अथवा उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्थिर करे, अथवा उसे पारस्परिक सम्बन्धों का स्पष्टीकरण माने, उसे यह कदापि न भूलना चाहिए कि ऐतिहासिक आलोचना-प्रणाली का मूल सिद्धान्त वर्णन तथा विवेचन की विशिष्ट तत्परता ही रहेगा। विज्ञान के सिद्धान्त न तो किसी की प्रशंसा करते हैं और न भर्त्सना; वे न तो किसी को श्रेष्ठ समझते हैं और न हीन। उनका मुख्य उद्देश्य वर्णन और विवेचन ही रहता है; और इस वर्णन और विवेचन के अन्तर्गत यह आवश्यक नहीं कि वे सब विषयों पर अनुमति अथवा अपना विरोध प्रकट करें। न्यायाधीश के समान न्याय करना और अपना निर्णय प्रस्तुत कर देना विज्ञानवेत्ता का कार्य नहीं; वह तो केवल विवेचन और विश्लेषण कर उसके धागे-धागे अलग करता है। उसी प्रकार आलोचक का भी प्रधान कार्य निर्णयात्मक नहीं। यह सिद्धान्त मान्य है कि आलोचक को अपना निर्णय देने का अधिकार तो है परन्तु यह उसका कर्तव्य नहीं। अपने साहित्यिक कार्य के अन्तर्गत आलोचक कभी-कभी देखेगा कि उसकी दृष्टि कहीं अधिक व्यापक होती जा रही है और साहित्य के परे भी कभी-कभी चली जा रही है। अपनी आलोचना-व्यवस्था के निर्माण में कभी-कभी वह साहित्य को उदाहरण-रूप ही में रखेगा और कभी-कभी अपने सिद्धान्तों मे सामंजस्य ढूँढने के उद्देश्य से साहित्य को वह कुछ काल तक गौण स्थान ही देगा। जब कोई आलोचक साहित्य का विवेचन देते हुए समाज और दर्शन के सिद्धान्तो की ओर अग्रसर होने लगता है तो यह स्पष्ट है कि उसकी दृष्टि व्यापक हो रही है और केवल काव्य अथवा साहित्य के किसी अंग पर ही उसकी दृष्टि केन्द्रित नहीं वरन् जीवन के अन्य उपकरणों में भी उसकी रुचि है। साहित्यिक आलोचना-क्षेत्र में लेखक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व और उसके विवेचन की समस्या ऐतिहासिक प्रणाली के आलोचकों के लिए सदैव जटिल रही है।

: ६ :

जीवन-वृत्तान्तीय आलोचना-प्रणाली

लेखक के व्यक्तित्व को ध्यान मे रखते हुए भी एक नवीन आलोचना-प्रणाली का जन्म हुआ है और वह है जीवन-वृत्तान्तीय आलोचना-प्रणाली। यदि

ऐतिहासिक रूप में देखा जाय तो यह जीवन-वृत्तान्तीय आलोचना-प्रणाली अंग्रेज़ी साहित्य में अठारहवीं शती में प्रचलित हुई और अंग्रेज़ी भाषा के एक महत्त्वपूर्ण कवि और लेखक[1] द्वारा इसे प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। कवियों के जीवन-चरित्र लिखने के सम्बन्ध में ही इस प्रणाली का प्रचार आरम्भ हुआ। इस सिद्धान्त के अनुयायियों का मुख्य ध्येय समय की अन्तरात्मा को परखकर, उसे वातावरण रूप में रखते हुए कलाकारों की कला का माप लगाना था। वास्तव में इस प्रणाली का उद्देश्य भी लेखक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का माप लगाना था और आलोचक चाहे इसे स्पष्ट रूप से मानते न आए हों उनकी विरचित आलोचना में कलाकार के व्यक्तित्व को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। ऐतिहासिक आलोचना-प्रणाली की न्यूनताओं ने ही इस प्रणाली को प्रोत्साहन दिया, क्योंकि ऐतिहासिक प्रणाली का अनुसरण करने वाले युग-विशेष और उसके वातावरण का विवेचन तो सन्तोषप्रद रूप में दे सकते थे, परन्तु वे कलाकारों की निजी विशेषता अथवा उत्कृष्टता का दिग्दर्शन नहीं करा पाते थे। यह तो केवल वही आलोचना-प्रणाली कर सकती थी जो कलाकार के निजी जीवन को व्यक्त करती, उसका सम्बन्ध उसकी कला से स्थापित करती और उसके व्यक्तित्व को भूलने न देती। कलाकारों की कला-पूर्ण रचनाएँ तो एक प्रकार से प्रामाणिक तत्त्व-रूप हैं जिनकी सहायता से हम उनकी कलात्मकता का उद्गम और उसकी प्रगति की जांच कर सकते हैं। प्रायः हम कवि के जीवन और उसकी रचनाओं में सामंजस्य नहीं बैठा पाते; कभी-कभी कलाकार ने जो-जो विभिन्न समय पर लिखा-लिखाया उसको समन्वित नहीं कर पाते। उदाहरणार्थ जब तक हम तुलसीदास के सम्पूर्ण जीवन से परिचित न हों हम कवितावली, दोहावली, बरवै रामायण तथा राम लला नहछू में सामञ्जस्य नहीं देख पाएँगे; वैसे ही जब तक हम 'प्रसाद' के वास्तविक जीवन तथा उनकी अध्ययन शैली से परिचित न हों उनके बौद्ध-कालीन नाटकों, उनकी काव्यपूर्ण कहानियों तथा भावुक कविताओं मे समन्वय नहीं स्थापित कर सकेंगे। यह तो निजी प्रकार का आलोचनात्मक ज्ञान ही सफलतापूर्वक कर सकता है। ऐसी आलोचना यह सिद्ध कर दिखाएगी कि जो बाह्य विषमता अथवा द्वन्द्व कलाकार की रचनाओं में है वह वास्तव मे विषमता नहीं; वह तो कवि के विभिन्न अनुभवों, अध्ययन तथा परिवर्तनपूर्ण दृष्टिकोण के ही कारण प्रस्तुत है। यह आलोचना-प्रणाली कला तथा कला-कार की वैषम्यपूर्ण ग्रन्थियों को सुलझाती है और प्रमाणित कर देती है कि

१. जॉन ड्राइडेन

वैषम्य की भावना भ्रामक है और आलोचक को अपने अनुभव तथा ज्ञान की कमी के कारण ही यह विषमता दिखाई पड़ रही है। यह आलोचना-प्रणाली इस रूप में कही अधिक इसलिए श्रेष्ठ है कि यह कलाकार को हमारे सम्मुख ला खड़ा करती है और हमें उसका चरित्र परखने और उससे मैत्री स्थापित कर उसे पूर्णतया समझने का आदेश देती है। यह प्रणाली कलाकार और पाठक मे एक आत्मिक सम्बन्ध स्थापित कर हमें उसके अत्यन्त निकट ले आती है और सहज रूप में कलाकार के हृदय की धड़कन को गिनने और उसके सुनने का आदेश देती है। सम्भव है कि कलाकार को बहुत पास से देखने पर उस पर अश्रद्धा हो, अथवा घृणा हो, परन्तु हम विश्वस्त रूप मे यह जान लेंगे कि कलाकार से किस प्रकार की रचनाओ की आशा की जानी चाहिए और उसमे किस प्रकार के साहित्य-सृजन की क्षमता है। इस तथ्य को जानने के उपरान्त हमारा विवेचन कहीं सुलझा और सुधरा हुआ होगा और जब-जब और जहाँ-जहाँ हमे वैषम्य दिखाई देगा हम इस प्रणाली द्वारा कलाकार के हृदय के निकट पहुँचकर वास्तविक तथ्य जानकर सन्तोष पा जायँगे।

इस आलोचना-प्रणाली में एक और विशेषता है। कलाकार से साम्य प्रस्तुत करने के पश्चात् यह प्रामाणिक रूप से सिद्ध हो जायगा कि कलाकार और उसकी रचनाएँ दो विभिन्न वस्तुएँ नहीं; और दोनों एक-दूसरे से अलग-विलग नहीं की जा सकतीं। इस प्रणाली का यह विश्वास-सा है कि जो कुछ भी कलाकार लिखता है उसका मूल-स्रोत कहीं-न-कहीं उसके विचारो, भावनाओं, अनुभवो अथवा कल्पना में छिपा रहता है और हम सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन द्वारा उस मूल स्रोत को पहिचान सकते हैं जिससे अनेक साहित्यिक जटिलताएँ सुलझ जायँगी। कलाकार के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह अपनी निजी बात अपने मुख से कहे और अधिकतर कलाकार यह कहना भी नहीं चाहते और यदि कहना भी चाहते हैं तो यह आदेश दे जाते हैं कि उनकी जीवन-कथा उनकी मृत्यु के पश्चात् ही प्रकाशित हो। यों भी जिन कलाकारो के संस्मरण छपते हैं उनमें हमारी आंखें वे ही बातें ढूँढती रहती हैं जो कलाकार ने छिपा रखना चाहा था। जो उसके लिए गोपनीय था हमारे लिए रुचिकर होने लगता है और यह मानव-प्रकृति भी है। परन्तु इसमे सन्देह नहीं कि ये संस्मरणात्मक रचनाएँ कलाकार को ठीक से समझने मे बहुत उपयोगी सिद्ध हुईं। इनके उपयोग से जो कुछ भी लेखक अथवा कलाकार ने अपनी कला के आवरण में छिपाना चाहा अथवा जिसका संकेतमात्र ही देना चाहा हम स्पष्टतया जान लेंगे। इस प्रणाली को ऐसे लेखक अथवा आलोचक जिनकी रुचि

साधारण मानव के चरित्र, ज्ञान अथवा विश्लेषण में श्रेष्ठ नहीं समझते और यह ठीक भी है। परन्तु यह कहना भी ठीक है कि यह प्रणाली ऐसे आलोचकों को बहुत रुचिकर रही है जिनमें कलात्मक ज्ञान और कलाप्रियता विशेष रूप में प्रस्तुत है। इस प्रणाली की मर्यादा आज तक नहीं घटी।

: ७ :

नैसर्गिक आलोचना-प्रणाली

उपरोक्त आलोचना-प्रणालियों के अतिरिक्त जो आलोचना-प्रणाली साधारणतया प्रचलित है और जिसका नामकरण नहीं हुआ वह बहुत सहज और सरल है। परन्तु उसकी उत्कृष्टता आलोचक की प्रतिभा पर निर्भर रहेगी। यह प्रणाली कलाकार की रचना को उसके अन्य सम्बन्धो से अलग करके परखती है; वह न तो कलाकार के व्यक्तित्व को देखती है, न वातावरण और न देश काल को। किसी भी रचना को वह केवल काव्य-रूप में देखती है और बिना किसी अन्य वस्तु से उसका सामंजस्य बैठाए विवेचन करती है। इस प्रणाली के अनुसार आलोचक न तो कलाकार की विशेषताओं का दिग्दर्शन कराता है और न उसकी व्यंजना-प्रणाली पर अपने विचार प्रकट करता है। यदि कलाकार की कोई रचना श्रेष्ठ है, कला की पराकाष्ठा उसमे विदित है तो हमें यह पूछने का अधिकार ही क्या कि उसने किस समय वह रचना की और उस पर किस-किस का प्रभाव विदित है। यदि हम किसी लेखक के निजी जीवन से परिचित हैं तो इस बाह्य अथवा आन्तरिक ज्ञान को हमें उसकी कलापूर्ण रचना की परख में नहीं प्रयुक्त करना चाहिए क्योंकि हमें उसकी रचना से काम है अन्य उपकरणों से क्या लाभ ? इस प्रकार की आलोचना-प्रणाली हम अपने नित्य-प्रति के जीवन में प्रयुक्त करते हैं। यदि हमें कोई वस्तु रुचिकर होती है तो हम उसकी प्रशंसा करते हैं, यदि अरुचिकर होती है तो उससे विमुख हो जाते हैं; व्यापारी से उसका सम्बन्ध हम नहीं स्थापित करते; यदि करते हैं तो अपने आप से। यही हमारी नैसर्गिक प्रवृत्ति है; अन्य सम्बन्धो का विश्लेषण तो एक कृत्रिम कार्य है। यही प्रवृत्ति आलोचना की भी होनी चाहिए। ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक प्रणालियों का प्रचलन पिछले दो सौ वर्षो से होता आया है और आधुनिक काल में उनकी महत्ता बहुत बढ़ी-चढ़ी है। परन्तु यह असंदिग्ध है कि उपरोक्त प्रणाली सबसे प्राचीन तथा सबसे अधिक स्वाभाविक है; और जब हमारी निजी रुचि ही निर्णायक बन जाती है तो उसमें आकर्षक विभिन्नता भी आ जायगी।

: ८ :

रीति आलोचना-प्रणाली

कुछ साहित्यकारों ने आलोचना के दो विशेष आधार निर्मित किये हैं—पहला है रचना का बाह्य रूप और दूसरा उसका आन्तरिक तत्त्व। साधारणतया यह देखा गया है कि आलोचक विशेषतः बाह्य रूप में उलझ जाते हैं और आन्तरिक रूप को भुला देते है। इस काल में जब आलोचना-प्रणालियाँ अपनी प्रायोगिक अवस्था में हैं और परिपक्व कोई भी नहीं तो रचना केवल बाह्य रूप पर दृष्टि केन्द्रित करने में कहीं-न-कहीं अत्युक्ति दोष आ जायगा। ज्यों-ज्यों आलोचना परिपक्वता पर पहुंचने लगती है और उसके सम्मुख आलोच्य सामग्री प्रचुर मात्रा मे होती है त्यों-त्यों आलोचक की दृष्टि आन्तरिक तत्त्वों पर पड़ती जाती है और अपनी परिष्कृत अवस्था में आन्तरिक तत्त्वों को ही प्रधान मानने लगती है और बाह्य उपकरणों को गौण; और अन्त में इसका स्पष्ट ध्येय रचना का रूप-रंग, आकार-प्रकार तथा उसकी आत्मा का परिचय देना रह जाता है। आलोचक रचना की अन्तरात्मा तथा उसका भाव-विन्यास और उसमे प्रदर्शित दृष्टिकोण तथा चेतना का विवेचन देता है। संक्षेप मे यों कहिए कि वह रचना को दुभाषिये के रूप में स्पष्ट करता है और उसका अनुभव तीव्र रूप में कराता है। इस आलोचक-वर्ग का यह कहना है कि यदि कोई भी कलापूर्ण रचना केवल कलाकार द्वारा ही प्रशंसित होती है तो वह अवश्य ही त्रुटिपूर्ण है क्योकि कलापूर्ण रचना तो वही है जो सबको समान रूप से आकर्षित करे। कला के रूप और उसकी अन्तरात्मा में प्रगाढ़ सम्बन्ध है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि रूप गौण है, अन्तरात्मा प्रधान, क्योंकि रूप और आत्मा मे वही सम्बन्ध है जो मनुष्य के रूप और उसकी आत्मा मे है; और यह कहना असंगत होगा कि रूप मुख्य है आत्मा गौण। इसी वैषम्य के कारण यह प्रणाली सर्वप्रिय नही।

: ९ :

मनोवैज्ञानिक आलोचना-प्रणाली

मनोवैज्ञानिक आलोचना-प्रणाली ने भी, जो पिछले चालीस वर्षों से ही लोकप्रिय हुई, साहित्य-सम्बन्धी अनेक नवीन प्रश्न प्रस्तुत कर दिये हैं। मनोविज्ञानज्ञों ने इस शैली का प्रयोग केवल दो विशेषताओं के फलस्वरूप किया। इसका प्रमुख उद्देश्य इस बात का अनुसन्धान था कि अमुक कविता किस प्रकार से हमारी इन्द्रियों को प्रभावित करती है और रचना तथा उसके रचयिता मे कैसा और कितना गहरा सम्बन्ध है। इसका

प्रयोग पहले-पहल अंग्रेजी साहित्य में अठारहवीं शती पूर्वार्द्ध एक गद्य लेखक [1] द्वारा हुआ और उन्होंने यह प्रणाली महान दर्शनवेत्ता लॉक की रचना [2] पढ़कर बनाई।

मनुष्य में देखने की शक्ति सबसे शक्तिपूर्ण तथा महत्त्वपूर्ण शक्ति है। हमारी अनेक इन्द्रियों में आँखों की महत्ता भी कदाचित् सबसे अधिक होगी। इस दृष्टि के द्वारा हमें अनेकानेक आनन्द प्राप्त होते हैं। अपनी दृष्टि जब हम किसी वस्तु पर लगा देते हैं तो उसका जो आनन्द हमें प्राप्त होता है अकथ-नीय है, क्योंकि जब वह वस्तु हमारे सम्मुख प्रस्तुत नहीं भी रहती तब भी हम उसका आनन्द उठाने में समर्थ हो सकते हैं। पर यह तब होगा जब हम अपनी कल्पना द्वारा उस वस्तु की आकृति अपने मानस-पटल पर खींच ले। चित्र अथवा मूर्ति जब तक हमारे चर्म-चक्षुओं के सम्मुख रहती है आनन्द देती रहती है, परन्तु उसके हट जाने पर भी अपनी कल्पना द्वारा हम उसका निर्माण सहज ही कर लेते हैं और हमारा आनन्द घटने नहीं पाता। पहले वर्ग के आनन्द को हम प्राथमिक और दूसरी श्रेणी के आनन्द को गौण आनन्द का नाम दे सकते हैं। परन्तु जब हम दृश्य अथवा श्रव्य काव्य पर विचार करते हैं तो एक विचित्र सत्य दृष्टिगत होता है। कुछ पाठक तो सहज ही बिना किसी कठिनाई के उसे हृदयंगम कर उसका सम्पूर्ण आनन्द उठा लेते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जो भाषा पर पूरा अधिकार रखते हुए भी उसकी प्राप्ति नहीं कर पाते और यदि करते भी हैं तो वह अनुभव कभी-कभी अधूरा ही रहता है। इसके साथ-साथ यह भी देखा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति का आनन्द एक-दूसरे से कुछ विभिन्न अवश्य रहता है। इसका कारण साधारणतः यह हो सकता है कि व्यक्तियों की रुचि मे विभिन्नता रहती है; उनके शब्दों के अर्थ समझने में भी विभिन्नता हो सकती है; और उनकी कल्पना-शक्ति की तीव्रता में भी असमानता रह सकती है। फलतः यदि कोई व्यक्ति साहित्य का समुचित तथा यथेष्ट आनन्द प्राप्त करना चाहता है तो उसमें नैसर्गिक कल्पना-शक्ति, भाषा पर अधिकार तथा शब्दो के अन्यान्य प्रयोगो पर भी विशेषाधिकार होना चाहिए। उसकी परिकल्पना [3] इतनी शक्तिपूर्ण तथा परि-पक्व होनी चाहिए जिसके द्वारा वह बाह्य वस्तुओं का मानसिक आकार-प्रकार सरलतापूर्वक अपने मानस मे बना लिया करे और साथ-साथ उसकी निर्णया-

१. ऐडिसन
२. 'ऐन एसे कन्सर्निंग ह्यूमन अण्डरस्टैंडिंग'
३. देखिए—'काव्य की परख'

त्मक शक्ति भी उत्कृष्ट होनी चाहिए जिसके द्वारा वह अभिव्यंजना सफल रूप में कर सके। यदि पाठक में ये गुण नहीं हुए तो किसी साहित्यिक वर्णन को जैसे-तैसे वह समझ तो लेगा परन्तु न तो उस वर्णन के अनेक सुन्दर अंगों में सामंजस्य का अनुभव कर पाएगा और न उसका विश्लेषण।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक आलोचना-प्रणाली के समर्थकों ने साहित्य-निर्माण के प्रश्नों के उत्तर ढूँढने मे काफी छान-बीन की है और इसमें सन्देह नहीं कि उन्होने जो प्रणाली ढूँढ निकाली उसमे तथ्य भी है; परन्तु इस प्रणाली द्वारा आनन्द-प्राप्ति में कितनी सहायता मिलती है, विचारणीय होगा। क्या इस प्रणाली द्वारा हमारी आनन्द-प्राप्ति मे वृद्धि होती है? क्या यह जानकर कि अमुक काव्य का मनोवैज्ञानिक स्तर अमुक प्रकार का है हम सन्तोष पाएँगे? ये प्रश्न विचारणीय रहेंगे। मनोवैज्ञानिक आलोचना-प्रणाली ने हमें यह बतलाया कि विभिन्न व्यक्ति विभिन्न रूप मे साहित्य का आनन्द प्राप्त करते हैं; परन्तु इस छोटे-से निष्कर्ष के लिए इतना विशाल अनुसन्धान! इतना गहरा समुद्र-मन्थन! इसका मूल्य ही क्या? हाँ, मनोविज्ञान-शास्त्र की प्रगति इससे अवश्य हुई और अनेक कलात्मक कार्य करने का एक नया आधार साहित्य को भी मिला। परन्तु स्वतः साहित्य का लाभ क्या हुआ, कहना कठिन होगा। मनोविज्ञान के ये निष्कर्ष उनके लिए अवश्य उपयोगी तथा मूल्यवान सिद्ध होंगे जो यह देखना और जानना चाहेंगे कि मनुष्य के मानसिक स्तरो की क्रिया-प्रतिक्रिया किस प्रकार होती है। परन्तु उस वर्ग के व्यक्तियों को जो साहित्य के पठन-पाठन का एकान्त आनन्द उठाना चाहेंगे और मानव-जीवन पर उसके प्रभाव का मूल्य समझना चाहेंगे, कदाचित् कोई विशेष लाभ नहीं होगा। उदाहरण के लिए यदि हमसे विस्तारपूर्वक यह बतलाया जाय कि अमुक मिठाई किस-किस रीति से तैयार की गई, अथवा रेशमी कपडा अथवा ऊनी कपडा किन-किन रासायनिक प्रयोगों द्वारा तैयार हुआ तो क्या उनके खाने और उनके पहनने का क्रमशः आनन्द द्विगुणित हो जायगा? इन उदाहरणो से तो स्पष्ट है कि आनन्द कम ही होगा, बढेगा नहीं। यदि अपनी श्वास-नली की सम्पूर्ण क्रिया हम किसी चिकित्सक से जान लें तो क्या हम अधिक सफल रूप अथवा आनन्दपूर्ण रूप से सांस ले सकेंगे? क्या हम मनुष्य-शरीर की गढन को, उसके हड्डी के ढांचे को देखकर, उसे पूर्णतः समझने के पश्चात् मानव-शरीर को देखकर आनन्दित होंगे? मनोविज्ञान साहित्य का आधार लेने के लिए स्वतन्त्र तो है परन्तु साहित्य को कुण्ठित करने का उसे अधिकार नहीं।

दूसरे, मनोवैज्ञानिक आलोचना केवल किसी रचना-विशेष तथा उसके रचयिता के सम्बन्ध को स्पष्ट करना चाहती है। वह रचना को इसीलिए ग्रहण करती है कि उसे उस मस्तिष्क के स्तरों का पता चल जाय जिसके द्वारा यह रचना सम्भव हुई। इसका यह उद्देश्य कभी न होगा कि वह रचना के मूल्य को पहचाने, उसके धागे-धागे अलग-अलग करने पर भी उसकी समष्टि प्रस्तुत करे। साहित्य का पाठक तो इन्द्र-धनुष की आकृति देखकर ही प्रसन्न होता है; उसके रंगों का वैज्ञानिक आधार अथवा उसका विश्लेषण उसके लिए निरर्थक तथा मूल्यहीन ही रहेगा।

वास्तव में आधुनिक युग के वैज्ञानिक अनुसन्धानों और वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने साहित्य तथा साहित्यिक आलोचना दोनों को खतरे में डाल दिया है। पाठ-संशोधन, पुस्तकाधार-निर्णय, जीवन-वृत्त अनुसन्धान, अत्यधिक शाब्दिक विश्लेषण इत्यादि के द्वारा हम साहित्य की आत्मा के पास पहुँचने का प्रयत्न कर रहे हैं। विज्ञान साहित्य पर छा गया है। साहित्य के हृदय में उसका डर-सा समा गया है और साहित्यिक आलोचना धीरे-धीरे अपना मुँह छिपाने का प्रयास करती जा रही है। और अब यह भय है कि शायद वैज्ञानिक आलोचना वट-वृक्ष समान इतनी विशाल हो जाय कि साहित्यिक आलोचना का छोटा पौधा उसकी छाया के नीचे पनपने ही न पाए।

अब प्रश्न यह उठता है कि साहित्यिक आलोचना का क्या स्वरूप हो और श्रेष्ठ आलोचना सम्भव कैसे हो। आलोचना-कला साधारणतः ललित-साहित्य के प्रति हमारे आकर्षण अथवा हमारी विमुखता और विद्वेष के कारण प्रादुर्भूत होती है। ज्यों ही हम किसी कलापूर्ण कृति की ओर आकर्षित हुए कि आलोचना का बीजारोपण हुआ। एक श्रेष्ठ आलोचक[1] का कथन है कि जिन कविताओं को हम साधारणतः पढ़ डालते हैं वे काव्य की आत्मा से प्रेरित नहीं रहतीं; केवल वे कविताएँ जिन्हें हम बार-बार पढ़ने पर भी नहीं थकते और उनका आनन्द लूटते रहते हैं, काव्य की आत्मा से परिलुप्त रहती हैं। हो सकता है कि कभी-कभी हमें आनन्द न भी मिले; परन्तु प्रायः हम उसकी ओर एक विचित्र प्रेरणा से खिंचते जाते हैं। बिना इस विचित्र प्रेरणा के साहित्यिक आलोचना प्रकाश नहीं पा सकती। इसी सम्बन्ध में एक दूसरे आलोचक का कथन है कि आलोचक बनने के लिए अनेक गुण होने चाहिए। पहला गुण है विद्वत्ता। आलोचक को समस्त साहित्य का ज्ञान होना चाहिए। साहित्य-क्षेत्र के किसी भी लेखक को वह छोड़ नहीं सकता; यदि छोड़

१. कॉलरिज

देगा तो सम्भव है उसकी साहित्यिक दृष्टि दूषित हो जाय। उसे अन्य देशो के साहित्य का भी ज्ञान वांछनीय है और यदि ऐसा न हुआ तो उसे पथभ्रष्ट होने की बहुत आशंका रहेगी। दूसरे उसे अपने तथा अन्य देशो के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए और एक-दूसरे की विशेषताओं से परिचित होना चाहिए। तीसरे उसमें किसी प्रकार का पक्षपात तथा संकुचित दृष्टिकोण नहीं होना चाहिए; उसे पहले से ही अपनी सम्मति बनाकर कि अमुक विषय की पुस्तक ऐसी होनी चाहिए आगे नहीं बढना चाहिए। पुस्तक के अध्ययन के उपरान्त ही वह अपनी सम्मति बनाने का अधिकारी है।

परन्तु यह विचार विवादग्रस्त रहेगा क्योंकि उपर्युक्त गुणों के अधिकांश यदि आलोचक मे सम्भवतः हुए तो वह शायद आलोचक न होकर इतिहासकार मात्र रह जायगा। सोचने की बात तो यह है कि क्या चित्रकला की आलोचना करने में हमारे लिए यह आवश्यक है कि क्या हमने सब देशों के चित्रकारो की कला का परिचय प्राप्त किया है अथवा नहीं? या हमारे लिए केवल यह जानना आवश्यक है कि जो चित्र हमारे सम्मुख है हममें कौनसे और किस प्रकार के भावों की सृष्टि करता है और हम किन-किन चित्रो से उसकी तुलना करने के पश्चात् उनसे उसका सम्बन्ध जोड़ सकते है। दूसरे इस प्रकार की ऐतिहासिक आलोचना बहुत सम्भव है ऐसे लेखको को महत्त्व देने पर बाध्य करे जो दूसरी अथवा तीसरी श्रेणी के कलाकार हो।

इस प्रणाली को केवल यहाँ तक प्रश्रय दिया जा सकता है कि वह पाठान्तरों का अध्ययन करने में सहायता दे और जहाँ तक हो सके शुद्ध पाठ प्रस्तुत करे। आलोचक को कला-कृति ही को मूल आधार बनाना चाहिए तभी उसकी समुचित परख हो सकेगी। दूसरे हमे यह भी नहीं भूलना चाहिए कि केवल एक रीति से हम समस्त साहित्यिक कृतियो की आलोचना नही कर सकेंगे। विभिन्न कृतियों के परखने मे विभिन्न प्रकार की आलोचना-प्रणाली आवश्यक होगी। कहीं तुलनात्मक रीति हितकर होगी और कहीं क्रियात्मक आलोचना-प्रणाली। कभी-कभी हम इस तथ्य पर भी पहुँचेंगे कि कला तो केवल अनुभव-मात्र है जो साधारणतः दुबारा उसी तीव्रता से नही दुहराई जा सकती; कभी-कभी हमें शब्दों पर ही अधिक जोर देना पड़ेगा क्योंकि उनमें ही उस युग के प्रयोगो का रहस्य छिपा रहेगा। इतना सब होते हुए भी हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि आधुनिक काल मे हममें आलोचक बनने की इच्छा अधिक है पाठक बनने की कम। आलोचना की कसौटी हमारे पास सदैव तैयार रहती है और भावानुभूति की शक्ति नहीं के बराबर होती है। ऐसी

अवस्था में हमें सदैव सतर्क रहना पड़ेगा कि हम कहीं कोरे आलोचक ही न रह जायँ; हममें अनुभूति प्राप्त करने की भी पर्याप्त शक्ति होनी चाहिए।

: १० :

व्यक्तिवादी आलोचना-प्रणाली

कुछ विचारको की धारणा यह है कि जब हम काव्य का अध्ययन करते हैं तो हमे सहज ही कवि-हृदय का दर्शन होने लगता है और उसके सम्बन्ध में हम यथेष्ट जानकारी सफलतापूर्वक प्राप्त कर भी सकते हैं। जिस प्रकार अपने मित्र से वार्तालाप करते हुए हम उसकी अनेक भावनाओ तथा मानसिक विकारों और विचारों से परिचित हो जाते हैं उसी प्रकार काव्याध्ययन के उपरान्त हम कवि का भी परिचय जान लेते हैं। फलतः आलोचना-क्षेत्र में इस प्रकार की विचारधारा जोर पकड़ती जा रही है कि काव्य द्वारा कवि का यथेष्ट परिचय मिलता है और मिलना भी चाहिए। आधुनिक काल में जितने भी कवियो का जीवन-वृत्तान्त प्रकाशित हुआ है उन सब में इस बात का प्रयत्न किया गया है कि कवि के जीवन-वृत्त, उसके अनेक अनुभवों तथा उसके जीवन की अनेक घटनाओं से उसके काव्य का सम्बन्ध स्थापित किया जाय। कहीं-कहीं तो यहाँ तक कहा गया है कि काव्य अथवा साहित्य व्यक्तित्व का प्रकाश-मात्र है; और इस व्यक्तित्व तक पहुँचने और उसको परखने के लिए कवि का लिखा हुआ काव्य अत्यन्त सफल साधन होगा। और इसी के आधार पर उन आलोचको की निन्दा भी की गई, जिन्होंने इस सिद्धान्त की अवहेलना कर व्यक्तित्व पर किंचित् मात्र भी ध्यान नहीं दिया और केवल काव्य पर अपना ध्यान केन्द्रित रखा।

उपर्युक्त विचारों द्वारा कुछ भ्रामक आलोचना-सिद्धान्तों के आविर्भाव की आशंका है। इस विचारधारा के अनुसार काव्य काव्य नहीं वह तो कवि की मानसिक प्रौढता तथा परिपक्वता का लेखा मात्र है; उसके मानस का चित्र है; और उसके परिवर्तनशील जीवन का केवल वर्णन है। कवि की कविता उसका जीवन-वृत्त है; उसकी उलझनों, उसकी कठिनाइयों, उसकी सफलताओ तथा विफलताओं का वह प्रतिबिम्ब है; प्रतिबिम्ब ही नहीं प्रायः उसमे कवि के जीवन से सम्बन्धित सभी घटनाएँ अथवा जटिल प्रश्न, जिनका हल वह नहीं पा सका, साकार हो उठे हैं।[1] इस सिद्धान्त का प्रतिपादन नाटक के क्षेत्र में

१. इन विचारो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दाँते, शेक्सपियर तथा गटे ने जो भी रचनाएँ की सबमे उन्होने अपनी व्यक्तिगत विफलताएँ तथा मानव के प्रति अविश्वास को कहानी दूसरों के मुँह से कहलाई और सन्तोष

तो और भी सरलता से किया गया है। नायक ने जो-कुछ भी कहा-सुना और जो भी सफलता अथवा विफलता प्राप्त की वह सब-कुछ नाटककार द्वारा व्यक्तिगत रूप में अनुभव की गई थीं। शेक्सपियर के सभी दुःखान्तकीयों के नायकों के सम्मुख जो-जो जटिल प्रश्न साकार हुए और जो कुछ भी उन्होंने उसका हल ढूँढ़ा वे सब अधिकांशतः शेक्सपियर के निजी प्रश्न थे। उनके पीछे शेक्सपियर की आत्मा की पुकार थी। उसी प्रकार राम का विरह वर्णन, सीता की खोज, तथा सीता का सौन्दर्य-वर्णन आदि अनेक रूप में तुलसी तथा सुन्दरी चन्द्रावली के सम्बन्ध की झाँकी होगी। इस सिद्धान्त के समर्थकों ने यह भी कहा कि यदि हम कवि तथा उसके लिखित काव्य में कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं करेंगे और कवि को उसके काव्य-क्षेत्र से निकाल फेंकेंगे तो उसका स्थान या तो हम स्वयं ले लेंगे अथवा मूल कवि की कोई झूठी प्रतिमा बनाकर उसकी पूजा-अर्चना आरम्भ कर देंगे। इसलिए यह कही अच्छा है कि कवि तथा उसके रचित काव्य मे हम सम्बन्ध बनाये रखें।

इस सिद्धान्त को यदि मान्य ठहराया जाय तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि जो काव्य हम पढ रहे हैं वह कवि का सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब है; और यदि हम काव्य को उचित रूप मे पढेंगे तो हमें कवि का श्रेष्ठ रूप मिलेगा और यदि हम किसी भी अन्य रीति से पढ़ेंगे तो हमे कवि का दूषित अथवा असत्य परिचय-मात्र प्राप्त होगा। परन्तु वास्तव मे बात कुछ और ही है। जब हम काव्य का अध्ययन आरम्भ करते है तो जो कुछ भी हमारे सम्मुख है वह न तो कवि का प्रतिरूप है; न उसके चरित्र का चित्रण है और न उसके व्यक्तित्व का प्रकाश है और यह तथ्य तब स्पष्ट होगा जब हम कोई वर्णनात्मक कविता पढे अथवा महाकाव्य को देखें। जब हम कोई वर्णनात्मक कविता पढते हैं तो हमें न तो वह कवि का प्रतिरूप मात्र दिखाई देती है और न उसके द्वारा हम कवि का कोई विशिष्ट परिचय ही प्राप्त कर सकते हैं। उदाहरण के लिए

दिवस का अवसान समीप था, गगन था कुछ लोहित हो चला
तरु शिखा पर थी अब रजनी, कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा।

प्राप्त किया। उन्होने इस बात का प्रयत्न किया कि जो-कुछ भी उन्होने व्यक्तिगत रूप मे अनुभव किया उसको वे इस प्रकार से व्यक्त करें कि यह आभास न मिले कि वह कवि की ही कहानी है, परन्तु हो उन्हीं की कहानी। इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि कालिदास की व्यक्तिगत विरहाग्नि का प्रकाश मेघदूत मे, जयदेव की स्नेहाभिसिक्त लालसा गीत गोविन्द में, तुलसी की पारिवारिक विफलता रामायण मे नये-नये रूप मे व्यक्त हुई है।

उपर्युक्त पंक्तियों में जिस साधारण सन्ध्या का वर्णन हमारे सम्मुख चित्र-रूप में रखा गया उसके आधार पर हम यह कदाचित् कभी नहीं कह सकेंगे कि हम अमुक कवि का प्रतिरूप देख रहे हैं; उसका परिचय प्राप्त कर रहे हैं। हम केवल यही कह सकेंगे कि इन पंक्तियों के 'लोहित', 'कमलिनी-कुल-की प्रभा' समान शब्दों में शक्ति है जिसके बल पर सन्ध्या का चित्रण करने का प्रयास किया गया। इन पंक्तियों में समास की छटा है तथा विविध रंगों को स्पष्ट करने की क्षमता। इन पंक्तियों के पढने का आनन्द न तो कवि का नाम लेने से बढ़ता है, न घटता है। अपनी कल्पना द्वारा हम भी कवि के देखे हुए दृश्य को पुनः देख लेते हैं; और यदि इसके आधार पर हम यह कह चलें कि इन पंक्तियों ने यह प्रमाणित कर दिया कि कवि में श्रेष्ठ प्रकृति-प्रेम है, वह सूर्य का पुजारी है, उसे चौबीस घण्टे के अन्य दृश्यों में सन्ध्या सबसे अधिक रुचिकर है, हमारी ज्यादती ही होगी। कवि की कविता में कवि को पाने की सतत चेष्टा करना उसको कल्पनाहीन समझना है; उसे पंखविहीन कर देना है। इसके साथ-ही-साथ हमें यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि इन पंक्तियों का लक्ष्य सन्ध्या का चित्रण मात्र था और उस चित्रण का आनन्द हमने उसे पढते ही प्राप्त कर लिया और इसके उपरान्त हम जो कुछ भी जानने की चेष्टा करेंगे वह न तो काव्यात्मक होगा और न ऐसा जो हमारे आनन्द को बढाएगा; बल्कि और कुछ जानने के उपरान्त हमारा आनन्द घटेगा ही, उसका रोमांचक लालित्य दूर हो जायगा।

हाँ, गीत-काव्य में, कदाचित्, कुछ अँशों में यह सिद्धान्त ठीक उतरे। परन्तु वहाँ भी कवि का परिचय अत्यन्त अस्पष्ट तथा धुँधला ही होगा। क्योंकि यहाँ भी जिस व्यक्ति की व्यथा (गीत अधिकतर व्यथा अथवा विरह-वेदना से प्रेरित होकर ही लिखे गए हैं) का परिचय हमें मिलेगा वह ऐसा व्यक्ति होगा जो किसी भावावेश से प्रेरित हो उठा है; और जब तक कवि अपने में निहित उस व्यक्ति को वाह्यवादी [1] दृष्टि से हटकर देखने की चेष्टा नहीं करेगा सफल चित्रण कर ही नहीं सकेगा। सफल कवि वही होगा जो इस भावावेश से अपने को मुक्त कर, अछूता रखकर लेखनी उठाएगा। जिस प्रकार से किसी फोड़े की पीड़ा से कराहता हुआ रोगी डॉक्टर के पास चीरा लगवाने आता है और डाक्टर बिना किसी करुणा और दया का आभास दिये हुए, ठंडे दिल से चीरा लगाता चला जाता है और सफल सर्जन कहलाता है, वैसा ही हाल कवि का भी है। यदि सर्जन को छुरी कॉप उठे और उसका हृदय

१. देखिए—'काव्य की परख'

द्रवित हो जाय तो न तो चीरा सफल होगा और न रोगी ही नीरोग हो पाएगा;, आशंका यह है कि केस खराब हो जायगा। कवि को निर्लिप्त रहकर ही सफलता मिलेगी। अधिकांशतः तो ऐसा होता है कि कवि दूसरों का दुख ओढ़ लेता है और उसे और भी प्रभावपूर्ण रूप में व्यक्त करता है। यदि वह स्वयं उस भावोद्रेक का शिकार हो जाय तो कदाचित् उसे विशेष सफलता नहीं मिलेगी।

जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक मे स्मृति-सी छाई
दुनिया मे आँसू बन कर,
वह आज बरसने आई।
चातक की चकित पुकारे
श्यामा ध्वनि सरस रसीली,
मेरी करुणार्द्र कथा की
टुकड़ी आँसू से गीली।

जब कवि कहता है तो हमारा यह कह बैठना कि हमने कवि को पा लिया है, पकड़ लिया है, उसका सजीव परिचय प्राप्त कर लिया है, भ्रामक होगा। जो कुछ भी हमने जाना है वह है आँसू का उद्गम, उसका प्रवाह, उसका संकेत। (परन्तु यहां इतना अवश्य स्पष्ट रूप से कह देना पड़ेगा कि जो कुछ भी हमारे सम्मुख प्रस्तुत है वह हमने कवि की ही दृष्टि से देखा है। फलतः कुछ अंशो में हमने कवि के समान ही अनुभव किया है।) इससे यह भी तर्क रूप में प्रमाणित होगा कि जो कुछ भी हम देख रहे हैं वह कवि नहीं है वह कवि की देखी हुई कोई वस्तु है, कोई दृश्य है, कोई अनुभूति है। हमसे कवि यह अनुरोध कभी नही करता—'हमें देखो'। वह किसी ओर संकेत मात्र करता हुआ दिखाई देता है और ज्यो-ज्यो हम उसका संकेत पकड़े हुए आगे चलते हैं त्यों-त्यों वह हमसे और भी दूर होता जाता है और जब हम उस स्थल पर पहुँच जाते हैं वह चोरबत्ती की दूर रोशनी के समान गायब हो जाता है; वहां हम रह जाते है और हमारे सम्मुख हमारा ढूँढा हुआ दृश्य अथवा अनुभव। वस्तुतः जो कुछ भी हमने देखा वह कवि की आँखों द्वारा देखा और हमारा यह कहना कि हमने कवि को देखा हमारी भूल होगी। इसलिए किसी वस्तु को देखने और किसी अनुभव को प्राप्त करने के लिए हमे कवि की चेतना का साझीदार मात्र बनाना पड़ेगा, उसका निर्णायक नहीं; हमें उसी ओर देखना पड़ेगा जिधर वह देख रहा है; यह नहीं कि हम घूमकर उसी की ओर

देखने लगें। हमें उसका प्रयोग वैसा ही करना पड़ेगा जैसा धुँधली दृष्टि वाले चश्मे का करते हैं; हमें कवि की आनन्दानुभूति मे साझीदार बनना पडेगा और वहां निर्णायक बनकर निर्णय देना नहीं होगा। काव्य की आत्मा तक तभी हम पहुँच पाएँगे।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि कवि के बिना भी कविता जीवित रह सकती है। हमारे लिए यह सिद्धान्त मानना आवश्यक नहीं कि कवि की खोज किये बिना हम काव्य का रसास्वादन कर ही नहीं सकते। जो भी कविताएँ आज तक अमर हैं और जिन्हे हम शतियों से पढते आ रहे हैं उनके रचयिताओं को हमने भुला-सा दिया है, उनकी खोज हमने बन्द कर दी है। अमर काव्य को अपना कवि भुलाना ही पड़ता है।

: ११ :

क्रियात्मक आलोचना-प्रणाली

साहित्य की श्रेष्ठता की जांच करने में जहां कोरे साहित्यिक आलोचक असमर्थ रहे अथवा पूर्णरूप से सफल नहीं हुए वहां दर्शन-वेत्ताओ ने विशेष सफलता प्राप्त की। उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण के अनेक आलोचकों[1] ने दर्शन-शास्त्र का सहारा ले आलोचना को नियमो, सिद्धान्तों, रूढियों, वैज्ञानिक-वर्गीकरण-प्रणाली तथा व्याकरणात्मक सिद्धान्तो के बन्धन से मुक्त कर दिया। उन्होने प्रभाववादी आलोचकों को, जो साहित्य द्वारा तीव्र प्रभाव को ही आलोचना का मूलाधार मानने लगे थे, दोषी ठहराया क्योंकि व्यक्तिगत तथा अस्थिर आनन्द की लहरी के बल पर कोई श्रेष्ठ आलोचना-प्रणाली नहीं बन सकेगी। उन्होने शैली तथा वस्तु-विशेष को अन्योन्याश्रित समझा और दोनो के व्यतिरेक का समर्थन करने वालो को कोई महत्त्व नहीं दिया। आलोचक वर्ग जो-जो सिद्धान्त बाह्य रूप से साहित्य पर आरोपित करने लगे थे। उस प्रथा को भी उन्होंने दूषित प्रमाणित किया क्योंकि प्रायः आलोचक साहित्यकार की कृति को, (साहित्यकार की जीवनी, धर्म, परिस्थिति इत्यादि) अनेक बाह्याधारो के बल पर परखने लगे थे। उनका विश्वास था कि इस प्रकार के बाह्याधारों पर लिखी हुई आलोचना श्रेष्ठ न होगी। रूढि, पाण्डित्य, व्याकरणात्मक विवेचन तथा शब्द की छान-बीन और छन्द-व्याख्या, काव्य-कला (अथवा किसी भी अन्य कला) के हृदय तक हमे नहीं ले जा सकती। यह सभी उसके हृदय को समझने के मार्ग में बाधक होंगे। श्रेष्ठ आलोचक, दोनों ही दृष्टिकोण—ऐतिहासिक तथा सौन्दर्यात्मक—अपने में

१. बेनेडेटो क्रोचे

समन्वित रखेगा। उसे कलाकार के अनुभवों को अपने मानस में जन्म देना होगा; अपने जीवन को उसके जीवन में समो देना होगा; अपने तथा उसके भाव-संसार में एकरूपता लाने का प्रयास करना पड़ेगा, तभी उसकी आलोचना उच्चकोटि की होगी। इस वर्ग के दर्शनवेत्ताओं ने आलोचना-क्षेत्र को अनेक निरर्थक रूढ़ियों से मुक्त कर एक नवीन रूप प्रदान किया और यह रूप आजकल के आलोचकों को अत्यन्त प्रिय भी हुआ। इसे हम क्रियात्मक आलोचना का नाम दे सकते हैं।

क्रियात्मक आलोचना-प्रणाली के समर्थकों का यह आदेश हुआ कि श्रेष्ठ आलोचना तभी लिखी जा सकेगी जब आलोचक कवि के लक्ष्य तथा उसके द्वारा प्रतिपादित कार्य दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेगा। कवि जब साहित्य-निर्माण करता है तो एक दिव्य जगत् की कल्पनात्मक ज्योति उसे प्रेरित करती है और वह उस ओर बढ़ता है; ज्यों-ज्यों कवि उस ओर बढ़ता चलता है त्यों-त्यों वह ज्योति और भी तीव्र होती जाती है और सफल कलाकार वह सम्पूर्ण ज्योति अपने काव्य की आत्मा मे सुरक्षित कर देता है। कवि का आदर्श लक्ष्य क्या था? उस ओर वह कितना बढ़ा? उसके लक्ष्य तथा उसकी कृति में कितना गहरा सम्बन्ध है? सम्बन्ध है भी या नहीं? कवि अपनी अभीष्ट-सिद्धि किस अंश तक कर पाया? इन सब प्रश्नों का उत्तर क्रियात्मक आलोचना प्रणाली में ढूंढ़ना पड़ेगा। लक्ष्य और उसकी सिद्धि में जितना ही निकट सम्बन्ध होगा उतनी ही वह कृति श्रेष्ठ होगी। अथवा यों कहिए कि अनुभव और अभिव्यक्ति मे जितना गहरा सम्बन्ध होगा वही साहित्य की श्रेष्ठता का निर्णायक भी होगा। श्रेष्ठ उपन्यास तथा श्रेष्ठ नाटक अथवा काव्य मे एक विशेष प्रकार का आन्तरिक सामंजस्य प्रस्तुत रहेगा; और ज्यों-ज्यों यह सामंजस्य कम होगा अथवा विकृत रूप धारण करेगा त्यो-त्यो काव्य की श्रेष्ठता भी घटती चली जायगी।

क्रियात्मक आलोचना-प्रणाली के विरोधियों का यह आक्षेप है कि इसके समर्थक विभिन्न रुचि के आलोचको को कोई ऐसी नियमावली नहीं देते जिसके सहारे वे समस्त श्रेष्ठ साहित्य की परख कर सकें। कुछ विरोधियों ने तो यहां तक कह डाला कि इस प्रणाली की पूर्ण मान्यता यदि साहित्य-क्षेत्र में स्थापित हो गई तो कोई विरला ही सफल आलोचक बन सकेगा। जब आलोचक पर इतना महान् उत्तरदायित्व रख दिया गया कि शेक्सपियर, कालिदास, तथा तुलसी की आलोचना करने के लिए उसे इन तीनों कलाकारो के मानस का प्रतिरूप प्रस्तुत करना पड़ेगा और उनके विशाल अनुभव अपने मानस

में दुहराने पड़ेंगे तो आलोचक बनने की शायद ही किसी की हिम्मत पड़ सके और शायद ही कोई इतना भार वहन कर सके। इस कठिनाई के साथ-साथ रुचि-वैभिन्य की एक दूसरी बहुत बड़ी कठिनाई दिखाई पड़ेगी। जो कुछ हमें प्रिय है कदाचित् हमारे पड़ोसी अथवा आगामी युग के पाठकों को घृणित दिखाई पड़े, इसकी भी तो काफी सम्भावना रहेगी। इसलिए इस प्रकार की क्रियात्मक आलोचना लिखने का कौन साहस कर सकेगा?

उपर्युक्त आलोचना-प्रणाली आलोचना-क्षेत्र के दो महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का हल नहीं ढूंढ पाती। पहला, क्या सौन्दर्य और श्रेष्ठता का केवल एक ही स्तर रहता है? और क्या केवल उनके अनुभव और अभिव्यक्ति के सामंजस्य के आधार पर ही हम अनेक कवियों की श्रेष्ठता का निर्णय कर सकते हैं? सौन्दर्य के तो अनेक स्तर और अनेक वर्ग रहेंगे और प्रायः हम देखते भी हैं कि अनेक कवि, जिनके गीतों में अनुभव और अभिव्यक्ति का पूर्ण सामंजस्य रहता है श्रेष्ठ कवि नहीं कहलाते। सूर के पदों में तथा रसखान के सवैयों में अनुभव और अभिव्यक्ति का पूर्ण सामंजस्य है परन्तु तुलसी उनसे श्रेष्ठ कवि हैं। उसी प्रकार साहित्य के सौन्दर्य में भी कमी-बेशी हो सकती है। इसका निर्णय कैसे होगा? कभी-कभी तो अनुभव तथा अभिव्यक्ति का सामंजस्य कवि की काव्य-शक्ति का प्रमाण न होकर उसकी शब्द-योजना अथवा वाक्चातुर्य ही प्रमाणित करेगा।

दूसरा प्रश्न नवीन साहित्यकारों की कृतियों के सम्बन्ध में उठता है। कुछ कलाकार प्राचीन रूढ़ियों के अनुसार कला का निर्माण करते हैं; उनके साधन इतने परिपक्व तथा प्रमाणित हो गए हैं कि उनमें मीन-मेख नहीं निकाली जा सकती और वे सहज ही अपने आदर्श लक्ष्य की पूर्ति कर चलते हैं; और उनके अनुभव तथा अभिव्यक्ति मे पूर्ण सामंजस्य भी प्रस्तुत हो जाता है। परन्तु नवीन वस्तु, नवीन शैली तथा नवीन दृष्टिकोण अपनाने वाले लेखकों की कला-कृति की जांच कैसे सम्भव होगी? धीरे-धीरे प्राचीन पद्धतियां रुचिकर नहीं रहतीं, पुराने साधन हितकर नहीं होते, प्राचीन दृष्टिकोण फलप्रद नहीं होते और इन्हीं के विरोध में नवीन शैलियां जन्म लेती हैं जहां अनेक रोमांचक गुणों की प्रशंसा की जाती है। सहज तथा सरल अभिव्यक्ति के स्थान पर कल्पनात्मक तथा रहस्यपूर्ण अभिव्यंजना, शान्ति तथा सन्तोष के स्थान पर औत्सुक्य तथा उन्माद ही रुचिकर होने लगता है। इसकी श्रेष्ठता अथवा हीनता का निर्णय कैसे और क्योंकर होगा? इसमें तो किसी को सन्देह हो ही नहीं सकता कि क्रियात्मक आलोचना-प्रणाली प्राचीन तथा सधे

हुए साहित्यिकों की रचनाओं की जांच करने में अधिक फलदायक होगी; उसके द्वारा हम उनके श्रेष्ठ सौन्दर्य को हृदयंगम कर सकेंगे, उनके हृदय को सहज ही छू सकेंगे; परन्तु नवीन प्रेरणाओं से प्रादुर्भूत साहित्य को परखने में कदाचित् वह फलप्रद न होगी।

क्रियात्मक आलोचना-प्रणाली जिस मूल विचार पर आधारित है वह कलाकार की क्रियात्मकता का पुनर्निर्माण है। जब किसी कलाकार ने कोई कलात्मक कार्य किया तो उसे कला के निर्माण के आरम्भ से लेकर और उसके पूर्ण होने के क्षण तक कुछ-न-कुछ अनुभव अवश्य हुए होंगे जिनके आधार पर उसकी सम्पूर्ण कला का बीज पड़ा, रूप-रेखा बनी, विकास हुआ। अब आलोचक का यह कर्त्तव्य होगा कि बीज-रूप से लेकर सम्पूर्ण विकसित रूप तक कलाकार के समस्त अनुभवों का वह पुनः निर्माण करे।

कलाकार के अनुभवों के पुनर्निर्माण मे आलोचक में अनेक गुण अपेक्षित होंगे और बिना इन गुणों के वह क्रियात्मक आलोचना लिखने में विफल रहेगा। इन गुणों में सबसे प्रमुख गुण है निरीक्षण-शक्ति। आलोचक में जितनी ही अधिक मात्रा में निरीक्षण की क्षमता होगी उतनी ही उसको आलोचना लिखने में सरलता होगी। यह गुण सर्वोपरि है। निरीक्षण-क्षमता (जिसकी उपादेयता अनुमानात्मक आलोचना-प्रणाली मे भी प्रमाणित की गई है) के साथ-साथ आलोचक में मनन करने की भी शक्ति होनी चाहिए, क्योंकि यही शक्ति उसकी निरीक्षण-क्षमता द्वारा प्रस्तुत वस्तुओं का उपयोग करेगी। परन्तु उसका मनन तभी फलप्रद तथा व्यापक होगा जब आलोचक मे प्रेरणात्मक शक्ति भी समुचित मात्रा मे होगी। बिना प्रेरणात्मक शक्ति के उसकी मनन-शक्ति गतिहीन रहेगी। जहाँ आलोचक मे निरीक्षण, मनन तथा प्रेरणा की शक्ति आ गई उसे केवल आन्तरिक अनुभूति तथा बाह्य अभिव्यक्ति की ही आवश्यकता रह जायगी। क्रियात्मक आलोचना के उच्च स्तर तक पहुँचने के लिए निरीक्षण, मनन, प्रेरणा, अनुभूति तथा अभिव्यक्ति ये ही उपर्युक्त पाँच सिद्धियाँ हैं। इन्ही के उत्तरोत्तर अभ्यास के बल पर क्रियात्मक आलोचना लिखी जा सकेगी।

इन पाँच गुणो की आवश्यकता पर विचार करने से स्पष्ट होगा कि ज्यो ही आलोचक के सामने कोई साहित्यिक कृति अथवा कलापूर्ण वस्तु आई त्यों ही उसकी देखने को शक्ति तथा अनुभवात्मक शक्तियाँ जागृत हो जायँगी। कलाकार के नवीन कलात्मक विचारो के सम्पर्क मे आते ही उसका समस्त व्यक्तित्व जाग उठेगा। तत्पश्चात् उसकी मनन-शक्ति जागृत होगी और उत्साह तथा प्रेरणा के सहयोग द्वारा उसका मस्तिष्क सहज ही उन अन्य समान अनु-

भवों की ओर दौड़ेगा जिस ओर कलाकार की कला संकेत करेगी और उसे अनेक समान अनुभवों की समष्टि के दर्शन होंगे। आलोचक के सम्पूर्ण जागृत व्यक्तित्व में एक अपूर्व स्फूर्ति आएगी और क्रमशः कलाकार की समस्त अनुभूति आदि से अन्त तक उसके मानस-पटल पर साकार होती जायगी। तत्पश्चात् वह उसकी अभिव्यक्ति के लिए उसी प्रकार तड़प उठेगा जिस प्रकार कलाकार कला की प्रेरणा पाकर पहले तड़प चुका था। संक्षेप मे क्रियात्मक आलोचक कलाकार के सम्पूर्ण मानसिक व्यवस्था-क्रम को हृदयंगम करने के पश्चात् उसकी अभिव्यक्ति का प्रयत्न करेगा। परन्तु यह क्रियात्मक अनुभव तथा उसकी सफल अभिव्यक्ति तभी होगी जब कलाकार तथा आलोचक की आत्मा में अपूर्व साम्य प्रस्तुत रहेगा। बिना इस मानसिक साम्य के क्रियात्मक आलोचक को सफलता न मिलेगी।

क्रियात्मक आलोचना-प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि आलोचक की दृष्टि कलाकार की कला से हटकर आलोचक तथा उसके व्यक्तित्व की ओर चल पड़ेगी जिसके फलस्वरूप कलाकार की कला गौण रूप में रहेगी और आलोचक के व्यक्तित्व को असाधारण महत्त्व मिल जायगा। इस प्रणाली का दूसरा दोष यह है कि यह साहित्यिक ज्ञान और विद्वत्ता को भी महत्त्वपूर्ण नहीं समझती और केवल व्यक्तिगत अभिरुचि को प्रश्रय देती है और दूसरे, यह प्रणाली किसी सर्वसम्मत मानदण्ड का निर्माण नही करती जो इसके मूल्य को बहुत-कुछ घटा देगी। क्रियात्मक आलोचना-प्रणाली के अनुसरण का फल यह होगा कि प्रत्येक क्रियात्मक आलोचना जो भी लिखी जायगी स्वतः एक कलात्मक कृति होगी और विभिन्न व्यक्तियो के द्वारा लिखे जाने के कारण उसमें विभिन्नता-ही-विभिन्नता रहेगी और उसके फलस्वरूप जितने भी निर्णय प्रस्तुत होंगे उनमें सर्वसम्मत भावना न रहेगी।

इन अनेक दोषों के होते हुए भी क्रियात्मक आलोचना-प्रणाली में अनेक महत्त्वपूर्ण गुण दिखलाई देंगे। इस प्रणाली का प्रमुख महत्त्व इसमे है कि इसने रूढ़िवादी प्राचीन साहित्य-निर्माण के नियमो को आलोचना-क्षेत्र से निकाल फेंका और अरस्तू द्वारा निर्मित साहित्य-सिद्धान्त की, जिन्हे उनके अनुयायियों ने सभी युगों के लिए निश्चित कर दिया था, उपेक्षा की। अरस्तू ने जो भी नियम बनाए थे वे उस काल में प्रस्तुत साहित्य के पठन-पाठन के उपरान्त बने थे। अरस्तू तो स्वयं ही अनुमानात्मक रीति को मानकर नियम बनाते थे, परन्तु उनके अनुयायियों को क्या कहा जाय जिन्होंने उनके अनुमानात्मक सिद्धान्तों को रूढ़िबद्ध करके आगे के युगो के लिए भी उन्हें हितकर तथा

फलप्रद मानने का आदेश दिया। यदि वास्तव में देखा जाय तो आलोचना तथा नियम दोनों में कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है क्योंकि जब कला अभिव्यक्ति का सरल साधन है तो आलोचना भी (जो कला पर ही आधारित है) साधन मात्र होगी। वह केवल अपने ही क्षेत्र मे अन्तर्हित नियमों को मान सकेगी।

इस प्रणाली का दूसरा गुण यह है कि इसने साहित्य के रूढ़िवादी वर्गीकरण की महत्ता भी बिलकुल घटा दी। साधारणतया विचारकों ने साहित्य को उपन्यास, नाटक, काव्य इत्यादि वर्गों में बाँट रखा था। इस वर्गीकरण को क्रियात्मक आलोचना ने भ्रामक सिद्ध किया, क्योंकि क्रियात्मक आलोचना स्वतः कलापूर्ण होने के नाते अमूर्तता धारण किये रहेगी; और अमूर्त वस्तुओं का वर्गीकरण कैसा? इस प्रणाली ने शैली के सिद्धान्तों को भी महत्त्वहीन प्रमाणित कर दिया।

कुछ पुराने आलोचको का विचार था कि साहित्य-निर्माण मे शैली का प्रश्न कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखता। शैली केवल एक बाह्य आभूषण है जो मनोनुकूल रखी या हटाई जा सकती है। उसका कला और साहित्य की आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं; वह तो साहित्यकार की लेखनी का, उसकी विद्वत्ता का गुण है; उसकी साहित्यिक कला का गुण नहीं। इसलिए आलोचक को अलंकार-प्रयोग (जो वह पहले बहुत महत्त्वपूर्ण समझता था) पर ध्यान देना आवश्यक नहीं रहा।

अलंकार-प्रयोग की महत्त्वहीनता सिद्ध करने के साथ-साथ इस प्रणाली ने नैतिक प्रश्नो को भी महत्त्व नहीं दिया। नैतिकता के प्रसार की आवश्यकता जो पहले के अनेक विचारकों ने साहित्य मे प्रमाणित कर रखी थी अब बिलकुल ही हटा दी गई। निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली के निर्माताओं का यह विश्वास था कि साहित्य तो एक कला है और कला का प्रमुख ध्येय है आनन्द-प्रदान; तब उसमे नैतिकता का प्रश्न कहाँ? कला ज्यों ही सहज आनन्द की प्राप्ति करा चुकी उसका ध्येय पूरा हुआ; उससे हम और किसी कार्य की आशा करते ही नही।

अलंकार-प्रयोग तथा नैतिकता-प्रसार की महत्त्वहीनता स्थापित करने के साथ-साथ आलोचको ने साहित्य-निर्माण मे काव्यात्मक विषयो की भी महत्ता घटाई। अठारहवीं शती तक के लेखक साहित्य-निर्माण के लिए कुछ विषय-विशेष ही साहित्य के लिए फलप्रद समझते थे और काव्यात्मक विषयों का उनमें प्राधान्य था। नवीन आलोचको ने यह तर्क रखा कि जब साहित्य अभिव्यक्ति मात्र है तो कोई भी विषय जिसमें भावों का समावेश हो, फलप्रद

होगा; काव्यात्मक विषयों की कोई विशेष आवश्यकता नहीं दिखलाई पड़ती ; सभी विषय समान रूप से साहित्य में प्रयुक्त हो सकेंगे।

: १२ :

प्रभावात्मक आलोचना-प्रणाली

क्रियात्मक आलोचना-प्रणाली के विवेचन के साथ-साथ अन्य दो आलोचना-प्रणालियों पर विचार आवश्यक होगा, क्योंकि ये दोनों विशेष महत्त्व पा रही हैं। पहली प्रणाली है प्रभावात्मक और दूसरी अनुमानात्मक, जिस पर हम पिछले पृष्ठो में विचार कर चुके हैं। जहाँ क्रियात्मक आलोचना-प्रणाली कला की सम्पूर्ण आत्मा को परखेगी, प्रभावात्मक आलोचना केवल थोड़े-बहुत प्रभावों को हृदयंगम करने का आग्रह करेगी। यही इसकी सबसे बडी कमी है। आशंका यह भी है कि वह कला की सम्पूर्ण आत्मा को न परख पाएगी और केवल कुछ इधर-उधर बिखरे हुए प्रभावो के बल पर आलोचना करेगी। साथ-साथ जो-जो गुण प्रभावात्मक आलोचक में अपेक्षित हैं वे गुण ऐसे हैं जो प्रत्येक व्यक्ति में सरलता से नहीं मिलेंगे। इन गुणों मे प्रधान है प्रभावों के ग्रहण करने की अद्भुत क्षमता। यह गुण तब तक नहीं आएगा जब तक आलोचक में कोमल-से-कोमल और मृदुतर-से-मृदुतर भावों को परख लेने की सूक्ष्म और क्षमता नहीं होगी। भावो के मृदुल स्तरो पर उसकी दृष्टि सहज ही मे पडनी चाहिए। आलोचक का स्वभाव तथा उसकी चित्तवृत्ति भी ऐसी न होनी चाहिए जिसमे स्थायित्व आ गया हो; उसके स्वभाव में गतिशीलता वांछित है और उसे सम्पूर्ण प्रभाव के किसी भी छोटे-से-छोटे अंश की अवहेलना न करनी होगी। उसमे इस कोटि की कल्पनात्मक क्षमता होनी चाहिए जो आधारभूत भाव अथवा रूपक की आत्मा को सहज ही पहचान ले। संक्षेप में प्रभावात्मक आलोचक में भावानुभूति, गतिशील चित्तवृत्ति तथा कल्पनात्मक शक्ति अनिवार्य रूप मे प्रस्तुत रहनी चाहिए।

कुछ आलोचको ने मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रभावात्मक आलोचना-प्रणाली की प्रशंसा की। यह प्रणाली विशेषतः साहित्य की गति पहचानने तथा उसके प्रति हमें आकर्षित करने की शक्ति को महत्ता प्रदान करती है। साहित्य की इस शक्ति को मान्यता देना श्रेष्ठ आलोचना-शैली का ही कार्य होगा। यह तो हम जानते ही हैं कि विज्ञान में मानवी चेतना-शक्ति को जागृत अथवा प्रेरित करने की क्षमता नहीं रहती; वह केवल ज्ञान-वर्धन करेगी, परन्तु साहित्य चेतना प्रदान करता है। जब यह स्वयं सिद्ध है कि साहित्य चेतना जागृत करेगा तो यह भी प्रमाणित है कि विभिन्न व्यक्ति अनेक प्रकार की प्रेर-

णाएँ ग्रहण करेंगे और यही प्रेरणाएँ, विभिन्न व्यक्तियों में, कला के अनेक रूप में प्रस्तुत होंगी। इस प्रकार एक कलापूर्ण कृति अनेक व्यक्तियों में कला की सृष्टि करती जायगी। उदाहरण के लिए जब कवि गोधूलि का कलात्मक वर्णन करेगा तो पाठक-वर्ग के मानस में अनेक प्रभावों का जन्म और विकास होगा। ये प्रभाव स्वतः कलारूप होंगे और जितनी ही संख्या में पाठक-वर्ग उसे पढ़ेंगे उतनी ही संख्या में इस कलारूप में भी वृद्धि होगी, अर्थात् एक ही कलात्मक रचना अनेक कलापूर्ण प्रभावों को जन्म देगी। यह कार्य विज्ञान द्वारा नहीं हो सकेगा। विज्ञान के क्षेत्र में वस्तुओं को स्थायित्व प्राप्त रहने के कारण न तो उसमें प्रेरक-शक्ति रहेगी और न कला की अनेकरूपेण वृद्धि करने की क्षमता।

: १३ :

कार्यात्मक आलोचना-प्रणाली

आधुनिक युग में एक अन्य आलोचना-प्रणाली की मान्यता विशेष रूप से प्रमाणित हो रही है। इस प्रणाली को कार्यात्मक आलोचना-प्रणाली नाम से सम्बोधित कर सकते हैं। इस प्रणाली ने पहले-पहल तो मूर्त्तकला-क्षेत्र में जन्म लिया और अन्ततोगत्वा साहित्य-क्षेत्र में भी अपनी मर्यादा स्थापित कर ली। इस प्रणाली के अनुसार कलाकार की जांच कार्य-सिद्धि की श्रेष्ठता के आधार पर होनी चाहिए। यदि कलाकार जिस कार्य को करने पर उद्यत हुआ उसमे उसे सफलता मिली तो वह श्रेष्ठ कहा जायगा और यदि वह विफल रहा तो वह निम्न कोटि का ही कलाकार होगा। यदि कवि गीत अथवा नाटक लिखता है अथवा महाकाव्य की रचना करता है तो गीत-काव्य की परिधि, अथवा नाटक और महाकाव्य-क्षेत्र की सीमाओं के भीतर ही उसकी श्रेष्ठता अथवा हीनता का निर्णय करना पड़ेगा। हमें यह कहने का अधिकार नहीं कि गीत में नाटकीय तत्त्व नही और नाटक में महाकाव्य के गुणों का अभाव है। जिस प्रकार रसोइये को खीर बनाने का आदेश दे, उस खीर में खिचड़ी का स्वाद न पाने की शिकायत हम नहीं कर सकते, उसी प्रकार गीत काव्य की सीमा में बंधा हुआ कवि महाकाव्य की छाया कैसे प्रस्तुत करेगा ? अथवा छोटे बालक के पैरों मे सात नम्बर के जूते पहनाकर हम उससे तेज चलने का आग्रह नही कर सकते उसी प्रकार नाटककार पर महाकाव्य लिखने की आशा का भार डालकर हम उसे हतोत्साह ही करेंगे। वास्तव में गीत काव्य, नाटक तथा महाकाव्य साहित्य के अलग-अलग रूप हैं; उनकी अलग-अलग शैली है; उनका अलग-अलग आकार है और एक के रूप और आकार के अन्दर दूसरे के रूप अथवा आकार की आशा करना व्यर्थ ही

होगा। इस आलोचना-प्रणाली ने आलोचकों का कार्य अत्यन्त सरल कर दिया है। उन्हें अब केवल यही पूछना रहता है कि कलाकार ने क्या करना चाहा और कलाकार को अपनी अभीष्ट-सिद्धि में कितनी सफलता मिली। प्राचीन नियमानुगत आलोचना-प्रणाली की अपेक्षा इस प्रणाली की उपयोगिता इसलिए अधिक प्रमाणित हुई कि इसके द्वारा भी हमें कलाकार के हृदय मे बैठकर उसकी श्रेष्ठता की जांच करनी पड़ी। और शैली की श्रेष्ठता के निर्णय में तो यह प्रणाली अत्यन्त फलप्रद प्रमाणित हुई है। शैली, कलाकार के व्यक्तित्व की पूर्ण परिचायक होती है और इस आलोचना-प्रणाली द्वारा हमें कलाकार के व्यक्तित्व का समुचित ज्ञान भी हो जायगा।

परन्तु कार्यात्मक आलोचना में बहुत-कुछ होते हुए भी विशेष न्यूनता मिलेगी। यदि हमने यही नियम बना लिया कि हम यही देखें कि कवि ने क्या करना चाहा और उसकी अभीष्ट-सिद्धि किस मात्रा में हुई तो हमें कलाकार पर बहुत से बन्धन लगा देने पड़ेंगे। हम उसकी उस प्रत्येक बात की आलोचना करेंगे जो उसने चलते-चलते कह दी और जिसका सम्बन्ध उसकी अभीष्ट-सिद्धि से बिलकुल भी नहीं था। हम उसके सुन्दर अलंकारों की प्रचुरता, शब्द-प्रयोग, भाव-विकास इत्यादि को वहीं तक वांछित समझेंगे जहाँ तक उनके द्वारा उसको अभीष्ट सिद्धि हुई; जो-कुछ भी बच रहेगा उसे हम व्यर्थ अथवा निरर्थक कहने पर बाध्य होंगे। पतंग उड़ाते हुए बालकों का उद्देश्य यही रहता है कि प्रतिद्वन्द्वी की पतंग काट दी जाय, परन्तु पतंग काटने के पहले वे अपनी पतंग को दस-पाँच ऐसे सुन्दर झटके देते हैं कि पतंग इधर-उधर इठलाती हुई प्रतिद्वन्द्वी की पतंग पर चील समान टूट पड़ती है और उसे काटकर शान्त हो धीरे-धीरे फिर आकाश में विचरण करने लगती है। यदि हम यह कहे कि वे दस-पाँच झटके व्यर्थ थे और पतंग को सीधे उड़कर अपने प्रतिद्वन्द्वी की पतंग पर टूट पड़ना चाहिए था, हमारी ज्यादती ही होगी। पतंग काटना तो अभीष्ट था ही परन्तु वायुमण्डल में उन दस-पाँच सुन्दर झटकों ने जो आनन्द दिया वह पतंग के केवल काटने की क्रिया से कहीं सुन्दर था। उनका अपना अलग स्थान था, परन्तु वह आवश्यक था। उसी प्रकार कलाकार की लेखनी और विचारधारा अठखेलियाँ करती हुई यदि अपनी अभीष्ट-सिद्धि करेंगी तो कार्यात्मक आलोचना-प्रणाली उसे श्रेष्ठ नहीं कहेगी। वह क्षेपक नहीं चाहती। वह चाहती है अपने लक्ष्य की ओर डग भरता हुआ सैनिक; वह कवि-हृदयको कुण्ठित कर उसके मस्तिष्क को ही अधिक प्रश्रय देती है।

कार्यात्मक आलोचना-प्रणाली की दूसरी बड़ी कमी यह है कि इसके द्वारा हम अनेक श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियों के मर्म को न समझ पाएँगे। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि अपूर्व प्रतिभावान् कलाकार कभी भी अपने लक्ष्य से परिचित नहीं होते; यदि रहते भी हैं तो केवल बहुत थोड़े अंशों मे। वे सोचते कुछ हैं और कर कुछ और बैठते हैं; उनका लक्ष्य कुछ और रहता है और कार्य पूरा होने पर कुछ दूसरी ही चीज नजर आती है। चलते तो वह रास्ते पर हैं मगर भूल-भटककर एक ऐसे सुरम्य स्थान पर पहुँच जाते हैं जहां हम सभी जाना चाहेंगे। कदाचित् तुलसीदास ने एक आदर्श धर्मप्रेमी हिन्दू समाज तथा हिन्दू-परिवार की कल्पना कर भूमिका रूप में बालकाण्ड का मंगलाचरण लिखा और अन्त में ईश्वर तथा अद्वैतवाद के रहस्य का हृदयंगम कर परमात्मा का स्वरूप निश्चित करने लगे। सोचा क्या था हो क्या गया! शेक्सपियर ने चाहा था कि प्रतिशोध की भावना के आधार पर वह एक साधारण लोकप्रिय नाटक लिखेंगे, परन्तु ज्यो-ज्यो उनकी लेखनी चली, ज्यों-ज्यों उनकी कल्पना उत्तेजित हुई, त्यों-त्यो प्रतिशोध-विषयक नाटक मानव की अनुभूति की गहराइयो को नापने में व्यस्त हो गया; विषय पीछे छूट गया, लक्ष्य कहाँ-का-कहाँ गया और नाटक मनुष्य की आत्मा की मीमांसा करने लगा। सूर ने सोचा था कि कुछ चलते-फिरते भजन कृष्णाराधन में गाए जायँ, परन्तु बन गया सूर-सागर जहां वात्सल्य और शृङ्गार, वैराग्य और अनुराग की लोल लहरियां आज तक तरंगित हैं। लक्ष्य क्या-से-क्या हो गया! कला के इतिहास मे इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलेंगे जहां कलाकार के उद्देश्य तथा उसकी अभीष्ट-सिद्धि में जमीन-आसमान का फर्क दिखाई देगा।

समय का निर्णय

कुछ साहित्यकारों का यह भी विचार है कि साहित्य की श्रेष्ठता का निर्णय भविष्य पर छोड़ देना चाहिए। जिस कलाकार में श्रेष्ठ कला होगी वही आगामी युग में प्रशंसा प्राप्त करेगा, लोकप्रिय होगा और अपना नाम अमर कर जायगा। भविष्य की आँखें ही उसकी श्रेष्ठता का निर्णय सफलतापूर्वक कर सकेंगी, क्योंकि वर्त्तमान काल में कलाकार हमारे इतना निकट रहता है कि उसकी श्रेष्ठता का ठीक-ठीक माप हम नहीं लगा सकते। समकालीन पाठकों को समय पर ही यह उत्तरदायित्व छोड़ देना हितकर होगा; और वर्तमान में हमें केवल वही साहित्य पढना चाहिए जिसकी श्रेष्ठता पिछले युगों ने प्रमाणित कर दी है। इस विचारधारा का सबसे विषम परिणाम यह होगा कि आजकल का पाठक-वर्ग, आगामी युगों पर अपना उत्तरदायित्व ढालकर निश्चेष्ट तथा निकम्मा हो

जायगा। भविष्य पर उनका विश्वास इतना अधिक हो जायगा कि साहित्य की कोई भी प्रगति न हो पाएगी।

' इस सिद्धान्त के समर्थकों की यह धारणा है कि प्रतिभा अपने-आप ही प्रकट हो जायगी; उसमें आलोचकों को माथापच्ची करने की आवश्यकता ही क्या ? और तत्कालीन साहित्य को समुचित रूप में परख ही कौन सकेगा ? जब तक कलाकार जीवित रहता है उसकी प्रतिष्ठा बनी रहती है; उसके मित्र-वर्ग रहते हैं उसकी सामाजिक तथा आर्थिक सम्पन्नता तथा प्रतिष्ठा का विरोध करने का साहस ही किसे होगा ? उसके मित्र-वर्ग सभी पत्र-पत्रिकाओं पर छाए हुए रहेंगे; उसके विरोध में लिखे हुए विचारों का प्रकाश कहां हो सकेगा ? परन्तु जब कलाकार हमारे बीच न रहेगा और पचास या साठ वर्ष पश्चात् उसका मित्र वर्ग भी उसके साथ-साथ चल देगा तो उसके विषय में हम अपना निर्णय निष्पक्ष तथा सुस्थिर रूप में दे सकेंगे। तब हमारे आलोचनात्मक मार्ग में कोई बाधाएँ न रह जायँगी। तभी हम कलाकार की प्रतिभा की प्रगति, उसके व्यक्तित्व का विवेचन तथा उसके द्वारा निर्मित साहित्य का मूल्यांकन समुचित रूप में कर सकेंगे। एक बात यह भी है कि जीवित कलाकारों की कृतियों के मूल्यांकन में सबसे बड़ी कठिनाई शायद उनके जीवन-सम्बन्धी अनेक घटनाओं के विषय मे होगी। प्रायः उनकी जीवनी के सभी अंश उनके जीवन-काल में हस्तगत नहीं हो पाते; परन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात् ही हमें उनके जीवन से सम्बन्धित समस्त सामग्री मिल जायगी और हम बाह्य रूप से उन्हे न देखकर अन्य प्राप्त प्रमाणों के बल पर उनकी श्रेष्ठता अथवा हीनता का निर्णय कर लेंगे। हम उनकी रुचि, उनके वास्तविक चरित्र, आचार-विचार तथा अन्य ऐसे प्रभाव जो उन पर पड़े, सबको तोलकर उनके व्यक्तित्व का पुनर्निर्माण कर लेंगे जो हमें हमारे निर्णय मे सहायता देंगे। परन्तु इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह पूछा जा सकता है कि क्या तुलसी की कविता तथा सूर के पदों का पूर्ण आनन्द उठाने, उसका महत्त्व समझने तथा उससे पूर्ण रूप से वशीभूत होने के लिए यह आवश्यक है कि हम यह भी जानें कि उनकी स्त्री का नाम क्या था अथवा उनकी ससुराल उनके घर से कितनी दूर थी; अथवा सूर कब नेत्रविहीन हुए और वह किस समय स्नान करने जाते थे ? शेक्सपियर के नाटकों का आनन्द प्राप्त करने के लिए क्या यह नितान्त आवश्यक है कि हम यह भी जानें कि उन्होने अपने से नौ वर्ष बड़ी युवती से प्रेम कर उससे विवाह किया और उनके कितनी सन्तानें कहां-कहां हुईं ? कदापि नहीं। परन्तु हमें यह भी स्मरण रखना

चाहिए कि इस प्रकार का अनुसन्धान और जीवन-सम्बन्धी अंशों का संकलन चाहे हमें उनके द्वारा निर्मित साहित्य को परखने में सहायता न दे परन्तु वह मनोरंजक अवश्य होगा और कलाकार को हमारे और समीप ला देगा।

परन्तु भविष्य के ऊपर साहित्य की श्रेष्ठता का निर्णय छोड़ना कहाँ तक न्यायसंगत तथा फलप्रद होगा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि हम अपना उत्तरदायित्व दूसरों पर क्यों डालें। जब प्राचीन युग के पाठकों ने हमारे ऊपर अपना उत्तरदायित्व नहीं डाला तो हमें अपने कर्त्तव्य से मुँह मोड़ना न चाहिए? ज्यों ही हमें प्रतिभा के दर्शन हों हमें उसके अभिवादन में हिचक क्यों? और फिर कलाकारों की मृत्यु के पश्चात् अनेक वर्ष व्यतीत होने पर जीवन-सम्बन्धी समस्त सामग्री का संकलन साहित्यिक श्रेष्ठता का निर्णय करने में कब सहायक ही हुआ? यह भी कौन कह सकेगा कि भविष्य का ही निर्णय ठीक होगा। भविष्य ने तो अनेक बार अपनी राय बदली। जो लेखक पचास वर्ष तक सर्वप्रिय रहे कुछ दिनों बाद बिलकुल भुला दिये गए; समय ने एक और पलटा खाया और वे पुनः लोकप्रिय हुए। ऐसी परिस्थिति में हम किस युग का निर्णय ठीक मानें—भूलने वाले युग का अथवा नव-जीवन प्रदान करने वाले काल का? भविष्य की रुचि में भी ऋतु के समान परिवर्तन होते हैं और यदि भविष्य को ही हम सफल निर्णायक समझ बैठेंगे तो हम किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जायँगे। अक्सर ऐसा हुआ है कि कलाकार पर उसके समकालीन आलोचकों द्वारा खूब गालियाँ पड़ीं, परन्तु बाद में उसकी प्रतिभा का लोहा सबने माना; मगर कुछ दिनों बाद फिर लोक-रुचि में परिवर्तन हुआ और गालियों की बौछार पुनः आरम्भ हुई। इस परिवर्तनशील लोक-रुचि पर कौन आलोचक श्रद्धा रख पाएगा? इस सम्बन्ध में कुछ लोगों का यह भी विचार रहता है कि प्रतिभावान व्यक्ति तथा कलाकार अपने समय के पहले जन्म ले लेते हैं और अपने समकालीन युग की सहानुभूति प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं। यदि वे ही कलाकार पचास या सौ वर्ष पश्चात् संसार में आते तो संसार उनकी आरती उतारता। इसलिए यह आवश्यक है कि भविष्य पर ही उनकी श्रेष्ठता का निर्णय छोड़ा जाय। परन्तु इन भ्रममूलक विचारों के पोषक यह भूल जाते हैं कि प्रतिभावान कलाकार तो अपने ही नहीं, सबके समय के पहले जन्म लेते हैं; उनकी पहचान केवल अटकल से ही होती है। शेक्सपियर समान महान् कलाकार को सदियों तक अंग्रेजी आलोचक न समझ पाए और जब जर्मन लेखकों ने उनकी प्रशंसा आरम्भ की तो अंग्रेजी पाठकों ने भी हाँ-में-हाँ मिलानी शुरू की और फिर शेक्सपियर की कला पर इतनी पुस्तकें लिखी गईं कि वर्षों

के अध्ययन के बाद भी उनको समाप्त करना कठिन होगा। शेक्सपियर के जिन-जिन गुणों की प्रशंसा हुई वे उनमें बहुत पहले से थे, परन्तु भविष्य बहुत काल तक उन्हें परख न पाया। वास्तव में भविष्य का निर्णय केवल मृग-तृष्णा है। सच तो यह है कि श्रेष्ठ साहित्य का निर्णय करने वाली एक छोटी-मोटी साहित्यिक गोष्ठी ही रहती है; समस्त जनता बैठकर अध्ययन के पश्चात् कलाकारों की श्रेष्ठता का निर्णय नहीं करती। यह गोष्ठी सभी युगों मे रहती है और जनता का पथ-प्रदर्शन किया करती है। और समय के आदेश का ठीक अर्थ यही है कि यह उसी छोटी-मोटी गोष्ठी का आदेश है जो साहित्य में यथेष्ट रुचि रखता है।

: १४ :

व्यक्तित्व प्रदर्शन-प्रणाली

आधुनिक युग की अन्यान्य प्रचलित आलोचना-प्रणालियो में जो साधारणतया अधिक मान्य हो रही है वह कलाकार के व्यक्तित्व तथा उसकी निष्कपटता और यथार्थप्रियता पर बहुत जोर देती है। यद्यपि अठारहवीं शती के अन्तिम चरण मे कुछ श्रेष्ठ आलोचकों ने कलाकार के व्यक्तित्व तथा उसकी निष्कपट यथार्थप्रियता की चर्चा चलाई थी परन्तु उसके आधार पर कोई नियम-विशेष नहीं बन पाए थे, परन्तु रोमांचक[1] काल के आरम्भ से ही इन दोनो तत्त्वों पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। इस प्रणाली के अनुसार वही साहित्यिक कृति श्रेष्ठ होगी जो कलाकार के व्यक्तित्व का पूर्ण निष्कपट तथा यथार्थ परिचय देगी। यदि ऐसा नहीं तो रचना निम्न कोटि की है। गीत-काव्य, नाटक, लेख, संस्मरणात्मक रचनाएँ, सभी व्यक्तित्व-प्रदर्शन के आधार पर ही श्रेष्ठ अथवा हीन प्रमाणित होगी। इस प्रणाली की इतनी अधिक लोकप्रियता है कि इसका विरोध करने का साहस बहुत कम व्यक्तियों ने किया है।

इस प्रणाली के विरोध में तर्कपूर्ण रीति से यह कहा जा सकता है कि केवल निष्कपट व्यक्तित्व-प्रदर्शन के बल पर ही साहित्य श्रेष्ठ न हो सकेगा। इसका प्रमाण हमे उन लेखको की रचनाओं के पढने पर मिलेगा जिन्हे हम अब तक श्रेष्ठ कहते आए हैं। शेक्सपियर तथा मिल्टन, तुलसी तथा सूर, केशव तथा भूषण, देव तथा बिहारी—किस श्रेष्ठ यूरोपीय तथा भारतीय कवि ने अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व का निष्कपट परिचय अपनी रचनाओं में दिया है। वे अपनी रचनाओं में वैसे ही छिपे हुए हैं जैसे जगन्नियन्ता समस्त विश्व में

१. देखिए—'अंग्रेजी साहित्य का इतिहास'

व्याप्त हैं। हैं वे सब स्थानों पर, स्पष्टतया कहीं भी नहीं। और यदि यह नियम सर्वमान्य हो जाय तो हमे अनेक श्रेष्ठ कलाकारों के विषय में अपनी राय बदलनी पड़ेगी। निष्कपट अभिव्यंजना की माँग भी हमारी ज्यादती ही होगी। कौनसा श्रेष्ठ साहित्यकार निष्कपट रूप से अपने पाठकों के सम्मुख आता है ? सबकी अपनी-अपनी विशेष धज रहती है। प्रायः सभी अपने को छिपाने का प्रयत्न करते रहे हैं। अपने जीवन की कुछ रोमांचक घटनाओ को बढ़ा-चढाकर रखना निष्कपटता का प्रमाण नहीं। इसी प्रकार की निष्कपटता अनेक आधुनिक यूरोपीय कलाकार अपना रहे हैं। वास्तविक रूप से निष्कपट होना सहज नहीं; इसके लिए उत्साह और कला दोनो ही अपेक्षणीय है। सबसे अधिक निष्कपट साहित्य हमारे प्रेम-पत्रों के रूप में प्रस्तुत है और हम उन प्रेम-पत्रों का मूल्य भी चार वर्ष बाद खूब जानते हैं। आधुनिक युग में, जब हर ओर से अनेक प्रभाव हमारे ऊपर पड रहे हैं तो निष्कपट होना सरल नहीं। इसी आलोचना-प्रणाली के अन्तर्गत यह विचार मान्य हो चला है कि मौलिकता ही श्रेष्ठता की अपूर्व कसौटी होगी। श्रेष्ठ कला वही होगी जो नितान्त मौलिक हो। सौन्दर्य का मुख्य तत्त्व है विभिन्नता; जितना ही वैभिन्य अधिक होगा सुन्दरता उतनी ही विकसित होगी। किसी भी चित्र, नाटक अथवा कविता की श्रेष्ठता तभी प्रमाणित होगी जब वह हमे कुछ क्षणो के लिए ? रोमांच ले आए, हमे उत्तेजित करे, ललकार सुनाए। इसी विचार को अपनाकर अनेक लेखकों ने मौलिकता की खोज मे ज़मीन-आसमान के कुलावे मिलाने आरम्भ किये। इसका फल यह हुआ कि अनेक तर्कहीन विचार, उच्छृङ्खल-शैली, नवीन भाषा तथा शब्द-प्रयोग, नवीन व्याकरण तथा नवीन अक्षर-विन्यास इत्यादि का प्रयोग आरम्भ हो गया। मौलिकता फूट तो पडी, परन्तु अर्थ का लोप हो गया।

यदि वस्तुतः देखा जाय तो यही प्रमाणित होगा कि अनेक श्रेष्ठातिश्रेष्ठ लेखक किसी अंश में भी मौलिक न थे। सभी श्रेष्ठ लेखको ने पुराने साहित्य-मार्ग ही अपनाए; उनमें विभिन्नता अधिकांश रूप मे नही थी। वे साधारण साहित्य मार्गों के ही पथिक थे, परन्तु दैव-वश उनमे मौलिकता के दर्शन होते गए। उन्होने स्वयं भी मौलिक होने का स्वप्न नहीं देखा था। उन्होंने बहुत-कुछ विषय-रूप अपने समकालीन लेखकों से ही लिया; कभी-कभी तो अपनी समस्त वस्तु उन्होने इतिहास तथा जीवनियों के क्षेत्र से प्राप्त की। परन्तु उनमे एक ऐसी विशेष प्रतिभा थी कि वे मौलिक हो गए। वे आज तक जीवित हैं और भविष्य मे भी, जब तक भाषा का अस्तित्व है वे

जीवित रहेंगे।

अनेक आलोचना-प्रणालियों के विवेचनोपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कदाचित् ही कोई ऐसी आलोचना-प्रणाली हो जो पूर्ण रूप से संतोष-जनक तथा फलप्रद हो। और यह भी सही है कि ज्यों-ज्यों समाज भावी युगों के दर्शन करेगा तथा सभ्यता प्रगति करती जायगी त्यों-त्यों नवीन आलोचना-प्रणालियों का भी जन्म होता जायगा। यह स्वाभाविक भी है। आलोचना-की विभिन्नता से यह प्रमाणित है कि साहित्य तथा समाज गतिशील है और गतिशील होने में ही साहित्य का कल्याण है। यों भी तो सत्य के अनेक रूप हैं और उसे परखने वालों में रुचि-वैभिन्य अनिवार्य है। कोई किसी एक तत्त्व को पहचान पाता है तो कोई दूसरे तत्त्व को। इसी कारण अन्य नवीन आलो-चना-प्रणालियाँ भी आगामी युगों में बनती-बिगड़ती जायँगी।

तीव्रानुभूति सिद्धान्त

साहित्यिक आलोचना-क्षेत्र की प्रणालियों में चाहे कितनी भी विभिन्नता क्यों न हो श्रेष्ठ कलाकारों को हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। पहला वर्ग ऐसे कलाकारों का होगा जिनकी कला में सामंजस्य तथा समन्वय है; जिनके मानस में शान्ति, सन्तोष, श्रद्धा का वातावरण प्रस्तुत है; जिनका दृष्टिकोण हमें जीवन के प्रति आकर्षित कर हममें विश्वास का बीजारोपण करता है। दूसरी श्रेणी उन कलाकारों की होगी जिनकी कला में समन्वय तथा सामंजस्य के स्थान पर असाधारण किन्तु आकर्षक अतिक्रम है, तेज है, उत्साह है; जिनके मानस में औत्सुक्य, आशा-निराशा तथा असन्तोष का धूमिल वाता-वरण प्रस्तुत है; जिनका दृष्टिकोण नवीन सत्यों की खोज में व्यस्त रहता है। इन दोनों वर्गों के कलाकारों की कला की श्रेष्ठता का निर्णय करने के लिए आलोचक को दो प्रश्न पूछने चाहिएँ। पहला, क्या कलाकार ने जिस अपूर्व स्वप्न की झलक देखी वही मै भी देख रहा हूँ ? और यदि हां, तो मैं उससे वशीभूत हूँ अथवा नहीं ? दूसरे, क्या कलाकार ने जिस अपूर्व जगत् का निर्माण करना चाहा उसमें काल्पनिक वास्तविकता है अथवा नहीं ? और है तो कहां तक ? चाहे आलोचक प्रथम वर्ग के कलाकार को परखे, चाहे द्वितीय वर्ग के, दोनो से उसे इन्ही प्रश्नो को पूछना चाहिए। यदि हम सभी वर्गों के कला-कारों से व्यक्तित्व-प्रदर्शन; निष्कपट अभिव्यक्ति तथा मौलिकता की मांग न करके केवल एक ही विशिष्ट गुण की मांग करे तो कदाचित् आलोचना-क्षेत्र की बहुत कुछ विच्छृङ्खलता कम हो जायगी। यह विशिष्ट गुण है अतिशय तीव्रानुभूति। कलाकार जितनी ही तीव्रानुभूति दे सके उतनी ही वह श्रेष्ठ होगी।

इस नियम की मान्यता भी प्राचीन काल से प्रमाणित है। परन्तु इसे विभिन्न नामों द्वारा सम्बोधित किया गया है। यूनानी आलोचकों के युग में इसी को भव्य-भावना प्रसार कहा गया; रोमीय आलोचकों ने इसे तेजस् तथा शक्ति के नाम से सम्बोधित किया; पुनर्जीवन काल में इसी को प्रेरणा नाम मिला और आधुनिक युग ने इसी को अतिशय तीव्रानुभूति के नाम से पुकारा।

हमें यह भी स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि यह अतिशय तीव्रानुभूति अनेक विकृत रूपों में भी हमारे सम्मुख आ सकती है और आती भी है। विफल प्रेमी की चीख-पुकार, छोटे-मोटे नाटक-कम्पनियों में पार्ट करने वाले नायकों की अस्वाभाविक भावनाओं का ओजपूर्ण प्रदर्शन, अनेक अतिशयोक्तियां, तीव्रानुभूति की सज-धज में आकर हमें प्रभावित करने का प्रयास करेंगी और हमें सतर्क रहना पड़ेगा। कृत्रिम रूप में अनेक अन्य भावनाएँ भी हमें उन्हें तीव्रानुभूति मान लेने का आवाहन देंगी, और कभी-कभी ऐसा भी होगा कि आधुनिक कवियों की तीव्रानुभूति अनेक नवीन रूपों में हमारे सम्मुख आएगी और हमें उसका भी सही-सही रूप पहचानने का प्रयत्न करना पड़ेगा। आलोचकों के लिए जैसा कि हम पहले कह चुके हैं सबसे सिद्ध मन्त्र यही है कि वे यही दो प्रश्न पूछें कि क्या कलाकार ने अपने देखे हुए दिव्यालोक से हमें पूर्णरूपेण प्रभावित किया है? क्या उसकी अपूर्व दिव्यानुभूति ने हमें वशीभूत किया है? क्या उसके निर्मित आदर्श-जगत् में काल्पनिक वास्तविकता है? इन्हीं प्रश्नों के उत्तर के बल पर आलोचक साहित्य की श्रेष्ठता की परख कर सकेगा।

अभिव्यंजनावादी आलोचना-प्रणाली

आधुनिक युग वास्तव में विभिन्न वादों का युग है और यदि कोई आलोचक यह चाहे कि अनेकानेक वादों का सम्यक् वर्गीकरण हो और सबका समुचित विश्लेषण किया जाय तो यह कार्य अत्यन्त दुष्कर होगा। और यदि यह कार्य सम्भव हो भी जाय तो हमें पग-पग पर केवल साहित्य ही नहीं, राजनीति, समाज-शास्त्र, विज्ञान इत्यादि सभी क्षेत्रों के प्रभावों को स्पष्ट करना पड़ेगा, क्योंकि आज का साहित्य अन्यान्य प्रभावों को ग्रहण करने के पश्चात् ही अपनी रूप-रेखा बना रहा है। यदि हम बीसवीं शती के साहित्य पर समीक्षात्मक दृष्टि डालें तो हमें अन्यान्य प्रकार के काव्यों, उपन्यासों तथा नाटकों का दर्शन मिलेगा जिनका वर्गीकरण पुरानी रूढ़ियों के आधार पर कदापि नहीं हो सकेगा। कहीं हमें रोमांचक तथा यथार्थवादी वर्गों के साहित्य के दर्शन होंगे; कहीं शिक्षात्मक तथा प्रेरणात्मक रचनाएँ

ही सीखे; उसके नैसर्गिक मनोभाव अपना पूर्ण उत्कर्ष पाएँ और किसी प्रकार की भी शिक्षा जो बाह्य साधनो अथवा बाह्य उपकरणों द्वारा दी जायगी वह बालक के व्यक्तित्व के लिए अहितकर होगी। परन्तु इन अनुकर्ताओ के विचार क्रोचे के वास्तविक विचारो से काफी दूर हैं; और सच तो यह है कि उन्होने क्रोचे के सिद्धान्तों का भ्रामक अर्थ लगाया है। ऐसी परिस्थिति में दर्शनज्ञ क्रोचे के सौन्दर्यात्मक सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण फलप्रद होगा।

सीनियॉर बेनेडेटो क्रोचे इटली-निवासी हैं और उनके सौन्दर्यात्मक सिद्धान्तो की मान्यता आधुनिक काल में बहुत बढी हुई है। अपनी महत्त्वपूर्ण रचना[1] में उन्होंने अपने सौन्दर्यात्मक सिद्धान्त स्पष्ट किये। क्रोचे का विचार है कि सत्य तथा यथार्थ का केवल एक ही केन्द्र है और वह है मानव-मस्तिष्क, और जो विचारक यह समझते हैं कि सत्य तथा यथार्थ के दो रूप और दो केन्द्र हैं, भूल करते हैं; केवल मस्तिष्क में ही सत्य तथा यथार्थ का रूप निहित रहता है और उसका बाह्य संसार में कोई स्थान नहीं। तात्पर्य यह कि जो भी हमारे मस्तिष्क में अन्तर्हित है वही सत्य तथा यथार्थ है और जो भी बाह्य-रूप में हमारे सम्मुख स्थित है वह सत्यता तथा यथार्थ से कही दूर है। हॉ, यह अवश्य है कि जो-कुछ भी हम बाह्य-रूप में देखते हैं उसे मस्तिष्क ने स्वतः अपनी सहूलियत के लिए निर्मित कर लिया है क्योकि इसके द्वारा वह सुगमता से अपना कार्य-सम्पादन कर लेता है।

परन्तु ज्ञान के सम्बन्ध में क्रोचे के सिद्धान्त अधिक स्पष्ट हैं। वास्तव में ज्ञान दो प्रकार का होता है—एक तो सहज है और दूसरा तर्क-शक्ति द्वारा प्राप्त। फलतः हम ज्ञान या तो अपनी कल्पनात्मक शक्ति द्वारा—जो हमारे सम्मुख चित्ररूप में मनोभाव प्रस्तुत करती है—ग्रहण करते हैं अथवा अपने मस्तिष्क द्वारा जो हमें उनका सम्बन्ध बतलाती है। मस्तिष्क तथा सहज ज्ञान अथवा तर्क तथा कल्पना दोनों ही ज्ञान के दो मूल स्रोत हैं।

ज्ञान के इन दो मूल स्रोतो को स्पष्ट करने के पश्चात् दर्शनज्ञ क्रोचे ने सहज ज्ञान को और भी स्पष्ट रूप में समझने का प्रयत्न किया। प्रायः विचारक यह समझा करते थे कि सहज ज्ञान एक प्रकार से नैसर्गिक रूप मे मनुष्य मे निश्चेष्ट अवस्था में स्थित रहता है और वह अवसर आते ही यन्त्रवत् कार्य-शील हो उठता है। परन्तु क्रोचे का विचार इसके प्रतिकूल था। उनका विचार था कि सहज ज्ञान इन्द्रिय-ज्ञान तथा मानसिक प्रभाव और प्राप्त अनुभवो से नितान्त भिन्न रहेगा। वास्तव मे सहज ज्ञान में अभिव्यंजना-शक्ति पूर्ण रूप में

१. 'इस्थेटिक'

रहती है और वह प्रभावो की अभिव्यक्ति सहज ही करती रहती है। वास्तविक सहज ज्ञान वही होगा जो अभिव्यक्ति की शक्ति लिये हो अथवा स्वयं अभिव्यंजना का नवीन स्वरूप ग्रहण कर ले। उदाहरण के लिए जब तक कवि केवल मनोभाव को, चित्रकार चित्र की अमूर्त छाया को, मूर्तकार मूर्ति के अमूर्त आकार को, अपने मन मे बसाए रहते हैं तब तक कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं होती। ये मनोभाव अथवा कला के अमूर्त रूप जब अभिव्यक्ति प्राप्त करते हैं तभी उन्हें पूर्णता भी प्राप्त होती है। उनका केवल मानसिक रूप महत्त्वहीन रहेगा और महत्त्वपूर्ण बनने के लिए, अपने पूर्ण उत्कर्ष पर आने के लिए, उन्हें प्रकाशित होना ही पड़ेगा। सच तो यह है कि सौन्दर्यात्मक अनुभव हमारे मानस मे एक उचित आकार के अन्तर्गत प्रस्तुत रहते हैं और यह सहज ज्ञान ही है जो हमारे इन्द्रिय-बोध को आकार ग्रहण करने पर बाध्य करता है। यह मानसिक कार्य, जो अभिव्यक्ति द्वारा सफल होता है, हमारे मनोभावो की हलचल का दमन कर, उन्हे उचित रूप मे प्रदर्शित होने के लिए स्वतन्त्र कर देता है। जिस प्रकार पानी की भरी हुई टंकी पाइप द्वारा जल को नियन्त्रित कर छोटी धार में परिणत कर बाहर निकालती है उसी प्रकार हमारा सहज ज्ञान हमारे मनोभावों का समुचित नियन्त्रण कर उन्हे सफल अभिव्यंजना पर बाध्य करता है। कलाकार के मानस में तब तक शान्ति स्थापित नहीं होगी जब तक अभिव्यक्ति के माध्यम द्वारा उसके मनोभाव स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं कर लेंगे। पानी का नल, टोंटी के खुलते ही स्वतन्त्र रूप मे जल बाहर फेंक चलता है, उसी प्रकार अभिव्यंजना द्वारा कलाकार का सहज ज्ञान एकत्र मनोभावों को स्वतन्त्र रूप मे प्रवाहित कर देता है।

दर्शनज्ञ क्रोचे का स्पष्टतः यह विचार है कि कला केवल सहज ज्ञान है, अथवा केवल मानसिक क्षेत्र के अन्दर ही प्राप्त प्रभावों की अभिव्यंजना मात्र है। मनुष्य का मस्तिष्क सतत, सहज ज्ञान द्वारा प्राप्त मनोभावो को आकृति प्रदान करने की चेष्टा किया करता है। कभी वह उन्हे मानसिक मनोभाव का रूप ग्रहण करने के पथ पर अग्रसर करता है, कभी उन्हे केवल इन्द्रिय-बोध की ओर ले चलता है। सहज ज्ञान प्रेरणा द्वारा कला का रूप ग्रहण करता है अथवा यो कहिए कि जब तक प्रेरणा उसमें रहती है तब तक वह कला है। अतएव यह सिद्ध है कि कलाकार वही होगा जो जीवन के किसी भी अंग अथवा दृश्य को पूर्णतया दृष्टिगत करे। इसके अर्थ यह हैं कि उनकी सफल तथा स्पष्ट अभिव्यंजना हो, क्योंकि क्रोचे के सिद्धान्तानुसार अभिव्यंजना ही मनोभाव का प्राण है; दोनो वास्तव में एक-दूसरे के पर्याय ही हैं।

इस सम्बन्ध में यह भी जान लेना आवश्यक होगा कि हमें पाठक की हैसियत से यह अधिकार नहीं कि हम कलाकार से अमुक प्रकार के जीवन का प्रदर्शन माँगें। कलाकार जीवन के किसी भी क्षेत्र से अपनी काव्य-सामग्री चुनने के लिए स्वतन्त्र है, परन्तु उसे यह अवश्य करना पड़ेगा कि जो भी अलौकिक दृश्य हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया जाय वह वास्तव में अलौकिक हो। इस कार्य में उसे कल्पना का सहारा अवश्यमेव लेना पड़ेगा। तभी उसका प्रस्तुत दृश्य अलौकिक होगा। यदि कलाकार के सम्मुख जीवन का कोई ऐसा दृश्य आए जो कुरूप अथवा असुन्दर हो तो उसे उन्हें ग्रहण कर कला-रूप देने का पूरा अधिकार है और इसके साथ-साथ पाठक-वर्ग को यह कहने का अधिकार नहीं कि कलाकार इन असुन्दर स्थलों को बहिष्कृत करे।

क्रोचे के सौन्दर्यात्मक सिद्धान्तों का विश्लेषण करते हुए कुछ टिप्पणीकारों ने प्रायः यह सिद्धान्त मनोनुकूल स्थिर किया कि जो कुछ भी कलात्मक क्रिया-कलाप महत्त्वपूर्ण होता है वह केवल कलाकार के मानस में ही अन्तर्हित रहता है। सभी सौन्दर्यात्मक अनुभव आन्तरिक होंगे; उनकी सफल अभिव्यंजनाका महान् क्षण भी केवल मानसिक क्षेत्र मे ही प्रस्तुत रहेगा; कलाकार ही को वह सौन्दर्यात्मक अनुभव बोधगम्य होगा और कदाचित् कोई भी आलोचक कलाकार के उस मानसिक क्षेत्र में पदार्पण न कर पाएगा। परन्तु एक बात और हो सकती है—यदि कलाकार चाहे तो वह अपने अलौकिक तथा मानसिक सौन्दर्यात्मक अनुभव को बाह्याकार दे सकता है। परन्तु इस बाह्य आकार देने की क्रिया कला से कोई सम्बन्ध न रखेगी। सौन्दर्यात्मक अनुभव जब तक मानसिक रूप में है तभी तक वह कला से सम्बन्धित है; बाह्य-रूप लेते ही कलात्मकता से उसका साथ छूट जायगा। इसके साथ-ही-साथ यह भी ज्ञातव्य है कि कलाकार के आन्तरिक प्रभाव सुन्दर तभी हो पाएँगे जब उनकी सफल अभिव्यंजना होगी। वास्तव में, कला का आनन्दातिरेक तभी प्राप्त होता है जब कलाकार मनोभावों के बोझ से, सफल अभिव्यंजना द्वारा, अपने को मुक्त कर लेता है। इसी मुक्ति में ही एक विचित्र प्रकार का आनन्द निहित है। इसी सिद्धान्त के आधार पर यह कहा जायगा कि जब कलाकार के मनोभावों की सफल अभिव्यंजना में अड़चन हो और कलाकार को पूर्णरूपेण मुक्ति न प्राप्त हो सके तो कुरूपता का जन्म होगा। इसमे सन्देह नहीं कि उपर्युक्त विश्लेषण सत्य से दूर है और तर्क का विरोधी है।

यदि उपर्युक्त सिद्धान्तों को तर्क की दृष्टि से परखा जाय तो उन्हे अक्षरशः मान्यता प्रदान करने मे अनेक कठिनाइयाँ प्रस्तुत होंगी। पहली बात तो

यह है कि जब दर्शनज्ञ क्रोचे ने यह सिद्धान्त बनाया कि सभी कलात्मक क्रिया-कलाप केवल कलाकार के मानस में ही रहेंगे और उनका मानसिक क्षेत्र से अलग होना कला के लिए घातक होगा तो तात्पर्य यह निकला कि आखिर आलोचक किस आधार पर आलोचना करेगा; जब सभी कलात्मक विषय कलाकार के मानस में ही रहेंगे तो भला आलोचक किस बाह्य आधार पर आलोचना लिखेगा; और जहाँ मनुष्य के मानसिक अथवा आत्मिक जीवन के अन्तर्गत ही सब-कुछ होता रहता है तो हमारी वहाँ पहुँच कैसे होगी ? इस परिस्थिति ने तो कलाकार को दैवी स्वतन्त्रता दे दी और आलोचक के पास आलोचना का कोई साधन ही न रह गया। कलाकार ऐसी स्वतन्त्रता का उप-भोग करता हुआ यह कह सकता है कि जो भी उसकी इच्छा हो, जो भी उसके मनोभाव हों, जो भी उसकी प्रेरणा हो, उसमें आलोचक को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं। मानसिक अनुभूतियों के क्षेत्र मे, अपना जीवन-यापन करती हुई कला की आलोचना तो असम्भव ही होगी। और कलाकार की यह मान-सिक स्वतन्त्रता अनेक रूप से साहित्य मे उच्छृंखल रूप धारण कर सकती है और असंगत मनोविकारों को जन्म दे सकती है। कलाकार तो ऐसी स्वतन्त्रता के बल पर कह सकता है कि जो-कुछ भी उसने पाठकवर्ग के सम्मुख रखा है उसे पाठकवर्ग को लेना ही पड़ेगा; यही उसकी दृष्टि में कला है और पाठक को उससे तर्क करने का अधिकार नहीं। स्पष्ट है कि कलाकार को इतनी स्वत-न्त्रता देने को कोई भी प्रस्तुत नहीं होगा।

यदि क्रोचे के सिद्धान्तो की यथोचित समीक्षा की जाय तो यह स्पष्ट होगा कि दर्शनज्ञ ने यद्यपि आलोचको के कला के साम्राज्य मे आने पर प्रति-बन्ध तो लगाया परन्तु उन्होने अन्य रूप में कलाकार की स्वतन्त्रता बहुत-कुछ छीन ली। उनका विचार है कि जब कलाकार अपने मनोभावो को बाह्याकार देगा तो उसे विशुद्ध कला-क्षेत्र के बाहर आना पडेगा, और ज्यो ही वह बाहर आएगा उसे सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक वातावरण के पाश में अवश्य फँसना पडेगा और उसकी कला इस वातावरण की छाया लिये बिना नहीं रह सकेगी। ऐसी परिस्थिति में उसकी कला श्रेष्ठ स्तर पर नहीं रह पाएगी। संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि कलाकार जो भी चाहे दृष्टिगत करे, जो-कुछ भी आकर्षक समझे हृदयंगम करे, परन्तु उसे इन सबको प्रकाशित करने का अधिकार नहीं। उसे मनोनुकूल अनुभव का अधिकार है, उनके मनोनुकूल प्रका-शन का नहीं। ज्यो ही उसने अपने मनोभावों को बाह्याकार दिया त्यों ही उसकी स्वतन्त्रता छिनी। बहिर्जगत् मे उसे आलोचकों का नियन्त्रण मानने

पर बाध्य होना ही पडेगा ।

दूसरे, हम सभ्यता के इतिहास को साक्षी ठहराकर यह कह सकते हैं कि जब कभी कलाकारों ने कला का निर्माण किया, वे यह कभी भी न भूले कि उसका प्रभाव पाठक अथवा दर्शकवर्ग पर कैसा पड़ेगा। प्रायः प्रभाव-विशेष डालने के लिए ही कलाकारों ने कला का सहारा लिया। आलोचना के इतिहास से भी स्पष्ट है कि आदिकाल से ही कलाकार का ध्येय या तो आनन्द-प्रदान या शिक्षा-प्रदान अथवा गौरव-प्रदान ही रहा है। सभी साहित्यकारों ने जब साहित्य-रचना की और सभी कलाकारों ने जब कला का निर्माण किया तो उनका यह विशेष आग्रह रहा कि समाज उनकी कृतियों का प्रभाव ग्रहण करे, उन पर अपना निर्णय प्रकाशित करे। हां, कला-निर्माण के विषय में मत-भेद अवश्य रहा। कुछ विचारकों ने कला को केवल नैसर्गिक प्रतिभा द्वारा उद्-बुद्ध माना; कुछ ने परिश्रम, अनुकरण तथा अध्यवसाय उसके लिए आवश्यक समझा। परन्तु किसी भी विचारक ने यह नहीं कहा कि कला की परख न की जाय, उसका प्रभाव न देखा जाय, उस पर निर्णयात्मक शक्ति का प्रयोग न किया जाय।

तीसरे, तर्क-रूप में यह भी कहा जा सकता है कि क्रोचे के सिद्धान्तों को अक्षरशः अपनाने में एक विचित्र कठिनाई का अनुभव होगा। जब कला-कार के मानस को ही दर्शनज्ञ ने पूर्ण महत्ता दे दी तो उन्होंने यह मानने से इन्कार कर दिया कि कला का लक्ष्य पाठकवर्ग के हृदय तक अपनी बात पहुँ-चाना है; कला एक प्रकार से इसका माध्यम ही है। और जब कलाकार केवल अपने सहज ज्ञान के अन्दर ही लिप्त रहेगा और उसी में आनन्द पाएगा तो उससे समाज को क्या लाभ? कलाकार की सफलता तो इसी में है कि वह अपने हृदय की झंकार दूसरे तक पहुँचाए, अपने शब्द की प्रतिध्वनि दूसरे व्यक्ति में प्रतिध्वनित करे। प्रत्येक क्रियात्मक कला का यह तो नैसर्गिक तथा अत्यावश्यक कार्य है। यदि कलाकार अपना सन्देश दूसरे तक नहीं पहुँचाता, अपनी प्रेरणा मे दूसरों को साझीदार नहीं बनाता, तो कला मूक होगी, निर-र्थक होगी, हतभाग्य होगी। यह कार्य क्रोचे के सिद्धान्तानुसार कवि और कला-कार कभी नहीं करेंगे।

यह निर्विवाद है कि कला का प्रदर्शन किसी मूर्त माध्यम द्वारा ही होगा; यह माध्यम चाहे स्वर हो चाहे शब्द; रंग हो अथवा प्रस्तर खण्ड। साहित्य-क्षेत्र में भाषा ही एक ऐसा साधन है जिसके सहारे कलाकार अपना सन्देश अथवा अपनी सौन्दर्यानुभूति पाठकवर्ग तक पहुँचाता है। कुछ प्राचीन लेखकों

ने अपने प्रयुक्त माध्यम की कठिनाइयो पर प्रकाश डाला और क्षमा-प्रार्थना की; कुछ ने घोर परिश्रम द्वारा उन पर विजय पाई और मृत माध्यम द्वारा अपने कल्पनात्मक जगत् को साकार करते हुए, उस माध्यम को जीवन की स्फूर्ति दी। कला बिना माध्यम के मूक, निरर्थक तथा हतभाग्य ही रहेगी और कला की सफलता, उसकी महत्ता तथा उसकी उपयोगिता इसी में होगी कि वह कोई मनोनुकूल परन्तु उचित माध्यम चुने।

इस समीक्षा के उपरान्त हम यह भी कह सकते हैं कि क्रोचे के सिद्धान्त कला-सम्बन्धी दो अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्वो को भुला बैठे और उनको कोई महत्त्व नहीं दिया। ये दोनो महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं सौन्दर्य तथा जीवन—वह जीवन जो सौन्दर्य का निर्माण पग-पग पर प्रतिक्षण चाहता है। क्रोचे का विश्वास-सा है कि कलाकार के मानस में अनेकरूपेण प्रभाव विचरण किया करते हैं और कलाकार सहज ज्ञान द्वारा मानसिक क्षेत्र के अन्दर उनका कलात्मक आनन्द उठाया करते हैं। परन्तु ये स्वतन्त्र रूप में विचरण करते हुए प्रभाव कहाँ से आए, कैसे आए और उनका मूल स्रोत क्या है, इन प्रश्नों का उत्तर केवल एक है। ये प्रभाव जीवन-क्षेत्र से आए और जीवन ही उनका मूल स्रोत है। इसी जीवन के कोष से कलाकार अनेक प्रभाव एकत्र करता है। कुछ विचारक यह कह सकते हैं कि जीवन तो हमारे सम्मुख विचित्र प्रकार की असंबद्ध घटनाएँ अथवा दृश्य प्रस्तुत करता है। कहीं हम कोई दृश्य देखते हैं कहीं कोई, और जीवन अत्यन्त उच्छृंखल रूप मे हमारे मन मे इधर-उधर के असम्बद्ध मनोभाव संकलित किया करता है। यह तर्क सही है, परन्तु सोचने की बात तो यह है कि हम व्यावहारिक रूप मे जीवन कहते किसे हैं। इसमे किसे सन्देह हो सकता है कि जीवन अनेकानेक तथा अनेकरूपेण अनुभवो का कोष है। परन्तु इन अनुभवो की अनेकरूपता और उनका क्षणिक दृश्य जीवन नहीं; वे केवल जीवन के अंग हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि जीवन अमुक प्रकार के दृश्यों द्वारा उद्‌बुद्ध है। हमारा दैनिक अनुभव यह प्रमाणित करता है कि जिसे हम वास्तव मे जीवन नाम से सम्बोधित करते हैं वे केवल कुछ क्षणिक दृश्य अथवा क्षणभंगुर प्रभाव मात्र नही। हमारा जीवन वही होता है जो पूर्ण हो, सुव्यवस्थित हो। उदाहरण के लिए कोषाध्यक्ष के पास अनेक रूप में धन संग्रहीत रहता है। कोषाध्यक्ष उसे तिजोरी के प्रत्येक खाने में उसके मूल्य के अनुसार सुरक्षित रखता है—कहीं हजार के नोट, कही सौ के और कहीं पर रेजगारी। एक पैसा अथवा एक नोट कोष नहीं; कोष तो धन का सुव्यवस्थित रूप है। उसी प्रकार जीवन के असम्बद्ध दृश्य प्रायो-

गिक रूप में जीवन नहीं; उनकी सुव्यवस्था ही उन्हें जीवन कहलाने योग्य बनाती है। हमारा मस्तिष्क जीवन के इन स्फुट अंगों में समन्वय तथा सुव्यवस्था प्रस्तुत करता है जिसे हम अपने स्मृति-कोष में सुरक्षित कर देते हैं। यह विचार एक दूसरे उदाहरण द्वारा और भी स्पष्ट हो सकेगा। यदि हमसे पूछा जाय कि कैमरे द्वारा खींचे हुए किसी व्यक्ति के चित्र तथा चित्रकार द्वारा बनाये हुए किसी चित्र में क्या अन्तर है तो हम यह सहज ही कह सकेंगे कि कैमरे द्वारा खींचा हुआ चित्र आकृति के क्षणिक भावों को ही खींच पाया; उस क्षण जो भी भाव मुख पर था वही कैमरे द्वारा चित्रित हुआ, परन्तु चित्रकार का खींचा हुआ चित्र ऐसा नहीं। उस चित्र में क्षणिक भाव का चित्र नहीं, उस चित्र में तो समस्त चरित्र की मूक भावनाएँ सजीव हो उठी हैं। उसे हम जितना ही देखते हैं व्यक्ति की अनेकरूपेण भावनाएँ रंगो में साकार होती जाती हैं और हमारे सम्मुख जीवित व्यक्ति का मुख प्रस्तुत हो जाता है। कला का ध्येय भी यही है। वह क्षणिक अनुभवो को सजीव, आकर्षक तथा स्थायी रूप देने की चेष्टा करता है। क्रोचे की दृष्टि केवल इन्हीं क्षणिक अनुभवो अथवा दृश्यों में उलझ जाती है; वह जीवन की सम्पूर्णता पर दृष्टिपात नहीं करती; उसे महत्त्व नहीं देती।

पूर्वोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि कलाकार तो जीवन का आधार ग्रहण करेगा ही चाहे कोई भी दर्शनज्ञ कुछ भी कहे। और जब तक किसी मूर्त माध्यम द्वारा वह अपनी अभिव्यंजना नही करता पाठकवर्ग उसे समझ भी कैसे सकेगा, अनुसरण की बात तो दूर रही। अभिव्यंजना कला की प्राण है; परन्तु अभिव्यंजना का माध्यम साधारणतः वही रहेगा जिससे हम सभी परिचित हैं; क्रोचे की मूक अभिव्यंजना से किसे लाभ? कलाकार को कोई-न-कोई माध्यम तो चुनना ही पड़ेगा।

इसके साथ-साथ हमें यह भी देखना है कि क्रोचे ने सौन्दर्य-तत्त्व को कितना महत्त्व दिया है। प्रायः क्रोचे ने सौन्दर्य को महत्त्वपूर्ण समझा ही नहीं। आदिकाल से आज तक सभी कलाकारो तथा महत्त्वपूर्ण दर्शनज्ञो ने कला और सौन्दर्य का सम्बन्ध अटूट घोषित किया है। कला ही सौन्दर्य का निर्माणकर्त्ता है और सौन्दर्य की खोज ही में वह व्यस्त रहता है। यह कहना ठीक नहीं कि सौन्दर्य कोई बाह्य वस्तु है, बाह्याभरण है। सौन्दर्य तो कलात्मकता की रग-रग में प्रविष्ट रहेगा; वह उसके जीवन का अंग होगा और जो भी आनन्द हमें कला द्वारा प्राप्त होगा उसमें सौन्दर्य का हाथ बहुत-कुछ रहेगा। परन्तु क्रोचे के विचारों से यह स्पष्ट नहीं होता कि वह सौन्दर्य-निर्माण को

यह महत्त्व देते हैं। उनके विचारादर्श के अनुसार कलाकार विषय और उसके अनेक गुणों की ओर से विरक्त रहेगा; वह केवल वही प्रभाव व्यक्त किया करेगा जो उसने ग्रहण किये। प्रभाव कैसे हैं, कहाँ के हैं, इससे उसका कोई प्रयोजन नही। उसके लिए सभी कुछ, या जो भी कुछ उसके सम्मुख आए, उपयोगी होगा। परन्तु यह सिद्धान्त सत्य का समर्थन नही करता। क्रियात्मक कलाकार जीवन के केवल वही दृश्य, अनुभव अथवा मनोभाव चुनता है जिनमे सौन्दर्य निहित रहता है; यदि निहित नही भी रहता तो भी कलाकार अपनी कल्पनात्मक प्रेरणा द्वारा उसमें सौन्दर्य की प्रतिष्ठा कर देता है। सौन्दर्य की सृष्टि ही कला का जीवन है; वही कला का लक्ष्य है; वही पाठकवर्ग की सतत आकांक्षा है।

उपसंहार

उपरोक्त विवेचन के फलस्वरूप हमे यह निश्चय करना चाहिए कि कौनसे सिद्धान्त आलोचक को मान्य होने चाहिएँ और कौनसी आलोचना-प्रणाली वास्तव में श्रेष्ठ होगी। प्रायः जब हम कोई कलापूर्ण रचना पढते है तो धीरे-धीरे हम वही अनुभव करने की चेष्टा करने लगते हैं जो कलाकार ने किया था। परन्तु प्रत्येक पाठक के मन मे विभिन्न अनुभव उठते है और कदाचित् कलाकार के अनुभव-स्तर को हम छू नहीं पाते। और फिर हमें हमारा व्यक्तित्व भी तो बन्दी बनाए रखता है जिसके फलस्वरूप हमें अपना निजी दृष्टिकोण ही रुचिकर होने लगता है; अन्य लोग चाहे जो भी कहे हमे अपना ही अनुभव रुचिकर और सन्तोषप्रद दिखाई देता है। इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को समझकर कदाचित् हमें निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली से दूर ही रहना पडेगा। श्रेष्ठ आलोचक बनने के लिए हमें अपने निर्णय देने के अधिकार को सीमित ही रखना पडेगा। और यदि सच पूछा जाय तो यह आलोचक के लिए अपेक्षित भी नहीं, क्योकि उसे अपनी रुचि-विशेष दूसरे के सिर मढ़ने का अधिकार ही क्या। हाँ यह हो सकता है कि आलोचक अपना निजी अनुभव बतला तो दे परन्तु अन्य पाठकों को अपने-अपने निर्णय पर पहुँचने के लिए स्वतन्त्र कर दे।

यह तो रही आलोचनात्मक निर्णय की बात। आलोचकों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में कुछ पाश्चात्य साहित्यकारो का मत है कि आलोचकों के विभिन्न वर्ग बनाकर उनकी आलोचना-प्रणालियो का परिचय पाठको को दे दिया जाय। इस वर्गीकरण से पाठक आलोचना-शैली और आलोचक दोनों से परिचित हो जायँगे। यह समस्या अत्यन्त जटिल है, कदाचित् इसका हल असम्भव भी

है। पुराने आलोचकों का तो चाहे वर्गीकरण हो भी जाय परन्तु नवीन आलोचकों के वर्गीकरण की चेष्टा विफल रहेगी। कारण यह है कि एक ही आलोचक अनेक प्रणालियों का सहारा मनोनुकूल लेता रहता है और उसे केवल एक ही प्रणाली में जकड देने में हमें कठिनाई होगी। साहित्य के समान आलोचना भी एक व्यापक वस्तु है। एक ही वर्ग के आलोचकों मे हमें अनेक विभिन्नताएँ मिलेंगी और अनेक विभिन्न वर्गों मे भी बहुत समानताएँ दिखलाई देंगी। हमारे विवेचन का तात्पर्य केवल यह है कि हम पाठको को स्पष्टतया बतला सकें कि कौन-कौनसे मार्ग आलोचकों के लिए प्रशस्त हैं और मनोनुकूल वे किन-किन प्रणालियो का सहारा समय-समय पर लेते आए हैं। हाँ, कुछ-न-कुछ प्रयोगात्मक संकेत हम स्पष्ट रूप से दे चुके हैं—ऐसे संकेत जो आलोचना के आधार-स्वरूप रहे हैं और इन्हीं संकेतो को आलोचक अपनाते भी आए हैं। इनके अन्तर्गत हम राष्ट्रीय तथा सामाजिक वातावरण, अथवा कलाकार के व्यापक अथवा एकांगी व्यक्तित्व, अथवा उसकी रचना का मनोनुकूल अध्ययन, अनुभव तथा विवेचन कर सकते हैं। हमे इनमे से एक अथवा तीनो दृष्टिकोणो को अपनाना पड़ेगा—इसके सिवाय और कोई चारा नहीं। और यही तीन मूल आधार सम्पूर्ण आलोचना-प्रणाली मे घूम-फिरकर दिखलाई देंगे। इसके साथ-साथ यह भी स्पष्ट रूप से कह देना श्रेयस्कर होगा कि इनमें कोई भी आधार न तो सर्वश्रेष्ठ है और न हीन। पाठकों और आलोचको का यह आग्रह रहा करता है कि उनको स्पष्टतया यह बतला दिया जाय कि इन तीनों में कौन-सी प्रणाली सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रकार का निर्णय देना आलोचना के पहले ही तत्त्व की अवहेलना करना है; और यह आग्रह असाहित्यिक भी होगा। सबसे श्रेष्ठ प्रणाली वही है जिसके द्वारा आलोचक अपना विवेचन स्पष्टतया प्रभावोत्पादक तथा तीव्र रूप मे दे सके। किसी एक ही प्रणाली को आदर्श मानकर सम्पूर्ण आलोचना को उसी में सीमित कर देने का फल यह होगा कि समस्त साहित्य की आलोचना एक-सी होने लगेगी—शुष्क और नीरस। एक ही प्रणाली को उत्कृष्ट घोषित कर हम स्वयं तो उसके दास हो ही जायँगे और दूसरों को भी उसका दास बना लेंगे जिसका फल यह होगा कि आलोचना आलोचना न होकर एकस्वरीय साहित्यिक कीर्तन समान हो जायगी। दासता तो प्रत्येक क्षेत्र में अहितकर है—राजनीति में हो अथवा समाज मे अथवा साहित्य में। यही कारण है कि पश्चिमी आलोचना-क्षेत्र में अंग्रेज़ी आलोचक जॉन ड्राइडेन का महत्त्व कहीं अधिक है। वह कभी भी अपनी बात पक्की तरह से नहीं कहेंगे; अनुभव के अनुसार सदैव अपना विवेचन उलटते-पलटते रहेंगे और उनकी

आलोचना एक-न-एक नवीन दृष्टिकोण उपस्थित करती रहेगी। ऐसे आलोचक जो अपने जीवनानुभव की विभिन्नता के साथ-साथ समस्त जीवन की विभिन्नताओं का परिचय देते रहेंगे कभी भी अपनी लोकप्रियता नहीं खोएँगे, वे साहित्य को सदैव नव जीवन प्रदान करते रहेंगे। अंग्रेजी साहित्य के महान् लेखक डॉक्टर जॉनसन का कथन है कि कुछ आलोचक[1] हमें रह-रहकर आश्चर्यित करते हैं और कुछ सदैव आनन्द प्रदान करते रहते हैं। इनकी आलोचना-शैली की विशेषता यह है कि जब-जब ये आलोचना करते हैं स्वयं अपने व्यक्तित्व को स्पष्ट करते जाते हैं और हमे यह विश्वास होने लगता है कि जो-कुछ भी ये लोग कह रहे हैं, हृदय से कह रहे हैं। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि आलोचना किस सीमा तक आलोचक के व्यक्तित्व को भुलाए या दूर रखे। आलोचना को अव्यक्तिगत अथवा इम्पर्सनल बनाने में कुछ आलोचक अपने को कलाकार में पूर्णतया समो देते है और तत्पश्चात् अपना विवेचन देना आरम्भ करते हैं। परन्तु उनकी यह चेष्टा विफल रहती है क्योंकि वे तीन साधनो से ही कलाकार के हृदय में प्रविष्ट हो सकते है और उसकी अन्तरात्मा में अपने को भुला सकते हैं—पहला साधन है उनका प्रेम, दूसरा सहानुभूति और तीसरा उनका स्वाभाविक सारल्य। और यही तीनो साधन व्यक्तित्व को भी तो स्पष्ट करते हैं और ज्यों-ज्यो आलोचक इन साधनो को अपनाता जायगा अपने व्यक्तित्व को भी स्पष्ट करता जायगा। इसलिए अव्यक्तिगत आलोचना की चर्चा कुछ असंगत-सी ज्ञात होती है। कुछ आलोचक तो साफ-साफ यह कह बैठते है कि उनका ध्येय व्यक्तित्व छिपाना है ही नहीं। चाहे कुछ भी हो हम यह भली प्रकार अनुभव द्वारा जानते हैं कि हमे वे ही आलोचक प्रिय रहे हैं और रहेंगे जो अपने व्यक्तित्व का अधिक-से-अधिक प्रदर्शन करेंगे और जिनकी निजी भावनाओ और रुचियो का हम तीव्र-से-तीव्र रूप मे अनुभव करते रहेंगे।

वास्तव में आलोचना शब्द की बहुत दुर्गति बनाई गई है और आलोचकों की भी कम हँसी नहीं उड़ाई गई। कहा जाता है कि आलोचना से बढ़कर कोई और हीन और निकृष्ट वस्तु नही क्योंकि वह दूसरे के रक्त पर ही पनपती है और असफल कलाकार ही आलोचक बन बैठते हैं। अनेक लेखको ने यही विचार विभिन्न रूप मे रखे हैं परन्तु ये धारणाएँ भी असाहित्यिक और निर्मूल हैं। न तो आलोचना दूसरे के रक्त पर पनपती है और न असफल कलाकार ही आलोचक बन बैठते है। इसका सर्वश्रेष्ठ प्रमाण हम अनेक आलोचकों का नाम गिनाकर दे सकते हैं जो न तो कलाकार के रूप मे असफल रहे और न जिन्होंने

१. ड्राइडेन, जॉनसन, हैज़लिट, कॉलरिज, लैम्ब।

आलोचना को हीन समझा। अंग्रेज़ी-साहित्य के आलोचक तथा कवि कॉलरिज का नाम इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। न तो वे असफल कलाकार थे न हीन आलोचक; उनकी आलोचना में वही नवीनता तथा उत्कृष्टता है जो उनकी कविता में थी और जब-जब उन्होंने आलोचना करने के लिए लेखनी उठाई उन्होने अपना व्यक्तित्व तथा कला का व्यापक महत्त्व पूर्णरूपेण प्रदर्शित किया। काव्य के समान आलोचना भी जीवन-तत्त्वों का विवरण देती रहेगी।

इस स्थान पर यह भी कह देना उचित होगा कि आलोचना को श्रेष्ठातिश्रेष्ठ अथवा उत्कृष्ट स्तर पा लेना असम्भव है; और किसी भी महान् कलापूर्ण रचना की निर्णयात्मक आलोचना मानव-शक्ति के परे होगी। किसी भी आलोचक ने किसी बड़े कलाकार की प्रतिभा पर अन्तिम निर्णय देने की धृष्टता नहीं की। प्रत्येक नवीन आलोचक कलाकार के व्यापक कला-क्षेत्र से कोई-न-कोई नवीन तथ्य ढूँढ निकालता है और श्रेष्ठ कलाकार भी वही है जो आलोचक के इस प्रयत्न को पूर्णतया सफल होने दे। 'जिन ढूँढ़ा तिन पाइया' वाला आदर्श आलोचकों का भी होना चाहिए। जीवन से सम्बन्धित सभी कलाएँ अपने अन्तर में अनेक गोपनीय पहेलियाँ छिपाए रहती हैं और आलो-

नेति-नेति कहता हुआ भी अपना प्रयत्न नहीं छोड़ता। भारतीय आलो-चकों को भी इसी प्रयत्न मे संलग्न रहना हितकर होगा।

४

प्रगतिवादी आलोचना

: १ :

प्रगतिवादी आलोचना की भूमिका

वास्तव में यदि देखा जाय तो आलोचना का प्रयोग साहित्य का मूल्य ही परखने के लिए हुआ है और भविष्य में भी होता रहेगा। और जब तक साहित्य तथा जीवन का सम्बन्ध सतत मान्य रहेगा तब तक इसमे सन्देह नहीं कि आलोचना जीवन से ही सम्बन्धित रहेगी। फलतः आलोचक का कर्त्तव्य केवल अपनी निजी रुचि का प्रदर्शन मात्र न होकर दर्शन-शास्त्र से सम्बन्धित होगा क्योंकि जीवन दर्शन की ही गोद में फूलता-फलता है।

मूल्यांकन ही, जैसा हम संकेत दे चुके है, आलोचना का प्रमुख ध्येय रहेगा, परन्तु इस ध्येय की पूर्ति केवल साहित्यिक अथवा सौन्दर्यात्मक नियमो के अनुसरण द्वारा नहीं हो सकेगी। इसका कारण यह है कि कलाकार का जीवन से बहुमुखी सम्बन्ध है; उसका एक अलग दृष्टिकोण है; उसकी एक अलग रुचि है और जिस संसार मे वह रहता है उसकी ओर वह व्यक्तिगत दृष्टि से देखा करता है। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि आलोचना कलाकार के इस बहुमुखी सम्बन्ध का विवेचन करे; उसकी उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता प्रकाशित करे। आलोचक को यह जानने पर बाध्य होना पडेगा कि कलाकार की कला जीवन के प्रश्नों का कौनसा हल देती है; वह अनेक सामाजिक जटिलताओं का कौनसा सुझाव प्रस्तुत करती है और जीवन तथा मनुष्य से सम्बन्ध रखने वाली चुनौतियो का क्या उत्तर देती हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार-स्वरूप यह भी कहा जा सकता है कि जो भी सभ्यता तथा संस्कृति हमें अपने पूर्वजो से पैतृक सम्पत्ति के रूप मे मिली है उसका निर्णय तथा उसकी सजावट उस काल मे प्रस्तुत सामग्री द्वारा हुई होगी। काल तथा समय की आवश्यकताओ ने ही उनकी रूप-रेखा निर्धा-

रित की होगी। परन्तु ज्यों-ज्यों समय परिवर्तित होता गया त्यों-त्यों जीवन की आवश्यकताएँ भी परिवर्तित होती गईं और आज ऐसा समय आ गया है कि जिस प्रकार हमारे पूर्वज जीवन के प्रश्नों को समझते-बूझते थे उसी प्रकार हम उन्हें समझ-बूझ नहीं पाते। पग-पग पर पुरानी विचार-शैली आज के जीवन में विरोध तथा द्वन्द्व प्रस्तुत करने लगी है। ऐसी परिस्थिति में यह आशंका सदा बनी रहेगी कि कहीं कलाकार समय की गति में बाधक हो रोड़े तो नहीं बिछा रहा है; कहीं वह पुरानी सभ्यता तथा संस्कृति के बचाव में ही अपनी समस्त शक्ति तो नही लगा रहा है? अगर समय की गति न पहचानकर वह उन विचारों को प्रश्रय देने लगा है जो प्राचीन युग के लिए थे तो क्या प्रगति तथा उन्नति का मार्ग अवरुद्ध न होने लगेगा? इसमें सन्देह नहीं कि जीवन स्थिर नहीं; वह सतत गतिशील रहता है और यदि उसमें स्थिरता आ गई तो समस्त समाज प्राणहीन होने लगेगा और ज्यों ही समाज गतिहीन हुआ कला और साहित्य भी गतिहीन होकर निष्प्राण होने लगेंगे।

आधुनिक काल का द्वन्द्व

वर्तमान काल में कला तथा साहित्य-क्षेत्र में जो द्वन्द्व प्रस्तुत हो गया है उसका कारण यह है कि साहित्यकार, कलाकार की हैसियत से तो प्राचीनता का पोषक रहता है परन्तु मनुष्य अथवा व्यक्ति की हैसियत से वर्तमान का अंग भी बना रहता है। इसीलिए उसके व्यक्तित्व के दो टुकड़े हो जाते हैं जो आलोचक के लिए विचित्र उलझनें प्रस्तुत करते हैं।

आज के कलाकार के सम्मुख दो परिस्थितियाँ हैं जिनसे उसे एक को अवश्य ही अपनाना पड़ेगा। उसे या तो प्राचीन अथवा रूढ़िपूर्ण विचारों को अपनाना पडेगा जिनका आज के जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं अथवा उसे वर्तमान के उद्वेलित विचार-सागर में गोते खाने के लिए तत्पर रहना पड़ेगा जो आज के जीवन का प्रतिरूप है। इन दोनो विपरीतादर्शों में उसे एक को तो अपनाना ही पड़ेगा और यह भी सम्भव है कि कुछ कलाकारो की क्रियात्मकता इस संशय और द्वन्द्व मे पडकर कुण्ठित भी हो जाय। प्रस्तुत द्वन्द्व को हम ऐतिहासिक दृष्टि से स्पष्ट करते हुए यह कह सकते हैं कि आज का संसार दो अखाड़ों में बँट गया है—एक है साम्राज्यवादियो तथा पूँजीवाद का और दूसरा है श्रमिक-वर्ग का, जो पूँजीवाद तथा वर्ग-विभेद को मिटाकर साम्यवाद की स्थापना मे तत्पर है। इस वर्ग का विश्वास है कि विना वर्ग-विभेद मिटाए न तो साम्यवाद की स्थापना होगी और न मानव सुखी और सम्पन्न हो पाएगा। इस वर्ग के व्यक्तियो का कथन है कि प्रजातन्त्रीय राष्ट्र अपनी जड़

स्वयं खोद रहे हैं और तानाशाही को जन्म दे रहे है जिसके फलस्वरूप भूख तथा महामारी बढेगी, युद्ध होगे; व्यक्तिगत तथा सामाजिक बन्धन सुदृढ होगे, मानसिक स्वातन्त्र्य पर आघात होगा और अन्त में साहित्य और कला की मर्यादा गिर जायगी और केवल वही साहित्य तथा कला पनपेगी जो नितान्त निष्प्राण तथा कुरुचिपूर्ण होगी। यह सिद्धान्त पुराने समय में कितना भी मान्य क्यों न रहा हो कि साहित्य और कला तथा समाज और राजनीति के क्षेत्र अलग-अलग हैं परन्तु अब समय ऐसा आ गया है कि दोनो को एक-दूसरे का सहारा ढूँढना पड़ेगा। साहित्य अपने को राजनीति तथा सामाजिक वातावरण से अछूता नहीं रख सकता।

वर्तमान काल मे हम प्रतिदिन उन सभी सामाजिक व्यवस्थाओं की छीछालेदर देख रहे हैं जो हमें प्राचीन काल से सांस्कृतिक धरोहर के रूप में मिली हैं। आज का युग द्वन्द्व, वैषम्य, उथल-पुथल तथा अस्तव्यस्तता से भरा हुआ है और क्या जाने इसका भविष्य नितान्त अन्धकारपूर्ण ही हो। ऐसी परिस्थिति मे यह स्वाभाविक ही है कि कुछ साहित्यकार प्राचीन का ही पल्ला पकड़ें, अपने विश्वास को दृढ रखें और वर्तमान से विमुख रहे। इनके लिए यह भूल जाना स्वाभाविक ही है कि जो भी सभ्यता तथा संस्कृति हमें प्राचीन काल से वरदान-रूप में मिली उसका जन्म तथा उसका उत्थान अनेक जीवन-यापन रीतियों के समन्वय पश्चात् हुआ है और उस युग के समन्वय और उसके विश्वास को हम फिर इस जीवन मे नहीं पा सकते। जिस प्रकार से जो-कुछ भी हम आज कर-धर रहे हैं उसी के आधार पर हमारी भावी संस्कृति का निर्माण होगा, उसी प्रकार जो भी हमारे पूर्वजों ने सोचा-समझा, किया-धरा, उसी के आधार पर आज की सभ्यता निर्मित हुई है।

रूढिवादिता को अपनाने वाले आलोचकों तथा साहित्यकारो का मत है कि जो समाज अपने पूर्वजो के साहित्यादर्शों पर श्रद्धा तथा भक्ति नहीं रखता बर्बरता की ओर अग्रसर होगा[1]। इसके विपरीत विरोधी दल का यह कहना है कि जो भी क्रियात्मक कलाकार समाज के गतिपूर्ण जीवन और वर्तमान उथल-पुथल से अपने को परे रखेगा उसकी कला और उसका साहित्य थोथा, निष्प्राण और निरर्थक होगा।[2] यदि आज का साहित्य-

१. टी० एस० इलियट

२. इसी नियम के आधार पर इस वर्ग के आलोचको ने दाँते को शेक्सपियर से अधिक सराहा है। उनका कथन है कि दाँते की कविता मे अपूर्व भाव-सामंजस्य है जो अन्यत्र कही नहीं मिलता, दाँते के लिए यह कार्य सम्भव भी

कार प्राचीन रूढ़ि का बोझ अपने कन्धों पर उठाएगा तो उस बोझ से वह दब ही नहीं जायगा वरन् उसमें अपना जीवन भी खो देगा। इस जटिल प्रश्न पर सम्यक् रूप में हम तभी विचार करने में सफल हो सकेंगे जब हम आज के साहित्य की गति-विधि जान लें, उसका स्रोत ढूंढ लें, उसकी आवश्यकता अथवा अनावश्यकता पर प्रकाश डाल लें, उसके महत्त्व को पहचान लें। तत्पश्चात् यह विचार करें कि क्या इन दोनों विपरीतादर्शों में समन्वय की सम्भावना है अथवा नहीं; और यदि समन्वय की सम्भावना है तो हमें किन-किन तत्त्वों को अपनाना चाहिए और कौनसा दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण साहित्य-सृजन के लिए श्रेष्ठ होगा।

आज का समाज तथा साहित्य

आज के साहित्य का यदि हमें समुचित दर्शन करना है तो उसके लिए सबसे उपयुक्त स्थान रेलवे का बुक स्टाल होगा। बुकस्टाल पर दृष्टि डालते ही हमें 'रसीली कहानियां', 'मनोहर कहानियां', 'सजनी', 'माया', 'नर्तकी', 'फिल्मी दुनिया', 'नोक-झोंक', 'मतवाला' हिन्दी में, 'स्ट्रैन्ड', टिट-बिट्स; 'ओरियेण्ट', 'बेस्ट थ्रिल्स', 'वाइड वर्ल्ड', 'फिल्म इण्डिया', 'हाऊ आई बिकेम ए प्रास्टीच्यूट', 'कन्फ़ेशन्स आव ए यंग गर्ल', 'पंच' इत्यादि अंग्रेज़ी में, 'मस्ताना जोगी', 'सुरैया', 'शबनम,' 'शोग्राए उर्दू', 'फिल्मी गानों का मजमूआ' इत्यादि उर्दू मे तितरे-बितरे दिखलाई देंगे। इन पत्रिकाओ के कुछ तो शीर्षक से ही और कुछ की विषय-सूची देखने

था। मध्ययुग की विचारधारा स्थिरतापूर्ण श्रद्धा तथा भक्ति का सहारा लिये, धर्माधिकारी वर्ग की छत्रछाया मे रहती हुई, भावो का समन्वय अनिवार्य रूप मे प्रस्तुत करती है। दाँते स्वयं उस धार्मिक ऐक्य के अंग थे। इसके विपरीत शेक्सपियर के लिए यह सम्भव न था। वे आधुनिक युग के अस्थैर्य, विश्लेषण, तर्क, प्रयोग तथा वैज्ञानिक औत्सुक्य से प्रेरित थे। वे पात्रों के चरित्र का विश्लेषण कुशल विशेषज्ञ के समान करते थे। उसकी भावनाओं को भी वे अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से विकीर्ण किया करते थे। यही चॉसर ने भी किया था, पुनर्जागृति के सभी साहित्यकारो ने भावो के समन्वय को प्रस्तुत करने की चेष्टा न कर उनका विश्लेषण ही किया। परन्तु मध्ययुग के कलाकार तत्कालीन वातावरण के अनुसार भावनाओं के रूप तथा उनकी अन्य सम्बन्धी भावनाओं मे ऐक्य स्थापित करने मे संलग्न थे। आधुनिक जगत् का प्राणी संसार और प्राचीन सामाजिक व्यवस्था को ज्यों-का-त्यों ग्रहण करने को तैयार नहीं और न उसे सम्पूर्ण, अटल और अचल ही समझता है। उसमें औत्सुक्य की मात्रा

पर उनके विषयों का आभास मिल सकता है। इनका अधिकांश रोमांचक, रहस्य मय, सेक्स तथा चलती-फिरती भावनाओं से भरा हुआ मिलेगा; जासूसी कहानियों की भरमार होगी; प्रेमी तथा प्रेयसी के उच्छ्वासो से भरे हुए गीतो का अम्बार लगा होगा; रजतपट की अभिनेत्रियो के अर्द्ध-नग्न चित्र हर दूसरे पन्ने पर होंगे और हर पत्रिका के दशांश में ऐसी वस्तुओ का विज्ञापन होगा जो युवाओं तथा वृद्धों के उपयोग की वस्तुएँ होंगी। कुछ इधर-उधर दबी-दबाई शिक्षापूर्ण पुस्तिकाएँ भी होंगी जिन पर नजर कहीं बाद में पड़ेगी; कुछ पहेलियाँ तथा क्रास-वर्ड सुलझाने वाली पुस्तकें होंगी और कुछ दूर देशो की यात्रा-सम्बन्धी ऐसी पुस्तकें होंगी जहाँ के निवासियों की स्त्रियों तथा आभूषणों का वर्णन अधिक होगा और अन्य वस्तुओ का कम। वास्तव में पत्रिकाओं की यह सूची ऐसी है जिसे अंग्रेजी, अमरीकी तथा भारतीय समाज सहज ही अपना लेता है और अत्यन्त ललकपूर्ण दृष्टि से इसकी ओर देखता है।

आजकल की रोमांचक रचनाओं से भारतीय युवा-समाज सहज ही आकृष्ट होता है और प्रेम-जगत् के स्वर्णिम स्वप्नो का वर्णन जो उन्हे पढने को मिलता है उन्हें लोरियां दिया करता है। फिल्म-जगत् की कहानियों को सुनने के उपरान्त वे स्वयं अपने को नायक समझकर तथा किसी स्वप्न-जगत् की नायिका को जीवन-संगिनी बनाने की व्यवस्था में दिन और रात व्यतीत करते हैं। सिने-पट की तारिकाएँ उन्हें लालसा के झूले में सतत झूला झुलाया

इतनी बढ़ी हुई है कि वह संसार के आधारभूत तत्त्वो को अपनी आँखो देखा चाहता है। प्राचीन श्रद्धायुक्त धार्मिक दृष्टिकोण ने अपना स्थान वैज्ञानिक विश्लेषण को दे दिया है। इस रूढ़िवादी वर्ग के विचारक यह सहज ही भूल जाते हैं कि दाँते की भावनाओ के समन्वय मे धर्म, राजनीति तथा सामाजिक व्यवस्था का पूरा सहयोग था। बिना इन सहारो के उनका श्रद्धापूर्ण दृष्टिकोण सम्भव ही न होता। इतना होते हुए भी इस विचार के पोषक यह मानने को तैयार नही कि साहित्य का समाज तथा राजनीति से गहरा सम्बन्ध अनिवार्य है।

इन्हीं रूढ़िवादी विचारो के आधार पर वे कहते हैं कि कला और काव्य धर्म, राजनीति अथवा दर्शन से अछूते रहने चाहिएँ। कवि को अपनी कला का माध्यम अन्य प्रभावो से बचाना होगा; और आलोचक को केवल साहित्य-निर्माण की बारीकियो, शैली, शुद्ध शब्द-प्रयोग इत्यादि पर ही विशेष जोर देना होगा। इन विचारो के पोषको मे मैथ्यू आरनल्ड, टी० एस० इलियट तथा आई० ए० रिचर्ड्स प्रधान हैं।

करती हैं। उनके गीतों को वे यथासम्भव अवकाश के समय गुनगुनाया करते हैं।

विज्ञान तथा साहित्य और कला के नाम पर बिकने वाली 'ज्योतिषी बनिए', 'अध्यात्मवादी जीवन', 'मनोविज्ञान द्वारा हमारे स्वप्नों का हल', 'हस्तरेखा शास्त्र', इत्यादि पुस्तकें हमारे जीवन के जटिल अवकाश को विक्षिप्त किये रहती हैं। ढेर-के-ढेर विज्ञापन भी हमारे सम्मुख रहेंगे। कहीं हमें रोगो की अचूक औषधियाँ दिखाई देंगी और वृद्धावस्था को युवावस्था मे परिणत करने की तरकीबें बतलाई जायँगी। सौन्दर्य तथा आकर्षण बढाने के नवीन-से-नवीन उपचार तथा प्रसाधन के लिए नवीन-से-नवीन सुगन्धिपूर्ण वस्तुओं का वर्णन वहाँ मिलेगा। संक्षेप में, इन विज्ञापनों द्वारा हमें उन वस्तुओ को खरीदने पर विवश किया जाता है जिनकी हमें जरा भी आवश्यकता नहीं और साथ-ही-साथ ऐसी वस्तुओं को आवश्यकता भी बढाई जाती है जिनकी पूर्ति हम नहीं कर सकते। लखपती होने के अनेक लटकों और जीवन का आनन्द पग-पग पर लूटने के अनेक साधनो को यह विज्ञापन-जगत् हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है। यह परिस्थिति पश्चिम में नहीं पूर्व में भी पूर्णतया उपस्थित है। हमारे साधारण तथा मध्यमवर्गीय समाज के पास न तो इतना अवकाश है कि वे गम्भीर साहित्य का अध्ययन कर सकें और न इस समय उनकी ऐसी रुचि ही है कि वे ऐसे लेखको से आकर्षित हो जो श्रेष्ठ तथा गम्भीर साहित्य-सृजन में कार्यरत हैं।

पाठक-वर्ग की गम्भीर साहित्य पढने की शक्ति मानो छिन-सी गई है और वे थके-थके-से प्रतीत होते हैं। उन्हे सत्-साहित्य तथा गम्भीर विषयों के अध्ययन की न तो शिक्षा ही मिली है और न ऐसा वातावरण ही प्रस्तुत है जिससे प्रोत्साहन पाकर वे इस ओर आकृष्ट हों। जो जन-वर्ग औद्योगिक कल-कारखानो मे लगा हुआ है उसका कार्य इतना नीरस, उत्साहहीन तथा मस्तिष्क और मांस-पेशियो को इतना थका देने वाला होता है कि कार्य की समाप्ति पर वह ऐसे साधनों द्वारा आनन्द की प्राप्ति चाहता है, जिसके ग्रहण करने मे उसे जरा भी प्रयत्न न करना पडे। वह केवल यह चाहेगा कि वह निश्चेष्ट बैठा रहे और उसे आप-ही-आप आनन्द की प्राप्ति होती रहे। वास्तव मे उसकी मानसिक दशा वैसी ही है जैसी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भारत-दुर्दशा नाटक में अफीमची की चित्रित की है। ऐसा ज्ञात होता है कि हमारा पाठकवर्ग मुँह खोले पड़ा हुआ है और आज का साहित्य उसमें बूंद-बूंद अपना रस टपका रहा है तथा धीरे-धीरे वह आँखें मूंद लेता है और सबेरा होते ही फिर अपने

कार्य में ज्यों-का-त्यों लग जाता है।

इस सामाजिक तथा मानसिक परिस्थिति के लिए साम्राज्यवाद तथा पूंजीवाद ने अनेक साधन प्रस्तुत कर रखे हैं जिनमें साहित्य भी है। कुरुचि-पूर्ण पत्रिकाएँ, इन्द्रियवादी साहित्य, सिनेमा गृह, थियेटर, नाच-गाने के महोत्सव, खेल-कूद के थोड़े-बहुत साधन, जासूसी उपन्यास, रोमांचकारी कहानियाँ, रेडियो, मदिरालय, वेश्या-गृह, इत्यादि प्रचुर मात्रा में प्रस्तुत हैं। इसके फल-स्वरूप ऐसा हुआ है कि गम्भीर विषयों के लेखकों ने या तो अपनी पुस्तकें प्रकाशित करवाना बन्द कर दिया है या वे केवल अपने मित्रों की संख्या के हिसाब से ही उनका प्रकाशन कराते हैं। जो अधिक संयमी तथा आदर्शवादी नहीं हैं उन्होंने पूंजीवाद की थोड़ी-बहुत बात मान भी ली है और सर्वसाधारण की रुचि के अनुकूल कुछ कहानियाँ तथा नाटक लिख डाले है। ये कहानियाँ तथा नाटक-संग्रह ऐसे हैं जिनके अध्ययन मे न तो मानसिक शक्ति की आवश्यकता पड़ती है और न उनमे किसी गम्भीर विषय का निरूपण ही रहेगा। आधुनिक पाठकवर्ग गम्भीर विषयो से दूर भागता है और वह उन्हीं पुस्तको को चाव से पढता है जो न तो उसके मस्तिष्क को थकाएँ और न उसे सोचने पर विवश करें। वह ऐसा साहित्य नहीं चाहता जो संसार को दुःखपूर्ण तथा जीवन को निरर्थक प्रमाणित करे; वह यह भी नहीं चाहता कि उसके सम्मुख सामाजिक तथा राजनीतिक जटिलताओं की गुत्थियां सुलझाई जायँ। यह बात केवल पश्चिमी देशों—इंगलिस्तान तथा अमरीका—पर ही लागू नहीं होती, आधुनिक भारतीय साहित्य पर भी लागू होगी। जिन पश्चिमी लेखको ने अभूतपूर्व सफलता पाई है और जिनकी रचनाओ के अनेक संस्करण बात-की-बात मे बिक गए वे वही लेखक है जिन्होंने जनसाधारण की विकृत रुचि और कुरुचिपूर्ण लालसा को भली भांति समझकर उन्हे उनकी प्यारी वस्तु अर्पित की। एक सफल व्यापारी की भांति इन लेखकों ने भी साहित्य की मांग को पूरा किया और उसकी मांग भी बढ़ाई।

सामाजिक जीवन की विषमता तथा प्रगतिशीलता की आवश्यकता

उपर्युक्त परिस्थिति हमारे सामाजिक जीवन की विषमताओं के कारण ही उत्पन्न हो गई है। हमारा आज का सामाजिक जीवन त्रस्त है; हममे से अनेक बेकार है और अनेक जी-तोड परिश्रम करने पर विवश हैं। एक ओर भूख का बाजार गरम है और दूसरी ओर हरे-भरे खलिहानों में इसलिए आग लगा दी जाती है कि खाद्य-पदार्थों का मूल्य ज्यों-का-त्यों बना रहे। हमारा धर्म, हमारा समाज-शास्त्र, हमारी शिक्षा-

दीक्षा—सभी कुछ ऐसे अस्त-व्यस्त तथा निरर्थक जान पड़ने लगे हैं कि कुछ कहते नहीं बनता। यहीं पर प्रगतिशील लेखक की आवश्यकता आ पड़ती है। प्रगतिवादी लेखक का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि इन विषमताओं की ओर जनसाधारण का ध्यान आकृष्ट करे; जो अस्तव्यस्तता फैल गई है उसे प्रकाश में लाए; उन पर व्यंग्य-बाण बरसाए; उनकी ओर हमें देखने पर बाध्य करे और कार्य-कारण के सम्बन्ध को जानने पर विवश करे। परन्तु इस महती कर्त्तव्य के पालन के लिए दो बातों का ध्यान अवश्य रखना पड़ेगा। पहले तो लेखक को प्राचीन लेखकों की महान् कृतियों का अध्ययन करना पड़ेगा; विशेषतः उन महान् आत्माओं की रचनाओं का पारायण आवश्यकीय होगा जिन्होंने अपनी कला द्वारा समस्त समाज को चमत्कृत ही नहीं किया वरन् उन्हें उत्तेजना तथा चेतना प्रदान की। दूसरे उसे आधुनिक समाज की अस्त-व्यस्तता को तर्क-रूप में समझना होगा और जहां ये दोनों बातें सम्भव हुईं प्रगतिवादी साहित्य की अविरल धारा फूट निकलेगी। संक्षेप मे, यह कहना असंगत न होगा कि अपने सम्यक् अध्ययन तथा अनुभव के उपरान्त प्रगतिशील लेखक हमारे वर्तमान समाज की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न करेगा और हमारी सामाजिक चेतना को प्रेरणा प्रदान करेगा। अब प्रश्न यह उठता है कि हमारी सामाजिक गुत्थियों को सुलझाने वाला साहित्य और हमारे अस्त-व्यस्त राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन की झांकी दिखलाने वाला साहित्य क्या श्रेष्ठ और कलापूर्ण होगा? क्या इस कार्य की पूर्ति और इस कर्त्तव्य-पालन में कला विदा नहीं ले लेगी? क्या इस आभार को वहन करने के फलस्वरूप साहित्य श्रेष्ठता के स्तर से गिर न जायगा? इस प्रश्न का समुचित हल ढूंढने के लिए हमें साहित्य की परिभाषा पर पुनः ध्यान देना पड़ेगा और उसके तत्त्वों का पुनः समुचित विवेचन करना पडेगा।

: ३ :

प्रगतिशील साहित्य में कला का स्थान

कदाचित् यह सर्वसम्मत है कि श्रेष्ठ साहित्य-निर्माण के लिए आनन्द आवश्यक तत्त्व है। साहित्य तभी श्रेष्ठ अथवा महत्त्वपूर्ण होगा जब उसके अध्ययनोपरान्त हमे आनन्द की प्राप्ति हो, हमें उसके अध्ययन में आकर्षण दिखलाई दे। इसके साथ-साथ यह भी मानना पडेगा कि जो भी साहित्य और जो भी वस्तु कलात्मकता से परे होगी और असंगत तथा अव्यवस्थित रूप में हमारे सम्मुख आएगी हमें आनन्द न दे सकेगी। यदि वह ऐसे रूप में हमारे सम्मुख आई जिसमें हम उसकी अनेक न्यूनताओं को

प्रत्यक्ष देखेंगे तो वह हमें और भी अप्रिय लगेगी और हम उससे विमुख हो जायँगे। इसलिए जो भी श्रेष्ठ साहित्य होगा उसके निर्माण में कला का प्रयोग अवश्य ही होगा; तभी उसमें आनन्ददायी तत्त्व विकसित होगा अन्यथा नहीं। यों तो जिन श्रेष्ठ लेखको की कृतियाँ हम पढते हैं हमे ऐसा आभास मिलता है कि उन्होंने सहज ही उसे लिख डाला होगा; उन्हे जरा भी परिश्रम नही करना पड़ा होगा। परन्तु सच बात तो यह है कि जो कलापूर्ण कृति हमारे सम्मुख प्रस्तुत की गई उसमें लेखक को सतत परिश्रम करना पडा है और उसकी सहज कलात्मकता सरलता से नहीं वरन् बहुत साधना के उपरान्त प्राप्त हुई है।

इसके साथ-साथ इस प्रश्न पर भी अनेक लोग सहमत हैं (विशेषतः पूर्व के देशों के मनुष्य) कि वर्तमान राजनीतिक जीवन तथा सामाजिक व्यवस्था परिवर्तित अथवा संशोधित किये बिना मानव का कल्याण नहीं होगा और मनुष्य-मात्र सुखी न रह सकेगा। आजकल तो यह धारणा केवल एक ही वर्ग के व्यक्तियों की नहीं वरन् अनेक देशों के चिन्तनशील शिक्षको तथा विचारको ने यह मत प्रकट किया है कि वर्तमान राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था इसी रूप में बहुत दिनो नहीं चलने की; उसमे परिवर्तन अवश्यमेव होगा, आज हो या कल।

उपर्युक्त दो सिद्धान्तों के साथ-साथ यह भी सिद्धान्त मान्य होने लगा है कि हम अपने प्रतिदिन के जीवन में या तो कुछ सीखते चलते हैं या सिखलाते चलते हैं। हमारे अध्ययन की क्रिया-प्रतिक्रिया, चाहे हम उसका प्रत्यक्ष रूप न भी देख पाएँ, सतत होती रहती है। किसी अव्यक्त रूप में हम दूसरो से बहुत-कुछ ज्ञान और अनुभव प्राप्त कर लेते हैं और उसी प्रकार दूसरों की अनुभव-प्राप्ति मे भी सहायक होते हैं। इन तीन सिद्धान्तों के विवेचन के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि श्रेष्ठ साहित्य आनन्ददायी होगा, उसमें कला होगी तथा उसमे प्रभावित करने की शक्ति होगी। अब यह निश्चित करना शेष है कि कलापूर्ण तथा आनन्ददायी साहित्य किस प्रकार हमारी सामाजिक व्यवस्था को परिवर्तित करने में सहायक होगा। सिद्धान्त रूप में जब हमारे साहित्यिक पठन-पाठन की क्रिया-प्रतिक्रिया अवश्यमेव होती रहती है तो प्रायोगिक रूप में वह किस प्रकार हमारी सामाजिक तथा राजनीतिक चेतना जाग्रत करने में सफल होगी।

वास्तव मे यह जागृति हम मे तभी आएगी जब साहित्य हमें फलप्रद रूप में प्रभावित करे, शिक्षित करे, प्रेरित करे।

इस तर्क से तो यह फल निकलता है कि साहित्य को प्रचारवादी होना

चाहिए, क्योंकि बिना प्रचारवादी हुए वह प्रभावित तथा फलप्रद रूप में प्रेरित किस प्रकार करेगा ? तो क्या साहित्य को प्रचारवादी होना पडेगा ? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट रूप में दिया जा सकता है—श्रेष्ठ साहित्य जो कला द्वारा उद्-बुद्ध है और जिसमें प्रेरित करने की शक्ति है, स्पष्टतः प्रचारवादी हो ही नहीं सकता।

प्रचार का प्रश्न

तो क्या कला का प्रचारात्मक होना उसके लिए फल-प्रद न होगा ? इसके पहले हमें इस प्रश्न का उत्तर ढूँढना आवश्यक है कि प्रचारवाद है क्या। प्रचारवाद वास्तव में, विचारो तथा नीति को रूढि के पाश मे कस देने की व्यवस्था-मात्र है। इसके द्वारा राष्ट्रो के विधायकों ने अनेक राजनीतिक तथा सामाजिक नारों का निर्माण किया—उदाहरणार्थ पिछले युद्ध में जर्मन तानाशाह ने यह घोषित किया कि "यहूदी राष्ट्रीयता के घोर शत्रु हैं", "यहूदियो को नष्ट किये बिना कोई राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता।" वास्तव में ऐसा है या नहीं, इसमे तर्क है या नहीं, इस ओर कोई ध्यान नहीं देता, क्योकि विचार तथा नीति रूढि के पाश में जकडकर इन नारों के रूप में प्रस्तुत कर दिये गए हैं। इस प्रकार का प्रचारवाद साहित्य के क्षेत्र में सम्भव नहीं; यह सम्भव है केवल राजनीति के क्षेत्र में। साहित्य-क्षेत्र में यह कहना सम्भव नहीं कि 'महाकाव्य-रचना राष्ट्री-यता का हनन करेगी' अथवा 'गीत-काव्य मानवता का शत्रु है।' इस प्रकार के नारे प्रचारवादी लगाता है, साहित्यकार नहीं।

कुछ साहित्यकारों का भ्रामक कथन है कि साहित्य को समाज मे क्रियाशीलता लाने का प्रयत्न करना चाहिए; केवल भावुक अथवा भावपूर्ण काव्य-रचना ही हमारे समाज के लिए हितकर नही; उसे हमें कार्य की ओर अग्रसर करने वाला होना चाहिए। इस विचार के पोषक आजकल बहुत हैं तथा बढ भी रहे हैं और इसी के आधार पर अनेक आलोचक आलोचना भी लिखने लगे हैं। यदि वास्तव में यह सिद्धान्त श्रेष्ठ तथा मान्य है तो यह बहुत आश्चर्य की बात है कि प्रायः सभी श्रेष्ठ लेखक, कलाकार तथा विचारक—दो-चार को छोडकर—नितान्त निष्क्रिय जीवन व्यतीत करते रहे हैं। हो सकता है कि ऐसा भविष्य मे न हो परन्तु अब तक देखा तो यही गया है कि मनुष्य की भावनाएँ तथा उसकी विचार-श्रृङ्खला उसके कर्म में अत्यन्त बाधक रही हैं और भावना-संसार में भ्रमण करता हुआ प्राणी क्रियाशीलता से बहुत दूर रहा है। भावनाएँ तथा विचार कार्य को कुण्ठित करते हैं, हमें कार्य की ओर अग्रसर नहीं करते। किसी विचारक ने ठीक ही कहा है कि साहित्य से हम

वायुयान-चालक का काम नहीं ले सकते। ऐसी दशा में प्रगतिवादी लेखक का आदर्श क्या होना चाहिए, उसे अपनी साहित्य-साधना किस प्रकार आरम्भ करनी चाहिए, इस विषय में मार्क्सवाद के प्रसिद्ध विचारक[1] तथा प्रसारक का कथन उल्लेखनीय है। उनका कथन है कि उपन्यासकार अथवा कवि अपने राजनीतिक विचारों का प्रसार करने के लिए स्वतन्त्र तो अवश्य है और उसे शिक्षा भी देने का पूर्णाधिकार है परन्तु उसकी शिक्षा अव्यक्त रूप मे होनी चाहिए; वह कथावस्तु, कार्य, घटनाओं इत्यादि में ही अन्तर्हित होनी चाहिए। उसे इस बात का अधिकार नहीं कि वह भावी इतिहास के जटिल प्रश्नो का उत्तर दो टूक दे दे या उनका सुलझाव प्रस्तुत करे। कलाकार का आशय तथा उसके विचार जितने ही अव्यक्त रहेंगे उतनी ही उसकी कला की रक्षा होगी। मार्क्सवाद के प्रथम प्रचारक लेनिन भी ठीक इसी विचार के थे। वे भी कला द्वारा क्रान्ति का न तो प्रचार चाहते थे और न उसके आदर्शों का प्रतिपादन। कहा जाता है कि प्रसिद्ध गायक बीठोवेन के सुमधुर गीत उन्हे इतने प्रिय थे कि वे सब-कुछ भूलकर उसी को सुना करते थे और अपने प्रचार कार्य में बाधा पड़ते देख उन्होंने उसका सुनना बन्द कर दिया था। उनका साहित्यिक आदेश यह था कि कलाकार को क्रान्ति का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करना चाहिए। कलाकार उसका दर्पण-मात्र होना चाहिए; उसे दर्शकों को देखने पर बाध्य करना चाहिए; उसे अपनी शब्द-शक्ति द्वारा पाठकों के कानो में प्रतिध्वनियाँ गुंजरित करनी पड़ेगी; उन्हें अनुभूति ग्रहण करने योग्य बनाना होगा; उन्हें उन्हीं की आँखों से रहस्यों को हृदयंगम कराना होगा। कला का यही धर्म भी है। उसका धर्म प्रचारवाद नहीं, उसे केवल अनुभूति देना ही श्रेयस्कर है। सभी श्रेष्ठ लेखक अनुभूति-दाता हुए हैं और जो लेखक श्रेष्ठ बनना चाहें उन्हें भी केवल यही प्रयत्न करना होगा कि लोगो का अनुभव-संसार विस्तृत हो; उनकी आँखो में ज्योति आये, उनके हृदय में स्पन्दन हो। कलाकार का प्रमुख ध्येय यही है कि वह निष्काम रूप से सतत सामाजिक तथ्यों का विवेचन देता जाय; पाठकों के हृदय मे प्रवेश पाता जाय; उन्हें जीवन-सत्य का अनुभव कराता जाय।

श्रमिक-वर्गीय साहित्य-रचना की कठिनाई

कुछ प्रगतिशील लेखकों का विचार है कि साहित्य का मूल आधार श्रमिक-वर्ग का ही जीवन होना चाहिए। किसानों तथा मजदूरों के ही दुःख-दर्द की गाथा तथा उनके भावी उत्थान के स्वर्ण-युग का

१. फ्रेडरिक एन्गेल्स

प्रदर्शन ही काव्य तथा कला के लिए हितकर है। श्रमिक-वर्ग द्वारा तो इस प्रकार का साहित्य शायद ही लिखा जा सके, इसलिए जो भी लेखक हों उन्हें यही आधार अपनाना चाहिए। इस विचारधारा के पोषक यह स्पष्टतया नहीं बतला पाते कि श्रमिक वर्ग के जीवन के किन पहलुओं को साहित्यकार प्रदर्शित करें; उनके जीवन-सम्बन्धी किन प्रश्नों पर प्रकाश डालें; इस साहित्यिक प्रयास की शैली कैसी हो। फलतः इस प्रश्न पर अनेक भ्रामक विचार फैले हुए हैं।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो साहित्यकार यदि यह न कर मध्यम वर्ग के जीवन की तर्कहीनता तथा उनकी विषम परिस्थितियों का उल्लेख करता हुआ, पूँजीवादी समाज की हृदयहीनता तथा उनके आध्यात्मिक थोथे-पन का विश्लेषण करे तो श्रमिक-वर्ग का जीवन अपने-आप ही उसकी परिधि में आ जायगा। अभिजात-वर्ग, पूँजीपति, मध्यम-वर्ग तीनों के सम्बन्ध का प्रकाश बिना श्रमिक-वर्ग का सहारा लिये सम्भव नहीं। प्रगतिशील लेखक जब वर्तमान जीवन की जटिलता तथा उसकी विषमता पर प्रकाश डालेगा, जब वह आज के मनुष्य का विलाप और सन्ताप, आग्रह और दुराग्रह, भय और प्रीति, द्वन्द्व तथा विग्रह का उल्लेख करने का प्रयत्न करेगा तो उसे साहित्यिक ईमानदारी उत्कृष्ट रूप में बरतनी पड़ेगी और उसकी शैली प्रचार-वाद की शैली न होकर श्रेष्ठ साहित्य की शैली होगी। उसमें कला होगी; उसमें श्रेष्ठ साहित्य की प्राण-प्रतिष्ठा होगी।

इस सम्बन्ध में हमें यह न भूलना चाहिए कि साहित्य के आदि काल से ही समाज उसका प्रिय विषय रहा है। केवल बीसवीं शती ने ही समाज पर प्रहार-पर-प्रहार नहीं किये; बहुत दिनों से उसे अनेक प्रहार सहने की आदत-सी पड़ गई है। अंग्रेजी साहित्य में चॉसर ने धर्माधिकारियों तथा भिक्षुणियों की हँसी उड़ाई, मिल्टन ने ईसाई धर्माध्यक्ष पोप तथा उसके अनुयायियों को क्या नहीं कहा; पोप तथा गे जैसे कवियों ने किस पर व्यंग्य-बाण नहीं बरसाए; शैली ने समाज के शोषकों को कौनसे अपशब्द नहीं कहे; डिकेन्स तथा बटलर ने समाज के कौनसे विकृत अंग छोड़ दिए। इब्सेन[१] तथा शॉ, लारेंस तथा मॉम ने क्या उठा रखा। समाज पर प्रहार की परम्परा बहुत पुरानी है। हां, देखना केवल यह है कि इस प्रहार में चोट किसे और कैसी पड़ती है। चोट जितनी ही अव्यक्त होगी, उतनी ही गहरी होगी, उतनी ही उसमें तिलमिला देने की शक्ति होगी। यह प्रचारवाद से सम्भव नहीं; यह सम्भव होगा श्रेष्ठ कला से।

लेखक-वर्ग का उत्तरदायित्व ऐसी परिस्थिति में और भी बढ़ जाता

है। उसके एक ओर तो सस्ते, कुरुचिपूर्ण साहित्य का ढेर है और दूसरी ओर राजनीतिक दलों का प्रचारवाद मुँह फैलाए बैठा है। एक ओर पूँजीपति अपनी अक्षय पूँजी को कालान्तर के लिए अक्षय बनाना चाहते हैं और दूसरी ओर शोषितों का हृदय-विदारक चीत्कार ऊपर उठ रहा है। संसार धनजनित लालसा और लिप्सा में गोते खा रहा है; चरित्रहीनता अपना ताण्डव-नृत्य कर रही है; गरीबी, भूख, महामारी मानव को पीसती चली जा रही हैं। लेखक को यह विश्वास होना चाहिए कि लेखनी तलवार से कहीं अधिक शक्तिशालिनी है। उसमें वह दैवी शक्ति है जिसके सामने विशाल साम्राज्यो के सम्राटों ने घुटने टेक दिये है। लेखक को बस अपना उत्तरदायित्व पहचान भर लेना है। उसका मार्ग प्रशस्त है—उसे मानवता का झंडा ऊँचा करना है; उसे मानवता को हिमालय के उच्च शिखर पर बिठलाकर मनुष्य मात्र से उसकी पूजा करानी पडेगी।

साहित्य का वर्गीकरण

प्रगतिवादी आलोचना के विवेचन के सम्बन्ध मे यह पुनः आवश्यक होगा कि साहित्य के वर्गीकरण पर प्रकाश डाला जाय। साधारणतया साहित्य का वर्गीकरण दो भागो मे होता आया है—पहले वर्ग का साहित्य सौन्दर्यात्मक अथवा व्यक्तिवादी होगा और दूसरे वर्ग का उपयोगात्मक अथवा बाह्यवादी कहलाएगा। यह वर्गीकरण आज का नहीं वरन् काफी पुराना है और इसका आधार मानवी अनुभव है। मानवी अनुभव भी दो प्रकार के होगे—एक होगा सौन्दर्यानुभूति से सम्बन्ध रखने वाला और दूसरा होगा उपयोगी अथवा दिन-प्रतिदिन के प्रयोग मे आने वाला। इन्हीं दोनों अनुभवों के आधार पर विचारको ने साहित्य को भी बाँट दिया जिसके फलस्वरूप हमारे सम्मुख दो प्रकार का साहित्य आविर्भूत हुआ।

क्या समन्वय सम्भव है

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या ये दोनो वर्ग इतने अलग हैं कि उनका समन्वय नहीं हो सकता? क्या सौन्दर्यात्मक साहित्य पर हम उपयोगिता का आभार नहीं रख सकते? क्या सौन्दर्यात्मक साहित्य केवल सौन्दर्य की ही अनुभूति दे और कोई अन्य कार्य उससे सम्भवतः न लिया जाय? क्या सौन्दर्यात्मक साहित्य पर उपयोगिता का भार रखने पर उसकी शक्ति अथवा महत्ता कम हो जायगी? इसके विपरीत यह प्रश्न भी पूछा जा सकता है कि क्या उपयोगी साहित्य सौन्दर्यानुभूति दे ही नहीं सकता? क्या उसे केवल उपयोगी होने का अधिकार है अन्य कुछ भी नहीं? वास्तव में,

आधुनिक आलोचना-जगत् इन्हीं प्रश्नो का उत्तर ढूँढने में व्यस्त है और जैसे-जैसे उत्तरों में विभिन्नता बढती जाती है वैसे-ही-वैसे अन्यान्य वादों का जन्म होता जाता है।

यदि वास्तविक रूप मे देखा जाय तो जो भी सौन्दर्यानुभूति हमें होती है उसका स्रोत या तो कोई वस्तु होगा, अथवा उस वस्तु का कोई विशिष्ट गुण होगा जिसे हम मूल्यवान् समझेंगे, अथवा कोई मानसिक या भावपूर्ण स्थिति होगी जिससे हम आकृष्ट होंगे। परन्तु प्रश्न यह है कि इस प्रकार की अनुभूति का प्रयोजन क्या है? क्या सौन्दर्यानुभूति दे देना ही उसका लक्ष्य है क्या इसी में उसकी सफलता है? क्या यही उसका जीवनोद्देश्य है अन्यथा कुछ नहीं! संक्षेप मे प्रश्न यह है कि क्या इन दोनो वर्गों का साहित्य पृथक् ही रहे; क्या दोनों में समन्वय न आने पाए? क्या इन दोनों वर्गों के पृथक् रहने में ही साहित्य तथा साहित्य के पाठकों का कल्याण है? क्या इन दोनों में समन्वय की सम्भावना अथवा आवश्यकता नहीं?

यदि इस मूल प्रश्न का उत्तर हम तर्कपूर्ण रीति से तथा सप्रमाण निकाल लें तो आलोचना-क्षेत्र के अनेक जटिल प्रश्न अपने-आप ही हल हो जायँगे।

इन्द्रियवाद का जन्म

यदि हम पिछले प्रश्न के उत्तर मे यह कहे कि दोनों वर्गों का साहित्य पूर्णतः पृथक् होना चाहिए और दोनो का समन्वय वांछित नहीं तो इसके फलस्वरूप सौन्दर्यवाद अथवा 'कला, कला के ही लिए है' सिद्धान्त का जन्म होगा। हम यह सिद्धान्त मानने पर वाध्य होंगे कि पार्थिव आनन्द-प्राप्ति ही हमारा जीवन-ध्येय है जिसके फलस्वरूप साहित्य का लक्ष्य केवल श्रेष्ठ अभिव्यंजना रह जायगा; और आलोचना-क्षेत्र मे इन्द्रियवादी-साहित्य का जन्म होगा और प्रभाववाद की मान्यता बढेगी।

इस प्रकार का इन्द्रियवादी साहित्य नूतनता की खोज में विह्वल रहेगा और पाठकवर्ग के हृदय में केवल कुछ प्रभावों को अंकित कर देने मे ही अपनी सफलता समझेगा। जिन वस्तुओं का वह निरीक्षण करेगा उसका किसी अन्य वस्तु से सम्बन्ध वह सहन न कर सकेगा; उसे वह पूर्णतया पृथक्, एकाकी रूप में ही देखने का प्रयत्न करेगा। जब वह किसी सौन्दर्यपूर्ण वस्तु द्वारा आकर्षित होगा तो वह उस वस्तु के पिछले अथवा अगले इतिहास अथवा उसकी रूप-रेखा का कोई भी मूल्य नहीं समझेगा; उसके लिए इतना ही पर्याप्त होगा कि वह वस्तु सुन्दरतम है। इस दृष्टिकोण को सतत अपनाने के

फलस्वरूप एक समय ऐसा आएगा जब कि साहित्य शक्तिहीन हो जायगा और इसके बाहुल्य के कारण साहित्यिक अजीर्ण होने की पूरी सम्भावना रहेगी।

साधारणतया, यदि देखा जाय तो सौन्दर्यात्मक अनुभूति तथा उपयोगी कार्यों में गहरा सम्बन्ध है। वस्तुतः उपयोगी कार्यों के फलस्वरूप ही सौन्दर्यात्मक अनुभूति की प्राप्ति होगी और इस तर्क के अनुसार आनन्द तथा प्रसन्नता जीवनोपयोगी कार्यों के द्वारा ही मिलेगी। जो आलोचक केवल इन्द्रियवाद अपनाएगा वह सौन्दर्यात्मक तथा प्रयोगात्मक वस्तुओं के सम्बन्ध में वैषम्य प्रस्तुत कर देगा। उसके लिए आनन्द-प्राप्ति ही जीवनोद्देश्य हो जायगा और यदि यह सिद्धान्त, आलोचना-क्षेत्र मे प्रयुक्त होगा तो आलोचक का केवल यही कार्य रह जायगा कि वह इन्द्रियगम्य प्रभावो को अपनाए और उनकी अभिव्यक्ति कर सन्तुष्ट हो जाय। उसकी दृष्टि में साहित्य का कार्य आनन्दानुभूति देना ही रहेगा—केवल यही कि हमारी इन्द्रियाँ अत्यन्त तीव्र रूप में अनुभव करने की शक्ति पाएँ और हमारा अनुभूति क्षेत्र प्रशस्त रहे। उसके लिए यह आवश्यक नहीं रह गया कि वह साहित्याध्ययन के फल का मूल्य समाज-हित की दृष्टि से लगाए।

प्रभाववाद

प्रभाववादी आलोचक को, जैसा हम पिछले प्रकरण में प्रमाणित कर चुके हैं, कलात्मक वस्तुओ के प्रभाव को ग्रहण करने मे सतत तत्पर रहना पड़ेगा। उसके लिए अध्ययन तीव्र-अनुभूति मात्र होगा और वह अपना निर्णय आनन्द रूप में ही प्रकट कर सकेगा, इसके अतिरिक्त वह कुछ और नही कह सकेगा; वह कुछ और कहना भी नहीं चाहेगा। उसका आदर्श यही रहेगा कि प्रत्येक व्यक्ति उसी के समान प्रभाव ग्रहण करने में पटु हो जाय; यही उसका आलोचनादर्श होगा। उसका यह विश्वास-सा होगा कि नैतिकता-प्रसार अथवा समाज-हित के लिए काव्य का प्रयोग न तो सम्भव है और न हितकर; काव्य की मर्यादा काव्य मात्र ही रहने में है। काव्य द्वारा नैतिकता-प्रसार वैसा ही होगा जैसा ज्योतिषी से घर बनवाने का काम लिया जाय।

आलोचको का यह भी विचार है कि जो व्यक्ति कवि का जीवन-वृत्त अथवा उसके जीवन-काल की सामाजिक पृष्ठ-भूमि का अध्ययन कर आलोचना लिखना आरम्भ करता है वह आलोचना नहीं लिखता; वह या तो इतिहास लिखता है अथवा समाज-शास्त्र का विवरण देता है। उसकी आलोचना आलोचना नहीं। इस सिद्धान्त को मानने के फलस्वरूप इस वर्ग का आलोचक

कला तथा अन्यान्य सामाजिक कार्यों का सहज सम्बन्ध तोड़ देता है और कला को केवल कुछ प्रभावों के अंकन का माध्यम मात्र बना देता है और उसकी आलोचना भी सामाजिक प्रगति की व्यापक मूल धारा से कहीं दूर जा पड़ती है। इसका फल यह होता है कि कलाकार केवल अपनी इन्द्रियानुभूति व्यक्त कर चुप हो जाता है। और जिस दिव्य परी-देश का उसने निर्माण कर दिया है यदि उसकी सत्यता उसकी अनुभूति की सत्यता से मेल खाती है तो वह सफल कलाकार है। यह आलोचना-प्रणाली न तो कला के मूल तत्त्वों का लेखा रखती है और न जो सामाजिक तथ्य उसमें निहित हैं उन्ही को महत्त्व देती है। यह प्रणाली आलोचना पर केवल एक उत्तरदायित्व रखती है—प्रभावों का श्रेष्ठ अंकन। वह विचार-तत्त्व पर ध्यान ही नहीं देती, और इन्द्रियगम्य प्रभावो तथा मानसिक विचारो के पार्थक्य को किंचित् मात्र भी नहीं समझती। वह यह समझने का प्रयत्न ही नहीं करती कि जो विचार अथवा भाव कविता में प्रस्तुत किये गए हैं सहज, सम्भव तथा स्वाभाविक हैं या नहीं; उनका कुछ मूल्य अथवा महत्त्व है या नहीं। उसके लिए यही पर्याप्त है कि कविता ने कोई दिव्याभास प्रस्तुत किया अथवा नहीं।

स्पष्ट है कि उपर्युक्त आलोचना-प्रणाली कुछ थोड़े-से श्रेष्ठ-वर्ग के ही आलोचक अपनाएँगे, क्योंकि 'कला कला ही के लिए है' सिद्धान्त मानने वाले कला के व्यापक स्वरूप को अत्यन्त संकुचित कर देते हैं; उसे जीवन से दूर ले जाते हैं। परन्तु यह अवश्य ध्यान में रखना पडेगा कि इतना होते हुए भी सौन्दर्यानुभूति का स्थान आलोचना में अवश्य रहेगा; हाँ, इतनी मात्रा मे नहीं कि उसके अन्य तत्त्वों पर परदा पड़ जाय। श्रेष्ठ आलोचना-प्रणाली के लिए दोनों एकांगी दृष्टिकोण घातक होगे।

शिक्षात्मक साहित्यादर्श का प्रभाव

जिस प्रकार काव्य की सौन्दर्यानुभूति प्रदान करने की शक्ति पर अत्यधिक जोर देने पर एक विषम आलोचना-प्रणाली का जन्म हो गया उसी प्रकार साहित्य के उपयोगी रूप पर भी अत्यधिक महत्त्व देने के कारण एक विशेष प्रकार के साहित्य का बोलबाला हो जायगा। यह साहित्य होगा शिक्षात्मक साहित्य। जिस प्रकार से राजनीति के क्षेत्र में गरम-दल के व्यक्ति अपने सिद्धान्तो को चरम सीमा तक ले जाने में नहीं हिचकते उसी प्रकार शिक्षात्मक साहित्य-क्षेत्र के कुछ प्रगतिशील आलोचक अपने प्रगतिवादी विचारों को भी चरम सीमा तक ले जाकर साहित्य-निर्माण के कुछ नियम निर्धारित करने लगते हैं। उनका विचार है कि आलोचना तथा

साहित्य मे जब तक क्रान्ति नहीं आएगी, साहित्य की प्रगति होगी ही नही। क्रान्तिवादी साहित्यकारों के, साधारण रूप मे, दो वर्ग बन गए हैं।

पहले वर्ग के आलोचक नितान्त तर्कहीन होगे और केवल कुछ विशेषणों के बल पर आलोचना की सृष्टि करना चाहेगे। वे साहित्य मे विचार-तत्त्व के घोर विरोधी रहेंगे और सभी चिन्तनशील भावनाओं को निकृष्ट, मध्यम-वर्गीय गुट का अमूर्त तथा आदर्शात्मक सिद्धान्त प्रमाणित करने की चेष्टा करेंगे। उनका साहित्य-सिद्धान्त सरलता को सर्वश्रेष्ठ गुण समझेगा जिसके कारण निर्मित साहित्य कभी-कभी अत्यन्त हीन अथवा तुच्छ दिखाई देने लगता है। गीतों में वे श्रमजीवियों के खून और पसीने से लथ-पथ जीवन का दिग्दर्शन चाहेंगे; वे श्रमजीवी को आदर्श स्तर पर लाकर उसी की पूजा-अर्चना आरम्भ कर देंगे और श्रमजीवी-लेखक अथवा साहित्यकार को ही युग-निर्माता के नाम से पुकारेंगे। फलतः जो भी चित्र उनका काव्य प्रस्तुत करेगा उसका रंग गहरा और गाढ़ा होगा और संतुलित दृष्टिकोण पीछे छूट जायगा। इस कार्य मे जनता अथवा शोषित-वर्ग को प्रधानता दी जायगी और लेखक-वर्ग का यह अटूट विश्वास रहेगा कि वह क्रान्तिवादी तथा श्रमिक जन-वादी साहित्य श्रेष्ठ, सौन्दर्ययुक्त तथा दिव्य स्तर का होगा और इसके निर्माण में यह आवश्यक नहीं कि लेखक देश अथवा समाज के पिछले साहित्य से किंचित् मात्र भी सम्बन्ध बनाए रखे। सभी पुराने सम्बन्धों को तोड देने ही से उसकी प्रगति सम्भव होगी। यह वर्ग इस तथ्य को मानता ही नही कि आदि काल से लेकर आज तक के साहित्य मे अनेक धाराएँ प्रवाहित हुईं और यह सब की समष्टि का ही फल है कि आज का साहित्य अपनी मानवी रूप-रेखा बनाये हुए है।

मार्क्सवादी आदर्श

दूसरा वर्ग उन आलोचकों का है जिनकी धारणा है कि साहित्य अर्थ-शास्त्र का पदगामी है और अर्थ-शास्त्र के ही इशारो पर उसकी रूप-रेखा बनती-बिगडती आई है। इस सिद्धान्त के प्रचारको को मार्क्सवादी नाम मिला है और वे साहित्य की आलोचना कुछ बाह्य सिद्धान्तो के ही आधार पर करते हैं। मार्क्स के अर्थ-शास्त्रीय सिद्धान्तों द्वारा ही वे उपर्युक्त सिद्धान्त की पुष्टि करेंगे। मार्क्स का कथन था कि दर्शन-शास्त्रियो ने संसार को अनेक रूप से समझने तथा उसके तथ्यों को प्रकाशित करने की चेष्टा-मात्र की है; प्रश्न है संसार को बदलने का।[1] इस उक्ति को साहित्य पर लागू करने पर यह प्रमा-

१. थीसिस ऑन फेवर बाख

खित होगा कि मध्यम-वर्गीय साहित्य ने संसार की केवल प्रतिच्छाया प्रस्तुत की; श्रमिक-वर्ग का साहित्य उसको बदलने में दत्तचित्त होगा तभी साहित्य की उन्नति तथा वृद्धि होगी। इसके साथ-साथ मार्क्स का यह भी उत्कृष्ट सिद्धान्त था कि वचन तथा कर्म, सिद्धान्त तथा कार्य दोनों में सामंजस्य अनिवार्य है। फलतः श्रमिक-वर्गीय-साहित्य कार्य करने का आदर्श सबके सम्मुख रखेगा। वास्तव में कार्य ही साहित्य का आधार होगा।[१]

इस स्थल पर हम अपने पुराने प्रश्न पर विचार करेंगे—'क्या दोनों वर्गों (सौन्दर्यात्मक तथा उपयोगी) के साहित्य में साम्य उपस्थित किया जा सकता है?' इसका उत्तर कुछ आलोचकों के अनुसार स्वीकारात्मक होगा। इनका कथन है कि क्रान्तिवादी श्रमिक-वर्गीय आलोचक यह कभी नहीं चाहता

---

१. अरस्तू की प्राचीन आलोचना-पद्धति दुःखान्तकी (देखिए—'नाटक की परख') द्वारा प्रसारित भय तथा करुणा की सहायता से दर्शक वर्ग की भावनाओं का परिमार्जन तथा सन्तुलन वांछित समझती थी। वास्तव में यह सिद्धान्त ऐसे समाज का सिद्धान्त था जिसे जीवन में अवकाश-ही-अवकाश था और कुछ करना-धरना नहीं था। यूनानी समाज समय व्यतीत करने के लिए नाटक देखता था और भय तथा करुणा के प्रसार द्वारा अपनी भावनाओं का परिमार्जन तथा सन्तुलन कराके घर लौटता था। उसका समस्त कार्य दास-वर्ग किया करता था और समाज का काम चलता रहता था।

श्रमिक-वर्गीय साहित्यकार अरस्तू द्वारा प्रतिपादित परिमार्जन तथा सन्तुलन सिद्धान्त को मानता तो अवश्य है परन्तु उसका विश्वास है कि श्रमिक-वर्गीय साहित्य में एक अन्य श्रेष्ठ गुण भी रहेगा जो साहित्य को और भी ऊँचा उठाएगा। यह गुण होगा वचन तथा कर्म में सामंजस्य की स्थापना और इस नवीन तत्त्व के कारण साहित्य की और भी वृद्धि होगी। इस नवीन तत्त्व को हम संघर्ष नाम से पुकार सकते हैं।

वर्ग-संघर्ष ही मार्क्स के प्रगतिवादी सिद्धान्तों का मूल आधार है और प्रगतिवादी साहित्य-निर्माताओं को यह आदेश मिला कि वर्ग-संघर्ष को साहित्य की सहायता द्वारा तीव्र करना तथा उसके उत्कर्ष में सहयोग देना उनका महान् धर्म है। वास्तव में, साहित्य-क्षेत्र में, संघर्ष की भावना अर्थ-शास्त्र तथा संस्कृति के क्षेत्र से ही आई है और साहित्य को वर्ग-संघर्ष-क्षेत्र का सफल अस्त्र बनाने की धारणा भी बहुत नई नहीं। प्रगतिशील आलोचकों का विचार है कि इस प्रयोग में साहित्य की क्षति जरा भी नहीं होगी और वह अपने पूर्ण रूप में जीता-जागता तथा सम्पन्न रहेगा।

कि साहित्य-निर्माण में कला का प्रयोग हो ही नहीं। उसमें कला का प्रयोग अवश्य होना चाहिए और यह वांछित तथा श्रेयस्कर भी है। परन्तु केवल कला ही उसके लिए पर्याप्त नहीं; उसमें कुछ और भी होना चाहिए। उस कला को चाहिए कि वह क्रान्ति की भावनाओं का पोषण करे और ऐसे चित्रों का निर्माण करे जिससे क्रान्ति का सुनहला स्वप्न साकार होता जाय। इसके विपरीत यह भी विचारणीय है कि यदि क्रान्तिवादी साहित्यकार कोरी क्रान्ति की आवाज उठाएगा और कला का किंचित् मात्र भी प्रयोग न करेगा तो उसकी आवाज मरुस्थल की आवाज समान होगी; उसमें न तो कोई प्रतिध्वनि होगी और न आकर्षण। उसका क्रान्ति-स्वप्न भी स्वप्न ही रह जायगा; उसमें मरुस्थल की मृग-तृष्णा मात्र होगी। साहित्य निर्माण में कला का प्रयोग अनिवार्य होगा। यह तो सर्वसम्मत है कि साहित्यकार का उद्देश्य कला को मानवता की सेवा में लगाना है; उसे मनुष्य को पलायनवाद[1] का मार्ग दिखलाने में प्रयुक्त न करना चाहिए। कला मानव की सेविका है, स्वामिनी नहीं।

परन्तु विशुद्ध मार्क्सवादी आलोचक-वर्ग इस विचार से सहमत नहीं। उनका कथन है कि जब वे सौन्दर्य-शास्त्र के मूल स्रोत तथा उसकी प्रगति का इतिहास देखते हैं तो यह सत्य दृष्टिगत होता है कि उसके मूल में भी कुछ जटिल सामाजिक तथा आर्थिक प्रश्न निहित है। वास्तव में उसका मूल स्रोत सामाजिक तथा आर्थिक प्रश्नों से आच्छादित है और श्रमिक-वर्गीय साहित्य से उसका साम्य नहीं बैठ सकता। वह सामन्तवाद तथा पूँजीवाद के तत्त्वावधान में जन्मा और विकसित हुआ है और श्रमिक-वर्गीय साहित्य से उसका भाई-चारा कैसा! यदि दोनों विभिन्न वर्गों में साम्य बैठाया जायगा तो वह स्वाभाविक कदापि नहीं होगा; केवल ऐसा ज्ञात होगा कि सौन्दर्यात्मक सिद्धान्तों पर उसकी थोप-थाप की गई है।

प्रचारवाद का प्रश्न

प्रगतिशील आलोचक प्रायः यह कहते सुने जाते हैं कि समस्त साहित्य प्रचारवादी रहा है और रहेगा। वे यहाँ तक विश्वास करते हैं कि प्रायः सभी पुराने साहित्यकार प्रचारक हुए हैं और प्रचार की भावना से ही प्रोत्साहित होकर उन्होंने साहित्य-रचना की। संसार के श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ लेखकों पर भी उन्होंने यही सिद्धान्त आरोपित किये। इस दृष्टि से उन्होंने शेक्सपियर समान महान् नाटककार तथा डिकेन्स समान श्रेष्ठ उपन्यासकार को भी प्रचारक ही माना है और उनकी रचनाओं को प्रचारवादी ठहराया है। उन्होंने यहाँ तक कह डाला है कि

१ देखिए 'काव्य की परख'

शेक्सपियर की सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ अंग्रेजी साम्राज्यवाद को पोषित करने के लिए लिखी गई और डिकेन्स की रचनाएँ अपने समय का वास्तविक प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करने के लिए प्रकाशित की गई। इसी मे दोनो कलाकारो की महत्ता है।

वास्तव मे, इस कोटि के आलोचक यह भुला देते हैं कि मानवी अनुभवों की धारा प्राचीन काल से आज तक समान रूप से प्रवाहित हो रही है। कुछ अनुभव ऐसे हैं जिनकी सदा पुनरावृत्ति होती आई है और होती रहेगी। जो अनुभव किसी व्यक्ति को एक हज़ार वर्ष पहले प्राप्त हुआ था वह पुनः अनेक व्यक्तियो को वर्तमान काल में भी प्राप्त हो सकते हैं। अंग्रेजी समाज ने, जो महारानी एलिजाबेथ के काल में प्रतिष्ठित था, ऐसे व्यक्तियों को जन्म दिया जो उच्चाकांक्षा से प्रोत्साहित[१] हुए, मानसिक अनिश्चय के कारण विफल रहे[२], प्रेम तथा ईर्ष्या के शिकार हो गए[३] और राष्ट्र-प्रेम में अन्धे होकर अपना जीवन खो बैठे[४]। सम्भव है कि ऐसे अब भी अनेक व्यक्ति जीवित हैं जिनके सम्मुख वही प्रश्न प्रस्तुत हैं जो प्राचीन काल के नाटकों के पात्रों के सम्मुख प्रस्तुत थे। इन अनुभवों की पुनरावृत्ति के आधार पर ही अनेक नाटको की श्रेष्ठता निर्भर है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि हम आँखें बन्द कर किसी युग के साहित्य को सामन्तवादी अथवा रूढिवादी नहीं कह सकते। अनेक साहित्यिक रचनाएँ ऐसी हैं जिनमें मानवी अनुभव इस कोटि के हैं जो हर युग के व्यक्तियों के लिए सम्भव होंगे; उनकी महत्ता युग-युगान्तर तक बनी रह सकती है। चाहे वह समाज अथवा वह सामाजिक पृष्ठभूमि मिट ही क्यो न गई हो, ये अनुभव अक्षय रहेंगे। इसके साथ-साथ यह भी भविष्यवाणी की जा सकती है कि आज के साहित्य मे भी कुछ ऐसी अनुभूतियाँ हैं जिनकी पुनरावृत्ति भावी युगों में भी होती रहेगी और जिन-जिन कलाकारों ने उनका प्रकाश किया है उनकी महत्ता वैसी ही बनी रहेगी जैसे कुछ प्राचीम कलाकारों की आज तक बनी हुई है।

इस तथ्य को हमें नहीं भुलाना चाहिए।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या इन पूर्वोक्त विचारों का साम्य

---

१. मेकबेथ।

२. हैमलेट।

३. ओथेलो।

४. जूलियस सीजर।

मार्क्सवाद तथा सौन्दर्यात्मक सिद्धान्तों का समन्वय

मार्क्स के अर्थ-शास्त्रीय सिद्धान्तों से बैठाया जा सकेगा ? कदाचित् उत्तर स्वीकारात्मक रूप मे ही देना पडेगा। मार्क्स के विवेचन के अनुसार राष्ट्र के इतिहास में एक ऐसा भी समय आ जाता है जब वहाँ की कला अपनी पराकाष्ठा पर होती है परन्तु यह कलात्मकता की धारा साधारण सामाजिक प्रगति की मूल धारा से पृथक्-सी रहती है और उसका कोई भी स्पष्ट सम्बन्ध समाज की गति-विधि से नहीं दिखलाई देता। ऐसी परिस्थिति में उदाहरणार्थ यह मानना पड़ेगा कि यूनानी कला का मूल स्रोत यूनानी जीवनादर्शों में निहित था; उनकी पौराणिक गाथाएँ ही उनको जीवन-दान देती रही हैं। परन्तु आधुनिक औद्योगिक युग में जहाँ ज्ञान-विज्ञान की छत्रछाया में सभ्यता विकास पा रही है, उनकी पुनरावृत्ति कठिन ही नहीं वरन् असम्भव भी होगी। इसलिए आधुनिक कलाकारों अथवा आलोचकों को प्राचीन आदर्शों तथा अनुभूतियों के आधार पर वर्तमान युग को समझने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए; यदि ऐसा होगा तो निष्कर्ष भ्रामक होंगे।

मार्क्स के अनुसार, मूलतः, हमारी कठिनाई यह नहीं है कि हम यूनानी कला से उस समय की सामाजिक गति-विधि का सामंजस्य नहीं बैठा पाते। हम सामंजस्य बैठा तो अवश्य लेते हैं परन्तु यह समझने मे प्रायः असमर्थ रहते हैं कि आखिर वह क्यो आज तक आदर्शवत् बनी हुई है और उसकी सौन्दर्यात्मकता द्वारा हम आज तक क्यो प्रभावित होते आए हैं। स्पष्ट है कि मार्क्स भी कला के बाह्यवादी अस्तित्व को मानते हैं। वे अन्य स्थल पर यह भी कहते हैं कि यूनानी स्वभावतः बालक थे और उनकी सभ्यता तथा संस्कृति मानवी सभ्यता तथा संस्कृति की सामाजिक बाल्यावस्था की प्रतीक थी, उसकी पराकाष्ठा थी। और जिस प्रकार प्रत्येक प्राणी अपने बाल्यकाल के जीवन को श्रेष्ठ तथा आनन्दपूर्ण समझकर बार-बार उसकी ओर देखता है उसी प्रकार मानव-जाति भी यूनानी सभ्यता मे प्रकाशित अपने बाल्यकाल की ओर बारम्बार तृषित नेत्रों से देखती है। इस कथन से यह निष्कर्ष सहज ही निकलेगा कि मानवी समाज का वह श्रेष्ठ तथा आनन्ददायी बाल्यकाल आज-कल के जीवन से न तो सम्बन्धित ही है और न इस औद्योगिक युग में उसका कोई प्रयोजन ही होगा। उसके द्वारा हम वर्तमान जीवन की जटिलताओं को न तो सुलझा सकेंगे और न इस युग के विषम प्रश्नों का उत्तर ही उसके प्रकाश में ढूँढ सकेंगे।

इस सम्बन्ध मे एक और तथ्य विचारणीय है। साधारणतया यह देखा

जाता है कि साहित्य तथा ज्ञान की पुस्तकें जब काफी पुरानी हो जाती हैं और प्राचीनता की छाप उन पर डाल दी जाती है तो वर्तमान जीवन के लिए उनकी महत्ता बहुत-कुछ घटा दी जाती है।[१] ज्यों-ज्यों वे दूर होते जाते हैं उनकी उपयोगिता कम होती जाती है और उन्हें हम उनकी सौन्दर्यात्मकता के लिए ही विशेषतः स्मरण रखते हैं। अपने निर्माण-काल में वे कितनी उपयोगी रही होंगी इसे हम प्रायः भूल जाने का प्रयत्न करते हैं या भूल जाते हैं। यह भी हो सकता है कि जिन प्रश्नों का हल उन्होंने प्रस्तुत किया या करने की चेष्टा की वे प्रश्न समय की गोद में सो गए। कभी-कभी समय की तीव्र धारा ने उन्हें अपने प्रवाह में निकाल फेंका और ज्यों-ज्यो हमारा समाज परिवर्तित होता गया त्यों-त्यों उनकी उपयोगिता हम और भी भुलाते गए।

समाज तथा साहित्य का सम्बन्ध

मार्क्सवाद के अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों में एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह भी है कि हमारे व्यक्तिगत अथवा सामाजिक कार्य, हमारे नित्य-प्रति के जीवन के जटिल प्रश्न जिनके उत्तर हम ढूँढ़ते हैं; ये सब सम्पूर्ण समाज के व्यक्तियों पर निरन्तर प्रभाव डालते रहते हैं और उनके विचारों तथा कार्यों को गति देते रहते हैं। फलतः जिस साहित्य का निर्माण हम करेंगे वह भी किसी-न-किसी रूप में मानव-समाज को अवश्य प्रभावित

१. उदाहरण के लिए पश्चिमी साहित्य मे हम अफलातूं की रचनाओ को ले सकते हैं। अफलातूं के विचारादर्श उनके समय-विशेष के लिए उचित तथा मान्य थे। उनके समाज मे दास-प्रथा प्रचलित थी। सामाजिक गति-विधि तथा ज्ञान की गति-विधि मे कोई विशेष सम्बन्ध न था। यूनानी सामन्तवादी श्रेष्ठ समाज के लिए ज्ञान मनन की वस्तु थी। जो आदर्श उन्होने बनाये वे विशुद्ध ज्ञान के स्तर पर ही रह सकते थे। उनका मूर्त रूप मिलना असम्भव था और उनका मूर्त रूप देखना उन्हे वाछित भी न था। परन्तु वर्तमान समाज आदर्शो,को अनुभव की कसौटी पर कसता है; केवल ज्ञान-लोक मे प्रतिष्ठित आदर्श उसके किसी काम का नही। उनके सहारे हम अपने पार्थिव जीवन के किसी भी प्रश्न को हल नही कर सकेंगे। इसलिए आजकल के विज्ञान की छत्रछाया मे पनपते हुए समाज मे उन प्राचीन यूनानी ज्ञानादर्शो की अवतारणा निरर्थक होगी। फलतः हम उस काल की रचनाओं को केवल कुतूहलवश ही देखेंगे। उनकी उपयोगिता हमारे लिए समाप्त हो चुकी है; केवल सौन्दर्यात्मकता शेष है। उसी सौन्दर्यात्मकता को देखने के लिए हम कभी-कभी अफलातूं के युग की रचनाओ को अपनाएँगे अन्यथा नही।

करेगा। कला और साहित्य मानव-जीवन के परे किसी स्वप्न-लोक की वस्तुएँ नहीं; वे किसी एकान्त लोक में विकास पा ही नहीं सकतीं।

जब मार्क्स तथा एंगेल्स ने सामाजिक प्रगति पर आर्थिक प्रभावों का विशद विवेचन आरम्भ किया तो उनका यह आशय कभी नहीं था कि जो-जो अन्य वस्तुएँ सामाजिक प्रगति मे सहयोग देती हैं उनका कोई महत्त्व ही नहीं। यह अवश्य था कि उन्होंने केवल अर्थ-शास्त्र के प्रभावो का विवेचन दिया और आदर्शवादिता, कला, संस्कृति इत्यादि के तत्त्वों की ओर संकेत-मात्र किया। इसका एक अन्य कारण भी था।

पदार्थवाद का जन्म

जिस समय मार्क्स की रचनाएँ प्रकाशित हुईं वह समय आदर्शवादी था। जर्मनी में, जहाँ मार्क्स ने पहले-पहल अपने सिद्धान्तो का निर्माण किया और बाद में इंगलिस्तान जाकर उनका प्रकाशन कराया, कुछ विशेष विचारधाराएँ प्रवाहित थीं। जर्मन दर्शनवेत्ता विश्व के आधार-स्वरूप मूल सिद्धान्तो पर मनन कर रहे थे; सभी दर्शनज्ञ आदर्शवाद के प्रश्नो के सुलझाने में व्यस्त थे और उनका विचार यह था कि विश्व किसी परम आत्मा से प्रेरित है जो समाज का भी निर्माण करता है। उसी के द्वारा समस्त संसार सुव्यवस्थित तथा परिचालित है। मार्क्स इन आदर्शवादी सिद्धान्तों से सहमत न थे; मानव की दीन दशा तथा समाज की दुःखी अवस्था ने उन्हें तर्करूप में अन्य सिद्धान्तो को निर्मित करने पर बाध्य किया।

मार्क्स का पदार्थवाद रूढ़िगत आध्यात्मिक आदर्शवाद को चुनौती देता हुआ अवतरित हुआ। मार्क्स का विश्वास था कि समाज की ऐतिहासिक प्रगति में पार्थिव शक्तियों का हाथ अधिक है और आध्यात्मिक तत्त्वों का कम या नहीं के बराबर। ये पार्थिव शक्तियाँ मूलतः अर्थ-शास्त्र से सम्बन्धित हैं, इसलिए समाज की प्रगति मे अर्थ-शास्त्र के नियम ही प्रयुक्त होने चाहिएँ। चूँकि मार्क्स जर्मन आदर्शवादी सिद्धान्तो के विरुद्ध अपनी एकाकी आवाज उठा रहे थे यह स्वाभाविक ही था कि वे अपने सिद्धान्तो के समर्थन में अर्थ-शास्त्र पर अधिक जोर देते और अन्य तत्त्वों को उतना महत्त्वपूर्ण नहीं समझते। वास्तव में, उनका सिद्धान्त यह कदापि नही था कि केवल अर्थ-शास्त्रीय सिद्धान्तों द्वारा विश्व परिचालित होगा। इसीलिए लेनिन-समान उनके अनुयायी लेखकों ने भी केवल अर्थ-शास्त्रीय सिद्धान्तों से जीवन की गति को पहचानने का आदेश नहीं दिया और उन्होंने 'राजनीति अर्थ-शास्त्र की चेरी है' जैसे सिद्धान्तो पर टीका-टिप्पणी कर उनका थोथापन प्रमाणित किया।

मार्क्स के विचारो के अनुसार हमारा समाज सतत गतिपूर्ण तथा परिवर्तनशील है जिसके कारण हमारे सामाजिक सम्बन्धो मे भी उलट-फेर हुआ करता है। जो भी सामाजिक सम्बन्ध हमें किसी समय-विशेष में मिलते हैं वे समय पाकर दूसरे सम्बन्धो के निर्माण में कारण-स्वरूप बन जाते हैं और इसी प्रकार वे कारण और कार्य की अटूट शृङ्खला के रूप में हमारे सम्मुख आते-जाते रहते हैं। इस गतिशील समाज के परिवर्तनपूर्ण सम्बन्धों की कुछ सांस्कृतिक झाँकियाँ भी कला, साहित्य इत्यादि के रूप में दिखलाई दे जाती हैं। कला तथा साहित्य की ये झाँकियाँ आर्थिक सम्बन्धों से मुक्त रह भी सकती हैं और समय की गति में पड़कर अपनी रूप-रेखा भी परिवर्तित कर लेने में स्वतन्त्र रहती हैं।

रूढ़ि का महत्त्व

इस विवेचन से यह तात्पर्य नहीं कि साहित्य में रूढि होती ही नहीं। रूढि का रहना तो अनिवार्य है। उसमें विशाल शक्ति निहित रहती है; परन्तु यह शक्ति सुप्तावस्था में रहेगी। यह समाज के निर्माताओं के ऊपर है कि वे उसे प्रगति अथवा अधोगति में परिवर्तित कर दें। आदर्श उसी के आधार पर बनेंगे और वह युग-सम्मति तथा युग-रुचि के अनुसार परिवर्तित भी होंगे। जब कोई रूढ़ि निर्जीव, नीरस तथा व्यर्थ के बोझ समान हो जाती है तो उसको निकाल फेंकना ही श्रेयस्कर होगा; इसके विपरीत रूढ़ियाँ कुछ ऐसी भी होंगी जिनमें नवजीवन का मन्त्र फूँककर सामयिक जीवन में प्रयुक्त किया जा सकता है और उन्हें उपयोगी बनाया जा सकता है। ऐसी अनेक प्राचीन विचारधाराएँ भी मिलेंगी जिनका मूल्य आज के परिवर्तित समाज के लिए भी वैसा ही विशिष्ट होगा जैसा कि पहले था; हमें उनका उपभोग अनुभव तथा ज्ञान के आधार पर करना उचित होगा।

यदि हमें श्रेष्ठ आलोचक बनना है तो हम रूढि को नहीं ठुकराएँगे; हम यह नहीं कहेगे कि प्राचीन साहित्यकारों ने अपने युग के लिए रचनाएँ कीं और आधुनिक साहित्यकारो को अपने युग के लिए रचनाएँ करनी चाहिएँ। हमें रूढि को वहाँ तक अपनाना पड़ेगा जहाँ तक वह हमारी प्रगति मे सहायक होगी।

उपर्युक्त विवेचन के फलस्वरूप हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि पुराने युग के क्रियात्मक साहित्य के कुछ अंश तथा प्राचीन विचारधारा के कुछ मूल तत्त्व आगामी युग के लिए हितकर होंगे और वे रूढ़ि के आवरण में छिपे होंगे। उनमें सौन्दर्य होगा; उनमें स्थायित्व होगा। इसी तरह हमारे वर्तमान

युग की भी कुछ साहित्यिक धाराएँ तथा मूल विचार आगे आने वाले युग के प्राणियों के लिए हितकर होंगे; और जब हम अपने सामयिक प्रश्नो का सही हल ढूँढ भी लेंगे तब भी उनकी महत्ता ज्यों-की-त्यो बनी रहेगी।

श्रमिक-वर्गीय साहित्य की परम्परा

इस प्रश्न के साथ-ही-साथ हमें मध्यम-वर्गीय तथा श्रमिक-वर्गीय साहित्य की श्रेणियाँ निश्चित करनी पड़ेंगी और उनके विभिन्न तत्त्वों का विवेचन करना पडेगा। प्रायः न तो इनकी कोटियाँ निश्चित हो पाई हैं और न स्पष्टतः उनके तत्त्व-विशेष का ही निर्णय हो पाया है। इन पर केवल भ्रामक रूप में विचार हुआ है। कुछ आलोचको ने दोनों श्रेणियों की पूर्ण विभक्ति दिखलाई है परन्तु वे दोनों की तुलना नही कर सके। वे यह साधारणतः भूल जाते हैं कि वह साहित्य जिसे मध्यम-वर्गीय कहा गया है बहुत काल से चला आ रहा है; उसकी एक परम्परा बन गई है; उस परम्परा के अन्तर्गत अनेक श्रेष्ठ लेखकों तथा साहित्यकारों ने रचनाएँ की हैं और उनकी प्रतिष्ठा तथा महत्ता निर्धारित हो चुकी है। इसके विपरीत श्रमिक-वर्गीय साहित्य की न तो कोई ऐतिहासिक परम्परा बनी है और न किसी ऐसे श्रेष्ठ साहित्यकार की रचना की ओर संकेत ही किया जा सकता है जिसने उस परम्परा का श्रीगणेश कर दिया हो। प्रगतिशील तथा क्रान्तिवादी आलोचको को केवल भविष्यवाणी करके ही सन्तुष्ट रह जाना पडता है। बनिस्बत इसके कि वे इसकी ऐतिहासिक परम्परा का निर्देश दें (जो है ही नहीं) वे श्रमिक-वर्गीय साहित्य के उत्थान, उसकी भावी महत्ता इत्यादि के गीत गाने लगते हैं। वे केवल इस भावी साहित्य की महत्ता का गुणानुवाद कर अनेक सिद्धान्तो का प्रतिपादन करते हैं। सिद्धान्त पहले बन रहे हैं और महान् साहित्य बाद मे बनेगा!

इस वर्ग के आलोचक प्रायः यह भी भुला देते हैं कि जब श्रमिक-वर्गीय साहित्य इस समय अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे है तो उस पर मध्यम-वर्गीय साहित्य का कुछ-न-कुछ प्रभाव सतत पडता ही रहेगा; वह उससे बच नहीं सकता। जो कुछ भी वह मध्यम-वर्गीय साहित्य से लेकर अपनाएगा उसका नियन्त्रण भी अत्यन्त कठिन है, क्योंकि कोरे सिद्धान्तो के प्रतिपादन के बल पर ही साहित्य निर्मित नहीं होता। उसका निर्माण और उसकी प्रगति उसी प्रकार होगी जैसी अन्य साहित्यों की हुई है। परिभाषाओं द्वारा क्या कभी साहित्य का निर्माण हुआ है? साहित्य पहले बनता है; परिभाषाएँ बाद में निर्मित होगी। हां, थोडे-बहुत संकेत देने मे हानि नहीं, परन्तु उसे सरपट

नहीं दौड़ाया जा सकता। और जब यह श्रेष्ठ श्रमिक-वर्गीय महत्त्वपूर्ण साहित्य विरचित हो जायगा तब भी यह आवश्यक नहीं होगा कि उसी कसौटी पर अथवा उसी की तुलना में मध्यम-वर्गीय साहित्य को अधम ठहराया जाय।

उसके तत्त्व

अब यह देखा जाय कि श्रमिक-वर्गीय साहित्य में कौन-कौनसे तत्त्व हो सकते हैं; उसकी परिभाषा बना लेना भी हितकर होगा। प्रायः औद्योगिक समाज के श्रमिक-वर्ग द्वारा लिखा हुआ क्रियात्मक साहित्य ही श्रमिक-वर्गीय साहित्य कहलाएगा। उसमें श्रमिक-वर्ग का अनुभव प्रकाशित होगा; उसमे वर्ग-वैषम्य की भावना प्रस्तुत रहेगी, उसमें उस वर्ग के व्यक्तियों को प्रभावित करने की उत्तेजना रहेगी; वह श्रमिक-वर्ग के पठन-पाठन का पाठ्य क्रम प्रस्तुत करेगा। श्रमिक-वर्गीय साहित्य इनमें से कोई एक अथवा अनेक उत्तरदायित्व अपने पर रख सकता है।

प्रेरणा का स्रोत

प्रश्न यह है इस श्रमिक-वर्गीय साहित्य की प्रगति की इच्छा रखने वाले क्या करें ? क्या वे मध्यम-वर्गीय साहित्य को थोथा प्रमाणित कर उसे नष्ट कर दें ? यदि ऐसा होगा तो किस स्रोत से श्रमिक-वर्गीय साहित्य प्रोत्साहन तथा प्रेरणा ग्रहण करेगा ? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि श्रमिक-वर्गीय जीवन से ही उसे प्रेरणा मिल जायगी। परन्तु यह न भूलना चाहिए कि श्रमिक-वर्गीय साहित्य तथा मध्यम-वर्गीय साहित्य दोनों ही पड़ोसी हैं; पहला दूसरे से नितान्त पृथक् नहीं रखा जा सकेगा और यदि यह सम्भव भी हो जाय तो उसके सांस्कृतिक प्रभावों को आने-जाने में कौन बाधा पहुँचा सकता है ? संक्षेप में श्रमिक-वर्गीय साहित्य का स्रोत भी रूढि मे ही है और संस्कृति की अविरल धारा छोटे-मोटे पारिभाषिक बाँध,बनाकर नहीं रोकी जा सकेगी। श्रमिक-वर्गीय तथा मध्यम-वर्गीय साहित्य की श्रेणियां व्यक्तिगत मूल्य पर निर्धारित नहीं; वे केवल वर्णनात्मक रहेंगी।

हमें यह भी विस्मृत नहीं करना चाहिए कि प्रत्येक स्थायी कलात्मक रचना में कुछ न-कुछ ऐसे तत्त्व अवश्य रहते हैं जो युग-युगान्तर के प्राणियो को समान रूप में आकर्षित करते रहते हैं। उनमें ऐसे तत्त्व प्रायः नहीं के बराबर रहते हैं जो केवल सामयिक हों और जिनका आकर्षण समय व्यतीत होते-होते कम होता जाय। इसलिए श्रेष्ठ तथा प्राचीन साहित्यकारों की रचना का अध्ययन हितकर होगा। इससे हमारा सांस्कृतिक कोष भरा-पूरा होता रहेगा। इसके अतिरिक्त उनसे किसी और प्रायोगिक सिद्धान्तों अथवा उपयोगी वस्तुओं

की इच्छा रखना उचित नहीं।

प्रचारवाद का रूप

कुछ प्रगतिशील आलोचकों का कथन है कि साहित्य प्रचारवादी होना चाहिए और उनके सिद्धान्तों के अनुसार वस्तुतः सभी ललित कलाएँ किसी-न-किसी अंश में प्रचार का रूप ले लेती हैं। इस प्रश्न पर विचार करते हुए कुछ आलोचकों ने साहित्य के कुछ गुणों पर प्रकाश डाला है; उनका कथन है कि साहित्य स्वभावतः गतिपूर्ण सामाजिक आन्दोलनो का साथ नहीं दे सकता है और इस दौड़ में पीछे रह जाता है, साहित्यकार केवल कल्पना के सहारे ही उन तक पहुँच पाएगा। यों भी आन्दोलनों की गति से उसकी गति का साम्य नहीं बैठ पाता। साहित्य की इस निश्चल गति पर हमें असन्तोष नहीं होना चाहिए। साहित्य तो सदा से ही जीवन का अनुयायी रहा है; उसका नेतृत्व उसने ग्रहण नहीं किया। उसने जीवन के अनुभवों की तालिका बनाकर उन्हें सिद्धान्त-रूप मे प्रकाशित करने का श्रम किया है। उसका कार्य उनमें समन्वय प्रकाशित करना मात्र है। और किसी भी लेखक पर यह उत्तरदायित्व नहीं रखा गया कि वह साहित्यकार के साथ-साथ भविष्यवक्ता का भी पद ग्रहण करे और भविष्यवाणी करे।

तो आखिर प्रचारवाद है क्या? पारिभाषिक रूप मे जैसा हम संकेत दे चुके हैं प्रचारवाद एक प्रकार की ऐसी व्यवस्था या प्रणाली है जिसके द्वारा किसी विचार-विशेष, व्यवस्था-विशेष, सिद्धान्त-विशेष अथवा दृष्टिकोण-विशेष का प्रसार इसलिए किया जाता है कि उसके फलस्वरूप किसी वांछित कार्य की सिद्धि हो अथवा उस कार्य-सिद्धि में अनेक व्यक्तियो की सम्मति सहायक हो। क्रान्तिवादी अथवा प्रगतिशील लेखकों का प्रमुख ध्येय युग के प्रश्नों पर मनन नहीं, उनका उद्देश्य उसे परिवर्तित करना रहता है। इसलिए उन्हे यह जानना आवश्यक हो जाता है कि वह सर्वश्रेष्ठ प्रणाली कौन है जिसे वे अपनाएँ। वे यह भी जानने का प्रयत्न करते हैं कि जन-समूह किस प्रकार सुसंगठित होता है, उनका ध्यानाकर्षण किस रीति से हो सकता है, और उन्हे वांछित कार्य में किस प्रकार संलग्न किया जा सकता है। इसके लिए यह भी अत्यावश्यक है कि लेखकवर्ग सर्वगत विचारो को संक्षेप मे, तथा आकर्षक सिद्धान्त-रूप मे प्रस्तुत करें और जो-जो तत्त्व ऐसे हो जो वैषम्य को जन्म दे उन्हे निकाल फेंकें।

प्रचार के साधन

प्रचार का सबसे सफल तथा सहज साधन नारों के रूप मे दृष्टिगत होता है। इस साधन का प्रयोग सामाजिक प्रश्नों का हल ढूँढने मे अवश्य करना

चाहिए। इसके लिए यह नितान्त आवश्यक है। प्रचार का अपना श्रेष्ठ स्थान है; उसका अपना महत्त्व है; तथा उसकी अपनी प्रणाली है। उदाहरण के लिए यदि कोई नेता नारों का प्रयोग करता है तो उसे यह चाहिए कि वह ऐसे नारों का निर्माण करे जो किसी परिस्थिति-विशेष अथवा विशेष कार्य-क्रम की सिद्धि में सहायक हों। उनमें भावी कार्य-क्रम को प्रतिध्वनित करने की शक्ति होनी चाहिए अर्थात् उनका रूप ऐसा होना चाहिए जो भविष्य में सिद्धान्त-रूप में विकसित हो सकें।[1]

प्रचार की कठिनाई

क्रान्तिवादी आलोचकों की प्रमुख कठिनाई यह है कि वे कलाकार, मार्क्सवादी प्रचारक, हड़ताली नेता, समाजवादी नेता इत्यादि को बाह्य-रूप अथवा वर्ग-रूप में नहीं परख पाते। इन सबकी अलग-अलग कार्य-सिद्धि की शैलियाँ होंगी। राजनीति का सम्बन्ध विशेषतः शासन-प्रणाली से है, और उसके द्वारा सामाजिक प्रश्नो को हल किया जा सकता है; फलतः प्रत्येक कार्य में परिणत होने वाले तत्त्व को उसे महत्त्वपूर्ण समझना होगा। इसके विपरीत साहित्य से हम यह आशा नहीं करते कि वह हमारी सामाजिक जटिलताओं को सुलझाए; उसका स्पष्ट सम्बन्ध कार्य में परिणत होने वाली वस्तुओ से नहीं है। और कवियों तथा साहित्यकारों को राजनीतिज्ञ अथवा समाजवादी नेता कह बैठना भी उचित नहीं; उनमें साधारणतया वे गुण होते ही नहीं जो सफल नेताओ में होंगे। इसके साथ-साथ यह भी स्मरण रखना पड़ेगा कि कला तथा साहित्य उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार प्रचार करने वालों के लिए फलप्रद नहीं होंगे; क्योंकि जब तक साहित्य जन हृदय में भीगता नहीं क्रियाशीलता नहीं ला सकता। इसके लिए पर्याप्त समय व्यतीत होने की आवश्यकता पड़ेगी तभी वह जड़ पकड़ सकेगा। इधर हमारा आधुनिक समाज नित्य नये-नये रंग बदलता है और ज्योंही साहित्य का प्रभाव प्रकाश पाए त्योंही सामाजिक परिस्थिति परिवर्तित होने लग जाती है। इस दृष्टि से साहित्य हमारे आज के प्रश्नों को शीघ्रातिशीघ्र हल करने में विफल ही रहेगा। जिस प्रकार छोटे पौधों को जड़ पकड़ने मे काफी विलम्ब होता है तत्पश्चात् वे पल्लवित-पुष्पित होते हैं उसी प्रकार साहित्य भी दो-चार दिन में ही क्रियाशीलता का प्रसार नहीं कर सकता। जब तक कोई उपन्यासकार सामाजिक प्रश्नो के आधार पर अपनी रचना की रूप-रेखा बनाएगा, उसे सुव्यवस्थित रूप देगा, पुस्तक लिखेगा, उसे

१. लेनिन द्वारा निर्मित नारे इसी कोटि के थे। उनमे समाज के प्रश्नो का हल प्रस्तुत था और वे भावी कार्यों के प्रेरक भी थे।

दुहराएगा, उसके प्रकाशन की सुविधा करेगा, उसकी बिक्री होगी, तब तक समाज की वह गति, जिसके आधार पर रचना हो रही थी, कहीं को-कहीं जा पड़ेगी। इस तथ्य का सबसे सबल प्रमाण क्रान्तिवादी पुस्तकों की बिक्री है जो अन्य साहित्यिक पुस्तकों की तुलना में बहुत कम होती है। और जब बिक्री की यह दशा है तो उनसे यह आशा करना कि वे दो-चार दिनों या वर्षों में क्रियाशीलता की लहर फैला देंगे व्यर्थ होगा।

यही परिस्थिति आजकल काव्य-क्षेत्र में भी है, जहाँ काव्य द्वारा क्रान्ति को गति प्रदान करने की चेष्टा की जाती है। अनेक श्रेष्ठ आलोचकों ने बार-बार दुहराया है कि काव्य का जन्म, निर्माण तथा विकास सिद्धान्तों के कोष से नहीं हो सकता। क्रान्तिवादी समाज कुछ नवीन अनुभव ही प्रस्तुत कर सकेगा, केवल कुछ नवीन दृष्टिकोण रख सकेगा, कुछ अनुभूतियों को ही स्पष्ट करेगा जिसके सहारे कवि (यदि वह वास्तव में कवि एवं कलाकार है) अपने विचारों को सुलझे रूप में रख सकेगा। परन्तु धारणा यह फैली हुई है कि कविता लिखते जाओ, साहित्य का निर्माण करते जाओ, चेष्टा में कमी न होने दो और यदि कालान्तर में श्रमिक-वर्ग हमारी बात नहीं सुनता और हमारी उपेक्षा करता है तो समय स्वतः इन प्रश्नों को हल कर देगा। इस प्रकार की धारणा न तो काव्य के लिए और न समाज तथा कलाकार के लिए ही हितकर होगी।

इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि साहित्यकार राजनीति के विषयों को अपनाए ही नहीं। उसे इसका पूर्ण अधिकार है। उसे नारों के निर्माण का भी पूर्णाधिकार है परन्तु यह ध्यान रहे कि उसने साहित्यकार का पद पहले ग्रहण कर लिया है और जब वह राजनीति-क्षेत्र में आना चाहता है तो उसे अपने पहले पद से पदच्युत नहीं होना चाहिए। उसे साहित्य का उत्तरदायित्व भी नहीं भुलाना होगा और उसकी रचना में आन्तरिक गुणों की केवल अपेक्षा ही नहीं वरन् उनका पूर्ण समन्वय भी आवश्यक होगा। उसकी कविता राजनीति का दामन पकड़ते ही यदि नीरस तथा शुष्क हो गई तो वह कवि नहीं रहा और यदि उसके राजनीतिक विचारों ने भी कोई क्रियाशीलता नहीं फैलाई तो वह राजनीतिज्ञ बनने से भी गया।

प्रचारवाद तथा सौन्दर्यात्मकता

उपसंहार के रूप में यह कहा जा सकता है कि साहित्य का प्रयोग समाज को प्रभावित करने के लिए हो सकता है। साहित्य चाहे व्यक्तिवादी हो अथवा सौन्दर्यात्मक उसमें आनन्ददायक गुण अवश्य होने

चाहिएँ। बिना इन गुणों के वह साहित्य न हो सकेगा। जो प्रगतिवादी आलोचक इस सिद्धान्त का विरोध करें वे इसका प्रमाण कार्लमार्क्स की रचनाओं में सहज ही पाएँगे। कार्लमार्क्स के विषय में उनका जीवनी-लेखक कहता है कि मार्क्स स्वयं साहित्य द्वारा मानसिक आनन्द प्राप्त किया करते थे; इसके द्वारा उन्हें मानसिक तुष्टि भी मिलती थी। अपने साहित्यिक सिद्धान्तों के निर्माण में वे सामाजिक तथा राजनीतिक पक्षपात से दूर थे। यहाँ तक कि अनेक रोमांचक साहित्यकारों की रचना उन्हें अत्यन्त प्रिय थी। यह सही है कि वे कोरे सौन्दर्यवाद एवं 'कला, कला ही के लिए है', सिद्धान्त के विरोधी थे। साधारणतया हम यह अनुभव भी करते हैं कि आनन्ददायी साहित्याध्ययन के उपरान्त हमारी रुचि शारीरिक कार्यों में और भी लगने लगती है। अपने दैनिक जीवन की जटिलताओं से मुक्ति पाने के लिए साहित्यादेश में जब हम अवकाश के समय भ्रमण करते हैं तो हमारी समस्त कठिनाइयाँ कुछ देर के लिए विस्मृत हो जाती हैं।' और जब हम पुनः दैनिक जीवन में कार्यशील होते हैं तब हममें नवोत्साह तथा नवीन आशा उत्तेजित रहती है। इस परिस्थिति को एक अंग्रेज़ी लेखक ने तो नैतिक अवकाश कहा है।

इस दृष्टिकोण से सौन्दर्यात्मक साहित्य की महत्ता और उसका मूल्य अक्षय है। साहित्य की उपयोगिता तथा उसके बाह्यवादी होने में कोई विरोध नहीं परन्तु इस पद को पाने के लिए उसे सौन्दर्य तथा आनन्ददायी तत्त्वों को विदाई नहीं देनी होगी। हमें यह भूलना न चाहिए कि साहित्य की धारा आदि काल से निरन्तर बहती चली जा रही है और सामाजिक उलट-फेर की लहरियाँ उसे उद्वेलित तथा गतिशील भी करती रहती हैं। इस अविरल गति को देखने से हमारी सूझ-बूझ बढ़ती है; हम जीवन की गहराइयाँ नाप लेते हैं; हमें आनन्द की प्राप्ति होती है। प्रायः ऐसा भी होता है कि उपरोक्त तीन भावनाओं में से कभी-कभी एक दूसरे से अधिक तीव्र हो जाती है। जब हमारी अनुभूति, हमारी सूझ-बूझ, हमारा आनन्द, अन्य तत्त्वों की अपेक्षा प्रचुर रूप में रहेगा तो उनके द्वारा सामाजिक परिवर्तन भी सम्भव होगा। हमारी अनुभूति हमें सचेत करेगी, हमारी सूझ-बूझ उस चेतना को गति देगी और उसके द्वारा जो हमें आनन्द प्राप्त होगा समाज की रूप-रेखा बदलने में सहायक होगा।

इस सम्बन्ध में हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि प्रचारवाद तथा साहित्य में बहुत अन्तर है जिसका संकेत हम पहले दे चुके हैं। चलते-फिरते विज्ञापन और प्रतिदिन परिवर्तित होने वाले नारे हमें उसी रूप अथवा मात्रा में कभी प्रभावित नहीं करते जैसा कि जीवन-साहित्य किया करता है।

जीवन-साहित्य हमारी मानवी अनुभूतियों को तरंगित करता है; हमारी भावनाओं पर जो समय की काई जम जाती है वह उसे खरोंच फेंकता है और हमारे अनुभव-जगत् को विस्तृत तथा विचारशील बनाता है। ऐसे रूढ़िवादी विश्वास और जर्जर आदर्श, जो अब समाज के कन्धे पर बोझ मात्र हैं, उन्हे नष्ट-भ्रष्ट करता है या उनके स्थान पर दूसरों की नींव डालता है। जीवन-साहित्य से हमारा तात्पर्य उन तत्वों से है जिनसे जीवन निर्मित है, जो साहित्य की रूप-रेखा बनाते हैं, जो अनुभूति के मार्ग प्रशस्त करते है, जो जीवन की घटनाओं और उनके मूल्य के जटिल पाश को सुलझाकर उनके सही मूल्य की ओर संकेत करते हैं।

आलोचक का उत्तरदायित्व

इस दृष्टि से आलोचक का धर्म है कि वह हमे साहित्य का मूल्य समझने की क्षमता दे; हमारी सूझ बूझ बढ़ाए। उसे ऐसा वातावरण निर्मित करना होगा जिसके द्वारा हम जीवन-साहित्य के प्रभाव को अपना सकें और उसका मूल्य सहज ही पहचान लें। उसका यह सतत प्रयत्न होना चाहिए कि वह पुस्तकों का अर्थ स्पष्ट करे; उनके गूढार्थ का प्रकाशन करे; उनकी अनुभूति का क्षेत्र विस्तृत करे। इस आदर्श-पालन में आलोचक को विवेचन के आधार पर अपने निर्णय देने होंगे और उसे बाह्य तथा आन्तरिक व्यवस्था-क्रम दोनों पर दृष्टि रखनी होगी। उसकी साहित्यिक कसौटी तर्क-पूर्ण होगी; अनुभव उसका साक्षी होगा परन्तु उनका प्रयोग उसी रूप मे होना चाहिए जिस रूप में वे उचित तथा फलप्रद हों। इसका तात्पर्य यह है कि ये आलोचनात्मक विचार वेद-वाक्य न होंगे और न वे आविष्कृत ही होंगे। साहित्यिक रचना से उनका सम्बन्ध सहज, स्वाभाविक तथा नैसर्गिक होगा।

आधुनिक काल में यही आलोचनादर्श फलप्रद होगा। यदि आज के साहित्य का आलोचक यह निर्देशित मार्ग नही ग्रहण करता तो वह न तो अपना कर्त्तव्य ही पूरा करता है और न उससे साहित्य की सेवा ही होती है। ऐसा न करने से वह साहित्य में सम्भ्रम तथा उच्छृङ्खलता लाता है। वह न तो साहित्य का अर्थ स्पष्ट करता है न हमे सचेत ही करता है; और यही कार्य हम आलोचक से कराना चाहते हैं। आलोचक का यह कर्त्तव्य है कि वह लेखक का स्पष्ट अर्थ तथा गूढार्थ दोनों को हृदयंगम करे, साहित्य को साहित्य समझे और कोरे वादों की उलझन मे न पड़कर रचना की उपयुक्तता घोषित करे और यह प्रदर्शित करे कि लेखक ने कितनी सूझ, कितनी गहराई तथा कितनी व्यापकता से जीवन का प्रदर्शन किया है। अपने कर्त्तव्य के सफल

पालन के लिए उसमें कुछ मौलिक गुण भी होने चाहिएँ। उसमे इन्द्रियानुभूति की क्षमता, कल्पना तथा तर्क यथेष्ट मात्रा में होने चाहिएँ; केवल शास्त्र-ज्ञान अथवा साहित्य के माप की प्रणालियों को जानना ही हितकर नहीं। इससे आलोचना दूषित होगी। यह निश्चित है कि जब तक आलोचक मे निर्णयात्मक क्षमता, मूल्य को परखने की शक्ति, आन्तरिक तथा बाह्य सम्बन्धों का व्यापक ज्ञान, सूक्ष्म अनुभूति तथा जीवन-साहित्य मे विभोर हो जाने की तत्परता न रहेगी तब तक उसके सभी आलोचनात्मक प्रयत्न विफल रहेंगे।[1]

आलोचना का परिमार्जन

यदि सच पूछा जाय तो आलोचना-क्षेत्र की विच्छृंखलताओं को दूर करने का समय आ गया है : उसकी दुर्व्यवस्था द्वारा काफी सम्भ्रम फैल चुका है। ऐसे नियमो द्वारा साहित्य की परख होती जा रही है जिनका सम्बन्ध साहित्य से किंचित् मात्र भी नहीं था और न है। जीवन-साहित्य तथा क्रान्तिवादी आन्दोलनों, दोनों के लिए यह हितकर होगा कि आलोचना-क्षेत्र परिमार्जित तथा संशोधित हो जाय; इस क्षेत्र मे जो भ्रामक विचार फैले हुए हैं उनका सदा के लिए निराकरण हो जाय। इसकी आवश्यकता एक अन्य दृष्टिकोण से भी है जिसे रूसी लेखक मैक्सिम गोर्की ने भलीभाँति स्पष्ट किया था। गोर्की का कथन है कि क्रान्ति की सफलता के लिए हमे अपने शत्रुओ का मुँह बन्द करना होगा। हमारे शत्रु हमारी वितण्डावादी आलोचना की हँसी उड़ाते हैं। यह सही भी है। हमारे आलोचकों का अज्ञान, उनकी असंस्कृत विचारधारा, उनकी बर्बर प्रवृत्ति, हमारे शत्रुओं को हमारी हँसी उड़ाने का अवसर देती है। इस उपहास का अन्त होना ही चाहिए। कदाचित् हमारा आलोचकवर्ग आदर्श प्रतिपादन की दृष्टि से तो सुयोग्य तथा ज्ञानी है परन्तु उनमें कोई ऐसी न्यूनता विशेष है जो वैज्ञानिक पदार्थवाद के सिद्धान्तो का साहित्य पर आरोप स्पष्ट तथा ग्राह्य रूप में नहीं होने देती। कला-क्षेत्र में उन सिद्धान्तो का आरोप होते ही उनकी क्लिष्टता बढ़ने लगती है और स्पष्टता दूर होने लगती है।

फलतः क्रान्तिवादी आलोचक में अपने समुचित कर्त्तव्यो का सम्यक ज्ञान वांछित है। केवल सिद्धान्त-प्रतिपादन की लालसा द्वारा साहित्य का हित न हो सकेगा। मार्क्सवाद के समुचित प्रसार के लिए यह आवश्यक है कि

१. केवल व्यक्तिवादी तथा प्रभाववादी दृष्टिकोण साहित्य के लिए हितकर नहीं; उसके द्वारा साहित्य विकृत होगा और अनुभूति की नैसर्गिकता तथा सर्वगतता नष्ट हो जायगी।

मार्क्स के सिद्धान्तों तथा उनके गूढ़ संकेतो को भली भाँति हृदयंगम कर लिया जाय। मार्क्स के समस्त विचारों को सिद्धान्तबद्ध करने के उपरान्त साहित्य की भी सीमाएँ निर्धारित कर देना, संकुचित दृष्टिकोण तथा अज्ञान का द्योतक है। और यदि ऐसे आलोचकों का संकुचित दृष्टिकोण तथा उनका अज्ञान पनपने दिया गया तो क्रान्तिवादी विचारों को क्षति पहुँचेगी और क्रान्तिवादी आन्दोलन पथभ्रष्ट हो जायगा। क्रान्तिवादी सांस्कृतिक आन्दोलन को अभी बहुत-कुछ सीखना है, बहुत-कुछ भूलना है; उसे रूढ़ि के आवरण में छिपे तथा उससे लिपटे हुए जीवित तत्त्वों को समझना तथा ग्रहण करना होगा; हमारे सांस्कृतिक जगत् में जो-कुछ भी निर्जीव, निःशक्त तथा निरर्थक हो चुका है उसे निकाल फेंकना होगा और प्राचीन, जीवित अनुभूतियों तथा नवीन गतिशील अनुभूतियो के सहयोग से भविष्य का निर्माण करना होगा। केवल कोरे सिद्धान्तवाद द्वारा सभ्यता तथा संस्कृति का न तो निर्माण होगा और न उसमें व्यापकता ही आएगी। उसे अपनी पुरानी भूलों को सुधारना होगा जिसकी ओर एंगेल्स ने स्पष्ट रूप में संकेत किया है। एंगेल्स का कथन है कि नये साहित्यकार भ्रमवश आर्थिक सिद्धान्तो का आधार प्रत्येक स्थल पर लेकर आगे बढते हैं। वे उस पर इतना ज्यादा जोर दे बैठते हैं कि अन्य तत्त्व निरर्थक जान पड़ने लगते हैं। वास्तव मे पहले आर्थिक दृष्टिकोण पर इसलिए पूरा जोर दिया गया था कि विरोधी दल इसको ज़रा भी महत्त्व देने पर प्रस्तुत न था; इसलिए अपने पक्ष के समर्थन मे अतिशयोक्ति का प्रयोग स्वाभाविक ही था। परन्तु यह केवल सिद्धान्त-रूप में था और जब-जब इसका प्रयोग किया गया उसमें काफी नरमी लाई गई। कुछ मार्क्सवादी अपने जोश मे ऐसी बातें बिना समझे-बूझे कह जाते हैं कि जिन पर हँसी आएगी।[1]

आलोचना तथा रूढ़िवादिता

साहित्य के इतिहासकार तथा साहित्य के आलोचकों मे सबसे बड़ा अन्तर यह है कि साहित्य के आलोचक को कला के अनेकरूपेण प्रदर्शनों को परखकर यह प्रमाणित करना पड़ेगा कि प्राचीन काल के उत्कृष्ट साहित्य के निरन्तर पठन-पाठन के फलस्वरूप उसकी निर्णयात्मक शक्ति शिथिल नहीं हुई और उसमे नवीन युग के साहित्य को भी सुचारु रूप में परखने की क्षमता है। यद्यपि यह सही है कि समकालीन लेखकों तथा साहित्यकारो की कृतियों के मूल्यांकन में अनेक कठिनाइयाँ हैं परन्तु बिना इसके साहित्य का न तो नवोत्थान हो सकेगा और न उसमें नवीन शक्ति ही आ

१. मार्क्स-एंगेल्स—'सिलेक्टेड करेस्पाण्डेन्स'

पाएगी। यदि आलोचक में आत्म-सम्मान, सभ्यता तथा मानसिक शक्ति है तो वह धीरे-धीरे नवीन साहित्यकारों का पथ-प्रदर्शन भी करेगा। अपनी आलोचनात्मक शक्ति द्वारा वह साहित्य को स्फूर्ति देगा और नवीन कलाकारों को अपनी सहानुभूति द्वारा प्रोत्साहित करेगा। परन्तु साधारणतः ऐसे आलोचक विरले ही हुए हैं जिनमें प्राचीन तथा नवीन दोनों को पूर्णरूपेण समझने की क्षमता रही हो। इस कमी के फलस्वरूप अनेक प्राचीन तथा नवीन साहित्यिक कृतियाँ उपेक्षित रह गईं। कुछ श्रेष्ठ प्राचीन कृतियाँ आलोचकों की उपेक्षा के कारण वर्षों तक लोकप्रिय न हो पाईं; और कुछ नवीन कलाकार इतनी बुरी तरह झिडके गए कि उनका साहित्यिक महत्त्व बहुत काल तक पाठकवर्ग न जान पाया। इस वैषम्य का सबसे साधारण कारण यह है कि प्रतिभावानों की प्रतिभा उनके समकालीन व्यक्ति नहीं परख पाते; प्रतिभावान् तो अपनी प्रतिभा के बल पर आगे बढते चले जाते हैं और उनका तथा उनके समकालीन व्यक्तियो का साथ छूट जाता है। वे उनका मूल्य समझने में असमर्थ-से रहते हैं। कुछ आलोचक तो यहाँ तक कहने की धृष्टता कर बैठते हैं कि प्रतिभा छिपाए नहीं छिपती चाहे वह कहीं भी हो और यह कहना अत्युक्ति है कि प्रतिभावानों को आलोचकवर्ग ठुकराता आया है। परन्तु इस विचार की अप्रामाणिकता हम साहित्य-क्षेत्र में सदा से देखते आए हैं—प्रतिभावान् कभी भी अपने जीवनकाल मे स्तुत्य नहीं हो पाए ; समय ने ही उन्हें इस वरदान से वंचित रखा। आलोचको का सबसे साधारण दोष नवीन साहित्य के प्रति उपेक्षा का भाव तथा उनकी अविचार मति है। अविचार मति उनके मस्तिष्क पर एक प्रकार का जाला-सा तान देती है जिससे वह अपने को मुक्त नहीं कर पाते। वे अधिकतर नवीन लेखकों से ईर्ष्या करते हैं और जो भी कलाकार नवीन कला-मार्ग चुनकर आगे बढता है उसके प्रति वे क्रोधित हो उठते हैं। प्रायः वे उनसे विमुख ही रहते हैं और अधिक-से-अधिक चलते-फिरते शब्दों में ही उनकी प्रशंसा करते हैं। उनका दृष्टिकोण अथवा व्यवहार सहानुभूतिपूर्ण न होकर प्रायः ऐसा ही रहता है जैसा किसी माता का अपने शरारती लड़के के प्रति रहता है। इस वर्ग के आलोचक अपनी अविचार मति के शिकार हो जाते हैं; उनके मानस में एक प्रकार का स्थायित्व आ जाता है। रूढ़ि उन्हें इस तरह जकड़ लेती है कि वे मुक्त ही नहीं हो पाते। उनकी मानसिक दशा उस मरुस्थल के समान हो जाती है जहाँ चाहे कितनी भी वर्षा क्यो न हो कोई प्रभाव नहीं पड़ता; उष्णता अनुर्वरता ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। जो भी कलाकार अथवा लेखक उनके पहले से निश्चित आदर्शों की कसौटी पर खरा

नहीं उतरा, उसकी भर्त्सना आरम्भ हो जाती है। चाहे बीस या पच्चीस वर्ष पश्चात् उसकी उन्हें दूनी प्रशंसा ही करनी पड़े, परन्तु उस समय वे उसकी प्रशंसा में एक शब्द भी कहने को तैयार नहीं। दूसरा दोष जो साधारणतया आलोचकों में रहा करता है वह राजनीतिक दलबन्दी के फलस्वरूप पक्षपात की भावना द्वारा जन्म लेता है। यह वर्ग निष्पक्ष होने का रूप बनाए तो रहता है परन्तु वास्तव में निष्पक्ष रहता नहीं; किसी-न-किसी रूप में वह चोट किया ही करता है।

तीसरा दोष जो अत्यधिक विदित है वह है सभी साहित्यकारो के नवीन मार्गों की उपेक्षा। नवीनता चाहे विषय में हो, शैली में हो, विचार में हो, उन्हें रुचिकर नहीं। वे उसे उपेक्षित ही रखते है। जो भी अनुभव रूढ़िगत नहीं अथवा जो भी अनुभव पुराने अनुभवों का विरोध करे, वे त्याज्य समझते हैं। उन्हे साहित्यिक कृति की अच्छाई-बुराई से कोई प्रयोजन नहीं रहता; उन्हे नवीनता से ही चिढ़ रहती है। उन्हे वही नवीनता प्रिय रहती है जो प्राचीन नियमो का पालन करे। कभी-कभी, किसी हद तक वह नवीनता को क्षमा भी कर देंगे परन्तु उसे महत्त्व नही देंगे। ऐसा दृष्टिकोण साहित्य-क्षेत्र मे तो कम, संगीत तथा चित्रकला के क्षेत्र में बहुत प्रचलित है।

कुछ आलोचको का यह विचार रहता है कि साहित्य-क्षेत्र अंकुशहीन हो गया है। ऐसे व्यक्ति जो उस क्षेत्र का नेतृत्व ग्रहण कर सुरुचि का प्रसार करते, अपने अनुभव द्वारा साहित्यिको को निर्देश देते और साहित्यिक गोष्ठियों पर नियन्त्रण रखते, आजकल हैं ही नहीं। उन्नीसवी शती के अन्त से ही इस क्षेत्र में इसी कारण वैषम्य फैला है कि कोई ऐसा श्रेष्ठ साहित्यिक कर्णधार नहीं जन्म लेता जो साहित्यिक नौका को निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने मे सहायता देता। न तो शक्तिशाली आलोचक हैं और न शक्तिपूर्ण साहित्यकार ही हैं। वादों को भी कोई महत्ता प्राप्त नहीं, यदि है भी तो इतने शिथिल तथा हीन रूप में कि उसका कोई मूल्य नही। अनेक आलोचकों की धारणा यह भी है कि प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार भी जन्म नही लेते; जो है भी वे द्वितीय श्रेणी के हैं। कुछ लोगो का यह भी विचार है कि इस संक्रान्ति-काल मे ऐसी परिस्थिति अनिवार्य है और आलोचक वास्तव मे रूढ़िग्रस्त ही रहेंगे। वे यह सिद्धान्त-रूप में मानने लगते हैं कि नवीन साहित्यकारों में प्रतिभा तो है ही नहीं, उसके साथ-साथ उन्हे श्रेष्ठ साहित्य निर्माण के नियम भी नहीं ज्ञात हैं। उनमें न तो विषयों के चुनने की शक्ति है और न किसी विशिष्ट शैली पर ही अधिकार है। नवीन साहित्यकारों को वे अक्सर अनधिकारी कहकर उनकी उपेक्षा

किया करते हैं। वे प्रायः नवीन कलाकारों की तुलना प्राचीन युग के कलाकारों से किया करते हैं और नवीन को हीन प्रमाणित करने के सतत प्रयास में ही सन्तुष्ट होते हैं। बहुत से साधारण आलोचक अनेक साहित्यकारों से इसलिए भी रुष्ट हो जाते हैं कि वे विदेशी साहित्य से अधिक प्रभावित रहते हैं और उसी प्रभाव को अपनाकर, अपने राष्ट्र का ध्यान न कर, साहित्य-रचना आरम्भ कर देते हैं। 'उनमें राष्ट्रीयता की कमी रहती है तभी तो वे विदेशी-प्रभाव ग्रहण करते है ?' कभी-कभी उन्हें यह क्षोभ भी रहता है कि अनेक साहित्यकारो का साहित्य ऐसा नहीं जो सर्वगत हो और सभी युगों में उसकी मान्यता सुरक्षित रहे। उनमें तो केवल ऐसे ही गुण रहते हैं जो देशीय हैं; उनमें सार्वलौकिकता के तत्त्व नहीं। वे कुछ ही दिनों जीवित रह सकेंगे; उनमें अमरत्व नहीं। परन्तु सबसे अधिक क्षोभ इसलिए है कि आधुनिक साहित्यकार नैतिकता की जरा भी परवाह नहीं करते; वे वास्तव में अनैतिकता के पुजारी हैं, बिना अनैतिक भावनाओं के वे रोमांचक साहित्य का निर्माण कर ही नहीं सकते। जिस प्रकार दुःखान्तकी के पंचम अंक में नायक तथा नायिका की मृत्यु अनिवार्य होती है, उसी प्रकार किसी भी साहित्यिक रचना के लिए अनैतिकता तथा अवैध प्रेम की भूमिका उनके लिए अनिवार्य होगी। परन्तु भाग्यवश दस वर्ष पहले जिन आलोचकों ने अनेक साहित्यकारों को अनैतिक ठहराया उन्हीं साहित्यकारो की सराहना उन्हें दस वर्ष बाद करनी पड़ी। क्या ही अच्छा होता यदि आलोचक साहित्य को साहित्य की कसौटी पर परखते, नैतिकता की नहीं। और प्रायः जिस साहित्य को वे अनैतिक न कह सके उसे 'प्रलाप' मात्र कहकर टाल दिया। असाधारण दृष्टिकोण से विरचित साहित्य की यही दुर्दशा होती रही है और आलोचकवर्ग उन्हे हीन ही प्रमाणित करता रहा है।

अनेक आलोचक साहित्यिक अवसाद की धारणा से भी प्रेरित रहते हैं; वे समझते हैं कि आधुनिक काल साहित्यिक पतन का काल है; और जो भी साहित्य इस समय लिखा जा रहा है उसमें न तो शक्ति है और न उत्तेजना। साधारणतः आधुनिक पाश्चात्य साहित्यकार अवैध प्रेम और सजाति-यौन-सम्बन्धी अनुभूतियो को साहित्य में रखने लगे थे। इस अविचार के विरोध में अनेक आलोचको ने अपनी लेखनी उठाई। वे यह भूल गए कि इस वर्ग के अनेक लेखक ऐसे व्यक्ति थे जो अपने जीवन में सफलता के दर्शन न कर सके। उन्हे पग-पग पर जीवन की शक्तियो के आगे हार माननी पड़ी; अपनी हार से ऊबकर उन्होने अपनी कल्पना द्वारा ऐसे व्यक्तियों को साहित्यिक रच-

नाओं में जन्म देना शुरू किया जो उनकी प्रिय अनुभूतियों के प्रतिरूप थे। कला-क्षेत्र उनके उजड़े हुए संसार का सहारा तथा प्रतिबिम्ब बन गया। उस क्षेत्र मे उन्होंने अपनी ग्लानि तथा विह्वलता से विकल हो ऐसे अनेक पात्रों का निर्माण किया जिनकी काल्पनिक सत्ता से उनको मानसिक आनन्द प्राप्त हुआ। यदि वे साधारणतया संसारी जीव होते और उन्हें अपनी परिस्थिति का सम्यक् ज्ञान होता और उससे वे अपने निजी जीवन का साम्य बैठा सकते तो वे सुखी, आनन्दित तथा सन्तुष्ट रहते। उन्हे जीवन मे किसी भी कमी का अनुभव न होता। वे भी चुपचाप जीवन-यापन का कोई सरल मार्ग निकाल लेते और सफलतापूर्वक जीवन व्यतीत करते। परन्तु ऐसा न हुआ। वे अपने तथा अपनी सामाजिक परिस्थिति में साम्य न बैठा सके। उनमे अपूर्व प्रतिभा थी; उन्हें सभी बन्धन अप्रिय हुए और परिस्थितियों ने उन्हें चोट-पर-चोट देना आरम्भ किया। कुछ दिनो तक तो वे संघर्ष करते रहे और अन्त में विजित हुए। समाज की क्रूर शक्ति उनकी इस हार पर ठठाकर हँसी। इस व्यथा को वे सहन न कर सके और अपने को प्रमाद के पाश से मुक्त रखने के लिए वे कला-क्षेत्र के शान्त भवन में विश्राम पाने का प्रयत्न करने लगे। उस क्षेत्र मे उन्होने अपनी हार का मनमाना प्रतिशोध लिया और जीवन की शक्तियों को यथाशक्ति मुँह चिढ़ाते रहे। उस क्षेत्र में उन्होने ऐसे पात्रों का कल्पनात्मक निर्माण किया जो अपनी सफलता द्वारा उन्हे मानसिक सन्तोष देते रहे। यदि ऐसा न होता तो वे भी साधारण व्यक्ति होते; उनका जीवन भी साधारण होता; उनमें न तो व्यग्रता होती और न साहित्यिक प्रेरणा जन्म लेती, और इसके फलस्वरूप संसार का साहित्य भी रूखा, शुष्क तथा नीरस होता।

इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक साहित्य मे यथार्थवादिता तथा बीभत्स रस का इतना अधिक अंश है कि हम सरलता से उसे ग्रहण करने में हिचकते हैं; हमारी रूढ़िवादी शिक्षा हमारे मार्ग मे अवरोध प्रस्तुत करती रहती है।

५

उपसंहार तथा परिभाषाएँ

: १ :

साहित्य की व्यापकता का ज्ञान

आलोचकों को साधारण निर्देश

जर्मन दर्शनज्ञ श्लेगेल का कथन है कि साहित्य राष्ट्र के व्यापक मानसिक जीवन का निचोड़ है और इस विचार द्वारा यह स्पष्ट है कि साहित्य कितना व्यापक तथा कितना महत्त्वपूर्ण है। इस तथ्य का एक स्पष्ट प्रमाण यह है कि लिखित साहित्य में भाषा का प्रत्येक अक्षर प्रयुक्त होता है और यही अक्षर और यही वर्णमाला इतिहास तथा दर्शन, राजनीति तथा समाज-शास्त्र, भौतिक ,तथा रसायन-शास्त्र सभी प्रयुक्त करते हैं। इसलिए साहित्य केवल साहित्य नहीं, साहित्य मे सब-कुछ निहित है। वही ज्ञान-विज्ञान है; वही समाज-शास्त्र तथा राजनीति है। साधारण रूप में हम यह कह सकते हैं कि साहित्य युग-युग के मानसिक अनुभवो का प्रतिविम्ब है। इन अनुभवों की शृंखला अटूट है; प्रत्येक युग मे वे जन्मते, विकसित होते तथा समस्त मानव-समाज को प्रभावित करते आए हैं और कुछ तो ऐसे हैं जिनका प्रभाव आदिकाल से आज तक विदित है और भविष्य में भी उनका प्रभाव कदाचित् कम न होगा। कुछ दूसरे विचारको के अनुसार साहित्य समाज की क्रियात्मक देन है। मनुष्य जो भी कुछ सोचता-समझता आया और अपने दैनिक जीवन मे विचार-विनिमय के पश्चात् जो भी अनुभव ग्रहण करता आया उसे उसने साहित्य-कोष में सुरक्षित कर दिया। इस कोष का प्रत्येक खण्ड अध्ययन योग्य है और विभिन्न देशों के विभिन्न समाजो के एकत्र कोष द्वारा ही विश्व-संस्कृति का निर्माण हुआ है। इस विश्व-संस्कृति के निर्माण में कवि का, जो दर्शनज्ञ भी है, बहुत-कुछ सहयोग है। कवि वही है जो अध्यवसाय द्वारा अध्ययन करे, मनन करे, व्यापक ज्ञानार्जन करे और समस्त ज्ञान-विज्ञान को अपने जीवन का एक अंग बना ले। जब समस्त ज्ञान-विज्ञान उसके जीवन का एक अटूट

अंग बन जायगा तो उनका सम्मिश्रण कवि की भावनाओं के साथ सहज ही हो जायगा और तब एक ऐसे व्यक्ति का जन्म होगा जो कवि है और जिसमें दर्शनज्ञ की आत्मा निहित है।

जब कवि और दर्शनवेत्ता एक ही हैं तो साहित्य तथा मनोभावों के वर्गीकरण से लाभ क्या ? प्रायः लेखकवर्ग मस्तिष्क तथा सहज ज्ञान, मनोभाव तथा इन्द्रिय-ज्ञान और निश्चयात्मक शक्ति इत्यादि के अन्तर्गत मनुष्य के मानसिक जीवन का वर्गीकरण प्रस्तुत करता आया है। परन्तु यह समस्त वर्गीकरण केवल बाह्य रूप में ही हो सकेगा क्योंकि आन्तरिक रूप में उन सब में विचित्र साम्य है। कला को क्या हम ज्ञान से दूर रख सकेंगे ? क्या विज्ञानज्ञ अपने सहज ज्ञान तथा मनोभावों को निर्वासित कर देगा ? क्या समाज-सुधारकों ने काव्य तथा संगीत का सहारा अभीष्ट-सिद्धि में नहीं लिया ? यदि हाँ तो साहित्य की व्यापकता प्रमाणित है। उसकी आत्मा विशाल है; उसकी आत्मा में ज्ञान-विज्ञान तथा इतिहास और राजनीति सभी निहित हैं। साहित्य उस आकाश-दीप के समान है जिसकी ज्योति सभी मानवी क्षेत्रों ने ग्रहण की और उसी की प्रेरणा द्वारा अपना विकास भी किया।

साहित्यालोचन मे आलोचक को यह तथ्य नही भुलाना चाहिए।

साहित्य तथा कला का लक्ष्य और कल्पना शक्ति का बोध

ऐतिहासिक तथा सैद्धान्तिक खण्ड की समीक्षा के पश्चात् हम यह प्रमाणपूर्वक कह सकते हैं कि आलोचना के आदिकाल मे कला का प्रमुख लक्ष्य कल्पनात्मक प्रतिरूप प्रस्तुत करना था और इसी सिद्धान्त के अनुसार उस मूर्तकार की प्रशंसा की गई जिसने[1] यह कल्पनात्मक प्रतिरूप लोहे के माध्यम मे प्रस्तुत किया। तत्पश्चात् कला का लक्ष्य आनन्द-प्रदान सिद्ध हुआ और उसके उपरान्त यह भी प्रमाणित हुआ कि कलाकार किसी रहस्यपूर्ण शक्ति द्वारा सत्य का प्रदर्शन भी करता है। संक्षेप में आदिकाल से कला के तीन प्रमुख लक्ष्य रहे हैं : कलात्मक प्रतिरूप प्रदर्शन, आनन्द-प्रदान तथा सत्यता-प्रसार। और किसी भी कलापूर्ण कृति का सौन्दर्य उसकी कल्पनात्मकता, आनन्द-प्रदान-क्षमता तथा सत्यता-प्रसार पर निर्भर था। परन्तु ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता गया त्यो-त्यो साहित्य का क्षेत्र भी विकसित तथा व्यापक होता गया और साहित्य के अन्यान्य वर्गों का पृथकत्व दूर होता गया। धर्म तथा नाटक एवं काव्य मे आन्तरिक सम्बन्ध स्थापित हो गया और यूनानी सभ्यता ने धीरे-धीरे

१. देखिए—ऐतिहासिक खण्ड

कला के लक्ष्य को संकुचित करना आरम्भ किया और रोमीय युग ने कला का केवल एक ही लक्ष्य सराहा—वह था शिक्षा-प्रदान। कला की आनन्द-प्रियता कुछ दिनों के लिए लोप हो गई। परन्तु उस लक्ष्य का पुनर्निर्माण शीघ्र ही हुआ। अनुकरण-सिद्धान्त[1] ने पुनः साहित्य का कल्पनात्मक प्रतिरूप प्रस्तुत करने की क्षमता तथा उसके द्वारा साम्य के प्रदर्शन के फलस्वरूप आनन्द-प्राप्ति को सराहा। परन्तु अनुकरण-सिद्धान्त नाटक अथवा उपन्यास पर ही साधारणतः आरोपित हो सकते थे और गीत-काव्य इस सिद्धान्त की परिधि में नहीं आ सकता था। वास्तव में काव्य न तो अनुकरण करता है और न प्रतिरूप प्रस्तुत करता है। उसका प्रमुख लक्ष्य है प्रदर्शन। और प्रदर्शन-सिद्धान्त में प्रायः अनुकरण तथा प्रतिरूप प्रकाशन दोनों ही सिद्धान्तों की छाया मिलेगी। इसके साथ-साथ प्रदर्शन-सिद्धान्त, गीत-काव्य के तत्वों की भी रक्षा करेगा। कवि जो कुछ भी हमारे सम्मुख किसी भी लक्ष्य का अनुसरण करते हुए रखेगा, प्रदर्शन-मात्र होगा। जब-जब वह भावनाओं के जटिल जाल को व्यक्त करेगा, किसी आदर्श का प्रतिपादन करेगा अथवा किसी दृश्य को सम्मुख रखेगा तब-तब वह प्रदर्शन करेगा। काव्य अथवा कला न तो हमसे तर्क करती है और न स्पष्ट रूप से कोई आग्रह करती है वरन् प्रदर्शन-मात्र करती है जिसके फलस्वरूप अव्यक्त रूप में हम प्रभावित तथा प्रेरित होते हैं। कलाकार जो कुछ भी अपनी कल्पना द्वारा अनुभूति प्राप्त करता है और जो कुछ भी देखता है उसे हमारी दृष्टि की परिधि में ले आना चाहता है। कलाकार प्रायः सतत अनुकरण-सिद्धान्त नहीं अपनाता; प्रायः वह प्रदर्शन-मात्र करता है और श्रेष्ठ कलाकार का यही उद्देश्य भी होगा। साधारणतः सौन्दर्यात्मक अनुभव का विशिष्ट साधन प्रदर्शन ही रहेगा। क्योंकि विज्ञानज्ञ का ध्येय हमें ज्ञान सिखलाना रहता है, भाषण-शास्त्री तथा सुधारक हमें तर्क द्वारा प्रभावित कर हमारा मत परिवर्तित करना चाहेंगे, परन्तु कलाकार प्रदर्शन-मात्र रहेगा। ललित-कला तथा अन्यान्य उपयोगी कलाओं में यही महान् अन्तर है।

कलाकार जब किसी कलात्मक वस्तु का प्रदर्शन करता है तो वह उसके अंग-प्रत्यंग नहीं दिखलाता और न रुक-रुककर ही एक-एक वस्तु सम्मुख रखता है। वह तो सम्पूर्ण दृश्य अथवा सम्पूर्ण अनुभूति की पूर्ण झलक एक-साथ प्रदर्शित करेगा। और इसी स्थल पर उसकी कल्पना उसकी सहायक होगी। कल्पना का प्रमुख लक्ष्य अनेक को एक में सन्निहित कर प्रस्तुत करना है और प्रायः सभी श्रेष्ठ समालोचकों ने काव्य में प्रयुक्त कल्पना का यही आदर्श मान्य

१. देखिए—'नाटक की परख'—दुःखान्तकी खण्ड

ठहराया है। सुन्दर शब्द मानसिक ज्योति द्वारा उपलब्ध होते है[1]; और यह मानसिक ज्योति कल्पना का ही पर्याय है; एक के द्वारा ही अनेक की अनुभूति सम्भव होगी[2]; और यह कल्पना-शक्ति द्वारा ही सम्भव होगा। सौन्दर्य वही है जो एक की भावना के साथ-साथ अनेक की समन्वित भावना का प्रदर्शन करे।[3] और यह समन्वय केवल कल्पना द्वारा सफल रीति से हो सकेगा। फलतः हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि कल्पना-शक्ति का पूर्ण उपयोग प्रत्येक श्रेष्ठ कलाकार के लिए अपेक्षित होगा। कल्पना ही कला के प्रदर्शन को सफल बनाएगी; उसी के द्वारा सत्यं तथा सुन्दरं का आविर्भाव होगा।

समस्त साहित्य मे 'कल्पना' शब्द प्रायः छः विभिन्न अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है—स्पष्ट तथा चित्रवत् भावो का प्रदर्शन; अलंकार-प्रयोग; दूसरों की मानसिक स्थिति का ज्ञान; अनेकरूप भावों में एकरूपता लाने की क्षमता; एकरूप भावों में तारतम्य का दिग्दर्शन देने की क्रिया; विरोधी अथवा विषम भावों का सन्तुलन तथा समन्वय अथवा अनेक-रूप भावो का एक विशिष्ट भाव के अन्तर्गत प्रतिपादन तथा प्राचीन तथा पुरानी वस्तुओ में नवीनता लाने की दिव्य दृष्टि।

श्रेष्ठ आलोचक काव्य की कल्पना-शक्ति का यथेष्ट मूल्य पहचानने में सतत संलग्न रहेगे।

साधन और साध्य का निर्णय

कला-क्षेत्र मे प्रायः शब्दो के प्रयोग में अविचार द्वारा भी विशेष-रूप में अस्तव्यस्तता फैली हुई है, और यदि शब्दों की उचित परिभाषा बन भी जाय और अर्थ भी स्पष्ट कर दिया जाय फिर भी टीकाकारों के व्यक्तित्व तथा उनके विरोधी दृष्टिकोण के फलस्वरूप अर्थ मे कही-न-कहीं वैभिन्य आ ही जायगा। और फिर आलोचना-क्षेत्र मे जहाँ सब-कुछ सौन्दर्यानुभूति द्वारा आविर्भूत होता है विचार-वैषम्य और भी स्वाभाविक है।

आलोचना-क्षेत्र का सबसे महत्त्वपूर्ण तथा मूल शब्द है कला। इस शब्द के अर्थ ने साहित्य-जगत् मे विचार-वैभिन्य को ही प्रोत्साहन नहीं दिया वरन् अनेक जटिलताएँ भी प्रस्तुत कर दी। साधारणतः कला शब्द उन साधनों के लिए प्रयुक्त होता है जिनके द्वारा कलाकार की अभीष्ट-सिद्धि हुई; वस्तुतः यह शब्द उस लक्ष्य के लिए भी प्रयुक्त होता है जो कलाकार सतत अपने

१. लोजाइनस—देखिए—'ऐतिहासिक खण्ड'

२ गर्टा

३. कॉलरिज

सम्मुख रखता है। उदाहरणार्थ मूर्तकला अनेक साधनों से मूर्ति का निर्माण करती है और मूर्त-कलाकार रंगीन पत्थर तथा तेज़ छेनी के प्रयोग द्वारा कलापूर्ण मूर्ति का निर्माण करता है। चित्रकला में रंग, कूँची तथा तख्ती ही साधन हैं और सम्पूर्ण चित्र साध्य; संगीत में आरोह, अवरोह, मीड़, कम्पन इत्यादि साधन हैं और गीत साध्य। परन्तु साधारणतः अनेक आलोचक, मूर्ति, चित्र अथवा संगीत की आलोचना करते हुए पथभ्रष्ट हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि कभी वे साधन पर ध्यान देते हैं कभी साध्य पर और कभी कलाकार पर; और श्रेष्ठ आलोचना प्रस्तुत करने मे विफल रहते हैं।

साधारणतः कुछ ललित कलाओं में प्रयुक्त साधनों और उनके साध्य को हम अलग-अलग कर सकते हैं; परन्तु यह विभाजन कुछ विशेष कलाओं के क्षेत्र में यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य होगा। उदाहरण के लिए नृत्य के साधन तथा उसके साध्य नृत्य में विभाजन दुष्कर है, क्योंकि नृत्य तथा उसके साधन अत्यन्त घुले-मिले रहते हैं। बहुत प्रयत्न करने पर भी हम उनका सहज विभाजन नहीं कर सकेंगे। हाव-भाव, इंगित तथा शरीर के अंगो की चंचल क्रिया साधन कही जा सकती है; परन्तु वस्तुतः वे भी नृत्य के ही तो रूप होंगे और उन्हीं से मिलकर अथवा उन्हीं के एकत्रीकरण से नृत्य का निर्माण भी हुआ है। साधन और साध्य का यह प्रगाढ मिलन शायद ही किसी अन्य ललित कला में मिले। चित्रकला, मूर्तकला, काव्य-कला इत्यादि में साधन और साध्य का विभाजन सरल और स्पष्ट है। रंग, कूँची तथा चित्रपट और निर्मित चित्र; छेनी, पत्थर तथा हाथों की शक्ति और निर्मित मूर्ति तथा शब्द, छन्द, अलंकार इत्यादि तथा निर्मित काव्य क्रमशः चित्रकला, मूर्तकला तथा काव्यकला के प्रमाणित साधन और साध्य हैं। सफल आलोचक दोनों पर समुचित दृष्टि रखेगा।

इसके साथ-साथ आलोचक कलाकार के केवल उन्हीं कार्यों का लेखा रखता है जो इच्छित हैं तथा जो उसके अधिकार में रहते हैं। साधारणतः बहुत-से मानवी कार्य न तो इच्छित होते हैं और न ऐसे जिनके लिए कोई विशेष उद्योग किया जाय। इस दृष्टि से जो भी कार्य बिना किसी प्रयत्न अथवा प्रयास के बरबस होता जाय वह आलोचक के लिए फलप्रद नहीं होगा। इधर-उधर की प्रयोजनहीन बातचीत, गुनगुनाना, हाथ-पर-हाथ धरे बैठना, अँगड़ाई लेना अथवा उच्छ्वास फेंकना न तो इच्छित हैं और न उद्योगपूर्ण कार्य हैं। चिड़ियों का चहचहाना भी कोई कलापूर्ण वस्तु नहीं; वह तो उनका सहज स्वभाव है : वे बरबस ही चहचहाती हैं। उसी प्रकार हमारे दैनिक जीवन के

अनेक कार्य ऐसे हैं जो हम बिना किसी प्रयास के और बड़ी सफलतापूर्वक करते रहते हैं परन्तु उनके प्रति हमारी इच्छा-शक्ति उपेक्षा दिखलाती रहती है। हम इसके कारण को समझ नहीं पाते और न उस कार्य में निहित शक्ति को ही पहचान पाते हैं। परन्तु कला-क्षेत्र में यह आवश्यक है कि कलाकार स्वेच्छा से साधन और साध्य दोनो की रूप-रेखा लक्ष्य-रूप में सम्मुख रखे; और बिना इसके कलाकार का काम भी न चल पाएगा। चाहे वह चित्रकार हो, चाहे वह मूर्त्तकार और चाहे वह कवि हो, उसे अपने मस्तिष्क मे अपने साध्य की रूप-रेखा अवश्य ही बनानी पड़ेगी। परन्तु इसके यह अर्थ नही कि चित्र, मूर्त्ति अथवा कविता का क्रमशः चित्रण, निर्माण तथा लेखन मे कोई अन्तर न आएगा और जो भी मूल रूप-रेखा कलाकार ने बना ली है उसी का अक्षरशः अनुसरण वह करता जायगा। वास्तव मे देखने से तो यह आता है कि ज्यों-ज्यों चित्र बनता जाता है, साधन और साध्य दोनो के आकार-प्रकार में परिवर्तन होता जाता है। और जब तक कि कलाकार बिलकुल ही निकृष्ट न होगा उसके साधन और साध्य दोनों मे बहुत अन्तर आता जायगा। जैसे-जैसे उसका उद्देश्य बदलेगा, साधन भी बदलेगा और अन्त में उसकी निर्मित वस्तु चाहे वह मूर्ति हो, चित्र हो, अथवा काव्य हो, अपना सम्पूर्ण आवरण बदल देगी।

इसके साथ-साथ कलाकार को अपनी कला के लिए अनेक नियन्त्रण भी मान लेने पड़ेंगे। उद्देश्य अथवा लक्ष्य के अनुसार और अभीष्ट-सिद्धि के लिए कलाकार को निर्मित वस्तु की रूप-रेखा मनोनुकूल तथा माध्यम की कठिनाइयों के अनुसार परिवर्तित करनी पड़ेगी। चाहे वह कवि हो अथवा मूर्त्तकार अथवा चित्रकार सभी को अपने लक्ष्य के अनुसार अनेक नियन्त्रण स्वीकार करने पड़ेंगे। चित्रकार यदि लकड़ी पर चित्र खींचता है, मूर्तकार यदि मिट्टी का प्रयोग करता है तो दोनों को ही अपने कला-प्रयोग की सीमाएँ बाँधनी होगी। उदाहरण के लिए चित्रकार के सम्मुख कपड़े का परदा न होकर एक प्रस्तर-खण्ड है जिस पर उसे चित्र खीचना है; वह प्रस्तर-खण्ड किसी विशेष स्थान पर रखा जायगा इसका भी उसे ध्यान रखना है; उसे किसी विशेष-वर्ग के लोग ही देखेंगे, इसे भी उसे नहीं भूलना है—इसलिए इन तीनों बातो को ध्यान में रखने के फलस्वरूप उसे अनेक नियन्त्रण मानने ही पड़ेंगे। और जब आधुनिक कलाकार यह कहते है कि कला के लिए कोई नियन्त्रण मान्य नही और कलाकार पूर्णतः स्वच्छन्द रूप से अपनी कला प्रदर्शित करने के लिए स्वतन्त्र है तो वे भूल करते है। केवल यह कहना कि कला

नितान्त स्वच्छन्द है और कलाकार पर किसी प्रकार का नियन्त्रण रखना हानिप्रद है, बहुत भ्रामक है। कलाकार तो स्वतः अपनी कला की साधना में अनेक नियन्त्रण बिना किसी असमंजस के स्वभावतः मानता चलता है जैसा कि पिछले उदाहरण से स्पष्ट है। इसलिए यह विचार भी त्याज्य है कि कलाकार पर किसी प्रकार का बन्धन डालना कला के लिए घातक होगा। अधिकांशतः तो यही सत्य ज्ञात होता है कि इन्हीं नियन्त्रणों के कारण उसकी कला सफल हुई और कलाकार अपने वांछित उद्देश्य की पूर्ति कर सका। कभी-कभी कलाकार यह भी कह सकता है कि उसे न तो कोई आधार चाहिए और न कोई बाह्य उपकरण; अतः वह कोई नियन्त्रण मानने को तैयार नहीं। इस परिस्थिति में भी उसे यह जानना चाहिए कि वह अनजाने ही अनेक नियन्त्रण स्वीकार कर रहा है। अपने मनस्तल में बिखरी हुई भावनाओं को एकत्र करके उसे उनमें से उचित भावनाएँ छाँटनी पड़ेंगी, शब्द, छन्द, लय तथा गति की मर्यादा की रक्षा करनी पड़ेगी, चित्रकार को रंग चुनने पड़ेंगे, मूर्त्तकार को कोई-न-कोई आधार चुनना ही पड़ेगा; इसलिए यह नितान्त सत्य है कि साधनों तथा आधारों को अपनाते ही कलाकार को रह-रहकर अनेक नियन्त्रण स्वीकार करने ही पड़ेंगे। इससे उसका पीछा नहीं छूट सकता।

इसके साथ-ही-साथ यह भी विचारणीय है कि जो भी थोड़े-बहुत नियन्त्रण कलाकार को अवश्यमेव अपनाने पड़ते हैं और जो भी थोड़ी-बहुत स्वतन्त्रता का उपभोग वह करता है, दोनों ही के द्वारा उसे आनन्द प्राप्त होता है। यह इसलिए सम्भव रहता है कि नियन्त्रण ऐसे नहीं होते जो कला का गला घोंट दें और स्वतन्त्रता ऐसी नहीं होती जो कला को उच्छृंखल बना दे। दोनों के अपूर्व सामंजस्य द्वारा कलाकार को स्वयं आनन्द का अनुभव होता है। जब कलाकार अपनी कला की सीमा के भीतर, नियन्त्रणों को वहन करते हुए अपने लक्ष्य की पूर्ति कर लेता है और उसे यह विश्वास हो जाता है कि उसकी कला ठीक उतरी तो उसे आनन्द इसलिए प्राप्त होता है कि उसने अपने लगाए हुए नियन्त्रणों पर विजय पाई और जो भी स्वतन्त्रता का उपभोग उसे प्राप्त रहा उसके द्वारा उसने पूर्ण लाभ उठाया। जिस प्रकार से कोई पटु गृहणी नपी-तुली आय में महीने-भर सुन्दर सुस्वादु भोजन इत्यादि की व्यवस्था कर लेने पर एक अपूर्व आनन्द का अनुभव करती है उसी प्रकार पटु कलाकार नियन्त्रणों का भार वहन करते हुए जब अपने लक्ष्य की पूर्ति कर लेता है तो आनन्दित होता है। उसको सन्तोष इसलिए प्राप्त होता है कि उसके ध्येय की पूर्ति हुई। इसलिए जब तक आलोचक कलाकार के लक्ष्य को

पूर्ण रूप से हृदयंगम नहीं कर लेता तब तक उसे विफल ही रहना पड़ेगा। इसी कमी के कारण प्रायः आलोचक यह कहा करते हैं कि कलाकार की कला का न तो सिर है न पैर; कलाकार स्वयं ही जाने कि वह किस पर उतारू है। यही कारण है कि अनेक रूढ़िग्रस्त आलोचक आधुनिक कलाकारों की कला को नहीं परख पाते।

हम पहले प्रमाण रूप से कह चुके हैं कि प्रत्येक कलात्मक कार्य का कुछ-न-कुछ उद्देश्य अथवा कोई-न-कोई ध्येय अवश्य हुआ करता है और इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए हम यह भी कह सकते हैं कि प्रत्येक कलात्मक कार्य की सिद्धि के लिए साधन तथा साध्य की आवश्यकता पड़ेगी। जब तक हम साधनों को उचित दृष्टिकोण से नहीं परखेंगे और साध्य के मूल्य को नहीं पहचानेंगे आलोचना में सफलता प्राप्त न होगी। कुछ पुराने आलोचकों की धारणा यह थी कि कला का कोई ध्येय नहीं; और जिस कला का कोई निश्चित लक्ष्य होगा वह कला न कहला सकेगी। इस विचारधारा के अनेक[1] समर्थक हुए हैं, परन्तु आजकल वह विचारधारा भ्रममूलक प्रमाणित हो चुकी है।

आलोचक को वास्तव में कला को परखने के लिए दो बातों का ध्यान अवश्य रखना होगा : कलाकार का दृष्टिकोण तथा दर्शकवर्ग का दृष्टिकोण। कलाकार तथा पाठक के इन दोनों प्रधान दृष्टिकोणों के अन्तर्गत हमें अनेक आलोचनात्मक विचारों का दर्शन मिलेगा और हमें उनकी उपयोगिता तथा उनके महत्त्व पर ध्यान देना आवश्यक होगा। उदाहरण के लिए गोस्वामी तुलसीदास की रामायण को लीजिए और कवि तथा पाठक के अन्यान्य दृष्टिकोणों से उसे परखिए। हमारे सम्मुख अनेक प्रश्न आएँगे—

१. क्या तुलसी ने अपने मनोनीत कथा-वस्तु-निरूपण में मनोनुकूल सफलता पाई?

२. क्या तुलसी ने उस वस्तु-निरूपण में सफलता पाई जिसे हम समझते हैं उन्होंने संभवतः चुना होगा?

३. क्या तुलसी ने अपनी कृति को उपयोगी अथवा नैतिक उत्थान कराने वाली समझा था?

४. क्या पाठक की हैसियत से हम समझते हैं कि तुलसी की कृति

१. ऑस्कर वाइल्ड। यदि वास्तव में देखा जाय तो वाइल्ड ने स्वतः अपने को नहीं पहचाना। उन्होंने भी अपनी कला का उद्देश्य अवश्य रखा, उसके द्वारा उन्होंने सामाजिक रूढ़ियों की हँसी उडाई, रूढ़िग्रस्त व्यक्तियों को हास्यास्पद बनाया और अपनी सत्ता जमाने की कोशिश की।

उपयोगी तथा नैतिक प्रेरणा देने वाली है ?

५. क्या तुलसी ने रामायण-रचना में आनन्द का अनुभव किया ?

६. क्या पाठकों अथवा तुलसी के मित्रों ने उन्हें काव्य-रचना करते हुए देखकर आनन्द पाया ?

७. क्या कवि ने रचना की समाप्ति पर आह्लाद का अनुभव किया ?

८. क्या पाठकों ने उस सम्पूर्ण कृति को पढकर आनन्द पाया ?

यदि इन समस्त प्रश्नों का उत्तर हम सफलतापूर्वक दे सकें तो हमे श्रेष्ठ आलोचना लिखने मे देर नहीं लगेगी। जब हम पहले प्रश्न—क्या तुलसी ने अपने मनोनीत कथा-वस्तु-निरूपण में मनोनुकूल सफलता पाई—का समुचित उत्तर ढूँढ लेंगे तभी हम आलोचना के कठिन मार्ग पर अग्रसर हो सकेंगे। इसके उत्तर मे हमें यह सोचना पड़ेगा कि क्या मनोनीत कथा-वस्तु के निरूपण मे कलाकार ने सौष्ठव तथा संयम का ध्यान रखा है अथवा जो कुछ भी उन्हे सूझ पड़ा उसे कथा-वस्तु में यदा-कदा स्थान दे दिया ? क्या कलाकार ने जो-जो प्रकरण दिये क्या वे इतने आवश्यक हैं कि बिना उनके काम चल ही नहीं सकता ? क्या एक भी प्रकरण के निकल जाने से सम्पूर्ण कथा-वस्तु को क्षति पहुँचेगी ? क्या कवि ने जो शैली अपनाई है उसके द्वारा मनोनीत कथा-वस्तु के समुचित संगठन तथा उसके द्वारा मनोनीत भाव-प्रकाश तथा मनोनुकूल रस-परिपाक मे उसे सफलता मिली है ? उस पहले प्रश्न के अन्तर्गत हमें उपर्युक्त अनेक प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ना पड़ेगा।

उपर्युक्त प्रश्नों के हल ढूँढने मे हमे कभी-कभी एक दूसरी कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। प्रायः प्राचीन कवियों की कृतियो का मूल्यांकन हमें अत्यन्त कठिन प्रतीत होगा। कारण यह है कि हम किससे पूछेंगे कि कवि ने क्या-क्या सोचकर अमुक विषय चुना, अमुक कथा-वस्तु चुनी और अमुक दृष्टिकोण अपनाया। कवि तो जीवित ही नहीं; हम पूछें किससे ? इसका साधारण हल यों प्रस्तुत होगा कि हम पहले यह निश्चित कर लें कि कवि की रचना किस वर्ग की है ? मान लीजिए कि यह निश्चय हुआ कि उसने महाकाव्य लिखा। इस उत्तर से हमारी समस्या बहुत-कुछ अंश में हल हो जायगी। हम यह सरलता से जान लेंगे कि उस समय के साहित्य में कितने महाकाव्य लिखे गए और साधारणतया उस समय के कलाकारो का उद्देश्य महाकाव्य लिखने के लिए क्या-क्या रहा करता था। इस तर्क के अनुसार हम यह भी अनुमान कर लेंगे कि हमारे कवि का उद्देश्य साधारण रूप में क्या रहा होगा। और ज्यों ही हमने यह अनुमान लगा लिया हमारी अनेक कठिनाइयाँ हल हो जायँगी और

हम श्रेष्ठ आलोचना लिखने में सफल होंगे। यही सिद्धान्त सभी ललित कलाओं की परख मे प्रयुक्त होगा और इसी के द्वारा श्रेष्ठ आलोचना सम्भव होगी।

कला तथा जीवन के सम्बन्ध का ज्ञान

कलाकार की कला का वास्तविक आधार जीवन ही होगा और कलात्मकता जब भी उद्‌बुद्ध होगी जीवन ही उसका मुख्य आधार रहेगा। कलाकार जब कला का निर्माण करता है तो साधारणतः वह जीवन पर दृष्टिपात करता रहता है, उस पर मनन और चिन्तन करता है क्योंकि वही उसके लिए कला का मूल स्रोत है। कलाकार जब तक उस मनन और चिन्तन को अपनी अभिव्यंजना-शक्ति द्वारा दूसरों तक पहुँचा नहीं देता उसे चैन नहीं आता। जीवन के दृश्य तथा जीवन के तथ्य उसमें भावोद्रेक ले आते हैं और वह अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा उनको एकाग्र हो देखता है और उसकी एकाग्रता इतनी तीव्र हो जाती है कि जीवन का यथार्थ उसके सम्मुख अपना हृदय खोल देता है। कलाकार को कला के निर्माण के समय आनन्द इसलिए प्राप्त होता है कि जो-कुछ भी वह निर्मित करता है वह जीवन के अत्यन्त समीप आता जाता है और ज्यों-ज्यो उसकी लेखनी अथवा कूँची अथवा छेनी अपने लक्ष्य की सिद्धि की ओर बढती है त्यो-त्यो जीवन को साकार होते देख कलाकार उत्फुल्ल हो उठता है। वह अपनी कृति मे जीवन का यथार्थ प्रतिरूप देखता है—ऐसा प्रतिरूप जो सत्य और कल्पना के समन्वय का आदर्श उदाहरण प्रस्तुत करता है। कलाकार जीवन के सत्यो को, जैसा हम अभी संकेत दे चुके हैं तर्क की दृष्टि से नहीं परखता—तर्क का व्यवहार तो विज्ञानज्ञ करेगा—वह अपने सहज ज्ञान तथा कल्पना दोनो की सहायता से जीवन के यथार्थ को हृदयंगम कर उसकी सफल अभिव्यक्ति में संलग्न हो जाता है।

कुछ लेखको तथा साहित्यकारो का विचार है कि कला जीवन से सम्बन्धित नहीं। और कदाचित् यह भ्रामक विचार अनेक रूप मे साहित्य-क्षेत्र में प्रस्तुत किया गया है और इस विचार के अनेक पोषक भी हुए हैं। सच तो यह है कि जब कलाकार को जीवन का विस्तृत तथा व्यापक ज्ञान रखना पड़ता है तो वह जीवन से विमुख कैसे रहेगा। ज्ञानी तथा कलाकार मे अन्तर केवल इतना है कि कलाकार जीवन पर कलात्मक दृष्टि डालेगा और ज्ञानी ज्ञानात्मक दृष्टि से जीवन के सत्यो को देखेगा। कलाकार जो भी जीवन का रूप हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है वह सत्यता का प्रतिरूप रहता है परन्तु इस प्रतिरूप मे कला की सहायता से जीवन की अमिट झाँकी प्रस्तुत रहती है; और यह

अत्यन्त चित्ताकर्षक होती है। दैनिक जीवन में हम जो-कुछ भी देखते-सुनते हैं कलाकार वही हमारे सम्मुख रखता है, परन्तु ऐसे रूप में जो हमें विलक्षण रूप मे प्रभावित करे। हम साधारण वस्तुओं को देखते-देखते उनकी उपेक्षा करने लगते हैं; वे हमें पुरानी, निरर्थक तथा आकर्षणहीन दिखाई देने लगतीं हैं परन्तु कलाकार इन्हीं वस्तुओं को ऐसे कलात्मक रूप में हमारे सम्मुख रखता है कि हमारी उपेक्षा आकर्षण में परिवर्तित हो जाती है; हममें उनके प्रति एक नवीन अनुराग उत्पन्न हो जाता है; हम उनकी ओर सजग हो उठते हैं। ऐसी परिस्थिति मे कला और जीवन का सम्बन्ध सिद्धान्त-रूप मे मानना ही पड़ेगा। वस्तुतः हमें जीवन में कला की आवश्यकता इसीलिए सतत बनी रहती है कि उसके द्वारा हम जीवन की ओर उन्मुख होते रहते हैं; हमारी अनेकरूपेण उपेक्षा घटती रहती है, हमारी दृष्टि व्यापक तथा हमारा हृदय विशाल होता रहता है। कला हमारे दिन-प्रतिदिन के अनुभव को मौलिक तथा तीव्र रूप मे हमारे सम्मुख प्रस्तुत करती रहती है। कला जीवन के सत्यों को स्थायित्व प्रदान करेगी; और चूँकि उसमें गति तथा लय नैसर्गिक रूप मे प्रस्तुत रहता है वह जीवन की सहचरी-समान साथ-साथ सतत चलती चलेगी। कला जीवन-सुन्दरी का सौभाग्य-सिन्दूर है।

कलाकार का ध्येय केवल यही नहीं कि वह जीवन का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करे क्योंकि प्रतिबिम्ब तो प्रतिबिम्ब ही रहेगा; उसमें सत्यता की कमी रहेगी और वह केवल कुछ घटनाओं का एकत्रीकरण होगा। कलाकार केवल घटनाओं को महत्त्व नहीं देगा क्योंकि इससे उसकी कला का प्रयोजन हल नहीं होगा। कलाकार तो जीवन के शाश्वत सत्यों तथा सार्वभूत गुणों पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित रखेगा; उसका ध्येय जीवन की व्याख्या करना है। जीवन अपनी अनेकरूपेण झाँकी कलाकार को दिखलाता है—कहीं इस झाँकी में करुणा होगी, कहीं हास्य होगा, कहीं व्यंग्य होगा, कहीं सहानुभूति होगी, कहीं माधुर्य होगा, कहीं कटुता होगी और कलाकार मनोनुकूल अपने व्यक्तित्व के अनुसार उन्हे प्रदर्शित करेगा। इस सम्बन्ध में यह आपत्ति हो सकती है कि जो कुछ भी हमें कलाकार देगा वह तो केवल उसका व्यक्तिगत दृष्टिकोण होगा इसलिए उसमें सार्वभौमिकता कहाँ से आएगी। हमारा सरल उत्तर यह है कि इस विशाल विश्व के जीवनानुभव इतने विभिन्न तथा व्यापक हैं कि कदाचित् ही कोई एक कलाकार हमें उनका सम्पूर्ण परिचय दे सके; हमें तो सभी कलाकारों के मनोनुकूल चुने हुए अनुभवों के क्षेत्र मे विचरना होगा और जीवन के सत्यो को अपने-आप परखना होगा। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कलाकार जितना ही उच्चकोटि का होगा उतना ही उसका

दृष्टिकोण व्यक्तिगत न होकर व्यापक होगा, सर्वगत होगा। और हमे उन सभी कलाकारों का कृतज्ञ होना पड़ेगा जो थोडा-बहुत भी अपनी सामर्थ्य के अनुसार, अपनी प्रतिभा के अनुसार, अपनी कला के द्वारा हमें जीवन के प्रति सजग बनाएँ। अगर उनकी प्रतिभा का आलोक जीवन के विशाल धूमिल क्षेत्र में दो-एक किरण भी प्रस्फुटित कर दे तो हमे उनका आभारी होना पडेगा।

कुछ साहित्यिक मनीषियो का विचार है कि सत्यतापूर्ण कलात्मक प्रदर्शन न तो केवल तर्क शक्ति की श्रेष्ठता पर निर्भर है न महान् प्रेरणा द्वारा ही सफल होगा। जिस सत्य अनुभव का हम प्रदर्शन चाहते है वह किसी दूर देश की वस्तु नहीं, वह हमारे यथार्थ जीवन के परे नहीं। हम केवल यह चाहते हैं कि कला जीवन को किसी सुन्दर आकार के अन्तर्गत देखे; केवल जीवन की अस्त व्यस्त झाँकियो से ही सत्य का कलात्मक प्रदर्शन सम्भव न होगा। कला को हमारे छोटे-से-छोटे अनुभव और अनुभव के समूहों की माला परिकल्पना[1] द्वारा पिरोनी होगी जो एक सुन्दर, सुव्यवस्थित आकार में हमारे सम्मुख प्रस्तुत होगी। कलाकार से हमारा सतत यही अनुरोध रहेगा कि वह हमारे सम्मुख हमारे अनुभवो को मनमोहक चित्र-रूप में रखे जो हमारे हृदय को छू ले। प्रायः हम स्वयं अपने अनुभवो के सौन्दर्य को अपनी छोटी-मोटी कलात्मक शक्ति के सहारे चित्र-रूप में देखने का प्रयास किया करते हैं; हमारे ये प्रयास अधूरे तथा विफल रह जाते हैं क्योंकि हममे कलाकार की शक्ति नही। अतएव कलाकार से हमारा यही आग्रह रहेगा कि हमारे अधूरे अनुभव-चित्रो को वह सम्पूर्ण बनाए, उन्हें आकर्षक आकार से विभूषित करे; उन्हे हृदयग्राही बनाए और उन्हीं के सहारे जीवन के रहस्यों का उद्घाटन कर जीवन के पास लाए। परन्तु यह तभी सम्भव होगा जब कलाकार मे कल्पना तथा परिकल्पना की मात्रा, जिसकी महत्ता हम स्पष्ट कर चुके हैं, यथेष्ट रूप में प्रस्तुत रहेगी। ललित-कलाओं मे सत्य-प्रदर्शन का यही अर्थ है।

सत्य-प्रदर्शन के साथ-साथ आलोचको का यह भी आग्रह रहेगा कि कलात्मक प्रदर्शन सुन्दर भी हो। कला और सौन्दर्य का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध सदा से रहा है। परन्तु सौन्दर्य के अर्थ यह कभी नहीं कि वह केवल आध्यात्मिक हो, दैवी हो, इस जीवन से दूर अमूर्त रूप मे प्रस्तुत हो। इसके यह भी अर्थ नहीं कि वह कला का कोई बाह्य अंग है, आभूषण मात्र है। प्रायः कुछ लेखक यह कहा करते हैं कि अमुक कविता अथवा अमुक चित्रो मे सौन्दर्य का समायोग नहीं, उसमे सौन्दर्य की न्यूनता है। यह निर्विवाद है कि सौन्दर्य

१. देखिए—'काव्य की परख'

कला का बाह्य अंग नहीं; वह उसका एक विशिष्ट तत्त्व है जो उसमें अन्तर्हित रहता है। वह मनोनुकूल जोड़ी-घटाई नहीं जाती ; वह तो उसके जीवन की सांस समान है। वास्तव में सौन्दर्य तो कला का वह साधन है जिसके द्वारा कला आनन्द का प्रसार करती है; आनन्ददायी बनती है। ऐसे मानवी मनोभावों का प्रदर्शन, जो जीवन की यथार्थता से समन्वित हों, कला का लक्ष्य रहा है और जब-जब हमें मनोभावों के प्रदर्शन तथा उनकी यथार्थता का बोध हुआ तब-तब हममें आनन्द का स्फुरण हुआ। प्रायः उसी क्षण से हममें आनन्द का उद्रेक होता है जिस क्षण मनोभावों तथा यथार्थ जीवन का सम्बन्ध तथा उनका समन्वय हमारी आँखों के सामने चित्रित होता है। कुछ लेखकों का भ्रामक विचार है कि सौन्दर्य कला की शैली-मात्र है और सौन्दर्य-प्रदर्शन के लिए कलाकार कला का प्रयोग उसी प्रकार करता है जिस प्रकार कोई मूर्त्तकार अपनी छेनी का अथवा कोई चित्रकार अपनी कूँची का प्रयोग करता है। केवल इसी हद तक यह विचार मान्य हो सकता है कि बिना छेनी के मूर्ति नहीं निर्मित होगी और बिना कूँची चित्र नहीं बन सकेगा। स्पष्ट है कि छेनी और कूँची में कला का सौन्दर्य निहित नहीं वह तो निहित है कलाकार की उस अव्यक्त सूझ और शक्ति में जिस शक्ति और सूझ द्वारा वह छेनी चलाता है और कूँची का परिचालन करता है। कला के हृदय से सौन्दर्य को जन्म देने के साधन छेनी और कूँची होंगे परन्तु वे स्वयं सौन्दर्य का स्थान न ले सकेंगे। वास्तव में, आनन्ददायी कलात्मक सौन्दर्य का जन्म तभी होता है जब हमें चित्रित मनोभाव की सत्यता का अनुभव होता है। वह न तो केवल साधनो पर निर्भर है और न कला पर। हाँ, कला को हम सौन्दर्य के हृदय तक पहुँचने का एक साधन समझ सकते हैं; परन्तु वह सौन्दर्य का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व नहीं कहला सकेगा।

कुछ प्रतिष्ठा-प्राप्त आलोचको[1] का विचार है कि आलोचना केवल पाठक-वर्ग के मानस पर काव्य-जन्य प्रभावों का विश्लेषण है। आलोचना इस तथ्य पर अपनी दृष्टि एकाग्र रखेगी कि किस प्रकार की कविता किस प्रकार के दृष्टि-कोण को जन्म देती है और उन दृष्टिकोणों में कौनसा मूल्यवान् है। पाठकों की मानसिक क्रिया तथा प्रतिक्रिया का लेखा रखती हुई आलोचना यह जानने का प्रयत्न करेगी कि उन विचारो तथा उन विश्वासो में कितनी निष्कपटता, कितनी शुद्धता तथा कितनी सत्यता है जिनके सहारे हम अपना जीवन सुव्यवस्थित बनाते रहते हैं।

यद्यपि ऐसी आलोचना वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक होगी परन्तु

१. आई० ए० रिचर्ड्स

अन्ततोगत्वा निष्कर्ष यही निकलेगा कि हमें धर्म के स्थान पर संस्कृति को प्रतिष्ठित करना चाहिए। इस प्रणाली को अपनाने के उपरान्त हमें यह चिन्ता होगी कि बहुमत जिसे ग्राह्य और उत्तम समझता है उसे अभिजातवर्ग के अल्प-संख्यक कलाकार न तो श्रेष्ठ मानते हैं और न उत्तम। अभिजातवर्ग के व्यक्ति ही कुशल विचारक होंगे क्योंकि उन्होंने साहित्यिक श्रेष्ठता की जो कसौटी तैयार कर दी है उसका आधार उनकी श्रेष्ठ साधना तथा शताब्दियों का अनुभव है। इस द्वन्द्व के फलस्वरूप भविष्य मे साहित्य तथा साहित्यकार का कल्याण नहीं होगा। विचार-शक्ति की प्रगति के लिए भी ऐसी परिस्थिति हितकर न होगी। फलतः यह आवश्यक है कि द्वन्द्व मिट जाय। इसका उपाय भी सरल है। आलोचक का यह प्रयत्न होना चाहिए कि वह बहुमत की साहित्यिक रुचि को जहाँ तक हो सके अभिजातवर्ग की अभिरुचि के निकट ले आए। उसे अभिजातवर्ग की अभिरुचि को बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित रखना होगा और उसकी श्रेष्ठता तथा महत्ता को सतत स्पष्ट करते रहना होगा। तात्पर्य यह हुआ कि अभिजातवर्ग तथा साधारणवर्ग की एक विशाल सभा हो और यह सिद्धान्त-रूप में मानते हुए कि अभिजातवर्ग का ही दृष्टि-कोण श्रेष्ठ, फलप्रद तथा स्तुत्य है सभा का कार्य आरम्भ हो। भला इस परि-स्थिति में दोनों कैसे पास आ सकेंगे? फल यह होगा कि दोनों एक-दूसरे से और भी दूर हो जायँगे।

संक्षेप में इस आलोचना-शैली का ध्येय यही रहा कि साहित्य के मूल्यांकन की एक नियमावली तैयार हो जो आलोचक के हृदय मे विश्वास और श्रद्धा की स्थापना करे जिसके बल पर वह अभिजातवर्ग की सुरुचि के निकट जन-रुचि को लाता जाय। वास्तव में ये आलोचनात्मक विचार कला को सौन्दर्यात्मक परिधि में सीमित रखना चाहते हैं और प्रगतिशील आलोचनात्मक सिद्धान्तों के विरोध मे प्रसारित किये गए हैं।

हम इस मूल विचार की अनेक बार पुनरावृत्ति कर चुके हैं कि आलोचक को सतत यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रायः सभी श्रेष्ठ विचारकों, समीक्षकों तथा कलाकारों का यह सहज सिद्धान्त रहा है कि कला का आनन्ददायी होना अनिवार्य है। आदि कवि से लेकर आज तक के कलाकार यह सतत कहते आए हैं कि कला का प्रमुख लक्ष्य, किसी-न-किसी रूप मे आनन्द का प्रसार रहेगा। यूनानी आदि कवि होमर ने कवियो को यह आदेश दिया कि वे मानव-जीवन में आनन्द प्रसारित करें; और जितनी मात्रा मे कवि आनन्द का प्रसार करेगा उतनी ही मात्रा मे उसकी कला सफलीभूत होगी और यह प्रमाणित होगा

कि कवि ने अपना गान पटुता से गाया और उसमें आनन्ददायी सत्य का आभास था। प्रायः अनेक कवियों ने काव्य द्वारा प्रसूत आनन्द को विभिन्न नामों से सम्बोधित किया है—किसी ने उसे आनन्द नाम दिया है; किसी ने सहज उल्लास, किसी ने हर्ष, किसी ने परमानन्द तथा किसी ने हर्षोन्माद नाम से उसे पुकारा है। जर्मन दर्शनज्ञ शिलर का कथन है कि कला का प्रमुख ध्येय आनन्दोत्सर्ग है, और श्रेष्ठ कला की यही परख है कि वह परमानन्द का प्रसार करे। अंग्रेजी आलोचक ड्राइडेन का कथन है कि कला के अनेक लक्ष्य हो सकते हैं परन्तु उसका प्रमुख लक्ष्य हर्ष का प्रसार है। आत्मा को प्रभावित करना तथा श्रद्धा का बीज अंकुरित करना उसके सहज लक्षण हैं। यूनानी आलोचक लोंजाइनस का कथन है कि कला का प्रधान लक्ष्य आत्म-विभोर की दशा प्रस्तुत करना है और श्रेष्ठ कलात्मक आनन्द वही होगा जो पाठक को आत्म-विभोर कर दे; उसे अपनत्व भुलाने पर विवश कर दे। स्पष्ट है कि सौन्दर्य कला का न तो साधन है और न उसकी शैली। सौन्दर्य तो कला का सहज स्वभाव है।

यह भी स्मरण रहे कि कवि, आनन्द-प्रसार के लिए दुःखद कथाओं तथा मानव-जीवन के अनेक दुःखद स्थलों का भी प्रयोग कर सकता है और इन विषयों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं। प्रतिबन्ध केवल इतना है कि जो भी जीवन के दुःखद अनुभव प्रकाशित किए जायँ वे पाठक को त्रस्त न करें और जीवन की यथार्थता का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करते हुए एक अन्य प्रकार का उत्सुकतापूर्ण आनन्द प्रस्तुत करें। कलाकार को तो मानवी अनुभव आनन्ददायी रूप में तीव्र करना है चाहे वह हर्षपूर्ण घटनाओं का उल्लेख करे अथवा दुःखद अनुभूतियों के आवरण में उसे प्रकाशित करे। अनुभूति जितनी ही दुःखद होगी उतनी ही तीव्र होगी और उससे आविर्भूत आनन्द भी अत्यन्त व्यापक होगा और पाठक उतना ही अधिक उसका प्रभाव भी ग्रहण करेगा। कलाकार दुःखान्तकी द्वारा हमारे सम्मुख मानवी जीवन की संघर्षपूर्ण भावनाओं का द्वन्द्व प्रदर्शित कर हमें उनकी अनुभूति व्यक्तिगत रूप मे न देकर बाह्य रूप में प्रस्तुत करेगा और हम बिना उस दुःखपूर्ण भावना का निजी अनुभव किए उसका आनन्द उठा लेंगे। श्रेष्ठ कलाकार हमको हमारे छोटे और सीमित निजी जगत् से निकालकर एक महान् मानवी जगत् के बीच ला खड़ा करेगा जहां हम समस्त मानव के जीवन का पर्यवेक्षण कर सकेंगे और उस व्यापक तथा विशाल दृश्य को देखकर, आत्मविभोर हो, आत्मिक आनन्द का अनुभव करेंगे। कलाकार का यह आग्रह कभी नहीं रहता कि पाठकवर्ग दुःखद

भावनाओं को व्यक्तिगत रूप में अनुभव करे और आँसू बहाए : वह यह कभी नहीं चाहता कि पाठकवर्ग प्रदर्शित अनुभूति में भाग ले, उसे अपनाए और अपने को भी दुःखद अवस्था मे ले आए। उसका आग्रह केवल यही रहेगा कि हमारे सम्मुख हर प्रकार का सौन्दर्यात्मक मायाजाल प्रस्तुत रहे जिसे हम समझते रहें और आनन्द उठाते रहे। और कलाकार जितनी क्षमता और तत्परता से यह भ्रमजाल प्रस्तुत करेगा उतना ही अधिक आनन्द देगा, और ज्यों ही उसका यह प्रयास स्थगित अथवा विफल हुआ आनन्द का स्वप्न टूट जायगा और पाठकवर्ग हताश हो उठेगा। कलाकार को, इसके साथ-ही-साथ वही घटना, वही अनुभव, वही कथानक प्रस्तुत करना चाहिए जो संभाव्य हो अथवा संभावना की सीमा के परे न हो। यदि घटनाओं में संभाव्यता है, यदि अनुभूति में सत्यता है, यदि उनके प्रयोग में तोड-मरोड तथा अतिशयोक्ति नहीं, तो कला सदा सफल रूप में आनन्द का प्रसार करेगी। जीवन के चित्र प्रदर्शित करने में सुख का अविरल प्रवाह दिखलाना, दुःख की असीमावस्था प्रस्तुत करते हुए नरक के नग्न-चित्र प्रस्तुत करना, पुण्य की सतत विजय तथा पाप की सतत हार दिखलाने से भी कलात्मकता की हानि होगी और पाठकवर्ग इनमें सत्य की झाँकी और श्रेष्ठ कला का भ्रमजाल नही पा सकेगा। वह असन्तुष्ट रहेगा और कलाकार की कला विफल होगी। घटनाओं के प्रदर्शन में जहाँ सम्भावना की सीमा का उल्लंघन हुआ हम या तो उस पर विश्वास ही नहीं करेंगे और यदि करेंगे भी तो उसे कलाकार की उच्छृंखलता कहेंगे। पाठक अथवा दर्शक की हैसियत से हम यह कह उठेंगे कि 'ऐसा कभी नहीं होता', 'यह तो कवि की मनगढन्त है'। परन्तु जब तक सम्भावना की सीमा बनी रहेगी हमारी उत्सुकता जागरूक रहेगी, भ्रमजाल सफलतापूर्वक हमारी आँखों के सम्मुख प्रस्तुत रहेगा। हम यही समझते रहेंगे कि जीवन भी अपूर्व रहस्यमय वस्तु है और इस रहस्य मे ही इसका अपूर्व आनन्द है।

कवि तथा आलोचक

अब हमें उस प्रश्न का उत्तर ढूँढना है जिस पर हम बहुत पहले विचार कर चुके हैं। क्या कवि ही श्रेष्ठ आलोचक हो सकेंगे? कवि द्वारा ही कविता लिखी जाती है, फलतः यह स्वाभाविक ही है कि हम यह आशा करें कि कवि ही अपनी कला की श्रेष्ठ परख कर सकेंगे; और इस दृष्टि से आलोचकवर्ग की एक नवीन श्रेणी बना लेना क्या निरर्थक न होगा? इस विचार के पक्ष में यह प्रमाण प्रस्तुत किया जा सकता है कि हम आशा तो यही करते हैं कि कविवर्ग ही काव्य-कला की श्रेष्ठ आलोचना कर सकेंगे और अनेक कवियों ने यह आशा

विफल भी नहीं होने दी। अँग्रेजी साहित्य में जैसा हम निर्देश दे चुके हैं ऐसे अनेक कवि हुए हैं जिनकी आलोचना-शैली उत्कृष्ट रही और जिनके विचार आज तक मान्य हैं। कुछ ऐसे भी कवि हुए जिन्होंने उन्हीं कवियों की समुचित तथा श्रेष्ठ आलोचना लिखी जो उन्हें विशेष-रूप से प्रिय थे। इतना होते हुए भी इस नियम के अनेक अपवाद भी मिलेंगे। अनेक कवि काव्य की आलोचना करने और अपने या अपने से पहले के युग के कवियों की आलोचना लिखने में नितान्त असमर्थ रहे।

उपरोक्त परिस्थिति से हम दो-एक सिद्धान्त सहज ही निकाल लेंगे। पहला तो यह कि श्रेष्ठ आलोचना कवियों द्वारा भी लिखी गई, परन्तु साधारणतः वे इस प्रयत्न में विफल ही रहे जिसके फलस्वरूप आलोचकवर्ग की आवश्यकता हुई। इसका कारण यह है कि काव्य का विस्तार अनन्त है, उसकी प्रेरणाएँ विभिन्न तथा रहस्यपूर्ण हैं और मानवी-संसार से सम्बन्धित होने के कारण यह विस्तार तथा विभिन्नता इतनी अधिक है कि केवल एक कवि सबकी रचनाओं को समझने और सबकी कला का समान रूप से मूल्य परखने मे असमर्थ रहेगा। और यह कार्य असम्भव भी होगा। कभी-कभी यह भी होगा कि वह कुछ विशेष रचनाओं और शैली-विशेष अथवा भाव-विशेष में अपनी रुचि न रखे। यह भी हो सकता है कि उसकी दृष्टि किसी एक ही प्रकार के विषय, भाषा, भाव तथा शैली की ओर इतनी आकृष्ट रहे कि वह दूसरे प्रकार के विषय, भाषा, भाव तथा शैली पर अपनी पैनी दृष्टि न रख सके। इसके साथ-साथ यह भी विचारणीय है कि काव्य अथवा साहित्य का कोई भी अंग चाहे स्वान्तःसुखाय ही क्यो न लिखा जाय कुछ कहने के लिए लिखा जाता है और साहित्यकार चाहे कितना भी चाहे पाठकवर्ग के महत्त्व को नहीं भुला सकता। प्रायः वह पाठकवर्ग के लिए ही साहित्य-सृजन करेगा। आलोचक पाठकवर्ग का श्रेष्ठ प्रतिनिधि है; वह पाठक-वर्ग के स्वत्वों की रक्षा करेगा; साहित्य को पूर्ण-रूपेण स्वयं समझेगा; उसका महत्त्व तथा मूल्य हृदयंगम करेगा; तत्पश्चात् पाठकवर्ग तक वह सन्देश पहुँचाएगा। हो सकता है कि उसे कभी किसी साहित्यकार-विशेष का भाव-प्रदर्शन अथवा शैली रुचिकर न हो और कहीं-कहीं उसकी समझ भी उसे भ्रम में डाल दे, परन्तु उससे यह आशा की जाती है कि जो-कुछ भी वह उचित रूप मे समझ सकेगा उसे सम्यक् रूप में पाठकवर्ग के समक्ष रखेगा। वास्तव में आलोचक में पाठकवर्ग की आत्मा पूर्ण रूप से सुरक्षित रहती है।

सच तो यह है कि आलोचक जितना पाठकवर्ग के समीप रहता है

आलोचक की कार्य-शैली

उससे भी अधिक वह साहित्य-स्रष्टा के निकट रहता है। सरिताओं के विशाल वक्षस्थल पर यन्त्र-वेत्ता पुल बाँध देते हैं। पहले वे नदी के जल की गहराई नापते हैं, उथले पानी का माप रखते हैं और बाढ़ के समय पानी के बहाव की शक्ति को समझने के उपरान्त पानी में बालू के बोरे गलाते हैं और धीरे धीरे यन्त्रो की सहायता से लोहे का अस्थि-पंजर एक विशाल सेतु का रूप ग्रहण कर लेता है। उसी प्रकार आलोचक भी मानव और प्रकृति के जीवन की गहराइयों और उसके उथलेपन का पूरा ध्यान रख साहित्य-सागर पर सेतु-बन्धन करता है, सुरक्षित रूप से हमें उस पुल पर चलना सिखलाता है। वह सतत यह ध्यान रखता है कि पथिक को उस मार्ग पर चलने में कोई भय अथवा कष्ट न हो।

युग-ज्ञान

प्रायः आलोचक को, जैसा संकेत दिया गया है, सबसे बड़ी कठिनाई पुराने साहित्यकारों की कृतियो को परखने मे पड़ेगी। प्राचीन साहित्य-सिन्धु पर सेतु-बन्धन सरल भी नहीं। ऐसी परिस्थिति मे आलोचक को प्राचीन युग के सामाजिक तथा आध्यात्मिक प्राण का ध्यान विशेष रूप में रखना होगा। उसे टीका-टिप्पणीकारों तथा क्षेपक-लेखकों से सतत सावधान रहना पड़ेगा और अपने को उसी प्राचीन युग का प्राणी मानकर उस युग के साहित्य की आत्मा को परखना पड़ेगा। यदि उसका अध्ययन टीकाकारो द्वारा सीमित रहा और वह अपने को प्राचीन युग का प्राणी कल्पना रूप में न बना सका तो उसका अध्ययन दूषित होगा और उसकी आलोचना वैषम्यपूर्ण होगी। यही सिद्धान्त आधुनिक रचनाओ की परख पर भी लागू होगा। आलोचक को लेखक के बनाए हुए मार्ग पर चलना होगा, उसकी कठिनाइयो को समझना होगा, उसके ध्येय को एकाग्र रूप से देखना होगा, तत्पश्चात् उस मार्ग पर चलने का स्पष्ट आदेश पाठकवर्ग को देना होगा।

जीवनाध्ययन

साहित्यकार प्रायः जीवन का प्रदर्शक होता है, परन्तु विरला ही साहित्यकार सम्पूर्ण जीवन-क्षेत्र का पथ-प्रदर्शन कर सकेगा। प्रायः वह जीवन के एक या दो क्षेत्र चुनकर ही अपना साहित्य-सृजन करता है। कल्पना की दूरबीन से वह जीवन के किसी क्षेत्र-विशेष का आलोक देखता है और वह सम्पूर्ण प्रकाश कवि के मानस में अपना घर बना लेता है। वह भाव-कोष से भाव निकाल-निकालकर उस कल्पनात्मक आलोक की भावात्मक रूप-रेखा बना लेता है; कहीं

पर वह गहरा रंग देता है, कहीं पर साधारण, परन्तु उसका उद्देश्य यही रहता है कि उस मूल आलोक की सम्पूर्णता जितनी भी स्पष्ट रूप में हो सके प्रस्तुत की जाय। परन्तु इसका साधन क्या है? कल्पना तो बहुत-कुछ कर सकती है परन्तु उसके प्रकाश का कोई माध्यम ऐसा होना चाहिए जो साधारण लोग समझ सकें। और साहित्यकार के पास शब्दों को छोड़ अन्य कोई साधन नहीं। शब्द-समूह ही कल्पना को वाणी देते हैं; मुखरित करते हैं, सजीव बनाते हैं। स्पष्ट है कि साहित्यकार में कल्पना पहले प्रतिष्ठित हुई, वाणी उसे बाद मे मिली।

आलोचना का मूल आधार

आलोचक की यही सबसे बड़ी कठिनाई है। आलोचक को वाणी पहले मिली, कल्पना बाद में; शब्द पहले मिले कल्पना देर में प्रस्तुत हुई। कलाकार कल्पना की ज्योति के सहारे शब्द-सृजन करने लगा और आलोचक शब्द-समूह के धुँधले प्रकाश में कल्पना की ओर पीछे-पीछे चला। यदि शब्दों ने उसका साथ दिया तो वह कभी-न-कभी उनके मूल स्रोत के निकट पहुँच ही जायगा; और शब्द यदि ऐसे हुए जो उसे अपने मूल स्रोत की ओर ले जाने में असमर्थ हैं तो आलोचक भी अपने कर्त्तव्य का निर्वाह न कर पाएगा। साहित्यकार को आलोचक के हाथों ऐसी ज्योतिर्मय शब्द-माला देनी होगी जिसके द्वारा वह सरलता से साहित्य-सुन्दरी का वरण कर सके। इस दृष्टि से आलोचक और साहित्यकार दोनों का ध्येय एक ही होगा। आलोचक को भी उस जीवन-क्षेत्र का विशेष परिचय होना चाहिए जिसका परिचय साहित्यकार दे रहा है। यदि उसे अनेक साहित्यकारो द्वारा प्रकाशित जीवन-क्षेत्र का परिचय देना वांछनीय है तो उसे उन सभी क्षेत्रों का समुचित परिचय आवश्यक होगा। और जब हम आलोचक से यह आशा रखेंगे कि वह हमें सभी कवियो तथा साहित्यकारों की कृतियो का मूल्य बतलाए तब उसके लिए यह अनिवार्य हो जायगा कि वह भी जीवन के सभी अंगों का सम्पूर्ण अध्ययन करे और उनका सम्पूर्ण परिचय अपने मानस मे सुरक्षित रखे। साहित्यकार तथा आलोचक दोनो का कर्त्तव्य एक है; दोनों के कार्यों मे एक विचित्र साम्य है।

प्रायः साधारण लोग यह समझते है कि साहित्य का नेतृत्व साहित्यकार ही करते हैं और आलोचकों की महत्ता गौण है, परन्तु यह धारणा भ्रम-मूलक है। दोनों ही जीवन के अध्ययनकर्ता है; एक का अध्ययन दूसरा स्पष्ट करता है। अपने कार्य के सम्पादन में आलोचक कभी ऐसे स्थल

पर भी आ पहुँचता है जहाँ वह यह आभास पाता है कि साहित्यकार ने जीवन के अमुक अंग को समझने में भूल की अथवा जीवन मे ऐसा तो नहीं होता, और कलाकार ने आवेश में आकर जीवन का विकृत रूप चित्रित कर डाला है। जब आलोचक को यह आभास मिलता है कि कलाकार का जीवनाध्ययन दूषित अथवा एकांगी है और उसका अनुभव सत्य नहीं तो उसी क्षण कलाकार का नेतृत्व छिन जाता है और आलोचक वह स्थान सहज ही ले लेता है। फलतः वह यह आदेश देने लगता है कि अमुक जीवन-सत्य का स्वरूप दूसरा है; कलाकार को अमुक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए था; उसे अमुक प्रकार से जीवन के तत्त्व की ओर पहुँचना चाहिए था। आलोचक जब आलोचना लिखता है तो उसे कलाकार की कला-प्रणाली को अपने मानस मे पुनः दुहराना पडता है जिसके उपरान्त वह कलाकार के कला-स्रोत तक पहुँचने में सफल होता है। आलोचक को कलाभवन की नीव तक पहुँचना पडता है और वहाँ की प्रत्येक ईंट और उसके उचित स्थान को देखना आवश्यक हो जाता है। जिस प्रकार छोटे बालक एक से सौ तक गिनती सरलता से गिन लेते हैं परन्तु यदि उन्हें सौ से एक तक उलटे रूप मे गिनती गिनने को कहा जाय तो उन्हें कठिनाई होगी उसी प्रकार कलाकार तो सरलतापूर्वक अपने लक्ष्य की ओर चला चलता है परन्तु आलोचक को लक्ष्य से मूल स्रोत तक धीरे-धीरे पहुँचना पड़ता है। इस दृष्टि से आलोचक का कार्य कहीं अधिक कठिन जान पडेगा। कदाचित् इसमे सत्यता भी है।

कुछ विचारकों की धारणा है कि साहित्य प्रायः साहित्यकार के व्यक्तित्व का प्रकाश-मात्र रहेगा। यदि हमने लेखक अथवा कलाकार के व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से समझ लिया तो हमारे सामने उसके द्वारा निर्मित कला की समस्त गुत्थियाँ सुलझ जायँगी। साधारण रूप से देखने में तो यह विचार मान्य जान पड़ता है परन्तु जब हम यह सोचते हैं कि क्या यह सतत सम्भव है तो कठिनाई उपस्थित हो जाती है। यदा-कदा तो हमें कलाकार की झाँकी उसके निर्मित साहित्य में मिल जायगी, परन्तु इसे सिद्धान्त रूप में प्रमाणित करना असम्भव होगा। इस सिद्धान्त को मानकर हम कला को सीमित कर देंगे और कलाकार को कल्पनाविहीन कर उसे मृतप्राय बना देंगे। कलाकार के पास कल्पना-रूपी एक ऐसा साधन है जो वह सतत और सहज ही प्रयुक्त करता रहता है और उसके कल्पना-क्षेत्र में भी उसी के जीवन के निजी अनुभवों को देखना फलप्रद न होगा। कुछ महान् कलाकार तो ऐसे हैं कि उनका जीवन कुछ और है और उनकी कला कुछ और; निजी अनुभव

कुछ और हैं प्रकाशित अनुभव कुछ दूसरे। दोनों एक-दूसरे से कहीं भिन्न हैं; कहीं दूर। इस प्रश्न का उत्तर हम पहले ही दे चुके हैं।

साहित्य के मूल्य का अनुसन्धान

दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न जो आज से नहीं वरन् प्राचीन काल से हमारे सम्मुख प्रस्तुत रहा है वह सौन्दर्यात्मक साहित्य का महत्त्व और उसकी परख के साधनों का अनुसन्धान है। अनेक विचारकों तथा श्रेष्ठ साहित्यकारों ने इसका हल प्रस्तुत किया है। किसी ने तर्क का सहारा लिया और किसी ने अनुभूति का। परन्तु साहित्याध्यन के फलस्वरूप कुछ विशिष्ट नियमों की ओर पुनः संकेत किया जा चुका है। वही साहित्य श्रेष्ठ तथा मूल्यवान् होगा जो सतत आनन्द की सृष्टि करेगा। यह आनन्द केवल कुछ ही पाठकों को नहीं वरन् समस्त वर्गों के पाठकों को सम रूप में मिलना चाहिए। वह साहित्य जो क्षणिक आनन्द का प्रसार करे और वह भी कुछ व्यक्ति-विशेष को अथवा वर्ग-विशेष को ही आकृष्ट करे न तो स्थायी होगा और न महत्त्वपूर्ण। हमे प्रायः इस सम्बन्ध में, यह भी कठिनाई रहेगी कि हम सौन्दर्य के मूल्यांकन के विषय में किसकी सम्मति मान्य समझें। क्या किसी भी साहित्य-प्रेमी की सम्मति हमें मान्य होनी चाहिए? इस सम्बन्ध में मतभेद की सम्भावना नहीं रहेगी, क्योंकि हमें उसी व्यक्ति की सम्मति मान्य समझनी चाहिए जिसने साहित्य का व्यापक अध्ययन किया है, उसकी साधना में जीवन व्यतीत किया है और उसकी वास्तविक आत्मा का साक्षात्कार कर लिया है। साहित्य की साधना करने वाले की ही सम्मति सतत मान्य रही है और मान्य होनी भी चाहिए और श्रेष्ठ साहित्य वास्तव मे वही है, जो हमे सहज रूप मे आकृष्ट करे, एकाग्र करे, वशीभूत करे। श्रेष्ठ साहित्य में मन्त्र-मुग्ध करने की शक्ति होगी; उसमें उस बीन की संजीवनी होगी जिसको प्राप्त करने के लिए सरल मृग-शावक अपने प्राणों को उत्सर्ग कर देता है। उसमें वही मोहक स्वर होगा जिसको श्रवण कर नागवंश झूमने लगता है; उसमे उस मेघ-मल्हार की ध्वनि होगी जिसकी प्रतिध्वनि सुनकर विशाल आकाश मेघाच्छन्न हो जाता है और उसमें उस दीपक राग की जीवनदायिनी शक्ति प्रवाहित रहेगी जिसकी प्रेरणा से बुझते दीप जल उठेंगे।

परिभाषाओं का निर्माण

साहित्य की जो परिभाषा अनेक अंग्रेजी लेखकों तथा आलोचकों द्वारा निर्मित हुई और उसके फलस्वरूप जिन आलोचना-सिद्धान्तों और आलोचना की परिभाषाओं का निर्माण हुआ उन पर दृष्टि डालना शेष

है। उन्नीसवीं शती के एक प्रसिद्ध साहित्यकार का कथन है कि साहित्य वही है जो शक्ति प्रदान करे और वह साहित्य साहित्य नहीं जो केवल ज्ञान-प्रसार करे। शक्ति-प्रदान से तात्पर्य यह है कि वह ऐसे अनुभवो की विशद् अनुभूति दे जो साधारण जीवन द्वारा हमें न मिलें और जो हमारे मानसिक स्तरों में ही अन्तर्हित रहें। इन्हीं अनुभूतियों के प्रति हमें जागृत करना साहित्य का प्रधान धर्म होगा।[1] एक दूसरे श्रेष्ठ साहित्यकार का कथन है कि जो भी ज्ञान हमें पुस्तको द्वारा प्राप्त होगा साहित्य के नाम से विभूषित होगा।[2] कुछ ने सुबुद्धि पूर्ण पुरुषो तथा स्त्रियों के लिखित विचारो तथा भावों की आनन्ददायी व्यवस्था को ही साहित्य समझा।[3] इसी विचार के आधार पर यह भी सिद्धान्त निकाला गया कि विचारों, भावों, तर्क, सम्मति तथा मनुष्य की अनेक मानसिक क्रियाओं की भाषा के माध्यम द्वारा अभिव्यक्ति को ही साहित्य का नाम मिलेगा।[4] एक दूसरे साहित्यकार का कथन है कि किसी व्यक्ति की निजी पसन्द तथा उसकी संकल्प-शक्ति द्वारा ही कल्पनात्मक साहित्य उद्बुद्ध होगा। कल्पनात्मक साहित्य केवल स्थित सत्यों का ही प्रतिरूपक नहीं, वह उन सत्यों का प्रतिरूपक है जिनकी विभिन्नता का अन्त नहीं, जिनके रूप अनन्त है।[5] एक अन्य विचारक का कहना है कि साहित्य के अन्तर्गत उन्ही पुस्तकों की गणना होगी जहाँ नैतिक सत्यों तथा मानवी आकांक्षाओ का विस्तृत एवं सुबुद्धियुक्त प्रदर्शन आकर्षक रूप में हुआ होगा।[6]

दूसरा श्रेष्ठ साहित्यकार कहता है कि साहित्य (पद्य मे हो अथवा गद्य में) चिन्तन द्वारा नहीं, कल्पना के कौशल द्वारा ही आविर्भूत होगा; वह राष्ट्र के अधिक-से-अधिक व्यक्तियो को आनन्द-प्रदान करेगा; उपयोगी तथा विशेष शिक्षा-प्रदान उसका ध्येय नहीं।[7] कुछ ने मानवी अनुभूतियों के आधार पर यह मत स्थिर किया कि मनुष्य ने अपने पार्थिव जीवन की न्यूनता-पूर्ति के लिए ही साहित्य-निर्माण किया।[8] एक अन्य विचारक का विश्वास है कि

१. डी० क्विन्सी
२. आर्नल्ड
३. स्टापफर्डब्रुक
४. कार्डिनल न्युमन
५. वाल्टर पेटर
६. मॉर्ले
७. पास्नेट
८. इमर्सन

साहित्य, मनुष्य के मानसिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र का सहयोग भाषा द्वारा प्रकाशित करता है, जिसमें आध्यात्मिकता का ही रंग गहरा रहेगा।[1]

सौन्दर्यात्मक सिद्धान्त की न्यूनता और उसकी पूर्ति

साहित्य की उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलेगा कि साधारणतया विचारकों ने साहित्य की आत्मा में विभिन्न तत्त्वों के दर्शन किये, परन्तु विशेषतः उन्होंने दो मूल तत्त्वों को ही प्रधानता दी। पहला तत्त्व है साहित्य की बोधगम्य शक्ति तथा दूसरा है आनन्द-प्रदान-क्षमता। फलतः सौन्दर्यात्मक सिद्धान्त की ही विजय अन्त में रही। परन्तु कुछ विचारशील व्यक्तियों ने इस सिद्धान्त में भी अनेक न्यूनताओं का अनुभव किया। उनका अनुमान है कि इस सिद्धान्त द्वारा आलोचना-क्षेत्र में स्वच्छन्दवादिता का प्रचार होगा और इससे आलोचना दोषपूर्ण होगी। इस दृष्टि से कुछ श्रेष्ठ आलोचकों ने दो-एक सुझाव रखे जो आलोचकों को हितकर होंगे। पहले तो आलोचक को साहित्य का विस्तृत परिचय होना चाहिए और दूसरे उसे सतत अपने आलोच्य साहित्य की तुलना अन्य साहित्यों से करते रहना चाहिए। यदि ये दोनों गुण उसमें हैं तो तीसरा अपेक्षित गुण सहज ही आ जायगा। यह तीसरा गुण है पक्षपातपूर्ण विचारों से मुक्ति। आलोचना क्षेत्र में प्रसारित स्वच्छन्दवादिता का इन तीनों गुणों द्वारा शमन होगा और आलोचना उन्नत होती जायगी। आलोचक का विस्तृत साहित्य-परिचय उसके ज्ञान का द्योतक होगा; और यदि वह किसी भी देश के, किसी भी युग के, साहित्य को महत्त्वहीन समझकर उसे छोड़ देगा तो भी दोष की आशंका बनी रहेगी। उसका तुलनात्मक अध्ययन उसे सदैव आलोचना के श्रेष्ठ गुणों को ध्यान में रखने पर बाध्य करेगा और उसकी पक्षपातहीनता उसकी आलोचना को लोकप्रिय तथा लोकरंजक बनाएगी। आलोचक में यदि इन तीनों गुणों में से किसी एक की भी कमी हुई तो दोष आए बिना न रहेगा। इन्हीं उद्देश्यों को आधारभूत मानकर अनेक साहित्यकारों तथा साहित्यिक मनीषियों ने आलोचना की परिभाषाएँ बनाई।

प्रायः प्राचीन युग की नियमों पर आधारित आलोचना साहित्य के अनेक वर्गों की उपेक्षा किया करती थी; आलोचक को न तो अन्य साहित्यों और न उसमें प्रवाहित विभिन्न विचारधाराओं का परिचय अपेक्षित था न तुलनात्मक अध्ययन को ही महत्त्व प्राप्त था। प्रतिक्रियास्वरूप सौन्दर्यात्मक आलोचना-प्रणाली द्वारा सभी वर्गों के साहित्य को—जिसमें आनन्द-प्रदान-

---

१. कॉसन

क्षमता थी—महत्त्व मिला। ये वर्ग चाहे नियमों का अनुसरण करते हों अथवा उपेक्षा यदि उनमें आनन्द-प्रदान-क्षमता हुई तो उनको आलोचना ने अपनाया। इसके साथ-साथ आलोचकों के एकांगी दृष्टिकोण का भी सुधार हुआ क्योंकि यदि आलोचक में केवल अरस्तू तथा हारेस द्वारा प्रतिपादित नियमों का ही ज्ञान था तो उसे महत्ता नहीं मिली। उसे महत्ता तभी मिली जब उसका साहित्य-ज्ञान विस्तृत हुआ। फलतः आलोचकों की संख्या में वृद्धि हुई। कोई भी जिनमें उपर्युक्त तीनों गुण होते आलोचक कहला सकते थे और केवल यूनानी आलोचना-सिद्धान्त के पिष्ट-पेषक आलोचको की महत्ता बहुत-कुछ घट गई। इस नवीन प्रणाली से एक और लाभ हुआ—हमारा साहित्य-भण्डार अनेक रूप से भरने लगा और आलोचनात्मक साहित्य की भी वृद्धि हुई।

आलोचना की अन्यान्य परिभाषाओं के अध्ययन के उपरान्त हमें यह सत्य दृष्टिगत होगा कि प्रत्येक युग के विचारकों ने अपने युग के अथवा अपने मनोनुकूल परिभाषाएँ बनाईं तो अवश्य परन्तु साधारणतः सब में कुछ इने-गिने विचारो की पुनरावृत्ति ही मिलेगी। कभी तो आलोचक को कवि बनने का आग्रह मिला; कभी छिद्रान्वेषी प्रवृत्ति के निराकरण का आदेश हुआ; कभी सम्पूर्ण काव्य को परखने के उपरान्त ही आलोचना लिखने का सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ, कभी द्वेष और पक्षपातरहित होने का निर्देश हुआ; कभी सामंजस्य गुण को परखने में ही आलोचक की प्रतिभा प्रमाणित की गई; कभी आलोचनात्मक गुणो की सम्पूर्ण तालिका प्रस्तुत की गई; कभी सहानुभूति की आवश्यकता प्रकाशित की गई; कभी तर्क और विवेक को मान्यता मिली; कभी सौन्दर्यात्मकता को प्रश्रय मिला; कभी देश-काल तथा युग-जीवन से आलोचना का सम्बन्ध प्रमाणित किया गया; कभी आधारभूत नियमो के अनुसन्धान पर आग्रह किया गया; कभी गुणानुवाद की भर्त्सना की गई; कभी साहित्य की आत्मा को प्रकाशित करने में ही आलोचक की श्रेष्ठता समझी गई; कभी प्रेरणा के रहस्योद्‌घाटन का उत्तरदायित्व आलोचक पर रखा गया और कभी काव्यानुभूति को तीव्र करने का आदेश दिया गया। कभी आलोचक को निर्णय देने पर बाध्य किया गया और कभी उसे स्वच्छन्द छोड दिया गया। मूल रूप में प्रायः आलोचक को अपनी निर्णयात्मक तथा वैज्ञानिक विश्लेषणपटुता तथा सौन्दर्यात्मक और क्रियात्मक शक्ति के प्रयोग का ही आदेश मिला जो अन्यान्य परिभाषाओं से स्वतः स्पष्ट होगा।

: ३ :

कवियों की आलोचना केवल कवि ही कर सकते हैं—सब कवि नहीं,

परिभाषाएँ केवल वे ही कवि जो काव्य-रचना में श्रेष्ठ समझे जाते हैं।[1]

समालोचना का ध्येय छिद्रान्वेषण नहीं है और जो ऐसा समझते हैं भारी भूल करते हैं। अरस्तू ने समालोचना-सिद्धान्त का जब निर्माण किया तो उनका उद्देश्य केवल उन सिद्धान्तों की ओर संकेत-मात्र था जिनकी सहायता से साहित्य की श्रेष्ठता भली भाँति समझाई जा सके। उनके उद्देश्य के अनुसार समालोचना का आदर्श साहित्य के उन गुणों का अध्ययन तथा निरूपण था जो साधारण बुद्धि के पाठकों को साधारणतः रुचिकर होते हैं। यदि किसी कविता का ढाँचा, वस्तु अथवा भाव-प्रदर्शन तथा विचार काव्य की नैसर्गिक आत्मा से आविर्भूत है तो आलोचक को चाहिए कि वह कवि की प्रशंसा करे। छोटी-छोटी भूलों पर नाक-भौं सिकोड़ना श्रेष्ठ आलोचक का काम नहीं है; ऐसा छिद्रान्वेषण केवल आलोचक की हृदयहीनता तथा द्वेष का द्योतक है। छोटे-छोटे दोषों से तो वर्जिल के समान श्रेष्ठ कलाकार भी मुक्त नहीं। लातीनी कवि तथा आलोचक का कथन है कि महाकवि होमर भी अनेक स्थलों पर दोषपूर्ण हैं और उनकी प्रत्येक पंक्ति में भावों का समान स्तर नहीं है।

यूनानी समालोचक लोंजाइनस का कथन है कि हमें वह कवि अधिक प्रिय है जो छोटी-मोटी त्रुटियाँ तो अवश्य करता है परन्तु उसमें काव्य की उच्च आत्मा सदैव रहती है। ऐसा कवि जो केवल साहित्यिक रूप से शुद्धतापूर्वक काव्य रचे और उसमें काव्य की उच्च आत्मा न हो निम्न कोटि का है। इस प्रकार का काव्य रचने वाला कवि व्याकरण, भाषा, तथा अलंकारों को शुद्ध रूप में प्रयोग करता है और काव्य में अशिष्टता नहीं आने देता। वह अपना सम्पूर्ण मस्तिष्क लगाकर कविता लिखता है। ऐसा कवि न तो हमारी श्रद्धा का पात्र है न हमारी प्रशंसा का। वही कवि प्रशंसा का पात्र होगा जो छोटी-मोटी त्रुटियों पर ध्यान न देकर काव्य के श्रेष्ठ स्तरों पर ही अपनी दृष्टि रखता है। श्रेष्ठ कवि उस धनी के समान है जो अपने छोटे-मोटे व्यय पर ध्यान न देकर केवल बड़ी रकमों को देखता है और उससे जीवन में श्रेष्ठ काम करना चाहता है। निम्न कोटि का कवि उस मामूली हैसियत के आदमी के समान है जो पाई-पाई पर दृष्टि रखकर, लेखा-जोखा बराबर कर, जीवन को छोटी-छोटी बातों में उलझाए रहता है।[2]

---

१. बेन जॉनसन—'डिस्कवरीज'

२. जॉन ड्राइडेन—'एपॉलॉजी फॉर हिरोइक पोएट्री'

कुछ समालोचक इतने दुर्बुद्धिपूर्ण होते हैं कि कवि की छोटी त्रुटियो पर ही दृष्टि रखकर समालोचना लिखते हैं। एक शाब्दिक भूल-चूक को ही पकडकर वे अपने कर्त्तव्य को पूरा करते हैं। जिस प्रकार से हम किसी चित्रकार द्वारा निर्मित चित्र देखते हैं उसी दृष्टि से हमे काव्य की परख करनी चाहिए। हम किसी भी चित्र को सम्पूर्ण रूप से ही देख सकते है न कि उसके कुछ स्थलो को; इसी युक्ति से हम सम्पूर्ण चित्र का सौन्दर्य परखते हैं। काव्य के लिए भी यही नियम अपेक्षित है। केवल द्वेषपूर्ण समालोचक सम्पूर्ण काव्य पर दृष्टि न रखकर उसके छोटे-छोटे स्थलो की त्रुटियाँ ढूँढा करते हैं। काव्य को आलोचना की कसौटी पर परखना ही मुख्य ध्येय होना चाहिए न कि छिद्रान्वेषण।

केवल कवि ही समालोचक होने के अधिकारी हैं। इसके यह तात्पर्य नहीं कि अन्य कोई समालोचक हो ही नही सकता। अन्य लोग भी समालोचक हो सकते हैं, परन्तु उनमें ज्ञान-विज्ञान को समझने तथा कलाओं को परखने की दैवी क्षमता होनी चाहिए। ऐसी क्षमता केवल अरस्तू मे ही थी। कवि द्वारा लिखी गई समालोचना अधिक मान्य तथा उपयोगी होगी, परन्तु ऐसे कवि द्वारा ही समालोचना लिखी जानी चाहिए जिसमें न तो पक्षपात हो और न द्वेष।[१]

'आलोचना निर्णय का एक मानदण्ड है जो उन साहित्यिक विशिष्टताओं का लेखा रखती है जो साधारणतया किसी विचारशील पाठकवर्ग को आनन्ददायी होंगे। आलोचना हमारे तर्क का भी मानदण्ड होगी।'[२]

'सौन्दर्यात्मक आलोचना-प्रणाली साहित्यिक कृतियों की तुलनात्मक विवेचना प्रस्तुत करती है; तत्पश्चात् साहित्य के इतिहास मे उसके महत्त्व का निर्णय करती है।'[३]

'आलोचक साहित्य-क्षेत्र का श्रेष्ठ प्रबन्धकर्ता है।'[४]

काव्य का उद्देश्य आनन्द-प्रदान है। उसमे प्रकृति का सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब सुरक्षित है; परन्तु इस प्रतिबिम्बित चित्र का प्रत्येक स्थल हर एक मनुष्य को सम-रूप से नहीं आकर्षित कर सकता। इसीलिए दुःखान्तकी को पसन्द करने वाला व्यक्ति सुखान्तकी पर अपनी निष्पक्ष राय नहीं दे सकता और

---

१. वही—'प्रिफेस टु सिल्वी'
२. ड्राइडेन
३. एल्ज
४. हैरिस

न सुखान्तकी को पसन्द करने वाला दुःखान्तकी के आनन्द-प्रदान को निष्पक्ष रूप से समझ सकता है। श्रेष्ठ समालोचक को दोनों के गुणों को पूर्ण रूप से समझना चाहिए; यदि ऐसा न होगा तो वह केवल पक्षपाती प्रशंसक होगा श्रेष्ठ समालोचक नहीं।[१]

किसी श्रेष्ठ कलाकार के दोषों को प्रदर्शित करना और उसके गुणों पर परदा डाल देना अच्छे आलोचक का सिद्धान्त नहीं होना चाहिए। ऐसा आलोचक निकृष्ट है।[२]

'श्रेष्ठ आलोचक किसी कलाकार की रचना को उन्हीं भावनाओं तथा दृष्टिकोणों से अध्ययन करता है जिनकी प्रेरणा द्वारा वह लिखी गई है। उसे उन सम्पूर्ण स्थलों का अन्वेषण करना चाहिए जिनमें भावों का उत्कर्ष हो और हृदय को छूने वाले अंश हो, न कि उन दोषो को ढूँढना चाहिए जो इधर-उधर पड़े हुए हो। उन्हें काव्य की आत्मा के दर्शन कर उससे प्रसन्न होना चाहिए और छिद्रान्वेषण द्वारा प्राप्त आनन्द को दूषित समझना चाहिए। जिस काव्य द्वारा न तो हृदय में जागृति हो और न उद्वेग हो, जिस काव्य में केवल व्याकरणात्मक अथवा शाब्दिक शुद्धता हो, जिस काव्य मे चित्त को उन्मत्त करने की शक्ति न हो, उसे आलोचक को ध्यान में भी न लाना चाहिए। सम्पूर्ण अवयवो के सामंजस्य के फलस्वरूप ही सौन्दर्य प्रकट होता है केवल एक ही अंग अथवा अवयव को सौन्दर्य का नाम नहीं मिलता। दोष हीन आदर्श काव्य की प्रतीक्षा में आलोचक को बैठ नहीं रहना चाहिए; उसे तो केवल कलाकार के उद्देश्य, उसके साधन, उसके दृष्टिकोण, उसकी निर्माण-कला पर ध्यान रखकर उसके सम्पूर्ण काव्य को परखना चाहिए। यदि कलाकार अपने सीमित साधनों द्वारा अपने उद्देश्य में सफल होता है और उसमें अनेक दोष रह भी जाते हैं, तो कलाकार प्रशंसा के योग्य है। श्रेष्ठ कलाकार उत्तम फल के लिए, छोटी त्रुटियों की ओर ध्यान नहीं देते।[३]

श्रेष्ठ समालोचक को निम्नलिखित नियमों का अनुसरण फलप्रद होगा—

१. प्रकृति तथा जीवन के नियमों का पालन।

२. गर्वहीनता।

३. कलाकार के उद्देश्य तथा भावों का यथोचित अध्ययन।

---

१. जॉन ड्राइडेन—'ऑल फॉर लव'

२. टी० राइमर—'द इम्पार्शल क्रिटिक'

३. ए० पोप—'एसे ऑन क्रिटिसिज़्म'

४. सम्पूर्ण काव्य को हृदयंगम करना।

५. कलाकार के ध्येय का ध्यान रखना।

६. श्रेष्ठ काव्य के लिए बौद्धिक तत्त्वों की आवश्यकता।

७. कला की आलोचना में केवल भाषा पर ही ध्यान न रखना।

८. विभिन्न विषयों के लिए विभिन्न शैली का प्रयोग।

९. केवल छन्द अथवा तुकान्त शैली की ही श्रेष्ठता मानना न चाहिए।

१०. शब्दों को भावों का प्रतीक समझना।

११. अतिशयोक्ति तथा अति का अनुसन्धान करना।

१२. केवल प्राचीन कलाकारों को ही श्रेष्ठ समझना और आधुनिकता से अप्रसन्न होना न चाहिए।

१३. नियमानुकूल काव्य-निर्माण की ही श्रेष्ठता मानना न चाहिए।

१४. स्वतन्त्र रूप में विचार करना न कि प्राचीन उदाहरणों से ही प्रभावित होना।

१५. व्यक्तित्व का ध्यान न रखकर काव्य को परखना।

१६. केवल नवीनता से ही आकृष्ट न होना चाहिए।

१७. सम रूप से आलोचना करना।

१८. काव्यालोचना मे दलबन्दी मे सहयोग न देना।

१९ द्वेष तथा अहं-भाव को निर्मूल करने के बाद निर्णय करना।

२०. केवल नियम, बुद्धि तथा ज्ञान का सहारा लेकर मनुष्यत्व तथा सत्य को न भुलाना।[1]

यूनानियों में अरस्तू तथा लोंजाइनस, रोमनों मे हारेस तथा क्विनटिलियन और फ्रांसीसियों में ब्वॉयलो तथा डेसियर श्रेष्ठ आलोचक हुए हैं। आधुनिक काल मे कुछ व्यवसायी समालोचक उत्पन्न हो गए है। ये नितान्त मूर्ख तथा निरक्षर हैं; न तो इन्हे भाषा-ज्ञान है न साहित्य ज्ञान। ये विचारहीन आलोचक केवल रूढि के सहारे ही लिखते-पढते है। दूसरो के निर्मित नियमो तथा आदर्शों का वे अनुकरण करते रहते है। ये आडम्बर मे विश्वास कर केवल सिद्धान्तों के ही राग अलापते हैं और स्वयं कुछ भी नहीं समझते।

प्राचीन आलोचक अपने तत्कालीन कलाकारो की रचनाएँ बड़ी सहानुभूतिपूर्वक पढते थे और उनकी यथोचित प्रशंसा करते थे; उनकी छोटी-छोटी भूलों को वे ध्यान में भी नहीं लाते थे, वरन् उन त्रुटियो का समीचीन समर्थन

१. पोप—'एसे ऑन क्रिटिसिज़्म'

भी करते थे। इसके विपरीत आधुनिक आलोचक, जो नौसिखिए हैं, अपने समकालीन कलाकारों की निन्दा तथा उपालम्भ अपना व्यवसाय बनाए हुए हैं। वे काल्पनिक दोषों की खोज करते हैं; लम्बे-चौड़े तर्क प्रस्तुत करते हैं और गुणों को दोष प्रमाणित करने में प्रयत्नशील हो झूठी प्रशंसा करते हैं।[1]

कुछ आलोचक बुद्धि तथा तर्क के फलस्वरूप आलोचना न लिखकर केवल कल्पना के सहारे आलोचना लिखते हैं और प्रशंसा के पुल बाँधते हैं। ऐसे आलोचक केवल तर्कहीन प्रशंसक-मात्र हैं और उनकी आलोचना में विवेक कम सराहना अधिक रहती है। ये केवल सौन्दर्य-क्षेत्रों में ही विचरण करते हैं और तथ्य की ओर ध्यान नहीं देते।[2]

कहा जाता है कि केवल कवि ही योग्य समालोचक हो सकते हैं; परन्तु यह धारणा अनुभव से झूठी साबित होती है।[3]

साहित्य-सौन्दर्य का तर्कपूर्ण विश्लेषण भाषा तथा अन्य उपकरणों द्वारा सरलता से नहीं हो सकता। यह तो केवल कल्पना के सहारे ही सम्भव है। जो मनुष्य पहले से ही अविचार मति तथा पक्षपातपूर्ण है उस पर ऐसे सौन्दर्य का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। किसी भी मनुष्य को उसकी रुचि के विरुद्ध आनन्दित करना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है। अविचार मति तथा पक्षपात जब तक उसे घेरे रहेंगे; कल्पना-प्रसूत वस्तुएँ उसे प्रभावित न कर पाएँगी।

एडिसन के अनुसार समालोचक का धर्म कलाकारों के दोष न निकालकर केवल सौन्दर्य का ही स्पष्टीकरण है। श्रेष्ठ साहित्यिक तथा विद्वान् केवल काव्य के सौन्दर्य की ओर ही आकृष्ट होते हैं। समालोचक का भी यही आदर्श होना चाहिए; उसे न तो दोषारोपण करना चाहिए और न पक्षपात; उसे तो केवल तर्क के प्रकाश में काव्य को प्रस्तुत कर देना चाहिए। उसे सत्य के प्रतिपादन में ही दत्तचित्त रहना चाहिए।[4]

आलोचना का आधार केवल तर्क ही नहीं। काव्य सदैव प्रकृतिस्थ नियमों का सहारा लेता आया है। साहित्य का ध्येय शिक्षा-प्रदान है परन्तु काव्य का ध्येय आनन्द-द्वारा शिक्षा-प्रदान है।[5]

---

१. एडिसन—'द स्पेक्टेटर'

२. टी० वॉर्टन—'आब्जर्वेशन्स ऑन द फेयरी क्वीन'

३. वही

४. वही

५. जॉनसन—'प्रिफेस टु शेक्सपियर'

किसी भी कलाकार की रचना को परखने के लिए हमें उसके देश-काल, उसके साधन, उसकी सीमाएँ तथा उसके ध्येय को पूर्णतया हृदयंगम करना आवश्यक है।[1]

किसी साहित्यिक काव्य की श्रेष्ठता केवल स्फुट पंक्तियो अथवा स्फुट स्थलों के अध्ययन द्वारा नहीं प्रमाणित हो सकती। आलोचक को सम्पूर्ण प्रभाव पर दृष्टि रखनी चाहिए। यह सही है कि आलोचक अनेक पंक्तियों को बदलकर उन्हें प्रभावपूर्ण बना सकता है; वह अनेक स्थलो को प्रवाहपूर्ण कर सकता है; वह कुछ शब्दों में अधिक ओज भर सकता है; परन्तु ऐसे स्थलों का अनुसन्धान ही आलोचना नहीं। काव्य का सम्पूर्ण प्रभाव ही आलोचना का आधार हो सकता है। कल्पना-प्रसूत काव्य की श्रेष्ठता उसके आकर्षण तथा आनन्द-प्रदान की शक्ति द्वारा निर्धारित हो सकती है; जितने समय तक वह मनुष्य का ध्यान आकृष्ट करे उतना ही वह श्रेष्ठ होगी। जिस काव्य को पाठक बार-बार पढें और पढते-पढते भी न थकें और जिसके अध्ययन मे वह पूर्णतया लिप्त हो जायँ वही श्रेष्ठ कला है।[2]

समालोचक का आदर्श काव्य के सौन्दर्य पूर्ण अंगो पर पाठक का ध्यान आकृष्ट करना है। यदि वह दोषों पर ही अपनी आलोचना निर्भर रखता है तो वह आलोचक हेय तथा दोषपूर्ण है। दोषो का प्रकाश केवल उनके समर्थन हेतु ही होना चाहिए।[3]

समालोचना का वास्तविक उद्देश्य साहित्य निर्माण के नियमों का निर्धारण मात्र है; उसका ध्येय निर्णयात्मक नियमों की सूची बनाना नहीं। इन दोनों उद्देश्यों को सम्भवतः पृथक् रखना चाहिए।[4]

विचारशील समालोचक वही है जो काव्य के आधारभूत नियमो का अन्वेषण करे और काव्य के अनेक तथा विभिन्न रूपो के लिए उनकी उपयोगिता प्रमाणित करे और उन नियमो की पर्यालोचना करे। इन नियमों के परिशीलन के पश्चात् उसे काव्य के उन महत्त्वपूर्ण स्थलों की ओर संकेत करना चाहिए जो प्रशंसनीय हों और ऐसे दोषो की ओर जो महत्त्वहीन हो ध्यान न देना चाहिए। समालोचक को तर्कपूर्ण, पक्षपातहीन दृष्टि से समालोचना करनी अपेक्षित है; उसे काल्पनिक दोषो के ढूँढने के विपरीत उन वास्त-

१. जॉनसन—'लाइव्ज'
२. जॉनसन—'लाइव्ज'
३. कॉलरिज—'बायोग्रेफिया लिटरेरिया'
४. कॉलरिज—'बायोग्रेफिया लिटरेरिया'

विक दोषों को स्पष्ट करना चाहिए जो वास्तव में दोष हो और जिनके द्वारा काव्य की आत्मा को क्षति पहुँचती हो।

समालोचक को यह अधिकार है कि किसी प्रकाशित पुस्तक पर दोषारोपण करे, उसे उपहासास्पद बनाए, परन्तु उन दोषों का तर्कपूर्ण स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। लेखक को अपने समर्थन में उत्तर देने का पूर्ण अधिकार है, परन्तु उसे उपालम्भ का अधिकार नहीं। किसी साहित्यिक मे यह सामर्थ्य नहीं कि वह आलोचना हेतु शब्दावली तथा उसके प्रयोग के नियमो की सूची प्रस्तुत करे। समालोचक दोषारोपण के लिए कैसी भाषा तथा शब्दावली का प्रयोग करे, कितनी मित्रता तथा कितना अपक्षपात निभाए कहना कठिन है। परन्तु यह अत्यन्त आवश्यक है कि आलोचक अपने प्रयुक्त शब्दों की गहराई, उनका प्रभाव तथा अपना उद्देश्य पूर्ण रूप से समझने के पश्चात् ही उन्हें व्यवहृत करे। यदि समालोचक लेखक के जीवन-विषयक दोषों अथवा वैयक्तिक जानकारी को अपनी समालोचना में प्रयुक्त कर लेखक के व्यक्तित्व तथा उसके जीवन को हास्यास्पद बनाने की चेष्टा करता है तो उसकी आलोचना निकृष्ट कोटि की होगी और उसके लेख में द्वेष तथा अपमान की झलक मिलेगी। इस प्रकार की आलोचना से वह समालोचक न कहलाकर द्वेषी वा छिद्रान्वेषक कहलाएगा। ऐसा समालोचक काव्य-मन्दिर को दूषित कर उसका दैवी वातावरण भ्रष्ट करता है।[1]

समालोचक को काव्य मे उस अंश को ढूँढ निकालना चाहिए जिसके सहारे वह सम्पूर्ण काव्य को हृदयंगम कर सके। इसी आधारभूत अंश को अपने सम्मुख रखकर श्रेष्ठ समालोचना लिखी जा सकती है।[2]

अनेक समालोचनाएँ नीरस होती हैं, अनेक अशिष्ट तथा असम्बद्ध, क्योंकि प्रायः समालोचकों को सहानुभूतिपूर्ण तथा शिष्ट आलोचना लिखना कठिन हो जाता है। कुछ केवल दोष ही देखते हैं और कुछ केवल गुण; अनेक आलोचक तो गुणानुवाद में इतने लग जाते है कि उन्हे कुछ और सूझता ही नहीं और कुछ छिद्रान्वेषण पर इतने तुल जाते हैं कि उन्हें गुण दिखाई ही नहीं देते। गुणानुवाद करने वाले समालोचक तो कभी-कभी ऐसी अतिशयोक्ति प्रयुक्त करते हैं कि हम किसी अन्य कलाकार की ओर आँख उठाकर भी देखना नही चाहते, उनकी प्रशंसा हमारे हृदय तथा मस्तिष्क पर ऐसी छा जाती है कि हम सभी अन्य कलाकारों से विमुख हो जाते है। इन आलोचकों की विरु-

१. कॉलरिज

२. कॉलरिज—'लेक्चर्स'

दावली हमारे हृदय मे घर कर लेती है और हम किसी अन्य लेखक के प्रति अपनी सहानुभूति भी दिखाने में विफल रहते हैं। प्रायः जो आलोचक प्रशंसा पर कमर कस लेते हैं केवल मैत्री द्वारा प्रेरित होते हैं और जो छिद्रान्वेषण पर तुल जाते हैं वे दलबन्दी से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। इन दोनो वर्गों की आलोचना दूषित होगी। दलबन्दी से प्रेरित आलोचना केवल राजनीतिक आलोचना ही कहला सकेगी, साहित्यिक आलोचना नहीं। इस वर्ग के आलोचक अपनी निजी ईर्ष्या तथा द्वेष के वशीभूत ऐसी शैली अपनाते हैं जो अमानुषिकता को जन्म देती है और इतनी कृत्रिम तथा निकृष्ट होती है कि उससे केवल विष ही टपकता है, क्योंकि दलबन्दी के आदर्श उन्हे अन्धा बना देते हैं और सुरुचि सदा के लिए विदा हो जाती है। इस वर्ग के आलोचक केवल नाक-भौं सिकोड़ना ही जानते हैं और पग-पग पर अपने विद्वेष का परिचय मात्र देते हैं। विरोधीवर्ग की रचना उन्हे ऐसी ही प्रतीत होती है जैसे उन्हे बिच्छू काट गया हो और वे गाली-गलौच पर उतारू हो जाते है। यदि इस दल का कोई व्यक्ति भूले-भटके उनके रास्ते मे गया तो उस पर बिना कीचड़ उछाले उन्हें चैन नहीं मिलता। वे यही चाहते है कि वह मिट्टी मे मिल जाय। तदुपरान्त ये आलोचक गर्व से मूंछे टेते हुए अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करते हैं : उनके फन्दे में आकर कोई सही सलामत नही रह पाता। विश्वासघात उनका जीवन-सिद्धान्त रहता है; धूर्तता तथा कपट उनकी आत्मा में तिरोहित रहता है और इसी के सम्बल से वे अपनी जीविका चलाते हैं। ये व्यक्ति कवि की रचना को तो एक तरफ रख देते हैं और उसके व्यक्तित्व पर आघात करने लगते हैं। रचना के किसी अंश में उन्हे उत्तमता नहीं दिखाई देती और उनका केवल एक ही उद्देश्य रहता है—लेखक पर कीचड उछालना, उसे हीन तथा निकृष्ट प्रमाणित करना। ऐसी आलोचना प्रलाप-मात्र होगी और भावानुभव तथा उसकी सम्यक् अभिव्यक्ति के स्थान पर गाली-गलौच ही मिलेगा। कभी-कभी तो इस वर्ग के आलोचक अपने पक्ष के समर्थन में इतने अन्धे हो जाते हैं कि विरोधीवर्ग के लेखक की कृति की न तो त्रुटियां दिखलाते है और न उन्हीं को अतिशयोक्ति द्वारा व्यक्त करते हैं परन्तु लगातार यही कहते जाते हैं कि उसमें कोई गुण है ही नहीं। दुनिया चाहे कितनी भी प्रशंसा क्यों न करे, वे मानने के नहीं। और जब तक लेखक उनका दृष्टिकोण नही अपनाता तब तक वे उसको अपना नाम लिखने का भी अधिकार देने को प्रस्तुत नहीं। उनके लिए आलोचना का प्रश्न साहित्य का प्रश्न नहीं, वह राजनीतिक गुटबन्दी का क्षेत्र हो जाता है, और व्यक्तिगत रूप में वे

लेखक पर लांछन लगाना आरम्भ कर देते हैं। विवाद में हारकर वे गाली की शरण लेते हैं और कभी-कभी ऐसी सम्मतियां लेखक पर आरोपित कर देते हैं जिनका उसे कभी स्वप्न में भी ध्यान नहीं आया होगा।[1]

आलोचना-क्षेत्र में केवल विभिन्न प्रतिद्वन्द्वी वर्गों के विद्वेष तथा पक्षपात के कारण विभिन्नता नहीं फैली है वरन् रुचि तथा प्रवृत्ति की विभिन्नता के फलस्वरूप भी वैषम्य फैला हुआ है। और जब तक इस रुचि तथा प्रवृत्ति के वैचित्र्य का प्रकाश होता रहेगा आलोचना-क्षेत्र में विभिन्नता स्वभावतः बनी रहेगी। कुछ व्यक्ति तो ऐसे होंगे जो कलाकार की आलंकारिक शैली को ही पसन्द करेंगे और कुछ ऐसे भी रहेंगे जो सीधी-सादी सरल तथा स्पष्ट शैली से ही सन्तुष्ट होंगे। कदाचित् इन दोनों विभिन्न वर्गों में न तो समझौता हो सकेगा और न कोई साम्य ही उपस्थित हो पाएगा, क्योंकि यह विभिन्नता रुचि-वैचित्र्य से सम्बन्ध रखती है। पहला वर्ग तुलनात्मक वाक्यांशों तथा अलंकारयुक्त भाषा पर ही जोर देगा' और दूसरा सरलता को ही आभूषण मानेगा और उसे आलंकारिक शैली सस्ती तथा नीरस प्रतीत होगी। परन्तु जहाँ ऐसी परिस्थिति आ पड़े दोनों वर्गों को एक-दूसरे से सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना चाहिए और यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिससे दोनों वर्गों की हानि नहीं होगी। जहां विभिन्नता हो वहां विद्वेष की क्या आवश्यकता है? दोनों वर्ग अपने-अपने क्षेत्र में विशिष्टता प्राप्त करने के अधिकारी हैं; दोनों को यह सहज अधिकार है कि वे साहित्य से जिस प्रकार का आनन्द चाहें ग्रहण करें। जहां तक वे एक-दूसरे को समझने का प्रयत्न करके प्रशंसा करेंगे, साहित्यिक कहलायेंगे, जहाँ छिद्रान्वेषी बनेंगे श्रेष्ठ आलोचना के स्तर से गिर जायेंगे। जब हम किसी ऐसे कलाकार की विद्वेषपूर्ण आलोचना पर उतारू हो जायेंगे जो समस्त सभ्य संसार द्वारा प्रशंसित हो चुका है तो हम अपनी ही मूर्खता प्रकट करेंगे। उसको परखने की क्षमताहीनता का हम प्रमाण दे बैठेंगे और अपनी असाहित्यिकता का परिचय देंगे। प्रत्येक पाठक अपनी निजी रुचि के अनुसार अपना प्रिय कलाकार चुनने तथा उसकी प्रशंसा करने के लिए स्वतन्त्र है; किसी भी पाठक को अपनी रुचि तथा प्रवृत्ति को दूसरे पर थोपने का अधिकार नहीं। जिस प्रकार से कलाकारों में विभिन्न रूप की प्रतिमा रहती है उसी प्रकार पाठकों में भी विभिन्न रुचि स्वाभाविक है और हमें अपनी रुचि के अनुसार अपने प्रिय पात्र की प्रशंसा ही शोभा देगी, दूसरों के प्रिय पात्र की विषम आलोचना नहीं। जो व्यक्ति यही चाहते हैं कि उन्हीं की रुचि के अनु-

१. हैजलिट—'टेबल टॉक'

सार समस्त साहित्य रचा जाय और उन्हीं की रुचि सर्वोपरि रहे, साहित्य की आत्मा का हनन करते हैं। वे उसे अपनी सीमित प्रवृत्तियों का दास बना देते हैं : उसे प्राणहीन कर देते हैं।[1]

हम यह कभी भी नहीं कह सकते कि आलोचक का कवि होना भी आवश्यक है परन्तु इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि श्रेष्ठ आलोचक कहलाने के लिए उसे बुरा कवि भी नहीं होना चाहिए। (तात्पर्य यह है कि यदि आलोचक कवि भी है और अच्छा कवि है, तो सोने मे सुगन्ध है।)[2]

विशुद्ध आलोचना वही होगी जो किसी साहित्यिक रचना की आत्मा पर प्रकाश डाले; उसके हर एक रंग को परखे और प्रकाशित करे। केवल बाह्य आवरण पर अथवा उसके बहिर्भाग तथा इधर-उधर बिखरे हुए अंशों पर टीका-टिप्पणी करना हितकर नहीं। कविता केवल मूर्तकला-समान तो है नहीं जिसका मूल्य आसानी से आंका जा सके। यह बात विशेषकर नाटक की आलोचना पर विशेष रूप से लागू होगी। इस क्षेत्र के आलोचक कभी कथा-वस्तु, कभी कुछ पात्रों की भाव-भंगी अथवा देश-काल तथा नैतिक दृष्टिकोण पर कुछ थोड़ी-बहुत बातें कहकर आगे बढ जाते हैं। और जब पाठकवर्ग ऐसी आलोचना पढते हैं तो उनकी समझ मे कुछ नहीं आता; वे यह नही समझ पाते कि कवि ने कौन-कौनसी भावनाओं का प्रकाश किया है; उसको प्रकाशित करने में उसने जीवन के हृत्तल के किन अंशो को और किस गहराई से छुआ है और उसकी अभिव्यक्ति मे कितनी क्षमता है, कितनी शक्ति है। उन्हे केवल ऐसा ज्ञात होता है कि वे किसी व्यक्ति की लिखी हुई दैनिकी पढ रहे हैं। ऐसे आलोचक हमें अन्धकार मे छोड़ देते हैं, क्योंकि वे यह नहीं बतला पाते कि कलाकार की कृति ने हमारी कल्पना को कितना प्रभावित किया और हमारी नैसर्गिक प्रवृत्ति के संशोधन में कितना सहयोग प्रदान किया तथा सुरुचि के सिद्धान्तो को कितना पुष्ट किया। वे रचना के बहिर्जगत के विषय मे तो बहुत कह डालते हैं, परन्तु उसके अन्तर्जगत् के विषय में कुछ नहीं कह पाते। प्रायः जिस कोटि की रचनाओं की आलोचना होती है वैसे ही आलोचक भी मिल जाते हैं। जहाँ उन्होंने नाटकों के अंकों तथा गर्भांकों की व्यवस्था बतलाई और इधर-उधर की दो चार चलती हुई बातें कह दीं उन्होंने समझा कि आलोचक का कर्त्तव्य पूरा हो गया। जिस प्रकार से धर्म-सिद्धान्तों पर वक्तृता देने वाले वितण्डावादी पंडित धर्म के बहिर्जगत् में ही उलझे रहते हैं और धर्म को

१. हैजलिट—'टेबल टॉक'
२. हैजलिट—'कैरेक्टर्स ऑफ शेक्सपियर्स प्लेज़'

आता है जब हम सब दोष भुला देते हैं और केवल गुण ही याद रखते हैं।

अब हमें यह निश्चय करना है कि आखिर दोष हैं क्या? उसकी परिभाषा क्या होगी? साधारणतया दोष शब्द से हम यह संकेत करते हैं कि अमुक वस्तु हमें अप्रिय लगी अथवा जो-कुछ भी हम उसमें वांछित समझते थे हमें नहीं मिली। अब प्रश्न यह उठता है कि आखिर हम हैं कौन? यह स्पष्ट है कि हमको तुष्टि नहीं मिली; परन्तु क्या कलाकार का यह ध्येय स्पष्ट था कि वह हमको परितोष देगा? यदि था तो वह निस्सन्देह निन्दा का पात्र है, क्योंकि हमें परितोष तो मिला नहीं। परन्तु यह निश्चयपूर्वक कौन कह सकता है कि कलाकार का यही ध्येय था जो हम समझे बैठे थे? और यदि यह प्रश्न हल नहीं होता तो हम कलाकार को निन्दनीय कहने तथा उसे दोषी ठहराने वाले कौन? हो सकता है कि उसका ध्येय हमें परितोष देना हो ही न। अथवा उसका ध्येय किसी मान्य व्यक्ति अथवा वर्ग को परितोष देना हो; अथवा यह सब भी कुछ न हो। इस विवाद से कुछ उपयोगी सिद्धान्त निकल सकते हैं। पहले-पहल हमें यह निश्चित करना चाहिए कि कवि अथवा कलाकार का वास्तविक उद्देश्य है क्या। और जो कुछ भी उद्देश्य उसने निश्चित किया उसको कार्यान्वित करने में उसने कैसी तथा कौनसी व्यवस्था बनाई; उसकी रूप-रेखा क्या थी; अर्थात् जो भी साधन उसे प्राप्त थे उनके द्वारा उसे निश्चित उद्देश्य साधन में सफलता मिली या नहीं? दूसरा सिद्धान्त जो दृष्टिगत होता है वह कलाकार तथा आलोचक के पारस्परिक सम्बन्ध विषयक होगा। कलाकार ने जो भी ध्येय निश्चित किया उसकी पूर्ति हमारी व्यक्तिगत रुचि अथवा परिवर्तनशील प्रवृत्तियों के अनुसार नहीं वरन् सर्वगत सौन्दर्य-सिद्धान्तों के अनुसार हुई या नहीं? कलाकार का ध्येय और उसकी पूर्ति साधारण मानव-प्रकृति से समन्वित है अथवा नहीं? क्या उसकी कला मानव-हृदय को छूती है? क्या वह साहित्यिक वैयाकरणों के नियमों का उल्लङ्घन करता हुआ भी हमारे कल्पना-जगत् के नियमों का पालन करता है? ये रहे दो सिद्धान्त। तीसरा सिद्धान्त और भी महत्त्वपूर्ण है। क्या कलाकार के साधन तथा साध्य दोनों में किसी प्रकार का वैषम्य तो नहीं? क्या उसने जो-जो साधन अपनाए उसके द्वारा उसके साध्य को अनिवार्य रूप में सफलता मिलनी ही चाहिए थी? यदि इन तीनों सिद्धान्तों के अन्तर्गत उठाए गए प्रश्नों का उत्तर 'हाँ' है तो वास्तव में कलाकार श्रेष्ठ है और जो आलोचना इस निश्चय पर पहुँचती है श्रेष्ठ कोटि की आलोचना है।

उपरिलिखित सिद्धान्तों के विवेचन से स्पष्ट है कि कोई भी व्यक्ति

तर्कहीन रूप से किसी रचना को निन्दनीय ठहराने का अधिकार नहीं रखता। जब तक वह रचना के उच्च-से-उच्चतर सौन्दर्य को परखने की क्षमता नहीं रखता तब तक उसे दोषों के गिनाने का अधिकार भी नहीं। उसे सतत ही सम्पूर्ण रचना पर ध्यान रखना होगा, उनका सामंजस्य समझना होगा तभी उस रचना का मूल्यांकन सही उतरेगा।[1]

आलोचना चाहे साहित्य के किसी भी अंग की क्यों न हो उसे उसकी अन्तरात्मा को देखना चाहिए। संसार मे जिस किसी विषय पर चिन्तन हुआ हो उसका निरूपण तथा प्रकाश आलोचक का प्रमुख ध्येय होगा। और इस कार्य में योग्यता से काम लेना पड़ेगा तथा बहुत ईमानदारी बरतनी पड़ेगी; आलोचक को साहित्य के चिन्तन द्वारा सत्य तथा नवीन भावो का प्रसार करना चाहिए।

आलोचक को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कहाँ-कहाँ किन-किन विषयो पर चिन्तन हुआ है, क्योंकि एकदेशीय दृष्टिकोण से तो हानि की बहुत सम्भावना होगी। कारण, कि जिस किसी विचार-विशेष पर आलोचक चिन्तन करेगा, उस विचार-विशेष पर किसी एक देश का ही एकाधिकार नही; उस पर तो अन्यान्य देशों की विचारधारा का प्रभाव पड़ा होगा और इस बहुमुखी प्रभाव का भी लेखा उसे रखना होगा। आलोचक के लिए दूसरी महत्त्वपूर्ण वस्तु होगी साहित्य का निर्माण तथा उसके विषय। इसको परखने के लिए उसे अपनी व्यक्तिगत भावनाओ तथा विचारों से प्रभावित नही होना चाहिए। उसे बाह्यवादी रूप से तटस्थ होकर ही उनका महत्त्व पहचानना चाहिए, क्योकि इसी विचार-शैली द्वारा साहित्य का सत्-निर्माण होगा तथा नवीन विचारों का प्रसार सम्भव होगा।

साधारणतया यह अभिमत है कि आलोचक का प्रमुख कार्य साहित्यिक रचनाओं पर अपना निर्णय प्रस्तुत करना है। परन्तु इस निर्णय में आलोचक को अपना दृष्टिकोण पक्षपातरहित रखना होगा और अपने सहज तथा उपार्जित ज्ञान के आधार पर रचनाओं का मूल्यांकन करना होगा। उसके ज्ञान में जितनी ही नवीनता होगी और उसके मानस मे जितनी स्वच्छता होगी उतनी ही उसकी आलोचना उच्चकोटि की होगी। यदि आलोचक का ध्येय साहित्य की सत्-समालोचना द्वारा सेवा हो तो पाठकवर्ग के लिए उसे एक निराकार पथ-प्रदर्शक का स्थान ग्रहण करना चाहिए। आलोचक पाठकों का सहज साथी भी है; वह कोई दूरस्थ स्मृतिकार नहीं और उसे पाठकवर्ग को

१. टामस कार्लायल—'एसे ऑन गटो'

पग-पग पर सहज रूप में सहारा देना आवश्यक है। हां, कभी-कभी उसे ऐसे विषयों पर लिखे हुए ग्रन्थों का भी मूल्यांकन करना होगा जो पुराने हैं या पुराने हो चुके हैं और साथ-ही-साथ लेखकों की श्रेष्ठता अथवा हीनता का निश्चय भी करना पड़ेगा। ऐसी परिस्थिति में उसे अपने नवीन ज्ञान की आवश्यकता तो कम पड़ेगी, निर्णय-क्षमता का प्रयोग अधिक करना पड़ेगा और सिद्धान्तो के निरूपण और प्रयोग पर अधिक ध्यान देना होगा। जहाँ ऐसी परिस्थिति आ जाय वहाँ आलोचक को और भी सावधान रहने की आवश्यकता पड़ेगी। यह सब होते हुए भी उसे अपने को अमूर्त सिद्धान्तों के वाक्जाल से बचकर चलना पड़ेगा और प्रायोगिक अंशों पर ही अधिक ध्यान रखना होगा। उसे यथार्थ से अपना सम्पर्क सहज ही बनाये रखना आवश्यक होगा। और ज्यों ही उसे यह आभास मिले कि सत्य तथा यथार्थ से उसका सम्बन्ध शिथिल अथवा लुप्त हो रहा है उसे सावधान हो जाना चाहिए कि कहीं कुछ असंगति अवश्य है और वह सत् समालोचना की परिधि से बाहर जा रहा है।

इस विवेचन से यह भ्रामक अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि सिद्धान्तों के यथार्थ प्रयोग द्वारा ही सत्-समालोचना लिखी जा सकेगी। यदि ऐसा होता तो आलोचना गणित का रूप ले लेती और क्रियात्मक साहित्य का निर्माण यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता।[1]

व्यक्तिगत और ऐतिहासिक दृष्टिकोण द्वारा साहित्य के किसी भी अंग का मूल्यांकन अत्यन्त भ्रामक होगा। प्रायः ऐसा देखा गया है कि जब हम काव्य का अध्ययन करते हैं तो हमारे मानस में उच्चतर भावनाओं का आकर्षण प्रस्तुत हो जाता है; उसके द्वारा हमें आनन्द-प्राप्ति की सम्भावना होने लगती है और हम एक नवीन स्फूर्ति का अनुभव करने लगते हैं। इन्हीं कसौटियों पर हमें उस काव्य का मूल्य परखना चाहिए। परन्तु ऐसा होता नहीं। व्यक्तिगत अथवा ऐतिहासिक दृष्टिकोण शीघ्र ही हमारी पहली भावनाओं को अपदस्थ कर देते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जो भी कविता हम पढ़ें उसका ऐतिहासिक महत्त्व भी हो सकता है; हमे व्यक्तिगत रूप मे भी उसे महत्त्व देने का अधिकार है। इसके साथ-साथ उसे महत्त्व देने का एक तीसरा मार्ग भी है—क्या वह स्वतः भी महत्त्वपूर्ण है?[2]

किसी भी वस्तु का यथावत् परिशीलन आलोचना का प्रमुख ध्येय रहेगा। उसे सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वोन्नत विचारों की खोज करनी पड़ेगी और उनके

१. मैथ्यू आर्नल्ड—'ऐसेज इन क्रिटिसिज्म';
२. वही

प्रसार में दत्तचित्त होना पड़ेगा।[1]

आलोचना एक प्रकार का इतिहास अथवा दर्शन है जिसका प्रयोग विचारशील तथा उत्सुक व्यक्तियो द्वारा सतत होता रहेगा और श्रेष्ठ आलोचक वही होगा जो श्रेष्ठ कलाकारो की महत् रचनाओ के क्षेत्र में अपनी आत्मा के स्वच्छन्द विचरण का वर्णन करेगा।[2]

आलोचना का ध्येय अर्थ का स्पष्टीकरण नहीं और न वह वस्तुओ को यथावत् देखे ही गी; वरन् वह वस्तुओं के सम्बन्ध को परखेगी और उन्हीं सम्बन्धों के विश्लेषण मे अपनी शक्ति प्रयुक्त करेगी।[3]

आलोचना के तीन प्रमुख कर्त्तव्य हैं। पहला है अर्थ का स्पष्टीकरण, दूसरा वर्गीकरण और तीसरा निर्णय-प्रदान। इसका प्रमुख उद्देश्य जनता तथा लेखकों की अभिरुचि का संशोधन तथा कला और साहित्य का श्रेष्ठ निर्देशन है।[4]

'आलोचना साधारण पाठकवर्ग की मन्त्राणी है जो उसकी अभिरुचि तथा उसके मत का लेखा रखेगी।'[5]

आलोचना करते समय जब हम कविता की ऐतिहासिकता पर जोर देंगे तो जो भी निष्कर्ष हम निकालेंगे हमें आकर्षक अवश्य लगेगा, क्योकि सभी देशों की साहित्यिक प्रगति का इतिहास ज्ञानवर्धक तथा अत्यन्त रोचक होता है। परन्तु आशंका इस बात की है कि जब किसी कविता-विशेष को हम किसी विशेष साहित्यिक धारा के अन्तर्गत परखने का प्रयत्न करेंगे तो उसे निश्चय ही महत्त्व देने पर बाध्य होंगे, और कविता स्वतः काव्य-रूप में उस महत्त्व की अधिकारिणी नहीं भी हो सकती है। ऐतिहासिक रूप में तो हमें उसकी प्रशंसा के पुल बाँधने होंगे, क्योंकि किसी कवि-विशेष की मानसिक

---

१. आर्नल्ड। यह परिभाषा क्रियात्मक आदर्श के समीप होते हुए भी उससे काफी दूर है क्योकि ज्यो ही हम श्रेष्ठातिश्रेष्ठ विचारो पर ध्यान देंगे त्यो ही हमे अपनी निर्णयात्मक शक्ति का प्रयोग करना पड़ेगा।

२. अनातोल फ्रास। यह परिभाषा क्रियात्मक आदर्श से ओतप्रोत है और विचारको द्वारा स्तुत्य मानी गई है। परन्तु प्रभाववाद का जो प्रसार इसके द्वारा होगा उसके कारण यह दोषपूर्ण है।

३. ब्रोइसाल। यह भी निर्णयात्मक विचार-शैली के समीप है क्योकि सम्बन्धो की परख निर्णयात्मक शक्ति बिना नही हो सकेगी।

४. ब्रुयेन्तर। निर्णय की भावना स्पष्ट है।

५. सेंट बोवे। इसमे भी निर्णयात्मकता की झलक है।

प्रगति अथवा विशेष साहित्यिक-प्रवृत्ति की धारा में उसका कुछ-न-कुछ स्थान होगा ही।

व्यक्तिगत दृष्टिकोण का भी भय कुछ कम नहीं। किसी कविता-विशेष में काव्य-रूप में चाहे कोई भी गुण न हो, परन्तु हमें अपनी रुचि के अनुसार वह इतनी प्रिय लग सकती है कि उसे हम अनुचित रूप में महत्त्व दे सकते हैं। हमारी रुचि-विशेष, हमारी सामाजिक प्रवृत्ति, हमारा वातावरण हमें किसी विशेष प्रकार की कविता के प्रति अत्यन्त गहरे रूप में आकर्षित कर सकता है। ऐसी परिस्थिति में भी हम उस कविता की अतिशय प्रशंसा कर बैठेंगे। फलतः ऐतिहासिक तथा व्यक्तिगत दृष्टिकोण, दोनों ही सत्-समालोचना के लिए हानिकर हैं।[1]

आलोचक में अपने-आप को साहित्य-सागर में डूबने-तिराने की अपूर्व क्षमता होनी चाहिए। उसमें अनुभूति तथा भावों को हृदयंगम करने की समुचित शक्ति आवश्यक होगी और इसके साथ-साथ उसमें अभिव्यक्ति की भी क्षमता अपेक्षित रहेगी। उसमें व्यक्ति और उसकी प्रतिभा को पूर्णतया हृदयंगम करने की अपार उत्सुकता तथा अपूर्व धैर्य होना चाहिए।[2]

आलोचना का उद्देश्य न तो प्रशंसा करना है और न दोषारोपण; आलोचक में सुबुद्धि, सहानुभूति तथा श्रेष्ठ व्यक्तित्व अपेक्षित है।[3]

आलोचना कला और जीवन के तथ्यों के आधारभूत नियमों को साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए स्पष्ट करती है।[4]

आलोचना शास्त्र आधुनिक वैज्ञानिक आत्मा के सहयोग द्वारा साहित्य के विकास का रहस्योद्घाटन करता है; वह उन आधारभूत नियमों तथा सिद्धान्तों का विधान प्रस्तुत करता है जिसके द्वारा साहित्य की रूप-रेखा का निर्माण होता है।[5]

साहित्यिक कृतियों में प्रस्तुत भावनाओं को हृदयंगम करने, उनका विश्लेषण करने तथा उनकी अभिव्यंजना की अपूर्व क्षमता आलोचक में होनी चाहिए।[6]

---

१. मैथ्यू आर्नल्ड—'वॉर्ड्स पोपेट्स'
२. हैनरी जेम्स
३. एडमण्ड गॉस
४. मेब्री
५. मोल्टन
६. वाल्टर पेटर

आलोचक विविध सामाजिक वर्गों की समानता तथा विपरीतता का प्रदर्शन करते हुए विचारों तथा भाषा का विवेचन वैज्ञानिक रूप से करेगा। उसकी दृष्टि बाह्य 'आवरण को भेदकर उस अन्तर्ज्योति को हृदयंगम करेगी जिसे कलाकार ने केवल कल्पना-रूप में देखा था। इस दृष्टि से आलोचक कलाकार की तुलना में कहीं श्रेष्ठ होगा।[1]

आलोचना साहित्यिक अनुभूति के विचारपूर्ण विवेचनोपरान्त उनका मूल्यांकन करती है।[2]

आलोचना वस्तुओं तथा कार्यों के प्रभावों के फलस्वरूप आविर्भूत होगी।[3]

साहित्यिक सुरुचि के तर्कपूर्ण प्रयोग का नाम ही आलोचना है। आलोचना साहित्य की परीक्षा करती हुई उसके श्रेष्ठ तथा आनन्ददायी तत्वों की ओर संकेत करती है।[4]

आदर्श आलोचक वही होगा जो साहित्य का निर्णय कर्ता, प्रकाश कर्ता तथा वैज्ञानिक विश्लेषक तीनों ही हो।[5]

जिस प्रकार चिकित्सक हमारे रक्त के तत्वों को वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा परख लेते हैं उसी प्रकार आलोचक भी किसी युग-विशेष के साहित्य-विधान को परखने का प्रयत्न करेगा।[6]

कवि तथा कलाकार के सहज गुणों का अनुभव, उनका विवेचन तथा उनकी अभिव्यक्ति यही तीन श्रेष्ठ आलोचकों के विशिष्ट कार्य रहेंगे।[7]

---

१. पास्नेट
२. आइ० ए० रिचर्ड्स
३. रार्बटसन
४. सेंट्सबेरी
५. साइमण्डस
६. टेन
७. वाल्टर पेटर

अनुक्रमणिका

सहायक ग्रन्थों की सूची

अफलातूँ : रिपब्लिक

अरस्तू : पोयेटिक्स

अरस्तू : रेट्रिक

आरनल्ड, मैथ्यू : एसेज इन क्रिटिसिज्म

इलियट, टी. एस. : होमेज टु ड्राइडेन

ईस्टमैन, मैक्स : द एंज्वायमेंट ऑव पोयेट्री

एगर, ई. : एसे आन द हिस्टरी ऑव ग्रीक क्रिटिसिज्म

एल्टन, आलिवर : ए सर्वे ऑव इंग्लिश लिटरेचर

ऐरिस्टाफेनीज : प्लेज

कजामियाँ : क्रिटिसिज्म इन द मेकिंग

क्लार्क, डी. एल. : रेटरिक एण्ड पोयेट्री इन द रेनेसाँस

केम्स, लार्ड : एलिमेंटस् ऑव क्रिटिसिज्म

क्लेन, डी. : लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन द एलिजाबीथन ड्रैमेटिस्ट्स

केलेट, ई. ई. : द हर्लजिंग ऑव टेस्ट

कैरिट, ई. एफ. : द थियरी ऑव ब्यूटी

कोलरिज, सैम्युएल टेलर : बायोग्रेफ़िया लिटरेरिया

गेली ऐण्ड स्काट : मेथड्स ऐण्ड मेटिरियल्स ऑव क्रिटिसिज्म

जोन्स, लेवलिन : हाऊ टु क्रिटिसाइज बुक्स

झा, ए. : ऐन एन्थालजी ऑव क्रिटिकल स्टेटमेन्ट्स
केम्ब्रिज हिस्टरी ऑव इंग्लिश लिटरेचर

टेन, हिपॉलिट एडाल्फ : इंगलिश लिटरेचर

टेलर, एच. ओ. : द क्लैसिकल हेरिटेज ऑव द मिडिल एजेज

डार्विन, चार्ल्स : द डिसेन्ट ऑव मैन

ड्राइडेन, जान : एसे ऑव ड्रैमैटिक पोयेजी

डाउनी, जून. ई. : क्रियेटिव इमैजिनेशन

डे : हिस्टरी ऑव संस्कृत लिटरेचर
पेटर, वाल्टर : एप्रीसियेशंस
पोप, अलेक्जाण्डर : एसे इन क्रिटिसिज्म
बर्क, एडमन्ड : द सब्लाइम ऐण्ड ब्यूटिफुल
बर्गम, ई. बी. : द न्यू क्रिटिसिज्म
ब्यायसन, हाल्मर हार्थ : लिटरेरी क्रिटिसिज्म
बाल्डविन, सी. एस. : एंशेन्ट रेटरिक एण्ड पोयेटिक्स
ब्राउन, जे. ई. : द क्रिटिकल ओपिनियन्स ऑव सैम्युएल जानसन
बीयर्ज : हिस्टरी ऑव इंग्लिश रोमैन्टिसिज्म
ब्रुयेन्तियर, फर्डिनन्ड : हिस्टरी ऐण्ड लिटरेचर
ब्लेयर, ह्यू : रेटरिक
बोसांके, बर्नार्ड : ए हिस्टरी ऑव ईस्थेटिक्स
मॉर्डेल, ए. : नोटोरियस लिटरेरी अटैक्स
मुलर, मैक्स : सायंस ऑव लैंग्वेज
मैकेंजी, एग्नेस एम. : द प्रोसेस ऑव लिटरेचर
रॉबर्टस, डब्ल्यू. रीज : ग्रीक रेटरिक ऐण्ड लिटरेरी क्रिटिसिज्म
रिचार्डस, आई. ए. : प्रिंसिपल्स ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज्म
लवेल, जेम्स रसेल : लिटरेरी क्रिटिसिज्म
लेग्वी ऐण्ड कजामियाँ : ए हिस्टरी ऑव इंग्लिश लिटरेचर
लोंजाइनस : द सब्लाइम
वर्ड्सवर्थ, विलियम : प्रेफेस टु लिरिकल बैलेड्स
वाइली, लारा जॉनसन : स्टडीज इन द इवोल्यूशन ऑव इंग्लिश क्रिटिसिज्म
वाकर, ह्यु : द इंगलिश ऐसे ऐण्ड ऐसेइस्ट्स
वाकर : द लिटरेचर ऑव द विक्टोरियन ईरा
विंचेस्टर, कैलेब टामस : सम प्रिंसिपल्स ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज्म
शेलिङ्ग : द इंग्लिश लिरिक
शेली, पर्सी बिशे : ए डिफेन्स ऑव पोयेट्री
स्कॉट, जेम्स : द मेकिंग ऑव लिटरेचर
स्पिनगार्न, जे. ई. : ए हिस्टरी ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन द रेनेसाँस
सेन्टबोवे, चार्ल्स ऑगस्टिन : थियरी ऑव लिटरेचर
सेंटसबेरी, जार्ज : हिस्टरी ऑव क्रिटिसिज्म (थ्री वाल्यूम्स)
सेंट्सबेरी, जार्ज : लोसाई क्रिटिकाई

सेंट्सबेरी, जार्ज : हिस्टरी ऑव इंग्लिश प्रोजोडी
स्पेंसर, हर्बर्ट : फिलासफ़ी ऑव स्टाइल
हार्टमैन, अर्नेस्ट वान : थियरी ऑव ईस्थेटिक्स
हैजलिट, विलियम : द स्पिरिट ऑव द एज